Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नागेशभट्ट-कृत

# वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा

(मूल ग्रन्थ, अनुवाद एवं समीक्षात्मक व्याख्या)

डॉ० कपिलदेव शास्त्री

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय प्रकाशन

१९७५

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नागेशभट्ट-कृत

# वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा

(मूल ग्रन्थ, अनुवाद एवं समीक्षात्मक व्याख्या)

सम्पादक एवं व्याख्याकार

**डॉ० कपिलदेव शास्त्री**

रीडर, संस्कृत विभाग,

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

कुरुक्षेत्र

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय प्रकाशन

१९७५

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

*Published by* :
Kurukshetra University,
Kurukshetra.

*Printed by* :
T. Philip,
Manager,
Kurukshetra University Press,
Kurukshetra.

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संस्कृत व्याकरण दर्शन के
मर्मज्ञ व्याख्याता, सर्वतंत्रस्वतंत्र
श्री नागेश भट्ट
की पावन स्मृति
में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।।

ऋग्वेदे १.१६४.४५

२. महान् देवः शब्दः । महता देवेन नः साम्यं यथा स्याद् इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

पतंजलिः (महाभाष्ये, प्रयोजनाधिकरणे)

३. प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः ।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमांजसः ।।
यदेकम्प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते ।
तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ।।
तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः ।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ।।

भर्तृहरिः (वाक्यपदीये १.१२,२२,१३२)

४. इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ।।

दण्डी (काव्यादर्शे १.४)

५. शास्त्रीय-प्रकृति-प्रत्यय-व्युत्पादन-पूर्वकं विजातीय-तज्ज्ञान-पूर्वक-प्रयोगस्य चित्त-शुद्धि-द्वाराऽपवर्ग-सम्पादकत्वेन शास्त्र-ज्ञानस्यावश्यकत्वात् ।

नागेशभट्टः (वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषायाम् पृ० १५७३)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# प्राक्कथन

यह विशेष सौभाग्य की बात है कि नागेश भट्ट कृत परमलघुमंजूषा का सर्वोत्तम संस्करण (आलोचनात्मक सम्पादन, अनुवाद तथा विस्तृत समीक्षात्मक व्याख्या के साथ) संस्कृत व्याकरण दर्शन के निष्णात गवेषक डॉ० कपिल देव शास्त्री (रीडर संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय) के द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इससे पूर्व डॉ० शास्त्री का शोध प्रबन्ध The Gaṇapāṭha Ascribed to Pāṇini, पाणिनीय गणपाठ के सटिप्पण आलोचनात्मक सम्पादन के रूप में, इसी विश्वविद्यालय से १९६७ में प्रकाशित हो चुका है, जिसे पौरस्त्य तथा पाश्चात्त्य सभी विद्वानों का विशेष आदर एवं मान प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त डॉ० शास्त्री ने संस्कृत व्याकरण दर्शन की अनेक समस्याओं तथा विषयों पर मौलिक शोध पूर्ण निबन्ध लिखे हैं जो समय समय पर शोधपत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं।

भारत में व्याकरण दर्शन की परम्परा अति प्राचीन है। परन्तु सर्वप्रथम भर्तृहरि ने अपने अप्रतिम ग्रन्थ वाक्यपदीय में इस दर्शन को सुव्यवस्थित, परिनिष्ठित एवं परिमार्जित रूप दिया, जिसे शब्दाद्वैत दर्शन कहा जाता है। परवर्ती सभी वैयाकरण तथा अन्य दार्शनिक भर्तृहरि से पर्याप्त प्रभावित हुए हैं। एक ओर प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट तथा बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने शब्दाद्वैतवाद के खण्डन में अपनी पूरी शक्ति लगा दी तो दूसरी ओर उतने ही प्रतिष्ठित दार्शनिक मण्डन मिश्र तथा वाचस्पति मिश्र ने विविध युक्तियों तथा प्रमाणों के द्वारा भर्तृहरि के शब्द सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया।

वाक्यपदीय एक अत्यन्त दुरूह ग्रन्थ है। इसके व्याख्या के रूप में वृषभदेव, पुण्यराज तथा हेलाराज की टीकाओं से, जो आज कथंचित् उपलब्ध हैं, वाक्यपदीय को हृदयंगम करने में पर्याप्त सहायता नहीं मिल पाती। साथ ही इन टीकाकारों तथा भर्तृहरि के समय में भी बहुत अन्तर है। भर्तृहरि की परम्परा इन टीकाओं में कहाँ तक सुरक्षित है यह विचारणीय प्रश्न है। वाक्यपदीय की तथाकथित 'स्वोपज्ञ' टीका के भर्तृहरि-रचित होने में अनेक सन्देह व्यक्त किये गये हैं। वस्तुतः ग्यारहवीं शताब्दी के बाद भर्तृहरि की परम्परा बहुत कुछ लुप्त अथवा विकृत हो गई। भट्टोजि दीक्षित के ग्रन्थों में भी व्याकरण दर्शन का सुष्ठु निरूपण नहीं मिलता। अतः यह मानना होगा कि सर्वप्रथम नागेश भट्ट ने ही भर्तृहरि-प्रचारित व्याकरण दर्शन को पुनरुज्जीवित किया।

जिस काल में नागेश भट्ट का प्रादुर्भाव हुआ उस समय दार्शनिक विवेचन के क्षेत्र में एक नयी पद्धति जन्म ले चुकी थी, जिसका बहुत कुछ श्रेय १३वीं शताब्दी के गंगेश उपाध्याय को है। इस पद्धति को नव्यन्याय का नाम दिया गया। इस काल के प्रायः सभी दार्शनिक नव्यन्याय की परिभाषा तथा शैली से पूर्णतः प्रभावित दिखाई देते हैं। नागेश भट्ट भी इस शैली से मुक्त नहीं हैं। इस कारण नागेश के ग्रन्थों में भी वही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



दुरूहता विद्यमान है। परन्तु पूर्ण अध्यवसाय एवं परिश्रम के साथ गवेषणा बुद्धि से यदि नागेश के ग्रन्थों, विशेषतः तीनों मंजूषाओं, का मनन किया जाय तो व्याकरण दर्शन के सर्वांगीण अध्ययन की दिशा में पर्याप्त नवीन सामग्री प्राप्त हो सकती है। नैयायिक परम्परा में जगदीश तर्कालंकार की शब्दशक्तिप्रकाशिका में भी व्याकरण दर्शन के तत्त्वों का नयी रीति से विवेचन किया गया है। नागेश के ग्रन्थों में शब्दशक्ति-प्रकाशिका के कुछ सिद्धान्तों का खण्डन मिलता है।

हमें यह प्रसन्नता है कि परमलघुमंजूषा के संस्कर्त्ता एवं समीक्षक डॉ० शास्त्री ने विशेष अध्यवसाय के साथ इस अति गहन एवं दुरूह ग्रन्थ का आदर्श सम्पादन तथा विवेचन एक विद्वान् गवेषक की दृष्टि से किया है। नागेश भट्ट कहाँ तक पूर्ववर्त्ती आचार्यों तथा व्याख्याताओं के ऋणी हैं इस का भी निर्णय इस अध्ययन में किया गया है। इस दृष्टि से भूमिका में किया गया कौण्ड भट्ट तथा नागेश भट्ट का तुलनात्मक अध्ययन विशेष महत्वपूर्ण है।

मेरा पूर्ण निश्चय है कि परमलघुमंजूषा का यह संस्करण व्याकरण दर्शन के विद्वानों तथा अन्वेषक एवं जिज्ञासु छात्रों सभी के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा। डॉ० शास्त्री सम्प्रति नागेश भट्ट के अन्य ग्रन्थ वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा, जिसे परमलघुमंजूषा का बृहद् रूप माना जाता है तथा जो समुद्र के समान संस्कृत वाङ्मय के सभी ज्ञान-स्रोतों को अपने विशाल कलेवर में समन्वित किए हुए है, के सम्पादन में रत हैं। आशा है निकट भविष्य में वह ग्रन्थ भी इसी पद्धति से एक आदर्श संस्करण के रूप में उपलब्ध होगा तथा उसके द्वारा व्याकरण दर्शन को नागेश भट्ट के अद्भुत योगदान का एवं उनके असाधारण वैदुष्य का व्यापक चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो सकेगा। मेरी प्रभु से मंगल कामना है कि डॉ० शास्त्री की समर्थ लेखनी के द्वारा व्याकरण दर्शन का क्षेत्र अधिकाधिक प्रशस्त एवं आलोकित हो।

संस्कृत विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
२०-१-७५

**गोपिका मोहन भट्टाचार्य**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# दो शब्द

संस्कृत व्याकरण के दार्शनिक अध्ययन एवं विवेचन के इतिहास में, भर्तृहरि के अद्भुत ग्रन्थ वाक्यपदीय के पश्चात्, नागेश भट्ट की वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा के गुरु तथा लघु संस्करणों का अद्वितीय स्थान है। इन दोनों ग्रन्थों में विस्तृत रूप से चर्चित सिद्धान्तों को ही, यथाकथंचित संक्षिप्त रूप में, वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघु-मंजूषा में संकलित किया गया है। परन्तु इस परमलघुमंजूषा को गुरु तथा लघुमंजूषाओं का एकमात्र सक्षिप्त रूप ही नहीं माना जा सकता। कहीं कहीं परलघुमंजूषा में उन दोनों ग्रन्थों से स्वतंत्र चिन्तन एवं प्रतिपादन की प्रणाली भी देखी जाती है तथा कुछ ऐसे विषयों का भी समावेश है जो लघुमंजूषा तथा बृहन्मंजूषा में नहीं पाये जाते। कुछ स्थानों पर लघुमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा के वक्तव्यों तथा प्रतिपादनों में परस्पर विरोधी स्थिति भी पायी जाती है। इसके अतिरिक्त परमलघुमंजूषा के अन्तिम दो अध्यायों में कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषणसार की बहुत कुछ सामग्री अविकल रूप में संगृहीत है, यद्यपि कुछ अन्य स्थलों में वैयाकरणभूषणसार के एक दो वक्तव्यों का खण्डन अथवा उनके विरुद्ध कथन भी मिलता है। इन सब का सप्रमाण निरूपण भूमिका में किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों (गुरु तथा लघु) मंजूषाओं और कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषणसार की विषय वस्तु को इस परमलघुमंजूषा में ग्रन्थकार ने नवीन दृष्टि से परिष्कृत रूप में और कहीं कहीं स्वतंत्र रूप में प्रस्तुत किया है।

यहाँ ग्रन्थकार स्वयं नागेश हैं, अथवा उनका कोई शिष्य है, या अन्य कोई है यह निर्णय करना कठिन है, विशेषतः ऐसी स्थिति में जब कि परमलघुमंजूषा के विभिन्न हस्तलेखों के प्रारम्भिक अंश 'मंगलाचरण' में—

**शिवं नत्वा हि नागेशेनानिन्द्या परमा लघुः।**
**वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषैषा विरच्यते॥**

यह श्लोक तथा अन्त में—"इति शिवभट्ट-सुत-सतीदेवी-गर्भज-नागेशभट्ट-कृता परमलघु-मंजूषा समाप्ता" यह वाक्य लिखा मिलता है। यह भी सम्भव है कि नागेश के ग्रन्थ में किसी पण्डित ने यत्र तत्र कुछ अंश प्रक्षिप्त कर दिये हों। परमलघुमंजूषा के ग्रन्थकार के विषय में अब तक किसी ने सन्देह नहीं किया था। हम अपना यह सन्देह व्यक्त करते हुए यह आशा करते हैं कि विद्वन्महानुभाव इस विषय में किसी सुपुष्ट आधार पर कुछ निर्णय शीघ्र देंगे।

ग्रन्थकार के सन्दिग्ध होने पर भी परमलघुमंजूषा का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। व्याकरण दर्शन की रूपरेखा तथा उसके विविध सिद्धान्तों के संक्षिप्त परिचय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



की दृष्टि से इस ग्रन्थ की उपादेयता असन्दिग्ध है। वैयाकरण सिद्धान्तों के विवेचन के प्रसंग में, पूर्वपक्ष के रूप में, न्याय मीमांसा आदि अन्य दर्शनों के उन-उन सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख कर के यहां उनका सयुक्तिक खण्डन किया गया है। कहीं कहीं तो इन दर्शनों की पूर्वपक्षीय स्थापना का यह रूप इतना विस्तृत हो गया है कि इनमें पूर्वपक्ष की प्रतीति ही नहीं होती। 'धात्वर्थनिरूपण,' निपातार्थनिरूपण,' 'लकारार्थ-निरूपण' तथा 'समासादिवृत्त्यर्थ' प्रकरणों में ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं। वैयाकरणों की दृष्टि से 'लकारादेशार्थनिरूपण' के पश्चात् नैयायिकों के नाम से 'लकारार्थनिरूपण' नामक एक अलग प्रकरण भी यहां उपलब्ध है, जिसमें ग्रन्थकार ने पूरे विस्तार के साथ जमकर नैयायिकों तथा मीमांसकों के लकारार्थ-विवेचन को परखा है।

इस रूप में यह ग्रन्थ, देखने में भले ही छोटा है पर, व्याख्या एवं विश्लेषण की दृष्टि से पर्याप्त कठिन और दुरूह है। फिर भी व्याकरण दर्शन के अध्ययन के लिये इस ग्रन्थ की उपयोगिता बहुत अधिक है। इसी कारण वैयाकरणभूषणसार की अपेक्षा कहीं अधिक आदर, प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता इस ग्रन्थ को प्राप्त है। दुर्भाग्यवश इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अब तक कोई विशेष कार्य नहीं हुआ था। यहां तक कि इसका कोई अच्छा संस्करण भी उपलब्ध नहीं था। केवल कुछ संस्कृत टिप्पणियों के साथ इस ग्रन्थ के एक दो संस्करण मिल रहे थे।

हस्तलेखों तथा प्रकाशित संस्करणों के आधार पर मूल ग्रन्थ के विशुद्ध सम्पादन, सम्पूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में सरल एवं स्पष्ट अनुवाद तथा विस्तृत समीक्षात्मक व्याख्या—इन विशेषताओं के साथ यह संस्करण इस दिशा में एक नया प्रयास है। हिन्दी अनुवाद को, सरल बनाने की दृष्टि से, कहीं कहीं अधिक विस्तृत करना पड़ा। व्याख्या के प्रसंग में व्याख्येय अंश से सम्बद्ध पृष्ठभूमि तथा पूर्वपक्ष सम्बन्धी मूल स्रोतों और आधारों को भी देना अनिवार्य था। इन कारणों से इस संस्करण का कलेवर कुछ अधिक विस्तृत हो गया। आशा है यह संस्करण, इस दिशा में रुचि रखने वाले अथवा शोधार्थी छात्रों तथा विद्वानों के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

आज से लगभग १२ वर्ष पूर्व यह संस्करण तैयार हो चुका था, तथापि विश्व-विद्यालय के प्रकाशन-क्रम में आकर अब यह प्रकाशित हो रहा है। यह भी विधाता की परम अनुकम्पा है तथा प्रसन्नता की बात है—"**यस्माद् ऋते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन**"।

परमलघुमंजूषा के इस प्रकाशन के प्रसंग में इस विश्वविद्यालय के परम सम्मान-नीय एवं प्रतिष्ठित उपकुलपति श्री शरत् कुमार दत्त, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष स्व० प्रोफेसर डॉ० बुद्ध प्रकाश तथा संस्कृत विभाग के सम्माननीय अध्यक्ष प्रोफेसर डॉ० गोपिका मोहन भट्टाचार्य के प्रति मैं विशेष आभारी एवं श्रद्धावनत हूँ, जिनकी परोक्ष एवं अपरोक्ष प्रेरणाओं तथा सहायताओं से मुझे समय समय पर अनुगृहीत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अधिकारियों का मैं विशेष कृतज्ञ हूं जिनकी आर्थिक सहायता से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सका।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



ग्रन्थ की अनेक पंक्तियों को समझने तथा हृदयंगम करने में आदरणीय मित्रवर डॉ० श्रीनिवास शास्त्री, रीडर संस्कृत विभाग, से मुझे विशेष सहायता प्राप्त हुई है। संस्कृत व्याकरण शास्त्र के पारदृश्वा विद्वान् श्री पं० चारुदेव शास्त्री ने सम्पूर्ण अनुवाद एवं व्याख्या की पाण्डुलिपि का अवलोकन कर उसे अनेक स्थलों पर संशोधित किया है। मेरे सम्माननीय सहयोगी श्री पं० स्थाणुदत्त जी ने भूमिका भाग को देखकर उपयोगी सुझाव दिये हैं। इन सब के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। प्रिय शिष्या डॉ० अमिता रानी गुप्ता ने पाण्डुलिपि के पुनः लेखन इत्यादि में विशेष सहयोग दिया है। उन्हें मैं हृदय से साधुवाद, आशीर्वाद एवं शुभकामनायें देता हूँ।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के प्रेस मैनेजर श्री टी० फिलिप तथा उनके सहयोगियों को मैं अनेक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न किया।

१८-१-७५

**कपिल देव शास्त्री**

For Private and Personal Use Only

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# संकेताक्षर

| | |
|---|---|
| अ० | अध्याय |
| अमर० | अमरकोश |
| उप० | उपनिषद् |
| का० | कारिका |
| काप्रशु० | परमलघुमंजूषा 'ज्योत्स्ना' टीका-सहित, पं० कालिकाप्रसाद शुक्ल सम्पादित, महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा, वि० सं० २०१७ |
| छान्दो० | छान्दोग्योपनिषद् |
| निस० | परमलघुमंजूषा, नित्यानन्द पर्वतीय कृत टिप्पणी सहित, पं० सदाशिव शास्त्री सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९४६ |
| न्या० | न्यायसूत्र |
| पलम० | वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमंजूषा अथवा परमलघुमंजूषा |
| परि० | परिभाषा |
| पा० | पाणिनीय अष्टाध्यायी (पाणिनीय सूत्रपाठ तथा तत्परिशिष्ट ग्रन्थों का शब्दकोष) श्रीधर शास्त्री पाठक द्वारा सम्पादित, भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर, पूना १९३५ |
| पाटि० | पाद टिप्पण |
| महा० | पतंजलि-कृत व्याकरण महाभाष्य, पं० गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित, राजस्थान संस्कृत कालेज, बनारस, १९३८–३९ |
| वा०, वाप० | वाक्यपदीय, अभ्यंकर काशीनाथ वासुदेव तथा प्रभाकर विष्णु लिमये द्वारा, सम्पादित, पूना १९३५ |
| वैभूसा० | कौण्डभट्ट कृत वैयाकरणभूषणसार, शांकरी व्याख्या-सहित, मारुलकर शंकर शास्त्री द्वारा सम्पादित, आनन्दाश्रम पूना, १९५७ |
| वैसिम० | वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सरस्वती भवन का हस्तलेख, संख्या ३९८२७) |

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



| | |
|---|---|
| धैसिलम० | वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा, कुंजिका तथा कला टीकाओं के के साथ, माधव शास्त्री भण्डारी द्वारा सम्पादित. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस से कई भागों में, १९२४-२५, १९२७-२९ में, प्रकाशित |
| वंमि० | परमलघुमंजूषा, वंशी टीका सहित, पं० वंशीधर मिश्र सम्पादित, गया, १९५७ |
| व्युवा० | गदाधर कृत व्युत्पत्तिवाद, जया टीका सहित |
| स० | संहिता अथवा संख्या |
| ह० | हस्तलेख (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के परमलघुमंजूषा सम्बन्धी चार हस्तलेख[1] यहाँ संकेतित हैं) |

१. चारों हस्तलेखों का विवरण—

(१) हस्तलेख संख्या ३८५९२, पत्र संख्या १–३१, पूर्ण, आकार १०.२×४.३, प्रति पृष्ठ १० पंक्ति, प्रति पंक्ति ५० अक्षर, लिपि काल १८४७, अनेक स्थानों पर कीड़ों द्वारा खाया हुआ।

(२) हस्तलेख संख्या ३९०३४, पत्र संख्या १-३७, पूर्ण, आकार १२.५×४.६, लिपि काल १८७०।

(३) हस्तलेख संख्या ३९०३४, पत्र संख्या १-३७, पूर्ण, आकार १२.५×४.४, लिपिकाल १९०४, कहीं कहीं व्याख्यात्मक टिप्पणियां हैं।

(४) हस्तलेख संख्या ४०३४१, पत्र संख्या १-४३, आकार १२.×४.६, लिपि काल अज्ञात।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# विषय–सूची


| प्राक्कथन | पृष्ठ |
|---|---|
| दो शब्द | १—३ |
| संकेताक्षर | ४—५ |
| भूमिका | १—३९ |

(१) संस्कृत व्याकरण दर्शन : स्वरूप, प्रतिपाद्य एवं परम्परा

'दर्शन' शब्द का मौलिक अभिप्राय, संस्कृत व्याकरण शास्त्र अथवा शब्द दर्शन; एक ही 'शब्द' तत्त्व की प्रमुख पाँच रूपों में स्थिति; 'शब्दब्रह्म' के स्वरूप-ज्ञान से मुक्ति; व्याकरण दर्शन का प्रतिपाद्य; व्याकरण दर्शन की परम्परा।

(२) नागेश भट्ट और उनकी कृतियां

नागेश भट्ट; समय; जीवनवृत्त; विद्या-गुरु; शिष्य-परम्परा; कृतियाँ; कृतियों का कालक्रम; नागेश भट्ट-कृत तीन मंजूषा ग्रन्थ; वैयाकरण-सिद्धान्तमंजूषा का दूसरा नाम स्फोटवाद; तीनों मंजूषा ग्रन्थों का प्रतिपाद्य; वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा तथा वैयाकरण-सिद्धान्तपरमलघुमंजूषा का तुलनात्मक अध्ययन एवं परमलघुमंजूषा का वैशिष्ट्य; परमलघुमंजूषा पर वैयाकरणभूषणसार का प्रभाव; परमलघुमंजूषा का महत्त्व; प्रस्तुत अध्ययन।

वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमंजूषा

शक्ति-निरूपण १—६२

मंगलाचरण; आठ प्रकार के स्फोट, आठ प्रकार के स्फोटों में वाक्यस्फोट की प्रमुखता; 'वाक्यस्फोट' के स्वरूप-बोधन के लिये प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना; 'वर्णस्फोट' को मानने की आवश्यकता तथा 'स्थानी' और 'आदेश' की वाचकता के विषय में विचार; व्याकरण-भेद से 'स्थानी' आदि के भिन्न-भिन्न होने पर भी शब्द से अर्थ का बोध होने में कोई क्षति नही होती; आप्तों के द्वारा उपदिष्ट शब्द को भी प्रमाण कोटि में माना गया है; शाब्द बोध में कार्य-कारण-भाव के स्वरूप का


For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्रदर्शन; शाब्द बोध-विषयक कार्य-कारण-भाव के प्रदर्शन-वाक्य में प्रथम 'तद्धर्मावच्छिन्न' पद का प्रयोजन; शाब्द ज्ञान में, वृत्ति-कृत विशेषता के विषय में दो प्रकार के सम्बन्धों का, द्वितीय 'तद्धर्मावच्छिन्न' पद के प्रयोजन का तथा शाब्द-बोध-विषयक कार्यकारणभाव-रूप नियम के विविध प्रयोजनों का कथन; 'शक्ति' के स्वरूप के विषय में नैयायिकों का मत; नैयायिकों के मत का खण्डन; वैयाकरणों के मत में 'शक्ति' का स्वरूप; 'शक्ति' के साथ सम्बन्ध की अनिवार्य सत्ता के विषय में भर्तृहरि का कथन; सम्बन्ध' पद तथा वाक्य दोनों में रहता है; 'संकेत' के विषय में योग-सूत्र के व्यास-भाष्य का प्रमाण; 'ईश्वर-संकेत ही शक्ति है' नैयायिकों के इस मत का खण्डन; 'शब्द तथा अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध है' इस सिद्धान्त में प्रमाण; 'तादात्म्य' सम्बन्ध का स्वरूप; 'बुद्धि-गत अर्थ ही वाच्य है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन; 'बुद्धि-गत अर्थ ही शब्द के द्वारा अभिव्यक्त होता है' इस विषय में एक और हेतु; 'शशशृङ्गम्' जैसे प्रयोगों में नैयायिकों के मन्तव्य का खण्डन; अर्थ-भेद के आधार पर शब्द-भेद या 'अनेक-शब्दता' तथा आकार-साम्य के आधार पर 'एकशब्दता' का व्यवहार; 'साधु' तथा 'असाधु' दोनों प्रकार के शब्दों में 'शक्ति' की सत्ता का प्रतिपादन; 'असाधु शब्दों में वाचकता शक्ति नहीं होती' नैयायिकों के इस मत का निराकरण; अपभ्रंश शब्दों में वाचकता शक्ति के मानने पर ही मीमांसकों का 'आर्यम्लेच्छाधिकरण' सुसंगत हो पाता है; साधु तथा असाधु शब्दों की परिभाषा; 'शक्ति' के तीन प्रकार; 'पङ्कज' शब्द में लक्षणा नहीं मानी जा सकती तथा इसके प्रयोगों में कहीं केवल 'रूढि' और कहीं केवल 'योग' अर्थ का बोध होता है; 'यौगिकरूढ़ि' की परिभाषा; 'संयोग' आदि के द्वारा 'अभिधा' शक्ति का नियमन होता है; संयोग आदि के उदाहरण।

**लक्षणा-निरूपण** ६३—७७

'लक्षणा' वृत्ति के विषय में नैयायिकों का मत; लक्षणा के दो और भेद; 'जहत्स्वार्था' लक्षणा की परिभाषा; लक्षणा में 'तात्स्थ्य' आदि अनेक धर्म निमित्त बनते हैं; 'तात्पर्य' की अनुपपत्ति लक्षणा का मूल है; लक्षणा का एक तीसरा प्रकार—'जहद्-अजहल्लक्षणा'; मीमांसकों के द्वारा लक्षणा की एक दूसरी परिभाषा; प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि से एक चौथी प्रकार की लक्षणा—'लक्षित-लक्षणा'; लक्षणा के दो अन्य भेद—'प्रयोजनवती' तथा 'निरूढ़ा'; लक्षणा वृत्ति का खण्डन; लक्षणा वृत्ति के अभाव में उपस्थित होने वाले दोषों का समाधान।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**व्यंजना-निरूपण** ७८—८४

व्यंजना का स्वरूप; वैयाकरण विद्वानों को भी व्यंजना वृत्ति अभीष्ट है; व्यंजना वृत्ति के अधिष्ठान तथा सहायक; 'व्यंजना वृत्ति अनावश्यक है' नैयायिकों के इस मन्तव्य का खण्डन।

**स्फोट-निरूपण** ८५—११२

अभिधा' आदि वृत्तियों का आश्रय वर्णों को नहीं माना जा सकता; इस विषय में नैयायिकों का मन्तव्य; नैयायिकों के इन तीनों विकल्पों का खण्डन; नैयायिकों की बात का पतंजलि के कथन से विरोध; वैयाकरणों के मत में वृत्तियों का आश्रय स्फोट तथा चार प्रकार की वाणी —परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी; 'मध्यमा' तथा 'वैखरी' नाद का अन्तर; 'स्फोट' एक एवं अखण्ड है; 'कत्व', 'गत्व', आदि का स्फोट में आभास तथा उसका कारण; दो प्रकार की ध्वनियाँ; 'वैखरी' नाद तथा 'मध्यमा नाद का उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण; 'जाति' ही वास्तविक 'स्फोट' है।

**आकांक्षादि-विचार** ११३ — १२५

'आकांक्षा' का स्वरूप; एक दूसरे प्रकार से 'आकांक्षा' का विवेचन; 'योग्यता' का स्वरूप; योग्यता' के विषय में नैयायिकों का वक्तव्य तथा उसका खण्डन; 'आसत्ति' का स्वरूप तथा उसकी 'सहकारि-कारणता' के विषय में विचार; 'तात्पर्य' का स्वरूप-विवेचन तथा शाब्द बोध में उसकी हेतुता।

**धात्वर्थ-निर्णय** १२६—१८४

धातुओं के अर्थ के विषय में विचार; 'फल' की परिभाषा; 'व्यापार' पद का स्पष्टीकरण तथा धात्वर्थ की परिभाषा में आये 'अनुकूल' शब्द का अभिप्राय; कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य में तिङन्त पद क्रिया-प्रधान होता है तथा कर्मवाच्य में 'फल'-प्रधान; 'फल' तथा 'व्यापार' दोनों में धातु की पृथक्-पृथक् 'शक्ति' मानने वालों का खण्डन; मीमांसकों के मत — "धातु' का अर्थ 'फल' है तथा 'प्रत्यय' का अर्थ 'व्यापार' है" — का खण्डन; मीमांसकों का उपर्युक्त मत मानने पर 'सकर्मक', 'अकर्मक' सम्बन्धी व्यवस्था की अनुपपत्ति; मीमांसकों के मत में अन्य दोषों का प्रदर्शन; क्रिया का स्वरूप; सिद्ध और साध्य की कौण्ड-भट्ट-सम्मत परिभाषा; 'साध्यता' की वास्तविक परिभाषा; 'अस्' इत्यादि धातुओं की क्रियारूपता; 'सकर्मक' तथा 'अकर्मक' की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



परिभाषा; 'सकर्मक' तथा 'अकर्मक' की निष्कर्षभूत परिभाषा; 'ज्ञा' धातु के अर्थ के विषय में विचार; 'आवरणभङ्ग' अथवा 'विषयता' को 'ज्ञा' धातु का 'फल' नहीं माना जा सकता; 'इष्' धातु का अर्थ; 'पत्' धातु की 'सकर्मकता' तथा 'अकर्मकता' के विषय में विचार; 'कृ' धातु का अर्थ; 'लकारार्थ' के विषय में नैयायिकों का सिद्धान्त; नैयायिकों के प्रथम सिद्धान्त—"लकारों का अर्थ 'कृति' है"—का खण्डन; नैयायिकों के अनुसार 'लकारों' का अर्थ 'कृति' मानने से उत्पन्न दोषों के निराकरण का एक और उपाय तथा उसका खण्डन; "नामार्थयोरभेदेनान्वयः" इस न्याय के आधार पर भी 'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्ययों का अर्थ 'कर्ता' नहीं माना जा सकता; 'लकारों' का अर्थ 'कर्ता' न मान कर, केवल 'कृति' मानने पर एक और दोष; नैयायिकों द्वारा स्वीकृत 'आख्यातार्थ में 'धात्वर्थ' विशेषण बनता है'—इस द्वितीय सिद्धान्त का निराकरण; नैयायिकों के तृतीय सिद्धान्त—'शाब्द बोध में प्रथमा विभक्त्यन्त पद का अर्थ प्रमुख होता है'—के खण्डन की दृष्टि से, उससे पहले, वैयाकरणों के मत की स्थापना; नैयायिकों के सिद्धान्त में दोष; 'पश्य मृगो धावति' इस वाक्य में उपरि-प्रदर्शित दोष का पूर्व पक्ष के रूप में समाधान तथा उसका खण्डन।

निपातार्थ-निर्णय १८५—२४२

'निपातों की अर्थ-द्योतकता का प्रतिपादन; 'द्योतकता' का अभिप्राय; 'उपसर्ग अर्थ के द्योतक हैं तथा निपात अर्थ के वाचक',—नैयायिकों के इस मत का खण्डन; इस प्रसङ्ग में नैयायिकों पर अन्य वैयाकरणों द्वारा किये गये आक्षेप; कौण्डभट्ट के आक्षेपों की निस्सारता; 'द्योतक' होने पर भी 'निपात' सार्थक हैं, अनर्थक नहीं; "उपसर्ग अर्थ के द्योतक हैं"—इस सिद्धान्त का प्रति-पादन; उपसर्गों की अर्थ-द्योतकता के विषय में भर्तृहरि का कथन; "इव' सादृश्य अर्थ का वाचक है"—इस नैयायिक-मत का खण्डन; 'इव' के द्योत्य अर्थ के विषय में नागेश का मत; 'पर्युदास नञ्' तथा उसका द्योत्य अर्थ; 'पर्युदास नञ्' प्रायः समास-युक्त मिलता है; 'प्रसज्यप्रतिषेध' का स्वरूप, 'प्रसज्यप्रतिषेध' के प्रयोगों के अर्थ; बुद्धिगत शब्द ही वाचक है तथा वही वाच्यार्थ भी है; 'घटो न पटः' इस प्रयोग के विषय में विचार तथा उसके सम्बन्ध में नैयायिकों के मत का खण्डन; 'एव' निपात के विविध अर्थ; अवधारण के तीन प्रकार; 'एव' के प्रयोग के बिना भी नियम की प्रतीति; प्रसंगतः 'विधि', 'नियम' तथा 'परिसंख्या' के लक्षण और शास्त्रीय उदाहरण।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**दश-लकारादेशार्थ-निर्णय** २४३-२६२

'लकारों' के स्थान पर विहित 'आदेश'-भूत 'तिङ्' की अर्थ-वाचकता के विषय में विचार; 'लादेश'-मात्र के अर्थ तथा उनका परस्पर अन्वय; वर्तमान काल की परिभाषा; 'लिट्' के आदेशभूत 'तिङ्' का अर्थ; 'कृ', 'भू' आदि के अनुप्रयोग के स्थलों में 'कृ', 'भू' आदि धातुओं तथा 'आम्' प्रत्यय के अर्थ का निर्णय और उनके पारस्परिक अन्वय का स्पष्टीकरण; 'लुट्' के आदेशभूत 'तिङ' के अर्थ तथा 'भविष्यत्त्व' की परिभाषा के विषय में विचार; 'लृट्'-स्थानीय 'तिङ्' का अर्थ; 'लेट्' लकार के आदेशभूत 'तिङ्' का अर्थ; 'लोट्' लकार के स्थान पर आने वाले 'तिङ्' का अर्थ; 'लङ्' के आदेशभूत 'तिङ्' का अर्थ; 'लिङ्' के आदेशभूत 'तिङ्' का अर्थ; 'प्रवर्तना' की परिभाषा; 'लुङ्' लकार के आदेश-भूत 'तिङ्' का अर्थ तथा 'भूतत्व' की परिभाषा; 'लृङ्' लकार के आदेशभूत 'तिङ्' का अर्थ।

**लकारार्थ-निर्णय** २६३-३१४

लकारार्थ के विषय में विविध मत; 'लकार' को ही वाचक मानना युक्त है, उसके स्थान पर आने वाले 'तिप्' आदि 'आदेशों' को नहीं; 'लत्व' तथा 'आत्मनेपदत्व' रूप शक्तियों में अन्तर; कर्तृवाच्य के प्रयोगों में शाब्द बोध का स्वरूप; कर्मवाच्य तथा कर्तृवाच्य के कुछ और प्रयोग; काल की दृष्टि से 'लकारों' के विविध अर्थ; 'वर्तमान' आदि कालों का अन्वय 'कृति' (यत्न) अथवा 'व्यापार' में ही होता है; 'ज्ञा' आदि धातुओं के विषय में विचार; 'लट्' से किस प्रकार 'वर्तमान' काल तथा 'आश्रयता' दोनों का बोध होता है और 'वर्तमान' काल का क्या अभिप्राय है इन प्रश्नों का उत्तर; एक ही पद ('लट्') से बोधित 'कृति' तथा 'वर्तमानता' इन दोनों अर्थों में परस्पर अन्वय का प्रकार; 'घटो नश्यति' इत्यादि वाक्यों में 'लट्' के अर्थ के विषय में विचार; इस विषय में अन्य आचार्यों का मत; 'नश्यति' के अर्थ के विषय में कुछ अन्य विद्वानों का मत; 'आख्यात' (लकार) से होने वाले अर्थ-बोध के विषय में वैयाकरणों, मीमांसकों तथा नैयायिकों के विभिन्न वाद; 'लङ्' तथा 'लुङ्' लकार के अर्थ के विषय में विचार; 'लिट्' लकार के अर्थ—'भूत' काल तथा 'परोक्षता'—के विषय में विचार; 'लुट्' तथा 'लृट्' लकार से प्रकट होने वाले भविष्यत काल की परिभाषा; कुछ अन्य विद्वानों का मत; 'नश्' धातु के 'लुट्' तथा लृट्' लकार के प्रयोग के विषय में विचार; 'पक्ष्यति', 'पक्ववान्' इत्यादि प्रयोगों के अर्थ के विषय में विचार; 'लिङ्' तथा 'लोट्' लकार के अर्थ के विषय में विचार; 'विधि' शब्द

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



के अर्थ के विषय में भाट्ट-मतानुयायी मीमांसकों का विचार; नैयायिकों द्वारा उपर्युक्त भाट्ट मीमांसकों के मत का खण्डन, आचार्य प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक विद्वानों के अनुसार 'विधि' शब्द का अर्थ; केवल एक प्रकार के अर्थ की कल्पना से काम नहीं चल सकता; पाँचों प्रकार के अर्थों का उपपादन; 'विधि' शब्द के अर्थ के विषय में नैयायिकों का मत; 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि प्रयोगों में नैयायिकों के सिद्धान्त-मत के अनुसार 'अभेद'-सम्बन्ध से ही अन्वय सम्भव; 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इस प्रयोग के अर्थ के विषय में, 'लिङ्' के अर्थ की दृष्टि से, विचार; "प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वित-स्वार्थ-बोधकत्वम्" इस परिभाषा के प्रकाश में 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इस वाक्य के अर्थ के विषय में पुनः विचार; 'लेट्' लकार के अर्थ के विषय विचार; 'लृङ्' लकार के अर्थ के विषय में विचार; 'लृङ्' लकार के दोनों अर्थों से सम्बद्ध उदाहरणों का प्रदर्शन एवं विवेचन।

**कारक-निरूपण** ३१५-३७७

कारक की परिभाषा; 'कर्तृत्व' की परिभाषा; सूत्रकार पाणिनि के अनुसार प्रथमा विभक्ति का अर्थ; 'सम्बोधन' में होने वाली प्रथमा विभक्ति की 'कारकता'; प्रथमा तथा सम्बोधन की 'कारकता' में प्रमाण; कारक की दूसरी परिभाषाओं के विषय में विचार; 'कर्त्ता' की एक अन्य परिभाषा का खण्डन; 'कर्म' कारक की परिभाषा के विषय में विचार; 'कर्म' संज्ञा की परिभाषा के 'उद्देश्यत्व' पद के विषय में विचार; 'कर्म' कारक की परिभाषा में 'योग्यता-विशेष-शालित्वम्' और जोड़ना चाहिये; कुछ अन्य प्रयोगों में 'कर्मत्व' की उपपत्ति; 'योग्यताविशेष-शालित्वम्' में 'विशेष' पद का प्रयोजन; 'कर्म' कारक के कुछ अन्य प्रयोगों पर विचार; 'द्विकर्मक' धातुओं के विषय में विचार; 'कर्म' कारक की परिभाषा के विषय मे नैयायिकों के सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करने के पहले, पूर्वपक्ष के रूप में, किन्हीं अन्य नैयायिक विद्वानों के ही तीन मतों का प्रदर्शन; इस प्रसंग में नैयायिकों की सिद्धान्तभूत परिभाषा; नैयायिकों द्वारा 'कर्म' कारक की परिभाषा के रूप में स्वीकृत सिद्धान्तभूत उपर्युक्त चतुर्थ मत का खण्डन; 'वृक्षं त्यजति खगः' प्रयोग के विषय मे विचार; 'सकर्मक' तथा 'अकर्मक' धातुओं की परिभाषाओं पर एक दृष्टि; 'करण' कारक का लक्षण एवं उसका विवेचन; 'सम्प्रदान' कारक की परिभाषा; इस प्रसंग में वृत्तिकारों का भिन्न विचार; वृत्तिकारों के मत का अनौचित्य; 'सम्प्रदान' कारक में होने वाली चतुर्थी विभक्ति का अर्थ; 'सम्प्रदान' कारक की एक दूसरी परिभाषा; "कर्मणा यम् अभिप्रैति"० सूत्र की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



आवश्यकता पर विचार; 'अपादान' कारक की परिभाषा; 'अपादान' कारक की परिभाषा के 'प्रकृतधात्वबाच्य' तथा 'तत्तत्कर्तृ' इन अंशों के प्रयोजन के विषय में विचार; 'औपाधिक' भेद से उत्पन्न अर्थ-भेद के द्वारा 'अपादान' संज्ञा की सिद्धि हो जाने पर परिभाषा में 'तत्तत्कर्तृसमवेत' इस अंश की अवश्यकता पर विचार; 'वृक्षात् पर्णं पतति' इस प्रयोग के विषय में विचार; 'अपादान' कारक की एक दूसरी परिभाषा का विवेचन; 'अपादान' की उपर्युक्त परिभाषा को मानने वाले किसी विद्वान् के, 'परस्परस्मान् मेषावपसरतः' इस प्रयोग-विषयक, वक्तव्य का खण्डन; पंचमी विभक्ति का अर्थ; 'अधिकरण' कारक की परिभाषा; 'अधिकरण' के तीन प्रकार; भावसप्तमी या सत्सप्तमी का अर्थ; षष्ठी विभक्ति का अर्थ; 'राज्ञः पुरुषः' जैसे प्रयोग में, सम्बन्ध 'राजा' तथा 'पुरुष' दोनों में है इसलिये, 'राज्ञः' के समान 'पुरुष' शब्द में भी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग प्राप्त है—इस शंका का समाधान।

**नामार्थ** ३७८—४०३

मीमांसकों के अनुसार शब्द की शक्ति जाति में है; मीमांसकों के 'जातिशक्तिवाद' के सिद्धान्त का खण्डन तथा नैयायिकों के 'व्यक्तिशक्तिवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन; वस्तुतः 'जाति'-विशिष्ट 'व्यक्ति' अथवा 'व्यक्ति'-विशिष्ट 'जाति' ही शब्द का वाच्य अर्थ होता है; 'प्रातिपदिक' अथवा 'नाम' शब्दों का अर्थ 'जाति' तथा 'व्यक्ति' के साथ साथ 'लिङ्ग' भी है; 'संख्या' अथवा 'वचन' भी 'प्रातिपदिक' शब्दों का अर्थ है; 'कारक' भी 'प्रातिपदिक' शब्द का ही अर्थ है; शब्द अपने स्वरूप का भी बोधक होता है; शाब्द बोध में शब्द के अपने रूप के भी भासित होने के कारण ही 'अनुकरण' से 'अनुकार्य' के स्वरूप का ज्ञान होता है; 'भू सत्तायाम्' इत्यादि प्रयोगों में 'भू' जैसे विभक्ति-रहित प्रयोग असाधु नहीं है; अभेद पक्ष में 'अनुकरण' तथा 'अनुकार्य' के सर्वथा अभिन्न होने पर 'अनुकरण'-भूत शब्द से 'अनुकार्य-भूत शब्द के स्वरूप का ज्ञान कैसे होता है इस प्रश्न का उत्तर।

**समासादि-वृत्यर्थ** ४०४—४३८

दो प्रकार की वृत्तियां; व्यपेक्षावादी नैयायिकों तथा मीमांसकों का मत; 'व्यपेक्षा' पक्ष का खण्डन; लाक्षणिक अर्थवत्ता के आधार पर भी समासयुक्त पदों को 'प्रातिपदिक' संज्ञा उपपन्न नहीं हो पाती; समासयुक्त पदों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा के उपपादन का एक अन्य उपाय तथा उसका निराकरण;

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



व्यपेक्षावादी के एक अन्य कथन का खण्डन; "प्रत्यय अपने समीपवर्ती पद के अर्थ से सम्बद्ध स्वार्थ के बोधक होते हैं' इस न्याय की अनुकूलता 'व्यपेक्षावाद' में ही है" नैयायिकों के इस कथन का निराकरण; 'व्यपेक्षावाद' के सिद्धान्त में एक और दोष; 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य पर किये जाने वाले कुछ अन्य आक्षेपों का समाधान; 'व्यपेक्षा' सामर्थ्य में अनेक दोष दिखाकर 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य का समर्थन; 'व्यपेक्षा' सामर्थ्य में कुछ और दोष।

परमलघुमंजूषा में उद्धृत सन्दर्भ ४३९-४५०
परमलघुमंजूषा में उद्धृत ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार ४५१-५२
शुद्धिपत्र ४५३

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# भूमिका

## १

## व्याकरण-दर्शन : स्वरूप, प्रतिपाद्य विषय एवं परम्परा

**'दर्शन' शब्द का मौलिक अभिप्राय**—'दर्शन' शब्द का मौलिक अर्थ है दृष्टि, जिसके द्वारा देखा जाय। पर यह सामान्य दृष्टि न होकर, विशेष, असाधारण अथवा दिव्य दृष्टि है। चर्म चक्षुओं से दिखाई देने वाले अथवा सभी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभूत होने वाले बाह्य एवं स्थूल रूपों, भावों, व्यापारों, क्रियाओं तथा चेष्टाओं को क्षणिक एवं असत्य मानते हुए उनसे ऊपर उठ कर अतिमानस अथवा दिव्य दृष्टि से विश्व में ओत प्रोत अनिर्वचनीय विश्वात्मा का सतत दर्शन करना (उसके सान्निध्य, सायुज्य एवं साहचर्य में रहना) ही 'दर्शन' शब्द का प्रमुख तथा प्राचीन अर्थ प्रतीत होता[1] है। इस विशिष्ट दृष्टि से अनुभूत आध्यात्मिक ज्ञान को भी 'दर्शन' कहा जाता है।

इस दिव्य दर्शन (दृष्टि) की सर्वप्रथम उपलब्धि हुई थी वैदिक ऋषियों को जिनके अतिमानस में वैदिक ऋचाओं का स्वतः स्फुरण हुआ था। इस तथ्य के उपोद्वलक अनन्त प्रमाण वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा अन्य प्राचीन आध्यात्मिक ग्रन्थों में स्पष्टतः उल्लिखित अथवा संकेतित मिलते हैं। उदाहरण के लिये निम्नलिखित मन्त्रांश द्रष्टव्य हैं :—

**तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।**
(ऋग्वेद १.२२.२०)

विष्णु के उस परम पद को (सर्वोत्कृष्ट रूप को) विद्वान् अथवा ज्ञानी सदा देखते रहते हैं।

**तद् अपश्यत्, तद् अभवत् तद् आसीत्।**
(यजुर्वेद ३२.१२)

ऋषि ने उस परम तत्त्व को देखा, (देखकर) उससे अभिन्न हो गया, (वस्तुतः) वह उससे अभिन्न ही था।

**वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वम् भवत्येकरूपम्।**[2]
(अथर्ववेद २.१.१)

---

१. तुलना करो—गीता ११.८;
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।
वाप०—१.१६;
वैकृतं समतिक्रान्ता भूतिव्यापारदर्शनम्।
व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते॥

२. तुलना करो—यजुर्वेद ३२.८;
वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वम्भवत्येकनीडम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



विद्वान अथवा ज्ञानी ऋषि ने उस परम तत्त्व को देखा जो रहस्यमय (गुहा) है और जिसमें सम्पूर्ण विश्व एकरूपता (अभिन्नता) को प्राप्त हो जाता है।

इस विशिष्ट दृष्टि अथवा दर्शन की उपलब्धि के कारण ही ये ऋषि 'साक्षात्कृत-धर्मा' कहलाये[1] तथा 'ऋषि' शब्द की व्युत्पत्ति 'दृशिर् प्रेक्षणे' (दृश्, देखना) धातु से मानी गयी।[2]

वैदिक मंत्रों में जिस महाभाग्यवान्, अथवा अनन्त-शक्ति-सम्पन्न, सत्य स्वरूप अद्वितीय परमात्मा की बहुधा स्तुति[3] हुई है उस मंत्रात्मा के दर्शन अथवा साक्षात्कार के बिना मंत्रों का दर्शन करना या स्फुरण होना असम्भव था। इसलिये मंत्रों के दर्शन अथवा मंत्रात्मा के दर्शन में कोई अन्तर नहीं मानना चाहिये। इन परमात्म-द्रष्टा ऋषियों की दिव्य चेतना में स्वतः संक्रान्त ऋचाओं के समूह को ही 'वेद' कहा गया जो उस परम सत्ता का ही शाब्दिक प्रतिबिम्ब[4] था और साथ ही उस परम सत्ता की प्राप्ति का उपाय[5] भी था।

इस दिव्य दृष्टि अथवा दर्शन की अनुपम निधि को अपने मूल में अन्तर्हित करके ज्ञान की विविध रश्मियों को अपनी पद्धति से प्रतिपादित, प्रचारित एवं प्रसारित करने वाली स्मृतियों अथवा शास्त्रों को भी संस्कृत भाषा में 'दर्शन' कहा गया।[6] इन सभी दर्शनों अथवा शास्त्रों का मूल आधार है वेद। वस्तुतः वेदवेत्ता आप्त विद्वानों ने वैदिक संकेतों के आधार पर अनेकविध शास्त्रों का प्रणयन किया।[7] इस रूप में इन सभी दर्शनों और शास्त्रों तथा स्मृतियों के मूल में वही दिव्य दृष्टि है जिसने सम्पूर्ण सृष्टि के कण-कण में व्याप्त एक, अविनाशी एवं सचेतन तत्त्व का दर्शन किया था, साक्षात्कार किया था। इस मौलिक दृष्टि अथवा उससे अनुभूत आध्यात्मिक ज्ञान से रहित शास्त्रों को 'दर्शन' नाम नहीं दिया जा सकता।

**संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र अथवा शब्द-दर्शन**—संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र भी एक दर्शन है—यह शब्द-दर्शन है। एक ऐसा दर्शन अथवा दृष्टि जिसकी मूलभूत मान्यता यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि की परम-कारण-भूता, अनादि, एवं परात्पर शक्ति शब्द-तत्त्वात्मक है[8]। इसी

---

१. निरुक्त १.२०; साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।
२. वही २.११; ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः।
३. वही ७.४; माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
४. द्र०—ऋग्वेद १.१६४.३९;
ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्त इमे समासते॥
तथा—गीता १५.१५; वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।
५. द्र०—वाप० १.५;
प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः।
६. 'दर्शन' शब्द के इस अभिप्राय की दृष्टि से द्र०—वाप० १.३९;
यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नातिशङ्कते।
स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत्॥
७. द्र०—वही १.७;
स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः॥
८. द्र०—वही १.१ (पूर्वार्ध); अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



ज्योतिःस्वरूप शब्द-ब्रह्म[1] से विश्व की विविध प्रक्रियायें, आन्तर एवं बाह्य अर्थों, पदार्थों, भावों आदि के रूप में विवर्तित, प्रवर्तित आवर्तित एवं परिणत होती रही हैं।[2] यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म (मानवीय इन्द्रियों द्वारा सर्वथा अविज्ञेय) मूलभूत शब्द ही प्राणियों की चेतना है, आन्तर ज्ञान है। यही सूक्ष्म वागात्मा है, जो अपनी अनन्तविध अभिव्यक्ति के लिये वैखरीरूप स्थूल ध्वनियों में परिवर्तित होता है[3]। सम्पूर्ण सृष्टि-प्रपंच के मूल में विद्यमान यही शब्द-ब्रह्म स्वयं अपने स्थूल रूप में उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि-प्रपंच बन जाता है जिस प्रकार वृक्ष के मूल में विद्यमान सूक्ष्म बीज ही अपने स्थूल रूप में परिणत हो जाता है[4]। यह शब्द-ब्रह्म अद्वितीय है, अनादि और अनन्त है। इससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है[5]। इस शब्द-ब्रह्म की अनन्तानन्त शक्तियां, शक्तिमान् ब्रह्म से अभिन्न होकर, विविध कार्यों में रत हैं। इन शक्तियों में प्रमुख है 'काल' शक्ति, जिसमें अन्य सभी शक्तियां समाहित अथवा अन्तर्भूत हैं। इसी 'काल' शक्ति के आश्रित वे जन्म आदि छः भाव-विकार भी हैं, जो सभी पदार्थों तथा क्रियाओं के पारस्परिक भेद के कारण हैं[6]। इस रूप में वही शब्द ब्रह्म स्वयं भोक्ता, भोक्तव्य और भोग सब कुछ बना हुआ है[7]।

दूसरी ओर, यदि भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो, वही सूक्ष्मतम एक शब्द-तत्त्व ही विविध शब्दरूपों (वर्ण, पद, वाक्य आदि) में विभक्त, और इस रूप में नाम-रूप-विभागा, वाणी का परम आह्लादक रस है। वह एक पवित्रतम ज्योति है[8] क्योंकि वक्ता का आन्तर ज्ञान अथवा चैतन्य-स्वरूप आत्मा ही स्थूल शब्दों के रूप में प्रकट होता है। विद्वानों का विचार है कि अव्यक्त शब्द-ब्रह्म, जिसे 'परा' कहा गया है, अभिव्यक्ति के लिए उन्मुख होता हुआ वक्ता के नाभि स्थान में 'पश्यन्ती' एवं हृदय देश में 'मध्यमा' नाम ग्रहण करता है। 'मध्यमा' की स्थिति में उसी शब्द तत्त्व को 'स्फोट' कहा जाता है

---

१. द्र०—अथर्ववेद १३.३ १; यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति।
तथा वाप० १.१२; यत् तत् पुण्यतमं ज्योतिः।

२. द्र०—वाप० १.१ (उत्तरार्ध); विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।

३. वही १ १२, १२६, १२७;
अयेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते।
सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।
तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु।
अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्॥

४. द्र०—वाप० १ ४;
एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥

५. वही—१.२; एकमेव यदाम्नातम्।
तुलना करो—गीता ७,७; मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।

६. वाप० १.३;
अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः॥

७. वाप० १.१२;
प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमंजसः।

८. द्र०—पलम० (प्रस्तुत संस्करण) पृ० ९१-९६।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



क्योंकि वहां वाचक शब्द तथा वाच्य अर्थ का पार्थक्य प्रतीत होने लगता है। पृथक् पृथक् रूप से प्रतीत होने वाले शब्द तथा अर्थ में वाचक शब्द को 'स्फोट' इसलिए कहा जाता है कि एक तो वह स्वयं प्राकृत ध्वनियों के द्वारा स्फुटित होता है[1], उत्पन्न न होकर अभिव्यक्त होता है, तथा दूसरी ओर, अपनी महिमा से वक्ता के अभीष्ट अर्थ को स्फुटित करता है, प्रकाशित करता है[2]।

**एक ही 'शब्द' तत्व की पांच प्रमुख स्थितियाँ**—संस्कृत वैयाकरणों के इस 'शब्द-ब्रह्म', 'केवला' अथवा 'परा' वाणी या सूक्ष्मतम मूल शब्द को समझने की दृष्टि से शब्द की प्रमुख पाँच स्थितियाँ मानी जा सकती हैं।[3] प्रथम स्थिति को 'अशब्द' कहा गया जिसमें क्षोभ अथवा चंचलता का सर्वथा अभाव होता है। सारी चंचलता को समेट कर वह परात्पर तत्त्व शान्त समुद्र के समान अपने निश्चल रूप में स्थित रहता है। भगवद्-गीता[4] में इसी मूल भूत तत्त्व को 'अव्यक्त अक्षर' कहा गया है तथा उसे ही 'परम गति' माना गया है। इसके बाद की स्थिति को 'पर शब्द' कहा गया। इस स्थिति में 'शब्द-ब्रह्म' की अनन्त शक्तियाँ कार्यरत हो जाती हैं। उनकी अव्यक्त चंचलता अब अभिव्यक्ति के लिए उन्मुख हो जाती है। इस चंचलता को सुनने योग्य कोई कान नहीं है। इस 'पर शब्द' की स्थिति में विद्यमान चंचलता को केवल स्रष्टा प्रजापति अथवा विधाता के कान ही सुन सकते हैं। यह 'पर शब्द' ही बाद की 'शब्द-तन्मात्रा' 'सूक्ष्म शब्द' तथा 'स्थूल शब्द' आदि विविध स्थितियों का कारण है क्योंकि उसके बिना इनकी स्थिति सम्भव नहीं है। इन 'शब्द-तन्मात्रा' आदि के न होने पर भी 'पर शब्द' की सत्ता तो रहती है पर इसके विपरीत स्थिति की सम्भावना नहीं की जा सकती, अर्थात् 'शब्द-तन्मात्रा' आदि के न होने पर 'पर शब्द' की स्थिति भी न रहे ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह 'पर शब्द' ही सर्व-समर्थ स्रष्टा है। इसके उच्चरित होते ही शब्द अपने अर्थ से सम्बद्ध पदार्थ की उसी क्षण सृष्टि करने में समर्थ होता है। इस स्थिति के लिए ही ब्राह्मण ग्रन्थों[5] में यह कहा गया कि प्रजापति ने 'भूः' कहा और पृथ्वी बन गई, 'भुवः' कहा और अन्तरिक्ष बन गया। बाइबिल में भी यह कथन मिलता है कि "सृष्टि के प्रारम्भ में केवल शब्द तत्त्व ही था और वही ब्रह्म अथवा परमात्मा था"।[6] वहीं यह भी कहा गया है कि इस शब्द तत्त्व रूप ब्रह्म

---

१. द्र०—वाप० १.७७ की स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत संग्रह की कारिका:
शब्दस्य ग्रहणे हेतु: प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।

२. द्र०—व्याकरणमहाभाष्य, गुरुप्रसाद संस्करण प्रथम आह्निक् पृ० १२।
येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गुलककुद्-खुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्द:।

३. इस विषय के विस्तृत अध्ययन के लिये द्रष्टव्य—स्वामी प्रत्यगात्मानन्द-कृत जपसूत्रम्, भूमिका भाग, 'स्वाभाविक शब्द और मंत्र' (१), पृ० १७–१६।

४. भगवद्गीता ८.२१;
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तामाहु: परमां गतिम्।

५. द्र०—तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.४.२-३; स भूरिति व्याहरत्। स भुवम् असृजत् स भुवरिति व्याहरत्। सोऽन्तरिक्षम् असृजत्।

६. Bible, New Testament, St. John, Chapter I.
In the beginning was the word and the word was with God and the word was God.

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



ने कहा—"प्रकाश हो जाय और प्रकाश हो गया"।[1] इसी 'पर शब्द' की दृष्टि से यह कथन भी समझ में आता है कि "परमेश्वर ने वेदों के शब्दों से सृष्टि का निर्माण किया"।[2]

'पर शब्द' के बाद की स्थिति 'शब्द तन्मात्रा' की है। इस शब्द के श्रवणीय होने की कल्पना तो की जा सकती है पर वह श्रवणीयता सर्वसामान्य के लिए नहीं है। इस 'शब्द-तन्मात्रा' के पश्चात् 'सूक्ष्म शब्द' और फिर 'स्थूल शब्द' की स्थिति मानी गई। 'शब्द-तन्मात्रा' तथा 'सूक्ष्म शब्द' के स्पन्दन का अनुभव भौतिक श्रोत्र तो नहीं कर पाते पर योगियों के दिव्य श्रोत्र उन्हें अवश्य ग्रहण कर लेते हैं। 'स्थूल शब्द' को शब्द की अभिव्यक्ति का निम्नतम स्तर कहा जायगा जो अपने स्थूल एवं बाह्य स्पन्दनों के द्वारा भौतिक श्रोत्रों को उत्तेजित करके उन स्पन्दनों को श्रवण-योग्य बनाता है।

इस प्रकार यह अव्यक्त शब्द अथवा 'अशब्द' ही, अपने 'पर शब्द'-रूप एक अंश से, सम्पूर्ण सृष्टि प्रपंच के रूप में प्रकट हो रहा है। यह 'पर शब्द' अथवा 'सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन, (जिसे गति, चेष्टा, हरकत जैसे शब्दों से समझा जा सकता है) ही वह विश्व-प्रसविनी आद्या वाणी है जो आम्भृणी ऋषिका के नाम से ऋग्वेद में अपना असाधारण महत्त्व उद्घोषित करती हुई अन्त में यह कहती है कि—"मैं ही सम्पूर्ण भुवनों का उत्पादन करती हुई, सृष्टि की उत्पत्ति के लिए उन्मुख होती हुई, सृष्टि के प्रारम्भ में वायु के समान विशेष रूप से गतिशील हो जाती हूँ, स्पन्दन अथवा चेष्टा आदि से युक्त बन जाती हूं। मैं द्युलोक तथा पृथ्वी लोक आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अथवा सृष्टि के पसारे से अत्यन्त परे हूँ, विलक्षण हूँ तथा अपनी असीम एवं अनिर्वचनीय महिमा से नितान्त असाधारण हूँ और परम महिमामयी बनी हुई हूँ।"[3]

'पर शब्द'-रूप यह स्पन्दन तथा उसका आश्रयभूत वह अविज्ञेय तत्त्व, जिसमें स्पन्दन हो रहा है, अर्थात् 'पर शब्द' तथा उसकी पूर्वावस्थारूप मूलभूत शब्द ('अशब्द') ये दोनों ही सर्वथा अभिन्न हैं, एक हैं, अखण्ड हैं और अविच्छेद्य हैं। अन्तर केवल स्थिति का है। 'अशब्द' रूप यह अभिन्न तत्त्व ही वैयाकरणों का 'शब्दब्रह्म' है, जो स्पन्दन करती हुई किंवा विभिन्न कार्यों का निष्पादन करती हुई, अपनी अनन्तानन्त शक्तियों का आश्रय बन कर भी उनसे सर्वथा अभिन्न है और अभिन्न होकर भी उन शक्तियों से भिन्न सा

---

१. Bible, Old testament Genesis, Chapter 1, 3;
And God said let there be light and there was light.

२. द्र०—महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २३, श्लोक सं० २४;
अनादिनिधना नित्या वाग् उत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यत: सर्वा: प्रवृत्तय: ।।
वाप० १.२०;
शब्दस्य परिणामोऽयम् इत्याम्नायविदो विदु: ।
छन्दोभ्य एव प्रथमम् एतद् विश्वं व्यवर्तत ।।
तथा ऋग्वेद के सायण-भाष्य का प्रारम्भिक श्लोक २;
यस्य नि:श्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम् ।।

३. ऋग्वेद १०.१२५.८;
अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सम्बभूव।।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्रतीत होता है।[1] वस्तुतः हमारी भेदवती बुद्धि, अथवा समझने समझाने की प्रक्रिया, के कारण उसमें भेद अथवा वैविध्य प्रतीत होता है। इस प्रकार यह 'शब्दब्रह्म' ही, जिसे 'अशब्द', 'केवला वाक्', 'परा वाक्' आदि नामों अथवा विशेषणों से प्रकट किया गया है, सब सृष्ट पदार्थों की मूलभूता आद्या प्रकृति है।[2]

**'शब्द-ब्रह्म' के स्वरूप-ज्ञान से मुक्ति**--इस अविनाशी 'शब्दब्रह्म' की सार्वत्रिक सत्ता एवं उसकी विविधरूपता के प्रतिपादन के लिये व्याकरण के आचार्यों ने अनेक विध प्रक्रियाओं तथा कल्पनाओं को जन्म दिया। प्रकृति प्रत्ययों की विशाल शृंखला, चतुर्विध पद-विभाग, इत्यादि उन्हीं कल्पनाओं के परिणाम है। यह बड़े आश्चर्य की बात मानी जायगी कि जिन वैयाकरणों ने शब्द को अखण्ड, अविच्छेद्य एवं नित्य माना उन्होंने ही, शब्द तत्त्व के स्वरूपाधिगम की दृष्टि से, शब्दों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाग किये। यहाँ तक कि रूढ़ि शब्दों में भी 'प्रकृति', प्रत्यय' आदि की कल्पना को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। पर इन सभी असत्य विभागों[3] तथा तत्सम्बद्ध कल्पनाओं के द्वारा उसी एक, अविभक्त एवं सत्य स्वरूप महान् 'शब्द' देव के साथ सान्निध्य प्राप्त करना, उसका सर्वत्र सतत अनुभव करना[4], सभी भूतों में उसे तथा उसमें सब भूतों को देखते हुए अपने को उस आत्मतत्त्व से अभिन्न बना देना[5] तथा इस रूप में उसका सान्निध्य प्राप्त करना[6] ही इन शाब्दिक साधकों

---

१. द्र०—वाप० १.२;
एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते।

२. द्र०—वाप० १.११८ की स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत;
भेदोद्ग्राहिणिवर्तेन लब्धाकारपरिग्रहा।
आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा॥

३. द्र०—वाप० २.२३८;
उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥
तुलना करो—वै०भूसा०, कारिका सं० ६८;
उपेयप्रतिपत्त्यर्थमुपाया अव्यवस्थिताः।
पञ्चकोशादिवत्तस्माद् कल्पनैषा समाश्रिता॥

४. तुलना करो--भगवद्गीता ५.१७
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

५. तुलना करो—ईशोपनिषत्-६
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
तथा भगवद्गीता ६.२९।
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

६. द्र० महा० पस्पशाह्निक (गुरुप्रसाद संस्करण) पृ० ३१ ; महान् देवः शब्दः। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।
तथा—वाप० १.१३१;
अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं तेन सायुज्यमिष्यते॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



का एक मात्र लक्ष्य था। यही है संस्कृत वैयाकरणों का शब्दाद्वैतवाद। इस अद्वैत तत्त्व रूप 'शब्दब्रह्म' के परम रहस्यभूत स्वरूप को अधिगम कर लेना ही मुक्ति है।

भर्तृहरि ने इसी दृष्टि से इस शब्द-संस्कार की प्रक्रिया को परमात्मा की प्राप्ति अथवा उसके साक्षात्कार का उपाय माना है तथा यह कहा है कि जो साधक इन स्थूल शब्दों के प्रयोग (उच्चरण) के मूल में विद्यमान तत्त्व ('प्रवृत्ति-तत्त्व') को जान लेता है, उसका अनुभव कर लेता है, वह 'शब्दब्रह्मरूप' परम अमृत का आस्वादन कर लेता है[1]। वस्तुतः शब्द-प्रयोग के मूल में विद्यमान चेतना ही तो वक्ता की आत्मा है, उसका आन्तर ज्ञान है। इस आत्म-तत्त्व को जानने का उपदेश ही सम्पूर्ण उपनिषदों का प्रतिपाद्य है। इस आत्मा तथा परमात्मा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। इसलिए शब्द-प्रवृत्ति के मूल भूत तत्त्व का सच्चा ज्ञाता परमात्मा को, वैयाकरणों के 'शब्दब्रह्म' को, पा लेगा—इसमें क्या सन्देह हो सकता है? भर्तृहरि ने इस 'शब्द-ब्रह्म' को अमृत कहा है। वह अमृत इसलिए है कि इस दिव्य ज्ञान रूप सोम के पान से साधक भी अमृत हो जाता है, अमर बन जाता है,[2] दिव्य प्रकाश को पाकर स्वयं दिव्य बन जाता है। भर्तृहरि की इन कारिकाओं को पढ़ते हुए वैदिक ऋषियों की वह ऋचा बरबस याद आ जाती है जिसमें उन्होंने यह कहा था कि—"हमने सोम पान कर लिया, हम अमर हो गए, दिव्य ज्योति को प्राप्त कर लिया, दिव्यताएँ हममें समाहित हो गईं," इत्यादि।

इस कारिका की स्वोपज्ञ टीका में दो तीन श्लोक किसी प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत हैं। इनमें से अन्तिम दो श्लोकों[4] में भी यह कहा गया है कि वाणी का संस्कार करके तथा वाणी और ज्ञान को अभिन्न बना कर, वाणी को सभी बाह्य बन्धनों—भेदों तथा उपभेदों—से रहित कर आन्तर ज्योति की प्राप्ति होती है और फिर सभी ग्रन्थियों, संशयों, कर्मों और अज्ञान-जन्य विविध भ्रान्तियों का निवारण होकर परात्पर ज्योति से पूर्ण एकता हो जाती है, पूर्णतः तादात्म्य अथवा अभेद हो जाता है, शब्दब्रह्म का यह ज्ञाता स्वयं भी शब्दब्रह्म बन जाता है, और इस रूप में संस्कृत व्याकरण के अध्ययन का अन्तिम प्रयोजन[5] प्राप्त हो जाता है।

---

१. वाप० १. १२३;

तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा: सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ॥

२. द्र० वाप० १. ११८ की स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत;

ते मृत्युमतिवर्तन्ते ये वै वाचमुपासते।

३. ऋग्वेद ८.४३.३;

अपाम सोममृता अभूम अगन्म ज्योतिर् अविदाम देवान्।

४. वाप० १.१२३ की स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत;

वाचः संस्कारमाधाय वाचं ज्ञाने निवेश्य च।
विभज्य बन्धनान्यस्याः कृत्वा तां छिन्नबन्धनाम् ॥

ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते ॥

५. द्र० व्याकरणमहाभाष्य, प्रथम आह्निक, पृ० ३१; महता देवेन नः साम्यं यथा स्याद् इत्यध्येयं व्याकरणम्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसी दृष्टि से व्याकरण को मोक्ष का द्वार[1] तथा मुमुक्षओं के लिए राज-पद्धति और सिद्धि-सोपान का प्रथम पर्व[2] (पैर रखने का स्थान) कहा गया है। व्याकरण-दर्शन का मनस्वी एवं निष्ठवान् अध्येता विपर्यास अर्थात् अविद्या, अज्ञान एवं भेद-बुद्धि का नितान्त निरसन करके, सर्वथा परिष्कृत एवं छन्दस्य बनकर, उस 'केवला' (अनिर्वचनीया अथवा परम शुद्धा) वाणी का दर्शन करता है, जो सभी छन्दोबद्ध वैदिक ऋचाओं का भी मूल है[3]। जिसमें सभी भेद, विभाग एवं प्रक्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं, उस अविभक्त एवं नाम-रूप-रहिता वाणी का सर्वोत्तम रूप है यह 'केवला' वाणी।[4] अभिन्नता एवं अद्वितीयता के कारण ही इसे 'केवला' कहा गया। यही वह अद्भुत प्रकाश है, जिसकी उपासना, सभी रूपों तथा क्रियाओं से ऊपर उठकर और मानव बुद्धि-निर्मित पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, सुकृत-दुष्कृत इत्यादि द्वन्द्वों से सम्बद्ध सभी मापदण्डों एवं कसौटियों से परे जाकर सर्वत्र एक मात्र शब्द तत्त्व का ही दर्शन करने वाले, समदर्शी शब्दिक साधक ही कर पाते हैं।[5]

संस्कृत-व्याकरण-दर्शन की यह अद्भुत एवं सर्वथा असाधारण विशेषता है, जो विश्व के किसी भी अन्य व्याकरण में अनुपलब्ध है। संस्कृत-व्याकरण केवल व्याकरण अथवा व्याकृति न हो कर दर्शन है जबकि अन्य व्याकरण शब्दों के खिलवाड़ मात्र बन कर रह गए हैं, उनका उद्देश्य केवल भाषा का कथंचित ज्ञान करा देना ही है।

**व्याकरण-दर्शन का प्रतिपाद्य**—संस्कृत-व्याकरण-दर्शन सामान्यतया शब्द, अर्थ तथा उनके सम्बन्ध के विषय में विचार करता है। वैयाकरणों की दृष्टि में 'शब्द' का अभिप्राय है अखण्ड वाक्य अथवा अखण्ड पद, जिससे कोई भाव (Idea) या अभिप्राय प्रकट हो सके। व्याकरणदर्शन सामान्यतया अखण्ड वाक्य को ही अखण्ड वाक्यार्थ का वाचक मानता है। कहीं-कहीं अखण्ड पद को भी अखण्ड पदार्थ का वाचक माना गया है। इसी कारण वाक्यस्फोट तथा पदस्फोट इन दोनों की कल्पना की गई तथा इनकी दृष्टि से विविध समस्याओं पर विचार किया गया है। यहाँ वाक्य तथा पद को 'अन्वाख्येय' माना गया है, जिनका अन्वाख्यान, विश्लेषण, संस्क्रिया अथवा स्वरूप-सिद्धि का प्रयास व्याकरण की प्रक्रिया भाग में किया जाता है। जिन कल्पित भागों तथा अंशों से इन अन्वाख्येय शब्दों (वाक्यों तथा पदों) का अन्वाख्यान किया जाता है, उन्हें 'प्रतिपादक' शब्द कहा गया है। वाक्य रूप 'अन्वाख्येय' शब्द के 'प्रतिपादक' हैं वाक्य में कल्पित

१. वाप० १.१४; तद् द्वारम् अपवर्गस्य।

२. वही १.६;
इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानाम् अजिह्मा राजपद्धतिः॥

३. वही-१. १७.
अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति।
छन्दस्यश्छन्दसां योनिमात्मा छन्दोमयीं तनुम्॥

४. वही—१. १८;
प्रत्यस्तमितभेदाया यद् वाचो रूपमुत्तमम्।
यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्तते॥

५. वही—१. १९;
वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम्।
व्यतीत्यलोकतमसी प्रकाशं यमुपासते॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



विविध पद। पदरूप 'अन्वाख्येय' शब्द के 'प्रतिपादक' हैं पद में कल्पित विविध 'प्रकृति' तथा 'प्रत्यय' रूप अंश।

इसी तरह अर्थ भी दो प्रकार का है। अखण्ड वाक्य तथा अखण्ड पद के क्रमशः अखण्ड वाक्यार्थ तथा अखण्ड पदार्थ रूप अर्थ को 'स्थितलक्षण' अर्थ कहा गया है क्योंकि इस अर्थ में परिवर्तन नहीं होता। इसका स्वरूप (लक्षण) स्थिर (स्थित) होता है। इस अखण्ड वाक्यार्थ तथा अखण्ड पदार्थ रूप 'स्थित लक्षण' अर्थ को समझने समझाने की दृष्टि से इनमें, कल्पना के आधार पर, जो विभाग किया जाता है उसे, अखण्ड वाक्यार्थ तथा अखण्ड पदार्थ (पदों के अर्थ) से अपोद्धृत (पृथक् कृत) होने के कारण, 'अपोद्धार' पदार्थ' कहा जाता है। अखण्ड वाक्यार्थ की दृष्टि से उसमें कल्पित विविध पदार्थों (पदों के अर्थों) को 'अपोद्धार पदार्थ' कहा जाता है तथा अखण्ड पदार्थों (पद के अर्थों) की दृष्टि से उनमें कल्पित प्रकृत्यर्थों और प्रत्ययार्थों को 'अपोद्धार पदार्थ' कहा जाता है[1]।

शब्द का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध भी दो प्रकार का है :—'कार्यकारणभाव' सम्बन्ध तथा 'योग्यता' सम्बन्ध। शब्द से अर्थ प्रकट होता है, इस दृष्टि से शब्द अर्थ का अभिव्यंजक निमित्त अथवा कारण है और अर्थ कार्य है। परन्तु अर्थ को प्रकट करने के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है, इस दृष्टि से अर्थ शब्द का प्रयोजक निमित्त है तथा शब्द उसका कार्य है। इस तरह दोनों में 'कार्यकारणभाव' सम्बन्ध है। इसी प्रकार शब्द तथा अर्थ दोनों में योग्यता' सम्बन्ध भी है। शब्द में अर्थ को प्रकट करने की योग्यता है तथा अर्थ में शब्द के द्वारा प्रकट होने की योग्यता है। इस 'सम्बन्ध' के विषय में व्याकरण-दर्शन की यह भी मान्यता है कि साधु अथवा शिष्ट शब्दों तथा उनके अर्थों में विद्यमान सम्बन्ध दो कार्य करते हैं। जहाँ वे अर्थ के बोधक होते हैं, वक्ता के तात्पर्य को प्रकट करने में सहायक होते है, वहीं वे एक प्रकार के अभ्युदय, अदृष्ट अथवा पुण्य के उत्पादक भी होते हैं। असाधु अर्थात् अशिष्ट अथवा अपभ्रष्ट एवं म्लेच्छ शब्दों में विद्यमान सम्बन्ध अर्थ का बोध तो कराते हैं परन्तु अदृष्ट धर्म अथवा पुण्यविशेष के उत्पादन की क्षमता उनमें नहीं होती[2]।

इन शब्द, अर्थ तथा सम्बन्ध, तीनों को व्याकरणदर्शन नित्य मानता[3] है। वाचक शब्द वक्ता के आन्तर ज्ञान, चेतना अथवा आत्मा का ही एक स्थूल एवं बाह्य अभिव्यक्ति है अतः वह नित्य है। घट आदि शब्दों में विद्यमान घटशब्दत्व आदि जाति की दृष्टि

१. इस विषय में द्रष्टव्य मेरा लेख "अपोद्धार पदार्थ तथा स्थितलक्षण अर्थ", भाषा पत्रिका (वर्ष १२, अंक ३, मार्च १९७३) में प्रकाशित।

२. व्याकरणदर्शन के प्रतिपाद्यभूत द्विविध शब्द, अर्थ तथा सम्बन्ध का संकलन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की निम्न कारिकाओं में किया है :—
अपोद्धारपदार्था में ये चार्थाः स्थितलक्षणाः।
अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः ॥ १.२४
कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।
धर्मे ये प्रत्यये चांगं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु ॥ १.२५

३. द्र०— महा० पस्पशाह्निक पृ० ४७; सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे।
तथा वाप० १.२३;
नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः, समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



से भी शब्दों को नित्य माना जा सकता है। शब्दों का अर्थ भी परम्परया जाति महासत्ता अथवा ब्रह्म है। अतः नित्य है। शब्द तथा अर्थ के नित्य होने पर उनके सम्बन्ध की नित्यता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

**व्याकरण-दर्शन की परम्परा**[1]--संस्कृत-व्याकरण के मूल भूत तत्त्वों--नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, क्रिया, लिंग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय आदि--के विषय में बहुत प्रारम्भिक काल से दार्शनिक चिन्तन आरम्भ हो गया था। आचार्य यास्क के निरुक्त ग्रन्थ के प्रारम्भ[2] में ही नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात के स्वरूप आदि के विषय में पर्याप्त गम्भीर विवेचन मिलता है। सम्भव है इस प्रकार का विवेचन यास्क से पूर्व के अन्य निरुक्त ग्रन्थों में भी किया गया हो। उपसर्ग तथा नाम शब्दों के स्वरूप के सम्बन्ध में अपने से पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य तथा शाकटायन के परस्पर विरोधी मतों का उल्लेख यास्क ने अपने निरुक्त[3] में किया भी है। इसी निरुक्त में उद्धृत[4] एक आचार्य औदुम्बरायण के अखण्ड वाक्य-विषयक, व्याकरणदर्शन के प्रमुख एवं आधारभूत, सिद्धान्त[5] का उल्लेख भर्तृहरि ने वाक्यपदीय[6] में, भरतमिश्र ने स्फोटसिद्धि[7] में तथा महाभाष्य के एक टीकाकार[8] ने अपनी टीका में किया है। यास्क[9] ने भी शब्द को 'व्याप्तिमान्' तथा 'अणीयस्' कह कर शब्द के नित्यत्व एवं सूक्ष्मत्व का निर्देश किया है। भारतीय संस्कृति के आदि ग्रंथ ऋग्वेद में[10] वाणी, वाक् अथवा शब्द को विविध रूपों से युक्त तथा नित्य कहा गया है। अथर्ववेद[11] में भी वाणी को वक्ता में नित्य रूप से रहने वाला कहा है। शब्द-नित्यत्व के सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित एक दूसरे सिद्धान्त स्फोटवाद का सम्बन्ध पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य स्फोटायन से माना जाता है जिन्हें हरदत्त ने पदमंजरी[12] में स्फोटतत्त्व का प्रथम प्रचारक तथा स्वोपज्ञाता कहा है।

परन्तु व्याकरणदर्शन के स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित स्वरूप का प्रारम्भ आचार्य पाणिनि (ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दी) के समय से माना जा सकता है। इसमें कोई सन्देह

---

१. इस विषय के विस्तृत अध्ययन के लिये द्र०—प० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा प्रणीत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, (प्रथम संस्करण) भा० २, पृ० ३४२-३६८ तथा डा० रामसुरेश त्रिपाठी द्वारा लिखित संस्कृत व्याकरण दर्शन, प्रथम अध्याय, पृ० १-३३.

२. द्र०—निरुक्त १.१

३. द्र०—वही १.३; न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोग-द्योतका भवन्ति। उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। तथा १.१२; तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।

४. द्र०—निरुक्त १.१.; इन्द्रियनित्यं वचनम् औदुम्बरायणः।

५. इस विषय में द्र० मेरा लेख : "यास्क तथा भर्तृहरि की दृष्टि में आचार्य औदुम्बरायण का शब्द-दर्शन" कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय रिसर्च जरनल, अक्तूबर १९७२।

६. वाप० २.३४३;
वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च लौकिकम्।
दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ॥

७. स्फोटसिद्धि पृ० १

८. द्र०—संस्कृत व्याकरण दर्शन—डा० रामसुरेश त्रिपाठी, पृ० १३९

९. निरुक्त १.२., व्याप्तिमत्त्वात् शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।

१०. द्र० ऋ० ८.७५.६; वाचा विरूपनित्यया।

११. द्र० अ०—२.१.४; वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठाः।

१२. पदमंजरी--६.१.१२३; स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



नहीं है कि पाणिनि के हृदयस्पर्शी व्याख्याता कात्यायन तथा पतंजलि ने, (जिन्हें पाणिनि के समान अथवा उनसे भी अधिक प्रामाणिक माना जाता[1] है) पाणिनीय व्याकरण के क्षेत्र को, शब्दतत्त्व-सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तनों से आप्लावित कर दिया। पर इन दोनों से पूर्व दाक्षायण व्याडि ने, व्याकरण-दर्शन से सम्बद्ध एक लाख श्लोकों के विपुल परिमाण वाले, अपने संग्रह नामक अद्भुत एवं असाधारण ग्रन्थ में, शब्द, ध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य, उपसर्ग, निपात आदि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार किया था। संभव है कात्यायन, पतंजलि तथा भर्तृहरि आदि द्वारा प्रदर्शित व्याकरण-दर्शन-सम्बन्धी चिन्तनों, विवादों, मतों तथा निर्णयों का प्रधान आधार यही ग्रन्थ रहा हो। इस सम्भावना के कुछ संकेत पातंजल महाभाष्य[2] तथा वाक्यपदीय[3] में उपलब्ध हैं।

कात्यायन (ई०पू० तीसरी शताब्दी) ने पाणिनीय अष्टाध्यायी के अनेक शब्दों तथा विषयों की, दार्शनिक परिवेश में गम्भीर विवादों तथा युक्तियों के आधार पर, अतीव मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है तथा अनेक न्यायों, परिभाषाओं तथा ज्ञापकों को अभिव्यक्ति दी है, जो वार्तिकों के रूप में पातंजल महाभाष्य में संगृहीत हैं। यों तो कात्यायन से पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के वचन तथा कुछ श्लोकबद्ध वार्तिकें भी महाभाष्य में संगृहीत हैं परन्तु उनके विषय में अभी विशेष कुछ भी ज्ञात नहीं है—कहीं कहीं किन्हीं नामों का निर्देश अवश्य मिल जाता है।

संस्कृत व्याकरण दर्शन के अन्तिम प्रमाणभूत मुनि पतंजलि (ई०पू० द्वितीय शताब्दी) ने कात्यायन के लगभग सभी वार्तिकों का संकलन करके उनकी तथा उनके प्रसंग से, अष्टाध्यायी के सूत्रों की संयुक्तिक एवं लोक-संगत व्याख्या की है और अपने पूर्ववर्ती इन दोनों मुनियों की न्यूनता को अपनी दृष्टियों द्वारा दूर करने का प्रयास किया है। साथ ही अनेक प्राचीन आचार्यों के मतों तथा सिद्धान्तों का संकलन और उनका प्रसंगतः विस्तृत विवेचन, व्याकरणदर्शन की पृष्ठभूमि में, बड़ी रोचक शैली में किया है। इस दृष्टि से पातंजल महाभाष्य, व्याकरण के क्षेत्र में सम्प्रति उपलब्ध ग्रन्थों की अपेक्षा, एक अनुपम ग्रन्थ है। भर्तृहरि ने इस ग्रन्थ के प्रणेता पतंजलि को तीर्थदर्शी गुरु तथा महाभाष्य को व्याकरण सम्बन्धी सभी न्याय-बीजों का मूल माना है[4]।

इन तीनों—पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि—मुनियों तथा इनके समकालिक आचार्यों के बाद ईसा की पाँचवी शताब्दी में व्याकरणदर्शन के क्षेत्र में महान् शब्दयोगी भर्तृहरि का पदार्पण हुआ। व्याकरणदर्शन सम्बन्धी लगभग सभी प्रश्नों, समस्याओं तथा विवादों का, प्रकरण और प्रसंग आदि की सुव्यवस्था के साथ, अतीव गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण विवेचन भर्तृहरि के वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ में, जिसका आकार लगभग दो हजार कारिकाओं से समलंकृत है, उपलब्ध है। कहना नहीं होगा कि सर्वप्रथम इसी

१. द्र०—सिद्धान्तकौमुदी (अजन्त पुल्लिंग प्रकरण १.१.२८); यथोत्तरं मुनीनाम् प्रामाण्यम्।

२. द्र० – महा० पस्पशाह्निक पृ० ४६; सङ्ग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम् नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। तथा महा० २.३.६६; शोभना खलु दाक्षायणस्य सङ्ग्रहस्य कृतिः; शोभना खलु दाक्षायणेन संङ्ग्रहस्य कृतिरिति।

३. द्र०—वाप० २.४७८; संग्रहेऽस्तमुपागते। तथा २.४८१; आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकंचुके।

४. द्र०—वाप० २.४७८;
कृतेऽथ पतंजलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



ग्रन्थ ने संस्कृत-व्याकरण को दर्शन की उदात्त भूमिका में प्रतिष्ठापित किया और उसके असाधारण स्वरूप एवं महिमा को सर्वथा अनावृत, एवं सुस्पष्ट करने का प्रयास किया।

वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड को ब्रह्मकाण्ड अथवा आगमकण्ड कहा जाता है। इसमें शब्दाद्वैतवादी व्याकरणदर्शन की दृष्टि से शब्दब्रह्म के स्वरूप, व्याकरणदर्शन के प्रयोजन, स्फोट, प्राकृत तथा वैकृत ध्वनि इत्यादि विविध विषयों पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। इस काण्ड को सम्पूर्ण वाक्यपदीय की भूमिका माना जा सकता है। द्वितीय काण्ड में वाक्य की विविध परिभाषायें प्रस्तुत करते हुए, वाक्य एवं वाक्यार्थ की अखण्डता के प्रतिपादन के साथ-साथ वाक्य-सम्बन्धी लगभग सभी समस्याओं का शास्त्रीय पद्धति से गम्भीर समीक्षण मिलता है। इसी कारण इस काण्ड को वाक्य-काण्ड कहा जाता है। तृतीय काण्ड को पदकाण्ड अथवा प्रकीर्णकाण्ड कहा जाता है। इस काण्ड में १४ विविध समुद्देशों पर विचार किया गया है। ये समुद्देश है— जाति, द्रव्य, सम्बन्ध, भूयो द्रव्य, गुण, दिक्, साधन, क्रिया, काल, पुरुष, संख्या, उपग्रह लिंग तथा वृत्ति। पुण्य[1]राज से पता लगता है कि वाक्यपदीय के इस काण्ड में लक्षण नामक एक समुद्देश भी था जो बाद में लुप्त हो गया।

वाक्यपदीय की स्वयं भर्तृहरि ने ही एक वृत्ति लिखी थी जिसे स्वोपज्ञ वृत्ति कहा जाता है। आज यह वृत्ति सम्पूर्ण प्रथम काण्ड पर तथा द्वितीय काण्ड के कुछ भाग पर प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त भर्तृहरि के नाम से महाभाष्यदीपिका तथा शब्दधातुसमीक्षा नामक ग्रन्थों का भी उल्लेख विद्वानों ने किया है।

वाक्यपदीय के टीकाकारों में वृषभदेव पुण्यराज तथा हेलाराज का नाम गौरव के साथ लिया जाता है। वृषभदेव (५५० ई०) की टीका का नाम वाक्यपदीयपद्धति है तथा सम्प्रति केवल प्रथम काण्ड पर ही उपलब्ध है। पुण्यराज (९ वीं शताब्दी) की टीका वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड पर ही उपलब्ध है। हेलाराज (१०वीं शताब्दी) ने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी थी। प्रथम तथा द्वितीय काण्ड से सम्बद्ध टीका का नाम शब्दप्रभा था। तृतीय काण्ड की टीका का नाम प्रकीर्णप्रकाश है। सम्प्रति केवल तृतीय काण्ड की टीका ही उपलब्ध है। इन टीकाओं के अतिरिक्त क्रियाविवेक, वार्तिकोन्मेष तथा अद्वयसिद्धि नामक ग्रन्थों की रचना भी हेलाराज ने की थी। पुण्यराज तथा हेलाराज दोनों काश्मीरी विद्वान् जान पड़ते हैं।

समय की दृष्टि से हेलाराज से पूर्व कैय्यट (९०० ई०) का नाम लिया जा सकता है क्योंकि हेलाराज कैय्यट के बाद के है। हेलाराज ने कैय्यट की व्याख्या के अनेक स्थलों का, जो पातंजल महाभाष्य की कैय्यट-कृत प्रदीप टीका में आज भी उपलब्ध हैं, बिना नाम लिये खण्डन किया है। भर्तृहरि-रचित वाक्यपदीय तथा महाभाष्यदीपिका, जिसे कैय्यट ने 'सार' कहा है[2], के आधार पर कैय्यट ने सम्पूर्ण महाभाष्य पर अपनी

१. द्रष्टव्य पुण्यराज-कृत टीका २.५५; एतेषां···स्वरूपं लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टम्।·····लक्षणसमुद्देशश्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः।

२. द्र०—महा० प्रदीप टीका के प्रारम्भिक श्लोक—
भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः क्वाहं मन्दमतिस्ततः।
छात्राणामुपहास्यत्वं यास्यामि पिशुनात्मनाम्॥
तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थतुसेना।
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तोस्मि पङ्गुवत्॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्रदीप टीका प्रस्तुत की। इस प्रदीप टीका में वाक्यपदीय की कारिकाओं के प्रचुर उद्धरण तथा उनकी व्याख्यायें उपलब्ध हैं। संक्षिप्त होने पर भी व्याकरण दर्शन के अध्ययन की दृष्टि से इस टीका का विशेष महत्त्व है। कैय्यट भी काश्मीरी विद्वान् हैं।

कैय्यट के कुछ समय बाद व्याकरण तथा साहित्य दोनों शास्त्रों के पारावारीण श्रीभोज (९७५ ई०) ने अपने ग्रन्थ शृंगारप्रकाश में व्याकरणदर्शन-सम्बन्धी विशाल सामग्री को संकलित किया। वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड की लगभग दो सौ कारिकायें, उनकी भर्तृहरि-कृत स्वोपज्ञ वृत्ति तथा महाभाष्यदीपिका के पर्याप्त उद्धाहरण इस ग्रन्थ में द्रष्टव्य हैं। यह दूसरी बात है कि भर्तृहरि के प्रतिभादर्शन से वे सहमत नहीं हैं साथ ही शब्द-ब्रह्म तथा स्फोट के सम्बन्ध में भी इनका प्रतिपादन भर्तृहरि से भिन्न है।

११वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी के मध्य अनेक वैयाकरण विद्वान् हुए। इनमें पुरुषोत्तमदेव, सायणाचार्य, शेष श्रीकृष्ण तथा भट्टोजि दीक्षित प्रमुख हैं। पुरुषोत्तमदेव (१२वीं शताब्दी) का कारकचक्र, प्रसिद्ध वेदभाष्कार सायणाचार्य (१४वीं शताब्दी) के सर्वदर्शनसंग्रह का व्याकरणदर्शन-सम्बन्धी अंश, शेषश्रीकृष्ण का शब्दाभरण, स्फोट-तत्त्वनिरूपण, भट्टोजि दीक्षित (१६०० ई०) का शब्दकौस्तुभ, वैयाकरणसिद्धान्त-कारिका, आदि में व्याकरणदर्शन के सिद्धान्तों का विवरण तथा विवेचन मिलता है।

१७वीं से १८वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भी विविध वैयाकरणों ने, जिनमें अनेक न्यायशास्त्र के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे, अपनी व्याकरण-दर्शन-सम्बन्धी कृतियों से इस क्षेत्र को अलंकृत किया। इन विद्वानों में कौण्डभट्ट, नागेशभट्ट, जगदीश भट्टाचार्य, कृष्णमित्र, भरतमिश्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कौण्डभट्ट ने, भट्टोजि दीक्षित की व्याकरणदर्शन-सम्बन्धी कारिकाओं को आधार बना कर, वैयाकरण-भूषण नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में अन्य दार्शनिकों के द्वारा, व्याकरण-दर्शन के अनेक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में, किये गये आक्षेपों का सयुक्तिक निराकरण करके वैयाकरण-सिद्धान्तों का पोषण, प्रतिपादन एवं समर्थन किया गया है। इस ग्रन्थ का लघु रूप भी वैयाकरणभूषणसार के नाम से कौण्डभट्ट ने ही प्रस्तुत किया। नागेशभट्ट की कृति आदि के सम्बन्ध में आगे के पृष्ठों में विचार किया जायगा। जगदीश भट्टाचार्य की शब्दशक्तिप्रकाशिका, गिरिधर भट्टाचार्य का विभक्त्यर्थनिर्णय, गोकुलनाथ का पदवाक्यरत्नाकर, पूर्णतः व्याकरण-दर्शन से सम्बद्ध न होते हुए भी, इस दर्शन के अध्ययन एवं शब्दों के विश्लेषण में पर्याप्त सहायक है। इसके अतिरिक्त भरतमिश्र का स्फोटवाद, कृष्णमित्र का वादसुधाकर, लघुविभक्त्यर्थनिर्णय तथा वृत्ति-दीपिका, श्रीकृष्णभट्ट की स्फोटचन्द्रिका आदि अन्य ग्रन्थ भी इस काल की संस्कृत-व्याकरण-दर्शन को विशिष्ट देन हैं।

व्याकरण दर्शन के क्षेत्र में कार्य करने वाले तथा अपनी विशिष्ट कृतियों-- ग्रन्थों एवं शोधपत्रों आदि—के द्वारा इस दर्शन-सम्बन्धी मनन, चिन्तन एवं अनुसन्धान की दिशा को परिष्कृत, परिमार्जित एवं आलोकित करने वाले आधुनिक विद्वानों में श्री प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, डॉ० गौरीनाथ शास्त्री, प्रो० के० एस० अय्यर, पं० रघुनाथ शर्मा, डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# २

# नागेश भट्ट : जीवन-वृत्त एवं कृतियाँ

भट्टोजि दीक्षित तथा कौण्ड भट्ट जैसे, व्याकरणदर्शन के अद्भुत व्याख्याताओं एवं शास्त्र-मर्मज्ञों की परम्परा में ही, इस निकाय के उद्भट विद्वान् तथा पातंजल महाभाष्य आदि के अध्ययन में कृतभूरिपरिश्रम[1] नागेश भट्ट का प्रादुर्भाव हुआ। इस विद्वान् ने संस्कृत वाङ्मय के अनेक महत्त्वपूर्ण अंगों, दिशाओं तथा क्षेत्रों को और विशेषरूप से व्याकरण-दर्शन को अपने अध्ययन का विषय बनाया, उसे अपनी विविध गम्भीर कृतियों से आलोकित, अलंकृत एवं समृद्ध किया। इनकी वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा (वैसिम०) तथा उसका लघु रूप वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा (वैसिलम०) ये दोनों ही ग्रंथ व्याकरण-दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों की बहुमूल्य मंजूषाएं हैं, जिनमें इस दर्शन की सम्पूर्ण रत्न-राशि अपनी अद्भुत गरिमा, असाधारण विच्छित्ति एवं अनुपम ओजस्विता के साथ सुरक्षित है। इन ग्रन्थों में व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्तों का—पातंजल महाभाष्य, भर्तृहरि-कृत वाक्यपदीय तथा उसकी स्वोपज्ञ टीका, पुण्यराज और हेलाराज कृत वाक्यपदीय सम्बन्धी टीकाओं तथा अन्य पुष्कल प्रामाणिक सामग्रियों के आधार पर सम्यक् विश्लेषण, विस्तृत विवेचन और परीक्षण करते हुए—विश्वनीय विस्तृत विवरण तो प्रस्तुत किया ही गया साथ ही अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के विद्वानों के द्वारा व्याकरणदर्शन के सम्बन्ध में किए गए आक्षेपों तथा प्रश्नों का यथोचित उत्तर भी दिया गया है। नागेश भट्ट द्वारा रचित महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत (पातंजल महाभाष्य की कैय्यट-कृत प्रदीप टीका की व्याख्या), शब्देन्दुशेखर (बृहत् तथा लघु संस्करण) परिभाषेन्दुशेखर आदि भी व्याकरण शास्त्र के प्रामाणिक ग्रंथ माने जाते हैं।

**समय**—नागेश भट्ट के प्रमुख ग्रंथ वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा के (उज्जैन में संगृहीत) हस्तलेख का समय १७०८ ई० है तथा महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत के (ऐशियाटिक सोसाइटी बंगाल के पुस्तकालय में संगृहीत) हस्तलेख का समय १७३८ ई० है। इन दोनों ग्रंथों में एक दूसरे का निर्देश मिलता है। इसलिए यह सम्भावना है कि १७०८ से पूर्व इन दोनों की रचना हो चुकी होगी। ये दोनों ही ग्रंथ नागेशभट्ट की प्रौढ़ प्रतिभा से समुद्भूत हैं। अतः यह भी मानना उचित प्रतीत होता है कि इस समय लेखक की आयु कम से कम ३० *वर्ष तो होगी ही। इस आधार पर इनका जन्मकाल ई० सन्* १६७० *अथवा* १६८० माना गया है।[2]

---

१. द्र०—लघुशब्देन्दुशेखर का प्रारम्भिक श्लोक;
पातंजले महाभाष्ये कृतभूरिपरिश्रमः।

२. पी० के० गोडे०—स्टडीज इन इण्डियन लिटरेरी हिस्ट्री, भा० ३, पृ० २१८-१९।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



श्री पी०वी० काणे[1] ने नागेश की ग्रंथ-रचना का काल १७००-१७५० ई० माना है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने नागेश की मृत्यु का काल १७७५ ई० माना है, जिसे प्रो० पी०वी० काणे ने इस तर्क के आधार पर अस्वीकृत कर दिया है कि नागेश के एक हस्तलेख का समय १७१३ ई० है। इसलिए १७७५ तक नागेश का जीवित रहना तभी सम्भव है, यदि उनकी आयु १०० वर्ष की मानी जाय।[2]

इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि नागेश भट्ट ने भट्टोजि दीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित से महाभाष्य आदि ग्रंथों का अध्ययन किया था। भट्टोजि दीक्षित का समय १७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है, क्योंकि इनके एक शिष्य नीलकण्ठ शुक्ल ने अपना एक ग्रन्थ १६६३ वि० सं० में लिखा था। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि नागेश ने कौण्ड भट्ट के दो एक मन्तव्यों का लघुमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा में बिना नाम लिए खण्डन किया है। इसके अतिरिक्त परमलघुमंजूषा के अनेक स्थलों पर कौण्ड भट्ट के वैयाकरणभूषण तथा वैयाकरणभूषणसार का पर्याप्त अनुकरण किया गया है। परमलघुमंजूषा के अन्तिम दो अध्यायों में तो ऐसी स्थिति है कि पंक्ति की पंक्ति अक्षरशः वैयाकरणभूषणसार की पंक्तियों से अभिन्न रूप में उपलब्ध हैं, जिसका विवरण यहीं आगे के पृष्ठों में दिया जा रहा है। कौण्डभट्ट भट्टोजि दीक्षित के भाई रंगोजि दीक्षित के पुत्र हैं। इस कारण नागेश भट्ट को १७वीं शताब्दी के अन्तिम तथा १८वीं शताब्दी के प्रथम चरण के मध्य में माना जा सकता है।

कौण्ड भट्ट तथा नागेश भट्ट भले ही एक शताब्दी के समसामयिक क्यों न हों, पर यह निश्चित है कि कौण्ड भट्ट नागेश से पूर्ववर्ती हैं। इन दोनों के हस्त लेखों की तिथियों के आधार पर भी यही निष्कर्ष निकलता है।[3]

**जीवन-वृत्त** — नागेश भट्ट महाराष्ट्र के ऋग्वेद-शाखाध्यायी देशस्थ ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। परन्तु इनके जीवन का अधिकांश समय बनारस में ही बीता। इनका दूसरा नाम नागोजि भट्ट भी कहीं कहीं मिलता है। इनके पिता का नाम शिव भट्ट तथा माता का नाम सती देवी था[4]। शब्देन्दुशेखर को पुत्र तथा मंजूषा को कन्या कहने[5] से यह अनुमान किया जा सकता है कि नागेश भट्ट सन्तानहीन थे। प्रयाग के समीप की रियासत

---

१. पी० के० काणे — हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, भाग १, पृ० ४५३-५६।

२. पी० के० गोडे — स्टडीज इन इण्डियन लिटरेरी हिस्टरी, भाग ३, पृ० २०६-११।

३. द्र०—वैसिलम० की अन्तिम पंक्तियां ;

इति श्रीमदुपाध्यायोपनामक-सतीगर्भज-शिव भट्टसुत-नागेशकृतः''' स्फोटवादः।

शब्देन्दुशेखर तथा परमलघुमंजूषा आदि ग्रन्थों में भी अन्त के अंश में इन्हीं विशेषणों का प्रयोग मिलता है।

४. द्र०—शब्देन्दुशेखर का समाप्ति-श्लोक ;

शब्देन्दुशेखरं पुत्रं मंजूषां चैव कन्यकाम्।
स्वमतौ सम्यग् उत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



शृंगवेरपुर के राजा श्रीराम से इन्हें आर्थिक सहायता एवं संरक्षण प्राप्त होता रहा। इस राजा की असाधारण उदारता तथा वीरता का उल्लेख नागेश ने लघुमंजूषा के अन्तिम श्लोकों[1] में किया है। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में नागेश ने सन्यास धारण कर लिया था। कहा जाता है कि जयपुर के राजा जयसिंह वर्मा ने १७१४ ई० में इन्हें अपने अश्वमेध यज्ञ में आमंत्रित किया था। परन्तु क्षेत्र-सन्यासी होने के कारण नागेश ने वहाँ जाना अस्वीकार कर दिया[2]।

**विद्या-गुरु**—नागेश ने अपने गुरु के रूप में हरि दीक्षित को अनेक बार याद किया है। उनसे नागेश ने पातंजल महाभाष्य आदि अनेक वैयाकरण ग्रन्थों का अध्ययन किया था[3]। हरिदीक्षित ने भी नागेश भट्ट को अपना अन्तेवासी बताया[4] है। ये हरिदीक्षित प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित के पौत्र, वीरेश्वर के पुत्र तथा रामाश्रम के शिष्य थे[5]। नागेश ने न्यायदर्शन का विशिष्ट अध्ययन राम भट्ट नामक विद्वान् से किया था[6]।

**शिष्य-परम्परा**—वैद्यनाथ पायगुण्ड नागेश भट्ट के प्रमुख शिष्यों में माने जाते हैं। इन्होंने महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत की छाया नामक व्याख्या तथा वैसिलम० पर कला नामक

---

१. द्र०—श्लोक सं० २ ;

याचकानां कल्पतरोररिकक्षहुताशनात्।
शृङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविकः॥

सुलना करो :—रसगंगाधरमर्मप्रकाशिका के अन्तिम श्लोक ;

याचकानां कल्पतरोररिकक्षहुताशनात्।
नागेशः शृङ्गवेरेशरामतो लब्धजीविकः॥

२. द्र०—पी०वी० काणे—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, भा० १, पृ० ४५३-५६।

३. द्र०—वैसिलम० के अन्तिम श्लोक पृ० १५७३ ;
अधीत्य फणिभाष्याब्धिं सुधीन्द्रहरिदीक्षितात्। १ (पूर्वार्ध)।

४. द्र०—पी० वी० काणे—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, भा० १, पादटिप्पण सं० ११४०।

५. शब्दरत्न के प्रारम्भिक श्लोक ;

गूढोक्तिग्रथितां पितामहकृतां विद्वत्प्रमोदप्रदां।
भक्त्याधीत्य मनोरमां निरुपमाद् रामाश्रमाद् सद्गुरोः॥
तत्त्वाज्ञानवशात् परेण कलितान् दोषान् समुन्मूलयन्।
व्याचष्टे हरिरेष तां फणिमतान्यालोच्य वैरेश्वरिः॥

६. द्र०—वैसिलम, अन्तिम श्लोक, पृ० १५७३ ;

न्यायतन्त्रं च रामरामाद् वादिरक्षोघ्नरामतः।
दृढस्तर्कोऽस्य नाभ्यास इति चिन्त्यं न पण्डितैः।
हृषदोऽपि हि सन्तीर्णाः पयोधौ रामयोगतः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



टीका लिखी। वैद्यनाथ के पुत्र बालशर्मा को भी नागेश का शिष्य माना गया[1] है। नीचे के चार्ट[2] में नागेश की गुरु-शिष्य-परम्परा का विवरण दिया जाता है :—

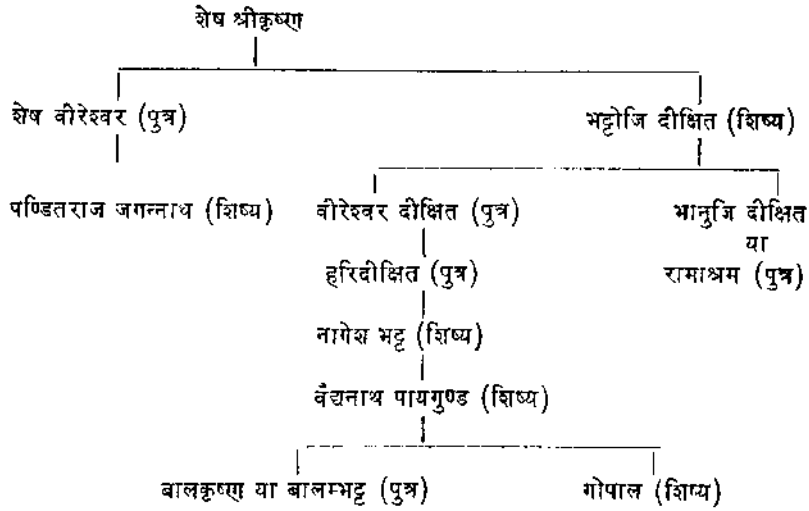


**कृतियाँ** आफ्रेख्ट[3] ने नागेश भट्ट की कृतियों के रूप में निम्न ग्रन्थों का नाम लिया है जिनकी संख्या ४७ है :—

१. अलंकारसुधाकुवलयानन्द
२. अष्टाध्यायीपाठ
३. आचारेन्दुशेखर
४. आशौचनिर्णय
५. इष्टिकालनिर्णय
६. कात्यायनीतन्त्र
७. काव्यप्रदीपोद्द्योत
८. रसगंगाधरटीका गुरुमर्मप्रकाशिका
९. चंडीटीका अथवा देवीमाहात्म्यटीका
१०. चंडीस्तोत्रप्रयोगविधि
११. तर्कभाषाटीका—युक्तियुक्तावली
१२. तात्पर्यदीपिका
१३. तिङन्तसंग्रह
१४. तिथीन्दुशेखर
१५. तीर्थेन्दुशेखर
१६. त्रिस्थलीसेतु
१७. धातुपाठवृत्ति
१८. शेरणिवादार्थ
१९. पदार्थदीपिका
२०. परिभाषेन्दुशेखर
२१. पातंजलसूत्रवृत्ति
२२. पातंजलसूत्रवृत्तिभाष्यच्छायाव्याख्या
२३. प्रभाकरचन्द्रतत्त्वदीपिकाटीका
२४. प्रयोगसरणि
२५. प्रयश्चित्तेन्दुशेखर
२६. प्रायश्चित्तेन्दुशेखरसारसंग्रह
२७. महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत
२८. रसतरंगिणीटीका

---

१. द्र०—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भा० १, द्वितीय संस्करण, पृ० ३९२।
२. द्र०—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, भा० १, पादटिप्पण संख्या ११४०।
३. द्र० - कैटलोगस कैटलोगरम, भा० १, पृ० २८३-८४।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



२९. रसमंजरीप्रकाश
३०. रामायणटीका
३१. लक्षणरत्नमालिका
३२. विषमपदी शब्दकौस्तुभटीका
३३. वेदसूक्तभाष्य
३४. वैयाकरणकारिका
३५ वैयाकरणभूषण (?)
३६. वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा
३७. व्याससूत्रेन्दुशेखर
३८. शब्दरत्न
३९. शब्दानन्तसागरसमुच्चय
४०. सुपतिङन्तसागरसमुच्चय
४१. शब्देन्दुशेखर
४२. संस्काररत्नमाला
४३. लघुसांख्यसूत्रवृत्ति
४४. सार्पिर्ज्वमंजरी
४५. सार्पिर्ज्वदीपिका
४६. स्फोटवाद
४७. नागोजीभट्टीय

इसी सूची में धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र, न्याय, योग, व्याकरण, ज्योतिष, मीमांसा, स्तोत्र इत्यादि अनेक विषयों के ग्रन्थ हैं। नागेश भट्ट की लघुमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा, जो वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा के ही संक्षिप्त तथा संक्षिप्ततर रूप माने जाते हैं, का परिगणन इस सूची में नहीं किया गया। संभवतः वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा तथा वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा इन दोनों को एक मान लिया गया है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज से अनेक खण्डों में लघुमंजूषा प्रकाशित हुई थी। उसमें प्रायः इस पुस्तक को वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा ही कहा गया है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ये तीनों ग्रन्थ स्वरूपतः पर्याप्त भिन्न हैं। इन तीनों ग्रन्थ-मंजूषाओं के पारस्परिक तुलना एवं समीक्षा की नितान्त आवश्यकता है।

**कृतियों का कालक्रम**—श्री पी० के गोडे[1] ने नागेश भट्ट की विभिन्न कृतियों के उपलब्ध हस्तलेखों में दी गयी तिथियों के आधार पर, इन कृतियों के काल-विषयक लगभग अन्तिम सीमा का निर्धारण निम्न रूप में किया है :—

(क) वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा तथा महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत—१७००-१७०८ ई०।

(ख) भानुदत्तकृत रसमंजरी की नागेशभट्ट-कृत टीका रसमंजरीप्रकाश—१७१२ ई० से पूर्व।

(ग) रसगंगाधर की टीका—१७०० ई० पश्चात्।

(घ) काव्यप्रदीपोद्द्योत—१७०० ई० के आस पास।

(ङ) आशौचनिर्णय—१७२२ ई० से पूर्व।

(च) लघुमंजूषा—यह ग्रन्थ वैयाकरणसिद्धांतमंजूषा तथा बृहच्छब्देन्दुशेखर के बाद की रचना है। इसका समय लगभग १७००-१७०८ है।

(छ) लघुशब्देन्दुशेखर—यह ग्रन्थ बृहच्छब्देन्दुशेखर के बाद लिखा गया। इसमें नागेशकृत महाभाष्यप्रदीपोद्द्योतटीका (१७००-१७०८) का निर्देश मिलता है। अतः लघुशब्देन्दुशेखर को १७०० ई० के बाद का मानना होगा।

---

१. द्र०—स्टडीज इन इण्डियन लिटरेरी हिस्टरी, भा० ३, पृ० २१८-१९।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(ज) परिभाषेन्दुशेखर—यह ग्रन्थ वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा, महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत तथा बृहच्छब्देन्दुशेखर के बाद की रचना है क्योंकि इन तीनों ग्रन्थों का निर्देश परिभाषेन्दुशेखर में मिलता है।

(झ) लघुशब्देन्दुशेखर—१७२१ ई० से पूर्व।

(ञ) काव्यप्रदीपोद्द्योत—१७०० के बाद तथा १७५४ से पूर्व।
यह सीमानिर्धारण, हस्तलेखों की तिथियों पर आश्रित होने के कारण, बहुत कुछ आनुमानिक ही है।

**परमलघुमंजूषा**—वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमंजूषा के समय के विषय में यहाँ कुछ नहीं कहा गया। सम्भवतः यह नागेश की सबसे बाद की रचना है—यद्यपि नागेश की कृति के रूप में यह अत्यन्त सन्दिग्ध प्रतीत होती है। इस सन्देह के दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम यह कि, पूर्वार्ध के अध्यायों में लघुमंजूषा के अनेक सिद्धान्तों से बहुत कुछ साम्य होने पर भी, लघुमंजूषा के अनेक सिद्धांतों के ठीक विपरीत सिद्धान्तों का परमलघुमंजूषा में यत्र तत्र उल्लेख पाया जाता है। द्वितीय कारण यह है कि परमलघुमंजूषा के उत्तरार्ध में अनेक स्थलों पर कौण्ड भट्ट के वैयाकरणभूषणसार से पंक्ति की पंक्ति अक्षरशः उद्धृत कर दी गयी है, जिसकी आशा नागेश भट्ट जैसे असाधारण विद्वान् से नहीं की जा सकती। ऐसे स्थलों का विवरण आगे के पृष्ठों में दिया जा रहा है।

**नागेश भट्ट-कृत तीन मंजूषा ग्रन्थ**—सामान्य धारणा तथा हस्तलेखों के अन्तिम वाक्यों के अनुसार नागेश भट्ट ने तीन मंजूषा नामक ग्रन्थों की रचना की। प्रथम—वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा, द्वितीय—वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा तथा तृतीय वैयाकरण-सिद्धान्तपरमलघुमंजूषा। ये तीनों ग्रन्थ क्रमशः मंजूषा, लघुमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस सम्बन्ध में इन तीनों ग्रन्थों के प्रारम्भिक तथा अन्तिम वाक्य निम्न रूप में मिलते हैं।

वैसिम० (प्रारम्भ)—नागेशभट्ट विदुषा नत्वा साम्बं सदाशिवम्।
**वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषेयं** विरच्यते ॥
(सरस्वतीभवन पुस्तकालय हस्तलेख सं० ३६८२७ पत्र सं० १ क)

अन्त—**वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषेयं** कृता मया।
तया श्री भगवान् साम्बः शिवो मे प्रीयतामिति ॥
(वही, पत्र सं० १४२ क)

वैसिलम० (प्रारम्भ)—नागेशभट्टविदुषा नत्वा साम्बशिवं **लघुः**।
**वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषेयं** विरच्यते ॥
(चौखम्बा संस्करण १९२७ पृ० १)

इस ग्रन्थ के अन्त में वैयाकरणसिसिद्धान्तलघुमंजूषा के स्थान पर सम्भवतः भ्रान्तिवश वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा का नाम उल्लिखित है। इस भ्रान्ति के विषय में आगे विचार किया जायेगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



वैसिपलम० (आरम्भ)—शिवं नत्वा हि नागेशेनानिन्द्या **परमा** लघुः ।
**वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषेषा** विरच्यते ॥

**अन्त—**

"इति शिवभट्टसुत-सतीदेवीगर्भज-नागेश भट्टकृता **परमलघुमंजूषा** समाप्ता" ।

**वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा को वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा मानने की भ्रान्ति**—वैसिलम० के हस्तलेख[1] (सं० ३९३८४ तथा ३९२२७) की पुष्पिका में इस ग्रन्थ को वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा कहा गया है—"इति श्रीमदुपाध्यायोपनामक-सती-गर्भज-शिवभट्ट-सुत-नागेश-कृतो **वैयाकरणसिद्धांतमंजूषाख्यः** स्फोटवादः" । लगभग इसी प्रकार का कथन वैसिम० के हस्तलेख (सं० ३९८२७) की पुष्पिका में भी मिलता है—"इति श्रीमदुपाध्यायोपनामक-शिवभट्ट-सुत-नागेश भट्ट-कृतो **वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषाख्यः** स्फोटवादः समाप्तः" ।

काशी संस्कृत मुद्रालय से बाबू वाराणसी प्रसाद द्वारा संवत् १९४३ में, हस्तलिखित शैली में प्रकाशित[2], वैसिलम० के प्रारम्भ तथा अन्त में उसका नाम लघुमंजूषा मिलता है । परन्तु इस संस्करण की पुष्पिका में इसे भी वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा कहा गया है—"इति **श्रीवैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषाख्यः** स्फोटवादः समाप्तः" ।

इसी प्रकार, चौखम्बा संस्कृत सीरीज से १८२५-२७ ई० में प्रकाशित लघुमंजूषा के अन्त में भी उपर्युक्त वाक्य कुछ विकृत रूप में मिलता है—"इति **श्रीवैयाकरणसिद्धान्तममंजूषाख्ये** स्फोटवादः समाप्तः" ।

स्पष्ट है कि इन सभी उल्लेखों में **वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा** को ही वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा कहा गया है । परन्तु यह उल्लेख प्रमाद अथवा भ्रान्ति के कारण ही हुआ है क्योंकि वैसिम० तथा वैसिलम० दोनों सर्वथा भिन्न भिन्न ग्रन्थ हैं । इन दोनों को कथमपि अभिन्न नहीं माना जा सकता । सम्भवतः इन भ्रान्त उल्लेखों के आधार पर ही आज के कुछ मान्य विद्वानों को भी इस विषय में भ्रान्ति हो गयी ।

श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने कुञ्जिका तथा कला नामक टीकाओं को वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा से सम्बन्ध[3] माना है, जबकि ये दोनों टीकायें वैसिलम० पर लिखी गयी हैं ।

---

१. *ये दोनों हस्तलेख वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वतीभवन के हैं ।*

२. पृ०—इस संस्करण का अन्तिम पत्र ;
वाराणसीप्रसादस्य नियोगेन प्रयत्नतः ।
काशीसंस्कृतमुद्रायामङ्कितोऽयं शिलाक्षरैः ॥

३. द्र०— संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भा० २, प्रथम संस्करण, पृ० ३६६ ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसी तरह डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी ने नागेशभट्ट-कृत केवल दो मंजूषा ग्रन्थों का उल्लेख किया।[1] वे हैं – वैयाकरण सिद्धान्तमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा। वैसिलम० का उन्होंने उल्लेख ही नहीं किया। सम्भवतः वे वैसिम० तथा वैसिलम० को एक मानना चाहते है। डा० त्रिपाठी[1] ने यह भी लिखा है कि "मंजूषा की कला टीका के पृ० ५३०, ५३५ पर गुरुमंजूषा का भी उल्लेख है"। इस लेख से यह प्रतीत होता है कि डा० त्रिपाठी के विचार में गुरुमंजूषा वैसिम० से कोई भिन्न ग्रन्थ है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि वैसिम० को ही गुरुमंजूषा कहा गया है तथा कला टीका वैसिलम० से सम्बद्ध है।

**वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा का दूसरा नाम स्फोटवाद**—वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा तथा वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा की पुष्पिकाओं में "वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषाख्यः स्फोटवादः" यह कथन मिलता है जिसका निर्देश ऊपर हो चुका है। इससे यह स्पष्ट है कि नागेश ने इस विशाल ग्रन्थ को वैयाकरणों के मौलिक सिद्धान्त स्फोटवाद के विस्तृत विवरण एवं प्रतिपादन के रूप में प्रस्तुत किया था। यह स्फोटवाद नाम केवल वैसिम० के लिये उपयुक्त है वैसिलम० के लिये नहीं, यह इन दोनों ग्रन्थों की विषयानुक्रमणी अथवा विषय-निर्देश से स्पष्ट है।

सम्पूर्ण वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा, अपने दूसरे नाम स्फोटवाद की दृष्टि से, तीन प्रमुख भागों में विभक्त है। प्रथम भाग को 'वर्णस्फोट-निरूपणम्' नाम दिया गया है। इस भाग में शक्ति, धात्वर्थ, निपातार्थ, तिङर्थ, सनाद्यर्थ, कृदर्थ, सुबर्थ, समासशक्ति, क्यजाद्यर्थ तथा तद्धितार्थ इन विषयों के विवेचन को स्थान दिया गया है तथा अन्त में "इति वर्णस्फोट-निरूपणम्" कह कर इस प्रथम प्रकरण को समाप्त किया गया है। द्वितीय भाग में सखण्डपदवाक्यस्फोट तथा अखण्डपदवाक्यस्फोट के विषय में विचार किया गया है। तृतीय भाग में जातिस्फोट का, जो व्याकरण दर्शन का अन्तिम एवं निष्कृष्ट सिद्धान्त है, प्रतिपादन करके ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है। इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण ग्रन्थ में स्फोट का ही कथन होने से स्फोटवाद नाम यथार्थ ही है। वैसिलम० तथा पलम० के विषय-प्रतिपादन का क्रम लगभग समान होता हुआ भी ऐसा नहीं है। इसलिये वैसिलम० के लिये स्फोटवाद नाम भ्रम अथवा प्रमादवश ही मानना चाहिये।

अतः यह मानना उचित ही है कि नागेश की दृष्टि में स्फोटवाद का ही दूसरा नाम वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा है। यों तो लघुमंजूषा में भी पूरा ग्रन्थ स्फोट का ही विवरण प्रस्तुत करता[2] है परन्तु वहाँ केवल ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्फोट की थोड़ी सी चर्चा है तथा शक्तिनिरूपण के पश्चात् स्फोट का प्रतिपादन एवं विवेचन एक पूरे प्रकरण में किया गया है। पर सारे ग्रन्थ को, वैसिम० के समान, साक्षात् स्फोट से सम्बद्ध नहीं किया गया है अथवा यों कहा जाय कि इन दोनों ग्रन्थों का स्फोट की दृष्टि से ग्रन्थकार ने विभाजन नहीं किया है। इसलिये यथार्थता तथा नागेश के अपने कथन की दृष्टि से वैसिम० को ही स्फोटवाद का नामान्तर मानना उचित है।

---

१. द्र०—संस्कृतव्याकरणदर्शन, प्रथम अध्याय, पृ० ३२।

२. द्र०—वैसिलम० की समाप्ति का श्लोक;

व्याकरणनागेशः स्फोटायनऋषेर्मतम्।
परिष्कृत्योक्तवांस्तस्मै प्रीयतामत्परमेश्वरः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यहां यह कह देना आवश्यक है कि स्फोटवाद नाम का एक अन्य ग्रन्थ भी नागेश के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें अन्य भारतीय दर्शनों के प्रसंग में वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त का गम्भीर परीक्षण एवं प्रतिपादन किया गया है। इस पुस्तिका में केवल स्फोट सिद्धान्त के विषय में ही विचार किया गया है जबकि वैसिम० के व्यापक परिवेश एवं विपुल कलेवर में संस्कृत व्याकरण के प्रायः सभी विषयों का, स्फोटवाद के प्रतिपादन की दृष्टि से, विस्तृत विवेचन किया गया है।

**तीनों मंजूषा ग्रन्थों का प्रतिपाद्य**—इन तीनों ग्रन्थों का प्रतिपाद्य अथवा विवेच्य विषय तथा उसका क्रम लगभग समान ही है पर जो थोड़ा बहुत भेद है वह इस प्रकार है।

तीनों में ही प्रथम प्रकरण 'शब्दशक्ति' के निरूपण अथवा निर्णय से सम्बद्ध है परन्तु प्रकरण के प्रारम्भ में स्फोट की चर्चा की गयी है। वैसिम० में स्फोट से सम्बद्ध इस प्रारम्भिक अंश को 'वर्णस्फोटसामान्यनिरूपण' नाम दिया गया है। 'वर्णस्फोट' का यह सामान्य निरूपण लम० तथा पलम० के प्रारम्भिक स्फोटनिरूपण की अपेक्षा पर्याप्त विस्तृत एवं कुछ भिन्न रूप में है।

इसके पश्चात् तीनों में ही शक्ति (अभिधा), लक्षणा तथा व्यंजना वृत्तियों के विषय में विचार किया गया है। लम० तथा पलम० में 'व्यंजनानिरूपण' के पश्चात् पुनः स्फोट की अखण्डता आदि के विषय में विस्तार से विचार किया गया है। नाम के अनुरूप लम० में यह यह प्रसंग पर्याप्त विस्तृत है तथा पलम० में लम० की अपेक्षा संक्षिप्त। यद्यपि पलम० के इस प्रसंग में कुछ ऐसी बातें भी हैं जो लम० में नहीं हैं। शक्तिनिरूपण के पश्चात् लम० तथा पलम० में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्य के विषय में विचार किया गया है। ये प्रकरण वैसिम० में नहीं हैं।

तीसरे प्रकरण के रूप में वैसिम० में 'धात्वर्थनिपातार्थनिर्णयः' का निर्देश मिलता है। लम० तथा पलम० में इन दोनों प्रकरणों का अलग अलग निर्देश किया गया है। लम० के भी किसी किसी हस्तलेख में इन दोनों प्रकरणों का एक साथ निर्देश है।

चौथे प्रकरण का नाम वैसिम० तथा लम० में 'तिङर्थनिरूपण' है तथा पलम० में 'दशलकारादेशार्थाः'। यह भी द्रष्टव्य है कि पलम० में इस प्रकरण के दो भाग हैं। प्रथम भाग में वैयाकरणों के अनुसार दशलकारादेशार्थ तथा दूसरे भाग में नैयायिकों के अनुसार लकारार्थ का विवेचन किया गया है। पलम० का यह प्रथम भाग वैभूसा० के 'लकारविशेषार्थनिर्णय' नामक प्रकरण का संक्षेप प्रतीत होता है। पलम० के इस प्रकरण के दूसरे भाग में नैयायिकों तथा मीमांसकों की दृष्टि से किया गया विवेचन वैसिम० तथा लम० में इसी रूप में नहीं मिलता। पलम० के संक्षिप्त आयाम को देखते हुए यह अंश अनावश्यक सा लगता है।

पाँचवें प्रकरण 'कृदर्थ-निरूपण' में वैसिम० तथा लम० में 'कृत्' प्रत्ययों के अर्थ के विषय में विचार किया गया है। पलम० में यह प्रकरण नहीं है।

छठे प्रकरण में वैसिम० तथा लम० में 'नाम' अथवा 'प्रातिपादिक' शब्दों के अर्थ के विषय में विचार किया गया है। वैसिम० में इसे 'नामार्थनिरूपण' तथा लम० में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'प्रातिपदिकार्थनिरूपण' नाम दिया गया है। पलम० में 'दशलकारादेशार्थाः' प्रकरण के पश्चात् कारकों के अर्थ के विषय में विचार किया गया है। उसके बाद नामार्थ का प्रकरण मिलता है। पलम० का नामार्थविचार पूरा का पूरा वैभूसा० के 'नामार्थः' का लगभग अक्षरशः संक्षेप प्रतीत होता है।

सातवें प्रकरण में वैसिम० तथा लम० दोनों में कारकों के अर्थ के विषय में विचार है तथा इस प्रकरण को 'सुबर्थनिर्णय' नाम दिया गया है। पलम० में पहले कारकों के विषय में विचार करके फिर 'नामार्थ' प्रकरण को प्रस्तुत किया गया है।

आठवें प्रकरण में वैसिम० मे समासशक्ति, क्यजाद्यर्थ तथा तद्धितार्थ का निरूपण मिलता है। वैसिम० का प्रथम भाग, जिसे 'वर्णस्फोटसामान्यनिरूपण' नाम दिया गया है, यहां समाप्त होता है। लम० में इस प्रकरण का नाम 'वृत्तिविचार' है तथा इसमें एकार्थीभाव, सामान्य समास, अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि, द्वन्द्व, एकशेष, क्यजाद्यन्त, तद्धित, वीप्सा – वृत्ति के इन सभी भेदो—के विषय में विचार करते हुए लम० के ग्रन्थ को समाप्त कर दिया गया है। पलम० में इस प्रकरण का नाम 'समासादिवृत्त्यर्थ' है तथा उसमें एकार्थीभाव और व्यपेक्षा, वृत्ति के केवल इन दो भेदों, के विषय में विस्तार से विचार किया गया है। पर यह सारा विचार वैभूसा० के 'समासशक्तिनिर्णय' का ही प्रायः प्रतिलिपि मात्र है।

वैसिम० में इसके बाद तीन प्रकरणों में क्रमशः सखण्डपदवाक्यस्फोट, अखण्ड-पदवाक्यस्फोट तथा जातिस्फोट पर विचार किया गया है और तब 'इति जातिस्फोटनिर्णयः' इस कथन के साथ वैसिम० का परिसमापन हुआ है। लम० तथा पलम० में ये प्रकरण नहीं है, यों इन में प्रतिपादित विषय लम० तथा पलम० में अन्यत्र अलग अलग संक्षिप्त रूपों में प्राप्त हो जाते हैं। इन तीनों ग्रन्थों में विचारित विषयों की प्रकरण-तालिका इस प्रकार है :—

| क्रम संख्या | वैसिम० | वैसिलम० | वैसिपलम० |
|---|---|---|---|
| १. | वर्णस्फोटसामान्य-निरूपणम् | × × | × × |
| २. | शक्तिनिरूपणम् | वाच्यवाचकशक्तीनां निर्णयः | शक्तिनिरूपणम् |
| ३. | लक्षणानिरूपणम् | लक्षणानिरूपणम् | लक्षणानिरूपणम् |
| ४. | व्यञ्जनानिरूपणम् | व्यञ्जनानिरूपणम् | व्यञ्जनानिरूपणम् |
| ५. | × × | स्फोटनिरूपणम् | स्फोटनिरूपणम् |
| ६. | × × | आकांक्षा-योग्यता-आसत्ति-तात्पर्य-विचारः | आकांक्षा-योग्यता-आसत्ति-तात्पर्य-विचारः |
| ७. | धात्वर्थनिपातार्थ-निर्णयः | धात्वर्थनिरूपणम् निपातार्थनिरूपणम् | धात्वर्थनिर्णयः निपातार्थनिर्णयः |
| ८. | तिङर्थनिरूपणम् | तिङर्थनिरूपणम् | दशलकारादेशार्थाः |

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



| | | | |
|---|---|---|---|
| ९. | सनाद्यर्थनिरूपणम् | सनाद्यर्थनिरूपणम् | × × |
| १०. | कृदर्थनिरूपणम् | कृदार्थनिरूपणम् | × × |
| ११. | नामार्थनिरूपणम् | प्रातिपदिकार्थनिर्णयः | नामार्थः |
| १२. | सुबर्थनिर्णयः | सुबर्थनिर्णयः | कारकनिरूपणम् |
| १३. | (क) समासशक्ति-निरूपणम् | वृत्तिविचारः (इस प्रकरण में | समासदिवृत्यर्थः |
| | (ख) क्यजाद्यर्थनिरूपणम् | एकार्थीभाव, | (इस प्रकरण में वैया- |
| | (ग) तद्धितार्थनिरूपणम् (वैसिम० के इन प्रकरणों में 'वर्णस्फोट' का निरूपण किया गया है) | सामान्य समास, अव्ययीभाव, तत्पु- रुष, बहुव्रीहि, द्वन्द्व, एकशेष, क्यजाद्यन्त, तद्धित, वीप्सा इन वृत्ति-भेदों के विषय में विचार किया गया है) | करणों की दृष्टि से 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य का प्रतिपादन तथा नैया- यिकों के 'व्यपेक्षा' सामर्थ्य का खण्डन वैभूसा० के अनुकरण पर किया गया है) |
| १४. | सखण्डपदवाक्यस्फोट-निरूपणम् | वैसिलम० में ये | पलम० में 'शक्तिनिरूपण' |
| १५. | अखण्डपदवाक्यस्फोट-निरूपणम् | तीनों प्रकरण 'शक्ति- निर्णय' के प्रसंग में | प्रकरण के प्रारम्भ में तथा 'स्फोटनिरूपण' |
| १६. | जातिस्फोटनिर्णयः | तथा स्फोट निरूपण के प्रकरण में आ गये हैं। | प्रकरण में इन तीनों का उल्लेख किया गया है। |

**पलम० तथा लम० का तुलनात्मक विवेचन एवं पलम० की विशेषता**—ऐसा अनुमान किया जाता है कि लघुमंजूषा में विस्तृत रूप से विवेचित एवं चर्चित विषयों को परमलघुमंजूषा में संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया गया है। परन्तु दोनों के अध्ययन से पता लगता है कि पलम० का आधार सर्वांश में लम० न हो कर कुछ ही अंशों अथवा प्रकरणों तक है। 'शक्तिनिरूपण' से लेकर 'निपातार्थनिर्णय' तक ही पलम० का आधार लम० को माना जा सकता है—यद्यपि इन अध्यायों में भी कहीं कहीं कुछ परस्पर विरोधी बातें दोनों ग्रन्थों में देखी जा सकती हैं जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

जहाँ तक दोनों ग्रन्थों के प्रकरण-नामों का सम्बन्ध है उनकी स्थिति इस रूप में है—

| पलम० | लम[1]० |
|---|---|
| शक्तिनिरूपणम् | वाच्यवाचकशक्तीनां निर्णयः |
| लक्षणानिरूपणम् | (कोई निर्देश नहीं) |
| व्यंजनानिरूपणम् | (कोई निर्देश नहीं) |
| स्फोटनिरूपणम् | (कोई निर्देश नहीं) |
| आकांक्षादिविचारः | आकांक्षादिविचारः |

१. प्रकरण-नामों की निम्न स्थिति लम० के हस्तलेखों के उन-उन प्रकरणों के अन्त के उल्लेखों के आधार पर दी जा रही है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



| | |
|---|---|
| धात्वर्थनिर्णयः, निपातार्थनिर्णयः | धात्वर्थनिपातार्थनिर्णयः |
| दशलकारादेशार्थाः, लकारार्थनिर्णयः | तिङर्थनिरूपणम् |
| कारकनिरूपणम् | प्रातिपदिकार्थनिर्णयः |
| नामार्थः | सुबर्थनिर्णयः |
| समासादिवृत्त्यर्थः | वृत्तिविचारः |

लम० के दो प्रकरण 'सनाद्यर्थविचार' तथा 'कृदर्थविचार' पलम० में सर्वथा ही नहीं है। इन प्रकरण-नामों का स्पष्ट निर्धारण न तो लम० के हस्तलेखों में मिला है न पलम० के। कुछ प्रकरण-नामों का निर्देश आदि में मिलता है तो कुछ का अन्त में। इन दोनों ग्रन्थों के अध्ययन से अनेक प्रकार के विरोध तथा विषमतायें एवं पाठभेद सामने आते हैं परन्तु निम्न विषमतायें पर्याप्त स्पष्ट है—

पलम० के प्रथम प्रकरण 'शक्तिनिरूपण' के आरम्भ में स्फोट के आठ भेदों का उल्लेख करके वाक्यस्फोट की प्रमुखता का प्रतिपादन किया गया है—"तत्र वर्णपद-वाक्यभेदेन अष्टौ स्फोटाः तत्र वाक्यस्फोटो मुख्यः"। लम० में इन आठ स्फोटों का उल्लेख किये बिना ही वाक्यस्फोट की प्रमुखता के प्रतिपादन के साथ ग्रन्थ का आरम्भ हुआ है।

पलम० के 'लक्षणानिरूपण' के प्रारम्भ में बडे बिस्तार से तार्किकों के मत के रूप में लक्षणा के स्वरूप, भेद, निमित्त आदि के विषय में विचार प्रस्तुत करके अन्त में "सर्वे सर्वार्थवाचकाः" इस सिद्धान्त के आधार पर लक्षणा वृति का खण्डन कर दिया गया है, जबकि लम० के इस प्रकरण का आरम्भ ही लक्षणा वृत्ति के साथ हुआ है। यहाँ लक्षणा वृत्ति का खण्डन पूर्वपक्ष के रूप में ही है। उत्तरपक्ष के रूप में लक्षणा वृत्ति के मण्डन का प्रयास भी यहाँ किया गया है। द्र०—"ननु सर्वेषां सर्वार्थवाचकत्वे लक्षणोच्छेद इति चेन्न, योगिनां सर्वार्थवाचकत्वज्ञाने सत्यप्यस्मदादीनां तदभावात्।" 'ग्रामो दग्धः' जैसे प्रयोगों में पलम० में जहदजहल्लक्षणा वृत्ति मानी गयी है जबकि लम० में, इस प्रकार के प्रयोगों में, लक्षणा वृत्ति का स्पष्ट निषेध किया गया है। 'द्विरेफ' पद में भी पलम० के ग्रन्थकार ने 'लक्षितलक्षणा' मानी है जबकि लम० में इसका खण्डन किया गया है।

पलम० के 'स्फोटनिरूपण' के प्रकरण में वृत्ति के आश्रयभूत शब्द के स्वरूप के विषय में नैयायिकों की दृष्टि से तीन विकल्पों का उल्लेख करके उनका खण्डन किया गया है जबकि लम० के इस प्रसंग में केवल दो ही मतों का उल्लेख है, तीसरे विकल्प "पूर्वपूर्व···शाब्दबोधः" का उल्लेख लम० में नहीं मिलता। पलम० के यहाँ के उपक्रम वाक्य 'कोऽसौ वृत्त्याश्रयः शब्दः ?" के 'वृत्त्याश्रयः' पाठ के स्थान पर लम० में 'शक्त्याश्रयः' पाठ मिलता है। पलम० में चार प्रकार की वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी—का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है वह सारा प्रसंग लम० में अनुपलब्ध है।

'आकांक्षादिविचार' के प्रकरण में पलम० में 'तात्पर्य' का जो स्वरूप दिया गया है वह लम० में नहीं है। उसके बाद पलम० में 'प्रकरण' आदि को तात्पर्य का नियामक मानते हुए भी यह स्पष्ट कहा गया है कि केवल 'शक्ति' को मानने से काम नहीं चल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



सकता— 'तात्पर्य' को मानना भी आवश्यक है। लम० की स्थिति इस विषय में सर्वथा भिन्न है। वहाँ 'तात्पर्य' को शाब्दबोध में हेतु माना ही नहीं गया। द्र०—"तन्न शुकादि तस्य बोधे हेतुत्वासम्भवात्"। यहाँ आश्चर्य की बात तो यह है कि "आस्माच्छब्दादर्थद्वय संगच्छते" पलम० की इन पंक्तियों से सर्वथा मिलती जुलती पंक्तियाँ ही लम० में भी हैं पर उनमें वहाँ 'तात्पर्या' वृत्ति का खण्डन किया गया है। लम० के इस प्रसंग में यह स्पष्ट लिखा है—"सर्वजनानुभवविरोधान्न तस्य हेतुत्वम्" (पृ० ५२५)। पलम० के इस अंश में सभवतः जानबूझ कर यह वाक्य छोड़ दिया गया है।

'धात्वर्थ-निर्णय' के प्रकरण में पलम० में 'व्यापारत्व' की परिष्कृत परिभाषा दी गयी है जो लम० सर्वथा अनुपलब्ध है। पलम० का यह सारा प्रकरण लम० के प्रकरण की अपेक्षा अधिक सुसंगत एवं परिष्कृत प्रतीत होता है भले ही वह अन्य दृष्टियों से संक्षिप्त क्यों न हो। अनेक स्थलों में लम० का पाठ कुछ असम्बद्ध दिखायी देता है जबकि पलम० का पाठ अपेक्षाकृत अधिक सुसंगत है[1]। लम० के इस प्रकरण के प्रारम्भ में ही मीमांसकों का नाम लिये बिना ही उनके मत 'फलं धात्वर्थः' का खण्डन आरम्भ कर दिया गया है। पलम० में यह खण्डन बाद में मिलता है तथा वहाँ मीमांसकों का स्पष्टतः नाम निर्देश करके उनका खण्डन किया गया है। द्र०—"यत्तु मीमांसकाः फलं धात्वर्थो व्यापारः प्रत्ययार्थ इति वदन्ति तन्न"।

'निपातार्थ-निरूपण' के प्रकरण में पलम० में 'नञ्' निपात के अर्थ के विषय में जो विचार मिलता है वह लम० के विचार की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित है। पलम० में यहाँ प्रसज्य प्रतिषेध तथा पर्युदास प्रतिषेध की दृष्टि से दो प्रकार के 'नञ्' का निर्देश करते हुए पहले 'पर्युदास नञ्' के अर्थ का विवेचन किया गया और फिर 'प्रसज्य नञ्' के विषय में विचार किया गया। लम० में ऐसी स्पष्ट स्थिति नहीं दिखायी देती—यहां पर्युदास तथा प्रसज्य का नाम ही नहीं लिया गया। प्रारम्भ में ही 'घटो नास्ति' इस उदाहरण के साथ प्रसज्य प्रतिषेध की बात कही गयी तथा इस दृष्टि से 'नञ्' निपात की वाचकता स्वीकार की गयी। यहीं 'नानुयाजेषु' इस पर्युदास के प्रयोग को प्रस्तुत करके उसकी दृष्टि से 'नञ्' को अर्थ का द्योतक माना गया। फिर कुछ आगे चल कर "असमस्ते तु अभावो नञर्थः"[1] (पृ० ६५२) इत्यादि प्रसज्य के उदाहरणों पर विचार किया गया।

इसी प्रकार 'एव' निपात के अर्थ-विचार के प्रसंग में पलम० में तीन प्रकार के अवधारण (नियम) की बात, बड़े स्पष्ट तथा सुगम रूप में, समझायी गयी है पर लम० (पृ० ७०६-७०८) में अवधारण की त्रिविधता स्पष्ट रूप में कहीं भी नहीं प्रकट की गयी। इस प्रकरण के कुछ उदाहरण, यथा—'शङ्खः पाण्डुर एव' तथा 'नीलं सरोजं भवत्येव,' अवश्य दोनों में ही मिलते हैं परन्तु दोनों ग्रन्थों का प्रतिपादन सर्वथा भिन्न रूपों में हुआ है। पलम० का "सर्वं वाक्यं सावधारणम्..... वृद्धोक्तं सङ्गच्छते" आदि अंश लम० में नहीं मिलते।

१. द्र०—लम० पृ० ५८३.
अतएव 'स्थालीस्थे यत्ने कथ्यमाने' इति "कारके" इति सूत्रे भाष्ये प्रयुक्तम्।
तुलना करो—पलम० पृ० १५८; अतएव स्थालीस्थे यत्ने पचिना कथ्यमाने 'स्थाली पचति' इति 'कारके' इति सूत्रे भाष्य उक्तम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



लम० के 'तिङर्थनिरूपण' में जिन बातों पर विचार किया गया उनमें से कुछ पलम० के 'धात्वर्थ-निरूपण' में, कुछ 'दशलकारादेशार्थ' के प्रकरण में तथा कुछ 'लकारार्थ-निर्णय' के प्रकरण में प्रस्तुत की गयी हैं।

पलम० के एक संस्करण में 'दशलकारादेशार्थ' तथा 'लकारार्थनिरूपण' इन दोनों प्रकरणों को एक नाम देकर एक साथ सन्निविष्ट कर दिया गया है[1]। परन्तु हस्तलेखों में तथा अन्य संस्करणों में दोनों को अलग अलग दो प्रकरण माना गया है। वस्तुतः इन दोनों प्रकरणों की पृष्ठभूमि में दो दृष्टिकोण हैं—भट्टोजि दीक्षित आदि वैयाकरण, 'लकारों' को अर्थ का वाचक न मान कर उन के अदेशभूत, 'तिप्' आदि को अर्थ का वाचक मानते हैं। इन की दृष्टि से 'दशलकारादेशार्थ' प्रकरण को स्थान दिया गया है। इसके विपरीत नैयायिक 'लकारों' को ही अर्थ का वाचक मानते हैं। इसलिये उनकी दृष्टि से 'लकारार्थनिरूपण' नामक प्रकरण की अवतारणा की गयी। लम० में इन दोनों प्रकरणों का नाम नहीं मिलता। 'लकारों'के आदेशभूत 'तिङ्' को वाचक मानते हुए, केवल उन्हीं के अर्थों पर विचार करने की दृष्टि से, 'तिङर्थ-निरूपण' नामक प्रकरण ही वहाँ दिखायी देता है। परन्तु पलम० के अतिसंक्षिप्त आयाम को देखते हुए नैयायिकों की दृष्टि से 'लकारार्थ-निरूपण' का पूरा प्रकरण सर्वथा अनावश्यक प्रतीत होता है।

लम० में 'तिङर्थनिरूपण' के पश्चात् 'सनाद्यर्थनिरूपण' तथा 'कृदर्थनिरूपण' नामक दो ऐसे प्रकरण हैं जो पलम० में नहीं मिलते। इसके बाद लम० में 'प्रातिपदिकार्थनिर्णय' तथा 'सुबर्थनिर्णय' का प्रकरण है। पलम० में 'लकारार्थनिरूपण' के पश्चात् 'कारकार्थ-निरूपण' का प्रकरण है, जिसे लम० में 'सुबर्थनिर्णय' के नाम से प्रस्तुत किया गया है और उसके बाद 'नामार्थ-निरूपण' का प्रकरण है जिसे लम० में 'प्रातिपादिकार्थ-निर्णय' के नाम से, 'सुबर्थनिर्णय' नामक प्रकरण से पहले ही, रखा गया है।

लम० के 'सुबर्थनिर्णय' में सभी कारकों के विषय में विचार किया गया है। पलम० के 'कारकनिरूपणम्' में भी उन्हीं को संक्षेप में उपस्थित किया गया है। परन्तु पलम० के इस प्रकरण को लम० के 'सुबर्थनिर्णय' का संक्षेपमात्र नहीं कहा जा सकता। दोनों ग्रन्थों के इस प्रकरण में प्रतिपाद्य विषय के क्रम, विवेचन-पद्धति, आदि में पर्याप्त भिन्नता है। पलम० में प्रतिपादित अथवा वर्णित विषय लम० में उपलब्ध हों ही यह भी आवश्यक नहीं है। जैसे—'कर्म' कारक की पलम० में प्रदर्शित नैयायिक सम्मत, तीन परिभाषाओं में से केवल एक का ही उल्लेख लम० में मिलता है। पलम० में 'सम्प्रदान' कारक के प्रसंग में, काशिका वृत्ति के मत का स्पष्ट खण्डन किया गया जो लम० में नहीं मिलता। इसी प्रकार "दानादीनां तदर्थत्वात्···हेलाराजः" यह पूरा अंश, जिसमें 'सम्प्रदान' कारक का विधान करने वाले प्रमुख सूत्र के विषय में एक महत्त्व-पूर्ण शंका तथा उसके समाधान के रूप में वाक्यपदीय के टीकाकार हेलाराज का मत उद्धृत किया गया, लम० में सर्वथा ही नहीं है। पलम० में उद्धृत यह अंश लम० की कला टीका (पृ० १२६५) में कथंचित विद्यमान है।

---

१. द्र०—कालिकाप्रसाद शुक्ल सम्पादित पलम० का संस्करण।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



पलम० में कारकों के विषय में विचार करने से पूर्व उनकी सुनिश्चित परिभाषा दी गई है तथा उस परिभाषा की व्याख्या करते हुए उनका विवेचन किया गया है। कारकों की ये परिभाषायें लम० के उन उन प्रकरणों में उसी रूप में कहीं भी नहीं दिखायी देतीं। यदि कहीं कोई परिभाषा मिलती भी है तो उसमें बहुत कुछ भिन्नता दिखायी देती है। इसी तरह पलम० के इस प्रकरण के आरम्भ में ही कारकत्व के विषय में विविध परिभाषाओं का विवेचन किया गया है। पर लम० के इस प्रकरण में बीच बीच में इतस्ततः बिकीर्ण रूप में कारकत्व का स्वरूप और परिभाषा आदि विषयक विचार मिलता है। पलम० (पृ० ३७३-७४) में षष्ठी विभक्ति के विषय में जो विचार, "कारकप्रातिपदिकार्थं सम्बन्धाश्रयः" इन पंक्तियों में, मिलता है वह भी लम० में नहीं है।

अतः यह कहा जा सकता है कि पलम० का यह पूरा प्रकरण, लम० के इस प्रकरण की अपेक्षा, अधिक सुव्यवस्थित एवं सुसंगत है। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि लम० तथा पलम० के इस प्रकरण में कहीं कहीं परस्पर विरोधी कथन भी उपलब्ध हैं। जैसे—'अधिकरण' कारक के प्रकरण में लम० में 'औपश्लेषिक' अधिकरण का उदाहरण 'कटे आस्ते' तथा 'वैषयिक' अधिकरण का उदाहरण 'खे शकुनयः सन्ति' दिया गया है (द्र०—पृ० १३२७)। परन्तु पलम० (पृ० ३६८) में, कैयट के मत के रूप में 'कटे आस्ते' को 'औपश्लेषिक' अधिकरण का उदाहरण प्रस्तुत करके, उसका खण्डन किया गया है तथा 'वैषयिक' अधिकरण के उदाहरण के रूप में 'कटे आस्ते' तथा 'जले सन्ति मत्स्याः' को ही ठीक माना गया है।

पलम० के अन्तिम दो प्रकरण, 'नामार्थ' तथा 'समासादिवृत्त्यर्थ' भी लम० के संक्षेप नहीं माने जा सकते। पलम० के 'नामार्थ' प्रकरण में प्रातिपदिक शब्दों के पाँच अर्थों—जाति, व्यक्ति, लिंग, संख्या तथा कारक के विषय में विचार किया गया है तथा अन्त में, शब्द का अपना रूप भी शब्दार्थ में ग्राह्य बनता है और अनुकार्य तथा अनुकरण में भेद तथा अभेद दोनों स्थितियाँ मानी जाती हैं, इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए प्रकरण को समाप्त किया गया है। यद्यपि लम० में भी इन बातों की ही चर्चा की गयी है पर दोनों की भाषा में कोई साम्य नहीं दिखायी देता। साथ ही पलम० (पृ० ८००) में इस प्रकरण के अन्त का "अपदम् इत्यस्य परिनिष्ठित-साधुशब्दो पर्यायो" अंश लम० में सर्वथा अप्राप्य है तथा पलम० के कलेवर की दृष्टि से अनावश्यक भी प्रतीत होता है।

इसी प्रकार पलम० का 'समासादिवृत्त्यर्थ' प्रकरण लम० के 'वृत्ति-विचार' वाले प्रकरण से सर्वथा भिन्न है। पलम० के इस प्रकरण में वृत्तित्वसामान्य के विचार-प्रसंग में नैयायिकाभिमत 'व्यपेक्षा' पक्ष में दोष दिखाते हुए, वैयाकरणों के 'एकार्थीभाव' पक्ष को निर्दोष प्रतिपादित किया गया है। यहीं 'जहत्स्वार्था' तथा 'अजहत्स्वार्था' को क्रमशः 'एकार्थीभाव' तथा 'व्यपेक्षा' सामर्थ्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है जबकि लघु-मञ्जूषा में इस बात का खण्डन मिलता है (द्र० पृ० १४०६-१०)। दूसरी ओर वैसिलम० के 'वृत्तिविचार' नामक प्रकरण में वृत्ति के सभी पाँच प्रकारों—समास, एकशेष, क्यजाद्यन्त, तद्धित, वीप्सा—की विस्तृत विवेचना की गई है जो पलम० में अनुपलब्ध है।

यह एक बड़ी विचित्र बात है कि पलम० के ये दोनों ही प्रकरण जहां वैसिलम० के सम्बद्ध प्रकरणों से सर्वथा भिन्न रूप वाले हैं वहीं कौण्ड भट्ट-कृत वैभूसा० के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'नामार्थ-विचार' तथा 'वृत्ति-विचार' नामक प्रकरणों से लगभग अभिन्न हैं। इस विषय में आगे के पृष्ठों में दोनों ग्रन्थों की तुलना प्रस्तुत की जा रही है।

**परमलघुमंजूषा पर वैयाकरणभूषणसार का प्रभाव**—कौण्ड भट्ट, भट्टोजि दीक्षित के भाई, रंगोजि भट्ट के पुत्र तथा सुरेश्वर के शिष्य थे दूसरी ओर नागेश भट्ट, भट्टोजि दीक्षित के पौत्र, हरि दीक्षित के शिष्य थे। इस प्रकार कौण्ड भट्ट तथा नागेश भट्ट दोनों ही लगभग समकालीन हैं पर कौण्ड भट्ट नागेश भट्ट से निश्चित ही पूर्ववर्त्ती हैं। कौण्ड भट्ट के समय की अन्तिम सीमा १६५०-१६६० ई० मानी जाती है जबकि नागेश भट्ट के समय की अन्तिम सीमा १६७०-१६८० ई० मानी गई है।[1]

कौण्ड भट्ट के दोनों ग्रन्थों—वैयाकरणभूषण तथा उसके संक्षिप्त रूप वैयाकरण-भूषणसार—में व्याकरण दर्शन के लगभग उन्हीं विषयों पर विचार किया गया है जिन पर बाद में नागेश भट्ट ने अपने वैसिम० तथा वैसिलम० ग्रन्थों में विशेष विस्तार से विचार किया है। नागेश ने इन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर कौण्ड भट्ट के कुछ विचारों का खण्डन भी किया है। परमलघुमंजूषा में भी कुछ स्थलों पर भी वैयाकरण-भूषणसार के कुछ मन्तव्यों का खण्डन अप्रत्यक्षरूप से किया गया है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल द्रष्टव्य है :—

'धात्वर्थनिरूपण' के प्रकरण में 'केचित्' सर्वनाम के द्वारा कौण्ड भट्ट अभिमत 'सिद्धत्व' तथा 'साध्यत्व' की परिभाषा देकर उससे सहमत न होते हुए नागेश ने 'वस्तुतः साध्यत्वं निष्पाद्यत्वम् एव' इन शब्दों में 'साध्यत्व' की अपनी परिभाषा भी दी है। इसी प्रकार 'सकर्मक', 'अकर्मक' की कौण्ड भट्ट द्वारा निर्धारित परिभाषा को लिखकर उसका खण्डन करते हुए पुनः अपनी परिभाषा को "वस्तुतस्तु अकर्मकत्वम्" इन शब्दों में प्रस्तुत किया है (द्र० पूर्व पृष्ठ १४३–४६, १४८–५१)।

'निपातार्थनिरूपण' के प्रकरण में नैयायिकों के 'निपात अर्थ के वाचक होते हैं' इस सिद्धान्त के निराकरण के लिए कौण्ड भट्ट द्वारा किए गये आक्षेपों को 'केचित् शाब्दिकाः...इत्यापत्तिः' द्वारा प्रस्तुत करके "तन्न अव षष्ठ्यापादनम्" इन शब्दों में स्पष्टतः नागेश ने खण्डन किया है (द्र० पूर्व पृ०१८२–८८)।

'कारक-निरूपण' के प्रकरण' में 'अपादान' कारक की परिभाषा पर विचार करते हुए 'परस्परस्मान्मेषावपसरतः' इस प्रयोग में 'अपसरतः' क्रिया के सम्बन्ध में कौण्ड भट्ट अभिमत दो प्रकार की गति-विषयक मान्यता का भी नागेश ने, महाभाष्य के प्रामाणिक वक्तव्य के आधार पर, खण्डन कर दिया है (द्र० पूर्व पृष्ठ ३६३-६५)।

परन्तु वैभूसा० तथा पलम० के तुलनात्मक अध्ययन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि पलम० का पूर्वार्ध, अर्थात् ग्रन्थ के प्रारम्भ से 'निपातार्थ-निर्णय' तक का अंश ही वैसिलम० का संक्षिप्त रूप है। यद्यपि इस भाग में भी पलम० की अनेक पंक्तियाँ

१. पी०के० गोडे—स्टडीज इन इण्डियन लिटरेरी हिस्टरी, भाग ३, पृ० २०६-११।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



वैभूसा० की तत्सम्बद्ध पंक्तियों से प्रभावित हैं, भले ही इनकी संख्या थोड़ी है। इस सम्बन्ध में निम्न स्थल दर्शनीय है—

(क) वैभूसा० (पृ० ५७)

भावनाया अवाच्यत्वे धातूनां सकर्मकत्वाकर्मकत्वविभाग उच्छिन्नः स्यात्।

पलम० (पृ० १३३–३४)

यत्तु मीमांसकाः 'फलं धात्वर्थो व्यापारः प्रत्ययार्थः' इति वदन्ति तन्न।'' किं च सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवहारोच्छेदापत्तिः।

(ख) वैभूसा० (पृ० ३६२-६३)

'अत्वं भवसि,' 'अनहं भवामि' इत्यादौ पुरुषवचनादिव्यवस्थोपपद्यते। अन्यथा 'त्वदभावः', 'मदभावः' इतिवद् युष्मत्तसामानाधिकरण्यस्य तिङ्क्ष्वसत्त्वात् पुरुषव्यवस्था न स्यात्।

पलम० (पृ० २२१)

'अहं नास्मि', 'त्वं नासि' इत्यादौ पुरुषवचनव्यवस्थोपपद्यते। अन्यथा युष्मदादेस्तिङ्सामानाधिकरण्याभावात् 'मदभावोऽस्ति' इत्यादाविव सा न स्यात्।

(ग) वैभूसा० (पृ० ३७३)

''साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः'' इति कोशस्वरसात्।'''स्वस्वयुक्तनिपातान्यतरार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वं सकर्मकत्वम् इति चेन्न। नामधात्वर्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयासम्भवान्निपातार्थधात्वर्थयोरन्वयस्यैवासम्भवात्।

पलम० (पृ०)

'साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः' इति कोशात्।'''सकर्मकत्वं च स्वस्वसमभिव्याहृतनिपातान्यतरार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम्।'' तन्न। नामार्थधात्वर्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयाभावात् निपातार्थधात्वर्थयोरन्वयस्यैवासम्भवात्।

(घ) वैभूसा० (पृ० ३७७)

समानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तिर्निपातातिरिक्तविषया।

पलम० (पृ० १८५)

नामार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तिस्तु निपातातिरिक्तविषया।

(ङ) वैभूसा० (पृ० ३३५)

निरूढलक्षणायाः शक्त्यनतिरेकात्।

पलम०

'निरूढलक्षणा' इयं शक्त्यपरपर्यायैवेति बोध्यम्।

(च) अखण्डस्फोटवाद की प्रस्थापना करते हुए वैभूसा० (पृ० ४६१) में वाक्यपदीय (१.७३) की निम्न कारिका उद्धृत की गयी है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानाम् अत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

तथा इसकी व्याख्या निम्न रूप में की गयी है—

पलम० (पृ० १००) में नागेश ने भी वैभूसा० की बात को दुहराते हुए उपर्युक्त कारिका को अखण्डस्फोटवाद का ही प्रतिपादक माना है। द्र०—स च यद्यप्येकोऽखण्डश्च। तथापि'''वर्णरूपः पदरूपो वाक्यरूपश्च।'''तदुक्तम्—''पदे न वर्णा विद्यन्ते न कश्चन''।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इदानीम् अखण्डस्फोटपक्षम् आह—'पचति' इत्यादौ न वर्णाः। पदानाम् अपि वाक्याद् विवेको भेदो नास्ति इत्यर्थः।

यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि लघु-मंजूषा में भी नागेश ने अखण्डस्फोट सिद्धान्त का बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया है परन्तु उस प्रसङ्ग में कहीं भी इस कारिका को उद्धृत नहीं किया गया।

इस प्रसंग में यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि इस कारिका की स्वयं भर्तृहरिकृत स्वोपज्ञ टीका के अनुसार इसमें सखण्डस्फोटवाद अथवा नानात्व-दर्शन का प्रतिपादन है न कि अखण्डस्फोट-वाद अथवा एकत्वदर्शन का, जबकि कौण्डभट्ट का इससे ठीक विपरीत प्रति-पादन है। स्वोपज्ञ वृत्ति के व्याख्याकार वृषभदेव[1] ने भी उपर्युक्त कारिका को सखण्डस्फोटवाद का ही प्रतिपादक माना है तथा यह कहा है कि इस कारिका से पहले की दो कारिकाओं[2] में अखण्ड-स्फोटवाद का प्रतिपादन किया जा चुका है।

यह तो हुई पलम० के पूर्वार्ध भाग की स्थिति। उसके उत्तरार्ध भाग में जा कर वैभूसा० का अधिक से अधिक अनुकरण किया गया है। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि पलम० का प्रणेता वैभूसा० के प्रतिपाद्य को उसी के शब्दों में संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर रहा है। पलम० का 'कारकनिरूपण' अवश्य वैभूसा० के उस प्रकरण से भिन्न है परन्तु उसे वैसिलम० का भी संक्षेप नहीं कहा जा सकता। पलम० का 'दशलकारादेशार्थ' वैयाकरणों की दृष्टि से 'लकार' के आदेश भूत' तिङ्' के अर्थ का विवेचन करता है। यह पूरा प्रकरण वैभूसा० के 'लकारविशेषार्थः' प्रकरण का ही संक्षेप है जिसमें प्रायः वैभूसा० के ही वाक्यों को ले लिया गया है।

तुलना के लिए दोनों ग्रन्थों के निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं :—

(क) वैभूसा० (पृ० १४६)

प्रारब्धापरिसमाप्तत्वं भूतभविष्यद्-भिन्नत्वं वर्त्तमानत्वम्।

पलम० (पृ० २४८)

वर्त्तमानकालत्वं च प्रारब्धापरिसमाप्त-क्रियोपलक्षितत्वम्।

(ख) वैभूसा० (पृ० १५१)

परोक्षत्वं च साक्षात्कृतम् इत्येतादृश-विषयताशालिज्ञानाविषयत्वम्।

पलम० (पृ० २५०)

परोक्षत्वं च साक्षात्कृतम् इत्येतादृश-विषयताशालिज्ञानाविषयत्वम्।

(ग) वैभूसा० (पृ० १५६)

तत्त्वं (भविष्यत्त्वम्) च वर्त्तमानप्राग-भावप्रतियोगिसमयोत्पत्तिमत्त्वम्।

पलम० (पृ० २५२)

भविष्यत्त्वं च वर्त्तमानप्रागभावप्रति-योगिक्रियोपलक्षितत्वम्।

---

१. के० ए० एस० अय्यर सम्पादित वाप०, स्वोपज्ञवृत्ति तथा वृषभदेव की 'पद्धति' वृत्ति सहित, पृ० १३५; "एकत्वादिमतं वर्णयन्नाह "पदभेदेऽपि" तथा पृ० १३७," नानात्वदर्शनम् अधिकृत्य आह—"पदे न वर्णाः" इति।

२. वाप० १.७१–७२—पदभेदेऽपि वर्णानाम् एकत्वं न निवर्त्तते।
वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते॥
न वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यच्च विद्यते।
वाक्यं वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किंचन॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(घ) वैभूसा० (पृ० १५८-१६१)

विधिः···निमन्त्रणम्'''आमन्त्रणम्''' अधीष्ट···एतच्चतुष्टयानुगतप्रवर्त्तनात्वेन वाच्यता लाघवात् । उक्तं च —

"अस्ति प्रवर्त्तनारूपम् अनुस्यूतं चतुर्ष्वपि ।
तत्रैव लिङ् विधातव्यःकिम्भेदस्य विवक्षया ॥"

प्रवर्त्तनात्वं च प्रवृत्तिजनकज्ञान-विषयतावच्छेदकत्वम् । तच्चेष्टसाधनत्वस्यास्ति इति तदेव विध्यर्थः । यद्यप्येतत्कृतिसाध्यत्वस्यापि तज्ज्ञानस्यापि प्रवर्त्तकत्वात्, तथापि यागादौ सर्वत्र तल्लोकत एवावगम्यते इत्यनन्यलभ्यत्वात् न तच्छक्यम् । बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानञ्च न हेतुः द्वेषभावेनान्यथासिद्धत्वात् ।

पलम० (पृ० २५५-५७)

विध्यादिचतुष्टयस्यानुस्यूतप्रवर्त्तनात्वेन चतुर्णां वाच्यता लाघवात् । तदुक्तं हरिणा —"अस्ति प्रवर्त्तनारूपं'''भेदस्य विवक्षया ।"

प्रवर्त्तनात्वं च प्रवृत्तिजनकज्ञान-विषयतावच्छेदकत्वम् । तच्चेष्टसाधनत्वस्यैवेति तदेव लिङर्थः । न तु कृतिसाध्यत्वम्, तस्य यागादौ लोकत एव लाभाद्, इत्यनन्यलभ्यत्वात् । न च बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं द्वेषभावेनान्यथासिद्धत्वात् ।

(ङ) वैभूसा० (१६४)

वर्त्तमानध्वंसप्रतियोगित्वं भूतत्वम् ।

पलम० (पृ० २६०)

भूतत्वं च वर्त्तमानध्वंसप्रतियोगिक्रियोपलक्षितत्वम् ।

पलम० के अन्तिम दो प्रकरण—'नामार्थ' तथा 'समासादिवृत्त्यर्थ''—तो वैभूसा० के 'नामार्थनिर्णय' तथा 'समासशक्तिनिर्णय' नामक प्रकरणों के अभिन्न संक्षेप मात्र हैं। इन दोनों प्रकरणों के नाम भी पलम० के ग्रन्थकार ने वैभूसा० के सम्बद्ध प्रकरणों के नाम पर ही रखे हैं। वैसिलम० में इन प्रकरणों के नाम क्रमशः 'प्रतिपदिकार्थनिर्णय' तथा 'वृत्तिविचार' हैं।

वैसिलम० के 'वृत्ति-विचार' प्रकरण में ६ प्रमुख खण्ड हैं जिनमें वृत्ति के क्रमशः 'एकार्थीभाव', प्रधान समास, 'एकशेष', 'क्यजाद्यन्त', 'तद्धित-प्रत्ययार्थ' तथा 'वीप्सा', इन विविध प्रकारों अथवा भेदों के विषय में विचार किया गया है। पलम० में ये विचार नहीं मिलते। वैभूसा० के 'समासशक्तिनिर्णय' नामक प्रकरण की अभिन्न, परन्तु किसी सीमा तक संक्षिप्त, प्रतिलिपि अवश्य वहां उपलब्ध है।

कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहां वैभूसा० के ग्रन्थकार कौण्डभट्ट ने अपने विवेचन अथवा प्रतिपादन की पुष्टि के लिये अपने दूसरे ग्रन्थ वैयाकरणभूषण को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। इन स्थलों की प्रतिलिपि करते समय पलम० का ग्रन्थकार इतना सजग है कि वह वैयाकरणभूषण का नाम जान बूझ कर छोड़ जाता है[1], यद्यपि ऐसे स्थल एक दो ही हैं।

---

१. द्र० वभूसा०, पृ० २८८ ;
(क) तस्य नियमार्थतायां भाष्यसिद्धायां वैयाकरणभूषणे स्पष्टं प्रतिपादितत्वात् ।
तुलना करो—पलम० (पृ० ४१८)
तस्य नियमार्थतायां भाष्यकृतैव प्रतिपादितत्वात् ।
(ख) वैभूसा०, पृ० ३०७ ;
नान्त्यः···प्रपंचितं वैयाकरणभूषणे ।
तुलना करो—पलम० (पृ० ४२६)
नान्त्यः ।··· इत्यन्वय प्रसंगात् ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



नीचे वे स्थल तुलना के लिए प्रस्तुत हैं जहां पलम० में वैभूसा० से सब कुछ ही लगभग अभिन्न रूप में ग्रहण कर लिया गया है। पलम० के इन स्थलों को वैभूसा० की प्रतिलिपि मात्र माना जा सकता है :—

| 'नामार्थनिर्णय' के स्थल | 'नामार्थ' के स्थल |
|---|---|
| (क) वैभूसा० (पृ० २१६-१८) | पलम० (पृ० ३७८) |
| एकं जातिः। लाघवेन तस्या एव वाच्यत्वौचित्यात्। अनेकव्यक्तीनां वाच्यत्वे गौरवात् ·····जात्या तु सहाश्रयत्वमेव संसर्गः इति लाघवम्। किंचैवं विशिष्टवाच्यत्वमपेक्ष्य "नागृहीत-विशेषणा०" न्यायेन जातिरेव वाच्येति युक्तम्। व्यक्तिबोधस्तु लक्षणया। | शब्दानां' जातौ शक्तिर्लाघवात्। व्यक्तीनाम् आनन्त्येन तत्र शक्तौ गौरवात्। "नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्य उप-जायते" इति न्यायस्य विशेषणे शक्तिर् विशेष्ये लक्षणेति तात्पर्यात्। ·····'गाम् आनय' इत्यादौ अन्वयानुपपत्त्या तदाश्रय-लक्षकत्वेन निर्वाहश्चेत्याहुः। |
| (ख) वैभूसा० (पृ० २१९) | पलम० (पृ० ३८१-८२) |
| यद्वा केवलं व्यक्तिरेवैकशब्दार्थः।··· सम्बन्धितावच्छेदकस्य जातेरैक्याच्छक्ति-रप्येकैवेति न गौरवमपि। न चैवं घटत्वं वाच्यं स्याच्छक्यतावच्छेदकत्वात् तथा "नागृहीतविशेषणा०" न्यायात् तदेव वाच्यमस्त्विति शक्यम्। अकारणत्वेऽपि कारणतावच्छेदकत्वाद् अलक्ष्यत्वेऽपि लक्ष्यतावच्छेदकत्ववत्, तथात्रापि सम्भवात्। उक्तं च— | तन्न। व्यक्तीनामानन्त्येऽपि शक्यतावच्छेदकजातेरुपलक्षणत्वेन तदै-क्येन च तादृशजात्युपस्थितिव्यक्तौ शक्तिस्वीकारेणानन्तशक्तिकल्पनाविरहेण अगौरवात्। लक्ष्यतावच्छेदकतीरत्वादिवत् शक्यतावच्छेदकस्यावाच्यत्वे दोषाभावात्। "नागृहीत०" इति न्यायस्य विशेषण-विशिष्टविशेष्यबोधे तात्पर्येऽपि त्वदुक्त-तात्पर्ये मानाभावात्। जातेरुपलक्षकत्वेन तदाश्रयसकलव्यक्तिबोधेन व्यक्त्यन्तर-बोधाप्रसङ्गभङ्गाच्च। तदाह— |
| आनन्त्येऽपि हि भावानाम्<br>एकं कृत्वोपलक्षणम्।<br>शब्दः सुकरसम्बन्धो<br>न च व्यभिचरिष्यति॥ | आनन्त्येऽपि···व्यभिचरिष्यति। |
| (ग) वैभूसा० (पृ० ३२२) | पलम० (पृ० ३८७) |
| वस्तुतस्तु "नह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः" इति भाष्याद् विशिष्ट-मेव वाच्यम् | वस्तुतस्तु "नह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः" इति "सरूप०"-सूत्र-भाष्याद् विशिष्टमेव वाच्यम्। |

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(घ) वैभूसा० (पृ० २३०-३१)

नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययस्यैव तद्वाच्यम्·····इति चेत् सत्यम् । प्रत्ययवर्जिते 'दधि पश्यति' इत्यादौ प्रत्ययमजानतोऽपि बोधात् ।

पलम० (पृ० ३९३)

नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययस्यैव तद् वाच्यम् इति चेत् न । 'दधि तिष्ठति', 'दधि पश्य' इत्यादौ·····प्रत्ययलोपमजानतोऽपि नामत एव तत्प्रतीतेः ।

(ङ) वैभूसा० (पृ० २३३)

शब्दस्तावच्छाब्दबोधे भासते ।··· न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके
यः शब्दानुगमाद् ऋते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं
सर्वं शब्देन भासते ॥
इत्याद्यनुभाविकोक्तेः ।

पलम०

शब्दोऽपि शाब्दबोधे भासते ।··· न सोऽस्ति·····भासते ॥ इत्यभियुक्तोक्तेः ।

(च) वैभूसा० (पृ० २४२-४३)

उक्तं च वाक्यपदीये—
ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा ।
तथैव सर्वशब्दानाम् एते पृथगवस्थिते ।
विषयत्वमनादृत्य शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते ॥

पलम० (पृ० ३९४)

ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च...प्रकाश्यते ॥ इति वाक्यपदीयाच्च ।

यहां अन्त के दो अंशों में यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन दोनों ही स्थलों में यद्यपि वाक्यपदीय से ही कारिकायें उद्धृत की गयीं हैं, परन्तु पलम० में ऊपर के अंश में कारिकाओं के लिये 'इत्यभियुक्तोक्तेः' कहा गया जबकि नीचे के अंश में 'इति वाक्यपदीयाच्च' का उल्लेख किया गया। स्पष्ट है कि पलम० के ग्रन्थकार ने वैभूसा० के 'इत्याद्यनुभाविकोक्तेः' के स्थान पर 'इत्यभियुक्तोक्तेः' तथा 'उक्तं च वाक्यपदीये' के स्थान पर 'इति वाक्यपदीयाच्च' का प्रयोग किया है ।

(छ) वैभूसा० (पृ० २०२)

'भू सत्तायाम्' इत्याद्ययोऽनुकरणशब्दा अनुकार्यान्न भिद्यन्तेऽतस्तेषाम् अर्थवत्त्वाद्यभावात् "अर्थवदधातु०" इत्याद्यप्रवृत्तौ न पदत्वं न वा प्रातिपदिकत्वम् । अथ च साधुत्वम् इत्युपपद्यते । अन्यथा "अपदं न प्रयुञ्जीत" इति असाधुतापत्तिः ।

पलम० (पृ० ३९७-४००)

अनुकार्याद् अनुकरणम् अभिन्नम् इत्यभेदविवक्षायां चार्थवत्त्वाभावान्न प्रातिपदिकत्वम् न वा पदत्वम् । अभेदपक्षज्ञापकस्तु 'भू सत्तायाम्' इत्यादिनिर्देशः । प्रातिपदिकत्वपदत्वाभावेऽपि 'भू' इत्यादि साधु भवत्येव । ननु "अपदं न प्रयुञ्जीत" इति भाष्याद् असाध्विति चेत् न ।

**'समासशक्तिनिर्णय' के स्थल**

(क) वैभूसा० (पृ० २७०-७१)

अत एव व्यपेक्षापक्षम् उत्थाप्य "अर्थतस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योऽसौ एकार्थीभावकृतो विशेषः स वक्तव्यः" इति

**सामासदिवृत्त्यर्थ के स्थल**

पलम० (पृ० ४०४)

अत एव भाष्ये व्यपेक्षापक्षम् उद्भाव्य 'अर्थैतस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योऽसौ एकार्थीभावकृतो विशेषः स वक्तव्यः'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



भाष्यकारेण दूषणम् अप्युक्तम्। तथा धवखदिरौ निष्कौशाम्बिगोंरथो घृतघटो गुड़धानाः केशचूडः सुवर्णालंकारो द्विदशाः सप्तपर्ण इत्यादौ इतरेतरयोगातिक्रान्त-युक्तपूर्णमिश्रसङ्घातविकारसुब्प्रत्ययलोपो वीप्साद्यर्था वाचनिका वाच्याः।

इत्युक्तम्। धवखदिरौ निष्कौशाम्बि-गोंरथो घृतघटो गुड़धानाः केशचूडः सुवर्णालङ्कारो द्विदशाः सप्तपर्ण इत्यादौ साहित्यक्रान्तयुक्तपूर्णमिश्रसङ्घातविकार-सुब्प्रत्ययलोपवीप्याद्यर्था वाचनिका वाच्याः।

(ख) वैभूसा० (पृ० २७१-७१)

दूषणान्तरम् आह :—

चकारादिनिषेधोऽथ,
बहुव्युत्पत्तिभञ्जनम्।
कर्तव्यं ते न्यायसिद्धं।
त्वस्माकं तदिति स्थितिः॥

'''बहुव्युत्पत्तिभञ्जनम्' इति 'प्राप्तोदको ग्रामः' इत्यादौ 'प्राप्तिकर्त्रभिन्नम् उदकम्' इत्यादिबोधोत्तरं तत्सम्बन्धिग्रामलक्षणायाम् अपि 'उदककर्तृकप्राप्तिकर्म ग्रामः' इत्यर्थलाभात्। 'प्राप्त' इति 'क्त' प्रत्ययस्यैव कर्त्रर्थकस्य कर्मणि लक्षणेति चेत् तर्हि समानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तेः उदकाभिन्नप्राप्तिकर्मेति स्यात्। अन्यथा 'समानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोरभेदान्वय'-व्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः। प्राप्तेर्धात्वर्थतया कर्तृतासम्बन्धे भेदेनोदकस्य तत्रान्वयासम्भवाच्च।

पलम० (पृ० ४३४-३५)

दूषणान्तरम् आह :—

चकारादिनिषेधो'''स्थितिः।''' प्राप्तोदकः' इत्यादौ पृथक् शक्तिवादिनां मते 'प्राप्तिकर्त्रभिन्नम् उदकम्' इत्यादिबोधोत्तरं तत्सम्बन्धिग्रामलक्षणायाम् अपि 'उदककर्तृकप्राप्तिकर्म ग्रामः' इत्यर्थलाभे प्राप्ते 'प्राप्त' इति 'क्त' प्रत्ययस्य कर्त्रर्थकस्य कर्मार्थे लक्षणा। ततोऽपि "समानविभक्तिकनामार्थयोरभेद एव संसर्गः" इति व्युत्पत्त्या 'उदकाभिन्नं कर्म' इति स्यात्। 'उदकस्य'-कर्तृतया 'प्राप्तौ' अन्वये तु "नामार्थयोरभेदान्वय०"—व्युत्पत्तिभञ्जनं स्याद् इति तात्पर्यम्।

(ग) वैभूसा० (पृ० २८२-८८)

यत्तु व्यपेक्षावादिनो नैयायिकमीमांसकादय :—न समासे शक्तिः। 'राजपुरुषः' इत्यादौ 'राज' पदादेः सम्बन्धिनि लक्षणयैव 'राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुषः' इति बोधोपपत्तेः। अत एव 'राज्ञः' पदार्थैकदेशतया न 'शोभनस्य' इत्यादिविशेषणान्वयः न वा 'घनश्यामो निष्कौशाम्बिगोंरथः' इत्यादौ इवादिप्रयोगापत्तिः। उक्तार्थकत्वेवादिपदप्रयोगासम्भवात्। न वा "विभाषा" इति सूत्रावश्यकत्वम्। लक्षणया 'राजसम्बन्ध्यभिन्नः' इति बुबो-

पलम० (पृ० ४१०-२१)

—यत्तु व्यपेक्षावादिनो नैयायिकमीमांसकदयः—न समासे शक्तिः। 'राजपुरुषः' इत्यादौ 'राज'—पदादेः सम्बन्धिनि लक्षणयैव 'राजसम्बन्धवदभिन्नः पुरुषः' इति बोधात्। अत एव 'राज्ञः' पदार्थैकदेशत्वान्न तत्र 'ऋद्धस्य' इत्यादिविशेषणान्वयः।''''''न वा 'घनश्यामः', 'निष्कौशाम्बिः', 'गोरथः' इत्यादाविवादिप्रयोगापत्तिः। लक्षणयैवोक्तार्थतया 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायेनेवादीनाम् अप्रयोगात्। नापि "विभाषा"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



धयिषायां समासस्य 'राजसम्बन्धवान्' इति बुबोधयिषायां विग्रहस्येत्यादि प्रयोगनियमसम्भवात् । नापि पंकजपदप्रतिबन्दी शक्तिसाधिका। तत्रावयवशक्तिमजानतोऽपि बोधात् । न च शक्त्यग्रहे लक्षणया तेभ्यो विशिष्टार्थप्रत्ययः सम्भवति । अत एव राजादिपदशक्तिग्रहे 'राजपुरुषः', 'चित्रगुः' इत्यादौ न बोधः । नापि 'चित्रगुः' इत्यादौ लक्षणासम्भवेऽपि अषष्ठ्यर्थबहुव्रीहौ लक्षणाया असम्भवः । बहुव्युत्पत्तिभञ्जनापत्तेरिति वाच्यम् । 'प्राप्तोदकः' इत्यादौ 'उदक'पदे एव लक्षणास्वीकारात् । पूर्वपदस्य यौगिकत्वेन तल्लक्षणाया धातुप्रत्ययतदर्थज्ञानसाध्यतया विलम्बितत्वात् । प्रत्ययानां सन्निहितपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्त्यनुरोधाच्च । घटादिपदे चातिरिक्ता शक्तिः कल्प्यमाना विशिष्टे कल्प्यते, विशिष्टस्यैव सङ्केतितत्वात् बोधकत्वस्यापि प्रत्येकं वर्णेष्वसत्त्वात् । प्रकृते चात्यन्तसन्निधानेन प्रत्ययार्थान्वयसौलभ्यायोत्तरपद एव सा कल्प्यते इति विशेषः । स्वीकृतं च घटादिपदेष्वपि चरमवर्णस्यैव वाचकत्वं मीमांसकम्मन्यैः—इत्याहुः ।

अत्रोच्यते—समासे शक्त्यस्वीकारे तस्य प्रातिपदिकसंज्ञादिकं न स्यात् । अर्थवत्त्वाभावेन "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" इत्यस्याप्रवृत्तेः । न च "कृत्तद्धितसमासाश्च" इति 'समास'-ग्रहणात् सा । तस्य नियमर्थतायां भाष्यसिद्धायां वैयाकरणभूषणे स्पष्टं प्रतिपादितत्वात्। ...अथ "तिप्तस्०" इत्यारभ्य "ङ्योस्सुप्" इति 'तिप्' प्रत्याहारो भाष्यसिद्धः । तमादाय "अतिप् प्रातिपदिकम्" इत्येव सूत्र्यताम् । कृतम् "अर्थवत्०" इत्यादिसूत्रम् आवश्यकम् । लक्षणया 'राजसम्बन्ध्यभिन्नः' इति बुबोधयिषायां समासस्य, राजसम्बन्धवान्' इति बुबोधयिषायां विग्रहस्य च प्रयोगनियमसम्भवात् । नापि 'शक्तिः पंकजशब्दवत्' इति पङ्कजशब्दप्रतिद्वन्द्विता शक्तिसाधिका । तत्र अवयवशक्तिमजानतोऽपि ततो बोधात् । न च शक्त्यग्रहे लक्षणया तस्माद् विशिष्टार्थप्रत्ययः सम्भवति । अत एव राजपदादिशक्त्यग्रहे 'राजपुरुषः इत्यादिषु न बोधः । न च 'चित्रगुः, इत्यादौ लक्षणासम्भवेऽषष्ठ्यर्थबहुव्रीहौ लक्षणाया असम्भवः, बहुव्युत्पत्तिभञ्जनापत्तेरिति वाच्यम् । 'प्राप्तोदकः' इत्यादौ 'उदक' पदे एव लक्षणास्वीकारात् । पूर्वपदस्य यौगिकत्वेन तत्र लक्षणाया धातुप्रत्ययतदर्थज्ञानसाध्यतया विलम्बितत्वात् । प्रत्ययानां सन्निहितपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्त्यनुरोधाच्च । घटादिपदे चातिरिक्ता शक्तिः कल्प्यमाना प्रत्येकं वर्णेषु बोधकत्वेऽपि विशिष्टे कल्प्यते, विशिष्टस्यैव सङ्केतितत्वात् । प्रकृते चात्यन्तसन्निधानेन प्रत्ययान्वयसौलभ्यायोत्तरपदे एव लक्षणा कल्प्यते इति विशेषः । स्वीकृतं च घटादि पदेष्वपि चरमवर्णस्यैव वाचकत्वं मीमांसकम्मन्यैः—इत्याहुः ।

अत्रोच्यते—समासे शक्त्यस्वीकारे विशिष्टस्यार्थवत्त्वाभावेन प्रतिपादिकत्वं न स्यात् ।... न च "कृत्तद्धित०" इति सूत्रे समासग्रहणात् तत्संज्ञेति वाच्यम् । **तस्य नियमार्थतायां** भाष्यकृतैव प्रतिपादितत्वात् । ...'तिप्तस्झि०' इत्यतः 'ति' इत्यारभ्य 'ङ्योस्सुप्०' इति पकारेण 'तिप्' इत्याहारो भाष्यसिद्धः । तत्पर्युदासेन 'अतिप्प्रातिपदिकम्' इत्येव सूत्र्यताम् । ततः 'समासश्च' इति सूत्रं नियमार्थम् अस्तु किं सूत्रद्वयेनेति 'सुप्तिङन्तभिन्नं प्रातिपदिकम्'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



सूत्रद्वयेन । 'समासग्रहणं च नियमार्थमस्तु । तथा च "तिबन्तभिन्नम्प्रातिपदिकम्" इत्यर्थात् समासस्यापि सा स्याद् इति चेत् तथापि प्रत्येकं वर्णेषु संज्ञावारणायार्थवत्त्वावश्यकत्वेन समासाव्याप्तितादवस्थ्यमेव । तथा प्रातिपदिकसंज्ञारूपं कार्यम् एवार्थवत्त्वम् अनुमापयति ।

इत्यर्थात् समासस्यापि सा स्यादिति 'समासश्च' इत्यस्य नियमार्थत्वं सुलभमिति चेत् सत्यम् । प्रत्येकं वर्णेषु संज्ञावारणाय "अर्थवत्०" इत्यस्यावश्यकत्वेन समासेऽव्याप्तिस्तदवस्थैव । तथा च प्रातिपदिकसंज्ञारूपकार्यमेवार्थवत्त्वमनुमापयति ।

(घ) वैभूसा० (पृ० ३०५-३०७)

कि च 'राजपुरुषः' इत्यादौ सम्बन्धिनि सम्बन्धे वा लक्षणा । नाद्यः 'राज्ञः पुरुषः' इति विवरणविरोधात् समाससमानार्थकवाक्यस्यैव विग्रहत्वात् । अन्यथा तस्मात् शक्तिनिर्णयो न स्यात् । नान्त्यः 'राजसम्बन्धरूपपुरुषः' इति बोधप्रसङ्गात् । विरुद्धविभक्तिरहितप्रातिपदिकार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तेरित्यादि प्रपञ्चितं वैयाकरणभूषणे[1] ।

पलम० (पृ० ४२५-२६)

कि च 'राजपुरुषः' आदौ राजपदादेः सम्बन्धिनि सम्बन्धे वा लक्षणा नाद्यः । 'राज्ञः पुरुषः' इति विवरणविरोधात् वृत्तिसमानार्थवाक्यस्यैव विग्रहत्वात् । अन्यथा तस्मात् शक्तिनिर्णयो न स्यात्। नान्त्यः 'राजसम्बन्धरूपपुरुषः' इत्यन्वयप्रसङ्गात् ।

वैभूसा० तथा पलम० के इन अनेक स्थलों की इस समानरूपता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि या तो ये अंश प्रक्षिप्त हैं अथवा पलम० ही नागेश से भिन्न किसी विद्वान् के द्वारा प्रणीत अथवा सङ्कलित है । परन्तु यों शीघ्रता में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना हमें उचित प्रतीत नहीं होता ।

**पलम० का महत्त्व**—ऊपर तीनों मञ्जूषा ग्रन्थों के आकार प्रकार तथा प्रतिपाद्य आदि के विषय में विचार किया गया है । सम्प्रति व्याकरण दर्शन का विशिष्ट अध्ययन करने वाले विद्वानों तथा छात्रों में पलम० का ही अत्यधिक प्रचार देखा जाता है । इसका कारण यह है कि ग्रन्थकार ने अपनी इस परम लघ्वी मञ्जूषा में संस्कृत-व्याकरण-दर्शन के प्रायः सभी सिद्धान्त-रत्नों को सुचारु रूप से सजा कर रखा है । फलतः इस ग्रन्थ के सम्यक् अध्ययन से संस्कृत-व्याकरण-दर्शन के साथ भली भांति परिचय हो जाता है ।

बृहन्मञ्जूषा तथा लघुमञ्जूषा तो पाठकों को अथाह समुद्र की भांति प्रतीत होते हैं । उनमें घुसते हुए भी भय लगता है । प्रतिपाद्य विषयों का इतना असंयमित विस्तार है कि आसानी से कुछ पता ही नहीं लग पाता कि ग्रन्थकार कहना क्या चाहता है ।

पहले लम० तथा पलम० की तुलना के प्रसंग में कई बार यह बात कही गयी है कि पलम० के अनेक स्थल लम० के उन स्थलों की अपेक्षा अधिक सुसंगत तथा स्पष्ट हैं ।

१. पलम० में "विरुद्ध·····वैयाकरणभूषण" इस पूरे वाक्य को सम्भवतः इस लिये नहीं रखा गया कि इस में वैयाकरणभूषण का नाम प्रयुक्त हुआ है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस दृष्टि से 'धात्वर्थनिर्णय' तथा निपातार्थनिर्णय' का विशेष रूप से नाम लिया जा सकता है। 'स्फोटनिरूपण' के प्रकरण में भी संक्षेप में जितना स्पष्ट बोध 'स्फोट' के विषय में पलम० के अध्ययन से होता है उतना लम० से सम्भवतः नहीं हो पाता। इसी प्रकार लम० का 'तिङर्थनिरूपण' तथा 'प्रातिपदिकार्थनिरूपण' अपने विस्तार में पर्याप्त भयावह प्रतीत होता है। लम० के 'सुबर्थविचार' में विभिन्न कारकों की वे परिनिष्ठित परिभाषायें नहीं मिल पातीं जो पलम० में बड़ी सुन्दरता के साथ उपनिबद्ध हैं।

इस सबका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि दोनों बड़ी मंजूषाओं का कोई महत्त्व ही नहीं है। व्याकरण दर्शन में पूर्ण निष्णात होने के लिये उन दोनों ही ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य है। परन्तु संक्षेप मे व्याकरण दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा समर्थन और नैयायिकों तथा मीमांसकों के सिद्धान्तों का नाम लेकर सयुक्तिक खण्डन जिस स्पष्टता के साथ पलम० में मिलता है उतना लम० में नहीं मिलता। इसलिये थोड़े में विषय को समझने के लिये पलम० की उपयोगिता अनुपेक्षणीय है।

**पलम० का प्रस्तुत अध्ययन** – नागेश भट्ट की परमलघुमंजूषा एक नितान्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। परन्तु इस ग्रन्थ रत्न का न तो कोई सुव्यवस्थित शुद्ध संस्करण उपलब्ध है और न इसका अनुवाद तथा तथा व्याख्या ही की गयी है। जो एक दो संस्करण उपलब्ध हैं उनमें भ्रष्ट पाठों की बहुलता ही देखने को मिलती है। व्याख्या की दृष्टि से एक दो संस्करणों में टिप्पणियां दी गयी हैं पर उन में न्याय की परिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करके विषय को और भी दुरूह कर दिया गया है। अध्येताओं को इन टीका टिप्पणियों से कोई सहायता नहीं मिलती। इस न्यूनता की पूर्ति की दिशा में यह संस्करण प्रथम प्रयास है।

विविध हस्तलेखों तथा प्रकाशित संस्करणों के आधार पर ग्रन्थ का यथासम्भव शुद्ध सम्पादन, उद्धरणों की उनके मूल स्रोतों से तुलना तथा उनका संकेत, अर्थ-संगति की दृष्टि से पूरे ग्रन्थ का विविध खण्डो में विभाजन, पाठ भेदों का संकलन तथा शुद्ध पाठ का निर्धारण इत्यादि इस संस्करण की विशेषतायें हैं।

ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को अनुवाद में यथासंभव सरल तथा स्पष्ट किया गया है। इसके लिये कोष्ठकों का कुछ अधिक प्रयोग करना पड़ा क्योंकि बहुत से आवश्यक पद या अंश मूल पंक्ति में नहीं थे। अनुवादमात्र के अध्ययन से भी विषयवस्तु समझ में में आ जाय इस दृष्टि से कहीं कहीं अनुवाद को कुछ विस्तृत करना पड़ा है।

व्याख्या भाग में प्रतिपाद्य विषय की पूरी छान बीन की गयी है तथा प्रत्येक विषय को पातंजल महाभाष्य तथा भर्तृहरि के वाक्यपदीय आदि, व्याकरण दर्शन के सभी, आधारभूत प्रमाणिक ग्रन्थों की पृष्ठिभूमि में प्रस्तुत करके आलोचनात्मक पद्धति से अधिकाधिक सरल बनया गया है। नैयायिकों तथा मीमांसकों के, पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किये गये, उन उन सिद्धान्तों के खण्डन के प्रसंग में इन आचार्यों तथा उनके मूल ग्रंथों के आवश्यक उद्धरणों एवं वचनों के द्वारा उनके मन्तव्यों को भी स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार परमलघुमंजूषा में चर्चित, उल्लिखित अथवा संकेतित सभी विषयों को,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



हिन्दी के माध्यम द्वारा अध्ययन करने वाले विद्वानों तथा छात्रों के लिये यथासम्भव सुगम एवं हृदयग्राही बनाया गया है। अज्ञानतावश अथवा प्रेस की असावधानी के कारण कुछ न्यूनतायें तथा अशुद्धियाँ अवश्य मिलेंगी। विद्वद्वृन्द उनका परिमार्जन करके उदारता पूर्वक मुझे अवश्यक मुझे क्षमा करेंगे।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येवाप्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

कुरुक्षेत्र
१०-१-७५

विद्वानों का परम विनीत
कपिलदेव

For Private and Personal Use Only

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# शक्ति-निरूपणम्

[मंगलाचरण]

शिवं नत्वा हि नागेशेनानिन्द्या परमा लघुः ।
वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषैषा विरच्यते ।।

नागेश के द्वारा, शिव को प्रणाम करके, निश्चित रूप से अनिन्दनीय, यह वैयाकरण-सिद्धान्त-परम-लघु-मंजूषा रची जाती है।

**शिवं नत्वा**—मंगलाचरण के इस अंश से यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ के लेखक श्री नागेश भट्ट भगवान् शिव के परम भक्त थे। इस ग्रन्थ के दो अन्य, बृहत् तथा बृहत्तर रूपों—वैयाकरण-सिद्धान्त-लघु-मंजूषा तथा वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा, (बृहत् मंजूषा)—के मंगलाचरणों में भी नागेश भट्ट ने भगवान् शिव की ही स्तुति की है। द्रष्टव्य—

**नागेशभट्टविदुषा नत्वा साम्बशिवं लघुः ।**
**वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषैषा विरच्यते ।।** (लम० पृ० १)
**नागेशभट्टविदुषा नत्वा साम्बं सदाशिवम् ।**
**वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषैषा विरच्यते ।।** (हस्तलेख, पत्र सं० १)

महाभाष्य की उद्द्योत टीका में नागेश ने भगवान् शिव तथा सरस्वती दोनों की आराधना की है :—

**नत्वा साम्बशिवं देवीं वागधिष्ठानिकां गुरुम् ।**
**भाष्यप्रदीपव्याख्यां कुर्वेऽहं तु यथामति ।।**
(महा०, भा० १, उद्द्योत टीका पृ० १)

इसी प्रकार परिभाषेन्दुशेखर में भी इस महावैयाकरण ने भगवान् साम्बशिव की ही स्तुति की है। द्रष्टव्य—

**नत्वा साम्बशिवं ब्रह्म नागेशः कुरुते सुधीः ।**
**बालानां सुखबोधाय परिभाषेन्दुशेखरम् ।।**

ऐसी धारणा है कि पाणिनि-सम्प्रदाय के प्रायः सभी आचार्य एवं व्याख्याता शैव थे। परम्परा के अनुसार स्वयं आचार्य पाणिनि भी भगवान् शिव के अनन्य उपासक थे तथा पाणिनीय व्याकरण के मूल आधार रूप १४ प्रत्याहार सूत्र, भगवान् शिव की परम अनुकम्पा के रूप में, उनके साक्षात् उपदेश द्वारा, आचार्य पाणिनि को सम्प्राप्त हुए थे। द्रष्टव्य—

**येनाक्षरसमाम्नायम् अधिगम्य महेश्वरात् ।**
**कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ।।**

(मनमोहन घोष सम्पादित पाणिनीय शिक्षा, ऋक् शाखीया, श्लोक, ५७ पृ० ४४)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसी दृष्टि से इन प्रत्याहार-सूत्रों का दूसरा नाम 'शिव-सूत्र' अथवा 'माहेश्वर-सूत्र' भी प्रसिद्ध हो गया। द्रष्टव्य—

नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपंचवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिकामान् एतद् विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

(नन्दिकेश्वरकृत काशिका, प्रथम श्लोक)

**परमा लघु-वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा**—परम उद्भट विद्वान् श्री नागेश भट्ट ने पाणिनीय-व्याकरण-शास्त्र के विविध सिद्धान्तों, मान्यताओं एवं तत्त्वों के गम्भीर दार्शनिक विवेचन, विश्लेषण एवं अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या की दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना द्वारा संस्कृत-व्याकरण के वाङ्मय को समृद्ध बनाया। लघु-शब्देन्दु-शेखर, परिभाषेन्दु-शेखर, वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा, स्फोटवाद, महाभाष्य-प्रत्याख्यान-संग्रह जैसे विशिष्ट ग्रन्थ इनकी असाधारण विद्वत्ता के उत्कृष्ट प्रमाण हैं। इनके अतिरिक्त महाभाष्य की कैयट-कृत प्रदीप टीका की विवेचना के रूप में नागेश ने अपनी उद्द्योत टीका प्रस्तुत की, जिसमें 'प्रदीप' की व्याख्या के साथ साथ महाभाष्य के अनेक रहस्यपूर्ण स्थलों की अच्छी व्याख्या उपलब्ध हो जाती है।

वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा व्याकरण दर्शन का एक परम प्रौढ़ ग्रन्थ कहा जा सकता है, जो केवल हस्तलेखों के रूप में कहीं २ उपलब्ध है। मञ्जूषा का यह बृहत् तथा प्रारम्भिक पाठ माना जाता है। नागेश ने अपने इस बृहत् ग्रन्थ को दो संक्षिप्त रूपों में प्रस्तुत किया—एक लघु-मंजूषा तथा दूसरी परम-लघु-मंजूषा। संभवतः वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा की रचना नागेश ने अपनी 'उद्द्योत' टीका की रचना से पूर्व कर ली थी। द्र०—**तत्र तु न शक्तिर् इति मंजूषायाम् प्रतिपादितम्**। (महा० उद्द्योत टीका, भा० १, पृ० ४६)

**[आठ प्रकार के 'स्फोट']**

तत्र वर्णपदवाक्यभेदेन स्फोटस्त्रिधा। तत्रापि जातिव्यक्ति-भेदेन पुनः षोढा। अखण्डपदस्फोटोऽखण्डवाक्यस्फोटश्चेति सङ्कलनया अष्टौ स्फोटाः।

वर्ण, पद तथा वाक्य (इन) भेदों के कारण 'स्फोट' (अर्थ-बोधक शब्द) तीन प्रकार का होता है। उनमें भी 'जाति' तथा 'व्यक्ति' की भिन्नता के कारण पुनः 'स्फोट' छः प्रकार का होता है। (इसके अतिरिक्त) 'अखण्ड-पद-स्फोट' तथा 'अखण्ड-वाक्य-स्फोट' इनके योग से 'स्फोट' आठ प्रकार का होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**स्फुटति प्रकाशते अभिव्यज्यते वाऽर्थोऽनेन अस्माद्वा** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस तत्त्व से अर्थ का प्रकाशन या अभिव्यक्ति होती है वह 'स्फोट' है। वैयाकरण विद्वान् सार्थक शब्द में दो तत्त्व मानते हैं—एक 'ध्वनि' तथा दूसरा 'स्फोट'। 'ध्वनि' को सावयव एवं विनाशी मानते हुए वैयाकरण उसे अर्थाभिव्यक्ति में असमर्थ मानते हैं। उनके अनुसार यह ध्वनि केवल 'स्फोट' को प्रकट कर देती है। उसके पश्चात् 'स्फोट' तत्त्व, या दूसरे शब्दों में 'ध्वनि' रूप शब्द की आत्मा, से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इस 'स्फोट' का दूसरा नाम 'शब्द' भी है। 'स्फोट' का विस्तृत वर्णन, प्रतिपादन एवं स्वरूप-विश्लेषण वाक्यपदीय के प्रथम (ब्रह्म अथवा आगम) काण्ड में शब्द-ब्रह्म के अद्वितीय द्रष्टा एवं असाधारण मनीषी भर्तृहरि ने बड़ी मार्मिक पद्धति से किया है। स्वयं नागेश भट्ट ने भी अपनी मंजूषा के तीनों ग्रन्थों में 'स्फोट' के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं तथा आचार्य भर्तृहरि का अनुगमन करते हुए शास्त्रीय प्रमाण तथा तर्कों की स्थिर भित्ति पर स्फोट की प्रतिष्ठापना एवं उसका स्वरूप-विवेचन किया है। 'स्फोट' की दृष्टि से यह ध्यान देने योग्य है कि वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा तथा वैयाकरण-सिद्धान्त-लघु-मंजूषा इन दोनों ग्रन्थों को हस्तलेखों में 'स्फोटवाद' कहा गया है। द्र०—**इति श्रीमदुपाध्यायोपनामक-सतीगर्भज-शिवभट्ट-सुत-नागेशभट्ट-कृतो वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषाख्यः स्फोटवादः**। यह पंक्ति लघु तथा बृहत् मंजूषा के प्रत्येक हस्तलेख में मिलती है।

यह 'स्फोट' वर्णों से अतिरिक्त तत्त्व होते हुए भी, वर्णरूप ध्वनियों से अभिव्यक्त हुआ करता है। इसलिये इसकी दूसरी व्युत्पत्ति की जाती है—**स्फुटति अभिव्यज्यते वर्णैरिति स्फोटः**। 'स्फोट' यद्यपि नित्य, निरंश एवं सर्वथा अविभाज्य तत्त्व है तथापि शब्दों के स्वरूप-ज्ञान के उपाय के रूप में अथवा तार्किक बुद्धि के संतोष के लिये कल्पना द्वारा 'स्फोट' में असत्य विभाग मान लिया जाता है। द्र०—

**उपायाः शिक्षमाणानां बालानाम् अपलालनाः।**
**असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥** वाप० २.२३८
**निर्भागेष्वभ्युपायो वा भागभेदप्रकल्पनम्॥** वाप० १.९२
**पंचकोशादिवत् तस्मात् कल्पनैषा समाश्रिता।**
**उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः॥** वैभूसा०, कारिका सं० ६८

वाचकता की दृष्टि से वर्ण, पद आदि विभिन्न रूपों में 'स्फोट' को स्वीकार किया गया है। इस कारण 'स्फोट' के वर्णस्फोट, पदस्फोट तथा वाक्यस्फोट ये प्रमुख भेद माने गये। ये भेद पुनः 'जाति' तथा 'व्यक्ति' की दृष्टि से दो दो प्रकार के होते हैं।

**'जाति' तथा 'व्यक्ति'**—शब्दार्थ अथवा पदार्थ का विश्लेषण करते हुए कुछ विद्वान् जाति को प्रधान मानते हैं तो कुछ विद्वान् 'व्यक्ति' को। मीमांसक विद्वान् प्रथम कोटि में रखे जा सकते हैं तथा नैयायिक द्वितीय कोटि में। 'जाति' का अभिप्राय है 'सामान्य' अथवा वह 'भाव' (सत्ता) जो अनेक व्यक्तियों में समान रूप से पाया जाता है। इस 'सामान्य' को ही व्याकरण के 'त्व' या 'तल्' प्रत्ययों द्वारा कहा जाता है। जैसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



सम्पूर्ण गौ व्यक्तियों में समान रूप से रहने वाले सामान्य भाव को 'गोत्व' कहा जाता है। यह 'जाति' नित्य एवं निरवयव मानी गयी है। दूसरी ओर 'व्यक्ति' का अभिप्राय है—'द्रव्य' या पृथक् पृथक् रूप से दिखाई देने वाला पदार्थ, जिसको दृष्टि में रख कर, 'यह है' इस प्रकार के, किसी विशिष्ट वस्तु का संकेत करने वाले, सर्वनामों का प्रयोग किया जाता है।

जातिवादियों की मान्यता यह है कि शब्द से पहले 'जाति' का ही बोध होता है परन्तु 'जाति' स्वतन्त्र रूप से, 'व्यक्ति' का आश्रयण किये बिना, रह नहीं सकती इसलिये 'जाति' के साथ 'व्यक्ति' का भी बोध बाद में शब्द से होता है। इनकी दृष्टि में आकृति ही वाचक है तथा आकृति ही वाच्य है—शब्दाकृति वाचक है तथा अर्थाकृति वाच्य है।

व्यक्तिवादियों का सिद्धान्त इसके विपरीत है। इनकी दृष्टि में शब्दाकृति से अर्थाकृति का बोध नहीं होता अपितु पृथक २ शब्दों से पृथक २ अर्थों (द्रव्यों अथवा व्यक्तियों) का बोध होता है। इनका एक तर्क यह है कि 'व्यक्ति' को शब्दार्थ मानने पर ही शब्दों के विभिन्न लिङ्गों तथा वचनों की सिद्धि हो पाती है। 'व्यक्ति' में 'जाति' अनिवार्य रूप से रहती ही है इसलिये, शब्द का अर्थ व्यक्ति मानने पर भी, 'व्यक्ति' के साथ साथ 'जाति' का भी बोध शब्द से होता ही है।

इस प्रकार यदि वर्ण, पद तथा वाक्य से, व्यक्ति पक्ष के अनुसार, 'वर्णव्यक्ति', 'पदव्यक्ति' तथा 'वाक्यव्यक्ति' का बोध माना जाय और उन्हें अर्थ का बोधक माना जाय तो 'वर्ण-व्यक्ति-स्फोट', 'पद-व्यक्ति-स्फोट' तथा 'वाक्य-व्यक्ति-स्फोट' ये भेद निष्पन्न होते हैं। परन्तु जातिपक्ष की दृष्टि से जब वर्ण, पद तथा वाक्य से वर्णाकृति, पदाकृति तथा वाक्याकृति का बोध अभिप्रेत माना जाय तथा उन्हें अर्थ का बोधक माना जाय तो 'वर्ण-जाति-स्फोट', 'पद-जाति-स्फोट' तथा 'वाक्य-जाति-स्फोट' ये तीन और भेद निष्पन्न होते हैं।

**वर्णस्फोट**—एक एक 'प्रकृति' तथा 'प्रत्यय' से पृथक २ अर्थ की प्रतीति होने के कारण 'प्रकृति' 'प्रत्यय' आदि रूप व्यक्ति की दृष्टि से 'वर्ण-व्यक्ति-स्फोट, तथा प्रकृति, प्रत्यय आदि में स्थित 'सामान्य' अथवा 'जाति' से अर्थ का बोध होता है—भिन्न २ प्रकृति, प्रत्यय आदि व्यक्तियों से नहीं—यह मानते हुए 'वर्ण-जाति-स्फोट' की कल्पना की गयी। यहां 'वर्णस्फोट' में 'सखण्ड-वर्ण-स्फोट', तथा 'अखण्ड-वर्ण-स्फोट' ये दोनों विभाग नहीं बनते, क्योंकि 'प्रकृति', 'प्रत्यय' आदि में विद्यमान वर्णों का पृथक् पृथक् कोई अर्थ नहीं माना जाता। जैसे 'अक' (ण्वुल्) प्रत्यय में 'अ' तथा 'क' वर्णों का अलग अलग कोई अर्थ नहीं है। दूसरे शब्दों में 'प्रकृति' 'प्रत्यय' आदि के अंशभूत वर्ण निरर्थक होते हैं।

**पदस्फोट**—'गौः', 'अश्वः' अथवा 'गच्छति', 'पठति' इत्यादि पद अर्थ-बोधक हैं तथा उनमें भिन्न भिन्न वर्णों की पृथक् पृथक् पारमार्थिक सत्ता नहीं है इस दृष्टि से 'पदस्फोट' की कल्पना की गयी। 'पदस्फोट' को तीन प्रकार का माना गया—'पद-जाति-स्फोट',

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'सखण्ड-पद-व्यक्ति-स्फोट' तथा 'अखण्ड-पद-व्यक्ति-स्फोट'। जातिपक्ष की दृष्टि से पद-जाति-स्फोट की कल्पना की गयी। 'जाति' अखण्ड तथा अविभाज्य होती है इसलिये, खण्ड न माने जाने के कारण, उसमें सखण्ड तथा अखण्ड ये भेद नहीं बन पाते। परन्तु दूसरी ओर, व्यक्तिपक्ष में पदव्यक्ति में सखण्डता तथा अखण्डता की कल्पना की जा सकती है इसलिये, 'सखण्ड-पद-व्यक्ति-स्फोट' तथा 'अखण्ड-पद-व्यक्ति-स्फोट' ये भेद बन जाते हैं।

**वाक्यस्फोट**—'देवदत्तः पुस्तकं पठति' इत्यादि वाक्यों में 'देवदत्तः' आदि भिन्न भिन्न पदों की पृथक् सत्ता न मानकर पूरे वाक्य को वैयाकरण पारमार्थिक रूप में एक मानता है। इस दृष्टि से अखण्ड वाक्य को अखण्ड वाक्यार्थ का बोधक मानते हुए 'वाक्यस्फोट' की कल्पना की गयी। इसे भी तीन प्रकार का माना गया—'वाक्य-जाति-स्फोट', 'सखण्ड-वाक्य-व्यक्ति-स्फोट' तथा 'अखण्ड-वाक्य-व्यक्ति-स्फोट'। यहां भी 'जाति' की अखण्डता के कारण ही उसमें सखण्ड तथा अखण्ड भेद नहीं किये जाते। परन्तु व्यक्तिपक्ष की दृष्टि से वाक्य रूप व्यक्ति में सखण्ड तथा अखण्ड ये भेद हो सकते हैं, इसलिये 'सखण्ड-वाक्य व्यक्ति-स्फोट' तथा 'अखण्ड-वाक्य-व्यक्ति-स्फोट' की कल्पना की गयी। स्फोट के इन आठ भेदों को नीचे चार्ट में स्पष्ट किया गया है।

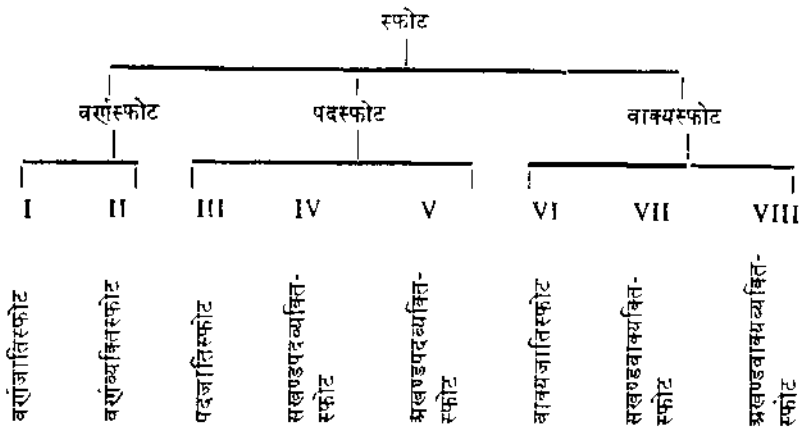


**[आठ प्रकार के स्फोटों में 'वाक्यस्फोट' की प्रमुखता]**

तत्र वाक्यस्फोटो मुख्यः, तस्यैव लोकेऽर्थबोधकत्वात् तेनैवार्थसमाप्तेश्चेति। तदाह **न्यायभाष्यकार :—पदसमूहो वाक्यम् अर्थ-समाप्तौ** (न्यायसूत्र, वात्स्यायनभाष्य, १.५५) इति। अस्य 'समर्थम्' इति शेषः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



उन (आठ प्रकार के स्फोटों) में वाक्य-स्फोट ही प्रमुख है। क्योंकि लोक में वही अर्थ का बोधक होता है तथा उससे ही अर्थ का अवसान (अर्थ का निरपेक्ष ज्ञान) भी होता है। जैसा कि न्यायभाष्यकार (वात्स्यायन) ने कहा है– "अर्थ की समाप्ति (निराकांक्ष ज्ञान) में (समर्थ) पद-समूह का नाम वाक्य है"। इस (न्यायभाष्यकार के कथन) में 'समर्थम्' यह (पद) शेष है।

**वाक्यस्फोटो मुख्यः**—वाक्य से ही लोक में निराकांक्ष रूप से अर्थ का ज्ञान होता है—पद से नहीं। इस कारण 'वाक्यस्फोट' को ही वैयाकरण प्रमुख स्फोट मानते हैं। वाक्य से जो अर्थ का बोध होता है वह निराकांक्ष होता है—पदों से उस प्रकार का, निराकांक्ष रूप से, अर्थ का बोध नहीं होता। इस तथ्य का स्पष्टीकरण भर्तृहरि ने, वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में वाक्य की मीमांसक विद्वानों द्वारा सम्मत परिभाषा को प्रस्तुत करते हुए, निम्न कारिका में किया है :—

**सकांक्षावयवं भेदे परानाकांक्षशब्दकम्।**
**कर्मप्रधानं गुणवद् एकार्थं वाक्यम् उच्यते॥** २.८

इस कारिका का अभिप्राय यह है कि पदों के रूप में विभाग करने पर जिसके अवयव, अर्थ की दृष्टि से, साकांक्ष रहते हैं, परन्तु अविभक्त रूप में पूरे समुदाय के उपस्थित होने पर जिसमें शब्द किसी अन्य शब्द की अपेक्षा नहीं करते, ऐसा क्रिया-प्रधान, विशेषण पद से युक्त तथा एक प्रयोजन वाला पद-समूह वाक्य कहा जाता है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'परानाकाङ्क्ष-शब्दकम्' यह विशेषण विशेष महत्त्व का है। इस तथ्य का उल्लेख पुनः भर्तृहरि ने इसी काण्ड की एक और कारिका में किया है :—

**तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकांक्षस्य सर्वतः।**
**शब्दान्तरैः समाख्यानं साकांक्षैरनुगम्यते॥** २.९

अर्थात्—वाक्य वस्तुतः एक एवं सर्वथा निराकांक्ष होता है। उस एक एवं किसी भी अन्य शब्द की अपेक्षा न करने वाले वाक्य का, साकांक्ष पदों के रूप में विभाजन कर के उन उन, पदों द्वारा अन्वाख्यान किया जाता है।

यहां तुलना के लिये मीमांसा दर्शन (२.१.४६) का **अर्थैक्याद् एकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्** यह सूत्र द्रष्टव्य है जिसमें उपस्थापित वाक्य-सम्बन्धी परिभाषा में भी 'वाक्य से निराकांक्ष अर्थ-ज्ञान होता है' यह बात स्वीकार की गयी है।

वस्तुतः वाक्य-रचना में ऐसा पद-समूह अपेक्षित है जिसमें से यदि किसी भी एक पद या किन्हीं अनेक पदों का उच्चारण न किया जाय तो वाक्य के अन्य पद साकांक्ष रहें। पर यदि उस वाक्य का सम्पूर्ण पद-समूह या पूरा वाक्य एक साथ उच्चरित हो जाय तो फिर वह पद-समूह किसी भी अन्य पद की आकांक्षा न रखे। जैसे—'रामो भोजनाय गृहं गच्छति' इस वाक्य के पदों को पृथक् २ कहा जाय तो वे सभी साकांक्ष बने रहेंगे—उन से निराकांक्ष रूप से अर्थ का ज्ञान नहीं होगा। पर पूरे वाक्य को कह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



देने से अर्थ-विषयक आकांक्षा समाप्त हो जाती है। यदि किसी पद-समूह के उच्चरित हो जाने पर भी अर्थ-विषयक आकांक्षा समाप्त नहीं होती तो उस पद-समूह को वाक्य नहीं माना जा सकता।

इसीलिये न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन ने भी उसी पद-समूह को वाक्य माना जो 'अर्थ-समाप्ति' (अर्थ के निराकांक्ष ज्ञान) में समर्थ हो। यहां नागेश की पंक्ति में विद्यमान 'अस्य' पद का अभिप्राय है—**पदसमूहो वाक्यम् अर्थसमाप्तौ** यह वाक्य। इस वाक्य में 'समर्थम्' पद शेष है—कहा नहीं गया है। अतः स्पष्टता की दृष्टि से इसका अध्याहार कर लेना चाहिये। इस रूप में वात्स्यायन की वाक्य-सम्बन्धी परिभाषा होगी—**पदसमूहो वाक्यम् अर्थसमाप्तौ समर्थम्**। अथवा 'अस्य' का अभिप्राय 'अर्थ-समाप्तौ' यह पद भी हो सकता है। दोनों स्थितियों में अभिप्राय यही होगा कि—अर्थ के निराकांक्ष बोधन में समर्थ, अथवा सशक्त, पदसमूह को वाक्य कहते हैं। दूसरे विकल्प की दृष्टि से लघुमंजूषा (पृ० १) का '**समाप्तौ' इत्यस्य 'समर्थम्' इति शेषः** अंश द्रष्टव्य है।

**[वाक्य-स्फोट के स्वरूप-बोधन के लिये प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना]**

> तत्र प्रतिवाक्यं संकेतग्रहासम्भवाद् वाक्यान्वाख्यानस्य लघूपायेन अशक्यत्वाच्च कल्पनया **पदानि** प्रविभज्य पदे **प्रकृतिप्रत्ययभागान्** प्रविभज्य कल्पिताभ्याम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्तदर्थविभागं शास्त्रमात्रविषयं परिकल्पयन्ति **स्माचार्याः**।

वहाँ (वाक्य-स्फोट के प्रमुख होने पर भी) प्रत्येक वाक्य में संकेत (वाच्य वाचक-सम्बन्ध) के ज्ञान के असम्भव होने तथा लघु उपाय द्वारा वाक्य का अन्वाख्यान न हो सकने के कारण कल्पना से (वाक्य में) पदों का विभाग तथा पद में प्रकृति और प्रत्यय रूप अवयवों का विभाजन करके, कल्पित 'अन्वय' 'व्यतिरेक' के आधार पर, उन उन पदों तथा उन उन 'प्रकृतियों' और 'प्रत्ययों' के अलग अलग अर्थों की, जो केवल (व्याकरण) शास्त्र का ही विषय हैं, परिकल्पना (पाणिनि आदि) आचार्यों ने की है।

वाक्य-स्फोट के प्रमुख एवं एकमात्र सत्य होने पर भी वैयाकरण वाक्यों का पदों में तथा पदों का 'प्रकृति', 'प्रत्यय' के रूप में विभाग क्यों करते हैं, इस प्रश्न का उत्तर यहां यह दिया गया है कि प्रत्येक वाक्य में पूरे वाक्य की दृष्टि से वाच्य-वाचक-सम्बन्ध का बोध कराना असम्भव है। साथ ही यदि उस तरह का प्रयास किया गया तो भी वह सरल उपाय द्वारा शक्य नहीं है। इसलिये वाक्य का पदों में तथा पदों का 'प्रकृति' एवं 'प्रत्यय' रूप अवयवों में काल्पनिक विभाग किया जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**कल्पिताभ्याम् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्**—'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक' की परिभाषा की गयी है—**यत् सत्त्वे यत् सत्त्वम् अन्वयः। यद्-अभावे यद्-अभावो व्यतिरेकः**। अर्थात् जिसके होने पर जो हो वह, 'अन्वय' है तथा जिसके न होने पर जो न हो वह व्यतिरेक' है। पतंजलि ने **सिद्धं त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम्** (महा० १.२.४५) इस वार्तिक के व्याख्यान में 'अन्वय', 'व्यतिरेक' का अर्थ, उदाहरण सहित, निम्न पंक्तियों में स्पष्ट किया है :—**इह 'वृक्षः' इत्युक्ते कश्चित्, छब्दः श्रूयते अकारान्तः सकारश्च प्रत्ययः। अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते—मूलस्कन्धफलपलाशवान्. एकत्वं च। 'वृक्षौ' इत्युक्ते कश्चित् छब्दो हीयते, कश्चिद् उपजायते, कश्चिद् अन्वयी। सकारो हीयते, औकार उपजायते, वृक्षशब्दो अकारान्तोऽन्वयी। अर्थोऽपि कश्चिद् होयते, कश्चिद् उपजायते, कश्चिद् अन्वयी, एकत्वं हीयते, द्वित्वम् उपजायते, मूलस्कन्धफलपलाशवान् अन्वयी। तेन मन्यामहे यः शब्दो हीयते तस्य असौ अर्थो यो हीयते। यः शब्द उपजायते तस्य असौ अर्थो योऽर्थ उपजायते। यः शब्दोऽन्वयी तस्य असौ अर्थो यो अर्थेन अन्वेति।**

*अभिप्राय यह है कि 'वृक्षः' कहने पर अकारान्त वृक्ष शब्द सुनाई देता है तथा सु' प्रत्यय की स्थिति का ज्ञान होता है। इसी प्रकार इस शब्द के सुनने से मूल, स्कन्ध, फल तथा पत्ते वाले एक द्रव्य रूप अर्थ का बोध होता है। परन्तु 'वृक्षौ' कहने पर कुछ शब्दांश छूट जाता है, कुछ बढ़ जाता है तथा कुछ साथ साथ लगा रहता है। 'सु' प्रत्यय नष्ट हो जाता है, 'औ' प्रत्यय आ जाता है। तथा अकारान्त 'वृक्ष' शब्द अन्वित रहता है—लगा रहता है। इस कारण एकत्व रूप अर्थ नष्ट हो जाता है, द्वित्व रूप अर्थ बढ़ जाता है तथा 'मूल, शाखा, फल तथा पत्तों वाला द्रव्य' यह अर्थ अन्वित रहता है। इसलिये यह मानना चाहिये कि जो शब्दांश नष्ट होता है उसका वह अर्थ है जो नष्ट होता है, जो शब्दांश बढ़ जाता है उसका वह अर्थ है जो बढ़ जाता है तथा जो शब्दांश अन्वित रहता है उसका वह अर्थ है जो अन्वित रहता है।*

इस प्रकार पतंजलि ने भी 'अन्वय' 'व्यतिरेक' को अर्थ के निश्चय करने में प्रमाण माना हैं। भर्तृहरि भी इन दोनों को अर्थ का निश्चायक अथवा विवेचक मानते हैं। द्र०—**अन्वयव्यतिरेकौ तु व्यवहारे निबन्धनम्।** (वाप० २.१२)

'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक' को स्पष्ट करने के लिये एक और उदाहरण दिया जाता है। 'गाम् आनय' इस वाक्य में 'गौ' शब्द के उच्चरित होने पर ही सास्ना आदि से युक्त पदार्थ (गौ) का बोध होता है। यह 'अन्वय' हुआ। जब 'गौ' शब्द का उच्चारण नहीं किया जाता तब वह अर्थ नहीं ज्ञात होता। यह हुआ 'व्यतिरेक'। इसी प्रकार इस शब्द के साथ 'अम्' विभक्ति का प्रयोग होने पर ही 'कर्मत्व' रूप अर्थ का ज्ञान होता है—यह 'अन्वय' है, तथा 'अम्' का उच्चारण न होने पर उस अर्थ का ज्ञान नहीं होता—यह 'व्यतिरेक' है। वैयाकरणों की दृष्टि में 'प्रकृति', 'प्रत्यय' का विभाग कल्पित है इसलिये उनके आधार पर होने वाले 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक' भी कल्पित हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**शास्त्रमात्रविषयम्**—इस अंश का अभिप्राय यह है कि केवल व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से ही, अर्थात् शब्दों के साधु स्वरूप को जानने तथा उसके लिये शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया के निर्वाहार्थ ही, पदों में 'प्रकृति' तथा 'प्रत्यय' रूप अंशों तथा उनके अर्थों की कल्पना की गयी। द्र०—**अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतिप्रत्ययानाम् इह शास्त्रेऽर्थवत्ता-परिकल्पनात्** (महा०, प्रदीप टीका ५.३.६८, पृ० ४७१)।

वाक्यों में पदों की सत्ता तथा पदों में 'प्रकृति' 'प्रत्यय' की सत्ता सर्वथा काल्पनिक एवं कृत्रिम है। अतः, इन विभागों के कल्पित होने के कारण, इनके आधार पर किया गया अर्थ-विभाग, अर्थात् पदों के पृथक् २ अर्थ तथा 'प्रकृतियों' और 'प्रत्ययों' के अलग २ अर्थ, सभी कल्पित हैं। इस तथ्य का भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से वहां की निम्न कारिकायें द्रष्टव्य हैं :—

**पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।**
**वाक्यात् पदानाम् अत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥** १.७३

पदों में वर्ण (सत्य) नहीं हैं तथा वर्णों में उनके अवयव (सत्य) नहीं हैं। इसी प्रकार वाक्य से पदों का आत्यन्तिक विभाग भी (संभव) नहीं है।

**यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः।**
**अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानाम् उपवर्ण्यते॥** २.१०

जिस प्रकार एक पद में 'प्रकृति', 'प्रत्यय' आदि का (असत्य) विभाग किया जाता है उसी प्रकार (अखण्ड) वाक्य में (कल्पित) पदों के विभाग का अन्वाख्यान होता है।

**भागैर् अनर्थकैर् युक्ता वृषभोदकयावकाः।**
**अन्वयव्यतिरेकौ तु व्यवहारनिबन्धनम्॥** २.१२

'वृषभ', 'उदक', 'यावक' आदि शब्द अनर्थक भागों (ऋषभ, उद, याव आदि) से युक्त हैं। 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक' (उस प्रकृति तथा प्रत्यय के होने पर पद की व्युत्पत्ति और न होने पर व्युत्पत्ति का अभाव) तो (शब्द की व्युत्पत्ति रूप) व्यवहार के निमित्त (या उपायमात्र) हैं।

जिस प्रकार वाक्यों एवं पदों का विभाग असत्य है उसी प्रकार वाक्यार्थ-विभाग तथा पदार्थ-विभाग भी कल्पित हैं। द्रष्टव्य :—

**शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति।**
**विभागैः प्रक्रिया-भेदम् अविद्वान् प्रतिपद्यते॥** २.१३

(अखण्ड) शब्द (वाक्य) का विभाग (सत्य) नहीं है, फिर उसके अर्थ में क्यों विभाग होगा (वाक्य में कल्पित पद आदि के) विभागों से (उत्पन्न) अर्थ की भिन्नता को अविद्वान् ही सत्य मानते हैं (विद्वान् सत्य नहीं मानते)।

**ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मण-कम्बले।**
**देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युर् अनर्थकाः॥** २.१४

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



जिस प्रकार 'ब्राह्मण-कम्बलः' (इस समास-युक्त पद) में 'ब्राह्मण' शब्द का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं है उसी प्रकार ('देवदत्त ! गाम् आनय' जैसे) वाक्य में 'देवदत्त' आदि (पद) अनर्थक हैं

भर्तृहरि की इन विभिन्न कारिकाओं में 'एकमात्र वाक्य-स्फोट' की ही सत्यता एवं प्रमुखता प्रतिपादित की गई है।

**['वर्ण-स्फोट' को मानने की आवश्यकता तथा 'स्थानी' और 'आदेश' की वाचकता के विषय में विचार]**

शास्त्र-प्रक्रिया-निर्वाहको वर्ण-स्फोटः। 'प्रकृति-प्रत्ययास् तत्तदर्थ-वाचकाः'[1] इति तदर्थः। उपसर्गनिपातधात्वादि-विभागोऽपि काल्पनिकः। स्थानिनो लादयः, आदेशास् तिबादयः कल्पिता एव। तत्र[2] **ऋषिभिः** स्थानिनां कल्पिता अर्थाः कण्ठरवेणैव उक्ताः। आदेशानां तु[3] **स्थान्यर्थाभिधान-समर्थस्यैवादेशता**[4] इति **भाष्यन्यायात्**[5] ते अर्थाः। एवं च 'स्थानिनां वाचकत्वम् आदेशानां वा' इति विचारो निष्फल एव, कल्पित-वाचकत्वस्य उभयत्र सत्त्वात्। मुख्यं वाचकत्वं तु कल्पनया बोधितसमुदायरूपे पदे वाक्ये वा। लोकानां तत एवार्थबोधात्।

उन (स्फोटों) में 'वर्ण-स्फोट' (केवल) व्याकरण-शास्त्र की प्रक्रिया के निर्वाह के लिये ही (माना गया) है। 'प्रकृति' तथा 'प्रत्यय' उन उन अर्थों के वाचक हैं, यह 'वर्ण-स्फोट' का अभिप्राय है। उपसर्ग, निपात, तथा धातु आदि (आगम, आदेश, विकरण) का विभाग भी काल्पनिक ही है। स्थानी 'ल' (लकार) आदि तथा आदेश 'तिप्' आदि कल्पित ही हैं। उन (स्थानी तथा आदेश) में (पाणिनि आदि) ऋषियों ने स्थानियों ('ल' आदि) के अर्थ (साक्षात् अपने) शब्दों ("लः **कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः**," पा० ३.४.६९, आदि

१. प्रकाशित संस्करणों में 'वाचका एव'।

२. हस्त० में अनुपलब्ध।

३. हस्त० 'च'।

४. हस्त० 'आदेशत्वम्'।

५. प्रकाशित संस्करणों में 'भाष्यात्' पाठ है। उद्धृत पंक्ति महाभाष्य में नहीं मिलती। अतः 'भाष्यात्' की अपेक्षा 'भाष्यन्यायात्' पाठ अधिक उपयुक्त है क्योंकि महाभाष्य में इस आशय का कथन विद्यमान है (द्र० व्याख्या)। साथ ही सभी हस्तलेखों में 'भाष्यन्यायात्' पाठ ही मिलता है। लघुमंजूषा में भी यहां केवल 'न्यायात्' पाठ है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



सूत्रों) द्वारा कहे हैं। "स्थानी के अर्थ को कहने में समर्थ (आदेश) की ही आदेशता (मानी जाती) है" इस भाष्य-प्रतिपादित न्याय के आधार पर, 'आदेशों' के तो वे वे अर्थ, (जो 'स्थानी' के हैं), स्वतः होते हैं। इस प्रकार "अर्थ की वाचकता 'स्थानी' में है अथवा 'आदेश' में" यह विचार करना व्यर्थ है। क्योंकि ('स्थानी' तथा 'आदेश') दोनों में ही कल्पित वाचकता है (सत्य नहीं है)। मुख्य वाचकता तो कल्पना से बोधित ('प्रकृति' 'प्रत्यय' के) समुदाय रूप पद तथा (पदों के समुदाय रूप) वाक्य में ही है।

**तत्र शास्त्र-प्रक्रिया-निर्वाहको वर्ण-स्फोटः** कुछ विद्वान 'पद-स्फोट' को सत्य मानते हैं तथा 'वर्ण-स्फोट' को असत्य मानते हैं। परन्तु भर्तृहरि आदि प्रमुख वैयाकरण केवल 'वाक्य-स्फोट' को ही सत्य मानते हैं तथा 'पद-स्फोट' और 'वर्ण-स्फोट' इन दोनों को ही असत्य मानते हैं। इस प्रकार जहां तक 'वर्ण-स्फोट' का सम्बन्ध है, उसे दोनों ही असत्य मानते हैं। परन्तु असत्य होते हुए भी, शब्द-स्वरूप के ज्ञान तथा व्याकरण-शास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार शब्द की सिद्धि अथवा निष्पत्ति के लिये ही, वर्ण-स्फोट की कल्पना को स्वीकार किया जाता है।

'वर्ण-स्फोट' का अभिप्राय यह है कि पदों में 'प्रकृति प्रत्यय' आदि का जो विभाग किया जाता है वे वर्ण रूप विभाग अथवा अंश भी उन उन अभीष्ट अर्थों के बोधक हैं। यहां 'वर्ण-स्फोट' शब्द में विद्यमान 'वर्ण' पद का अर्थ है पदों के अवयवभूत 'प्रकृति' 'प्रत्यय' आदि। 'वर्ण-स्फोट' की स्थिति जिस प्रकार काल्पनिक है उसी प्रकार उपसर्ग निपात, धातु आदि का विभाग भी सर्वथा काल्पनिक है। न केवल इतना ही अपितु 'लकार' आदि स्थानी तथा उनके स्थान पर होने वाले 'तिप्' आदि आदेश, जो "**लस्य**" (पा० ३.४.७७) तथा "**तिप्तस्झि०**" (पा० ३.४.७८) आदि सूत्रों द्वारा विहित हैं, सभी कल्पित ही हैं। व्याकरण शास्त्र में शब्दों की सिद्धि दर्शाने के हेतु ये प्रकृति, प्रत्यय, स्थानी, आदेश, आगम, लोप, विकरण आदि की जो जो बातें हैं वे सब निरी कल्पनायें हैं—विद्यार्थियों को शब्दों के यथार्थ स्वरूप-ज्ञान कराने के लिये असत्य उपाय के रूप में उन सबका आविष्कार पाणिनि आदि ऋषियों ने किया है।

**स्थानिनां वाचकत्वम् आदेशानां वा**—'लकार' ('लट्', 'लिट्', 'लोट्' आदि) जिन्हें 'स्थानी' कहा जाता है उन्हें 'वर्तमान काल' आदि अर्थों का वाचक माना जाय अथवा 'लकारों' के स्थान पर आने वाले 'तिप्' आदि आदेशों को उन उन अर्थों का वाचक माना जाय? इन दो पक्षों में नैयायिकों का मत यह है कि 'लकार' आदि 'स्थानी' ही वाचक हैं—'तिप्' आदि 'आदेश' वाचक नहीं हैं। परन्तु वैयाकरणों में भट्टोजि दीक्षित तथा उनके अनुयायी कौण्डभट्ट का मत यह है कि 'तिप्' आदि 'आदेश' ही वाचक हैं। दोनों तरह के इन दार्शनिकों ने अपने अपने मतों की पुष्टि में विविध युक्तियां प्रस्तुत की हैं जिन्हें वैयाकरणभूषण (पृ० ४५८-६८) तथा उसकी टीकाओं में देखा जा सकता है। इस विषय में आगे 'दशलकारादेशार्थः' के प्रकरण में कुछ विस्तार से विचार किया जायगा।

नैयायिक विद्वानों तथा भट्टोजि दीक्षित आदि के द्वारा चलाये गये इस विवाद की ओर ही नागेश ने यहां संकेत किया है। नागेश की दृष्टि में इस प्रकार के विवाद सर्वथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



निष्फल हैं क्योंकि वास्तविक वाचकता तो इन दोनों में से किसी में भी नहीं है—वह तो पदस्फोट-वादियों की दृष्टि से पदों तथा वाक्यस्फोट-वादियों की दृष्टि से केवल वाक्यों में ही हो सकती है।

नागेश की यहां की पंक्तियों से यह अर्थ निकलता है कि यदि वाचकता माननी ही है तो 'स्थानी' की ही मानी जा सकती है 'आदेश' की नहीं। क्यों कि 'ल' आदि 'स्थानियों' की वाचकता को तो पाणिनि आदि ऋषियों ने साक्षात् अपने सूत्रों द्वारा स्वीकार किया है। जैसे—पाणिनि ने "**लः कर्मणि०**" सूत्र में यह माना कि 'कर्ता; 'कर्म' तथा 'भाव' ये 'स्थानी' (लकार) के अर्थ है, 'तिप्' आदि आदेशों के नहीं। और 'आदेश' का तो अपना कोई अर्थ होता ही नहीं क्योंकि 'स्थानी' के स्थान पर वही 'आदेश' आ सकता है जो उस 'स्थानी' के अर्थ को कहने में समर्थ हो। इसलिए यदि अर्थ का काल्पनिक विभाग किया ही जाता है तो 'स्थानी' को अर्थवान् मानना चाहिये 'आदेश' को नहीं।

इस प्रकार यहां से यह प्रतीत होता है कि नागेश यहां नैयायिकों के मत का, कि 'स्थानी वाचक होता है आदेश नहीं, कथंचित् समर्थन कर रहे हैं, भले ही वह काल्पनिक वाचकता की दृष्टि से ही हो। परन्तु आगे, इस ग्रन्थ के 'दशलकारादेशार्थः' प्रकरण के प्रारम्भ में, संभवतः भट्टोजि दीक्षित से प्रभावित होकर, नागेश भट्ट ने लकार के स्थान में आदेशभूत 'तिङ्' को अर्थ का वाचक माना है तथा उनके विषय में विचार किया है। साथ ही यह भी कहा है कि 'आदेश' के अर्थों का 'स्थानी' में आरोप करके पाणिनि ने '**वर्तमाने लट्**' (पा० ३.२.१२३) तथा 'लः **कर्मणि०**' (पा० ३.४.६९) आदि सूत्रों की रचना की, अर्थात् पाणिनि 'स्थानी' को अर्थ का वाचक नहीं मानते—'आदेश' को अर्थ का वाचक मानते हैं।

**"स्थान्यर्थाभिधान-समर्थस्यैवादेशता" इति भाष्य-न्यायात्**—पतंजलि के महाभाष्य में इस प्रकार के किसी न्याय का इन्हीं शब्दों में कहीं कथन नहीं मिलता। इतना अवश्य है कि '**स्थानेऽन्तरमः**" (पा० १.१.४८) सूत्र के महाभाष्य में 'स्थानी' के स्थान पर आने वाले 'आदेश' की अन्तरतमता को '**अन्तरम्' वचनं चाशिष्यम्। योगश्चाप्ययम् अशिष्यः। कुतः ? स्वभाव-सिद्धत्वाद् एव**' (महा०. भा० १ पृ० ४०२) इन शब्दों द्वारा स्वभाव-सिद्ध बताया है। संभवतः 'भाष्य-न्याय' शब्द से नागेश का तात्पर्य इन पंक्तियों से ही हो।

उपर्युक्त न्याय का अभिप्राय यह है कि आदेश वही हो सकता है जो "स्थानी' के अर्थ को कहने में सर्वथा समर्थ हो। वस्तुतः पाणिनि का "**स्थानेऽन्तरमः**" सूत्र इस न्याय का मूल माना जा सकता है, क्योंकि उस सूत्र का अर्थ है—"स्थानी, के स्थान पर अन्तरतम अर्थात् सदृशतम 'आदेश' होता है"। यह सदृशतमता चार दृष्टियों से देखी जा सकती है—स्थान, अर्थ, गुण तथा प्रमाण (द्र० काशिका १.१.५०)। इन चारों में 'अर्थ' (अभिप्राय) भी विद्यमान है। इसलिये जो 'आदेश' 'स्थानी' के अर्थ को कहने में, 'स्थानी' के समान ही, समर्थ होगा, उसे ही 'आदेश' माना जा सकता है। इस कारण 'आदेश' 'स्थानी' के अर्थों को ही कहते हैं—उनका अपना कोई अर्थ नहीं होता।

**मुख्यं वाचकत्वम्...तत एवार्थ-बोधात्**—नैयायिकों के मतानुसार चाहे 'स्थानी' को वाचक माना जाय अथवा, भट्टोजि दीक्षित आदि के विचारानुसार, 'आदेश' को वाचक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



माना जाय—दोनों ही स्थितियों में वह वाचकता सत्य या वास्तविक न होकर कल्पित ही है। वास्तविक वाचकता तो 'पदस्फोट' को शब्द-तत्त्व मानने वाले विद्वानों के मत में पद में रहा करती है न कि उनके अवयवभूत 'स्थानी' या 'आदेश' में। तथा अन्य भर्तृहरि आदि मूर्धन्य वैयाकरणों की दृष्टि में, जो एकमात्र 'वाक्य-स्फोट' को ही सत्य मानते हैं और 'पदस्फोट' तथा 'वर्ण-स्फोट' दोनों को ही असत्य मानते हैं, केवल वाक्य में ही वाचकता शक्ति रहती है। पद अथवा पदों के अवयव 'स्थानी' या 'आदेश' आदि में तो कल्पित अथवा असत्य वाचकता ही मानी जा सकती है।

वस्तुतः वैयाकरण विद्वानों के भी दो वर्ग हैं—एक 'पदस्फोट' को सत्य मानता है तो दूसरा केवल 'वाक्यस्फोट' को ही अर्थ का बोधक मानता है। इन दोनों मतों का निर्देश कैयट तथा नागेश ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक की टीका में बड़े स्पष्ट रूप से निम्न शब्दों में किया है :—**अन्ये वर्ण-व्यतिरिक्तं पद-स्फोटम् इच्छन्ति। वाक्य-स्फोटम् अपरे संगिरन्ते** (प्रदीप)। **'अन्ये'—वैयाकरणः। 'अपरे'— त एव मुख्याः। पदे वर्णानाम् इव वाक्ये पदानां कल्पितत्वात्। तेषाम् अर्थवत्त्वम् अपि काल्पनिकम्** —**इति वाक्यस्यैव शब्दत्वम् इति तद्-भावः** (उद्द्योत, महा०. भाग १, पृ० ४६)।

भट्टोजि दीक्षित ने भी—**वाक्य-स्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मत-स्थितिः** (वैभूसा, पृ० ४५७ पर उद्धृत) इस कारिकांश में एकमात्र 'वाक्य-स्फोट' की सत्यता को ही प्रति-पादित किया है।

**[व्याकरण-भेद से 'स्थानी' आदि के भिन्न-भिन्न होने पर भी शब्द से अर्थ का बोध होने में कोई क्षति नहीं होती]**

"**उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः**" (वैभूसा० कारिका सं० ६८) इति **न्यायेन** व्याकरणभेदेन स्थानि-भेदेऽपि न क्षतिः, देशभेदेन लिपिभेदवद् इति दिक्।

"ज्ञातव्य के ज्ञान के लिये उपाय अनिश्चित होते हैं" इस न्याय के अनुसार जिस प्रकार स्थान, देश आदि के भिन्न होने से लिपि के भिन्न होने पर भी अर्थ-प्रतिपादन में कोई क्षति नहीं होती उसी प्रकार, व्याकरण के भेद से 'स्थानी' के भिन्न होने पर भी (अर्थ-बोधन में) कोई क्षति नहीं होती।

यहां नागेश ने जिस कारिका का उत्तरार्ध उद्धृत किया है वह पूरी कारिका निम्न रूप में है :—

"**पंचकोशादिवत् तस्मात् कल्पनैषा समाश्रिता।**
**उपेय-प्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः॥** (वैभूसा०, का० सं० ६८)

इस कारिका में तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली (अनुवाक २-५) में वर्णित पंचकोशों की ओर संकेत किया गया है। ये पाँच कोश हैं:—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय। इन कोशों की क्रमिक साधना से आत्मतत्त्व की सिद्धि होती है। यहाँ प्रत्येक कोश को, जो वस्तुतः ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म कह कर उसकी व्याख्या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



की गयी है। इन कोशों में पूर्व पूर्व की अपेक्षा बाद बाद वाला कोश श्रेष्ठतर एवं सूक्ष्मतर है। साधक की साधना अन्नमय कोश से प्रारम्भ होती है और आनन्दमय कोश पर उसकी निष्पत्ति होती है। आनन्दमय कोश की अनुभूति में साधक ब्रह्म-ज्ञानी हो जाता है।

कौण्ड भट्ट ने अपने वैयाकरणभूषण में तथा श्रीकृष्ण ने अपनी स्फोट-चन्द्रिका में ब्रह्म के रूप में कल्पित इन पांच कोशों की विस्तृत तुलना पाँच प्रकार के कल्पित स्फोटों—'वर्ण-स्फोट,' 'पद-स्फोट', 'वाक्य-स्फोट', 'अखण्ड-पद-वाक्य-स्फोट' तथा 'जाति-स्फोट'—से की है। इन विद्वानों के अनुसार इन स्फोटों में भी उत्तरोत्तर स्फोट श्रेष्ठतर एवं सूक्ष्मतर है। इस प्रकार 'वर्ण-स्फोट' की तुलना अन्नमय कोश से, पद-स्फोट' की प्राणमय कोश से, 'वाक्य-स्फोट' की मनोमय कोश से की गयी है। 'सखण्ड-वाक्य-स्फोट' की अपेक्षा 'अखण्ड-वाक्य-स्फोट' को सूक्ष्मतर एवं श्रेष्ठतर मानते हुए उसे विज्ञानमय कोश की समकक्षता में, तथा अन्तिम 'जाति-स्फोट' को 'अखण्ड-वाक्य-स्फोट' से भी सूक्ष्मतर एवं श्रेष्ठतर मानते हुए उसे आनन्दमय कोश की तुलना में प्रस्तुत किया गया है।

इस रूप में, जाति-वाक्य-स्फोट को अन्तिम सोपान मानते हुए उसके ज्ञान से नित्य, अनादि-निधन, एवं अक्षर शब्द-ब्रह्म का अनुभव होता है तथा इस प्रकार का साक्षात् ज्ञान होता है कि यह सब ब्रह्माण्ड उसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म शब्द ब्रह्म का स्थूल शरीर अथवा रूप है। इस परम सूक्ष्म तत्त्व शब्द-ब्रह्म के अतिरिक्त भर्तृहरि आदि शब्द-मनीषी वैयाकरण किसी भी अन्य तत्त्व को वास्तविक अथवा परमार्थ भूत तत्त्व नहीं मानते। तैत्तिरीयोपनिषद् के ऋषि ने भी आनन्दमय कोश से सिद्ध होने वाले ब्रह्म को ही एकमात्र पर ब्रह्म अथवा अन्तिम तत्त्व माना है।

तो जिस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् में वास्तविक ब्रह्म के ज्ञापन के लिये भृगु के पिता वारुणि ने भृगु को ब्रह्म का उपदेश करते हुए उपरिनिर्दिष्ट पाँच कोशों को, जो परमार्थतः ब्रह्म नहीं थे, ब्रह्म-ज्ञान के उपाय के रूप में उन्हें ब्रह्म बताते हुए उनका उपदेश किया, उसी प्रकार शब्दों का अनुशासन करते हुए पाणिनि ने अखण्ड-नित्य-स्फोट-रूप पद अथवा वाक्य की वाचकता के उपपादन एवं ज्ञापन के लिये उपाय के रूप में इन 'प्रकृति', 'प्रत्यय' आदि की तथा उनकी वाचकता की असत्य कल्पना का उपदेश किया या दूसरे शब्दों में 'वर्ण-स्फोट' आदि की कल्पना को स्वीकार किया। इसीलिये भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में पूरे व्याकरण-शास्त्र को ही असत्य एवं उपाय मात्र तथा अविद्या घोषित किया है। द्रष्टव्य :—

**शास्त्रेषु प्रक्रिया-भेदैर् अविद्यैवोपवर्ण्यते ।** (वाप० २.२३३)

**उपायाः शिक्षमाणानां बालानाम् उपलालनाः ।**
**असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥** (वाप० २.२३८)

**उपाया अव्यवस्थिताः**—उपाय (साधन मात्र) उपेय (साध्य) की प्राप्ति के लिये होता है इस कारण पात्र, स्थान, प्रसंग, विषय आदि की दृष्टि से अलग अलग उपायों की कल्पना की जा सकती है, यह आवश्यक नहीं है कि निश्चित रूप से एक ही उपाय अपनाया जाय। दूसरे शब्दों में उपाय अव्यवस्थित हैं, अनियत

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



हैं, अर्थात् उनके विषय में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। यह भी ध्यान रहे कि उपेय अथवा साध्य की प्राप्ति हो जाने पर इन उपायों का कोई महत्त्व नहीं रहता—वे 'हेय' हो जाते हैं। द्रष्टव्य—

**उपादायापि ये हेयास् तान् उपायान् प्रचक्षते।**
**उपायानां च नियमो नावश्यम् अवतिष्ठते ॥** वाप० २.३८

**व्याकरण-भेदेन स्थानि-भेदेऽपि न क्षतिः**—यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि यद्यपि 'अखण्ड-वाक्य स्फोट' या 'पद-स्फोट' ही अर्थ का वाचक है, परन्तु उनके ठीक-ठीक स्वरूप के ज्ञान के लिये उसमें 'प्रकृति', 'प्रत्यय' रूप अवयवों तथा उनके अर्थों की कल्पना को उपाय के रूप में, व्याकरण शास्त्र में प्रदर्शित किया गया है। उपाय उपेय (ज्ञातव्य) के ज्ञापन के लिये अपनाया जाता है, इसलिये जिस भी उपाय से उपेय का बोधन या ज्ञापन हो सके, उसे अपनाया जा सकता है। अतः उपाय नियत या व्यवस्थित नहीं हुआ करते।

इसीलिये भिन्न-भिन्न व्याकरणों में भिन्न-भिन्न अंशों को स्थानी मानने से शब्द या अर्थ के अन्वाख्यान में ठीक उसी प्रकार कोई अन्तर नहीं पड़ता जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों या देशों में भिन्न-भिन्न लिपि अपनायी जाती है परन्तु उससे अर्थ-ज्ञान में कोई अन्तर नहीं आता। क्योंकि लिपि तो अर्थाभिव्यक्ति का एक उपायमात्र है, इसलिये कोई भी लिपि अपनाई जा सकती है। इसी रूप में 'ल' आदि स्थानी की कल्पना भी 'पठति' आदि शब्दार्थस्वरूप के निश्चित ज्ञान का एक उपायमात्र है। इस कारण किसी भी रूप में स्थानी आदि की कल्पना की जा सकती है।

व्याकरण-भेद से 'स्थानी' आदि की भिन्नता बहुत स्वाभाविक है। यह आवश्यक नहीं है कि एक व्याकरण के एक सम्प्रदाय में निर्धारित 'स्थानी' तथा 'आदेश' आदि की प्रक्रिया को व्याकरण के अन्य सम्प्रदाय वाले भी मान लें। उदाहरण के लिये आचार्य पाणिनि के व्याकरण में "**अस्ते भूः**" (पा० २.४.५२) सूत्र है जिसमें 'अस्' धातु को स्थानी माना गया तथा 'भू' को उसके स्थान पर 'आदेश' माना गया। यह कल्पना 'अस्' के 'भविता' 'भवितुम्' इत्यादि रूपों की सिद्धि के लिये की गयी। परन्तु आपिशलि के व्याकरण में इसके विपरीत 'भू' को 'स्थानी' तथा 'अस्' को उसके स्थान पर 'आदेश' माना गया था यह कल्पना संभवतः 'आसीत्', आस्ताम् 'आसन्' आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिये की गयी थी। परन्तु चाहे 'अस्' को 'स्थानी' माना जाय अथवा 'भू' को 'स्थानी' माना जाय, प्रयोगों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

**[आप्तों के द्वारा उपदिष्ट शब्द को भी प्रमाण कोटि में माना गया है]**

तत्र **प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि** (न्याय सूत्र १.१.३) इति **गौतमसूत्रे**। शब्दश्च आप्तोपदेश-रूपः प्रमाणम्। **'आप्तो' नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान्। रागादिवशाद् अपि नान्यथवादी यः सः इति चरके पतञ्जलिः।**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



"प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द (ये) प्रमाण हैं" (न्यायसूत्र के प्रणेता गौतम ऋषि) के इस सूत्र में आप्तोपदेश रूप शब्द को प्रमाण (यथार्थ-ज्ञान का बोधक) माना गया है। तथा 'आप्त' वह है "जिसे अपने अनुभव के आधार पर, वस्तुतत्त्व का पूर्णरूपेण निश्चयात्मक ज्ञान हो। जो राग या द्वेष आदि के कारण भी असत्य भाषण करने वाला न हो, वह आप्त है" ऐसा चरक (शास्त्र) में पतञ्जलि ने कहा है।

न्याय दर्शन के उपर्युक्त सूत्र में चार प्रमाण माने गये हैं, जिनसे मानव को अर्थज्ञान होता है। इन चारों में अन्तिम प्रमाण 'शब्द' है। शब्द की परिभाषा करते हुए न्याय दर्शन में कहा गया—**आप्तोपदेशः शब्दः** (न्याय सू० १.१.७) अर्थात् आप्त व्यक्ति के द्वारा उपदिष्ट या कथित शब्द ही वस्तुतः शब्द है। ऐसा शब्द ही प्रमाण-कोटि में आ सकता है।

**आप्तो नाम ..... निश्चयवान्**—'आप्त' किसे माना जाय इस प्रश्न के उत्तर में **आप्तोपदेशः शब्दः** इस सूत्र की व्याख्या करते हुए, भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है—**आप्तो नाम यथादृष्टस्य अर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। तस्य शब्दः।** अर्थात् जिस वस्तु या तथ्य को जिस रूप में सुना या देखा जाय, उसे उसी रूप में प्रकट करने की अभिलाषा से प्रेरित व्यक्ति 'आप्त' है। **आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान्** यह आप्त की परिभाषा अधिक उपयुक्त परिभाषा है। जिस व्यक्ति ने वस्तु आदि के स्वरूप का परिपूर्णता के साथ निश्चित ज्ञान प्राप्त कर लिया है—उसे उस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है—वह व्यक्ति ही 'आप्त' माना जा सकता है। वस्तुतः वात्स्यायन तथा नागेश के ये दोनों कथन मिलकर आप्त की एक पूरी परिभाषा बनाते हैं।

परन्तु सम्पूर्णता के साथ अर्थ के निश्चित ज्ञान की स्थिति भी सापेक्षिक ही माननी होगी अर्थात् अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा जिसे अधिक ज्ञान हो, वह 'आप्त' है। अन्यथा, मानव का ज्ञान देश तथा काल की सीमाओं से परिच्छिन्न है—वह अल्पज्ञ है—इसलिये, कोई भी व्यक्ति 'आप्त' नहीं कहा जा सकता।

**रागादिवशाद्** ... **पतञ्जलिः**—'आप्त' की यह परिभाषा भी उसके एक विशिष्ट स्वरूप को प्रस्तुत करती है और वह यह है कि उसी व्यक्ति का कथन प्रामाणिक माना जायेगा, जो रागद्वेष आदि से सर्वथा ऊपर उठ कर, अथवा निष्पक्ष होकर, अपना वक्तव्य दे। इसी बात को वात्स्यायन ने **यथादृष्टस्य अर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्तः** कहकर स्पष्ट किया है, अर्थात् जिस वस्तु को जैसा देखा उसे उसी रूप में प्रगट करना—किसी प्रकार के राग, द्वेष में पड़कर पक्षपात-पूर्ण भाषण न करना—यह भी आप्त पुरुष की एक विशेषता है।

नागेश ने यहां **इति चरके पतञ्जलिः** कहकर यह प्रगट किया कि 'चरक' में पतञ्जलि ने आप्त की यह परिभाषा दी है। वैयाकरण-सिद्धान्त-लघु-मञ्जूषा के 'तद्धित-वृत्ति-निरूपण' में भी एक स्थल पर नागेश ने कहा है—**चरके पतञ्जलिरप्याह** (पृ० १५२३) तथा इसी प्रकार इसी पुस्तक में 'परमार्थसार' नामक ग्रन्थ को भी नागेश ने पतञ्जलि-विरचित माना है—**परमार्थसारे पतञ्जलिराह** (लम०, पृ० १५२४)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



आज के ऐतिहासिक विद्वानों का विचार है कि चरक शास्त्र या संहिता का मूल नाम 'आत्रेय-संहिता' है तथा आत्रेय पुनर्वसु उसके कर्ता हैं। आत्रेय ने अग्निवेश को आयुर्वेद का उपदेश दिया था। इस संहिता का प्रथम संस्करण चरक ने तथा दूसरा संस्करण दृढबल ने किया। आत्रेय संहिता का प्रतिसंस्करण करने वाले चरक शेष के अवतार समझे जाते थे। चरक शाखा से सम्बद्ध किसी विद्वान् ने आत्रेय संहिता का प्रतिसंस्कार किया, इस कारण अग्निवेश' नाम गौण पड़ गया तथा चरक के नाम से यह संहिता प्रसिद्ध हो गई। यह संभावना की जाती है कि पतञ्जलि ही वे चरक गोत्रीय विद्वान् हैं, जिन्होंने पहले आत्रेय संहिता का प्रतिसंस्करण किया और बाद में महाभाष्य की रचना की। द्र०—पतञ्जलिकालीन भारत (पृ० ५१-५२)।

यहाँ चरक के नाम से उद्धृत पंक्ति चरक के संस्करणों में नहीं मिल सकी, परन्तु चरक के सूत्रस्थान के तिस्रैषणीय अध्याय में निम्न दो श्लोक मिलते हैं, जिनमें आप्त की विस्तृत परिभाषा दी गई है—

**रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास् तपोज्ञानबलेन ये।**
**येषां त्रैकालम् अमलं ज्ञानम् अव्याहतं सदा॥**
**आप्ताः शिष्टा विबुद्धास् ते तेषां वाक्यम् असंशयम्।**
**सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्माद् असत्यं नीरजस्तमाः॥** (अ० ११, सू० १९)

**[शाब्द-बोध में कार्य-कारण-भाव के स्वरूप का प्रदर्शन]**

तद्-धर्मावच्छिन्न-विषयक-शाब्द-बुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्न-निरूपित-वृत्ति-विशिष्ट-ज्ञानं हेतुः। अत एव नागृहीतवृत्तिकस्य शाब्द-बोधः। अत एव च **न हि 'गुड' इत्युक्ते मधुरत्वं प्रकारतया गम्यते** इति **"समर्थ०"**—सूत्र-भाष्यं[1] संगच्छते। 'गुड' आदि-शब्देन **'गुडत्वजात्य-**वच्छिन्नो गुडपद-वाच्यः' इत्येव बोधो जातिप्रकारकः। मधुरत्वं तु 'गुडो मधुर ऐक्षवत्वात्' इत्यनुमानरूप-मानान्तरगम्यम्।

उस धर्म (घटत्व आदि) से अवच्छिन्न ('घट' आदि) के द्वारा निरूपित जो वृत्ति उससे विशिष्ट (घट शब्द का) ज्ञान उस धर्म (घटत्व आदि) से विशिष्ट वस्तु (घट आदि) के शाब्दबोध में कारण बनता है। इसीलिये जिस व्यक्ति को उस शब्द की 'वृत्ति' का ज्ञान नहीं है उसे (उस शब्द के उच्चरित होने पर भी) शाब्दबोध नहीं होता और इसी कारण "गुडः' इस शब्द के कहने पर मधुरता का ज्ञान विशेषण के रूप में नहीं होता"—यह **समर्थः पद-विधिः** (पा० २.१.१) सूत्र का भाष्य (भाष्य में कथित अंश) सुसंगत हो जाता है। (क्योंकि)

१. तुलना करो—महा० २.१.१, पृ० ५२, न हि गुड इत्युक्ते मधुरत्वं गम्यते।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'गुडः' आदि शब्दों से, गुडत्व धर्म से विशिष्ट 'गुड' पद का जो वाच्यार्थ है, उसी का बोध होता है जिसमें 'गुडत्व' रूप जाति का ज्ञान विशेषण बनता है। ('गुडः' कहने पर) मधुरता का ज्ञान तो, "गन्ने के रस से बने होने के कारण गुड़ मीठा है (जो वस्तु गन्ने के रस से बनी होगी वह मीठी होगी)" इस 'अनुमान'-रूप दूसरे प्रमाण से बोध्य है।

शब्द से प्रकट होने वाले ज्ञान अथवा बोध को 'शाब्दबोध' कहा जाता है। शाब्द-बोध में उच्चार्यमाण सार्थक शब्द कारण है तथा उससे अभिव्यज्यमान अर्थ कार्य है। परन्तु इस 'कार्य-कारणभाव' को नैयायिकों की पारिभाषिक शब्दावली में परिष्कृत करके उपर नागेश ने प्रस्तुत किया है।

कार्य-कारण भाव की इस परिभाषा में यह बताया गया है कि किसी शब्द के प्रयोग के बाद श्रोता को उससे जो अर्थ की प्रतीति होती है उसमें दो अवान्तर कारण होते हैं। एक तो श्रोता को उस शब्द का ज्ञान हो, (अर्थात् उच्चरित शब्द का उसे स्पष्ट श्रवण हो जाय) तथा दूसरा उस शब्द की, घट पट आदि विषयक, वृत्ति का भी श्रोता को ज्ञान हो। उसे यह पता हो कि वक्ता ने इस शब्द का प्रयोग उस घट या पट विषयक 'वृत्ति' को ध्यान में रख कर किया है, अर्थात् इस शब्द के अभिधेय, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों में कौन सा अर्थ प्रगट करना वक्ता को अभीष्ट है इसका श्रोता को स्पष्ट बोध हो।

**'वृत्ति'**—शब्द जिस व्यापार द्वारा अपने अर्थ का बोध कराता है उसे यहाँ 'वृत्ति' कहा गया है। यह तीन तरह की है—अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना। इन वृत्तियों के द्वारा प्रकट होने वाले अर्थों को क्रमशः अभिधेय, लक्ष्य तथा व्यंग्य कहा जाता है। इन 'वृत्तियों' के विषय में आगे विस्तार से विचार किया जायगा।

**तद्धर्मावच्छिन्न ..... शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नम्**—इस अंश में कार्य अर्थात् 'शाब्दबोध' के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है उसे 'शाब्दबुद्धि' अथवा 'शाब्दबोध' कहा जाता है। इस 'शाब्दबुद्धि' में शाब्दबुद्धित्व धर्म रहता है। इसलिए 'शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नम्' का अभिप्राय है शाब्दबुद्धित्व धर्म से विशिष्ट अर्थात् 'शाब्दबुद्धि'। यह 'शाब्दबुद्धि' किसी न किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के विषय में होगी और वह वस्तु अथवा व्यक्ति अपने में समवेत उस उस धर्म से सम्बद्ध होगा। उदाहरण के लिये घट-पदार्थ-विषयक 'शाब्दबुद्धि' में घट पदार्थ 'घटत्व' रूप धर्म से अवच्छिन्न होगा तथा पट-पदार्थ-विषयक 'शाब्दबुद्धि' में पट पदार्थ पटत्व रूप धर्म से अवच्छिन्न (विशिष्ट) होगा। इस प्रकार 'उस उस घटत्व पटत्व आदि धर्म से विशिष्ट 'शाब्दबुद्धि' यह कार्य का स्वरूप हुआ।

स्पष्टता के लिये 'तत्' पद का अर्थ 'घट' कर लिया जाये तो 'तद्धर्म' का अर्थ हुआ 'घट का धर्म अर्थात् घटत्व'। 'तद्धर्मावच्छिन्न' का अर्थ हुआ 'घटत्व धर्म से विशिष्ट अर्थात् घट', तथा 'तद्धर्मावच्छिन्न-विषयक' का अर्थ है 'घट-विषयक'। पूरे अंश का अभिप्राय है—'घटत्व धर्म से विशिष्ट जो घट पदार्थ उस विषयक शाब्दबुद्धि (शाब्द-बोध)'। जिस पदार्थ अथवा वस्तु-विषयक शाब्द बोध होगा उस पदार्थ अथवा वस्तु में उसका अपना धर्म होगा ही। इसलिये उसी उसी घटत्व, पटत्व आदि धर्म से पदार्थ को यहां

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अवच्छिन्न (विशिष्ट) कहा गया है। इन धर्मों को यहां पदार्थ का विशेषण अथवा न्याय की पारिभाषिक शब्दावली में, 'प्रकार' कहा गया है।

**तद्धर्मावच्छिन्न·····हेतुः**—इस अंश में 'शाब्दबुद्धि' रूप कार्य के कारण का स्वरूप निर्धारित किया गया है। इस 'कारण' के स्वरूप में उच्चरित शब्द का ज्ञान तथा उस शब्द की अभीष्ट पदार्थ अथवा द्रव्य विषयक वृत्ति का ज्ञान इन दोनों का उल्लेख किया गया है। किसी भी शाब्दबोध में ये दोनों अनिवार्य तत्त्व हैं। श्रोता ने उच्चरित शब्द को यदि स्पष्टतः नहीं सुना है—उसे नहीं जाना है—तो उस शब्द की 'वृत्ति' का बोध होने पर भी, उस अश्रुत अथवा अज्ञात शब्द से उसे अर्थ का बोध नहीं होगा। इसी प्रकार उच्चरित शब्द को सुन लेने के बाद भी यदि उस शब्द की 'वृत्ति', अर्थात् अभीष्ट अभिप्राय का बोध कराने वाले अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना आदि व्यापारों, का बोध श्रोता को नहीं है तो भी उस श्रुत शब्द से अर्थ का बोध नहीं हो सकता।

यहां भी स्पष्टता की दृष्टि से, उदाहरण के रूप में, 'तत्' का अर्थ घट, पट आदि पदार्थ किया जा सकता है। अब 'तद्-धर्म' का अर्थ है उन उन पदार्थों में रहने वाले घटत्व, पटत्व आदि धर्म। इस प्रकार 'तद्-धर्मावच्छिन्न' का अर्थ है—उन उन-घटत्व आदि धर्मों से अवच्छिन (विशिष्ट) घट पट आदि पदार्थ। 'निरूपित' का अर्थ 'विषयक' या 'सम्बद्ध' किया जा सकता है। इस रूप में 'तद्-धर्मावच्छिन-निरूपित-वृत्ति' का अर्थ हुआ उन उन घटत्व, पटत्व आदि धर्मों से विशिष्ट जो घट, पट आदि पदार्थ उनसे सम्बद्ध अथवा उन उन घट, पट आदि पदार्थ-विषयक जो 'वृत्ति'। जैसे—'घट' शब्द की वृत्ति घट पदार्थ से सम्बद्ध है अथवा घट-पदार्थ-विषयक है और घट पदार्थ घटत्व धर्म से अवच्छिन्न है। इसलिये इसको 'घटत्वाविच्छिन्न-निरूपित-वृत्ति' कहा जायगा। इसी प्रकार 'पट' शब्द की वृत्ति पट पदार्थ से सम्बद्ध है अथवा पट-पदार्थ-विषयक है और पट पदार्थ पटत्व धर्म से अवच्छिन्न (विशिष्ट) है। इस दृष्टि से यहां 'वृत्ति' को 'तद्-धर्मविच्छिन्न-निरूपित' इस विशेषण से विशेषित किया गया।

सरल शब्दों में घट-पदार्थ-विषयक शाब्दबोध के प्रति 'घट' शब्द तथा उसकी, घट-पदार्थ से सम्बद्ध, 'वृत्ति' का ज्ञान कारण है। इसी तरह पट आदि सभी पदार्थों के शाब्दबोध में कार्यकारणभाव की स्थिति समझनी चाहिये। यहां यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि जिस धर्म से विशिष्ट वृत्ति वाले शब्द का ज्ञान होगा उसी धर्म से विशिष्ट पदार्थ का ही शाब्दबोध होगा, अन्य धर्म से विशिष्ट पदार्थ का शाब्दबोध नहीं होगा (द्र०—**यद्-धर्म-प्रकारक-वृत्ति-ज्ञानं तद्-धर्म-प्रकारक एव बोधः** (पलम०, ज्योत्स्ना टीका, पृ० २७)।

परन्तु शब्द का ज्ञान तथा उसमें रहने वाली वृत्ति का ज्ञान इन दोनों को यदि स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् शाब्दबोध का कारण माना जाय, जैसा कि नैयायिक विद्वान् मानते हैं, तो अनावश्यक गौरव (विस्तार) होगा। अतः व्याकरण के विद्वान् वृत्ति-विशिष्ट शब्द के ज्ञान को अर्थ-प्रतीति अथवा शाब्दबोध में कारण मानते हैं। इस रूप में केवल एक ही कारण की कल्पना करनी पड़ती है—दो कारणों की नहीं—यह लाघव है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि कार्य अंश तथा कारण अंश दोनों में 'धर्म' (घटत्व आदि) पद के संयोजन से दोनों के स्वरूप को अतिव्याप्ति दोष से मुक्त कर दिया गया है। इस 'धर्म' पद के प्रयोग से कार्य-कारण का पूरा स्वरूप इस प्रकार होगा—'घटत्व रूप धर्म से विशिष्ट घट-पदार्थ-विषयक शाब्दबोध रूप कार्य के प्रति उसी घटत्व रूप धर्म से विशिष्ट जो घट पदार्थ उस विषय वाली अथवा उससे सम्बद्ध 'वृत्ति' का ज्ञान कारण है। इन दोनों 'धर्म' पदों के विशेष प्रयोजन का उल्लेख इसी प्रसंग में आगे किया जायगा।

**प्रकारता**—'प्रकार' का अभिप्राय है 'विशेषण'। अतः 'प्रकारता' का अभिप्राय हुआ विशेषणता। प्रत्येक 'शाब्दबोध' में 'प्रकारता' (विशेषणता) तथा विशेष्यता ये दोनों रूप पाये जाते हैं। जैसे—'गौः' कहने पर 'गौ' व्यक्ति का जो बोध होता है उसमें 'गोत्व' रूप धर्म अथवा 'जाति' विशेषण ('प्रकार') है तथा 'गौ' व्यक्ति (पदार्थ या द्रव्य) विशेष्य है। अर्थात् 'गौ' कहने पर इस शब्द से गोत्व जाति से विशिष्ट (अवच्छिन्न) 'गौ' व्यक्ति का बोध होता है। इसी प्रकार 'अश्वः' कहने पर 'अश्वत्व' धर्म या जाति का ज्ञान 'प्रकारता' के रूप में होता है तथा 'अश्व' व्यक्ति का बोध विशेष्यता के रूप में होता है।

**अतएव च ··· जाति-प्रकारकः**—ऊपर की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि जिस घटत्व या पटत्व आदि धर्म से विशिष्ट 'घट' 'पट' पद-विषयक वृत्ति वाले शब्दों का उच्चारण किया जाता है उससे उसी घटत्व, पटत्व आदि धर्म से विशिष्ट घट, पट पदार्थ का बोध होता है। इस बोध में जाति 'प्रकार' है तथा पदार्थ (द्रव्य) विशेष्य। इस व्याख्या की दृष्टि से ही महाभाष्य का यह कथन सुसंगत होता है कि जब 'गुडः' पद का प्रयोग किया जायगा तो उससे होने वाले बोध में 'गुडत्व' रूप धर्म 'प्रकार' (विशेषण) बनेगा तथा गुड पदार्थ विशेष्य होगा, अर्थात् गुडत्व-विशिष्ट गुड पदार्थ का बोध होगा। इस रूप में 'गुडः' पद का वाच्य अर्थ, अर्थात् विशेष्य रूप गुड पदार्थ (द्रव्य), 'गुडत्व' जाति रूप प्रकारता से अवच्छिन्न (विशिष्ट) है। इस बोध को 'जातिप्रकारकः' कहा जाता है, अर्थात् इस 'शाब्द-बोध' में जाति अथवा धर्म 'प्रकार' (विशेषण) है—**जातिः प्रकारो यस्मिन् स जाति-प्रकारको बोधः**।

**मधुरत्वं ··· गम्यम्**—यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि शाब्दबोध में, पदार्थ में समवेत, जाति अथवा धर्म ही विशेषण बनता है, या उदाहरण के रूप में 'गुडः' पद के प्रयोग से गुडत्व जाति से विशिष्ट गुड पदार्थ का ही बोध होता है, तो, 'गुडः' पद के प्रयोग के उपरान्त श्रोता को मधुरता रूप धर्म की, जो गुड पदार्थ में समवेत जाति नहीं है, प्रतीति क्यों होती है?

इस प्रश्न का उत्तर यहां यह दिया गया है कि 'गुडः' कहने पर मधुरता का ज्ञान 'प्रकार' अथवा विशेषण के रूप में कभी नहीं होता—यहां तो 'गुडत्व' जाति ही विशेषण ('प्रकार') बनेगी। परन्तु 'गुडः' पद के प्रयोग से मधुरता रूप धर्म की जो प्रतीति होती है उसका आधार तो अनुमान प्रमाण है। यह अनुमान इस प्रकार किया गया कि गुड इक्षु-रस-निर्मित होता है इस कारण वह मधुर है, जो भी इक्षु-रस-निर्मित होगा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



वह मधुर होगा **गुडो मधुर ऐक्षवत्वात् । यद् यद् इक्षु-रस-निर्मितं तत् तत् मधुरम् । यथा शर्करादयः ।**

शाब्द-बोध में जाति अथवा धर्म को विशेषण अथवा 'प्रकार' बनाने के लिये ही कार्य अंश में ऊपर 'तत्' पद के साथ 'धर्म' पद का प्रयोग किया गया । इसलिये जब कभी 'गुडः' कहा जायगा तो 'गुडः' पद तथा उसकी गुड-पदार्थ-विषयक वृत्ति को जानने वाले श्रोता को गुडत्वावच्छिन्न गुडपदार्थ विषयक ही शाब्दबोध होगा, क्योंकि कार्य-कारणभाव का यही स्वरूप निश्चित किया गया है । हां 'मधुरः' शब्द का प्रयोग करने पर अवश्य श्रोता को मधुरत्व धर्म से विशिष्ट मधुर गुण का बोध होगा—यहां इस बोध में 'मधुरता' को 'प्रकार' माना जायगा ।

नैयायिकों ने शाब्दबोध को 'फल', पद के ज्ञान को 'करण', शब्द के अर्थ की स्मृति को 'द्वार' तथा शब्द की वृत्ति के ज्ञान को 'सहकारी कारण' कहा है । द्रष्टव्य—

**पद-ज्ञानं तु करणं, द्वारं तत्र पदार्थ-धीः ।**
**शाब्दबोधः फलं तत्र, शक्ति-धीः सहकारिणी ॥**

(भाषा-परिच्छेद, का० सं० ८१)

**['शाब्द-बोध' विषयक कार्य-कारण-भाव के प्रदर्शन-वाक्य में प्रथम 'तद्-धर्मावच्छिन्न' पद का प्रयोजन]**

विशेष्य-विशेषण-भाव-व्यत्यासेन गृहीत-शक्तिकस्य पुंसो घट-पदाद् घटत्व-विशिष्ट-घट-बोधवारणाय 'तद्-धर्मावच्छिन्न' इति ।

('घट' पद घट-विशिष्ट घटत्व का बोधक है इस प्रकार के) विशेष्य-विशेषण-भाव के विपर्यय से शक्ति का जिसे ज्ञान है ऐसे (भ्रान्त) व्यक्ति को 'घट' पद से घटत्व-विशिष्ट घट का बोध न हो जाय इसलिये 'तद्-धर्मावच्छिन्न' यह अंश है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'घट' पद से जो शाब्द-बोध होगा उसमें घटत्व विशेषण तथा घट विशेष्य है । अभिप्राय यह है कि 'घट' पद से घटत्व जाति से विशिष्ट घट का ज्ञान होता है । यही निर्भ्रान्त ज्ञान है । परन्तु जो व्यक्ति भ्रम-वश यह जाने बैठा है कि 'घट' पद से घट-विशिष्ट घटत्व का बोध होता है उसे तो 'घट' पद से वैसा ही उलटा बोध होगा—अर्थात् घटत्व-विशिष्ट घट का बोध न होकर घट-विशिष्ट घटत्व का बोध ही होगा । क्योंकि जिस धर्म से विशिष्ट शब्द वाली 'वृत्ति' का जिसे ज्ञान होगा उसे उसी धर्म से विशिष्ट शाब्द-बोध भी होगा ।

परन्तु यदि ऊपर के, शाब्द-बोध के कार्य-कारण-भाव के प्रदर्शक, वाक्य के कार्य अंश में से (प्रथम) 'तद्-धर्मावच्छिन्न' पद हटा दिया जाय तो नियम का रूप होगा—**शाब्द-बुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्-धर्मावच्छिन्न-निरूपित-वृत्ति-विशिष्ट-ज्ञानं हेतुः,**

१. निम०, काप्रणु० में 'घट' पद नहीं है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अर्थात् उस धर्म से विशिष्ट जो शब्द तत्-सम्बद्ध 'वृत्ति' का ज्ञान शाब्द-बोध में कारण बनता है। यहां यह आवश्यक नहीं है कि जिस धर्म से विशिष्ट 'वृत्ति' का ज्ञान हुआ है उसी धर्म से विशिष्ट शाब्द-बोध भी हो। इसलिये उपर्युक्त नियम के इस रूप को मानने पर इस भ्रान्त व्यक्ति को, घट पद से 'घट-विशिष्ट-घटत्व' इस भ्रान्त बोध के समान ही, घटत्व-विशिष्ट घट' इस निर्भ्रान्त अर्थ का भी बोध होना चाहिये। परन्तु यह बाद वाला निर्भ्रान्त ज्ञान उस भ्रान्त व्यक्ति को नहीं हुआ करता। इसलिये उस अनभीष्ट स्थिति के निवारण के लिये यहाँ प्रथम 'तद्-धर्मावच्छिन्न' पद रखा गया।

**[शाब्द ज्ञान में, वृत्ति-कृत विशेषता के विषय में दो प्रकार के सम्बन्धों का, द्वितीय 'तद्-धर्मावच्छिन्न' पद के प्रयोजन का तथा शाब्द-बोध-विषयक कार्य-कारण-भाव-रूप नियम के विविध प्रयोजनों का कथन]**

ज्ञाने वृत्ति-वैशिष्ट्यं च 'स्व-विषयकोद्बुद्ध-संस्कार-समानाधिकरण्य'-'स्वाश्रय-पद-विषयकत्व'-उभय-सम्बन्धेन बोध्यम्। अतो नागृहीत-वृत्तिकस्य, नापि तत्-पदम् अजानतः, नापि घट-पदा[1]श्रयत्वेनोपस्थिताकाशस्य, नापि जनकतयोपस्थित-चैत्रादेश्च बोधः।

और (पद के) ज्ञान में वृत्ति-कृत विशेषता दो सम्बन्धों से होती है। पहला वृत्ति (स्व)—विषयक जो जागृत संस्कार तथा पद-ज्ञान इन दोनों का एक अधिकरण (पद रूप आश्रय) में होना। दूसरा 'वृत्ति' (स्व) का आश्रय-भूत जो पद, उस (पद) के विषय में ज्ञान का होना। इसलिये जिसे 'वृत्ति' का ज्ञान नहीं है, अथवा जो 'वृत्ति' को जानकर भी भूल गया है उस (व्यक्ति) को (उस 'वृत्ति' से सम्बद्ध शब्द से) अर्थ-ज्ञान नहीं होता। और नहीं उस पद को न जानने वाले (व्यक्ति) को अर्थ-ज्ञान होता है। 'घट' पद के आश्रय के रूप में उपस्थित आकाश का भी बोध ('घट' पद से) नहीं होता और न, 'घट' शब्द के उच्चारणकर्त्ता के रूप में उपस्थित, चैत्र आदि (किसी आदमी) का बोध (ही 'घट' शब्द से) होता है।

'वृत्ति-विशिष्ट-पद-ज्ञान' के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने यहां यह कहा कि पद-ज्ञान में वृत्ति का ज्ञान निम्न दो प्रकार के सम्बन्धों से रहना चाहिये। बात यह है कि श्रोता को जिस पद का ज्ञान हुआ है उसी पद-विषयक वृत्ति-ज्ञान के संस्कारों का उद्बोधन अथवा स्मरण भी उसे होना चाहिये। यह हुआ प्रथम—**स्व-विषयकोद्बुद्ध-संस्कार-समानाधिकरण्य**'—सम्बन्ध। यहां 'वृत्ति' तथा 'पद' दोनों के ज्ञान का अधिकरण अथवा आश्रय एक ही है और वह है ज्ञात पद।

दूसरी आवश्यक बात यह है कि उस 'वृत्ति' के आश्रयभूत पद का ही ज्ञान उस पद-विषयक शाब्द-बोध के लिये आवश्यक है, अन्य किसी पद का नहीं। इसे द्वितीय—

१. ह० — घटपदाद्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**स्वाश्रय-पद-विषयकत्व'**—सम्बन्ध कहा गया है। 'स्व' पद का अर्थ दोनों ही स्थलों में 'वृत्ति' है।

इन दो सम्बन्धों में से प्रथम **स्व-विषयकोद्बुद्ध-संस्कार-सामानाधिकरण्य** सम्बन्ध का होना इसलिये आवश्यक है कि ऐसा देखा जाता है कि उस व्यक्ति को शाब्द-बोध नहीं होता जिसे शब्द की 'वृत्ति' का ज्ञान है या जिसे 'वृत्ति' का ज्ञान होकर भी विस्मृत हो गया है। इन दोनों ही स्थितियों में वह सुना हुआ पद 'वृत्ति-ज्ञान' तथा 'पद-ज्ञान' का समान रूप से अधिकरण नहीं बनता।

दूसरे सम्बन्ध—**'स्वाश्रय-पद-विषयकत्व'**—को कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि 'वृत्ति' का आश्रय-भूत जो पद वह उस पद-ज्ञान का विषय हो। अर्थात्—जिस पद की वृत्ति का ज्ञान श्रोता को है उसी पद का श्रवण या ज्ञान श्रोता को होना ही चाहिये। क्योंकि 'वृत्ति' का ज्ञान होने पर भी यदि उसी 'वृत्ति' के आश्रय-भूत पद का ज्ञान या श्रवण श्रोता को नहीं हुआ है तो उसे शाब्द-बोध नहीं होगा। इस कारण इस सम्बन्ध को भी मानना आवश्यक ही है क्यों कि यह अनुभूत तथ्य है कि उस व्यक्ति को भी शाब्द-बोध नहीं होता जिसने ज्ञात 'वृत्ति' के आश्रय भूत पद को नहीं सुना है।

**नापि घट-पदाश्रयत्वेनोपस्थिताकाशस्य**—ऊपर के नियम वाक्य के 'कारण' अंश (द्वितीय भाग) में जो **'तद्-धर्मावच्छिन्न'** पद रखा गया है, यदि उसे न रखा जाय तो इस नियम का स्वरूप होगा—**तद्-धर्मावच्छिन्न-विषयक-शाब्द-बुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति वृत्ति-विशिष्ट-ज्ञानं हेतुः**, अर्थात् उस धर्म से विशिष्ट शाब्द-ज्ञान में वृत्ति-विशिष्ट पद का ज्ञान कारण है। नियम के इस रूप में होने पर यह आवश्यक नहीं होगा कि वृत्ति-विशिष्ट पद में वह धर्म हो ही जो शाब्द-ज्ञान में दिखाई देता है। इसलिये इस स्थिति में 'घट' पद की 'वृत्ति' के ज्ञान से, **'आकाश-देशः शब्दः'**, अर्थात् शब्द का स्थान आकाश है (यहा०,भा०१,पृ० ६५) के अनुसार, 'घट' पद के आश्रय के रूप में उपस्थित आकाश का भी बोध 'घट' पद से होने लगेगा। परन्तु कारणता अंश में **'तद्धर्मावच्छिन्न'** अंश की उपस्थिति से नियम का स्वरूप यह होगा कि— "जिस धर्म से विशिष्ट पद से सम्बद्ध वृत्ति का ज्ञान होगा उसी धर्म से विशिष्ट शाब्द-ज्ञान भी होगा"। अतः 'घट' पद से आकाश का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि 'घट' पद, आकाशत्व धर्म से विशिष्ट न हो कर, घट-शब्दत्व रूप धर्म से विशिष्ट है।

ऊपर के नियम-वाक्य में वर्णित 'कार्य-कारण-भाव'—अर्थात् किसी विशिष्ट धर्म से युक्त पदार्थ विषयक शाब्द-ज्ञान रूप कार्य में उसी प्रकार के विशिष्ट शब्दत्व रूप धर्म से सम्बद्ध पद तथा तद्-विषयक वृत्ति का ज्ञान कारण है—को मान लेने से 'घट' आदि शब्दों के उच्चारण-कर्त्ता के रूप में उपस्थित चैत्र आदि का बोध 'घट' पद से नहीं होता, क्योंकि चैत्र-विषयक शाब्द-बोध, चैत्रत्व धर्म से विशिष्ट, 'चैत्र' शब्द द्वारा ही हो सकता है, 'घट' शब्द द्वारा नहीं। इसका कारण यह है कि 'घट' पद चैत्रत्व' धर्म से विशिष्ट न होकर 'घट-शब्दत्व' रूप धर्म से विशिष्ट है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**[वृत्ति-विषयक संस्कार की सत्ता में प्रमाण तथा तीन प्रकार की वृत्तियाँ]**

संस्कार-कल्पिका च वृत्ति-स्मृतिरेव शाब्द-बुद्धिरेव वेत्यन्यद् एतत् । सा च वृत्तिस् त्रिधा—शक्तिः, लक्षणा व्यंजना च ।

(वृत्ति-विषयक) संस्कार का अनुमान कराने वाली है 'वृत्ति' की स्मृति तथा 'वृत्ति' की स्मृति का अनुमान कराने वाला है शाब्द-बोध—यह दूसरी बात है। और वह 'वृत्ति' तीन प्रकार की है—शक्ति (अभिधा), लक्षणा तथा व्यंजना।

ऊपर 'वृत्ति'-विषयक संस्कार का उल्लेख हुआ था। उस वृत्ति-विषयक संस्कार की कल्पना में क्या प्रमाण है—किस आधार पर इस वृत्ति-विषयक संस्कार की सत्ता को स्वीकार किया जाय—इस विषय में यहाँ विचार किया गया है।

वैयाकरण यह मानते हैं कि 'वृत्ति'-विषयक स्मृति एक कार्य है और 'वृत्ति' का संस्कार, जो हमारी बुद्धि में विद्यमान रहता है, उस 'वृत्ति' विषयक स्मृति रूप कार्य का कारण अथवा हेतु है। यह वृत्ति-विषयक स्मृति श्रोता को होती ही है, इसलिये उसके हेतु के रूप में वृत्ति-विषयक संस्कार की सत्ता भी हमें माननी ही चाहिये। इसी तरह यदि यह पूछा जाय कि 'वृत्ति' की स्मृति के होने में क्या प्रमाण है'? तो इसका उत्तर यह है कि शब्द को सुनने के बाद उसकी वृत्ति को जानने वाले श्रोता को एक विशेष प्रकार का शाब्द-बोध होता है। यह शाब्द-बोध रूप कार्य ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वृत्ति-स्मृति भी होती ही है—क्योंकि शाब्द-बोध का कारण वृत्ति-स्मृति है। इस प्रकार इन दोनों में कार्य-कारण-भाव रूप सम्बन्ध है। कोई भी कार्य अपने कारण के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः शाब्द-बोध रूप कार्य भी तब तक उपस्थित नहीं हो सकता जब तक उस शब्द की वृत्ति की स्मृति न हो। और वृत्ति की स्मृति तब तक नहीं हो सकती जब तक उस वृत्ति का संस्कार विद्यमान न हो।

**['शक्ति' के स्वरूप के विषय में नैयायिकों का मत]**

तत्र शक्तिः कः पदार्थ इति चेद्? अत्र **तार्किकाः**,—'अस्मात् पदाद् अयम् अर्थो बोद्धव्यः' इत्याकारा 'इदं पदम् इमम् अर्थं बोधयतु' इत्याकारा वेश्वरेच्छा[1] शक्तिर् लाघवात्। सैव[2] संकेतः सैव च सम्बन्धः। शक्तेर् यद्यपि विषयत्वलक्षणः[3] सम्बन्धः पदे, अर्थे, बोधे च, तथापि बोध-निष्ठ-जन्यता-निरूपित-जनकतावत्त्वेन शक्ति-विषयो वाचकः, पद[4]-जन्यबोध-विषयत्वेन शक्ति-विषयो वाच्यः, इति

---

१. ह०—चेश्वरेच्छा।

२. प्रकाशित संस्करणों में—सैव संकेतः सम्बन्धः।

३. ह०—विषयत्व-लक्षण-सम्बन्धः।

४. ह०, वंमि०—शक्ति-जन्य।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



नातिप्रसङ्गः। यद्यपि प्रथमं शक्ति-ग्रहो वाक्य एव तथाप्यावापोद्वापाभ्यां शास्त्र-कृत्-कल्पिताभ्या तत्तत्पदे शक्ति-ग्रहः, इति आहुः।

यहां शक्ति का क्या अभिप्राय है ? इस विषय में नैयायिक कहते हैं :—

'इस शब्द से यह अर्थ जाना जाय' इस प्रकार की, अथवा 'यह शब्द इस अर्थ का बोध करावे' इस तरह की ईश्वर की इच्छा ही 'शक्ति' है। क्योंकि इस रूप में (इच्छा को शक्ति मानने में) लाघव है। वह इच्छा ही संकेत है तथा वही (शब्द और अर्थ का पारस्परिक) सम्बन्ध (भी) है। यद्यपि (इस) शक्ति का विषयत्व पद, अर्थ तथा बोध इन तीनों में ही है, तो भी बोध में रहने वाली जन्यता से निरूपित (ज्ञात) जनकता सम्बन्ध से शक्ति का विषय वाचक (पद) है। (तथा इसी प्रकार) वाचक पद से उत्पन्न होने वाले विषयता (–सम्बन्ध) से 'शक्ति' का विषय 'वाच्य' (अर्थ) है। इस कारण (वाच्य वाचक के लक्षण में) अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा। यद्यपि पहले 'शक्ति' का ज्ञान वाक्य में ही होता है परन्तु शास्त्रकारों द्वारा कल्पित आवापोद्वाप (ग्रहण, त्याग) की प्रक्रिया के द्वारा (वाक्य के) उन पदों में (भी) शक्ति का ज्ञान होता है।

शक्ति के स्वरूप-विवेचन के इस प्रसङ्ग में, नैयायिकों ने ईश्वरेच्छा के दो रूप दर्शाये हैं। एक—'इस पद से यह अर्थ जाना जाय' तथा दूसरा—'यह शब्द इस अर्थ का ज्ञान कराये'। यद्यपि सामान्य पाठक को इन दोनों रूपों में, अर्थ की दृष्टि से, कोई अन्तर नहीं प्रतीत होगा। परन्तु नैयायिक प्रथमान्त पद को विशेष्य मानकर अर्थ में विशेष अन्तर कर देता है। परिणामतः ईश्वरेच्छा के पहले रूप—**अस्मात् पदाद् अयम् अर्थो बोद्धव्यः**—में ज्ञातव्य अर्थ 'विशेष्य' (प्रधान) है तथा 'पद' उस अर्थ का विशेषण (साधन) है या दूसरे शब्दों में अप्रधान है। क्योंकि यहाँ—'अयम् अर्थः' यह प्रथमा विभक्त्यन्त पद है। दूसरी ओर, दूसरे रूप—**इदं पदम् इमम् अर्थं बोधयतु**—में पद 'विशेष्य' (प्रधान) है तथा उससे उत्पन्न होने वाला 'अर्थ' उसका विशेषण (साधन) है और इस रूप में अप्रधान। क्यों कि यहाँ 'इदं पदम्' प्रथमा विभक्त्यन्त शब्द है। संक्षेप में इच्छा के प्रथम स्वरूप में यह कहा गया कि 'इस पद का यह अर्थ है', जबकि दूसरे में यह कहा गया कि 'इस अर्थ वाला यह पद है' (द्रष्टव्य—न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, शब्द-प्रकरण)।

ईश्वरेच्छा को नैयायिकों ने 'शक्ति' इसलिये माना कि उसमें 'शक्ति' तथा 'संकेत' दोनों के एकत्र संकलित हो जाने के कारण पर्याप्त लाघव है, जब कि किसी और प्रकार की 'शक्ति' मानने पर 'शक्ति' तथा 'संकेत' इन दोनों पदार्थों की पृथक्-पृथक् कल्पना करनी पड़ेगी जिसमें गौरव (विस्तार) होगा।

नव्य नैयायिकों ने ईश्वरेच्छा को शक्ति न मान कर केवल इच्छा को शक्ति माना है क्योंकि उनके समक्ष ईश्वरेच्छा को शक्ति मानने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। पहली यह कि जब शब्द ईश्वरकृत नहीं है तो उनमें ईश्वरेच्छा को 'शक्ति' कैसे माना जाय। दूसरे यह कि नये-नये पदार्थों के नित्य नये-नये नामकरण होते रहते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



हैं, जहाँ किसी प्रकार की कोई 'ईश्वरेच्छा' नहीं दिखाई देती। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश शब्दों में 'शक्ति' कैसे मानी जाय। मीमांसकों की दृष्टि में ईश्वरेच्छा को शक्ति मानने का कोई अर्थ ही नहीं है क्यों कि वे ईश्वर को मानते ही नहीं। द्र०—**एवम् ईश्वर-संकेतस्य शक्तित्वे ईश्वरानंगीकारमते शब्दबोधानुपपत्तेः** (शक्तिवाद, पृ० ७)।

**शक्तेर्यद्यपि'''नातिप्रसंग :** यहाँ यह शंका की गई है कि जब 'शक्ति' के विषय पद, अर्थ तथा बोध तीनों ही हैं, तो फिर पद ही अर्थ का वाचक है तथा अर्थ वाच्य है, इस प्रकार की व्यवस्था कैसे बनेगी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वस्तुतः शक्ति के विषय तो पद, जन्य-जनकभाव तथा बोध इत्यादि भी हैं, (द्रष्टव्य—**तस्याश्च यद्यपि विषयत्व-लक्षणःसम्बन्धः पदे, अर्थे, जन्य-जनक-भावे बोधे च**, लम०, पृ० १६), परन्तु शाब्दबोध का जनक होने के कारण पद वाचक है तथा बोध का विषय होने के कारण अर्थ वाच्य है। इस प्रकार यह व्यवस्था सुसङ्गत हो जाती है।

**यद्यपि प्रथमं ''''इत्याहुः**—यहाँ दूसरी शंका यह प्रस्तुत की गई कि वाचक पद में 'शक्ति' का सम्बन्ध कैसे माना जाय? क्यों कि पहले-पहेल बच्चे को जो अर्थ का ज्ञान होता है, वह पूरे वाक्य द्वारा होता है—वाक्य के भिन्न-भिन्न पदों द्वारा नहीं। वह 'गाम् आनय' तथा 'अश्वं नय' इस प्रकार के पूरे-पूरे वाक्य से अर्थ का ज्ञान करता है, उसे एक-एक पद का अलग-अलग अर्थ-ज्ञान नहीं होता। इसलिये पृथक्-पृथक् पदों में 'शक्ति' की स्थिति नहीं माननी चाहिये।

इस आशंका का उत्तर यह दिया गया कि यह तो ठीक है कि वाक्य से अर्थ का बोध होता है परन्तु 'आवाप' तथा 'उद्वाप' अर्थात् ग्रहण तथा परित्याग, जिनकी कल्पना प्रायः सभी शास्त्रकारों ने की है, के आधार पर पदों में 'शक्ति' की स्थिति मान ली जाती है। 'गाम् आनय' इस वाक्य में 'गाम्' पद का ग्रहण किया गया तथा 'अश्वम्' आनय' में उस 'गाम्' पद का परित्याग कर दिया गया। अनेक बार किये गये इस प्रकार के ग्रहण, परित्याग के आधार पर 'गाम्' तथा 'अश्वम्' आदि पदों के अर्थों का भी निर्धारण कर लिया गया। इसलिये प्रत्येक पद में भी 'शक्ति' का सम्बन्ध माना जाता है।

यहाँ एक और आशंका यह हो सकती है कि जब नैयायिक विद्वान् वैयाकरणों के समान वाक्य की अखण्डता को स्वीकार नहीं करते तो वे पदों के अर्थों को कल्पित क्यों मानते हैं। इसका समाधान नैयायिक यह देते हैं कि न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन का—**पदसमूहो वाक्यम् अर्थसमाप्तौ** (न्या० भाष्य १।५५)—यह कथन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि अर्थ की परिसमाप्ति वाक्य में ही होती है। अतः नैयायिक भी वाक्य में पदों के विभाग की कल्पना करके उन-उन पदों के अर्थों का निर्धारण करता ही है, क्योंकि, इनके मत में भी वास्तविक अर्थ तो वाक्य का ही होता है।

**[नैयायिकों के मत का खण्डन]**

तन्न। इच्छायाः[1] सम्बन्धिनोराश्रयता-नियामकत्वाभावेन-सम्बन्धत्वासम्भवात्। **सम्बन्धो हि सम्बन्धि-द्वय-भिन्नत्वे**

१. यह पूरा वाक्य हस्तलेखों तथा वंशीधर मिश्र के संस्करण में नहीं मिलता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**सति द्विष्ठत्वे च सति आश्रयतया विशिष्ट-बुद्धि-नियामकः,** इति **अभियुक्त**-व्यवहाराद् यथा 'घटवद् भूतलम्' इत्यादौ 'संयोग'-रूपः सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यां भिन्नः द्विष्ठः 'घटनिरुपितसंयोगाश्रयो भूतलम्' इति विशिष्टबुद्धि--नियामकश्च। नात्र तथा 'घटशब्द इच्छावान्' 'तदर्थो वा इच्छावान्' इति व्यवहारः ।

नयायिकों की यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि इच्छा दो सम्बन्धियों (शब्द तथा अर्थ) में आश्रयता (आधाराधेयभाव) का परिचायक नहीं है, इसलिये वह सम्बन्ध नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि "दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होते हुए तथा दोनों सम्बन्धों में आश्रित होते हुए, आश्रयता रूप से विशिष्ट-बुद्धि (विशेष्य विशेषण तथा दोनों के सम्बन्ध विषयक ज्ञान) का जो नियामक होता है, वह 'सम्बन्ध' कहलाता है" यह (सम्बन्ध के विषय में) विद्वानों का विचार है। जैसे 'घड़े से युक्त भूमि है' इत्यादि में संयोग रूप सम्बन्ध दो सम्बन्धियों (घड़ा तथा भूतल) से भिन्न है, दोनों में रहता है तथा 'घट से निरूपित (ज्ञात) संयोग का आधार भूमि है' इस प्रकार की विशिष्ट बुद्धि (ज्ञान) का नियामक (ज्ञापक) है। यहां (शब्द तथा अर्थ के विषय में) वैसा (उपर्युक्त), 'घट शब्द इच्छा-युक्त है' या 'घट शब्द का अर्थ इच्छा-युक्त है' इस प्रकार का व्यवहार नहीं देखा जाता।

नैयायिकों ने इश्वरेच्छा को ही 'शक्ति' तथा पद और पदार्थ का 'सम्बन्ध' माना है। यहाँ नागेश भट्ट ने ईश्वरेच्छा को सम्बन्ध मानने की बात का खण्डन किया है, क्योंकि ईश्वरेच्छा को पद-पदार्थ का 'सम्बन्ध' मानने से पूर्व यह सिद्ध करना आवश्यक है कि यह ईश्वरेच्छा दो सम्बन्धियों (शब्द तथा अर्थ) में रहने वाला 'सम्बन्ध' है। यहां यह सिद्ध नही हो पाता कि ईश्वरेच्छा 'सम्बन्ध' है क्यों कि 'सम्बन्ध' के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने से सम्बद्ध दो सम्बन्धियों में रहता हुआ भी दोनों से भिन्न रहे तथा दोनों सम्बन्धियों के सम्बन्ध को प्रकट करे। तुलना करो— **सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवति उभयसम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च** (तर्कभाषा अभाव-निरूपण)। परन्तु यहाँ इच्छा न तो शब्द में है, न अर्थ में है और न ही वह किसी प्रकार के आधार-आधेय-भाव को बताती है। इसलिये ईश्वरेच्छा को 'सम्बन्ध' नहीं माना जा सकता।

**[वैयाकरणों के मत में शक्ति का स्वरूप]**

तस्माद् पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरम् एव शक्तिः वाच्य-वाचकभावापरपर्याया। तद्ग्राहकं चेतरेतराध्यासमूलक[1]

१. ह०—अध्यासमूलम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



तादात्म्यम् । तदेव सम्बन्धः । उभय-निरूपित-तादात्म्य-वान् उभय इत्यर्थ-पदयोर्व्यवहारात् । शक्तेरपि कार्य-जनकत्वे सम्बन्धस्यैव नियामकत्वात् । दीपादि-गत-प्रकाश-कत्वशक्तावपि आलोक-विषय-सम्बन्धे सत्येव वस्तु-प्रकाश-कत्वं नान्यथेति दृष्टत्वात् ।

इसलिये शब्द तथा अर्थ में (नैयायिकाभिमत ईश्वरेच्छा रूप) सम्बन्ध से भिन्न 'शक्ति' है, जिसका दूसरा नाम है —'वाच्य-वाचक-भाव' । उस ('शक्ति') का द्योतक है (शब्द तथा अर्थ का पारस्परिक) अभेदज्ञान, जिसका मूल (कारण) है एक में दूसरे का (शब्द में अर्थ का तथा अर्थ में शब्द का) अध्यारोप। यह 'तादात्म्य' ही (दोनों में विद्यमान) सम्बन्ध हैं। पद तथा पदार्थ का जो 'तादात्म्य' (अभेद) उससे दोनों (पद तथा पदार्थ) ही युक्त हैं इस प्रकार का व्यवहार अर्थ तथा पद दोनों में पाया जाता है (इस तरह 'तादात्म्य' को सम्बन्ध माना जा सकता है)।

(यदि यह कहा जाय कि पद तथा पदार्थ में विद्यमान 'वाच्यवाचक' रूप 'शक्ति' ही सम्बन्ध हैं तो वह उचित नहीं क्योंकि) 'शक्ति' की कार्योत्पादकता में भी ('शक्ति' से भिन्न) कोई सम्बन्ध ही नियामक होता है (जैसे) दीपादि में विद्यमान प्रकाशकता—'शक्ति' में भी, प्रकाश तथा (प्रकाश्यमान) विषय (वस्तु) का (परस्पर संयोग आदि कोई) सम्बन्ध होने पर ही, वस्तु को प्रकाशित करने की क्षमता होती है, अन्यथा (किसी सम्बन्ध के न होने पर) नहीं, ऐसा देखा गया है।

वैयाकरण ईश्वरेच्छा को 'शक्ति' न मानकर उससे भिन्न एक दूसरे प्रकार की 'शक्ति' मानते हैं। यहाँ के 'सम्बन्धान्तरम्' पद के लिये तुलना करो—**सा च पदार्थान्तरम् इति केचित्** (रसगङ्गाधर, द्वितीय आनन पृ० १२२)। तथा इसकी टीका में नागेश का कथन—'**केचिद्**'—**वैयाकरण-मीमांसकाः**। इस 'शक्ति' का ही दूसरा नाम है 'वाच्य-वाचक-भाव'।

**तद्ग्राहकं च ..... अर्थपदयोर्व्यवहारात्**—वस्तुतः शब्द का अर्थ में तथा अर्थ का शब्द में 'अध्यास' अथवा 'अध्यारोप' कर लिया जाता है। 'अध्यास' का अभिप्राय है—'एक में दूसरे के धर्म का आरोप या आभासन'। जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान। द्रष्टव्य—'**आरोपो नाम अन्यस्मिन् अन्यधर्मावभासः। यथा-शुक्तौ रजतम्** (न्याय-कोश)। इस पारस्परिक 'अध्यास' के कारण शब्द तथा उसके अर्थ में सर्वथा अभेद या 'तादात्म्य' की प्रतीति होती है। इसीलिये 'घट' शब्द से निरूपित 'तादात्म्य' से घट रूप अर्थ युक्त है तथा 'घट' रूप अर्थ से निरूपित 'तादात्म्य' से 'घट' शब्द युक्त है—इस प्रकार का व्यवहार होता है। इस प्रकार का अभेद-ज्ञान ही 'शक्ति' या दूसरे शब्दों में वाच्य-वाचक-भाव का द्योतक है।

यहाँ मूल पंक्ति में 'तादात्म्य' को ही वाच्य-वाचक-सम्बन्ध कहा गया है—'**तदेव सम्बन्धः**'। या तो यहाँ '**सम्बन्धः**'—पद का अर्थ 'सम्बन्ध-द्योतक' किया जाय या 'सम्बन्धः'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



के स्थान पर 'सङ्केतः' पाठ माना जाय, तभी इस स्थल की संगति लग सकती है, क्योंकि तादात्म्य तो एक प्रकार का 'सङ्केत' है और इस रूप में वह वाच्य-वाचक-भाव रूप सम्बन्ध का द्योतक है। तुलना करो—**तस्मात् पद-पदार्थयोः तद्-ग्राहकं चेतरेतराध्याससूलं तादात्म्यम्। तच्च संकेतः**(लम०, पृ० २६)।

**शक्तेरपि ··· दृष्टत्वात्**—लघुमंजूषा के इस प्रसंग में **शक्तेर् अपि कार्य-जनकत्वे** इत्यादि से पहले **यत्तु पदपदार्थयोर् बोध्य-बोधक-भाव-नियामिका शक्तिर् एव सम्बन्ध इति तन्न** (पृ० ३३) अर्थात् पद तथा पदार्थ के वाच्य-वाचक-भाव का नियमन करने वाली शक्ति ही सम्बन्ध है—यह मानना ठीक नहीं है, इतना पाठ और मिलता है जो परम-लघु-मंजूषा में छूटा हुआ है। या यह भी हो सकता है, कि इतने अभिप्राय को यहाँ अध्याहृत मान लिया गया हो, क्योंकि इस आशंका के उत्तर के रूप में ही यहाँ की पंक्तियों की संगति लग पाती है।

इन पंक्तियों में यह कहा गया है कि 'शक्ति' को ही सम्बन्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि 'शक्ति' को भी कार्य के उत्पादन के लिये, किसी न किसी दूसरे सम्बन्ध की आवश्यकता होती ही है। इसी दृष्टि से दीपक में विद्यमान प्रकाशिका शक्ति का दृष्टान्त दिया गया। दीपक में विद्यमान यह शक्ति तभी वस्तु को प्रकाशित कर पाती है, जब वस्तु तथा प्रकाश दोनों का 'संयोग' सम्बन्ध होता है। इसलिये 'शक्ति' को ही सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इसी कारण शब्द तथा अर्थ में विद्यमान अनादि शक्ति (योग्यता) तथा सम्बन्ध दोनों की घोषणा भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की निम्नकारिका में की है:—

**इन्द्रियाणां स्व-विषयेष्वनादिर् योग्यता यथा।**
**अनादिर् अर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥** वाप० ३.३.२९।

भर्तृहरि ने इस कारिका में शब्द तथा अर्थ में विद्यमान सम्बन्ध तथा योग्यता ('शक्ति') दोनों को अनादि एवं अनवच्छिन्नरूप से विद्यमान माना है। 'शक्ति' के साथ साथ शब्द तथा अर्थ में पारस्परिक सम्बन्ध के भी होने के कारण ही, नैयायिकों द्वारा अभिमत ईश्वरेच्छारूप 'शक्ति' का वैयाकरणों ने खण्डन कर दिया है क्योंकि उस ईश्वरेच्छारूप 'शक्ति' के साथ साथ, शब्द तथा अर्थ का परस्पर, कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी देता।

**'शक्ति' के साथ 'सम्बन्ध' की अनिवार्य सत्ता के विषय में भर्तृहरि का कथनः—**

**तद् उक्तं हरिणा—**

**"उपकारः स यत्रास्ति धर्मस् तत्रानुगम्यते।**
**शक्तीनाम् अप्यसौ शक्तिर् गुणानाम् अप्यसौ गुणः"।**

**"उपकारः—उपकार्योपकारकयोर् बोध-शक्त्योर् उपकार-स्वभावः सम्बन्धः—यत्रास्ति तत्र 'धर्मः' शक्तिरूपः**

---

१. तुलना करो:—

उपकारात् स यत्रास्ति धर्मस् तत्रानुगम्यते।
शक्तीनाम् अपि सा शक्तिर् गुणानाम् अप्यसौ गुणः॥ वा० ३।३।५

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**कार्यं दृष्ट्वा अनुमीयते। असौ सम्बन्धः 'शक्तिनाम्' अपि कार्य-जनने उपकारकः। 'गुणानाम्' अपि द्रव्याश्रितत्व-नियामकः" इति हेलाराजः[1]।**

इसलिये ('शक्ति' के साथ सम्बन्ध की अनिवार्य सत्ता का प्रतिपादन करते हुए) भर्तृहरि ने कहा :—

वह उपकार (सम्बन्ध) जहाँ है वहाँ (ही) धर्म (शक्ति) का अनुमान किया जाता है। (इसलिये) वह (सम्बन्ध) 'शक्तियों' की भी शक्ति (सामर्थ्य) है तथा (रूप आदि गुणों की द्रव्याश्रितता में एकमात्र सम्बन्ध के नियामक होने के कारण) वह (सम्बन्ध) ही गुणों (परतन्त्र 'रूप' आदि) का भी 'गुण' (उपकारक) है।

'उपकार'(अर्थात्)—उपकार्य (अर्थ) एवं उपकारक (शब्द) इन दोनों की बोध-शक्तियों का उपकार करने के स्वभाव वाला-- 'सम्बन्ध' जहाँ है वहाँ कार्य (शाब्द बोध आदि) को देख कर ('शक्ति'-रूप) धर्म (कारण) का अनुमान किया जाता है। (इसलिये) वह सम्बन्ध 'शक्तियों' के कार्योत्पादन में उपकारक है तथा ('रूप' आदि) गुण द्रव्य के आश्रित ही होते हैं इस बात का नियामक है" यह हेलाराज की व्याख्या है।

'उपकार्य' अथवा बोध्य है 'अर्थ' तथा उसका 'उपकारक' अथवा बोधक है 'शब्द'। इन दोनों 'उपकार्य' तथा 'उपकारक', अर्थात् 'शब्द' और 'अर्थ', में 'शक्ति' की सत्ता मानी जाती है। 'शब्द' में वाचकता रूप 'शक्ति' है तथा 'अर्थ' में वाच्यता रूप 'शक्ति'। इन दोनों 'शक्तियों' का उपकारक होने के कारण वाच्य-वाचक-भाव के नियामक 'तादात्म्य' आदि सम्बन्धों को वाक्यपदीय में 'उपकार' कहा गया है। इसी प्रकार 'शक्तियों' को 'धर्म' कहा गया है, क्योंकि 'शक्तियाँ', 'धर्म' के समान, शब्द तथा अर्थ में रहने वाला एक शाश्वत तत्त्व है।

हेलाराज वाक्यपदीय के टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। सम्प्रति वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड पर ही इनकी टीका उपलब्ध है। पर इनके अपने कथन —**काण्ड-द्वये यथावृत्ति सिद्धान्तार्थ-सतत्त्वतः**—से यह स्पष्ट है कि इस विद्वान् ने अन्य दो काण्डों पर भी अपनी टीका लिखी थी। (द्र० संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ३५५-५६)

परन्तु हेलाराज के नाम से जो पंक्तियां यहाँ उद्धृत हैं उनमें तथा इस कारिका की सम्प्रति उपलब्ध हेलाराज की टीका के शब्दों में कोई भी साम्य नहीं है। साथ ही यह

१. तुलना करो :— सम्प्रति उपलब्ध हेलाराज की निम्न टीका :—

उपकार्योपकारकयोर् उपकार-प्रभावितः सम्बन्धः। असम्बद्धानाम् उपकाराभावात् धर्मः इति नित्य-परतन्त्र्यम् आह। धर्मित्वे स्वातन्त्र्यात् सम्बन्धान्तर-प्राप्तेर् अनवस्थापातात्। न च शक्तिर् एव सम्बन्धः। शक्तीनाम् अपि आधार-परतन्त्र्ये नियत-कार्य-जनने च सम्बन्ध एव नियामको यतो गुणानाम् अपि च द्रव्याश्रितत्व-व्यावस्थापकः सम्बन्ध एव, इति परतंत्राणाम् उपकारकत्वात् सर्वत्रानुमीयमान-स्वरूपो नित्य-परतन्त्रः।

(के० एस० अय्यर सम्पादित वाक्यपदीय, काण्ड ३, भाग १, पृ० १२९)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



भी द्रष्टव्य है कि यहाँ के इस, हेलाराज के नाम से उद्धृत, पाठ में तथा लघुमंजूषा के पाठ में कोई अन्तर नहीं है।

[**'सम्बन्ध' पद तथा वाक्य दोनों में ही रहता है**] :—

> स सम्बन्धः पदे वाक्ये च। तद् आह **न्यायभाष्यकारः**— **समय-ज्ञानार्थं चेदं पद-लक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणम्। वाक्य-लक्षणाया वाचोऽर्थं लक्षणम्**[1]। अनेन पदेष्विव वाक्येष्वपि ईश्वर-समय इति स्पष्टम् एवोक्तम्। तस्माद् इतरेतराध्यासः संकेतः। तन्मूलकं तादात्म्यं च सम्बन्ध इति सिद्धान्तः[2]।

वह सम्बन्ध पद तथा वाक्य (दोनों) में है। इसलिये न्यायभाष्यकार (वात्स्यायन) ने कहा—"संकेत-ज्ञान के लिये पद-रूप वाणी का ज्ञापक यह व्याकरण है तथा-वाक्य-रूप वाणी का बोधक है अर्थ-(प्रतिपादक) शास्त्र (तर्क, मीमांसा आदि)"। इसके पदों के समान वाक्यों में भी ईश्वरीय संकेत है—ऐसा स्पष्ट कहा गया। इसलिये (शब्द तथा अर्थ का) एक दूसरे में 'अध्यारोप' संकेत है, जिसके आधार पर 'तादात्म्य'-सम्बन्ध बनता है। यही (उचित) सिद्धान्त है।

वह 'तादात्म्य' सम्बन्ध पद तथा वाक्य दोनों में है यह कह कर तथा अपने इस कथन की पुष्टि में न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के वाक्य को उद्धृत कर नागेश ने यह बताना चाहा है कि अर्वाचीन नैयायिकों द्वारा वाक्य-स्फोट को न मानना उचित नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार पदार्थ की दृष्टि से पदों में 'सम्बन्ध' की स्थिति मानी जाती है उसी प्रकार वाक्यार्थ की दृष्टि से वाक्य में भी सम्बन्ध की स्थिति माननी चाहिये। इसीलिये आचार्य वात्स्यायन ने 'संकेत' के ज्ञान की बात पद-रूपा वाणी तथा वाक्य-रूपा वाणी दोनों के लिये कही। और 'तादात्म्य' अर्थात् शब्द और अर्थ में अभिन्नता का सम्बन्ध संकेत-मूलक है अतः 'सम्बन्ध' को भी पद तथा वाक्य दोनों में ही मानना चाहिये। द्रष्टव्य—**एतेन "पदार्थे सम्बन्ध-ग्रहवन्त्यपि पदानि वाक्यार्थे समय-ग्रहानपेक्षाण्येव—इति वाक्य-स्फोटो नैयायिकासम्मतः" इति परास्तम्** (लम०, पृ० ३८)।

---

१. तुलना करो न्यायसूत्र, वात्स्यायन-भाष्य, २।१।५५ :—
समय-पालनार्थं चेदं पद-लक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणम्।
वाक्य-लक्षणाया वाचोऽर्थो लक्षणम्।

२. प्रकाशित संस्करणों में—सङ्घातार्थः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[ 'सङ्केत' के विषय में योग-सूत्र के व्यास-भाष्य का प्रमाण ] :-

तद् उक्तं **पातंजल-भाष्ये**[1]—**संकेतस् तु पद**[2]**-पदार्थयोर् इतरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको यो**[3]**ऽयं शब्दः सोऽर्थो योऽर्थः स शब्दः** इति । 'स्मृत्यात्मकः' इत्यनेन ज्ञात-स्यैव संकेतस्य शक्ति-बोधकत्वं दर्शितम् ।

इसलिये पातंजल-(योग–सूत्र के व्यासकृत) भाष्य में कहा गया है –''संकेत तो पद तथा पदार्थ का पारस्परिक अध्यारोप-रूप है । जो यह शब्द है वही अर्थ है और जो अर्थ है वही शब्द है इस प्रकार की स्मृति ही संकेत की आत्मा (विषय) है'' । 'स्मृत्यात्मकः' इस (कथन) से यह बताया गया कि ज्ञात संकेत ही 'शक्ति' का बोधक है ।

**संकेतस्तु''' ''स शब्दः इति**—ऊपर जो यह कहा गया कि शब्द और अर्थ का पारस्परिक 'अध्यास' ही संकेत है उसकी पुष्टि में योगदर्शन के व्यास भाष्य का कथन प्रमाण के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है । 'पातंजल भाष्य' शब्द से संभवतः यहाँ व्यासकृत भाष्य ही अभिप्रेत है । 'इतरेतराध्यासरूपः' शब्द का विग्रह है 'इतरे-तराध्यासो रूपं स्वरूपं आत्मा यस्य सः' । इसका अर्थ यह है कि पद और पदार्थ या शब्द और शब्दार्थ का पारस्परिक 'अध्यास' ही संकेत है । 'अध्यास' तथा 'अध्यारोप' या केवल 'आरोप' लगभग समानार्थक शब्द हैं । नैयायिक जिसे आरोप या अध्यारोप कहते हैं उसे ही वेदान्ती अध्यास नाम देते हैं । आरोप की परिभाषा की गयी है—'अन्य में अन्य के धर्म का ज्ञान' । द्र०—**अतद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानम् आरोपः** (न्यायकोश) यह आरोप दो तरह का माना गया । एक आहार्य, अर्थात् कृत्रिम, तथा दूसरा अनाहार्य अर्थात् अकृत्रिम या वास्तविक । 'आहार्य आरोप' वह है जहाँ बाध ज्ञान का निश्चय होने पर भी अपनी इच्छा से हम उसमें अन्य धर्म के ज्ञान को स्वीकार कर लेते हैं · **बाधकालीनम् इच्छा-जन्यं ज्ञानम् आहार्यम्** (न्यायकोश) । जैसे मुख तथा चन्द्रमा दोनों के भिन्न भिन्न होने पर भी चन्द्रमा के धर्म आह्लादकत्व आदि का अपनी इच्छा से प्रेयसी के मुख में आरोप कर लेना । इस 'आहार्य आरोप' को ही साहित्य में 'रूपक' अलंकार का बीज माना गया । द्र०—**रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे** (साहित्यदर्पण १०.४०) यहाँ पद तथा पदार्थ के पारस्परिक अध्यास या 'अरोप' की जो कल्पना की गयी उसे वैयाकरणों की दृष्टि में 'आहार्य' (कृत्रिम) न मान कर, अनाहार्य (सत्य) ही मानना होगा । क्योंकि भर्तृहरि आदि ने

---

१. ह० में 'पातंजल-भाष्ये' अनुपलब्ध ।

२. प्रकाशित संस्करणों में 'पद' अनुपलब्ध ।

३. तुलना करो योगसूत्र-व्यासभाष्य (३।१७); योऽयं शब्दः सोऽयमर्थः । योऽर्थः स शब्दः । इत्येवम् इतरेतराध्यास-रूपः संकेतो भवति ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



दोनों को वस्तुतः अभिन्न माना है। पद तथा पदार्थ का यह पारस्परिक 'अध्यारोप' ही 'संकेत' है।

**स्मृत्यात्मक···दर्शितम्**—'स्मृत्यात्मकः' इस पद का विद्वानों ने दो प्रकार से विग्रह किया है। प्रथम है—**स्मृतिः आत्मा (विषयो) यस्य सः**, अथवा **स्मृतौ आत्मा (स्वरूपं) यस्य सः**। इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञात शब्द तथा अर्थ की स्मृति होने पर ही 'अध्यास' या दूसरे शब्दों में संकेत सम्भव है। इस पद का दूसरा विग्रह है—**स्मृतौ (पाणिन्या-दिशास्त्रेषु) आत्मा यस्य**। इसके अनुसार अर्थ यह हुआ कि पाणिनि आदि आचार्यों के शास्त्रों में जिसका स्वरूप वर्णित या निर्णीत है वह 'सङ्केत' है। परन्तु इन दोनों में पहला विग्रह तथा अभिप्राय अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है क्योंकि उससे 'सङ्केत' में स्मृति की अनिवार्यता प्रतिपादित होती है।

**['ईश्वर-संकेत ही शक्ति है' नैयायिकों के इस मत का खण्डन]**

उक्त ईश्वर-सङ्केत एव शक्तिरिति **नैयायिक-मतं** न युक्तम्। 'अयम् एतच्छक्यः' 'अत्रास्य शक्तिः' इत्यस्य सङ्केतस्य शक्तितः **पार्थक्येन** प्रसिद्धत्वात्। अत एव **न्यायवाचस्पत्ये** उक्तम्—**सर्गादिभुवां महर्षिदेवतानाम् ईश्वरेण साक्षादेव कृतः सङ्केतः। तद्व्यवहाराच्चा-स्मदादीनामपि सुग्रहस्तत् सङ्केतः**[1]।

(उपरि) कथित 'ईश्वर संकेत ही शक्ति है' यह नैयायिकों का विचार ठीक नहीं है क्योंकि 'यह (अर्थ) इस (पद) का शक्य है', 'इस (अर्थ) में इस (पद) की शक्ति है' इन (प्रयोगों) से, 'शक्ति' से भिन्न रूप में इस 'सङ्केत' की प्रतीति होती है। इसीलिये न्याय-सूत्र की वाचस्पति-टीका में कहा गया है—"सृष्टि के प्रारम्भ में होने वाले महर्षियों तथा देवताओं को ईश्वर ने साक्षात् सङ्केत किया। उनके व्यवहार से हम लोगों को भी वह सङ्केत सुलभ है"।

यहां यह बताया गया कि 'सङ्केत' 'शक्ति' का बोधक है—'सङ्केत' में 'शक्ति' रहती है, अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि 'सङ्केत' घटित है तथा 'शक्ति' उसका घटक है। इस रूप में एक आधार है तो दूसरा आधेय। अतः दोनों स्पष्टतः पृथक्-पृथक् हैं। इसलिये 'सङ्केत' को ही 'शक्ति' नहीं माना जा सकता। नैयायिकों को भी यह बात अभिमत है, यह बताते हुए ग्रन्थकार ने यहां वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका से एक स्थल प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। नागेश के 'अतएव' का अभिप्राय यह है कि 'सङ्केत' 'शक्ति' का बोधक है, इसलिये उसे 'शक्ति' का बोधक मानते हुए ही

---

१. तुलना करो—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (२।१।५५);
सोऽयं वृद्धव्यवहारः साम्प्रतिकानां सङ्केतग्रहोपायः। सर्गादि-भुवां तु महर्षिदेवतानां परमेश्वरानुग्रहाद् धर्मज्ञान-वैराग्यैश्वर्यातिशयसम्पन्नानां परमेश्वरेण सुकर एव संकेतः कर्तुम्। तद्व्यवहाराच्च अस्मदादीनाम् अपि सुग्रहः सङ्केतः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा कि ईश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में महर्षियों तथा देवताओं को साक्षात् शब्दों के अर्थ-विषयक सङ्केत का ज्ञान दिया। अतः 'सङ्केत' को 'शक्ति' नहीं माना जा सकता। 'सङ्केत' से पद-पदार्थ के 'तादात्म्य'—सम्बन्ध अथवा पारस्परिक 'अध्यास' का ज्ञान होता है तथा वह तादात्म्य सम्बन्ध वाच्य-वाचक-भाव-रूपा 'शक्ति' का द्योतक है।

['शब्द तथा अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध है' इस सिद्धान्त में प्रमाण]

तस्य च तादात्म्यस्य निरूपकत्वेन विवक्षितोऽर्थः शक्यः आश्रयत्वेन विवक्षितः शब्दः शक्त इत्युच्यते। शब्दार्थयोस्तादात्म्यादेव 'श्लोकम् अशृणोद् अथ अर्थं शृणोति', 'अर्थं वदति' इत्यादि-व्यवहारः। **ओम् इत्येकाक्षरं ब्रह्म** (ब्रह्मविद्योपनिषद् ३), **रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः, वृद्धिरादैच्** (पा० १.१.१.) इति शक्ति-ग्राहक-श्रुति-स्मृति-विषये सामानाधिकरण्येन प्रयोगाश्च।

उस 'तादात्म्य सम्बन्ध' के निरूपक (या निर्णायक) के रूप में विवक्षित अर्थ को 'शक्य' तथा (उस तादात्म्य सम्बन्ध के) आश्रय के रूप में विवक्षित शब्द को 'शक्त' कहा जाता है। शब्द तथा अर्थ में तादात्म्य (अभेद सम्बन्ध) के कारण ही 'श्लोक को सुना अब अर्थ को सुनता है' 'अर्थ को कहता है' इत्यादि व्यवहार (प्रयोग) होते हैं। "ओम्' यह एक अक्षर ब्रह्म है", "राम' यह दो अक्षर वाला नाम शंकर के घमण्ड को चूर करने वाला है" "आ ऐ औ वृद्धि है" इत्यादि शक्ति को बताने वाली श्रुतियों तथा स्मृतियों में, सामानाधिकरण्य (तादात्म्य) के द्वारा, प्रयोग किये गये हैं।

**तस्य च···शक्त इत्युच्यते**—शब्द तथा अर्थ में जो 'तादात्म्य' सम्बन्ध माना जाता है उसका निरूपक अथवा निर्णायक है अर्थ, क्योंकि उसकी दृष्टि से ही शब्द में इस सम्बन्ध का निश्चय होता है। इसलिए इस सम्बन्ध के निरूपक के रूप में जिस अर्थ की विवक्षा की जाती है उस अर्थ को 'शक्य', अर्थात् शक्ति का विषय अथवा शक्ति के द्वारा बोध्य, कहा जाता है। दूसरी ओर शब्द उस 'तादात्म्य' सम्बन्ध का आश्रय बनता है। इसलिये आश्रय के रूप में विवक्षित शब्द को 'शक्त', अर्थात् शक्तियुक्त अथवा बोधक, कहा जाता है।

**शब्दार्थयो·····प्रयोगश्चः**—श्लोक रूप शब्द का ही श्रवणेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हो सकता है अर्थ का नहीं। परन्तु 'श्लोकम् अशृणोद् अथ अर्थं शृणोति' जैसे प्रयोगों में श्लोकरूप शब्द तथा उसके अर्थ दोनों में अभेद या तादात्म्य मान कर ही 'अर्थ' को कहने या सुनने की बात सुसंगत हो सकती है। इसी प्रकार 'ओम्' शब्द और उसके अर्थभूत परब्रह्म का अभेद, 'राम' शब्द तथा उसके अर्थभूत मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अभेद एवं 'वृद्धि' शब्द (संज्ञा) तथा उसके अर्थ आ, ऐ, औ (संज्ञी) का अभेद होने पर ही उपरि निर्दिष्ट प्रयोग सुसङ्गत हो सकते हैं।

इस प्रकार श्रुतियों, शास्त्रों तथा लौकिक-प्रयोगों के आधार पर शब्द तथा अर्थ में तादात्म्य-सम्बन्ध की स्थिति ही सर्वथा तर्कसंगत है।

[**'तादात्म्य' सम्बन्ध का स्वरूप**]

**'तादात्म्यं' च तद्-भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्** इति भेदाभेद-समनियतम्। अभेदस्य अध्यस्तत्वाच्च न तयोर्विरोधः। यत्तु **तार्किकाः** "**शब्दार्थयोस्तादात्म्य-स्वीकारे 'मधु'-शब्दोच्चारणे मुखे दाहापत्तिः**" इत्याहुः, तन्न। भेदाभेदस्योपपादितत्वात्।

'तादात्म्य' (का अभिप्राय) है उन (शब्द तथा अर्थ) की भिन्नता होने पर (भी) उनकी अभेदरूप से प्रतीयमानता। इसलिये (वह 'तादात्म्य') भेद तथा अभेद दोनों के साथ समानरूप से तथा नियतरूप से रहता है। नैयायिक जो यह कहते हैं कि "शब्द तथा अर्थ में 'तादात्म्य'-सम्बन्ध मान लेने पर 'मधु' शब्द का उच्चारण करने से मुख में माधुर्य-रस की प्रतीति तथा 'वह्नि' शब्द के उच्चारण करने पर मुख में जलन की प्रतीति होनी चाहिये", वह (कथन) ठीक नहीं है, क्योंकि ('तादात्म्य' सम्बन्ध में) भेद तथा अभेद (दोनों) का (ही) उपपादन किया गया है।

'तादात्म्य' सम्बन्ध की परिभाषा में यहां यह स्पष्ट कहा गया कि 'तादात्म्य' सम्बन्ध वहां होता है जहां भेद होने पर भी अभेद रूप से प्रतीति हो। इसीलिये 'तादात्म्य' को यहां 'भेदाभेद-सम-नियत' कहा गया। यह 'सम-नियत' शब्द नैयायिकों का पारिभाषिक शब्द है। इस की परिभाषा की गयी है—**व्याप्यत्वे सति व्यापकत्वम्** (न्यायकोश), अर्थात् जो स्वयं ही व्याप्य भी हो तथा व्यापक भी हो। जैसे अभिधेयता तथा पदार्थता में 'समनियत' है। जहां-जहां 'अभिधेयता' (वाच्यता) होगी वहां-वहां पदार्थता भी होगी। इसे यों भी कहा जा सकता है कि जहां-जहां पदार्थता होगी वहां वहां अभिधेयता भी होगी। इस रूप में अभिधेयता व्याप्य भी है तथा व्यापक भी है। इसी प्रकार यहां 'तादात्म्य' भेद तथा अभेद दोनों में समान रूप से रहता है। इसलिये वह भेदाभेद में 'समनियत' है। वस्तुतः 'तादात्म्य' होता ही वहां है जहां भिन्नता होने पर भी अभिन्न रूप से प्रतीति हो। इसलिये जब तक दोनों ही नहीं होंगे तब तक 'तादात्म्य' सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। यह 'भेदाभेद-समनियतता' ही नैयायिकों की इस आशङ्का का समाधान कर देती है कि, शब्द तथा अर्थ में 'तादात्म्य' सम्बन्ध होने पर भी, 'मधु' कहने पर मुख में मधुरता तथा 'अग्नि' कहने पर जलन की प्रतीति क्यों नहीं होती। स्पष्ट है कि 'तादात्म्य' में केवल अभेद नहीं माना जाता अपितु भेद में अभेद माना जाता है, इसलिये दोनों के होने के कारण नैयायिकों की शंका निर्मूल है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**['बुद्धिगत अर्थ ही वाच्य है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन]**

वस्तुतो बौद्ध एवार्थः शक्यः। पदम् अपि स्फोटात्मकं[1] प्रसिद्धम्। तयोस्तादात्म्यम्। तत्र बौद्धे वह्न्यादावर्थे दाहादिशक्तिमत्त्वाभावात्। अत एव **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः** (योगसूत्र १.९) इति **विकल्पसूत्रं** सङ्गच्छते। शब्द-ज्ञानमात्रेण 'अनुपाती' बुद्धावनुपतन-शीलो 'वस्तुशून्यः' बाह्यार्थरहितः विशेषेण कल्प्यते इति 'विकल्पः'-बुद्धिपरिकल्पित इति तदर्थः।

वास्तविकता तो यह है कि बुद्धि में विद्यमान अर्थ ही शक्य (वाच्य) है तथा पद भी स्फोट रूप (बुद्धिगत) ही माना जाता है। (बुद्धि में विद्यमान) उन दोनों (शब्द तथा अर्थ) का 'तादात्म्य' होता है। वहां बुद्धिगत वह्नि आदि पदार्थों में दाह आदि की शक्तिमत्ता का अभाव रहता है। इसीलिये (पदार्थ को बुद्धिगत मानने के कारण ही) विकल्प (के स्वरूप को बताने वाला यह) सूत्र सुसङ्गत होता है कि—"शब्दज्ञान का अनुसरण करने वाला बाह्यार्थ रहित (बुद्धिगत ज्ञान) 'विकल्प' है।" इसका अर्थ है—"शब्दोत्पन्न ज्ञानमात्र के आधार पर उपस्थित होने वाला अर्थात् बुद्धि में उपस्थित होने के स्वभाव वाला, वस्तुशून्य अर्थात् बाह्यार्थ से रहित (जो ज्ञान है वह) विशेष रूप से कल्पित होता है—बुद्धि से उसकी परिकल्पना की जाती है, इसलिये उसे 'विकल्प' कहा जाता है"।

वाच्य अर्थ तथा वाचक शब्द दोनों ही वक्ता की बुद्धि में पहले से विद्यमान होते हैं तथा उन दोनों में परस्पर 'तादात्म्य' सम्बन्ध होता है। श्रोता भी जब शब्द को सुनता है तथा उससे किसी अर्थ को जानता है तो उसकी बुद्धि में दोनों—शब्द तथा अर्थ—का 'तादात्म्य' होता है। पदार्थ या वाच्यार्थ वक्ता की बुद्धि में ही रहते हैं, इसलिये वे अपने लौकिक दाहकत्व आदि धर्मों से युक्त नहीं होते। योगदर्शन में जो 'विकल्प' की परिभाषा की गयी है वह तभी सुसंगत हो सकती है यदि इस बात को मान लिया जाय कि पद तथा पदार्थ दोनों बुद्धिगत होते हैं। क्योंकि 'विकल्प' की परिभाषा में यह स्पष्ट कहा गया है कि शब्द-ज्ञान से उत्पन्न होने वाला, पर बाह्यार्थ—(लौकिक वस्तु-स्वरूप) से रहित, जो ज्ञान वह 'विकल्प' है। इसलिये योगदर्शन में अभिमत 'विकल्प' की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि वाच्यार्थ या शक्यार्थ वस्तुतः बुद्धिगत होता है।

इसी अभिप्राय को भर्तृहरि ने अपनी निम्न कारिका में अलातचक्र के दृष्टान्त के द्वारा प्रकट किया है :—

**अत्यन्तम् अतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात्।**
**दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकार-निरूपणा॥** वाप० १.१३०

---

१. इ०—'बौद्ध-स्फोटात्मकम्'।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस कारिका का अभिप्राय यह है कि यों तो शब्द का प्रयोग बाहर विद्यमान अर्थ की दृष्टि से ही होता है परन्तु 'अलातचक्र' जैसे शब्दों के प्रयोग से अत्यन्त अतथाभूत, अर्थात् सर्वथा अस्तित्व हीन—अविद्यमान, अलातचक्र आदि पदार्थ की प्रतीति होती है। 'अलातचक्र' इस शब्द को सुनने से श्रोता को लम्बे आकार वाले अलात के विषय में भी चक्राकारता का ज्ञान होता है। जिसका एक सिरा जल गया है तथा जिसमें आग की चिनगारी चमक रही है उस लकड़ी को 'अलात' कहा गया है। बच्चे प्रायः इस तरह की लकड़ी को लेकर घुमाते हैं। घुमाने से देखने वाले व्यक्ति को उस लम्बी पतली लकड़ी में चक्र के आकार की प्रतीति होती है। यह प्रतीति सर्वथा असत्य एवं बाह्यार्थ रहित होती है। इसी कारण 'अलातचक्र' शब्द के प्रयोग से इस चक्राकारता की प्रतीति का उदाहरण भर्तृहरि ने यहाँ दिया है। यहाँ 'अलातचक्र' के साथ जो 'आदि' पद है वह 'खपुष्प', 'शशविषाण' जैसे शब्दों का संग्राहक है, जिनके प्रयोग में उस प्रकार के बाह्यवस्तु का सर्वथा अभाव होता है।

**['बुद्धिगत अर्थ ही शब्द के द्वारा अभिव्यक्त होता है' इस विषय में एक और हेतु]**

अत एव—

**एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः।**
**कूर्म-क्षीर-चये स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः[1] ॥**

इत्यत्र वन्ध्यासुतादीनां बाह्यार्थशून्यत्वेऽपि बुद्धिपरिकल्पितं वन्ध्यासुतशब्दवाच्यार्थम् आदाय अर्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वम्। अन्यथा अर्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकत्वाभावात् स्वाद्युत्पत्तिर्न स्यात्।

इसीलिये (बुद्धिगत अर्थ के शक्य या वाच्य होने के कारण)—

"आकाशपुष्प को शिरोभूषण बनाये हुए, कछुए के दूध में स्नान किये हुए तथा खरगोश की सींग से निर्मित धनुष को धारण किये हुए यह वन्ध्या का पुत्र जाता है।"

इस (श्लोक) में 'वन्ध्या पुत्र" आदि शब्दों के, बाह्यार्थ से रहित होने पर भी (वन्ध्यासुत आदि शब्दों के) बुद्धिपरिकल्पित वाच्यार्थ की दृष्टि से, अर्थवान् होने के कारण उनकी 'प्रातिपदिक' संज्ञा मानी जाती है। अन्यथा (बुद्धिगत अर्थ को न मानने पर) इन शब्दों को अर्थवत्ता के अभाव में, 'प्रातिपदिक' संज्ञा न होने पर, (इन शब्दों से) 'सु' आदि विभक्तियों की उत्पत्ति नहीं होगी।

१. तुलना करो—सुभाषितरत्नभाण्डागार, अद्भुत रस निर्देश, श्लोक सं० ४;

एष वन्ध्यासुतो याति ख-पुष्प-कृत-शेखरः।
मृग-तृष्णाम्भसि स्नातः शश-शृङ्ग-धनुर्धरः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



वैयाकरण केवल अर्थवान् (सार्थक) शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा करते हैं द्र०— **अर्थवद् अधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (पा० १.२.४५) : इसलिये 'वन्ध्यासुत' आदि शब्दों की तब तक 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं हो सकती जब तक ये शब्द सार्थक न हों। परन्तु बाह्य अर्थ की दृष्टि से ये शब्द कभी भी सार्थक नहीं हो सकते क्योंकि इन शब्दों का बाह्य अर्थ कुछ होता ही नहीं। इसलिये जब तक इनसे उत्पन्न होने वाले बुद्धिगत अर्थ की सत्ता नहीं मानी जाती तब तक ये शब्द सार्थक नहीं हो सकते। अतः इन शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा की सिद्धि तथा उसके आधार पर इनसे 'सु' आदि विभक्तियों की प्राप्ति के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि इन्हें अर्थवान् माना जाय या दूसरे शब्दों में इनके बौद्ध अर्थ को स्वीकार किया जाय।

**['शश-शृङ्गम्' जैसे प्रयोगों में नैयायिकों के मन्तव्य का खण्डन]**

यत्तु 'शशशृङ्गम्' इत्यत्र **'शृङ्गे' शशीयत्वभ्रमः'** इति **तार्किकै** रुक्तम्, तन् न। शश-शब्द-वाच्य-जन्तु-दर्शन-रूप-बाधे सति 'शश-शृङ्गं नास्ति' इति वाक्ये 'शश-शृङ्गम्' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वानापत्तेः।

नैयायिकों ने जो यह कहा है कि 'शशशृङ्गम्' इस प्रयोग में शृङ्ग में खरगोश के सम्बन्ध होने का भ्रम हो जाता है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि इस भ्रान्ति में 'शश' शब्द के वाच्यार्थ जन्तु-विशेष (खरगोश) के दर्शनरूप बाध-ज्ञान के हो जाने पर 'शशशृङ्गं नास्ति' इस वाक्य में 'शशशृङ्गम्' इस शब्द की (बाह्यार्थ से हीन होने तथा इस रूप में सार्थक न होने के कारण) 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं हो सकती (और तब विभक्ति के न आने से 'शशशृङ्गम्' रूप नहीं बन सकता)।

नैयायिकों के अनुसार 'शशशृङ्गम्' जैसे प्रयोगों में ऐसा होता है कि वहां सींग में 'खरगोश' के सम्बन्ध' की, अर्थात् 'खरगोश की सींग है' इस प्रकार की, भ्रान्ति हो जाती है। इस भ्रान्त अर्थवत्ता के आधार पर वे **'शशशृङ्गम्'** में 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा तदाश्रित कार्य करना चाहते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि खरगोश को सींग रहित देख लेने के पश्चात्, भ्रान्ति का निवारण हो जाने पर, 'शशशृङ्गं नास्ति' (खरगोश के पास सींग नहीं है) यह कहते हुए 'शशशृङ्ग' शब्द से, अर्थवत्ता के अभाव में विभक्ति की प्राप्ति कैसे होगी। इसलिये भ्रान्त ज्ञान कह कर उपर्युक्त प्रयोगों की संगति नहीं लगती। अतः ऐसे स्थलों में तो बुद्धि-गत अर्थ मानना ही होगा।

---

१. ह० में "शशशृङ्गम्' इत्यत्र 'शृङ्गे" के स्थान पर "शृङ्गे शशशृङ्गम्" पाठ है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[अर्थ भेद के आधार पर शब्द-भेद या 'अनेक शब्दता' तथा आकार-साम्य के आधार पर 'एक शब्दता' का व्यवहार]

> अर्थ-पदयोस् तादात्म्यात्[1] तत्-तद्-अर्थ-तादात्म्यापन्नः शब्दो भिन्न इति हेतोः **अर्थ-भेदात् शब्द-भेदः** इति व्यवहारः। समानाकार-मात्रेण तु **एकोऽयं शब्दो बह्वर्थः**, इति व्यवहारः।

अर्थ तथा शब्द के तादात्म्य के कारण (ही) उन उन (अपने अपने विशिष्ट) अर्थों के साथ अभेद को प्राप्त हुआ शब्द (दूसरे शब्द से) भिन्न हो जाता है। इस कारण "अर्थ की भिन्नता के आधार पर शब्दों में भिन्नता होती है" ऐसा व्यवहार होता है। (परन्तु) आकार (अथवा रूप) की समानता के कारण "यह एक शब्द अनेक अर्थों वाला है" यह व्यवहार भी होता है।

शब्दों का अपने अपने विशिष्ट, अर्थ के साथ अभेद रूप से अन्वय हो जाने के कारण प्रत्येक शब्द दूसरे शब्द से भिन्न हो जाता है। इसलिये अर्थ की भिन्नता के आधार पर शब्दों में भी भिन्नता आ जाती है। अर्थकृत इस भिन्नता के कारण शब्दों में जो भिन्नता की प्रतीति होती है उसके कारण ही 'शब्दनानात्ववाद' अथवा 'अर्थ भेद से शब्द भेद' पक्ष की प्रतिष्ठापना की गयी। इसी दृष्टि से पतंजलि ने दो बार महाभाष्य में निम्न वाक्य कहे :—"**ग्राम शब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव शाला-समुदाये वर्तते। तद् यथा—'ग्रामो दग्धः' इति। अस्ति वाट-परिक्षेपे वर्तते। तद् यथा—'ग्रामं प्रविष्टः'। अस्ति मनुष्येषु वर्तते। तद् यथा—'ग्रामो गतः', 'ग्राम आगतः' इति। अस्ति सारण्यके ससीमके सस्थण्डलिके वर्तते। तद् यथा—'ग्रामो लब्धः' इति। तद् यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डलिके वर्तते तम् अभिसमीक्ष्य एतत् प्रयुज्यते 'अनन्तराद् इमौ ग्रामौ' इति**। महा० (१.१.७ तथा २०)। यहां की व्याख्या करते हुए कैयट ने यह स्पष्ट किया है कि 'कुछ लोग अर्थ की भिन्नता के आधार पर एक शब्द में भी भिन्नता की कल्पना कर लेते हैं। दूसरे विद्वान् अर्थ की भिन्नता के रहने पर भी एक-शब्दता ही मानना चाहते हैं। भेदपक्ष अथवा व्यक्तिपक्ष का आश्रयण करके **ग्राम शब्दोऽयं बह्वर्थः** इत्यादि भाष्यकार ने कहा है।

परन्तु अर्थभेद के कारण शब्दभेद के सिद्धान्त के साथ साथ शब्द के रूप अथवा आकार की एकता के कारण एक दूसरे सिद्धान्त 'शब्दैकत्ववाद' अथवा अभेदपक्ष की भी प्रतिष्ठापना हुई। यहां की—"समानाकारमात्रेण तु एकोऽयं शब्दो बह्वर्थः" इस पंक्ति में नागेश ने इसी सिद्धान्त की ओर संकेत किया है। पतंजलि ने भी इस सिद्धान्त की दृष्टि से ही 'एकश्च शब्दो बह्वर्थो अक्षाः पादाः माषाः (महा० १.२.६४) इत्यादि वाक्य कहे हैं। एक ही 'अक्ष' शब्द 'बिभीतक', 'इन्द्रिय' 'रथ का अक्ष', 'द्यूत का अक्ष' तथा 'पाश' इन अनेक अर्थों का वाचक है। इसी

१. ह०—तादात्म्यादेः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्रकार 'पाद' तथा 'माष' आदि शब्द भी अनेक अर्थों के वाचक हैं। इसलिये अर्थ-भेद के कारण अनेकशब्दता तथा समान आकार के कारण एकशब्दता दोनों ही स्थितियां तथा व्यवहार विद्वानों में प्रचलित हैं। भर्तृहरि ने इन दोनों ही सिद्धान्तों को वाक्यपदीय की निम्न कारिकाओं में संगृहीत तथा समन्वित किया है :—

**कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिद् एकत्ववादिनः।**
**कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिन् नानात्ववादिनः॥ १.७०**
**भिन्नं दर्शनम् आश्रित्य व्यवहारोऽनुगम्यते।**
**तत्र यन्मुख्यमेकेषां तत्रान्येषां विपर्ययः॥१।७४**

अर्थात् कुछ लोग शब्द को अनित्य तथा कुछ उसे नित्य मानते हुए शब्दैकत्ववाद को मानने वाले हैं। परन्तु दूसरे विद्वान्, जिन में कुछ शब्द को अनित्य तथा कुछ नित्य मानने वाले हैं, शब्दनानात्ववाद के अनुयायी हैं। इन दो विभिन्न सिद्धान्तों का आश्रयण करके उनके व्यवहार देखे जाते हैं। इन दोनों वादों में से एक वर्ग की दृष्टि में जो मत (शब्दैकत्व या शब्दनानात्व) प्रमुख है वही दूसरे वर्ग की दृष्टि में गौण है। मानते दोनों ही वर्ग दोनों वादों को हैं पर एक वर्ग जिस वाद को प्रमुख मानता है दूसरा उसे गौण मानता है।

**['साधु' तथा 'असाधु' दोनों प्रकार के शब्दों में 'शक्ति' की सत्ता का प्रतिपादन]**

सा च शक्तिः साधुष्विवापभ्रंशेषु अपि शक्तिग्राहक-शिरोमणेर्व्यवहारस्य तुल्यत्वात्। व्यवहारदर्शनेन च पूर्वजन्मानुभूतशक्तिस्मरणम्। अतएव बालानां तिरश्चां च अन्वय[1]-बोधः। नहि तेषां तदैव तत्सम्भवः।

वह (वाचकता) शक्ति जिस प्रकार साधु शब्दों में रहती है उसी प्रकार अपभ्रंश (शब्दों) में भी रहती है, क्योंकि शक्ति के द्योतकों में प्रधानभूत (हेतु) 'व्यवहार' दोनों (साधु तथा अपभ्रंश शब्दों) में समान रूप से होता है। (इस) 'व्यवहार' (शब्दप्रयोग) के देखने से पूर्वजन्मों में अनुभूत (शब्द की) शक्ति का स्मरण हो जाता है। इसी लिये बालकों तथा पशुओं को (भी) अर्थ-बोध होता है। उन्हें तत्काल (प्रथम-व्यवहार के समय ही) शब्दशक्ति का ज्ञान होना सम्भव नहीं है।

**सा च····· तुल्यत्वात्**— साधु तथा असाधु शब्दों या संस्कृत और अपभ्रंश दोनों प्रकार के शब्दों में अर्थप्रकाशन की 'शक्ति' समान रूप से विद्यमान रहती है,

१. ह० में 'अन्वय' पद अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



ऐसा पतंजलि तथा भर्तृहरि इत्यादि वैय्याकरणों का मत है, जिनके वचनों को स्वयं नागेश ने ही आगे की पंक्तियों में उद्धृत किया है। वस्तुतः उन सभी प्रकार के शब्दों में, जिनका व्यवहार मानव अर्थप्रकाशन की दृष्टि से करता है, यह 'शक्ति' विद्यमान रहती है, चाहे वे शब्द संस्कृत के हों या अपभ्रंशभूत अन्य भाषाओं के हों।

इसका कारण यह है कि 'शक्तिग्रह' के जो अनेक हेतु हैं उनमें 'व्यवहार', अर्थात् शब्द के प्रयोग, को प्रमुख कारण माना गया है और वह 'व्यवहार', जिस प्रकार साधु शब्दों में 'शक्ति' का ज्ञान कराता है, अर्थात् यह बताता है कि यह शब्द इस अर्थ का वाचक है, उसी प्रकार असाधु शब्दों में भी 'शक्ति' का बोध कराता है। 'शक्ति'-ग्राहक हेतुओं का संग्रह निम्न कारिका में किया गया है—

**शक्ति-ग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।**
**वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥**

इन व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार आदि हेतुओं में लोक-व्यवहार की प्रमुखता स्वतः स्पष्ट है, क्योंकि कात्यायन तथा पतंजलि आदि ने लोक-व्यवहार को व्याकरण आदि शास्त्रों का प्रमुख आधार माना है।

**व्यवहार-दर्शनेन····· तत्-सम्भवः**—छोटे छोटे बालकों तथा पशु पक्षियों को मानव की भाषा से जो अर्थ-ज्ञान होता है उसका कारण है उन्हें पूर्व-जन्म में अनुभूत शब्द-शक्ति का स्मरण होना। यह स्मृति उन्हें तब होती है जब वे किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किये गये शब्द-प्रयोग अथवा व्यवहार को देखते हैं। जिन्हें उन उन शब्दों की शक्ति का बोध नहीं है उन अल्पायु बालकों को भी उन शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता ही है, इसका प्रतिपादन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, की निम्न कारिका में किया है :—

**इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्द-व्यपाश्रया।**
**यां पूर्वाहित-संस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते॥ १.१२१**

अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य-प्रकार-विषयक ज्ञान शब्द-व्यवहार के ऊपर ही आश्रित है। इस ज्ञान को बालक भी, जिसमें पूर्व-जन्म का शब्द-विषयक संस्कार विद्यमान है, अपने दूसरे साथी बालक की अव्यक्त भाषा से ही जान लेता है।

परन्तु शक्ति-ग्रह में पूर्व-जन्म की अनुभूति को कारण मानना विवादास्पद प्रतीत होता है। क्योंकि भिन्न भिन्न भाषाओं के शब्दों की शक्तियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं। यह आवश्यक तो नहीं है कि जिसने पूर्व जन्म में संस्कृत भाषा के संस्कार प्राप्त किये हों वह बाद के जन्म में भी संस्कृत-भाषा-भाषियों में ही उत्पन्न हो।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



['असाधु शब्दों में वाचकता शक्ति नहीं होती', नैयायिकों के इस मत का निराकरण]

यत्तु **तार्किका :—असाधु-शब्देन साधु-शब्द-स्मरण-द्वारा अर्थ-बोधः**—इत्याहुः, तन्न । साधु-स्मरणं बिनाऽपि बोधानुभवात् । तद्-वाचक-साधु-शब्दम् अजानतां बोधानापत्तेश्च । न च 'शक्तिभ्रमाद् बोधोऽसाधु-शब्देषु' इति वाच्यम् । निस्संदेह-प्रत्ययस्य बाधकं बिना भ्रमत्वायोगात् । अतएव स्त्री-शूद्र-बालादीनाम् उच्चारिते साधावृ अर्थ-संशये तद्-अपभ्रंशेनार्थ-निर्णयः । अत एव **समानायाम् अर्थावगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च शास्त्रेण धर्म-नियमः**, इति **भाष्यम्**,[1] **वाचकत्वाविशेषेऽपि नियमः पुण्य-पापयोः** इति **हरि-कारिका**[2] च संगच्छते ।

नैयायिक जो यह कहते हैं कि असाधु शब्दों (के प्रयोग) से (साधु शब्दों का स्मरण होता है और उस) साधु शब्दों के स्मरण के द्वारा (असाधु शब्द के) अर्थ का बोध होता है वह उचित नहीं है क्योंकि साधु शब्दों की स्मृति हुए बिना भी (असाधु शब्दों से सीधे) अर्थ-बोध का अनुभव होता है । तथा (इन नैयायिकों के मत के अनुसार) उन (असाधु शब्दों से बोध्य अर्थों) के वाचक साधु शब्दों को न जानने वालों (अशिक्षित-जनों) को उन उन अर्थों का ज्ञान नहीं होना चाहिये (परन्तु उन्हें भी अर्थ-बोध होता है)

"असाधु शब्दों में (भी वाचकता) शक्ति है ऐसा भ्रम हो जाने के कारण (उनसे) अर्थ-बोध होता है" यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सन्देह-रहित ज्ञान को बाध-ज्ञान के अभाव में भ्रम मानना ठीक नहीं है ।

इसीलिये (असाधु-शब्दों के भी शक्तियुक्त होने के कारण) साधु-शब्दों के उच्चारण किये जाने से स्त्री, शूद्र तथा बालक आदि को, उनके अर्थ के विषय में सन्देह होने पर, (उन अर्थों के वाचक) असाधु शब्दों के द्वारा अर्थ का निर्णय कराया जाता है ।

---

१. तुलना करो—महा०, भाग १, पृ० ५८ ; एवम् इहापि समानायाम् अर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्म-नियमः क्रियते ... एवं क्रियमाणम् अभ्युदय-कारि भवति ।

२. द्र०—वाप० (३.३.३०);
असाधुर् अनुमानेन वाचकः कैश्चिद् इष्यते ।
वाचकत्वाविशेषे वा नियमः पुण्य-पापयोः ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[अथवा—(इस अंश का दूसरे रूप में इस तरह अनुवाद किया जा सकता है) इसीलिये स्त्री शूद्र तथा बालक आदि के द्वारा साधु शब्दों का (अस्पष्ट) उच्चारण किये जाने पर विद्वानों को) अर्थ-विषयक सन्देह के उपस्थित होने पर उन (अस्पष्टोच्चारित साधु शब्दों) के (पर्यायभूत) असाधु शब्दों के (स्मरण) द्वारा अर्थ का निर्णय होता है]

अत एव (असाधु शब्दों के भी शक्तियुक्त होने का कारण) "शब्दों तथा अपशब्दों के द्वारा समानरूप से अर्थ का ज्ञान होने पर (व्याकरण) शास्त्र द्वारा धर्मविषयक नियम किया जाता है" यह भाष्य (में पतंजलि) का कथन तथा "(साधु एवं असाधु शब्दों में) समानरूप से वाचकता के होने पर भी (साधु शब्दों का प्रयोग पुण्य का उत्पादक होता है तथा असाधु शब्द पाप का—इस प्रकार का) पुण्य तथा पाप का नियम शास्त्रकारों द्वारा बनाया गया है" यह भर्तृहरि की कारिका सुसंगत होती है।

**यत्तु तार्किकाः अर्थबोध...इत्याहुः**—नैयायिकों का मत यह है कि केवल साधु शब्दों में ही अर्थाभिधान की शक्ति होती है। इसीलिये, उनकी दृष्टि में जब विद्वानों को किसी अशिक्षित व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त असाधु शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है तब वहाँ अर्थ-ज्ञान की प्रक्रिया यह होती है कि पहले असाधु शब्दों के द्वारा साधु शब्दों का स्मरण होता है और उसके बाद उन स्मृत साधु शब्दों से अर्थ का ज्ञान होता है। इसी तरह अशिक्षित व्यक्तियों को असाधु शब्दों के श्रवण से जब अर्थ-ज्ञान होता है तो वहां, इन नैयायिकों का विचार यह है कि, उन असाधु शब्दों में वाचकता शक्ति के न होने पर भी, भ्रम के कारण शक्ति की प्रतीति होती है। इसी कारण अशिक्षितों को उन असाधु शब्दों से अर्थ का ज्ञान होता है।

नैयायिकों के समान ही मीमांसा दर्शन के आचार्यों तथा व्याख्याताओं को भी यही मत अभिमत प्रतीत होता है। इनका कहना है कि 'गौः' इस साधु शब्द के स्थान पर जब अशिक्षित व्यक्ति 'गावी' इस असाधु शब्द का प्रयोग करता है तो श्रोता को 'गावी' शब्द साधु—'गो'—शब्द की स्मृति कराता है। इस स्मृति का कारण है 'गौ' तथा 'गावी' इन दोनों शब्दों की समानता। आचार्य शबर ने मीमांसा-दर्शन के भाष्य में अनेक स्थलों पर इस मत का प्रतिपादन किया है।

मीमांसादर्शन १.३.३६ की व्याख्या में वे कहते हैं—**सादृश्यात् साधुशब्देऽप्यवगते प्रत्ययोऽवकल्पते,** अर्थात् सादृश्य के कारण (असाधु शब्दों से) साधु शब्द के स्मरण होने पर अर्थज्ञान उत्पन्न होता है। इसी प्रकार १.३.२८ की व्याख्या में, असाधु शब्दों का प्रयोग किस प्रकार चल पड़ता है इसका विवरण देते हुए, आचार्य शबर ने कहा है :— **गोशब्दम् उच्चारयितुकामेन केन चिद् अशक्तया गावीत्युच्चारितम्। अपरेण ज्ञातं सास्नादिमात् अस्य विवक्षितः। तदर्थं गौरित्युच्चारयितु-कामो गावीत्युच्चारयति। ततः शिक्षित्वा अपरेऽपि सास्नादिमति विवक्षिते गावीत्युच्चारयन्ति। तेन गाव्यादिभ्यः सास्ना-दिमान् अवगम्यते। अनुरूपो हि गाव्यादिः गोशब्दस्य।**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसका अभिप्राय यह है कि 'गौ' शब्द के उच्चारण की अभिलाषा से किसी अशिक्षित ने अपनी असमर्थता के कारण 'गावी' इस अशुद्ध या असाधु शब्द का प्रयोग कर दिया। परन्तु सुनने वाले ने यह जान लिया कि 'गौ' शब्द का उच्चारण करना चाहते हुए भी यह व्यक्ति 'गौ' शब्द के स्थान पर 'गावी' का उच्चारण कर रहा है। इस अशिक्षित प्रयोक्ता, या बोलने वाले, से इस तरह के असाधु प्रयोगों को सुन कर दूसरे लोग भी 'गौ' कहने के लिये 'गावी' जैसे शब्दों का प्रयोग कर देते हैं। इस प्रकार 'गावी' आदि असाधु शब्दों से 'गौ' आदि साधु शब्दों का ज्ञान होता है, क्योंकि गावी आदि शब्द 'गौ' आदि के सदृश हैं।

मीमांसा-सूत्र १.३.२९ की व्याख्या में भी शबर ने इसी प्रकार की बात कही है—**गाव्यादिदर्शनाद् गोशब्दस्मरणं ततः सास्नादिमान् अवगम्यते**, अर्थात् 'गावी' आदि (असाधु) शब्दों को सुनने के पश्चात् 'गौ' शब्द का स्मरण होता है उसके बाद 'गौ' पदार्थ का ज्ञान होता है।

वस्तुतः नैयायिक तथा मीमांसक दोनों ही यह मानते हैं कि वाचकता शक्ति केवल साधु शब्दों में ही रह सकती है असाधु शब्दों में नहीं। अथवा इसी बात को दूसरे शब्दों में उन्होंने यों कहा है कि जो शब्द वाचकता शक्ति से युक्त हैं वे साधु शब्द हैं, उनसे अन्य असाधु हैं। नैयायिकों तथा मीमांसकों की इस स्थिति को एक मत के रूप में भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की निम्न कारिकाओं में प्रस्तुत किया है—

**ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः।**
**तादात्म्यम् उपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः॥ वाप० १.१५०**

वे (असाधु शब्द) साधु विषयक अनुमान (स्मृति) के द्वारा (गौ आदि पदार्थों के) ज्ञान के कारण बनते हैं। वे (असाधु शब्द) मानो (साधु शब्दों के साथ) तादात्म्य (अभेद) को प्राप्त करके शब्दार्थ के वाचक होते हैं (स्वतः नहीं)।

**न शिष्टैर् अनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः।**
**न यतः स्मृतिमात्रेण तस्मात् साक्षाद् अवाचकाः॥ वाप० १.१५१**

साधु ('गो', 'धेनु' इत्यादि) पर्याय शब्दों के समान (असाधु शब्दों को) विद्वान् पर्याय नहीं मानते तथा उन (असाधु शब्दों) का कोष आदि में भी वे संग्रह नहीं करते। अतः (वे असाधु शब्द अर्थ के) साक्षाद् वाचक नहीं हैं।

**अम्बाम्बेति यथा बालः शिक्षमाणः प्रभाषते।**
**अव्यक्तं तद्विदां तेन व्यक्ते भवति निश्चयः। वाप० १.१५२**
**एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते।**
**तेन साधु-व्यवहितः कश्चिद् अर्थोऽभिधीयते॥ वाप० १.१५३**

जिस प्रकार 'अम्बा' 'अम्बा' यह (कहने के लिये) सिखाया जाता हुआ बालक (शिशु) अव्यक्त रूप से कुछ बोलता है और उस (अव्यक्त भाषण) से व्यक्त (अम्बा शब्दों) के विषय में श्रोता का निश्चय हो जाता है उसी प्रकार साधु शब्द के प्रयोग के स्थान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



पर जिस अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया जाता है उस (अपभ्रंश के प्रयोग) से साधु शब्द से व्यवहित कोई अर्थ कहा जाता हे ।

**तन्न·····निर्णयः**—परन्तु इन विद्वानों का यह मत युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता । क्योंकि साधु शब्दों के स्मरण के बिना भी असाधु शब्दों से सीधे अर्थ-ज्ञान का अनुभव होता है । यदि साधु शब्दों के स्मरण द्वारा ही असाधु शब्दों से अर्थ का ज्ञान होता हो तो सर्वथा अशिक्षित व्यक्तियों को, जो असाधु शब्दों के पर्याय-भूत साधु शब्दों को नहीं जानते, कभी भी उन उन अभिप्रेत अर्थों का बोध नहीं होना चाहिये । परन्तु उन्हें सदा केवल असाधु शब्दों से ही सीधे अर्थ का ज्ञान होता है ।

यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है कि अशिक्षितों को सीधे असाधु शब्दों से जो अर्थ-प्रतीति होती है वह असाधुशब्दों में वाचकता शक्ति का भ्रम हो जाने के कारण होती है । क्योंकि यदि भ्रम से अर्थ बोध हुआ करता तो कभी न कभी तो उस भ्रम का निवारण होना चाहिये । परन्तु अशिक्षितों को सदा ही उन उन असाधु शब्दों से उन्हीं उन्हीं अर्थों की प्रतीत होती है । इसलिये असाधुशब्दों के विषय में शक्तिभ्रम की बात भी न्याय्य नहीं है ।

वस्तुतः असाधुशब्द अर्थ के वाचक नहीं हैं यह कहना सभी ग्रामीण अथवा अपभ्रंश भाषाओं के प्रयोग का अपलाप करना है । साधु तथा असाधु शब्दों का विभाजन ही केवल एक वर्ग विशेष की भाषा को दृष्टि में रख कर ही किया गया है । सत्य तो यह है मानव का कोई भी वर्ग जिस भी भाषा का प्रयोग करता है उस में वक्ता के अभिप्राय को प्रकाशित करने की क्षमता रहती ही है। इसीलिये असाधुशब्दों की वाचकता का प्रतिपादन करते हुए नागेश ने यह तर्क दिया कि सर्वथा अपठित स्त्री शूद्र आदि को जब किसी साधु शब्द का प्रयोग किये जाने पर, उसके अर्थ के विषय में सन्देह उपस्थित होता है, तो वे अशिक्षित श्रोता उस साधु शब्द के पर्यायभूत अपभ्रंश शब्द से अर्थ का निर्णय करते हैं ।

इसी युक्ति को दूसरे रूप में यों भी कहा जा सकता है कि जब कोई बालक या अशिक्षित व्यक्ति किसी साधु शब्द का अस्पष्ट उच्चारण करता है तथा उस अस्पष्ट उच्चारण को सुनकर किसी विद्वान् को अर्थ के विषय में सन्देह होता है । तब वह विद्वान् उस अस्पष्टोच्चारित साधुशब्द के पर्यायभूत असाधुशब्द के द्वारा अर्थ का निर्णय किया करता है। (ये दोनों ही अभिप्राय **'अत एव निर्णयः'** इस अंश में संकेतित किये गये हैं तथा ऊपर दो प्रकार के अनुवादों से स्पष्ट किये गये हैं) ।

इसीलिये भर्तृहरि के पूर्वोद्धृत कारिकाओं के प्रसङ्ग में ही इस बात को भी स्वीकार किया गया है कि अशिक्षित व्यक्तियों के समुदाय में असाधु शब्द, बिना साधु शब्दों के व्यवधान के ही, साक्षात् अर्थ के वाचक होते हैं । तथा साधु शब्द, इस अशिक्षित वर्ग में, साक्षात् अर्थ के वाचक न हो कर, असाधु शब्दों के स्मरण रूप व्यवधान द्वारा ही अर्थ को कह पाते हैं :—

**पारम्पर्याद् अपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु ।**
**प्रसिद्धिम् आगता येषु तेषां साधुरवाचकः ॥** वाप० १.१५४

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



शिक्षा आदि गुणों से रहित जिन (अशिक्षित) बोलने वालों में परम्परा से अपभ्रंश (असाधु शब्द ही) प्रचलित है उनके लिये साधु शब्द (साक्षात् अर्थ का) वाचक नहीं हैं (अपितु असाधु शब्द ही अशिक्षितों के लिये सीधे अर्थ के वाचक हैं)।

**अत एव संगच्छते**—इसलिये वैयाकरण साधु तथा असाधु दोनों प्रकार के शब्दों को अर्थ का वाचक मानते हैं। नागेश ने इस मत की पुष्टि में, प्रमाण के रूप में, पतंजलि तथा भर्तृहरि की स्पष्ट घोषणाओं को ऊपर प्रस्तुत किया है। व्याकरण शास्त्र के परम मर्मज्ञ ये दोनों ही विद्वान् इस बात को मानते हैं कि अर्थ की वाचकता शक्ति की दृष्टि से साधु तथा असाधु दोनों प्रकार के शब्द सर्वथा समान हैं—दोनों के द्वारा समान रूप से अर्थ का प्रकाशन होता है। यदि दोनों में कोई अन्तर है तो वह इतना ही कि साधु शब्दों के प्रयोग से प्रयोक्ता को एक अदृष्ट धर्म रूप अभ्युदय विशेष या पुण्य विशेष की प्राप्ति होती है जब कि असाधु शब्दों के प्रयोग से उस अभ्युदय विशेष की प्राप्ति नहीं होती।

इसीलिये वैयाकरण साधु तथा असाधु शब्दों की परिभाषा क्रमशः "पुण्योत्पादन की योग्यता से युक्त होना" तथा "पापोत्पादन की योग्यता से युक्त होना" करते हैं। वस्तुतः इस पुण्य तथा पाप की भी उनकी अपनी परिभाषायें हैं। वैयाकरण की दृष्टि में साधु एवं शिष्ट शब्दों के प्रयोग से चित्त का संस्कार होता है—और इस रूप में कुछ अदृष्ट धर्म अथवा अभ्युदय की उत्पत्ति की होती है। परन्तु असाधु शब्दों के प्रयोग से विपरीत प्रभाव उत्पन्न होता है इसी कारण उन्हें पाप-जनक कहा गया है।

भर्तृहरि ने इस तथ्य को निम्न कारिका में बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है—

**शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्म-साधनम्।**
**अर्थ-प्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः॥** वाप० १.२७

अर्थात् शिष्टों के प्रयोग तथा परम्परा से प्रसिद्ध शब्द, जिनके उच्चारण से एक धर्म विशेष की उत्पत्ति होती है, साधु शब्द हैं। इसके विपरीत जो शिष्टों की भाषा में अथवा परम्परा से प्रसिद्ध नहीं है और न ही धर्म के उत्पादक हैं वे असाधु शब्द हैं। परन्तु जहां तक वाच्यार्थ के बोध कराने की बात है उस दृष्टि से साधु तथा असाधु दोनों ही अभिन्न हैं—समान हैं।

संभवतः ये दोनों पुण्य-जनकता तथा पाप-जनकता की बात अर्थवाद के रूप में इस लिये कही गई हैं कि इससे एक वर्ग-विशेष के द्वारा अपनाये गये, भाषा के, एक रूप की पूरी पूरी सुरक्षा होती रहे—उसका रूप विकृत न होने पाये।

**[अपभ्रंश शब्दों में वाचकता शक्ति मानने पर ही मीमांसकों का 'आर्य-म्लेच्छाधिकरण' सुसंगत हो पाता है]**

अत एव **आर्य-म्लेच्छाधिकरणम्** (मीमांसा १.३.४. ८-९) संगच्छते। तत्र हि यद्यपि आर्याः 'यव'–शब्दं दीर्घ-शूके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्रयुंजते । तम् एव च बुध्यन्ते[1] । म्लेच्छास् तु प्रियङ्गौ प्रयुंजते, तम् एव च बुध्यन्ते[2] । तथाप्यार्य-प्रसिद्धेर् बलवत्त्वात् वेदे दीर्घ-शूकपरतैवेति[3] सिद्धान्तितम् । तव तु म्लेच्छ-बोधस्य शक्ति-भ्रम-मूलकत्वेन भान्ति-विषय-रजत-ज्ञानस्येव म्लेच्छ-प्रसिद्धेर् वस्त्वसाधकतया आर्य-म्लेच्छ-प्रसिद्ध्योः कस्या बलवत्त्वम् इति विचारासंगतिः स्पष्टैव ।

इसीलिये (अपभ्रंश शब्दों में भी वाचकता शक्ति के होने के कारण) 'आर्य-म्लेच्छ' नामक (मीमांसा-शास्त्र का) अधिकरण सुसंगत हो पाता है। उस अधिकरण में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि यद्यपि आर्य लोग 'यव' शब्द का प्रयोग लम्बे 'शूक' (नोक) वाले (अन्न) के लिये करते हैं तथा उसे ही ('यव' शब्द से) जानते हैं। परन्तु म्लेच्छ लोग (इस शब्द का प्रयोग) 'प्रियङ्गु' नामक (एक दूसरे) अन्न के लिये करते हैं तथा 'यव' शब्द से उसे ही जानते हैं। परन्तु आर्यों की प्रसिद्धि (व्यवहार) के बलवान् होने से वेद में यह शब्द 'जौ' (या 'जव') अर्थ वाला है। तुझ नैयायिक के मत में तो म्लेच्छों (अथवा अपशब्द-भाषियों) का अर्थ-ज्ञान शक्ति-विषयक भ्रम के कारण है इसलिये, भ्रान्ति के विषय-भूत (सीपी में) रजत-ज्ञान के समान ही, म्लेच्छों की 'प्रसिद्धि' (प्रयोग अथवा व्यवहार) के अर्थ-साधक न होने के कारण (आर्य-प्रसिद्धि और म्लेच्छ-प्रसिद्धि में से) कौन अधिक बलवान् है—इस विचार की असंगति स्पष्ट ही है।

**अत एव···सिद्धान्तितम्**—मीमांसा दर्शन के आर्य-म्लेच्छाधिकरण में यह समस्या प्रस्तुत की गयी है कि श्रुतियों तथा स्मृतियों में प्रयुक्त किसी विशिष्ट शब्द के किस अर्थ को प्रामाणिक माना जाय? आर्यों की भाषा में शब्द जिस अर्थ में प्रसिद्ध है अथवा व्यवहृत होता है उस अर्थ को प्रमाणिक माना जाय या म्लेच्छों (अशिक्षितों, शूद्रों) की भाषा में वह शब्द जिस अर्थ में व्यवहृत होता है उस अर्थ को प्रमाणिक माना जाय? जैसे 'यव' शब्द आर्यों की भाषा में लम्बी नोक वाले जव के लिये, 'वराह' शब्द सूअर के लिये तथा 'वेतस्' शब्द बेंत के लिये प्रसिद्ध है। परन्तु म्लेच्छों की भाषा में 'यव' आदि शब्द प्रियङ्गु आदि अन्य अर्थों में व्यवहृत होते हैं।

१. प्रकाशित संस्करणों में यहां का 'तम् एव च बुध्यन्ते' यह पाठ नहीं मिलता।

२. तुलना करो—न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका (पृ० ४२०);
तथा हि 'यव'—शब्द आर्यैर् दीर्घ-शूके पदार्थे प्रयुज्यते। ते 'यव'-शब्दाद् दीर्घं पदार्थं प्रतिपद्यन्ते। म्लेच्छास् तु प्रियङ्गुम् प्रतिपद्यन्ते।

३. तुलना करो—मीमांसा दर्शन, शबर-भाष्य, (१।३।१४।८-९);
आर्य-प्रसिद्धया 'यव'-शब्देन दीर्घशूकाः (सक्तवः), 'वराह'-शब्देन सूकरः, 'वेतस्'—शब्देन अप्सुजो वञ्जुलो ग्राह्यः, न तु म्लेच्छ-प्रसिद्ध्या प्रियङ्गवः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस समस्या के समाधान के लिये मीमांसा दर्शन में यह कहा गया कि—**"तेष्व-दर्शनाद् विरोधस्य समा प्रतिपत्तिः स्यात्"**—(१.३.८.) अर्थात् यदि म्लेच्छ-प्रसिद्धि के साथ आर्य-प्रसिद्धि का कोई विरोध नहीं उपस्थित होता तब आर्य-प्रसिद्ध अर्थ के समान ही म्लेच्छ-प्रसिद्ध अर्थ को भी प्रामाणिक माना जायगा। जैसे—पिक, नेम, सत तथा तामरस ऐसे शब्द हैं जो आर्यों की भाषा में किसी विशेष अर्थ में प्रसिद्ध नहीं हैं। परन्तु अनार्यों की भाषा में क्रमशः कोकिल, अर्घ, बृहत्पत्र तथा कमल अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। इसलिये इन शब्दों के इन प्रसिद्ध अर्थों को ही प्रमाणिक माना जायगा। निरुक्त आदि के आधार पर नये अर्थों की कल्पना नहीं की जायेगी।

परन्तु यदि कोई शब्द आर्य तथा म्लेच्छ दोनों वर्गों में भिन्न भिन्न विरोधी अर्थों में प्रयुक्त होता है तो उस स्थिति में मीमांसा का निर्णय है कि **"शास्त्रस्था तन्निमित्त-त्वात्"** (१.३.९), अर्थात् शास्त्रस्थ (आर्य) अथवा शिष्ट लोग जिस अर्थ में उस शब्द का व्यवहार करते हैं उसी अर्थ को प्रामाणिक माना जायगा। क्योंकि शिष्ट लोग ही शब्दार्थ-निर्णय में प्रमाण होते हैं। जैमिनि के इस निर्णय के आधार पर ही 'यव' आदि शब्दों के अर्थ के विषय में यह निर्णय दिया गया कि आर्य-प्रसिद्धि के बलवान् होने के कारण 'यव' आदि शब्दों को 'जव' (जौ) आदि अर्थों का ही वाचक मानना चाहिये। मीमांसा दर्शन के इस प्रसङ्ग को तंत्रवार्तिक (१.३.४.९) में निम्न श्लोकों में प्रस्तुत किया गया है :—

**आर्यास् तावद् विशिष्येरन् अदृष्टार्थेषु कर्मसु।**
**दृष्टार्थेषु तु तुल्यत्वम् आर्य-म्लेच्छ-प्रयोगिणाम्॥**

**अतः शास्त्राभियुक्तत्वाद् आर्यावर्त-निवासिनाम्।**
**या मतिः सैव धर्माङ्ग-शब्दार्थत्व-प्रमा मता॥**
**अभियुक्ततरा ये ये बहु-शास्त्रार्थ-वेदिनः।**
**ते ते यत्र प्रयुञ्ज्येरन् स सोऽर्थस्तत्त्वतो भवेत्॥**

संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र के प्रमाण-भूत आचार्यों—पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि आदि ने भी शिष्टों को न केवल शब्दार्थ-निर्णय में ही अपितु शब्द-स्वरूप-निर्णय में भी परम प्रमाण माना है। इस दृष्टि से पाणिनि का **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (पा० ६.३.१०९) तथा उसकी महाभाष्य में मिलने वाली व्याख्या द्रष्टव्य है। इस विषय में भर्तृहरि ने भी स्पष्ट कहा है :—

**भाव-तत्त्व-दृशः शिष्टाः शब्दार्थेषु व्यवस्थिताः।**
(वाप० ३.१३.२१)

अर्थात् शब्दार्थ के निर्णय में शब्दों के तत्त्व-द्रष्टा शिष्ट जन ही प्रमाण हैं।

**तब ...तु स्पष्टैव**—यदि नैयायिकों की यह बात मान ली जाय कि असाधु शब्दों से, भ्रम के कारण, अर्थ-बोध होता है तो मीमांसा दर्शन का यह सारा अधिकरण तथा वहां का निष्कर्ष निराधार एवं असंगत हो जायेगा, क्योंकि जब उन म्लेच्छों में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'प्रसिद्ध' असाधु शब्दों में वाचकता शक्ति है ही नहीं तब तो आर्य-प्रसिद्धि की बलवत्ता स्वतः ही सिद्ध है। अतः इस विषय में विशेष विचार की आवश्यकता ही नहीं है। मीमांसक आचार्यों ने इस समस्या को विचारणीय मान कर जो निर्णय दिया उससे यह स्पष्ट प्रमाणित है कि वे असाधु शब्दों में भी 'वाचकता' शक्ति को निश्चित रूप से मानते हैं। पतंजलि ने भी शब्दों तथा अपशब्दों से समानरूप में अर्थावबोध की बात स्वीकार की है। द्र० :—**समानायाम् अर्थावगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च धर्म-नियमः** (महा० भाग १ पृ० ५८)। भर्तृहरि ने भी इस तथ्य को, **"अर्थ-प्रत्यायनाभेदे विपरीतास् त्वसाधवः"** (वाप० १.२७) इस कारिका में अर्थ-प्रत्यायन, अर्थात् अर्थ-ज्ञापन, की दृष्टि से साधु तथा असाधु दोनों प्रकार के शब्दों को अभिन्न मानते हुए, स्वीकार किया है।

**[साधु तथा असाधु शब्दों की परिभाषा]**

साधुत्वं च व्याकरणान्वाख्येयत्वं पुण्य-जनकतावच्छेदक-धर्मवत्त्वं वा। तद्-भिन्नम् असाधुत्वम्[1]।

साधुत्व (की परिभाषा) है व्याकरण के द्वारा अन्वाख्येय होना तथा पुण्य (अदृष्ट अभ्युदय विशेष) को उत्पन्न करने वाले धर्म से युक्त होना। इन (दोनों विशेषताओं) से भिन्न (रहित) होना असाधुता (की परिभाषा) है।

जहां तक साधुत्व तथा असाधुत्व की परिभाषा का प्रश्न है, वैयाकरण विद्वान् यह मानते हैं कि पाणिनीय आदि व्याकरणों से जिन शब्दों की सिद्धि हो जाती है तथा जो शब्द अभ्युदय अथवा धर्म-विशेष के उत्पादक हैं वे साधु हैं—उनमें साधुता रूप धर्म है। जिन शब्दों में ये दोनों विशेषतायें नहीं हैं, अर्थात् जो व्याकरणशास्त्र से सिद्ध नहीं हो पाते तथा इस रूप में अभ्युदय-विशेष के उत्पादक नहीं हैं, वे असाधु शब्द हैं।

यहां पंक्ति में 'वा' पद को 'विकल्प' का वाचक न मानकर 'समुच्चय' अर्थ का वाचक मानना चाहिये, क्योंकि व्याकरण के द्वारा अन्वाख्येय शब्दों को ही अभ्युदय विशेष का उत्पादक माना गया है। इसी तथ्य को कात्यायन ने **शास्त्र-पूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयः** (महा०, भाग १, पृ० ६५) इस वार्तिक में स्पष्ट किया है। इस वार्तिक का अभिप्राय यह है कि व्याकरण शास्त्र से शब्दों का यथार्थ स्वरूप जान कर जब उनका प्रयोग किया जाता है तब उनके इस प्रकार के प्रयोग से अभ्युदय-विशेष या पुण्य की प्राप्ति होती है। पतंजलि ने भी स्पष्ट कहा है—**यद् इह परिनिष्ठितं तत् साधु** अर्थात् इस व्याकरण-शास्त्र की सीमा में जो परिनिष्ठित हैं वे शब्द अथवा प्रयोग ही साधु हैं। इन साधु शब्दों के प्रयोग से विशेष अभ्युदय की उत्पत्ति की बात भी महाभाष्य की **समानायाम् अर्थावगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च धर्म-नियमः** (महा० भाग १, पृ० ५८) इस

---

१. तुलना करो—वाप० (१.२७);
शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्।
अर्थ-प्रत्यायनाभेदे विपरीतास् त्वसाधवः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



पंक्ति में कही गई है। भर्तृहरि ने व्याकरण को ही साधु शब्दों के स्वरूप-ज्ञान का एक मात्र आधार माना है—**तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणाद् ऋते** (वाप० १.१३) तथा शब्द-संस्कार को परमात्मा की साक्षात् सिद्धि रूप, अभ्युदय-विशेष, का कारण माना है। द्र०—

**तस्माद् यः शब्द-संस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।** (वाप०१.१३२)

**['शक्ति' के तीन प्रकार]**

सा च शक्तिस् त्रिधा—'रूढिः', 'योगः', 'योग-रूढिश्च'। **शास्त्र-कल्पितावयवार्थ-मानाभावे समुदायार्थ-निरूपित-शक्तिः 'रूढिः'**। यथा-मणि-नूपुरादौ। **शास्त्र-कल्पितावयवार्थ-निरूपिता शक्तिः 'योगः'**। यथा-पाचकादौ। **शास्त्र-कल्पितावयवार्थान्वित-विशेष्य-भूतार्थ-निरूपिता शक्तिः 'योगरूढिः'**। यथा-'पङ्कज'-पदे। तत्र[1] 'पङ्क-जनि-कर्तृ पद्मम्' इति बोधात्[2]।

और वह 'शक्ति' तीन प्रकार की होती है—'रूढ़ि', 'योग' तथा 'योगरूढ़ि'। (व्याकरण) शास्त्र के द्वारा कल्पित अवयवों (प्रकृति, प्रत्यय आदि) के (पृथक्, पृथक्) अर्थ का ज्ञान न होने पर भी (प्रकृति-प्रत्यय के) समुदाय के अर्थ से बोधित शक्ति 'रूढ़ि' है। जैसे—'मणि', 'नूपुर' आदि (शब्दों) में।

(व्याकरण) शास्त्र के द्वारा कल्पित अवयवों ('प्रकृति', 'प्रत्यय' आदि) के आधार पर मानी गयी शक्ति 'योग' है। जैसे--'पाचकः' आदि (शब्दों) में।

शास्त्र-कल्पित अवयवों ('प्रकृति', 'प्रत्यय') के अर्थ से सम्बद्ध (किसी) प्रधान-भूत अर्थ से ज्ञात शक्ति 'योगरूढ़ि' है। जैसे –'पंकज' (शब्द) में। क्योंकि यहां पङ्क में 'उत्पन्न होने वाला कमल' यह बोध होता है।

**रूढ़ि शक्ति**—यहां 'अभिधा' शक्ति के तीन भेद बताये गये --'रूढ़ि', 'योग' तथा 'योगरूढ़ि'। प्रथम 'रूढ़ि' शक्ति वहां मानी गयी जहां व्याकरण शास्त्र द्वारा कल्पित 'प्रकृति', 'प्रत्यय' रूप अवयवों के अर्थ का ज्ञान न होता हो, अथवा यदि अवयवों के अर्थ का ज्ञान होता भी हो तो उस अवयवार्थ से भिन्न, 'प्रकृति' 'प्रत्यय' के समुदायभूत पूरे पद का, कोई अन्य अर्थ व्यवहार में आता हो। जैसे 'मणि', 'नूपुर' आदि शब्दों में 'रूढ़ि' शक्ति की सत्ता माननी होगी।

१. ह० में 'तत्र' अनुपलब्ध।
२. ह०, बंमि०— 'बोधः'।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'मणि' शब्द में पाणिनीय व्याकरण के अनुसार भ्वादि-गण के 'मण्' (शब्दे) धातु तथा 'इनि' प्रत्यय की कल्पना की जा सकती है। परन्तु इन अवयवों के अर्थ का 'मणि' पद के समुदायार्थ (रत्न विशेष) से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार 'नूपुर' पद में दो अवयव माने जा सकते हैं—'नू' तथा 'पुर'। प्रथम 'नू' शब्द 'नू' (स्तुतौ) धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करके तथा दूसरा 'पुर' शब्द 'पुर्' (अग्रगमने) धातु से 'अच' प्रत्यय करके निष्पन्न हो सकता है। परन्तु इन अवयवार्थों का 'नूपुर' शब्द के समुदायार्थ (अलंकार विशेष) में कोई ज्ञान नहीं होता।

**'योग' शक्ति**—'योग' शक्ति की स्थिति वहां मानी जाती है जहां वैयाकरणों ने जिन जिन 'प्रकृति', 'प्रत्ययों' अथवा अवयवों का विभाजन किया है केवल उन अवयवों के अर्थ समुदायार्थ में भी विद्यमान हों। वस्तुतः यहां 'शक्ति' को इन अवयवार्थों से ही सम्बद्ध माना गया है। जैसे—'पाचकः' आदि शब्दों में 'योग' शक्ति है। 'पाचक' शब्द में 'पच्' धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय की कल्पना की जाती है तथा इन्हीं दोनों अवयवों का सम्मिलित अर्थ ही 'पाचक' शब्द के समुदायार्थ (पकाने वाला) के रूप में प्रकट होता है। तुलना करो :— "तद् यत्र स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्याताम् सर्वं प्रादेशिकम्" (निरुक्त १.१४)

**'योगरूढ़ि' शक्ति**—'योगरूढ़ि' शक्ति उन शब्दों में मानी जाती है जिनमें व्याकरण-शास्त्र द्वारा कल्पित अवयवों के अर्थ तो हों, परन्तु उन अवयवार्थों से सम्बद्ध प्रधान-भूत अर्थ कुछ और ही हों। इस विशेष्य अथवा प्रधानभूत अर्थ के आधार पर भी 'शक्ति' का निरूपण इन शब्दों में किया जाता है। 'योगरूढ़ि शक्ति' के उदाहरण हैं—'पङ्कज' आदि शब्द। 'पङ्कज' शब्द में, 'पङ्के जायते' इस विग्रह के अनुसार 'पङ्क' शब्द पूर्वक 'जन्' धातु से ड प्रत्यय करके, 'पङ्क' तथा 'ज' इन दो अवयवों की कल्पना की जाती है। इन दोनों अवयवों का अर्थ (पङ्क अर्थात् कीचड़, में पैदा होने वाला) 'पङ्कज' शब्द के समुदायार्थ (कमल) में है, क्योंकि कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है। परन्तु 'पङ्कज' शब्द की 'शक्ति' का निरूपण इस अवयवार्थ के आधार पर नहीं किया जाता। क्योंकि पङ्क में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु को 'पङ्कज' नहीं कहा जाता। इसलिये अवयवार्थ से विशिष्ट जो समुदायार्थ (कमल) है वह विशेष्य अथवा प्रधानभूत अर्थ है तथा उसी के आधार पर 'पङ्कज' शब्द की शक्ति का निश्चय किया जाता है।

अभिधा शक्ति के इन तीन प्रकारों—रूढ़ि, योग तथा योगरूढ़ि—को पण्डितराज जगन्नाथ ने क्रमशः 'समुदायशक्ति', 'केवलावयवशक्ति' तथा 'समुदायावयवशक्ति-संकर' नाम दिया है। द्रष्टव्य—सेयम् अभिधा त्रिविधा—समुदायशक्तिः केवलावयव-शक्तिः, समुदायावशवशक्ति-संकरश्च (रसगंगाधर, आनन २, पृ० १२६)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**['पङ्कज' शब्द में लक्षणा नहीं मानी जा सकती तथा इसके प्रयोगों में कहीं केवल 'रूढि' और कहीं केवल 'योग' अर्थ का बोध होता है]**

पद्मेऽनुपपत्ति-प्रति-सन्धानं सम्बन्ध-प्रति-सन्धानं च बिना न लक्षणावसरः। क्वचित् तात्पर्य-ग्राहक-वशात् केवल-रूढ्यर्थस्य केवल-योगार्थस्य च बोधः—"**भूमौ पङ्कजम् उत्पन्नम्**", "**कल्हार कैरवमुखेष्वपि पङ्कजेषु**" इत्यादौ। स्पष्टं चेदम् "**आर्हाद्०**" (५.१.१९) इति **सूत्रे**[1] **भाष्ये**।

('पङ्कज' शब्द की) पद्म अर्थ में, (वाच्यार्थ की) अनुपपत्ति का विचार तथा (वाच्यार्थ के साथ) सम्बन्ध का विचार किये बिना 'लक्षणा' मानने का कोई अवसर नहीं है। कुछ प्रयोगों में तात्पर्य का ज्ञापक होने के कारण केवल 'रूढ़ि' अर्थ तथा (कुछ अन्य प्रयोगों में) केवल 'योग' अर्थ का ज्ञान होता है। (जैसे) "भूमि में पङ्कज उत्पन्न हुआ" (इस प्रयोग में केवल रूढ़ि अर्थ का ज्ञान तथा) "कल्हार (छोटा कमल) कैरव (कुमुद) आदि प्रमुख पङ्कजों के रहते हुए" (इस प्रयोग में केवल 'योग' अर्थ का ज्ञान होता है) यह तथ्य "आर्हाद्०" सूत्र के भाष्य में पतंजलि द्वारा स्पष्ट किया गया है।

**पद्मे····· न लक्षणावसरः**— यहां यह शङ्का हो सकती है कि 'पङ्कज' शब्द से कुमुद आदि अर्थों की भी प्रतीति कहीं-कहीं होती ही है, इसलिये 'पङ्कज' शब्द का वाच्यार्थ अभिधा वृत्ति के द्वारा साधारणतया 'पङ्क में उत्पन्न होने वाला' मानना चहिये और जहाँ 'पङ्कज' शब्द का कमल रूप विशेष अर्थ होता है, वहां 'पङ्कज' शब्द में अभिधा वृत्ति न मानकर लक्षणा वृत्ति माननी चाहिये।

इस शङ्का का उत्तर नागेश ने यह दिया है कि लक्षणा वृत्ति वहां मानी जाती है जहां शब्द का उसके वाच्यार्थ में अन्वय न हो सके तथा वाच्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ का परस्पर सम्बन्ध हो। जैसे—'गङ्गायां घोषः' (गंगा में घोसियों का घर है) इस प्रयोग में 'गङ्गा' शब्द के वाच्यार्थ—(नदी अथवा जलप्रवाह) के साथ 'घोषः' का सम्बन्ध नहीं बनता क्योंकि नदी में घर नहीं हो सकता। परन्तु 'गङ्गा' शब्द के लक्ष्यार्थ 'तट' का, 'गङ्गा' शब्द के वाच्यार्थ नदी के साथ सामीप्य आदि सम्बन्ध होता ही है।

'पङ्कज' शब्द के प्रयोग में, लक्षणा वृत्ति के लिये आवश्यक, ये दोनों ही हेतु विद्यामान नहीं हैं, इसलिये उसमें लक्षणा वृत्ति न मानकर 'शक्ति' या अभिधा वृत्ति ही माननी होगी।

**क्वचिद्····· इत्यादौ**— इन पंक्तियों में यह बताया गया है कि 'योगरूढ़ि' के कुछ प्रयोगों में ऐसी स्थिति पायी जाती है, जिसमें केवल 'रूढ़ि' अर्थ का ही बोध होता

१. ह०—सूत्रभाष्ये।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



है। जैसे—"भूमि पर पङ्कज (कमल) उत्पन्न हुआ"। यहां 'पङ्कज' शब्द में 'पङ्के जायते' इस यौगिकार्थ अथवा अवयवार्थ की थोड़ी सी भी प्रतीति नहीं होती। क्योंकि यहां भूमि (स्थल) पर कमलोत्पत्ति की बात कही गयी है—पंक या जल में नहीं। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण—"कल्हार तथा कैरव आदि प्रमुख पङ्कजों (कमलों) के रहते हुए" इस प्रयोग में 'पङ्कज' शब्द में 'रूढ़ि' अर्थ की कुछ भी प्रतीति नहीं होती क्योंकि कल्हार तथा कैरव रूढ़ि के अनुसार कमल नहीं है।

वस्तुतः 'योगरूढ़ि' को विद्वानों ने दो प्रकार का माना है—पहला वह जिसमें कुछ 'योग' अर्थ तथा कुछ 'रूढ़ि' अर्थ का बोध होता है, जैसे 'पङ्कज' आदि शब्द। दूसरा प्रकार वह है जिसमें कहीं केवल 'रूढ़ि' अर्थ की प्रतीति होती है, तो कहीं केवल 'योग' अर्थ की। इस दूसरे प्रकार में ही ये ऊपर के उदाहरण आते हैं।

**स्पष्टं चेदम् ·····भाष्ये**—पाणिनि के **'आर्हाद्०'** (पा० ५.१.१९) इस सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए निम्न वाक्य कहे हैं—**आह अयम् परिमाणं वा संख्येति, न चास्ति संख्या परिमाणम्, तत्र वचनाद् इयती विवक्षा भविष्यति**। इसका अभिप्राय यह है कि पाणिनि ने **संख्यायाः संज्ञासङ्घ-सूत्राध्ययनेषु** (पा ५.१.५८) में 'परिमाण' को 'संख्या' का विशेषण माना है, क्योंकि इस सूत्र में पहले सूत्र **तदस्य परिमाणम्** (पा ५.१.५७) से 'परिमाण' पद की अनुवृत्ति आ रही है। परन्तु संख्या कभी भी 'परिमाण' अर्थात् मापविशेष, नहीं बन सकती, क्योंकि वह तो केवल भेद या भिन्नता अर्थ का ही बोध कराती है। वह 'मान' या 'परिमाण' को कभी भी नहीं कहती। इसीलिए संख्या को सभी प्रकार के 'मान' से भिन्न माना जाता है। द्र०—

**"संख्या बाह्या तु सर्वतः**
**भेदमात्रं ब्रवीत्येषा, नेषा मानं कुतश्चन॥ (महा० ५.१.१९)**

इस प्रकार यदि 'परिमाण' शब्द का रूढ़ि अर्थ, अर्थात् माप विशेष, ही लिया जाय तब पाणिनि का उपर्युक्त सूत्र असंगत हो जाता है। अतः आचार्य पाणिनि के वचन-सामर्थ्य से यहां 'परिमाण' शब्द को रूढ़ि न मान कर, उसे योगरूढि मानते हुए उसका केवल यौगिक या योग अर्थ—'परिच्छेदकतामात्र' ही अभिप्रेत मानना चाहिये। इस रूप में पतंजलि के इस कथन के अनुसार यहां का 'परिमाण' शब्द 'योगरूढ़ि' के उस प्रकार का उदाहरण है, जिसमें केवल 'यौगिक' अर्थ ही अभिप्रेत है। कुछ लोग ऐसे स्थलों में भी लक्षणा मानते हैं। द्र०—**ईदृशे विषये लक्षणा इत्यन्ये** (महा० उद्योत, ५.१.१९)

**['यौगिकरूढि' की परिभाषा]**

अश्वगन्धादिपदम् ओषधिविशेषे 'रूढम्'। अश्वसम्बन्धि-गन्धवत्तया वाजिशालाबोधे 'यौगिकम्'। इदं 'यौगिकरूढम्,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इत्युच्यते। एवं 'मण्डप-पदं' गृहविशेषे 'रूढम्', मण्डपान-कर्तरि 'यौगिकम्'।

'अश्वगन्धा' आदि पद एक औषधि-विशेष के लिये रूढ़ हैं। (परन्तु) अश्वसम्बन्धी गन्ध से युक्त होने के कारण ('अश्वगन्धा' शब्द से) अश्वशाला के बोध में (वह शब्द) 'यौगिक' है। इस (प्रकार के शब्द) को 'यौगिकरूढ़ि' कहा जाता है। इसी प्रकार 'मण्डप' शब्द गृह के एक भाग विशेष के अर्थ में 'रूढ़' है। (परन्तु) 'माँड' पीने वाले (के अर्थ) में (वह शब्द) 'यौगिक' है।

अश्वगन्धा (अथवा अश्वगन्धा) एक विशेष औषधि को कहते है, जिसका अवयवार्थ (अश्व के गन्ध के समान गन्ध वाला) से कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। इसलिये इस औषधि-विशेष के अर्थ में 'अश्वगन्धा' शब्द को 'रूढ़ि' मानना चाहिये। परन्तु अश्व के गन्ध से युक्त अस्तबल के लिये यदि इस शब्द का प्रयोग किया जाय तो वहाँ यौगिकार्थ या अवयवार्थ के विद्यमान होने के कारण, यह शब्द 'यौगिक' होगा। इस तरह विशेष औषधि की वाचकता की दृष्टि से 'अश्वगन्धा' शब्द 'रूढ़ि' तथा वाजिशाला के वाचक के रूप में 'यौगिक' है। अतः इस प्रकार के शब्दों को यौगिकरूढ़ि' कहा जाता है।

'मण्डप' भी इसी प्रकार का शब्द है। क्योंकि जब 'सभा-मण्डप' या 'यज्ञ-मण्डप' जैसे शब्दों में इसका प्रयोग 'घर के ऊपरी भाग' आदि अर्थों के लिये किया जाता है, जबकि अवयवार्थ का कोई ज्ञान नहीं होता, तब 'मण्डप' शब्द 'रूढ़ि' है। परन्तु, 'मण्डं पिबतीति मण्डपः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जब माँड पीने वाले के लिये 'मण्डप' शब्द का प्रयोग किया जाता है तब यह शब्द 'यौगिक' बन जाता है।

**'योगरूढ़ि' तथा 'यौगिकरूढ़ि' का अन्तर**—'योगरूढ़ि' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है—'योगेन सहिता रूढ़िः योगरूढ़िः', अर्थात् जहां शब्द में प्रकृति-प्रत्यय का योग सुसंगत तो हो जाय पर फिर भी शब्द किसी एक पदार्थ में ही 'रूढ़' हो गया हो। जैसे ऊपर प्रदर्शित 'पङ्कज' आदि शब्द, जिनमें 'यौगिक' अर्थ ('पङ्क में उत्पन्न होना) से अन्वित 'रूढ़ि' अर्थ (कमल) का बोध होता है। द्र०—**यौगिकार्थ-बुद्धि-रूप-सहकारि-लाभाद् विशिष्टार्थोपस्थापकत्वं रूढ़ेः योगरूढत्वम्** (न्यायकोश) अर्थात् 'यौगिक' अर्थ के ज्ञान-रूप सहकारी के साथ 'रूढ़ि' के द्वारा किसी विशिष्ट अर्थ को प्रस्तुत करना 'योगरूढ़िता' है।

परन्तु 'यौगिकरूढ़ि' शक्ति उन शब्दों में मानी जाती है जिनमें 'यौगिक' अर्थ तथा 'रूढ़ि' अर्थ की स्वतंत्र रूप से पृथक् २ प्रयोगों में प्रतीति हो। 'यौगिकरूढ़ि' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है—'यौगिकं च तद् रूढ़ं च' अर्थात् जो 'यौगिक' भी हो तथा साथ ही 'रूढ़ि' भी हो—एक ही शब्द का कहीं 'यौगिक' रूप में प्रयोग हो तथा कहीं 'रूढ़ि' रूप में। इसका दूसरा नाम 'रूढ़यौगिक' भी मिलता है (द्र०—शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्लोक-१५)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'योगरूढ़ि' को तो 'शक्ति' माना जाता है पर 'यौगिक-रूढ़ि' को 'शक्ति' नहीं माना जाता। क्योंकि यह तो 'योग' तथा 'रूढ़ि' दोनों का एक सम्मिलित नाम है। पर 'योग-रूढ़ि' को 'शक्ति' इसलिये माना जाता है कि वहां 'योगविशिष्ट रूढ़िता' के कारण 'यौगिक' अर्थ से विशिष्ट एक ही अर्थ की प्रतीति होती है। ऐसा नहीं होता कि वही प्रयोग कहीं 'यौगिक' रूप में दिखाई दे तो कहीं 'रूढ़ि' के रूप में।

'यौगिकरूढ़ि' के उदाहरण के रूप में नैयायिकों ने 'उद्भिद्' शब्द को प्रस्तुत किया है। इस शब्द का 'यौगिक' रूप में प्रयोग लता पौधे आदि के लिये होता है। द्र०—**उद्भिदस् तरुगुल्माद्याः** (अमर०, ३.१.५१)। क्योंकि यहां अवयवार्थ की प्रतीति होती है। परन्तु उद्भिद् नामक याग के लिये इस शब्द का प्रयोग 'रूढ़ि' रूप में होता है। द्र०—**उद्भिदा यजेत पशुकामः** (ताण्ड्य महाब्राह्मण १९.७.१-३)। 'उद्भिद्' शब्द के अर्थ के विषय में मीमांसा (१.४.१.२) में विचार किया गया है। अश्वगन्धा तथा 'मण्डप' शब्द भी इसी तरह 'यौगिकरूढ़ि के उदाहरण हैं।

यों तो 'पङ्कज' शब्द भी, जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'भूमौ पङ्कजम् उत्पन्नम्' इत्यादि प्रयोगों में केवल 'रूढ़ि' अर्थ का तथा **कल्हार-कैरवमुखेष्वपि पङ्कजेषु** इत्यादि प्रयोगों में केवल 'यौगिक' अर्थ का वाचक है। परन्तु इसे 'यौगिकरूढ़ि' का उदाहरण नहीं माना जा सकता। क्योंकि एक स्थान पर केवल 'यौगिक' तथा एक स्थान पर केवल 'रूढ़ि' मानने पर 'पङ्कज' को नानार्थक शब्द मानना होगा—जबकि यह नानार्थक नहीं है। 'पङ्कज' शब्द केवल कमल जाति या कमल के विविध भेदों का ही वाचक है। इसलिये 'योगरूढ़ि' शक्ति को ही वहां तात्पर्यवश दोनों—'यौगिक' तथा 'रूढ़ि'—अर्थों का वाचक मानना चाहिये। इसी लिये नागेश ने उसे 'तात्पर्य-ग्राहक-वशात्' कहकर 'योगरूढ़ि का ही उदाहरण स्वीकार किया है।

**[संयोग आदि के द्वारा 'अभिधा शक्ति' का नियमन होता है]**

सैषा शक्तिः संयोगादिभिर् नानार्थेषु नियम्यते। तदुक्तं हरिणा—

**संयोगो[1] विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।**
**अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।**
**सामर्थ्यम् औचितीदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।**
**शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति-हेतवः॥**

(वाप० २. ३१५-१६)

१. वाप० २. ३१५ में वहां 'संसर्गो' पाठ है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



एते संयोगादयो नानार्थेषु शब्देषु शब्दार्थस्य अनवच्छेदे सन्देहे तदपाकरण–द्वारा विशेषार्थ–निर्णायिका इति तदर्थः ।

इस प्रकार की यह 'शक्ति' अनेक अर्थ वाले शब्दों में 'संयोग' आदि के आधार पर नियन्त्रित होती है । (इस प्रसङ्ग में) भर्तृहरि ने यह कहा है—

"संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग (विशेष चिन्ह) अन्य शब्द की समीपता, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति (स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग), स्वर (उदात्त आदि) आदि शब्दार्थ-विषयक सन्देह में विशेष अर्थ के निर्णायक होते हैं" ।

ये 'संयोग' आदि अनेक अर्थ वाले शब्दों में, शब्दार्थ के अनिश्चय की स्थिति में, सन्देह होने पर, उस (सन्देह) का निराकरण करके विशेष अर्थ के निर्णायक होते हैं यह इन (कारिकाओं) का अर्थ है ।

अनेक अर्थ वाले शब्द का प्रयोग होने पर किसी विशेष अर्थ में उसकी वाचकता शक्ति का निर्णय किस प्रकार होगा इसके लिये विभिन्न आधार बताते हुए नागेश ने इस प्रसङ्ग में भर्तृहरि के वाक्यपदीय (द्वितीय काण्ड) से उपर्युक्त दो कारिकायें उद्धृत की हैं । परन्तु द्वितीय काण्ड के इस प्रकरण में इन कारिकाओं से पहले एक और कारिका निम्न रूप में मिलती है :—

**वाक्यात् प्रकरणाद् अर्थाद् औचित्यात् देशकालतः ।**
**शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥** (२.३१४)

अर्थात् वाक्य, प्रकरण, अर्थ, औचित्य देश तथा काल के आधार पर शब्दार्थ का निर्णय हुआ करता है, केवल रूप के आधार पर नहीं ।

इस कारिका की टीका के उपरान्त **संसर्गो विप्रयोगश्च०** तथा **सामर्थ्यमौचिती०** इन दो कारिकाओं की अवतारणा करते हुए टीकाकार पुण्यराज ने यह कहा है कि शब्दार्थ के निर्णय के हेतु के रूप में अन्य विद्वानों ने संसर्ग आदि हेतुओं का प्रदर्शन किया है जिनका वर्णन भर्तृहरि यहाँ करने जा रहे हैं । द्र० —"**तथा चापरैः संसर्गादयः शब्दार्थावच्छेदकहेतवः प्रदर्शिता इत्याह**" (रघुनाथ शर्मा सम्पादित, पुण्यराज की टीका पृ० ४२०)

प्रथम कारिका 'वाक्यात् प्रकरणात्' को देखते हुए पुण्यराज की बात कुछ ठीक भी प्रतीत होती है । क्योंकि उसमें परिगणित प्रकरण, अर्थ, औचित्य, देश तथा काल का अन्य दो कारिकाओं–**संसर्गो विप्रयोगश्च०** तथा **सामर्थ्यमौचिती०** में पुनः कथन हुआ है । अभिप्राय यह है कि ये दोनों कारिकायें भर्तृहरि ने अन्य आचार्यों के मत के रूप में प्रस्तुत की हैं, यह उनका अपना अभिमत नहीं है । जो भी हो—इन कारिकाओं में प्रदर्शित हेतुओं के आधार पर शब्दार्थ का निर्णय तो होता ही है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इन सभी हेतुओं में 'सामर्थ्य' एक प्रधान हेतु है तथा यदि 'सामर्थ्य' को उसके व्यापक अर्थ में लिया जाय तो उपरिनिर्दिष्ट सभी अन्य हेतुओं का एक उसमें ही अन्तर्भाव हो सकता है। इसीलिये कुछ विद्वान् केवल 'सामर्थ्य' को ही शब्दार्थ-निर्णय में एकमात्र कारण मानते हैं। द्र०—**केचित् सामर्थ्यम् एवैकं शब्दार्थ-निर्णय-निमित्तम् इति मन्यन्ते** (पुण्यराजटीका २.३१६)। नागेशभट्ट ने भी कुछ विद्वानों के इस मत का स्पष्टतः उल्लेख किया है—**अत्र सामर्थ्यमेव एकं मुख्यं निर्णायकं, संयोगादयस्तद् व्यञ्जक-प्रपञ्चः। तैः सामर्थ्यस्यैव अभिव्यक्तेः इति परे** (लघुमंजूषा, पृ० १११)

[संयोग आदि के उदाहरण]

संयोगविप्रयोगयोरुदाहरणे 'सवत्सा धेनुः', 'अवत्सा धेनुः' इति। 'साहचर्यस्य' रामलक्ष्मणौ इति। 'साहचर्यं' सादृश्यम्, **सदृशयोरेव सह प्रयोगः** इति नियमात्। 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इत्यत्र 'विरोधेन' तत्। 'अञ्जलिना जुहोति', 'अञ्जलिना सूर्यम् उपतिष्ठते', इत्यत्र 'जुहोति' इत्यादि-'पदार्थ'-वशाद्-अञ्जलि' पदस्य तत्-तद् आकारांजलि-परत्वम्। 'सैन्धवम् आनय' इत्यादौ 'प्रकरणेन' तत्। **अक्ताः शर्करा उपदधाति** इत्यादौ **तेजो वै घृतम्** इति घृत-स्तुति-रूपाल् 'लिङ्गाद्' अक्ताः इत्यस्य घृत-साधनकांजनपरत्वम्[2]। 'रामो **जामदग्न्यः**' इति 'जामदग्नि'—पद—'सन्निधानाद्' रामः **परशुरामः**। 'अभिरूपाय कन्या देया' इत्यादौ 'अभिरूपतराय' इति 'सामर्थ्यात् प्रतीयते।

**यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा।**
**यश्चैनं गन्ध-माल्याद्यैः सर्वस्य कटुरेव सः[4]।**

इत्यत्र 'औचित्यात्' 'परशुना' इत्यस्य छेदनार्थत्वम्। 'मधुसर्पिषा' इत्यस्य सेचनार्थत्वम्। 'गन्धमाल्याद्यैः' इत्यस्य पूजनार्थत्वम्। 'भात्यत्र परमेश्वरः' इत्यत्र

१. निस०, काप्रशु०, 'इत्यादौ'।
२. ह०—साधनांजनपरत्वम्।
३. ह०—तिक्तएव।
४. कुवलयानन्द में 'तुल्ययोगिता' अलंकार के एक प्रकार के उदाहरण के रूप में तथा वाक्यपदीय (२.३१६) की पुण्यराज की टीका में 'औचित्य' के उदाहरण के रूप में यह श्लोक उद्धृत है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



राजधानी-रूप-देशात्' 'परमेश्वर'-पदं राजबोधकम्। 'चित्रभानुर्भाति' इत्यादौ रात्रौ अग्नौ, दिवा सूर्ये। 'व्यक्ति': लिङ्गम्। 'मित्रो भाति', 'मित्रं भाति' इत्यादौ आदौ[५] सूर्ये, अन्त्ये सुहृत्। 'स्थूलपृषतीम्' इत्यादौ 'स्वरात्' तत्पुरुष-बहुव्रीह्यर्थ-निर्णयः।

## इति शक्ति-निरूपणम्

'संयोग' तथा 'विप्रयोग' के क्रमशः उदाहरण हैं—'वत्स के सहित धेनु' तथा 'वत्स से रहित धेनु'। 'साहचर्य' का–'राम और लक्ष्मण'। "दो सदृशों का ही एक साथ प्रयोग होता है" इस नियम के कारण 'साहचर्य' का अभिप्राय सादृश्य है। 'उन दोनों की राम-अर्जुन की गति (दशा या स्थिति) है' इत्यादि में 'विरोध' के आधार पर ('राम' शब्द के अर्थ का) निर्णय होता है। 'अञ्जलि से हवन करता है' 'अञ्जलि से सूर्योपस्थान करता है' यहां 'हवन' आदि पदों के अर्थ के कारण 'अञ्जलि' पद का भिन्न-भिन्न आकार वाली 'अञ्जलि' अर्थ होता है। सैन्धव लाओ' इत्यादि में प्रकरण से (नमक या अश्व रूप) अर्थ का निर्णय होता है। "घृत निश्चय ही तेज है" इस घृतस्तुति-रूप 'लिङ्ग' से 'अक्ताः' इस पद का अर्थ 'घृत से ही कंकड़ों को चुपड़ना चाहिये' अर्थ होता है। 'जामदग्न्य (जमदग्नि का पुत्र) राम' यहां 'जामदग्न्य' पद के समीप (प्रयुक्त) होने के कारण 'राम' का अर्थ 'परशुराम' निश्चित होता है। 'अभिरूप (सुन्दर अथवा विद्वान्) को पुत्री देनी चाहिये' इत्यादि में 'सामर्थ्य' से 'अभिरूप' का अर्थ 'अभिरूपतर' (योग्यतर) प्रतीत होता है। 'जो (मनुष्य) नीम (वृक्ष) को परशु से, जो मधु तथा घृत से, जो सुगन्धियुक्त द्रव्य तथा माला आदि से (उन) सभी के लिये कटु ही होता है"—यहां 'औचित्य' के कारण 'परशु' का अन्वय काटने में, 'मधु' तथा 'घृत' का अन्वय सिञ्चन में तथा 'सुगन्धियुक्त द्रव्य और माला आदि' का अन्वय पूजन में होता है। 'यहाँ परमेश्वर सुशोभित हो रहा है' इस प्रयोग में राजधानी रूप 'स्थान' के कारण 'परमेश्वर' पद 'राजा' अर्थ का बोधक है। 'चित्रभानु' (सूर्य अथवा अग्नि) चमक रहा है, इत्यादि में ('चित्रभानु' शब्द का) रात्रि के समय अग्नि में तथा दिन के समय सूर्य में अन्वय होगा। 'व्यक्ति' (अर्थात्) 'लिङ्ग' (पुलिङ्ग, स्त्री-लिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग)। 'मित्र सुशोभित होता है' इत्यादि में 'पुलिङ्ग' 'मित्र' शब्द ('मित्रः') का प्रयोग होने पर 'मित्र' शब्द का अर्थ 'सूर्य' होगा और 'नपुंसक लिङ्ग' वाले 'मित्र' शब्द (मित्रम्) का प्रयोग होने पर 'मित्र' (सखा) अर्थ होगा। 'स्थूल-पृषतीम्' इत्यादि में 'स्वर' (उदात्त आदि) के आधार पर तत्पुरुष समास या बहुव्रीहि समास के अर्थ का निर्णय होगा।

---

५: ह० में 'आदौ' अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**संयोग तथा विप्रयोग**—'संयोग' का अभिप्राय है प्रसिद्ध सम्बन्ध तथा 'विप्रयोग' का अर्थ है उस प्रसिद्ध सम्बन्ध का विनाश अथवा अभाव। 'संयोग' तथा 'विप्रयोग' के क्रमशः उदाहरण हैं—'वत्स के सहित धेनु' तथा 'वत्स से रहित धेनु'। 'धेनु' शब्द के 'नव प्रसूता गाय', 'भैंस', 'अश्व', तथा 'स्त्री' आदि अनेक अर्थ होते हैं। परन्तु यहां 'सवत्सा' तथा 'अवत्सा' इन विशेषणों से सूचित 'वत्स के संयोग' तथा 'विप्रयोग' द्वारा यह निर्णय हो जाता है कि इन प्रयोगों में 'धेनु' का अर्थ 'गाय' ही है, क्योंकि 'वत्स' गाय के संद्यः प्रसूत बच्चे को ही कहते हैं, इसलिये वत्स का संयोग तथा विप्रयोग केवल गाय के साथ ही हो सकता है, किसी अन्य के साथ नहीं।

**साहचर्य**—'साहचर्य' का अर्थ है सादृश्य, क्योंकि दो सदृश प्राणियों या वस्तुओं का ही एक साथ प्रयोग संभव है। इसी तथ्य को बताते हुए पतञ्जलि ने "**विपराभ्यां जेः**" (पा० १.३.१९) सूत्र के भाष्य में यह कहा कि **तस्यास्य कोन्यो द्वितीयः सहायो भवितुम् अर्हति अन्यद् अत उपसर्गात्। तद्यथा अस्य गोद्वितीयेनार्थः इति गौरेवोपादीयते, नाश्वो न गर्दभः** अर्थात् इस उपसर्ग 'वि' का सहयोगी इस 'परा' उपसर्ग के अतिरिक्त और दूसरा कौन हो सकता है। वैयाकरणों की परिभाषा—**सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्** (परिभाषेन्दुशेखर, परि० स० ११२) भी इसी तथ्य को प्रकट करती है।

'साहचर्य' का उदाहरण है 'रामलक्ष्मणौ' (राम तथा लक्ष्मण)। यहाँ यद्यपि 'राम' शब्द के 'सारस', 'परशुराम', 'बलराम', 'रामचन्द्र', 'अभिराम' इत्यादि अनेक अर्थ हैं, परन्तु 'लक्ष्मण' शब्द के साहचर्य से 'राम' का अर्थ दशरथपुत्र 'रामचन्द्र ही हो सकता है।

**विरोध**—दो विरोधियों के एक साथ कथन से भी अर्थ का निर्णय होता है। इसका उदाहरण है—'रामार्जुनगतिस्तयोः' (राम तथा अर्जुन की विरोधी स्थिति के समान उन दोनों की स्थिति है)। यहां सहस्रार्जुन का विरोधी होने के कारण 'राम' का अभिप्राय 'परशुराम' ही हो सकता है। दशरथ-पुत्र रामचन्द्र इत्यादि नहीं। इसी प्रकार परशुराम का विरोधी होने के कारण 'अर्जुन' का अभिप्राय सहस्रार्जुन ही हो सकता है, युधिष्ठिर का भाई अर्जुन इत्यादि नहीं।

**अर्थ**—'अर्थ' से तात्पर्य है—किसी विशेष पद का अर्थ, प्रयोजन या किसी और तरह से सिद्ध न होने वाला फल। इसका उदाहरण है—'अञ्जलिना' जुहोति (अञ्जलि से हवन करता है) तथा 'अञ्जलिना सूर्यम् उपतिष्ठते' (अञ्जलि से सूर्य का उपस्थान या उपासना करता है)। पहले प्रयोग में 'हवन करना' रूप विशेष 'अर्थ' के कारण 'अञ्जलि' का अर्थ है 'गोल और गड्ढे वाली' अञ्जलि। परन्तु दूसरे प्रयोग में 'उपासना करना' रूप अर्थ के कारण 'अञ्जलि' का अभिप्राय है 'दोनों हाथ जुड़े हुए हैं जिसमें ऐसी अञ्जलि'। 'अर्थ' शब्द का एक और अभिप्राय है 'प्रयोजन', उसकी दृष्टि से 'अर्थ' का उदाहरण हो सकता है—"**स्थाणुं वन्दे भवच्छिदे**" (मोक्षप्राप्ति के लिये स्थाणु, अर्थात् भगवान् शङ्कर, की वन्दना करता हूँ)। यहां मोक्षप्राप्ति रूप प्रयोजन के कारण 'स्थाणु' का अर्थ शङ्कर मानना होगा।

**प्रकरण अथवा प्रसङ्ग**—यदि भोजन के 'प्रकरण' में 'सैन्धवम् आनय' (सैन्धव लाओ) कहा गया तो वहां 'सैन्धव' का अर्थ नमक होगा। परन्तु यदि प्रस्थान के प्रसंग में वही वाक्य कहा गया तो सैन्धव का अर्थ होगा सिन्धुदेशीय अश्व।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**लिङ्ग**—'लिङ्ग' का अभिप्राय है कोई विशेष संकेत या चिन्ह। इसका उदाहरण है—**अक्ता शर्कराः उपदधाति** (चुपड़े हुए कंकड़ों को वेदी के पास रखता है)। इस वाक्य के साथ ही यह कहा गया कि **तेजो वै घृतम्** (घृत निश्चय ही तेज है)। यह 'अर्थवाद' या प्रशंसापरक वाक्य ही यहां यह संकेत देता है कि घृत से कंकड़ चुपड़े जाने चाहियें तेल या चर्बी आदि किसी अन्य पदार्थ से नहीं।

**अन्य शब्द की सन्निधि अथवा सामीप्य**—विद्वानों ने 'सन्निधि' का अर्थ समानाधिकरणता या समानार्थकता माना है। इसीलिये समानाधिकरणता न होने के कारण, 'सशंख-चक्रो हरिः' को 'शङ्ख-चक्र' पद के सामीप्य का उदाहरण न मानकर 'संयोग' का ही उदाहरण माना जाता है। 'सन्निधि' का उदाहरण है—'रामो जामदग्न्यः। (जमदग्नि के पुत्र राम)। यहां 'राम' तथा 'जामदग्न्य' में समानाधिकरणता अथवा समानार्थकता है। इसलिये 'राम' पद से परशुराम का ही बोध होता है।

**सामर्थ्य**—'सामर्थ्य' का अभिप्राय है 'समर्थता' या 'कारणता' (कारण बनना)। 'शब्द-निष्ठ' तथा 'अर्थ-निष्ठ' होने के कारण 'सामर्थ्य' दो प्रकार का होता है। शब्द-निष्ठ सामर्थ्य का उदाहरण है—'अभिरूपाय कन्या देया' (सुन्दर या योग्य व्यक्ति को कन्या देनी चाहिये)। यहां 'अभिरूप' का अभिप्राय, 'अभिरूप' शब्द में विद्यमान 'सामर्थ्य' के आधार पर, अभिरूपतर (अत्यन्त सुन्दर या योग्य) किया जाता है। अर्थ-निष्ठ 'सामर्थ्य' का उदाहरण है—'मधुना मत्तः कोकिलः' (वसन्त के कारण मत्त कोयल)। यहां 'मधु' शब्द के अर्थ (वसन्त) में ही सामर्थ्य विद्यमान है क्योंकि वसन्त ही कोकिल को मत्त बना सकता है। अतः यहां 'मधु' का अर्थ वसन्त ही होगा। द्र०—**अन्यस्य मधुशब्दार्थस्य कोकिल-मादनासामर्थ्यात्** (काव्यप्रकाश, प्रदीप टीका, आनन्दाश्रम संस्करण पृ० ६४)

**औचिती**—'औचित्य' का अभिप्राय है योग्यता या उचित का भाव। इस हेतु के आधार पर "नीम के वृक्ष को जो मनुष्य परशु से, जो मधु तथा घृत से, जो सुगन्धित द्रव्यों तथा माला आदि से, सभी के लिये वह कटु ही होता है", इस कथन में 'परशु' का अन्वय 'छेदन' क्रिया में, 'मधु' तथा 'घृत' का अन्वय 'सिञ्चन' क्रिया में तथा 'गन्ध', 'माला' आदि का अन्वय 'पूजन' क्रिया में होता है।

**'सामर्थ्य' तथा 'औचित्य' में अन्तर**—'सामर्थ्य' तथा 'औचित्य' में अन्तर यह है कि 'सामर्थ्य' में समर्थता या कारणता पर अधिक बल है, जब कि 'औचित्य' में 'उचितता' पर। 'मधुना मत्तः कोकिलः' इस 'सामर्थ्य' के उदाहरण में 'मधु' के अर्थ 'बसन्त' में ही यह शक्ति या कारणता विद्यमान है कि वह कोकिल को मतवाली बना सके अन्य 'आसव' आदि अर्थों में वह शक्ति या सामर्थ्य नहीं है। 'सामर्थ्य' तथा 'औचित्य' में अन्तर करने की दृष्टि से, 'औचित्य' का जो उदाहरण "पातु वो दयितामुखम्" (प्रेयसी की सम्मुखता तुम्हारी रक्षा करे) मम्मट आदि ने दिया है वह अधिक उपयुक्त है। क्योंकि वहाँ उचितता की स्पष्ट प्रतीति होती है। प्रेयसी के साम्मुख्य के द्वारा उसके प्रेमी की रक्षा किये जाने में अधिक 'औचित्य' है, यों रक्षा करने का सामर्थ्य तो रक्षा के अन्य साधनों से भी सम्भव है। **यश्च निम्बं परशुना०** इत्यादि जो यहां 'औचित्य' का उदाहरण दिया गया है उस में भी 'सामर्थ्य' तथा 'औचित्य' का अन्तर इसी रूप में देखना चाहिये। यहां 'परशुना' इत्यादि में 'उनकी 'छेदन' आदि की दृष्टि से कारणता,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



पर बल न होकर इस बात पर बल है कि परशु के द्वारा नीम के काटने में ही औचित्य है।

**स्वर**—'स्वर' का अभिप्राय है स्वर वर्णों के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित इत्यादि धर्म। इनके के आधार पर अर्थ का निर्धारण प्रायः वेदों या ब्राह्मण ग्रन्थों में ही प्राप्त होता है। यहां नागेश ने जो 'स्थूल-पृषती' का उदाहरण दिया है वह भी लौकिक उदाहरण नहीं है।

'स्थूल पृषती' इस पद में 'कर्मधारय तत्पुरुष' (**स्थूला चासौ पृषती च**, अर्थात् मोटी और चितकबरी गाय) माना जाय या बहुव्रीहि-समास (**स्थूलानि पृषन्ति यस्याम्** अर्थात् बड़े २ धब्बों वाली गाय) यह सन्देह उपस्थित होता है। इस सन्देह का निवारण 'स्वर' के आधार पर ही हो सकता है। वह इस प्रकार कि यदि यह पद **समासस्य** (पा० ६.१.२२३) के अनुसार अन्तोदात्त है तब तो यहां 'कर्मधारय तत्पुरुष' समास मानना होगा पर यदि **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (पा० ६.२.१) सूत्र के अनुसार 'स्थूल पृषती' पद में पूर्वपद-प्रकृति-स्वर है तो 'बहुव्रीहि' समास माना जायगा।

'स्वर' के अर्थ-निर्णायक होने की बात पतंजलि ने भी महाभाष्य के पस्पशान्हिक में निम्न शब्दों में कही है :—**याज्ञिकाः पठन्ति "स्थूलपृषतीम् आग्निवारुणीम् अनड्वाहीम् आलभेत"** इति। **तस्यां सन्देहः 'स्थूला चासौ पृषती च स्थूल-पृषती'** इति **'स्थूलानि वा पृषन्ति यस्याः सेयं स्थूलपृषती'' इति ? तां नावंयाकरणः स्वरतोऽप्यवस्यति-यदि पूर्व- पद-प्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः** अथ **समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति**। महा० भाग १, पृ० २१

**आदि**—कारिका में विद्यमान 'आदि' पद से 'षत्व' 'सत्व' 'णत्व', 'नत्व' जैसे हेतुओं का ग्रहण पुण्यराज आदि टीकाकारों ने किया है। जैसे 'सुसिक्तम्' तथा 'अतिस्तुतम्' में 'सत्व' को देखकर 'सु' तथा 'अति' का अर्थ क्रमशः 'पूजा' तथा 'अतिक्रमण' है यह निर्णय हो जाता है, क्योंकि इन्हीं अर्थों में **सुः पूजायाम्** (पा० १.४.९४) तथा **अतिरतिक्रमणे** च (पा० १.४.९५) इन सूत्रों द्वारा उपर्युक्त प्रयोगों में 'सु' तथा 'अति' की 'कर्मप्रवचनीय' 'संज्ञा' मानी गई है। 'कर्म-प्रवचनीय' संज्ञा हो जाने के बाद, **आकडारादे एका संज्ञा** (पा० १.४.१) सूत्र के अनुसार 'एका संज्ञा' का नियम होने के कारण, इन दोनों की 'उपसर्ग' संज्ञा न हो सकी। और 'उपसर्ग' संज्ञा न होने के कारण इन दोनों प्रयोगों में धातु के 'स्' को 'षत्व' नहीं हो सका।

इसके विपरीत 'सुषिक्तम्' तथा 'अतिष्टुतम्' प्रयोगों में, जहां षत्व हो जाता है, 'पूजा' तथा 'अतिक्रमण' से भिन्न 'निन्दा' आदि अर्थ माने जाते हैं, क्योंकि इन दोनों प्रयोगों में 'सु' तथा 'अति' की, इन दोनों अर्थों से भिन्न अर्थ होने के कारण ही 'कर्म-प्रवचनीय' संज्ञा न होकर, 'उपसर्ग' संज्ञा हो गयी है, जिससे इनमें 'स्' को 'षत्व' हो गया।

इसी प्रकार 'प्रणायकः' में 'णत्व' के कारण प्रणयन क्रिया के कर्त्ता की प्रतीति होती है, क्योंकि यहां 'नी' धातु के प्रति 'प्र' की 'उपसर्ग' संज्ञा होने के कारण ('णोपदेश' **णीञ् प्रापणे**) धातु के 'नकार' को **उपसर्गाद् असमासेऽपि णोपदेशस्य** (पा० ८.४.१४) सूत्र से णत्व हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



परन्तु 'प्रनायकः' में णत्वाभाव के कारण 'प्रगता नायका अस्माद् देशाद् असौ प्रनायको देशः' इस विग्रह के अनुसार अन्यपदार्थ (देश) की प्रतीति होती है। यहां इस विग्रह के कारण 'गम्' धातु के प्रति 'प्र' की 'उपसर्ग' संज्ञा है, 'नी' धातु के प्रति नहीं। क्योंकि यह नियम है कि **यं प्रति प्रादयः प्रयुक्तास्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञा भवन्ति**। यहां 'गम्' धातु के साथ 'प्र' प्रयुक्त है, इसलिये 'नी' के साथ उसकी 'उपसर्ग' संज्ञा नहीं हो सकती। अतः 'प्र' की उपसर्ग संज्ञा के अभाव में उपर्युक्त सूत्र से यहाँ 'णत्व' नहीं हो सका।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# लक्षणा-निरूपणम्

[लक्षणा वृत्ति के विषय में नैयायिकों का मत]

ननु लक्षणा कः पदार्थ इति चेत् ? अत्र **तार्किकाः**—"स्व शक्यसम्बन्धो लक्षणा"। सा द्विधा—'गौणी' 'शुद्धा' च। स्वनिरूपित-सादृश्याधिकरणत्व-सम्बन्धेन शक्यसम्बन्ध्यर्थ-प्रतिपादिका 'गौणी'। तदतिरिक्त सम्बन्धेन शक्यसम्बन्ध्यर्थ प्रतिपादिका 'शुद्धा'।

लक्षणा क्या वस्तु है ? इस विषय में नैयायिक कहते हैं—"अपने शक्य (वाच्यार्थ) का सम्बन्ध लक्षणा है"। वह दो प्रकार की होती है—'गौणी' तथा 'शुद्धा'। अपने 'सादृश्य' सम्बन्ध द्वारा वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ को बताने वाली 'गौणी' (लक्षणा) है। 'सादृश्य' से भिन्न सम्बन्ध के द्वारा वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ को बताने वाली शुद्धा (लक्षणा) है।

वैयाकरण विद्वान् 'लक्षणा' वृत्ति नहीं मानते। परन्तु नैयायिक आदि विद्वानों की दृष्टि से यहां लक्षणा के स्वरूप तथा उसके विविध प्रकार की चर्चा की जा रही है।

**स्व-शक्य-सम्बन्धो लक्षणा**—लक्षणा की परिभाषा में विद्यमान 'स्व' पद का अभिप्राय है—अर्थ को कहने में शक्त या समर्थ पद। शक्य का अर्थ है—'शक्ति' अथवा 'अभिधा वृत्ति' के द्वारा कहा गया (वाच्य) अर्थ। इस प्रकार 'शक्त' या समर्थ पद के 'शक्य' या वाच्य अर्थ से 'सामीप्य' या 'सादृश्य' आदि किसी प्रकार का सम्बन्ध 'लक्षणा' है। जैसे—'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा-तट पर घर है) इस प्रयोग में 'गङ्गा' पद 'शक्त', अर्थात् वाचक शब्द है। इस का 'शक्य', अर्थात् वाच्य, अर्थ है 'प्रवाह विशेष'। इस शक्यार्थ रूप 'प्रवाह विशेष' से तट का 'सामीप्य' सम्बन्ध है। इस रूप में 'प्रवाह विशेष' तथा 'तट' का जो सम्बन्ध वही 'लक्षणा' है तथा 'लक्ष्य' अर्थ है तट।

**गौणी लक्षणा**—गौणी लक्षणा की परिभाषा में 'स्व' पद का अभिप्राय है—'शक्य' या वाच्य अर्थ। इस 'शक्य' अर्थ से उपस्थापित जो 'सादृश्य' उसका 'अधिकरण होना' रूप सम्बन्ध के द्वारा वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाली लक्षणा 'गौणी' कही जाती है। जैसे 'गौर्वाहीकः' (वाहीक बैल है)। यहां 'गौ' पद का शक्य अर्थ है 'बैल'। यही यहां 'स्व' पद से अभिप्रेत है। 'बैल' में जो जड़ता आदि अवगुण है, उनके सदृश जड़ता आदि वाहीक में भी हैं। अतः यह, बैल द्वारा प्रकट किया गया ('स्वनिरूपित'), सादृश्य है। इस 'सादृश्य' का अधिकरण है 'वाहीक'। इस प्रकार इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'सादृश्य' का 'अधिकरण होना' रूप सम्बन्ध के द्वारा 'वाहीक' अर्थ का बोध यहां लक्षणा वृत्ति से होता है। अतः यह 'गौणी' लक्षणा है। तुलना करो—'सादृश्यात्तु मता गौण्यः, (साहित्यदर्पण), २.१४।

'गौर्वाहीकः' इस प्रयोग में 'वाहीक' शब्द के दो अर्थ किये जाते हैं। प्रथम—'वाहीक' अर्थात् एक प्रदेश विशेष अथवा पंजाब का एक भाग। इस भाग अथवा प्रदेश में रहने वाले व्यक्ति को भी 'वाहीक' कहा जाता है। दूसरा अर्थ है—'बहिर्भवो वाहीकः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेद शास्त्रानुकूल आचार-विचार से रहित व्यक्ति 'वाहीक' है। यहाँ 'ब' तथा 'ब' को एक मानकर "बहिषष्टि-लोपो यञ्च" तथा "ईकक् च" (मभा० ४.१.८५) इन दो वार्तिकों से 'बहिष्' शब्द के 'टि' ('इष्') भाग का लोप तथा 'ईकक्' प्रत्यय करके 'वाहीक' शब्द की सिद्धि की जाती है।

यहाँ किस प्रकार 'गौ' शब्द 'वाहीक' अर्थ को कहता है, इस विषय में, अन्य मतों का निराकरण करते हुए तथा अपना सिद्धान्त-मत प्रस्तुत करते हुए, मम्मट ने काव्य-प्रकाश में यह कहा है कि 'गौ' तथा 'वाहीक' दोनों में साधारणरूप से रहने वाले जो, जड़ता तथा मूर्खता आदि, अवगुण हैं, उनका आश्रय होने के कारण (इस आश्रयता रूप सम्बन्ध से) 'गौ' शब्द का 'लक्ष्य' अर्थ है वाहीक। द्र०—"साधारण-गुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यते' (काव्यप्रकाश तथा उसकी वामनी टीका पृ० ४८)

इस लक्षणा का नाम 'गौणी' इसलिये पड़ा कि इस वृत्ति से वे गुण (जैसे यहां मूर्खता आदि हैं) लक्षित होते हैं, जो दो समान या सदृश पदार्थों या प्राणियों आदि में रहते हैं। इसलिए 'गुणाद् आगता गौणी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका 'गौणी' नाम सार्थक ही है। इस प्रकार 'गौणी' लक्षणा सदा 'सादृश्य' सम्बन्ध पर ही आश्रित रहती है। इस बात को तन्त्रवार्तिककार ने निम्न कारिका में स्पष्ट किया है—

**'लक्ष्यमाणगुणैर् योगाद् वृत्तेर् इष्टा तु गौणता'**

(काव्यप्रकाश, २.१२. में उद्धृत)

**शुद्धा लक्षणा**—'सादृश्य' सम्बन्ध से इतर—'कार्यकारण' आदि सम्बन्धों के आधार पर वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ को बताने वाली लक्षणा को 'शुद्धा' लक्षणा कहा जाता है, क्योंकि इस लक्षणा में 'गौणी' के समान 'उपचार' या 'आरोप' का मिश्रण नहीं होता। इसीलिये इसका नाम 'शुद्धा' पड़ा। द्र०—"पूर्वा तु उपचारामिश्रणात् शुद्धा"। साहित्यदर्पण (२.१४)

शुद्धा लक्षणा का उदाहरण है—'आयुर्घृतम्' (घृत आयुवर्द्धन का कारण है)। यहाँ 'कार्यकारण' सम्बन्ध के आधार पर 'घृत' शब्द अपने 'शक्यार्थ' (घृत) से सम्बद्ध आयु का लक्षणा द्वारा बोध कराता है। द्र०—"सादृश्येतर-सम्बन्धात् शुद्धास् ताः सकला अपि" (साहित्यदर्पण २.१४)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[लक्षणा के दो और भेद]

प्रकारान्तरेणापि सा द्विविधा—अजहत्स्वार्था जहत्स्वार्था च। स्वार्थ–संवलित–परार्थाभिधायिका 'अजहत्स्वार्था'। तेन 'छत्रिणो यान्ति', 'कुन्तान् प्रवेशय', 'यष्टीः प्रवेशय' काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादौ 'छत्रि–सहित-सेना'–'कुन्तास्त्र–सहित–पुरुष'-'काक–सहित–सर्व-दध्युपघातक'-बोधः।

वह ('गौणी' तथा 'शुद्धा' लक्षणा), दूसरी तरह से, फिर दो प्रकार की होती है—'अजहत्स्वार्था' तथा 'जहत्स्वार्था'। 'शक्यार्थ' (वाच्यार्थ) के साथ लक्ष्यार्थ का बोध कराने वाली 'अजहत्स्वार्था' है। इस कारण 'छत्रिणो यान्ति' (छत्र धारण करने वाले जाते हैं), 'कुन्तान् प्रवेशय' (भालों का प्रवेश कराओ), 'यष्टीः प्रवेशय,' (लाठियों को प्रविष्ट होने दो), 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओं से दही की रखवाली करो), इत्यादि (प्रयोगों) में 'छत्रधारी सैनिकों के साथ सेना', 'भालों तथा छड़ियों सहित मनुष्यों' और कौओं के साथ-साथ दही को खराब करने वाले सभी प्राणियों' का ज्ञान होता है।

**अजहत्स्वार्था** - वाक्यार्थ में शक्यार्थ अथवा वाच्यार्थ की ठीक-ठीक संगति लगाने के लिये दूसरे अर्थ का आक्षेप करते हुए भी इस लक्षणा में शब्द अपने वाच्यार्थ को नहीं छोड़ते। इसी कारण इसका अन्वर्थक नाम 'अजहत्स्वार्था' पड़ा। इस शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है—"अजहत् अत्यजन् स्वार्थः मुख्यार्थः यां सा अजहत्स्वार्था", अर्थात् वाच्यार्थ अथवा मुख्यार्थ जिस लक्षणा का परित्याग न करे वह 'लक्षणा' 'अजहत्स्वार्था' है। नागेशभट्ट ने महाभाष्य की अपनी उद्द्योत टीका (२.१.१, पृ० २९) में 'जहत्-स्वार्था' तथा 'अजहत्स्वार्था' शब्द की व्युत्पत्ति निम्न रूप में की है—"जहति परित्यजन्ति स्वानि पदानि यम् (अर्थम्) स जहत्स्वोऽर्थः। जहत्स्वोऽर्थो यस्याः लक्षणायाः सा जहत्-स्वार्था। न जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था"।

यहाँ 'अजहत्स्वार्था' लक्षणा में शक्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों का क्रिया में अन्वय होता है। ऊपर इस 'लक्षणा' के 'छत्रिणो यान्ति' इत्यादि अनेक उदाहरण दिये गए हैं। उन सभी प्रयोगों में 'छत्रिणः' इत्यादि शब्द अपने अपने शक्यार्थ को नहीं छोड़ते। क्योंकि कहने वाले का अभिप्राय यह होता है कि छत्र धारण करने वाले सैनिक तो जाते ही हैं, पर उनके साथ ही ऐसे सैनिक भी जाते हैं जो छत्र धारण नहीं किये हुए हैं। इसी प्रकार भाले तथा छड़ियों के प्रवेश का अभिप्राय उनसे युक्त व्यक्तियों का प्रवेश कराना ही होता है। 'कौओं से दही की रखवाली करो' इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं होता कि केवल कौओं से ही दही की रक्षा करनी है, अपितु कौए, कुत्ते, बिल्ली इत्यादि उन सभी जानवरों से दही की रक्षा करनी है, जो भी दही को दूषित कर सकते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस लक्षणा को आचार्य विश्वनाथ आदि 'उपादान लक्षणा' कहते हैं—उसका भी अभिप्राय यही है। द्र०—

**मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।**
**स्याद् आत्मनोऽप्युपादानाद् एषोपादानलक्षणा॥**
(साहित्यदर्पण २.१०)

**['जहत्स्वार्था' लक्षणा की परिभाषा]**

स्वार्थपरित्यागेन इतरार्थाभिधायिका अन्त्या। तत्परित्यागश्च शक्यार्थस्य लक्ष्यार्थान्वयिना अनन्वयित्वम्। तेन 'गां वाहीकं पाठय' इत्यादौ गोसदृशलक्षणायाम् अपि न गोस्तदन्वयि-पाठन[1]-क्रियान्वयित्वम्।

अपने (वाच्य) अर्थ का सर्वथा परित्याग करके दूसरे (लक्ष्य) अर्थ को बताने वाली अन्तिम (जहत्स्वार्था) है। अपने (वाच्य) अर्थ के परित्याग का अभिप्राय है लक्ष्यार्थ से अन्वित (सम्बद्ध) होने वाले (क्रिया आदि) के साथ शक्यार्थ का अन्वित न होना। इसलिये 'बैल वाहीक (जड़ एवं मन्द बुद्धि वाले वाहीक) को पढ़ाओ' इत्यादि कथन में 'बैल सदृश' अर्थ में लक्षणा होने पर भी, लक्ष्यार्थ (वाहीक) से अन्वित होने वाली पाठन क्रिया के साथ बैल (रूप वाच्यार्थ) का अन्वय नहीं होता।

**जहत्स्वार्था**—वाक्यार्थ में लक्ष्यार्थ की पूरी सङ्गति हो सके इसके लिये शब्द जब अपने स्वार्थ या वाच्यार्थ का परित्याग कर देता है तो, अपने अर्थ का परित्याग कर देने के कारण ही, उस लक्षणा को 'जहत्स्वार्था' कहा जाता है। जैसे—'बैल (रूप) वाहीक को पढ़ाओ'। यहाँ 'पाठन' क्रिया के साथ बैल की संगति नहीं लग सकती। इस लिये 'गौ' शब्द अपने वाच्यार्थ (बैल) का परित्याग कर देता है, और केवल बैल में विद्यमान जाड्य, मान्द्य आदि सदृश जाड्य, मान्द्य आदि गुणों वाले, वाहीक (वाहीक प्रदेश में रहने वाले आदमी) को कहता है, जिसके साथ 'पठन' क्रिया की संगति लग जाती है।

'जहत्स्वार्था' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है—"जहति परित्यजन्ति स्वानि (पदानि) यम् (अर्थं) स जहत्स्वो (अर्थः)। जहत्स्वो अर्थो यस्या लक्षणायाः सा जहत्स्वार्था", अर्थात् शब्द जिस लक्षणा में अपने अर्थ का परित्याग कर दें वह 'जहत्स्वार्था लक्षणा' है। इस 'जहत्स्वार्था' को अलंकार शास्त्र के आचार्य 'लक्षण-लक्षणा' कहते हैं, जिसमें 'लक्षण' शब्द का अभिप्राय है 'उपलक्षण' अथवा 'स्वार्थ-परित्याग'। द्र०—

१. हस्तलेखों में—'पठन'।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वय-सिद्धये ।**
**उपलक्षण-हेतुत्वाद् एषा लक्षण-लक्षणा ॥ (साहित्यदर्पण २.११)**

[लक्षणा में 'तात्स्थ्य' आदि अनेक धर्म निमित्त बनते हैं]

सा च लक्षणा तात्स्थ्यादि-निमित्तका । तदाह—
**तात्स्थ्यात्तथैव ताद्धर्म्यात्तत्सामीप्यात्तथैव च ।**
**तत्साहचर्यात् तादर्थ्याज् ज्ञेया वै[1] लक्षणा बुधैः ॥**
तात्स्थ्यात्—'मंचा हसन्ति', 'ग्रामः पलायितः' । ताद्धर्म्यात्—'सिंहो माणवकः', 'गौर्वाहीकः' । तत्सामीप्यात्—'गंगायां घोषः' । तत्साहचर्यात्—'यष्टीः प्रवेशय' । तादर्थ्यात्—'इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः' ।

और वह लक्षणा 'तात्स्थ्य' (शक्य अथवा वाच्य अर्थ पर स्थित) आदि निमित्तों वाली है । जैसा कहा गया है —'तात्स्थ्य' (वाच्य अर्थ में स्थित होना), 'ताद्धर्म्य' (वाच्य अर्थ के धर्म से युक्त होना), 'तत्सामीप्य' (वाच्य अर्थ के समीप होना), 'तत्साहचर्य' (वाच्य अर्थ की सहचारिता) और इसी प्रकार 'तादर्थ्य' (वाच्य अर्थ के लिए होना) के आधार पर पण्डितों के द्वारा लक्षणा जाननी चाहिये ।

'तात्स्थ्य' (सम्बन्ध) से 'मंच' (मचान) हंसते हैं', 'गाँव भाग गया' । 'ताद्धर्म्य' (सम्बन्ध) से —'बालक शेर है', 'वाहीक बैल है' । 'तत्सामीप्य' (सम्बन्ध) से—'छड़ियों को अन्दर भेजो' । 'तादर्थ्य' (सम्बन्ध) से—'इन्द्र के लिये बनाया गया स्तम्भ इन्द्र है' (इत्यादि उदाहरण द्रष्टव्य हैं) ।

यहाँ उन विभिन्न सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है जिनके आधार पर लक्षणा वृत्ति का प्रयोग किया जाता है । महाभाष्यकार पतंजलि ने भी 'प्रयोगाद् आख्यायाम्' (पा० ४.१.४८) सूत्र के भाष्य में किन कारणों से किसी पदार्थ को अन्य पदार्थ मान लिया जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में इन्हीं चार आधारों को गिनाया है । द्र०—"कथं पुनर् अतस्मिन् स इत्येतद् भवति ? तादर्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्याद् इति" । इनके उदाहरण भी लगभग उपर्युक्त ही दिये हैं । काव्यप्रकाश की वामनी टीका (पृ० ५३) में लक्षणा अथवा उपचार के प्रसंग में 'स्व-स्वामिभाव', 'अवयव-अवयविभाव', तथा 'तात्कर्म्य' सम्बन्धों का उल्लेख भी मिलता है । द्र०—"क्वचित् तादर्थ्याद् उपचारः । यथा-इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः । क्वचित्

१. ह०—च ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



स्व-स्वामिभाव-सम्बन्धात्। यथा—राजकीयः पुरुषो राजा। क्वचिद् अवयव-अवयवि-भावात्। यथा—अग्रहस्तः इत्यत्र अग्रमात्रे अवयवे हस्तः। क्वचित् तात्कर्म्यात् यथा—अतक्षा तक्षा"। शब्दप्रयोग के अनुसार इस प्रकार के अन्य अनेक सम्बन्ध ढूंढे जा सकते हैं।

**['तात्पर्य' की अनुपपत्ति लक्षणा का मूल है]**

> अन्वयानुपपत्ति-प्रतिसन्धानं च लक्षणाबीजम्। वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्ति-प्रतिसन्धानम् एव तद्बीजम्। अन्यथा 'गंगायां घोषः' इत्यादौ 'घोष'-आदिपदे मकरादि-लक्षणापत्तिः, तावताप्यन्वयानुपपत्ति-परिहारात्। 'गंगायां पापी गच्छति' इत्यादौ 'गंगा'-पदस्य नरके लक्षणापत्तेश्च। अस्माकं तु भूतपूर्व-पापावच्छिन्नलक्षकत्वे तात्पर्यान्न दोषः। "नक्षत्रं दृष्टवा वाचं विसृजेत्" इत्यत्र अन्वय-सम्भवेऽपि तात्पर्यानुपपत्त्यैव लक्षणा-स्वीकारात्। एकानुगमक-स्वीकारेण निर्वाहे अनेकानुगमकस्वीकारे गौरवाच्च।

अन्वय आदि (तात्पर्य) की असंगति का विचार ही लक्षणा का मूल है। परन्तु वस्तुतः वक्ता के तात्पर्य का बोध न हो पाना ही लक्षणा का बीज है। अन्यथा (केवल तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज न मानने से 'गंगायां घोषः, (गंगा में आभीरों की बस्ती है) इत्यादि (प्रयोगों) में 'घोष' आदि शब्दों में 'मकर' (मगरमच्छ आदि) की लक्षणा मानी जाने लगेगी, क्योंकि उतने से भी अन्वय की असंगति दूर हो जाती है। तथा (इसी प्रकार) गङ्गा में पापी जाता है' इत्यादि (प्रयोगों) 'गङ्गा' पद की नरक अर्थ में 'लक्षणा' होने लगेगी।

(तात्पर्यानुपपत्ति को 'लक्षणा' का बीज मानने वाले) हमारे मत में तो भूतपूर्व पाप से युक्त व्यक्ति को लक्ष्य बनाने में (ही) तात्पर्य है इसलिये (कोई) दोष नहीं है। "नक्षत्र को देखकर वाणी उच्चारण करे (मौन तोड़े)", यहाँ (दिन के समय भी कभी कभी नक्षत्र के दिखाई देने से) अन्वय सम्भव होने पर भी, (रात्रि में ही मौन तोड़ना है इस) तात्पर्य की उपपत्ति न होने के कारण 'लक्षणा' मानी जाती है। तथा एक (केवल तात्पर्य रूप) अनुगमक को मानने से (भी) काम चल जाने पर अनेक अनुगमक को मानने में गौरव भी तो है।

---

१. ह०—अनेकानुगम।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यहाँ यह विचार किया गया है कि 'लक्षणा' का मूल क्या माना जाय, अर्थात् किस परिस्थिति में 'लक्षणावृत्ति' उपस्थित होती है ? इस विषय में दो पक्ष दिखाई देते हैं। पहले में यह माना जाता है कि यदि वाक्य के पदों का, अर्थ की दृष्टि से, परस्पर संगति न लग सके—अन्वय की उपपत्ति न हो सके, अथवा शब्दों से वक्ता के तात्पर्य का प्रकाशन न हो सके, ऐसी स्थिति में 'लक्षणा वृत्ति की उपस्थिति मानी जाती है। इसी बात को "अन्वयाद्यनुपपत्तिप्रतिसन्धानम् एव च लक्षणाबीजम्" इन शब्दों द्वारा यहाँ कहा गया है।

**वस्तुतस्तु ..... गौरवाच्च**—परन्तु इस पक्ष में दोष यह है कि कुछ ऐसे प्रयोग हैं जिनमें अन्वयानुपपत्ति की स्थिति, वक्ता के तात्पर्य से भिन्न किसी अर्थ को मान लेने पर भी, दूर हो जाती है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' 'लक्षणा' के इस प्रसिद्ध प्रयोग में 'घोष' का लक्ष्य अर्थ 'मकर' आदि मान लेने पर भी अन्वय की अनुपपत्ति दूर हो जाती है। फिर 'गङ्गा' पद में 'लक्षणा' की कल्पना करके उसका अर्थ 'तट' क्यों किया जाय ? तथा इसी प्रकार 'गङ्गायां पापी गच्छति' इस प्रयोग में 'गङ्गा' का लक्ष्य अर्थ यदि 'नरक' मान लिया जाय तो भी अन्वय सुसंगत हो जाता है। फिर 'पापी' में 'लक्षणा वृत्ति' की कल्पना करके उसके द्वारा 'पापी' का अर्थ 'भूतपूर्व पाप से युक्त व्यक्ति' क्यों किया जाय। इसी तरह "नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्" इस वाक्य में 'रात्रि में मौन तोड़े' इस अर्थ की दृष्टि से 'लक्षणा' क्यों मानी जाय, जब कि दिन में नक्षत्रों के दिखाई देने से मौन तोड़ने की संगति दिन में लग जाती है ?

इस अतिव्याप्ति दोष के कारण दूसरा पक्ष यह उपस्थित हुआ कि केवल 'तात्पर्यानुपपत्ति' को ही 'लक्षणा' का मूल माना जाय। इन सभी प्रयोगों में वक्ता का वह तात्पर्य नहीं है जिसमें अन्वय की संगति लग जाती है। इसलिये उस तात्पर्य विशेष की दृष्टि से उन-उन पदों में 'लक्षणा' वृत्ति मानना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त जब केवल तात्पर्यानुपपत्ति को 'लक्षणा' की बीज मानने से काम चल जाता है तो फिर दोनों—'अन्वयानुपपत्ति' तथा 'तात्पर्यानुपपत्ति'—को 'लक्षणा' का मूल मान कर गौरव (विस्तार) को क्यों अपनाया जाय ? तुलना करो—"लक्षणाबीजं तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव न त्वन्वयानुपपत्तिः। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र अन्वयानुपपत्तेरभावात्'। 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात्" (वेदान्त-परिभाषा, आगमपरिच्छेद)। इसका अभिप्राय यह है कि तात्पर्यानुपपत्ति ही 'लक्षणा' का बीज है, अन्वयानुपपत्ति नहीं। क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस वाक्य में अन्वय की उपपत्ति, अर्थात् वाक्य के पदों का परस्पर अन्वय, हो जाने पर भी 'लक्षणा' मानी ही जाती है। तथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि प्रयोगों में अन्वय की अनुपपत्ति के साथ तात्पर्यानुपपत्ति भी है ही। न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली (शब्दपरिच्छेद, कारिका संख्या ८२) में भी तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना गया है। द्र०—"लक्षणा शक्यसम्बन्धस् तात्पर्यानुपपत्तितः।"

**[लक्षणा का एक तीसरा प्रकार—'जहद्-अजहल्लक्षणा']**

विशिष्टार्थ-बोधक-शब्दस्य पदार्थैकदेशे लक्षणायां 'जहद् अजहल्लक्षणा' इति व्यवहरन्ति वृद्धाः। वाच्यार्थे[1] किंचिद्

१. निस०, काप्रशु०—वाक्यार्थे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अंश-त्यागः किंचिद् अंश-परिग्रहश्च। अत्र ग्रामैकदेशे दग्धे 'पटो दग्धः' इति व्यवहारः। "तत् त्वम् असि" (छान्दो० उप० ६. ८.७) इत्यत्र सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वयोस् त्यागः, शुद्ध-चैतन्ययोर् अभेदान्वयः।

विशिष्ट अर्थ के बोधक शब्द की (अपने) शब्दार्थ के एक भाग में होने वाली लक्षणा के लिये 'जहद्-अजहल्लक्षणा' इस (शब्द) का प्रयोग वृद्ध (वेदान्ती विद्वान्) करते हैं। क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ में किसी अंश का त्याग तथा किसी अंश का परिग्रहण किया जाता है। इस (लक्षणा में ग्राम या वस्त्र के एक भाग के जल जाने पर 'ग्राम या वस्त्र जल गया' इस प्रकार का व्यवहार होता है। इसी प्रकार "तत् त्वम् असि"—वह (सर्वज्ञ चैतन्य) तुम (अल्पज्ञ चैतन्य) हो—इस प्रयोग में सर्वज्ञत्व तथा अल्पज्ञत्व (इस वाच्यार्थांश) का त्याग तथा शुद्ध चैतन्यों का अभेद रूप से अन्वय किया गया है।

कुछ नैयायिक तथा वेदान्ती विद्वान् एक तीसरे प्रकार की लक्षणा भी मानते हैं तथा उसे वे 'जहद्-अजहल्लक्षणा' नाम देते हैं। इस नाम की व्युत्पत्ति की जाती है—"जहति अजहति च पदानि स्ववाच्यार्थं यस्यां सा", अर्थात् जिस लक्षणा में पद या शब्द अपने वाच्यार्थ के कुछ अंश का परित्याग कर दें तथा कुछ अंश का बोध कराते रहें। यहाँ शब्द, 'जहल्लक्षणा' के समान, न तो सम्पूर्ण वाच्यार्थ को छोड़ ही देता है और न ही 'अजहल्लक्षणा' के समान सम्पूर्ण वाच्यार्थ का बोध ही कराता है।

इस लक्षणा के उदाहरण के रूप में 'ग्रामो दग्धः' 'पटो दग्धः' इत्यादि प्रयोग प्रस्तुत किये जाते हैं। पूरे ग्राम या वस्त्र के न जलने पर भी 'ग्राम जल गया', 'वस्त्र जल गया' ये प्रयोग होते ही हैं। यहाँ 'ग्राम' या 'वस्त्र' के वाच्यांश (सम्पूर्ण ग्राम या वस्त्र) में से कुछ अंश (जितना जल गया है) का ग्रहण किया गया तथा कुछ अंश (जो नहीं जला है) का परित्याग कर दिया गया। इसी तरह जब जीव तथा ब्रह्म की अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए "तत् त्वम् असि" (तुम, अर्थात् जीवरूप अल्पज्ञ चैतन्य, वह, अर्थात् ब्रह्मरूप सर्वज्ञ चैतन्य हो) वाक्य की व्याख्या वेदान्ती विद्वान् करते हैं तो वे यहाँ भी यही 'जहदजहल्लक्षणा' वृत्ति मानते हैं। क्योंकि यहाँ 'तत्' के वाच्यार्थ (सर्वज्ञ चैतन्य) के एक अंश (सर्वज्ञत्व) का तथा 'त्वम्' के वाच्यार्थ (अल्पज्ञ चैतन्य) के एक अंश (अल्पज्ञत्व) का परित्याग कर दिया गया है। इस कारण इन दोनों पदों से वाच्यार्थ के एक एक अंश (चैतन्यत्व) का बोध होता है और इस तरह दोनों को अभिन्न मान लिया जाता है। इस 'जहदजहल्लक्षणा' को ही वेदान्त के प्राचीन विद्वारण्य आदि विद्वानों ने 'भाग-लक्षणा' नाम दिया है।

परन्तु वेदान्त के ही कुछ अन्य विद्वान् 'लक्षणा'के इस तीसरे प्रकार को नहीं मानते। उनका कहना है कि जिस प्रकार 'घटोऽनित्यः' (घड़ा अनित्य है) इस वाक्य में अनित्यत्व का घट के वाच्यार्थ के एक देश 'घटत्व' के साथ अन्वय न हो सकने पर भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



विशेष्यभूत घट (व्यक्ति) में अन्वय हो जाता है, उसी प्रकार विशिष्ट चैतन्यों में अभेदान्वय न हो सकने पर भी 'अभिधावृत्ति' से उपस्थापित वाच्यार्थभूत विशेष्यरूप चैतन्यों में परस्पर अन्वय हो जायगा। अतः 'लक्षणा' मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। द्र०—"वयं तु ब्रमः 'सोऽयं देवदत्तः', 'तत्त्वमसि' इत्यादौ विशिष्टवाचकपदानाम् एकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा शक्त्युपस्थितयोः विशिष्टयोरभेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरेव अभेदान्वयाऽविरोधात्। यथा 'घटोऽनित्यः' इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेश-घटत्वस्य अयोग्यघटव्यक्त्या सह अनित्यत्वान्वयः" (वेदान्तपरिभाषा, आगमपरिच्छेद)।

महाभाष्यकार पतंजलि को भी यह 'लक्षणा,' कथमपि, अभिमत नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि पूरे समुदाय को कहने वाले शब्द उस समुदाय के अवयव को कहने के लिये भी प्रयुक्त होते हैं—"समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते। पूर्वे पंचालाः, उत्तरे पंचालाः, तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम् शुक्लो नीलः कपिलः कृष्णः इति" (महा० भाग १, पृ० ७१)। 'पंचाल' का वाच्यार्थ पूरा प्रान्त है, परन्तु उसका प्रयोग उस प्रान्त के पूर्वी तथा उत्तरी हिस्सों के लिये भी होता है। इसी तरह किसी विशिष्ट परिमाण वाले घृत तथा तैल की कुछ थोड़ी सी मात्रा के खाने पर भी 'घृतं भुंक्ते', 'तैलं भुंक्ते' इत्यादि प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार किसी अवयव मात्र के भी शुक्ल अथवा नील या पीत होने पर उस सम्पूर्ण पदार्थ अथवा प्राणी को शुक्ल, नील, पीत कह दिया जाता है। "अर्थवद् अधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" (पा० १.२.४५) सूत्र की व्याख्या में तो 'ग्रामो दग्धः' तथा 'पुष्पितं वनम्' जैसे प्रयोगों का ही उल्लेख करते हुए 'दग्धः' आदि शब्दों में "अर्श आदिभ्योऽच्" (पा० ५.२.१२७) सूत्र से विहित 'अच्' प्रत्यय की कल्पना करके पतंजलि ने इस प्रकार के प्रयोगों में 'लक्षणा' का ही निषेध कर दिया है। क्योंकि 'अच्' प्रत्यय मानने पर 'दग्धो अस्यास्तीति दग्धः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'इस ग्राम का कोई अवयव जला है' यह 'ग्रामो दग्धः' का अभिधेय अर्थ ही होगा। नागेशभट्ट ने लघुमंजूषा में "ईदृशेषु जहद्-अजहल्लक्षणेत्यन्ये" कह कर इस 'जहद्-अजल्ल-क्षणा' को अपनी दृष्टि से अस्वीकार्य माना है (द्र०— लघुमंजूषा, पृ०, १०२)।

[मीमांसकों के द्वारा लक्षणा की एक दूसरी परिभाषा]

"स्व-बोध्य-सम्बन्धो लक्षणा" इति केचित्। 'गभीरायां नद्यां घोषः' इत्याद्यनुरोधात्। तथाहि न तावद् 'गभीर'-पदं तीर-लक्षकम्। 'नद्याम्' इत्यनन्वयापत्तेः। नहि तीरं नदी। अत एव न 'नदी'-पदेऽपि, 'गभीर'—पदार्थनन्वयात्। नहि तीरं गभीरम्। न च प्रत्येकं पदद्वये सा। विशिष्ट-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



नदी-बोधानापत्तेः । तस्मात् समुदाय-बोध्य-गभीरत्व-विशिष्ट-नदी पदार्थः । तत्सम्बन्धो लक्षणा ।

कुछ (मीमांसक) विद्वान् 'गहरी नदी में घोष है' इत्यादि प्रयोगों की दृष्टि से "अपने (वाक्य के) बोध्य अर्थ का सम्बन्ध लक्षणा है" यह कहते हैं। यहाँ 'गभीर' पद 'तीर' का लक्षक नहीं है। (तीर का लक्षक होने पर तो) 'नदी' तथा 'गभीर' का अन्वय नहीं हो सकेगा। (क्योंकि) नदी तीर नहीं है। इसी लिये 'नदी' पद में भी (तीर-विषयक) 'लक्षणा' नहीं है। (वैसा होने पर तो) 'गभीर' पद के अर्थ का 'नदी' पद के अर्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता। (क्योंकि) तीर (तट) गभीर (गहरा) नहीं है। और न प्रत्येक दोनों—'गभीर' तथा 'नदी'—पदों में (क्रमशः गभीर तीर-विषयक तथा नदी तीर-विषयक) ही लक्षणा है (क्योंकि तब) विशिष्ट नदी (गहरी नदी) का बोध नहीं हो सकेगा। इसलिये ('गभीर' तथा 'नदी' इन दोनों पदों के) समुदाय का बोध्य अर्थ है—'गभीरत्व-विशिष्ट नदी'। उसका तट से 'सामीप्य' सम्बन्ध लक्षणा है।

नैयायिक दार्शनिकों की यह मान्यता है कि जिस प्रकार शक्ति या अभिधावृत्ति केवल पद में रहा करती है उसी प्रकार 'लक्षणा वृत्ति' भी केवल पद में ही रहती है। इसी लिये उन्होंने 'लक्षणा' की परिभाषा मानी—"स्वशक्य-सम्बन्धो लक्षणा"। यहां 'स्व' का अर्थ है 'पद' तथा उसका वाच्यार्थ 'शक्यार्थ' है। इस 'शक्य' रूप पदार्थ से सम्बन्ध होना ही 'लक्षणा' है। वाक्यार्थ से सम्बन्ध होना लक्षणा नहीं है क्योंकि 'शक्ति' पद में है, वाक्य में नहीं।

परन्तु मीमांसक विद्वान् ऐसा नहीं मानते। वे 'लक्षणा' को पद तथा वाक्य दोनों में रहने वाली 'वृत्ति' मानते हैं। इसलिये वाक्य में भी 'लक्षणा' की सिद्धि के लिये मीमांसकों ने 'लक्षणा' की परिभाषा की—"स्वबोध्यसम्बन्धो लक्षणा"। यहां 'स्व' का अभिप्राय 'पद' तथा 'पदसमुदाय', अर्थात् वाक्य, दोनों हैं। इसी प्रकार उसका बोध्य पदार्थ तथा वाक्यार्थ दोनों ही हैं। 'गभीरायां नद्यां घोषः' इस पद-समुदाय में 'लक्षणा' इस प्रकार होगी—'गभीरायां नद्याम्' इस पदसमुदाय का अर्थ है 'गभीराभिन्न (गहरी) नदी'। उसका 'सामीप्य' सम्बन्ध तीर में है। यहां 'गभीर' तथा 'नदी' इन दोनों पदों की 'गभीर नदी-तीर' रूप अर्थ में 'लक्षणा' है। केवल 'नदी' पद की 'तीर' रूप अर्थ में 'लक्षणा' मानने पर 'गभीर (गहरे) तीर पर घोष है' यह अर्थ होगा। परन्तु 'गभीर' को 'तीर' का विशेषण नहीं माना जा सकता। क्योंकि 'तीर' कभी भी गहरा नहीं होता। इसी प्रकार केवल 'गभीर' पद की भी 'तीर' अर्थ में 'लक्षणा' नहीं मानी जा सकती। क्योंकि 'तीर' 'नदी' का विशेषण नहीं बन सकता। इसका कारण यह है कि 'नदी' तथा 'तीर' दोनों एक नहीं हैं।

इस प्रकार इस तरह के उदाहरणों में 'लक्षणा' को कथमपि 'पदवृत्ति' नहीं माना जा सकता। वेदान्ती विद्वान् भी इस विषय में मीमांसकों के मत को ही मानते हैं। द्र०—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



"लक्षणा च न पदमात्रवृत्तिः किन्तु वाक्यवृत्तिरपि। यथा 'गभीरायां नद्यां घोषः' इत्यत्र 'गभीरायां नद्याम्' इतिपदद्वय-समुदायस्य तीरे लक्षणा" (वेदान्तपरिभाषा, आगम परिच्छेद)।

[प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि से एक चौथी प्रकार की लक्षणा—'लक्षित-लक्षणा']

'द्विरेफ'-पदस्य स्वलक्ष्य-भ्रमरशब्द-वाच्यार्थे लक्षणायां 'लक्षित-लक्षणा' इति व्यवहारः। स्वबोध्य-पदवाच्यत्वं सम्बन्धः।

'द्विरेफ' शब्द की अपने लक्ष्य-भूत 'भ्रमर' शब्द के वाच्य (भौंरा) अर्थ में होने वाली 'लक्षणा' के लिये 'लक्षित-लक्षणा' यह व्यवहार होता है। (यहां) अपने बोध्य (लक्ष्य) पद का वाच्य होना (यह) सम्बन्ध है।

कुछ प्राचीन नैयायिक विद्वान् 'लक्षित-लक्षणा' नाम की एक अन्य वृत्ति मानते हैं जिसके उदाहरण के रूप में वे 'द्विरेफ' शब्द को प्रस्तुत करते हैं। यहां द्विरेफ' पद की पहले, दो 'र' वर्ण वाले, 'भ्रमर' शब्द में लक्षणा, फिर भ्रमर' शब्द की भ्रमर रूप अर्थ (भौंरा) में लक्षणा मानी जाती है। इस तरह **'लक्षिते लक्षितस्य वा लक्षणा लक्षित-लक्षणा'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार लक्षित में अथवा लक्षित की लक्षणा होने के कारण इस प्रकार को 'लक्षित-लक्षणा' कहा जाता है।

नागेशभट्ट ने यहाँ इन्हीं नैयायिकों के मत को प्रस्तुत करते हुए उपर्युक्त पंक्तियां कहीं हैं। इसका आशय है—अपने लक्ष्यभूत 'भ्रमर' शब्द के वाच्यार्थ भौंरा या मधुप में जब 'द्विरेफ' पद की लक्षणा की जाती है तब उस लक्षणा के लिये 'लक्षित-लक्षणा' नाम का व्यवहार होता है।

नव्य नैयायिक इस 'लक्षित-लक्षणा' को अलग वृत्ति न मान कर इसका अन्तर्भाव 'जहल्लक्षणा' में ही कर लेते हैं। द्र०—"अत्र द्विरेफादिपदे रेफद्वय-सम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते। भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे ज्ञायते, इति तत्र 'लक्षित-लक्षणा' 'जहल्लक्षणा' एव इति नव्य-नैयायिकाः" (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, खण्ड ४)।

नैयायिकों के इस 'लक्षित-लक्षणा' प्रकार का नागेश ने लघुमंजूषा के इसी प्रकरण में (पृ० १४६-१५१) विस्तार से खण्डन किया है। इनके कहने का आशय यह है कि 'द्विरेफ' जैसे प्रयोगों में लक्षणा मानने की आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि वहाँ तो 'रूढि शक्ति' से ही 'भ्रमर' आदि अर्थों का ज्ञान होता है। 'दो हैं रेफ जिसमें' इस प्रकार के अवयवार्थ की प्रतीति वहां उसी प्रकार नहीं होती जिस प्रकार विशिष्ट 'साम' के वाचक 'रथन्तर' आदि अन्य 'रूढि' शब्दों में। अथवा इस प्रकार के प्रयोगों में 'योगरूढि' मान कर भी काम चल सकता है। 'भ्रमर' पद में विद्यमान दो रेफों का भ्रमर रूप अर्थ में आरोप करके 'द्विरेफ' का अर्थ भ्रमर कर दिया गया। इसीलिये कोशों में 'भ्रमर' पद के पर्याय के रूप में 'द्विरेफ' शब्द का भी पाठ मिलता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**[लक्षणा के दो अन्य भेद—'प्रयोजनवती' तथा 'निरूढ़ा']**

प्रकारान्तरेण[1] पुनर् लक्षणा द्विविधा । तथाहि—
**प्रयोजनवती निरूढा[2] च[3] लक्षणा द्विविधा मता** । इति । असति प्रयोजने शक्यसम्बन्धो निरूढ-लक्षणा । 'त्वचा ज्ञातम्' इत्यादौ यथा त्वचस् त्वगिन्द्रिये । इयं शक्त्यपर-पर्यायैवेति बोध्यम् ।

'गंगायां घोषः' इत्यत्र तीरे गंगा-गत-शैत्य-पावनत्वादि-प्रतीतिः प्रयोजनम् । 'गौर्वाहीकः' इत्यत्र सादृश्यं लक्ष्यता-वच्छेदकम् । गवाभेद-प्रत्ययः प्रयोजनम् । 'कुन्ताः प्रवि-शन्ति' इति भीति-पलायमान-वाक्ये कुन्त-विशिष्ट-पुरुषे कुन्त-गत-तैक्ष्ण्य-प्रतीतिः प्रयोजनम् इत्याहुः ।

एक अन्य दृष्टि से लक्षणा पुनः दो तरह की है। जैसा कि (कहा गया है) "प्रयोजनवती' तथा 'निरूढ़ा' इस रूप में लक्षणा दो प्रकार की मानी गयी है"। प्रयोजन के अभाव में वाच्यार्थ का सम्बन्ध 'निरूढ़ा' लक्षणा है। जैसे 'त्वचा से जाना गया' इत्यादि (प्रयोगों) में 'त्वक्' (शब्द) की त्वगिन्द्रिय में (लक्षणा की जाती है)। परन्तु यह (निरूढ़ा लक्षणा) शक्ति (अभिधा) का ही दूसरा पर्याय है—यह जानना चाहिये।

'गंगाया घोषः' (गंगा में आभीरों की बस्ती) इस (लक्षणा के प्रयोग) में 'गंगा नदी में रहने वाली शीतलता तथा पवित्रता की तट में प्रतीति कराना' प्रयोजन है। (इसी प्रकार) 'गौर्वाहीकः' (वाहीक प्रदेश का वासी बैल है) इस (प्रयोग) में लक्ष्यता का आधार है सादृश्य। 'बैल से (वाहीक की) अभिन्नता बताना'—इस लक्षणा का प्रयोजन है। डर कर भागते हुए (लोगों) के 'कुन्ताः प्रविशन्ति' (भाले प्रविष्ट हो रहे हैं) इस वाक्य में 'भाले वाले पुरुषों में भाले की तीक्ष्णता का बोध कराना' प्रयोजन है। यह (लक्षणा-विषयक प्रसंग नैयायिक) कहते हैं।

**इयं शक्त्यपरपर्याया एव**—नागेश का विचार है कि 'निरूढ़ा लक्षणा' में तथा 'अभिधा शक्ति' में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार कोई शब्द अपनी 'अभिधा शक्ति' से अनादि-तात्पर्यवश किसी अर्थ को कहता है, उसी प्रकार 'निरूढ़ा लक्षणा'

---

१. काप्र शु०—प्रकारान्तरेण सा।
२. निस०, काप्रशु०—रूढ़ा।
३. प्रकाशित संस्करणों में 'च' नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



द्वारा भी अनादि-तात्पर्यवश ही शब्द उन उन अर्थों को प्रकट करता है। जैसे 'त्वक्' शब्द जिस तरह से 'चर्म' के अर्थ में प्रसिद्ध है उसी तरह 'चर्म इन्द्रिय' के अर्थ में भी। इसलिये 'निरूढ़ा लक्षणा' को 'अभिधा' का ही पर्याय समझना चाहिये। यह बात यहां संभवतः वैयाकरणों की दृष्टि से कही गयी है। तुलना करो "निरूढ़-लक्षणाधाः शक्त्यनतिरेकात्" (वैभूसा०, पृ० २४५)।

**[लक्षणावृत्ति का खण्डन]**

तन्न। "सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः" इति **भाष्यात्** लक्षणाया अभावात्, वृत्तिद्वयावच्छेदक-द्वय-कल्पने गौरवात्, जघन्यवृत्ति-कल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च।

(नैयायिकों का) यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि "तात्पर्य होने पर सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हैं" इस भाष्य (के कथन) से लक्षणा-वृत्ति का अभाव (ही सिद्ध होता) है, साथ ही (अभिधा तथा लक्षणा इन) दो वृत्तियों की दृष्टि से दो अवच्छेदकों (हेतुओं) के मानने में गौरव भी है तथा (मुख्य-अभिधा-वृत्ति से काम चल जाने पर) गौण वृत्ति की कल्पना अनुचित है।

वैयाकरणों को लक्षणावृत्ति अभिमत नहीं है। उनकी दृष्टि में शब्दों के वाच्यार्थ दो प्रकार के होते हैं एक प्रसिद्ध तथा दूसरा अप्रसिद्ध। जिसे मुख्यार्थ या वाच्यार्थ कहा जाता है वह प्रसिद्ध अर्थ है, तथा जिसे लक्ष्यार्थ कहा जाता है वह अप्रसिद्ध अर्थ है। महाभाष्यकार पतंजलि का यह कहना है कि "तात्पर्य की सिद्धि होने पर सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हैं"। इस तरह जब सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हो सकते हैं तो फिर शब्द के प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों ही अर्थ शब्द की 'शक्ति' या 'अभिधावृत्ति' द्वारा ही कथित हो जायेंगे। अत, लक्षणावृत्ति मानने की आवश्यकता ही नहीं है।

**सति तात्पर्ये ..... वाचकाः**—लघुमंजूषा में लक्षणावृत्ति के खण्डन के इस प्रसंग में (पृ० ११४-५३) नागेश ने इस हेतु का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। यहाँ 'निरूढा लक्षणा' तथा 'रूढि शक्ति' का भेद दिखाते हुए कहा गया है—"त्वग् आदि शब्दानां 'त्वचा ज्ञातम्' इत्यादौ त्वग् इन्द्रिये 'निरूढ-लक्षणा'। असति प्रयोजने शाक्यार्थ बोध-प्रतिसन्धान-पूर्वकं तस्सम्बध्यपरार्थ-बोधे 'निरूढ-लक्षणा' इति व्यवहारः। अन्यथा 'रूढिशक्तिः' एव इति बोध्यम्"।

यहाँ भाष्य के नाम से जो उद्धरण दिया गया है वह भी महाभाष्य में नहीं मिलता। यों इससे मिलता जुलता एक दूसरा वाक्य महाभाष्य में द्रष्टव्य है—"सर्वे सर्व-पदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः" (महा० १.१.१६, पृ० २६५)। आचार्य भर्तृहरि ने भी निम्न कारिकाओं में यह स्वीकार किया है कि सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**एकम् आहुर अनेकार्थं शब्दम् अन्ये परीक्षकाः ।**
**निमित्तभेदाद् एकस्य सार्वार्थ्यं तस्य भिद्यते ॥ २. २५२**
**यथा सास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाभिधीयते ।**
**तथा स एव शब्दो वाहीकेऽपि व्यवस्थितः ॥ २.२५४**
**सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मणः ।**
**प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वं चोपचर्यते ॥ २.२५५**

वस्तुतः गौण तथा मुख्य दोनों प्रकार के अर्थों का कथन उसी एक शब्द से होता है। प्रकरण आदि विभिन्न हेतुओं के कारण एक साथ किसी अर्थों का प्रकाशन शब्द से नहीं हो पाता। इसलिये यही मानना चाहिये कि जिस प्रकार 'गौ' शब्द 'गाय' अर्थ का वाचक है उसी प्रकार वह, 'गौर्वाहीकः' इत्यादि प्रयोगों में, वाहीक अर्थ का भी वाचक है।

**वृत्तिद्वयावच्छेदक-कल्पने गौरवात्**—इस के अतिरिक्त लक्षणा वृत्ति को मानने में यह दोष भी है कि दो—'अभिधा' तथा 'लक्षणा'—वृत्तियाँ मानने के कारण दो प्रकार के कार्य-कारण-भाव की कल्पना करनी पड़ेगी। 'शक्ति' या 'अभिधा' से होने वाले शाब्द बोध के प्रति शक्ति-ज्ञान-जन्य अर्थोपस्थिति को कारण मानना होगा तथा 'लक्षणा वृत्ति' से होने वाले शाब्द बोध के प्रति 'लक्षणा'-ज्ञान-जन्य अर्थोपस्थिति को कारण मानना होगा। तुलना करो—"शाब्दबोधं प्रति शक्ति-जन्योपस्थितेः लक्षणाजन्योपस्थितेश्च कारणत्वं वाच्यम्। तथा च कार्य-कारण-भाव-द्वय-कल्पने गौरवं स्यात्। अस्माकं पुनः शक्तिजन्योपस्थितित्वेनैव हेतुता इति लाघवम्"। (वैभूसा०, शक्तिनिर्णय, पृ० ३२५)

**जघन्यवृत्ति-कल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च**—इसके अतिरिक्त लक्षणा वृत्ति को मानने में अनौचित्य दोष भी है, क्योंकि प्रमुख अभिधा वृत्ति की उपेक्षा करके गौण एवं इस कारण, जघन्य लक्षणा वृत्ति की कल्पना अनुचित है।

वस्तुतः 'शक्ति' अथवा अभिधा वृत्ति के ग्राहक या बोधक जो, व्याकरण, उपमान इत्यादि, हेतु कहे गये है उनमें लोक-व्यवहार ही प्रमुख हेतु है। वह लोक-व्यवहार वाच्य तथा लक्ष्य दोनों ही अर्थों में समान रूप से दिखाई देता है। बोलने वाले 'प्रवाह' तथा 'तट' इन दोनों ही अर्थों में समान रूप से 'गंगा' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसलिये वैयाकरणों का यह मत है कि वाच्य तथा लक्ष्य दोनों ही अर्थों को शब्द अपनी अभिधा वृत्ति से ही कहता है।

**['लक्षणा' वृत्ति के अभाव में उपस्थित होने वाले दोषों का समाधान]**

कथं तर्हि गंगादि-पदात् तीरादि[1]-प्रत्ययः। भ्रान्तोऽसि। "सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थ-वाचकाः" इति **भाष्यमेव**

१. प्रकाशित संस्करणों में 'तीरप्रत्ययः'।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



गृहाण। तथाहि शक्तिर्द्विविधा—प्रसिद्धा, अप्रसिद्धा च। आमन्दबुद्धिवेद्यात्वं प्रसिद्धात्वम्। सहृदय-हृदय-मात्र-वेद्यात्वम्[1] अप्रसिद्धात्वम्। तत्र गंगादि-पदानां प्रवाहादौ प्रसिद्धा शक्तिः, तीरादौ चाप्रसिद्धा, इति किमनुपपन्नम्।

ननु[2] "सर्वे सर्वार्थवाचकाः" इति चेद् ब्रूषे तर्हि 'घट'—पदात् पट-प्रत्ययः किन्न स्याद् इति चेन्न। "सति तात्पर्ये०" इति उक्तत्वात्, तात्पर्याभावाद् इति गृहाण। तात्पर्यं चात्र ऐश्वरम्, देवता-महर्षि-लोक-वृद्ध-परम्परातो अस्मदादिभिर्लब्धम्, इति सर्वं सुस्थम्[3]।

## इति लक्षणानिरूपणम्

(यदि लक्षणा वृत्ति न मानी जाय) तो किस प्रकार 'गंगा' शब्द से तट अर्थ का ज्ञान होगा? भ्रान्ति में हो। "तात्पर्य होने पर सभी शब्द सभी अर्थ के वाचक हैं" इस भाष्य के कथन को ही अपनाओ। बात यह है कि शक्ति दो तरह की होती है—'प्रसिद्धा' तथा 'अप्रसिद्धा'। 'प्रसिद्धा' वह है जिसे थोड़ी बुद्धि वाले लोग भी जान लें तथा 'अप्रसिद्धा' वह है जिसे केवल सहृदयों (व्युत्पन्न एवं प्रौढ़ जनों) के हृदय ही जान सकें। उनमें 'गंगा' आदि (पदों) की प्रवाह आदि अर्थों में जो शक्ति है वह 'प्रसिद्ध' है तथा तट आदि अर्थों में जो शक्ति है वह 'अप्रसिद्ध' है, इस रूप में मानने में क्या कठिनाई है?

यदि "सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हैं" यह कहते हो तो 'घट' शब्द से वस्त्र का ज्ञान क्यों नहीं होता? यह प्रश्न उचित नहीं है क्यों कि 'सति तात्पर्ये' इस विशेषण के कहे जाने के कारण ('घट' शब्द के प्रयुक्त होने पर वक्ता का पट-विषयक) 'तात्पर्य' के न होने से (ही ऐसा नहीं होता) यह समझो। और यह तात्पर्य ईश्वरकृत (अनादि) है तथा देवता, महर्षि, लोक (परम्परा) और वृद्ध-परम्परा से हम लोगों ने उसे जाना है। इस रूप में सब सुसंगत हैं।

नैयायिकों तथा साहित्यिकों को अभिमत लक्षणा वृत्ति का यहाँ नागेश ने विभिन्न हेतुओं द्वारा खण्डन कर दिया है। इस खण्डन में प्रथम हेतु है—"सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः" यह सिद्धान्त। द्वितीय हेतु है—लक्षणा मानने पर दो प्रकार की वृत्तियों तथा उनके आधार पर दो प्रकार के कार्य-कारण-भाव की कल्पना। तथा तृतीय हेतु है—लक्षणा वृत्ति जैसी जघन्यवृत्ति की कल्पना करना। लक्षणा को जघन्य वृत्ति इस कारण माना जाता है कि अभिधा वृत्ति, शब्दोच्चारण के तुरन्त पश्चात्, सीधे उपस्थित होती है तथा उसके बाद लक्षणा वृत्ति की उपस्थिति मानी जाती है। इसके अतिरिक्त लक्षणा वृत्ति में शब्द का जो अपना अर्थ नहीं है उसका शब्द में उपचार अथवा आरोप करना पड़ता है।

---

१. ह०—मात्रावगाह्यत्वम्। वंमि०—मात्राऽवेद्यात्वम्।
२. ह०—ननु यदि।
३. प्रकाशित संस्करणों में 'सुरुढम्'।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# व्यंजना-निरूपणम्

[व्यंजना का स्वरूप]

ननु व्यंजना कः पदार्थः ? उच्यते—मुख्यार्थ-बाध-निरपेक्ष-बोध-जनको, मुख्यार्थ-सम्बद्धासम्बद्ध-साधारणः, प्रसिद्धा-प्रसिद्धार्थ-विषयकः, वक्त्रादि-वैशिष्ट्य-ज्ञान-प्रतिभाद्युद्-बुद्धः, संस्कारविशेषो व्यंजना ।

'व्यंजना' शब्द का क्या अर्थ है ? (यह) कहा जाता है—(क) वाच्यार्थ की अनुपपत्ति की अपेक्षा किये बिना ही बोध कराने वाला, (ख) वाच्यार्थ से सम्बद्ध एवं असम्बद्ध दोनों (स्थितियों) में समानरूप से रहने वाला, (ग) प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध दोनों (प्रकार के) अर्थों का बोधक (तथा) (घ) वक्ता आदि की विशेषता के ज्ञान और प्रतिभा आदि से जागृत होने वाला संस्कार-विशेष (ही) व्यंजना है।

**मुख्यार्थ·····सम्बद्धासम्बद्धसाधारणः**—'व्यंजना' की परिभाषा के स्वरूप को बताते हुए यहाँ 'व्यंजना' की चार विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इनमें से प्रथम तथा द्वितीय विशेषताओं के द्वारा नैयायिकों के इस कथन का निराकरण हो जाता है कि 'लक्षणावृत्ति' से ही 'व्यंजनावृत्ति' का कार्य चल जायगा। अतः 'व्यंजना' को वृत्ति मानने की आवश्कता नहीं है।' क्योंकि 'लक्षणावृत्ति' के लिये मुख्यार्थ की बाधा का ज्ञान होना आवश्यक है तथा 'लक्ष्य' अर्थ मुख्य अर्थ से सम्बद्ध ही हुआ करता है। परन्तु 'व्यंजना' के लिये मुख्यार्थ की बाधा का ज्ञान आवश्यक नहीं है। साथ ही व्यंग्य अर्थ मुख्य या वाच्य-अर्थ से सम्बद्ध भी हो सकता है तथा असम्बद्ध भी। जैसे—'लक्षणामूलक-व्यंजना' के स्थलों—गङ्गायां घोषः' इत्यादि प्रयोगों—में 'गङ्गा' शब्द से 'लक्ष्य' अर्थ (तट) का बोध कराने के लिये मुख्यार्थबाध का ज्ञान अपेक्षित है तथा 'तट' रूप जो लक्ष्यार्थ है वह मुख्यार्थ (गङ्गा-प्रवाह) से सम्बद्ध है। किन्तु यहाँ जो 'व्यंजना' द्वारा शैत्यत्व, पावनत्व आदि की प्रतीति होती है, उस 'व्यङ्ग्य' अर्थ के ज्ञान के लिये मुख्यार्थबाध के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ का 'व्यङ्ग्य' अर्थ—शैत्यत्व, पावनत्व आदि—मुख्यार्थ (प्रवाह) से सम्बद्ध है। लेकिन कहीं-कहीं यह व्यङ्ग्यार्थ मुख्यार्थ से असम्बद्ध भी सकता है। जैसे 'व्यंजना' के 'अत्यंततिरस्कृतवाच्य' नामक भेद के सभी उदाहरणों में व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। 'व्यंजना' के इस भेद में वाच्यार्थ के सर्वथा तिरस्कृत (अग्राह्य) होने के कारण ही उसका यह सार्थक नाम रखा गया। इसका उदाहरण है—

**रविसंक्रान्त-सौभाग्यस् तुषारावृतमण्डलः ।**
**निश्वासान्ध इवादर्शश् चंद्रमा न प्रकाशते ॥**

(ध्वन्यालोक, पृ० १०१, में उद्धृत)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यहाँ 'अन्ध' शब्द अपने 'नेत्रहीनत्व' रूप वाच्य अर्थ को छोड़ कर 'अप्रकाशत्व' रूप व्यंग्य अर्थ को, 'जहत्स्वार्था लक्षणा' वृत्ति के द्वारा, प्रगट कर रहा है। स्पष्ट है कि यहाँ वाच्यार्थ 'नेत्रहीनत्व' तथा व्यंग्यार्थ 'अप्रकाशत्व' में कोई सम्बन्ध नहीं है।

**'प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थ-विषयक**:—प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थ-विषयकः' तथा 'वक्त्रादिवैशिष्ट्य-ज्ञान-प्रतिभाद्यु दबुद्धः' इन विशेषणों द्वारा 'व्यंजना' का अभिधा वृत्ति से अन्तर प्रगट किया गया है। अभिप्राय यह है कि 'अभिधा' वृत्ति से जाना गया अर्थ प्रसिद्ध होता है तथा उसके ज्ञान के लिये वक्ता आदि की विशेषता का जानना अनिवार्य नहीं होता। परन्तु व्यंग्य अर्थ प्रसिद्ध भी हो सकता है तथा अप्रसिद्ध भी और साथ ही व्यंग्य अर्थ के ठीक ठीक ज्ञान के लिये, 'वक्ता कौन है', 'श्रोता कौन है' इत्यादि विशेष बातों का जानना परम आवश्यक है।

उदाहरण के लिये 'राजत्युमावल्लभः०' इस श्लोक में 'प्रकरण' के अनुसार 'उमावल्लभ' शब्द उमा नाम की रानी के पति, किसी राजा, को कहता है। यह इसका अभिधेय अर्थ है जो प्रसिद्ध है। परन्तु तात्पर्यवश 'उमावल्लभ' शब्द 'व्यंजना' द्वारा भगवान् शंकर को भी व्यक्त करता है, जो इसका व्यंग्य अर्थ है। यह व्यंग्य अर्थ भी प्रसिद्ध अर्थ ही है। अतः यह प्रसिद्धार्थ-विषयक 'व्यंजना' हुई। द्र०—'अत्र प्रकरणेन अभिधया 'उमावल्लभ' शब्दस्य उमा नाम्नी नहादेवी तद्वल्लभ-भानुदेव-नृपतिरूपेऽर्थे नियंत्रिते व्यंजनयैव गौरीवल्लभरूपोऽर्थो बोध्यते' (साहित्यदर्पण, पृ० ५६-५७)।

**वक्त्रादि-वैशिष्ट्य-ज्ञान-प्रतिभाद्युदबुद्ध**:—यहाँ 'आर्थी व्यंजना' के उन विभिन्न आधारों की ओर नागेश ने संकेत किया है जिनका उल्लेख मम्मट आदि ने अपने ग्रन्थों में किया है। वे हेतु निम्न हैं—

**वक्तृ-बोद्धव्य-काकूनां वाक्य-वाच्यान्यसन्निधेः।**
**प्रस्ताव-देश-कालादेर् वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्॥**
**योऽर्थस्यान्यार्थ-धी-हेतुर् व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥**

(काव्यप्रकाश, ३.२२)

'वक्ता'—कहने वाला। 'बोद्धव्य'—सुनने वाला। 'काकु'—शोक, भय या अन्य किसी भाव के कारण विकृत ध्वनि का प्रयोग। द्र०—"निम्न-कण्ठ-ध्वनिर् धीरैः काकुरित्यभिधीयते" (साहित्यदर्पण, पृ० ६० में उद्धृत) तथा "काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर् ध्वनेः" (अमरकोश, १.६.१२)। 'वाक्य'—वक्ता का कथन। 'वाच्य'—अभिप्रेत अर्थ। 'अन्यसन्निधिः'—किसी अन्य, योग्य व्यक्ति आदि, की समीपता। 'प्रस्ताव'—प्रकरण। 'देश'—स्थान। 'काल'—समय, बसन्त। 'आदि' पद से विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं या ऐसे किसी अन्य आधारों का ग्रहण किया जा सकता है।

इन विभिन्न हेतुओं की विशेषता के कारण 'प्रतिभा', अर्थात् नैसर्गिक-प्रतिभा (**प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता**) तथा शास्त्रीय प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



को 'व्यंजना व्यापार' का बोध होता है, जो वाच्यार्थ में, वाच्य तथा लक्ष्य दोनों अर्थों से भिन्न, किसी (व्यंग्य) अर्थ का अभिव्यंजक हेतु है।

**संस्कार-विशेषः**—यहाँ 'व्यञ्जना' को संस्कार-विशेष अथवा भावना-विशेष कहा गया है। यह संस्कार यद्यपि 'समवाय' सम्बन्ध से सहृदयों तथा प्रतिभासम्पन्न मेधावियों के हृदय में रहता है। परन्तु परम्परया वह शब्द में भी है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार 'अभिधा' या 'लक्षणा' साक्षात् शब्द में रहने वाली 'वृत्तियाँ' हैं, उस प्रकार की 'व्यञ्जना वृत्ति' नहीं है। 'व्यंजना वृत्ति' तो शब्दनिष्ठ बाद में है पहले वह सहृदयों के हृदय में रहने वाला संस्कार है। इसीलिये 'व्यञ्जना' को सहृदय-हृदय-निष्ठ संस्कार-विशेष ही माना गया, भले ही परम्परया वह शब्द में भी हो। अपने इस विशिष्ट स्वरूप के कारण ही 'व्यंजना' को विशेष चमत्कार का आधायक कहा गया है। द्र०—

**प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।**
**यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यम् इवाङ्गनासु॥**

(ध्वन्यालोक १.४)

परन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि 'व्यंजना' को शब्दनिष्ठ व्यापार-विशेष माना जाय या हृदय-निष्ठ संस्कार-विशेष। साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने 'व्यंजना' को व्यापार-विशेष ही माना है। द्र०—"योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा" (काव्य-प्रकाश, ३. २२)।

नागेश यहाँ 'व्यंजना' को संस्कार-विशेष मानते हैं। संभवतः यह नागेश की अपनी उद्भावना है। संस्कार-विशेष मानने पर भी 'व्यंजना' को शब्दनिष्ठ उसी तरह कहा जा सकता है जिस प्रकार 'आकांक्षा' यद्यपि हृदय-निष्ठ होती है फिर भी उसे शब्दनिष्ठ मान लिया जाता है।

**[वैयाकरण विद्वानों को भी व्यंजना वृत्ति अभीष्ट है]**

अत एव निपातानां द्योतकत्वं स्फोटस्य च व्यंग्यता हर्यादिभिर् उक्ता। द्योतकत्वं च—"स्व-समभिव्याहृत-पद-निष्ठ-शक्ति-व्यंजकत्वम्" इति। वैयाकरणानाम् अप्येतत् स्वीकार आवश्यकः।

इसीलिये (व्यंजना वृत्ति को स्वीकार करने के कारण ही) भर्तृहरि आदि ने निपातों की द्योतकता तथा स्फोट की व्यंग्यता प्रतिपादित की है। और द्योतकता (का अभिप्राय) है—"अपने साथ (अव्यवहित-पूर्व या अव्यवहित-पश्चात्) उच्चरित पद में विद्यमान (अर्थाभिधायिका) शक्ति का अभिव्यंजक होना।" इसलिये (निपातों को द्योतक या व्यंजक मानने तथा स्फोट को व्यंग्य मानने के कारण) वैयाकरण विद्वानों को भी यह (वृत्ति) मानना आवश्यक है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



ऊपर 'लक्षणा' के प्रकरण में वैयाकरणों की दृष्टि से 'लक्षणा' वृत्ति का निराकरण किया जा चुका है, जिससे यह स्पष्ट है कि नागेश के मतानुसार वैयाकरणों को वह वृत्ति मान्य नहीं है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि 'लक्षणा' के समान 'व्यंजना' वृत्ति भी वैयाकरणों को अभीष्ट या स्वीकार्य नहीं है। यहां नागेश ने इस तथ्य का सहेतुक प्रतिपादन किया है कि व्याकरण के विद्वान् इस व्यंजना वृत्ति को निश्चित रूप से मानते हैं।

**निपातानां द्योतकत्वम्**—भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में निपातों की अर्थ-द्योतकता का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से निम्न कारिकायें द्रष्टव्य हैं :—

**निपाता द्योतकाः केचित् पृथगर्थाभिधायिनः।**
**आगमा इव केऽपि स्युः सम्भूयार्थस्य वाचकाः॥ (२.१९४)**

कुछ निपात अर्थों के द्योतक हैं तथा कुछ पृथक् रूप से अर्थ के वाचक हैं। कुछ अन्य निपात, आगमों के समान, किसी पद के साथ मिलकर अर्थ के वाचक हैं या, दूसरे शब्दों में, अनर्थक हैं।

**उपरिष्टात् पुरस्ताद् वा द्योतकत्वं न भिद्यते।**
**तेषु प्रयुज्यमानेषु भिन्नार्थेष्वपि सर्वथा॥ (२.१९५)**

(विकल्प, समुच्चय आदि) भिन्न भिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति के लिये पहले या बाद में (कहीं भी) प्रयुक्त होते हुए इन निपातों को द्योतकता नष्ट नहीं होती।

इस प्रकार सभी वैयाकरण निपातों को सामान्यतया अर्थ का द्योतक या अभिव्यंजक मानते हैं। नैयायिक विद्वान् अवश्य निपातों को वाचक मानते हैं जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

**स्फोटस्य व्यंग्यता**—वैयाकरणों की दृष्टि में 'स्फोट' (सूक्ष्म शब्द तत्त्व) अर्थ का वाचक है तथा वह बुद्धि-गत है और नाद या प्राकृत ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस कारण वह 'स्फोट' व्यंग्य है। इस स्फोट-विषयक व्यंग्यता की चर्चा भर्तृहरि ने वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, के अनेक स्थलों पर की है। इस प्रसंग में निम्न कारिका द्रष्टव्य है :—

**ग्रहण-ग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।**
**व्यंग्य-व्यंजक-भावेन तथैव स्फोट-नादयोः॥ (१.९८)**

जिस प्रकार 'ग्रहण' (प्रकाशक) तथा 'ग्राह्य' (प्रकाश्य) में निश्चित रूप से क्रमशः व्यंजक और व्यंग्य की योग्यता विद्यमान है उसी प्रकार 'स्फोट' तथा 'नाद' (प्राकृत ध्वनि) में भी व्यंग्य-व्यंजक रूप से नियत योग्यता विद्यमान है—'स्फोट' में व्यंग्य बनने की योग्यता है तथा 'नाद' में व्यंजक बनने की योग्यता है।

भर्तृहरि से पूर्वभावी आचार्य व्याडि ने भी अपने संग्रह नामक ग्रन्थ में प्राकृत ध्वनि को 'स्फोट' का अभिव्यंजक माना था। द्रष्टव्य—वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत—"शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते" (चारुदेव संस्करण, पृ० ७९)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'निपातों की द्योतकता' तथा 'स्फोट की व्यंग्यता' इन दोनों सिद्धान्तों को मानने के कारण यह स्पष्ट है कि, न केवल अलंकार शास्त्र के आचार्य अपितु, वैयाकरण विद्वान् भी 'व्यंजना' वृत्ति को मानते हैं। यहां यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि सम्भवतः व्याकरण के कुछ प्राचीन आचार्यों को व्यंजना वृत्ति स्वीकार्य नहीं थी। उनको ही ध्यान में रख कर ही नागेश ने यहां "वैयाकरणानाम् अप्येतत् स्वीकार आवश्यकः" इस वाक्य का प्रयोग किया है।

**['व्यंजना' वृत्ति के अधिष्ठान तथा सहायक]**

एषा च शब्द–तदर्थ-पद-पदैकदेश-वर्ण-रचना-चेष्टादिषु सर्वत्र। तथैवानुभवात्। वक्त्रादि–वैशिष्ट्य–ज्ञानं च व्यंग्य–विशेष–बोधे सहकारी, इति न सर्वत्र तदपेक्षा, इत्यन्यत्र विस्तरः।

यह 'व्यंजना' शब्द (वाक्य), उसके अर्थ, पद, पद के एक अंश (प्रकृति, प्रत्यय आदि), वर्ण, रचना (वैदर्भी आदि रीतियाँ) चेष्टा आदि (विविध अभिनय अथवा मुख, आंख आदि की चेष्टा तथा रोमांच आदि) में सर्वत्र रहती है। क्योंकि वैसा ही अनुभव होता है। वक्ता आदि की विशेषता का ज्ञान व्यंग्य विशेष के ज्ञान में सहायक है। इसलिये सर्वत्र व्यंग्य के स्थलों में (अनिवार्य रूप से) उनका होना आवश्यक नहीं है। यह अन्यत्र (लघुमंजूषा में) विस्तार से वर्णित है।

**एषा च ''तथैवानुभवात्**—यहां 'व्यंजना वृत्ति' के विभिन्न आश्रयों की चर्चा की गई है। 'शब्द' अर्थात् वाक्य, वाक्य का अर्थ, पद, पद के भाग, वर्ण, रचना अर्थात् सङ्घटना अथवा रीति, तथा चेष्टा आदि, अर्थात् आंगिक, वाचिक तथा सात्विक चेष्टाओं और विभिन्न भंगिमाओं, के द्वारा व्यंग्य अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्द्योत में बड़े विस्तार से 'व्यंजना' के इन आश्रयों अथवा विभिन्न व्यंजकों की सोदाहरण चर्चा की गयी है।

**वक्त्रादि-वैशिष्ट्य-ज्ञानं व्यंग्यविशेषबोधे सहकारी**—ऊपर 'वक्ता' आदि की चर्चा की जा चुकी है। इनका ज्ञान व्यंङ्ग्य-विशेष के बोध में सहकारी है—सहायक है। वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंङ्ग्य अर्थ, इन 'वक्ता' आदि के वैशिष्ट्य से, किसी अन्य व्यंग्य अर्थ का द्योतन कराते हैं। इस प्रकार की व्यंजना को 'आर्थी व्यंजना' कहा जाता है।

**सर्वत्र न तद् अपेक्षा**—सर्वत्र व्यंग्य स्थलों में 'वक्ता', 'बोद्धव्य' इत्यादि के होने पर ही व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हो यह आवश्यक नहीं है। 'अभिधामूला व्यंजना' में इन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



के बिना भी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती ही है। इसीलिये मम्मट ने 'अभिधामूला व्यंजना' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा :—

**अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।**
**संयोगाद्यैरवाच्यार्थ-धीकृद् व्यापृतिर् अंजनम् ॥**

(काव्यप्रकाश २.१९)

अर्थात् 'संयोग' 'विप्रयोग' आदि, जिनकी चर्चा ऊपर 'शक्ति निरूपण' में की जा चुकी है, के द्वारा शब्द की, दूसरे अर्थ को कहने की, शक्ति (अभिधाशक्ति) के नियंत्रित हो जाने पर भी अनेकार्थक शब्दों के द्वारा कहीं कहीं जो अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उसे (अभिधामूला) व्यंजना कहा जाता है। वह अभिधा नहीं हो सकती क्योंकि 'संयोग' आदि के द्वारा उसका नियमन हो चुका है तथा लक्षणा इसलिये नहीं हो सकती कि 'मुख्य अर्थ की बाधा' इत्यादि लक्षणा की शर्तें यहां पूरी नहीं होतीं।

**['व्यंजना वृत्ति अनावश्यक है' नैयायिकों के इस मन्तव्य का खण्डन]**

यत्तु **तार्किका** :—लक्षणयैव गतार्था व्यंजना इति न सा स्वीकार्या इत्याहुः। तन्न। लक्षणाया मुख्यार्थ-बाध-पूर्वक-लक्ष्यार्थ-बोधकत्वात्। मुख्यार्थ-सम्बद्धार्थस्यैव लक्षणया बोधकत्वात्। व्यंजनाया अतथात्वेन तदनन्तर्भावाच्च इति दिक्।

## इति व्यंजना-निरूपणम्

नैयायिक जो यह कहते हैं कि 'लक्षणा' से ही (लक्षणामूला) 'व्यंजना' का काम चल जाएगा इसलिये 'व्यंजना' (वृत्ति) को नहीं मानना चाहिये उनका वह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि 'लक्षणा', वाच्य अर्थ के बोध होने पर, लक्ष्य अर्थ का बोध कराती है। तथा 'लक्षणा' वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का ही ज्ञान कराती है। 'व्यंजना' इस प्रकार की नहीं है, इसलिए उस (लक्षणा) में (व्यंजना का) अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

नैयायिक विद्वान् 'व्यंजना' का अन्तर्भाव 'अभिधा', 'लक्षणा' तथा 'अनुमान' में करके 'व्यंजना' को अलग 'वृत्ति' नहीं मानना चाहते। उनका कहना है कि नानार्थक स्थलों में जो 'शब्दशक्ति-मूला व्यंजना' होती है, वहाँ 'अभिधा' से काम चल जायगा। जैसे—'दूरस्था भूधरा रम्या' इत्यादि में 'भूधर' शब्द 'अभिधा' वृत्ति से 'पर्वत' अर्थ के समान 'राजा' अर्थ का भी बोध करा दिया करेगा। इसी प्रकार 'गंगायां घोष' इत्यादि 'लक्षणामूला व्यंजना' के प्रयोगों में 'लक्षणा' से ही 'शैत्यत्व', 'पावनत्व' आदि अर्थों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



को प्रतीति हो जायगी, जिन्हें व्यंग्य माना जाता है । 'अर्थशक्तिमूला' अथवा 'आर्थी व्यंजना' का अन्तर्भाव 'अनुमान' में हो जायगा । इस प्रकार 'व्यंजना' को अलग वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है । (द्र०—नीलकण्ठी, खण्ड ४, पृ०३०) ।

यहां नैयायिकों के इस मन्तव्य में से नागेश ने केवल इतने अंश का ही खण्डन किया है कि 'लक्षणामूला व्यंजना' का 'लक्षणा' में ही अन्तर्भाव हो जाएगा । नागेश का कहना है कि नैयायिकों की यह बात मानने योग्य नहीं है । क्योंकि 'लक्षणा' की तीनों शर्तें—'मुख्यार्थ की बाधा', मुख्यार्थ से सम्बन्ध' तथा 'किसी विशेष प्रयोजन का प्रतिपादन' —'व्यंजना' में अनिवार्यतः रहा करती हो यह आवश्यक नहीं है । इसका प्रतिपादन इसी प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है ।

आचार्य मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में इस प्रसंग को उठाया है तथा 'गंगायां घोषः, का उदाहरण प्रस्तुत करके यह स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि व्यंजना का अन्तर्भाव 'लक्षणा' में नहीं हो सकता । 'गंगायां घोषः' इस प्रयोग में 'गंगा' शब्द के 'प्रवाह' रूप अर्थ के बाधित हो जाने पर लक्ष्य अर्थ 'तट' उपस्थित होता है । इसी तरह यदि 'तट' रूप अर्थ यदि बाधित हो जाय तभी वह 'शैत्यत्व' 'पावनत्व' आदि व्यंग्य अर्थों को लक्ष्य बना सकता है । यहां न तो 'तट' मुख्य अर्थ ही है और न ही उसकी बाधा है । 'लक्षणा के लिये 'मुख्यार्थ की बाधा' पहली आवश्यकता है । इसके अतिरिक्त 'गंगा' शब्द के लक्ष्यार्थ 'तट' का शैत्यत्व पावनत्व आदि से व्यंग्य अर्थ, जिन्हें नैयायिक लक्ष्य बनाना चाहता है, कोई सम्बन्ध भी नहीं है । दूसरी आवश्यकता—'मुख्यार्थ से सम्बद्ध होना'— भी यहां नहीं है । इसी तरह 'किसी विशेष प्रयोजन की प्रतीति कराना' यह तीसरी आवश्यकता भी यहां नहीं हैं । क्योंकि शैत्यत्व, पावनत्व आदि की प्रतीति, जो स्वयं ही प्रयोजन-विशेष हैं, और किस प्रयोजन को प्रस्तुत कर सकते हैं ? द्र०—

**'हेत्वभावान्न लक्षणा'**—मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः ।

तथा च—

**लक्ष्यं न मुख्यं, नाप्यत्र बाधो, योगः फलेन नो ।**
**न प्रयोजनम् एतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ।।**

(काव्यप्रकाश, २.१६)

नैयायिकों ने 'आर्थी व्यंजना' का जो 'अनुमान' में अन्तर्भाव करने का प्रयास किया है उसका सविस्तर खण्डन विश्वनाथ आदि ने अपनी पुस्तकों में किया है । द्र०—

**नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधनक्षमम् :**
**आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादि-धीः ।।**

(साहित्यदर्पण, ५. ४)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# स्फोट-निरूपणम्

['अभिधा' आदि वृत्तियों का आश्रय वर्णों को नहीं माना जा सकता]

ननु कोयं वृत्त्याश्रयः शब्दः ? वर्णाः प्रत्येकम् इति चेत्, न। द्वितीयादि-वर्णोच्चारण-वैयर्थ्यापत्तेः। नापि वर्णसंघातः। उच्चरित–प्रध्वंसित्वेन यौगपद्यासम्भवात्। अभिव्यक्तेर् उत्पत्तेर् वा क्षणस्थायित्वात्। क्षणात्मककालस्य प्रत्यक्षायोग्यत्वेन तद्–अवच्छिन्न-वर्णस्याप्यप्रत्यक्षत्वात्। उच्चारणाधिकरण– कालोत्तर–काल–वृत्ति-ध्वंस–प्रतियोगित्वम् 'उच्चरित–प्रध्वंसित्वम्'। "इको यण् अचि" (पा०६.१.७७) इत्यादौ "तस्मिन्"०(पा०१.१.६६) इति परिभाषोपस्कृत–वाक्यार्थे 'अयं पूर्वः', 'अयं परः', इति नष्टस्य प्रत्यक्ष–विषयेदंशब्देन पौर्वापर्य–व्यवहारायोगाच्च[3]।

"वृत्तियों का आश्रयभूत यह शब्द क्या है ? यदि प्रत्येक वर्णों को (आश्रय) माना जाय तो (वह ठीक) नहीं। क्योंकि तब (शब्द के) दूसरे तीसरे आदि वर्णों का उच्चारण अनावश्यक हो जाता है। और न ही वर्णों का समुदाय (वृत्तियों का आश्रय है)। क्योंकि वर्णों के उच्चरित एवं प्रध्वंसी (विनाशी स्वभाव वाला) होने के कारण वर्णों का एक साथ उपस्थित होना रूप समुदाय (बन सकना) असम्भव है। इसका कारण यह है कि वर्णों की (नित्यत्व पक्ष में) अभिव्यक्ति अथवा (अनित्यत्व पक्ष में) उत्पत्ति एक क्षण तक ही स्थित रहने वाली होती है। क्षणात्मक काल के प्रत्यक्ष-योग्य न होने के कारण उस (क्षण) में रहने वाला वर्ण भी अप्रत्यक्ष ही रहता है। उच्चरित प्रध्वंसी-स्वभाव वाला होने का अर्थ है (वर्ण के) उच्चारण के आधारभूत काल के पश्चात् उपस्थित होने वाले काल में उस वर्ण का अभाव हो जाना। और (इस प्रकार वर्णों के उच्चरित-प्रध्वंसी होने पर) "इको यण् अचि" इत्यादि

१. ह०-वर्ण:।

२. काप्रशु०-क्षणात्म-।

३. ह०-योग्याच्च।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(सूत्रों) के, "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" (पा० १.१. ६६) इस परिभाषा (सूत्र) के द्वारा, परिष्कृत वाक्यार्थ में, प्रत्यक्ष-विषयक 'इदम्' (सर्वनाम) शब्द से 'यह पहले है,' तथा 'यह बाद में है' इस तरह का पौर्वापर्य व्यवहार नहीं बन सकेगा।

मीमांसक वर्णों को नित्य मानते हैं तथा उन्हें अर्थ का वाचक मानते है। इसीलिये 'गौः इत्यत्र कः शब्दः ?' ('गौः' इस प्रयोग में शब्द क्या है ?) इस प्रश्न के उत्तर में शबर स्वामी ने कहा—"गकारौकार विसर्जनीयाः इति भगवान् उपवर्षः" (मीमांसा शाबर वृत्ति १. १. ५) अर्थात्—'ग्' 'औ' तथा विसर्ग इन्हें मीमांसा के प्राचीन आचार्य उपवर्ष, 'गौः' इस प्रयोग में शब्द मानते हैं।

इस रूप में मीमांसक दार्शनिकों के मत के अनुसार यदि वर्णों को ही वृत्तियों का आश्रय या अर्थ का वाचक माना जाय तो दो विकल्प उपस्थित होते हैं—(क) शब्द में विद्यमान प्रत्येक वर्ण को अर्थ का वाचक माना जाय, अथवा (ख) वर्णों के समुदाय अर्थात् पूरे पद को अर्थ का वाचक माना जाय? इनमें से प्रथम विकल्प तो इसलिये अस्वीकार्य है कि यदि पद के प्रत्येक वर्ण उस अभीष्ट अर्थ के वाचक हैं तो, शब्द के प्रथम वर्ण के उच्चारण से अर्थ की उपस्थिति हो जाने के कारण, अन्य द्वितीय, तृतीय आदि वर्णों का उच्चारण अनावश्यक हो जायेगा।

दूसरे विकल्प—'वर्ण-समुदाय की अर्थवाचकता'—में यह कठिनाई है कि वर्णों की स्थिति ऐसी है कि वे उच्चरित होते हैं, एक क्षण रहते हैं और उसके बाद वाले क्षण में नष्ट हो जाते हैं। इस तरह उच्चरित-प्रध्वंसी स्वभाव वाला होने के कारण वर्णों का समुदाय ही नहीं बन सकता। अतः वर्णों के समुदाय या पद को, जिस की स्थिति ही सम्भव नहीं है, अर्थ का वाचक कैसे माना जाय ?

यहां यह पूछा जा सकता है कि वर्ण एक क्षण तो रहते ही हैं फिर उनका समुदाय बनने में क्या कठिनाई है ? इस प्रश्न का उत्तर यहां यह दिया गया कि, चाहे मीमांसकों के अनुसार वर्णों को नित्य मानते हुए यह कहा जाय कि वर्ण अभिव्यक्त होते हैं अथवा, नैयायिकों के अनुसार वर्णों को अनित्य मानते हुए, यह कहा जाय कि वर्ण उत्पन्न होते हैं—इन दोनों ही स्थितियों में वर्ण की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति क्षणिक है। 'क्षण' है काल का सबसे छोटा विभाग, जिस तरह पृथ्वी आदि का सबसे छोटा विभाग परमाणु है। यह क्षणात्मक काल प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। अपने आधारभूत क्षण रूप काल के अप्रत्यक्ष होने के कारण आधेयभूत वर्ण की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति भी प्रत्यक्ष-योग्य नहीं हो सकती।

वर्णों को उच्चरित तथा प्रध्वंसी कहने का भी अभिप्राय यही है कि जिस समय वे उच्चरित होते हैं उस समय के दूसरे क्षण में वे नहीं रहते। इस तथ्य को महाभाष्य-कार पतंजलि ने निम्न शब्दों से प्रकट किया है—

"एकैक-वर्ण-वर्त्तिनी वाग् न द्वौ युगपद् उच्चारयति। 'गौः' इति गकारे यावद् वाग् वर्तते न औकारे न विसर्जनीये। यावद् विसर्जनीये न गकारे न औकारे। उच्चरित-प्रध्वंसित्वात्। उच्चरित-प्रध्वंसिनः खल्वपि वर्णाः" (महाभाष्य, १. ४. १०९)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस प्रकार उच्चारणोत्तरकाल में नष्ट हो जाने वाले इन वर्णों का समुदाय तो बन ही नहीं सकता साथ ही इन वर्णों में 'पूर्व' तथा 'पर' का भी व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि एक साथ स्थित वर्णों के विषय में ही यह कहा जा सकता है कि यह वर्ण पहले है तथा यह बाद में है। इसका कारण यह है कि पूर्वापरता अपेक्षाकृत होती है। और इस पूर्वापर-व्यवहार के न हो सकने पर "इको यण् अचि" जैसे सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि यहाँ, सप्तमी निभक्ति-निर्दिष्ट 'अचि' जैसे शब्दों के कारण उपस्थित होने वाले "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" इस परिभाषा-सूत्र के आधार पर, "इको यण् अचि" सूत्र का अर्थ यह होगा कि—"अच्' वर्ण के परे होने पर अव्यवहित पूर्व में विद्यमान 'इक्' के स्थान पर 'यण्' होता है।" इसी प्रकार उन अनेक सूत्रों में जिनमें सप्तमी या पंचमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, 'पूर्व' तथा 'पर' का व्यवहार न हो सकने के कारण महती असंगति उपस्थित होगी। अतः वर्णों को वृत्तियों का आश्रय नहीं माना जा सकता।

**[इस विषय में नैयायिकों का मन्तव्य]**

यत्तु **तार्किकाः**—वर्णानाम् अनित्यत्वेऽपि उत्तरोत्तर-वर्णे पूर्व-पूर्व-वर्णवत्त्वम् अव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्धेन संस्कार-वशाद् गृह्यते इति पदस्य[1] प्रत्यक्षत्वाच् छाब्दबोधः। यद् वा पूर्व-पूर्व-वर्णजाः शब्दाः 'शब्दज-शब्द'-न्यायेन चरम-वर्ण-प्रत्यक्ष-पर्यन्तं जायमाना एव सन्ति इति न पद-प्रत्यक्षानुपपत्तिः। यद् वा पूर्व-पूर्व-वर्णानुभव-जन्य-संस्कार-सचीचीन-चरम-वर्णानुभवतः शाब्द-बोधः—इत्याहुः।

नैयायिक जो यह कहते हैं कि—

(क) वर्णों के अनित्य होने पर भी बाद बाद में उच्चरित वर्ण में, व्यवधान-रहित उत्तरकालिकता के सम्बन्ध से, पूर्वोच्चारित वर्णों से युक्त होना (यह) संस्कार द्वारा गृहीत होता है।

(ख) अथवा पूर्व-पूर्व-वर्ण से उत्पन्न शब्द (ध्वनि), 'शब्दज-शब्द' न्याय से उच्चार्यमाण पद के अन्तिम वर्ण के प्रत्यक्ष (श्रवण) होने तक, बार-बार उत्पन्न ही होते रहते हैं। इसलिए शब्द के प्रत्यक्ष होने में कोई असंगति नहीं है।

(ग) अथवा पहले पहले (के सब) वर्णों के अनुभव (श्रवण) से उत्पन्न संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण के सुनने से शाब्द बोध होता है।

१. ह०, बंभि०—पद-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



नैयायिकों ने, वर्णों को अनित्य एवं अर्थ का वाचक मानते हुए, शाब्दबोध की प्रक्रिया पर विचार किया है तथा इस विषय में तीन पद्धतियां प्रदर्शित की हैं। पहली पद्धति या विकल्प में उनका कहना यह है कि जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है तो श्रोता जिन वर्णों के उच्चारण को सुन चुका होता है उनका भी संस्कार उनकी बुद्धि में बना रहता है। इस संस्कार के द्वारा, बाद बाद के वर्णों के उच्चारण के समय भी पहले पहले के उच्चरित वर्ण गृहीत होते जाते हैं, क्योंकि उन पहले उच्चरित वर्णों के तुरन्त पश्चात् बाद में उच्चरित होने वाले इन वर्णों का उच्चारण किया जाता है। जैसे 'राम' कहते समय 'र्', 'आ', 'म्', 'अ' इन चार वर्णों का उच्चारण वक्ता क्रमशः करेगा। यहां 'र्' को सुनने से जो संस्कार बना वह उसके तुरन्त बाद बोले जाने वाले 'आ' के उच्चारण के समय स्मृत होगा तथा इसी प्रकार इन दोनों वर्णों के बाद जब 'म्' कहा जायगा तब 'र्' तथा 'आ' दोनों के संस्कार श्रोता की बुद्धि में विद्यमान होंगे।

इस प्रकार उत्तरोत्तर वर्णों के साथ पूर्व पूर्व वर्णों के स्मृत या गृहीत होने के कारण पूरा पूरा पद एक तरह से प्रत्यक्ष हो जाता है जिससे शाब्दबोध हुआ करता है। यहां व्यवधान-रहित उत्तरकालीनता के सम्बन्ध के कारण वर्णों का एक विशिष्ट क्रम भी बुद्धि में बना रहता है। इसलिये 'सरो' 'रसः' या 'नदः' 'दीन' इत्यादि परस्पर विपरीत क्रम वाले शब्दों में एक समान ज्ञान नहीं होता।

दूसरी पद्धति यह है कि 'शब्दजशब्द' न्याय से, अर्थात् जैसे भेरी का एक शब्द या ध्वनि उत्पन्न हो कर अपने विनाश से पूर्व दूसरी ध्वनि को उत्पन्न कर जाती है उसी प्रकार, पहले पहले उच्चरित वर्ण तब तक अपने समान ध्वनि को उत्पन्न करते रहते हैं जब तक श्रोता को अन्तिम वर्ण नहीं सुनाई दे जाता। इस तरह अन्तिम वर्ण के श्रवण-काल तक, पहले पहले के उच्चरित वर्णों के उत्पन्न होते रहने के कारण, पूरा पद सुनाई दे जाता है—प्रत्यक्ष हो जाता है।

तीसरी पद्धति यह है कि पूर्व पूर्व के सब वर्णों के श्रवण से उत्पन्न जो संस्कार उनके साथ अन्तिम वर्ण का श्रवण होने से शाब्द बोध होता है। यहां पहले के वर्णों का जो एक सामूहिक संस्कार है, जिसके साथ अन्तिम वर्ण के श्रवण से अर्थ-प्रतीति होती है, उसमें कोई विशिष्ट क्रम भी रहता है ऐसी निश्चित प्रतीति नहीं होती। नैयायिकों की इस पद्धति का उल्लेख तर्कभाषा (शब्दनिरूपण) में निम्न शब्दों में मिलता है :—"पूर्व-पूर्व-वर्णान् अनुभूय अन्त्यवर्ण-श्रवणकाले पूर्व-पूर्व-वर्णानुभवजनित-संस्कारसहकृतेन अन्त्यवर्ण-सम्बन्धेन पदव्युत्पादन-समयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेण एकदैव सदसदनेकवर्णविगाहिनी पद-प्रतीतिर्जन्यते सहकारिदार्ढ्यात् प्रत्यभिज्ञानवत्"।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (आसत्तिनिरूपण) में इसी बात को संक्षेप में निम्न शब्दों में कहा गया है :—"तत्तद्वर्णसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भेन तद्व्यंजकेनैवोपपत्तेः"।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[नैयायिकों के इन तीनों विकल्पों का खण्डन]

तन्न। आद्येऽयं पूर्वोऽयं पर इत्यभिलापासम्भवेन अव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्धायोगात्, नष्ट-विद्यमानयोर् अव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्धस्य वक्तुम् अशक्यत्वाच्च। द्वितीये शब्दज-शब्द-न्यायेन पद-प्रत्यक्षोपपादनेऽपि पदस्य अविद्यमानत्वेन तत्र शक्त्याश्रयत्वस्य ग्रहानुपपत्तेः। अविद्यमाने आश्रयत्वाङ्गीकारे 'नष्टो घटो जलवान्' इत्याद्यापत्तेश्च। तृतीये येन क्रमेण अनुभवस् तेनैव क्रमेण तत्-संस्कार-स्थितिर् इत्यत्र विनिगमकाभावात् 'सरो रसः', 'नदी दीनः' इत्यादौ विपरीत-संस्कारोद्बोधेन प्रत्येकम् अन्यार्थ-प्रत्ययापत्तेः।

वह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथम (विकल्प) में 'यह पहले है', 'यह बाद में है' इस प्रकार के व्यवहार के असम्भव होने के कारण व्यवधानरहित उत्तरकालीनता का सम्बन्ध नहीं बन पाता। साथ ही नष्ट (पूर्व पूर्व उच्चरित वर्ण) और विद्यमान (उत्तर उत्तर काल में उच्चार्यमाण वर्ण) में व्यवधान-रहित उत्तरकालीनता का सम्बन्ध भी नही बताया जा सकता।

द्वितीय (विकल्प) में 'शब्दजशब्द'न्याय से (सम्पूर्ण) पद की प्रत्यक्षता की सिद्धि कर देने पर भी (साक्षात्) पद के विद्यमान न होने के कारण उसमें 'शक्ति' की आश्रयता का ज्ञान सुसङ्गत नहीं हो पाता। क्योंकि अविद्यमान (वस्तु) में आश्रयता मानने पर 'नष्ट घट जल का आधार है' इत्यादि (अनुचित व्यवहार) होने लगेंगे।

तृतीय (विकल्प) में जिस क्रम से (वर्णों का) श्रवण होता है उसी क्रम से वह संस्कार में भी उपस्थित हो इसमें किसी निश्चायक हेतु के न होने के कारण 'सरः', 'रसः' तथा 'नदी' 'दीनः' इत्यादि में विपरीत संस्कार के जागृत होने के कारण (इस प्रकार के) प्रत्येक (शब्द) में दूसरे अर्थ का ज्ञान होने लगेगा।

**आद्ये ··· अशक्यत्वाच्च**—वस्तुतः नैयायिकों ने जो तीन विकल्प प्रदर्शित किये हैं वे न केवल सर्वथा काल्पनिक हैं अपितु असङ्गत भी हैं। इनकी दृष्टि में वर्ण ही शब्द हैं तथा वे अनित्य हैं, वे उत्पन्न होते हैं तथा नष्ट होते हैं। इसलिये वर्णों की साक्षात् सत्ता तो रहती ही नहीं। अतः जब वर्ण रहते ही नहीं तो उनमें व्यवधान-रहित उत्तरकालीनता का सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है। इस सम्बन्ध के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



न होने से बाद बाद के वर्णों के श्रवण-काल में पहले पहले के वर्णों का ज्ञान भी असम्भव है।

**द्वितीये''' इत्याद्यापत्तेश्च**—इसी तरह द्वितीय विकल्प में यद्यपि नैयायिक 'शब्दजशब्द' न्याय के द्वारा पद को प्रत्यक्ष तो प्रमाणित कर देता है फिर भी उससे अभीष्ट सिद्धि नहीं हो पाती, क्योंकि जब वर्ण वस्तुतः हैं ही नहीं तो वर्णों का समुदाय रूप पद भी अविद्यमान है। इसलिये उसे शक्ति का आधार नहीं माना जा सकता। और यदि इस अविद्यमान पद को 'शक्ति' का आश्रय माना गया तो फिर 'नष्टो घटो जलवान्' (फूटा हुआ घड़ा जल से पूर्ण है) इस प्रकार की असंगत बातें भी माननी पड़ेंगी।

**तृतीये''' प्रत्ययापत्तेः**—तीसरे विकल्प में जो दोष दिया गया है वह है क्रम-हीनता का दोष। पहले पहले के सभी वर्णों का संस्कार एक साथ शब्द के अन्तिम वर्ण के श्रवण के समय उपस्थित होता है यह इस विकल्प में कहा गया है। इसलिये पहले के वर्णों के संस्कार में कोई विशिष्ट क्रम हो ही यह आवश्यक नहीं है। अतः क्रम-विपर्यय होने पर शब्द का दूसरा अनभीष्ट अर्थ भी निकल सकता है। जैसे 'नदी' शब्द को कहने पर 'दीनः' शब्द का अर्थ, अथवा 'सरः' कहने पर 'रसः' शब्द का अर्थ भी प्रतीत हो सकता है।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि इस तीसरे विकल्प मे नैयायिकों पर जो क्रम-हीनता का दोष दिखाया गया है क्या वह वैयाकरणाभिमत 'स्फोट' के सिद्धान्त में नहीं है? आखिर वैयाकरण भी तो 'प्राकृत ध्वनि' रूप वर्णों से ही 'स्फोट' की अभिव्यक्ति मानते हैं। परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैयाकरणों के 'स्फोट' सिद्धान्त में यह दोष नहीं है। क्योंकि स्फोटवादी वैयाकरणों की दृष्टि में 'स्फोट' सर्वथा निरवयव एवं अखण्ड है। क्रमिकता तो अपने अभिव्यंजक वर्णों की क्रमिकता के कारण 'स्फोट' में आभासित होती है। साथ ही वैयाकरण यह भी मानते हैं कि यद्यपि शब्द के प्रथम वर्ण से भी अखण्ड स्फोट की अभिव्यक्ति हो जाती है, परन्तु वह पूर्णतः, स्पष्ट रूप में भलीभांति, प्रगट नहीं हो पाती। शब्द के अन्य वर्णों के द्वारा बार बार की गयी आवृत्ति से उसी एक अखण्ड 'स्फोट' का पूर्ण प्रगटीकरण ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार एक पूरा अनुवाक या श्लोक बार बार की आवृत्ति से स्मरण हो जाता है। द्र०—

**यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वम् उपगच्छति।**
**आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते॥**
**प्रत्ययैर् अनुपाख्येयैर् ग्रहणानुगुणैस् तथा।**
**ध्वनि-प्रकाशिते शब्दे स्वरूपम् अवधार्यते॥ (वाप०, १.८३-८४)**

इस 'स्फोट' का चित्त में जिस विशिष्ट क्रम से संस्कार होता है उसी क्रम से व्यंजक ध्वनियों के द्वारा इस 'स्फोट' की अभिव्यक्ति होती है। इसलिये वैयाकरणों की 'स्फोट'-कल्पना में उपर्युक्त दोष नहीं आता। द्र०—"येन क्रमेण चित्ते संस्कारस्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



तेनैव क्रमेण व्यंजकरूप-रूषितता तस्य इति स्वीकारान् न 'सरो रसः' इत्यनयोरविशेषः" (लम०पृ० १८२-८३)।

नैयायिक अखण्ड एवं निरवयव 'स्फोट' को मानते ही नहीं इसलिये वे इस युक्ति द्वारा उपर्युक्त दोष का निराकरण नहीं कर सकते।

**[नैयायिकों की बात का पतंजलि के कथन से विरोध]**

उत्पत्ति-विनाशवद् वर्ण-समुदायरूप-पदस्य मनुष्यादिवद् भेदे "एक इन्द्र शब्दः क्रतुशते प्रादुर्भूतो युगपत् सर्वयागेष्वंगं भवति"[1] इति भाष्यविरोधापत्तेश्च[2]। 'प्रादुर्भूतो'ऽभिव्यक्तः।

उत्पत्ति तथा विनाश (इन धर्मों) से युक्त वर्णों के समुदाय रूप पद को, मनुष्य आदि के समान, परस्पर भिन्न भिन्न मानने पर "एक इन्द्र शब्द सौ यज्ञों में प्रगट होकर एक साथ सभी यागों में अङ्ग (साधन) बनता है" इस भाष्य (के कथन) से विरोध उपस्थित होता है। (भाष्य की पंक्ति में) 'प्रादुर्भूतः' का अर्थ है अभिव्यक्त।

उत्पत्ति तथा विनाश धर्म वाले वर्णों का समुदाय ही पद है ऐसा मानने वाले नैयायिकों के मत में जितनी बार एक शब्द का उच्चारण किया जायगा उतने भिन्न भिन्न शब्द मानने होंगे। यदि सौ बार 'इन्द्र' शब्द का उच्चारण किया गया तो सौ भिन्न भिन्न 'इन्द्र' शब्द मानने होंगे। इस प्रकार एक शब्द में, उच्चारण-भेद के कारण, विभिन्न शब्दता को मानने पर भाष्यकार पतंजलि के उपर्युक्त कथन से स्पष्टतः विरोध उपस्थित होता है। क्योंकि वे 'इन्द्र' शब्द को एक मानते हुए उसे एक साथ सभी यागों में साधन मानते हैं। इसके अतिरिक्त उच्चारण-भेद के कारण भिन्न भिन्न हुए इन शब्दों से शक्तिग्रह या अर्थ-ज्ञान भी असम्भव हो जायगा, क्योंकि यहां भी आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष उपस्थित होगा।

**[वैयाकरणों के मत में वृत्तियों का आश्रय 'स्फोट']**

ननु कस्तर्हि वृत्त्याश्रयः शब्दः ? स[2] स्फोटात्मक इति गृहाण। ननु कोयं स्फोटः ? उच्यते-चतुर्विधा हि वागस्ति–'परा',

---

१. तुलना करो—महा० १.२.६४;
तद् यथा एक इन्द्रशब्दोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति।

२. ह० में 'स' अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'पश्यन्ती' 'मध्यमा' 'वैखरी' च। तत्र मूलाधारस्थ-पवन-संस्कारीभूता मूलाधारस्था शब्दब्रह्मरूपा स्पन्दशून्या बिन्दुरूपिणी 'परा' वाग् उच्यते। नाभिपर्यन्तम् आगच्छता तेन वायुना अभिव्यक्ता मनोगोचरीभूता 'पश्यन्ती' वाग् उच्यते। एतद् द्वयं वाग्ब्रह्म योगिनां समाधौ निर्विकल्पक-सविकल्पक[2]-ज्ञान-विषय इत्युच्यते। ततो हृदयपर्यन्तम् आगच्छता तेन वायुना अभिव्यक्ता तत्तदर्थ-वाचक-शब्द-स्फोटरूपा श्रोत्र-ग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा, जपादौ बुद्धि-निर्ग्राह्या 'मध्यमा' वाग् उच्यते। तत आस्यपर्यन्तम् आगच्छता तेन वायुना ऊर्ध्वम् आक्रामता च मूर्धानम् आहत्य परावृत्य च तत्तत्स्थानेष्वभिव्यक्ता परश्रोत्रेणापि ग्राह्या 'वैखरी' वाग् उच्यते। तदाह—

**परावाङ् मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।**
**हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा।** इति

तो फिर 'वृत्तियों' का आश्रयभूत शब्द क्या है? 'स्फोट' रूप शब्द को (वृत्तियों का आश्रय) समझो। यह 'स्फोट' क्या है? (इसके उत्तर में) यह कहा जाता है कि चार प्रकार की वाणी है। 'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' तथा 'वैखरी'। उनमें मूलाधार (चक्र) में रहने वाली वायु के संस्कार से अभिव्यक्त मूलाधार (चक्र) में (ही) रहने वाली, शब्दब्रह्मरूपा, क्रिया-शून्य तथा कारण-बिन्दुरूपा वाणी 'परा' मानी जाती है।

नाभि तक आने वाली उस वायु से अभिव्यज्यमान तथा केवल मन का विषय बनने वाली वाणी 'पश्यन्ती' मानी गयी है। ये दोनों ही वाग्ब्रह्म ('परा' तथा 'पश्यन्ती') समाधि की स्थिति में (क्रमशः) निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान के विषय हैं—यह कहा जाता है।

इसके पश्चात् नाभि से हृदय तक आती हुई उस वायु से प्रगट होने वाली उन उन (विभिन्न) अर्थों के वाचक शब्द-स्फोट रूप, श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा श्रवणीय न होने के कारण सूक्ष्म तथा जप आदि में (केवल) बुद्धि द्वारा ज्ञेय वाणी 'मध्यमा' कहलाती है।

---

१. तुलना करो—प्रपंचसार (पट० १, श्लोक ४३);
बिन्दोस् तस्माद् भिद्यमानाद् रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्।
स एव श्रुति-सम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते॥

२. धमि० में 'सविकल्पक' पाठ नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



फिर हृदय से मुख तक आती हुई एवं (मुख के) ऊपरी भाग की ओर टकराती हुई वायु से, मूर्द्धा को अभिहत करके (पीछे) लौटने के पश्चात् उन उन स्थान विशेषों में प्रगट हुई एवं दूसरे के कानों द्वारा सुनी जा सकने वाली वाणी 'वैखरी' कहलाती है। इस (विषय) को (निम्न कारिका में) कहते हैं—"मूल चक्र में रहने वाली 'परा', नाभि में रहने वाली 'पश्यन्ती', हृदय में स्थित वाणी 'मध्यमा' तथा कण्ठ-देश में रहने वाली वाणी 'वैखरी' समझनी चाहिये"।

उपरिनिर्दिष्ट कठिनाइयों के कारण, मीमांसकों तथा नैयायिकों के सिद्धान्तों को मानकर वर्णों या वर्ण-समुदायों को वृत्तियों का आश्रय बनाना कथमपि सयुक्तिक नहीं हो सकता। इसलिये वैयाकरण-अभिमत 'स्फोट' को ही वृत्ति का आश्रय मानना चाहिये।

'स्फोट' का स्वरूप संक्षेप में यह है कि वर्णों की प्राकृत-ध्वनि से अभिव्यक्त होने वाला, परन्तु वर्णों से पृथक् रह कर अर्थ का बोध कराने वाला, नित्य एवं निरवयव सूक्ष्म शब्द ही 'स्फोट' है। वर्णों से अभिव्यक्त होना तथा अर्थ का ज्ञान कराना इन दो दृष्टियों के कारण 'स्फोट' शब्द की व्युत्पत्ति दो तरह से की जाती है। पहली व्युत्पत्ति है—'स्फुटति-अभिव्यज्यते वर्णैः' (कर्म में 'घञ्' प्रत्यय), अर्थात् जो वर्णों से अभिव्यक्त होता है। दूसरी व्युत्पत्ति है—'स्फुटति-विकसति-प्रकाशते अर्थोऽनेन' (करण में 'घञ्' प्रत्यय), अर्थात् जिससे अर्थ का प्रकाशन होता है।

वैयाकरण विद्वान् वाक्य में पद की तथा पद में वर्णों की वास्तविक सत्ता नहीं मानते। इसलिये वैयाकरणों में प्रमुख भर्तृहरि आदि अखण्ड वाक्य को 'स्फोट' मानते हैं तथा कुछ अन्य पद को 'स्फोट' मानते हैं। केवल शास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह के लिये ये भर्तृहरि आदि विद्वान् पद-स्फोट या वर्ण-स्फोट की कल्पना को अवास्तविक सत्ता के रूप में मानते हैं। यह सब इस ग्रंथ के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है (द्र०—पूर्व पृष्ठ २–१३)।

**परा**—'स्फोट' के स्वरूप के विषय में विचार करते हुए नागेश ने वर्ण के चार प्रकारों का भी यहां उल्लेख किया है। इन चतुर्विध वाणियों की विस्तृत चर्चा हमें सर्वप्रथम भर्तृहरि की अमर कृति वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में देखने को मिलती है। वहां 'परा' वाणी को 'पश्यन्ती' का प्रकृष्ट रूप माना गया है तथा उसे अपभ्रंशरहित एवं लोक-व्यवहारातीत बताया है—"परं तु पश्यन्तीरूपम् अनपभ्रंशम् असङ्कीर्णं लोक-व्यवहारातीतम्" (स्वोपज्ञटीका १.१४३)। इसी टीका के एक अन्य स्थल पर भर्तृहरि ने 'परा' को वाणी की वह मूलावस्था माना है जिसमें सभी प्रकार के विकार प्रशान्त हो जाते हैं:—"प्रत्यस्तमित-सर्व-विकारोल्लेख-मात्रां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते" (१.१४)। इस वाणी को महाभारत में 'स्वरूप-ज्योति' तथा 'अनपायिनी' अर्थात् स्व-प्रकाशस्वरूपा एवं नित्य या विनाशरहित कहा गया है—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**स्वरूप-ज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वाग् अनपायिनी।**

(स्वोपज्ञटीका, १.१४३ में उद्धृत)

अत्यधिक सूक्ष्म होने के कारण इसी 'परा' का दूसरा नाम 'सूक्ष्मा' भी है। इसी 'परा' को भर्तृहरि ने 'प्राप्तरूपविभागा' वाणी का 'परमरस' तथा 'पुण्यतम ज्योति' कहा है। (द्र०—वाप०, १.१२)

भारतीय चिन्तकों, ऋषियों तथा योगियों की यह धारणा रही है कि वाणी का सूक्ष्मतम रूप एवं परम रहस्यभूत यह तत्त्व मानव-शरीर के मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी के रूप में रहता है तथा इसे ही 'आत्मा', 'चित्', 'सवित्' इत्यादि नामों से कहा गया है। यह 'परा' वाणी ही जगत् का उपादान कारण है तथा इसे ही सूक्ष्म स्फोट भी कहा जाता है। प्राण वायु का संयोग होने पर 'पश्यन्ती', मध्यमा' आदि विविध रूपों में इसका विवर्तन होता है। 'परा' को निष्पन्द तथा अन्य तीन 'पश्यन्ती' आदि को सस्पन्द माना जाता है। द्र०—"वर्णादि-विशेषरहिता चेतनमिश्रा सृष्ट्युपयोगिनी जगदुपादान-कारणभूता कुण्डलिनीरूपेण प्राणिनां मूलाधारे वर्तते। कुण्डलिन्याः प्राणवायुसंयोगे परा व्यज्यते। इयं निष्पन्दा। पश्यन्त्यादयः सस्पन्दा अस्या विवर्ताः। इयम् एव सूक्ष्मः स्फोट उच्यते" (ए डिक्शनरी आफ़ संस्कृत ग्रामर में उद्धृत)।

इस 'परा' का उल्लेख भर्तृहरि ने अपनी कारिकाओं में स्पष्टतःकहीं नहीं किया है। अपनी एक कारिका (१.१४३) में उन्होंने केवल तीन 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' तथा 'वैखरी' का नाम गिनाया है तथा वाणी को त्रिविध घोषित किया है। इसी कारण भर्तृहरि को कुछ विद्वान् केवल त्रिविध वाणी का ही पोषक मानते। परन्तु यह धारणा सत्य नहीं प्रतीत होती। भर्तृहरि को चतुर्विध वाणी अभिमत होने पर भी 'परा' का उल्लेख उन्हों ने संभवतः इसलिये नहीं किया कि 'परा' व्याकरण का विषय नहीं हो सकती। सामान्यतया तो 'पश्यन्ती' भी व्याकरण का विषय नहीं है। परन्तु योगियों को वाणी की 'पश्यन्ती' अवस्था में शब्दों की प्रकृति प्रत्यय का ज्ञान हो जाता है। इसलिये 'पश्यन्ती' का उल्लेख तो भर्तृहरि ने किया, परन्तु 'परा' का उल्लेख नहीं किया। इस तथ्य का उल्लेख नागेश भट्ट ने महाभाष्य की 'उद्द्योत' टीका में निम्न शब्दों में किया है—"मध्यमा' हृदय-देशस्था पद-प्रत्यक्षानुपपत्त्या व्यवहार-कारणम्। 'पश्यन्ती' तु लोक-व्यवहारातीता। योगिनां तु तत्रापि प्रकृति-प्रत्यय-विभागावगतिरस्ति। 'परायां' तु नेति 'त्रय्याः' इत्युक्तम्" (महाभाष्य, भा० १, पृ० ३३)।

नागेश ने इस स्थिति का स्पष्टीकरण लघुमंजूषा (पृ० १७४ तथा १७८) में भी किया है। इस विषय के विस्तृत अध्ययन की दृष्टि से द्रष्टव्य मेरे लेख 'चतुर्विधाया वाचः स्वरूप निर्वृत्तिः' (विश्वसंस्कृतम्, अगस्त ६४) तथा 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि इत्यत्र भर्तृहरिः' (विश्वसंस्कृतम्, फरवरी ६६)।

नागेश ने यहां 'परा' को 'मूलाधारस्थ-पवन-संस्कारीभूता' अर्थात् मूलाधार चक्र में रहने वाली वायु से संस्कृत माना है। ज्ञात अर्थ को बताने की अभिलाषा वाले व्यक्ति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



की विवक्षा (बोलने की इच्छा) से उत्पन्न प्रयत्न के कारण मूलाधारस्थ पवन के साथ 'परा' का योग ही उसका 'संस्कार' है।

'परा' वाणी के लिये नागेश ने जिस 'बिन्दुरूपिणी' विशेषण का प्रयोग किया है वह विचारणीय है। यहां 'बिन्दु' का अभिप्राय है 'कारण-बिन्दु'। अपनी लघुमंजूषा (पृ० १६८–७२) में नागेश ने शाब्दी सृष्टि की प्रक्रिया का जो वर्णन प्रस्तुत किया है उसका संक्षिप्त रूप यह है कि प्रलयावस्था में माया परब्रह्म में समाविष्ट रहती है। परन्तु प्राणियों के कर्मों का परिपाक हो जाने पर परब्रह्म से माया पृथक् होती है तथा ब्रह्म की क्रियात्मक प्रेरणा के कारण वह 'कारण-बिन्दु' की स्थिति में आती है। यह 'कारण बिन्दु' अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है तथा तीनों गुणों (सत्त्व, रज तथा तम) से समवेत है। यह 'कारण-बिन्दु' ही 'कार्यबिन्दु', 'नाद' तथा 'बीज' इन तीन रूपों में परिणत होता है। परन्तु जब 'कारण-बिन्दु' इन तीन रूपों में विभक्त होता है तो एक अव्यक्त 'शब्दब्रह्म' या रव की उत्पत्ति होती है, जो मूलाधार में वहां की वायु से सम्बद्ध या सुसंस्कृत होकर 'पर वाक्' नाम ग्रहण करता है।

इसी तरह की प्रक्रिया का उल्लेख, नागेश के पूर्ववर्ती एवं त्रिपुरा सम्प्रदाय के अपेक्षाकृत अर्वाचीन आचार्य तथा टीकाकार, श्री भास्कर राय ने भी ललितासहस्रनाम (श्लो० १३२) की टीका में किया है। इन दोनों की प्रक्रिया में अन्तर केवल इतना ही प्रतीत होता है कि नागेश कार्य-बिन्दु', नाद तथा बीज इन तीनों को ही 'कारण-बिन्दु' के तीन रूप मानते हैं जबकि भास्कर राय के अनुसार कारणबिन्दु 'कार्य-बिन्दु' के रूप में तथा 'कार्य-बिन्दु' 'नाद' के रूप में और 'नाद' 'बीज' के रूप में परिणत होता है।

इस रूप में इन दोनों की दृष्टि में 'परावाक्' परमतत्त्व न होकर ब्रह्म की माया-शक्ति की एक अवस्था-विशेष है जो सादि और सान्त है। स्पष्ट है कि 'परा वाक्' सम्बन्धी, नागेश भट्ट के, इस कथन पर भास्कर राय इत्यादि शैवागम के दार्शनिकों का पूरा प्रभाव है। परन्तु भर्तृहरि ने जिस 'परा' या शब्द ब्रह्म को सृष्टि के मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है वह ब्रह्म की अभिन्न शक्ति ही है, या स्पष्ट शब्दों में शक्ति की कोई अवस्था विशेष न होकर, स्वयं साक्षात् ब्रह्म है।

**पश्यन्ती**—'पश्यन्ती' वाणी के स्वरूप का विवरण भी वाक्यपदीय की स्वपोज्ञ टीका (१.१४३) में मिलता है जिसका संक्षेप में यह अभिप्राय है कि 'पश्यन्ती'की स्थिति में वाणी अविभक्त रहती है। उसमें क्रमिकता या वर्ण आदि का पौर्वापर्य अनभिव्यक्त रहता है। यदि वक्ता की विवक्षा के समय 'परा' का संस्कार होता है या 'परा' का क्षेत्र वक्ता की बोलने की इच्छा तक है तो इससे अगली स्थिति 'पश्यन्ती' की है; नाभि तक आने वाली वायु द्वारा 'पश्यन्ती' वाणी को अभिव्यक्ति मिलती है तथा इसका ज्ञान केवल मन के द्वारा ही हो पाता है। मन अपनी मनन-शक्ति के साथ इस स्थिति में विशेष सक्रिय रहता है।। इस स्थित में सभी पदार्थ प्रत्यवभासित होते हैं। यह प्रत्यवभासन या ज्ञान शब्द तथा अर्थ की अभिन्नरूपता में ही होता है। इस रूप में सभी पदार्थों तथा अर्थों की प्रकाशिका होने के कारण इस का नाम 'पश्यन्ती' पड़ा (द्र०—वृषभदेव की टीका, चारुदेव संस्करण पृ० १२७)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**मध्यमा**—हृदय पर्यन्त आने वाली वायु से अभिव्यक्त होने वाली वही मूल वाणी, जिसे मूलाधारचक्र में 'परा' तथा नाभि प्रदेश में 'पश्यन्ती' नाम दिया गया था, हृदय-प्रदेश में आकर 'मध्यमा' नाम से अभिहित होती है। 'मध्यमा' की स्थिति में एक विशिष्ट क्रम या आकार के साथ शब्द बुद्धि में प्रत्यवभासित होता है। परन्तु बुद्धि एक है तथा शब्द उस बुद्धि से अभिन्न है, इसलिये वस्तुतः शब्द भी अभिन्न एवं अक्रम ही रहता है। इसीलिए भर्तृहरि ने 'मध्यमा' को 'परिगृहीतक्रमा इव' कहा है। केवल बुद्धि से ही 'मध्यमा' वाणी का ग्रहण (ज्ञान) होता है, अतः इसे महाभारत में 'केवलं बुद्ध्युपादाना' कहा है तथा भर्तृहरि ने 'बुद्धिमात्रोपादाना' कहा है। (द्र०—स्वोपज्ञटीका, पृ० १२६-१२८)

**तत्तदर्थ-वाचक-शब्द-स्फोट-रूपा**—यहां यह कहा गया है कि मध्यमा वाणी ही 'स्फोट' है जो विभिन्न अर्थों का वाचक है। वस्तुतः वाणी की 'परा' तथा 'पश्यन्ती' स्थितियाँ तो जन सामान्य के लिये सर्वथा अगम्य हैं। इन दोनों ही स्थितियों में वाचक शब्द तथा वाच्य अर्थ की पृथक् पृथक् रूप से प्रतीति नहीं हो पाती। इस लिये इन दोनों के बाद वाली स्थिति 'मध्यमा' को ही 'स्फोट' (अर्थ का वाचक) माना गया। लघुमंजूषा (पृ० १७८-७९) में इस विषय को इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है—"ततो हृदयपर्यन्त-मागच्छता तेन वायुना हृदयदेशे अभिव्यक्त-तत्तद् अर्थ-विशेषात्तत्तच्छब्द-विशेषोल्लेखिन्या बुद्ध्या विषयीकृता हिरण्यगर्भ-देवत्या परश्रोत्रग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा 'मध्यमा वाग्' इत्युच्यते", अर्थात्—हृदय प्रदेश में अभिव्यक्त उन उन अर्थ-विशेष के लिये उन उन शब्द-विशेष का निर्धारण करने वाली बुद्धि का जो वाणी विषय बनती है वह 'मध्यमा' है। तात्पर्य यह है कि 'मध्यमा' की स्थिति में बुद्धि उस अर्थ-विशेष के लिये शब्द-विशेष का निश्चय कर लेती है जिसे वक्ता प्रकट करना चाहता है। यहां भी शब्द, स्थूल दृष्टि से अनभिव्यक्त, अथवा ईषद् अभिव्यक्त रहता है।

**श्रोत्र-ग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा**—इस पाठ के स्थान पर लघुमंजूषा (पृ० १७९) का 'परश्रोत्र-ग्रहणायोग्यत्वेन' पाठ निश्चित ही अधिक स्पष्ट है। इसका अर्थ यह है कि दूसरों के श्रोत्रों के द्वारा श्रव्य न होने के कारण यह मध्यमा भी सूक्ष्म वाणी है। पलम० के पाठ का भी यही अभिप्राय है पर वह अस्पष्ट है। मध्यमा के विषय में लघुमंजूषा (पृ० १७९) में "स्वयं तु कर्णपिधाने सूक्ष्मतरवाय्वभिघातेन उपांशुशब्दप्रयोगे च श्रूयमाणा सा इत्याहुः", अर्थात् दोनों कानों को बन्द कर देने पर सूक्ष्मतर वायु के आघात के साथ तथा मानस जप आदि के समय वह मध्यमा वाणी स्वयं को सुनाई देती है[1], यह कह कर स्पष्ट कर दिया गया कि स्वयं को तो 'मध्यमा' वाणी सुनाई देती है पर दूसरों को नहीं। 'मध्यमा' की अश्राव्यता का उल्लेख एक अन्य कारिका में भी मिलता—

**वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमाऽश्रुतिगोचरा**

(लघुमंजूषा की कला टीका, पृ० १८१ में उद्धृत)

**बुद्धिनिर्ग्राह्या**—'मध्यमा' केवल अन्तःकरण या बुद्धि से ही ग्राह्य है। सामान्यतया श्रोत्राग्राह्य होने के कारण 'मध्यमा' केवल बुद्धि से ही ग्राह्य हो सकती है।

---

१. यहां यह ध्यान देने योग्य है कि पलम० में यहीं कुछ आगे मध्यमा नाद के सम्बन्ध में ठीक इसी प्रकार की बातें कही गयी हैं। द्र०—"मध्यमानादश्च सूक्ष्मतरः कर्णपिधाने जपादौ च सूक्ष्मतरवाय्वभिघातः"। परन्तु साथ ही उसे शब्द-ब्रह्मरूप स्फोट का व्यंजक भी माना गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**वैखरी**—'विवर' अर्थात् मुख में होने के कारण वाणी के इस रूप को 'वैखरी' कहा गया है। इस स्थिति में वाणी दूसरों के द्वारा सुनी जा सकती है। 'वैखरी' की अवस्था में आकर वाणी अनन्त भेदों वाली हो जाती है। इन भेदों का निर्देश करते हुए भर्तृहरि ने स्वोपज्ञ टीका में लिखा है—"श्लिष्टा व्यक्तवर्ण-समुच्चारणा प्रसिद्ध-साधुभावा भ्रष्टसंस्कारा च। तथा या अश्वे, या दुन्दुभौ, या वेणौ, या वीणायाम् इत्य-परिमाणभेदा" अर्थात अव्यक्त वर्ण वाली, व्यक्त वर्ण वाली, साधु शब्दों वाली, अपभ्रंश शब्द वाली इत्यादि अनेक भेद सार्थक शब्दों की दृष्टि से तो हैं ही साथ ही शकटाक्ष के परिवर्तन में, दुन्दुभि के आघोष में, बाँस के फटने में, तथा वीणा के वादन में वाणी के जो विभिन्न प्रकार होते हैं वे सब ही वैखरी के प्रकार हैं (द्र० स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२६)। वस्तुतः मुख से व्यक्त होने वाली वैखरी के समान जो भी ध्वनियां दूसरों के सुनने योग्य हैं उन सबको संभवतः भर्तृहरि ने 'वैखरी' के अन्तर्गत मान लिया है।

**वैखरी कण्ठदेशगा**—यहाँ 'कण्ठ' शब्द को उपलक्षण मानना चाहिये क्योंकि 'वैखरी' की स्थिति में 'कण्ठ' के साथ साथ मुख के अन्य तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ आदि स्थानों में भी वाणी की अभिव्यक्ति होती ही है।

**['मध्यमा' तथा 'वैखरी' नाद का अन्तर]**

**वैखर्या हि कृतो नादः पर-श्रवण[1]-गोचरः।**
**मध्यमया कृतो नादः स्फोट-व्यंजक इष्यते॥**

युगपदेव मध्यमा-वैखरीभ्यां नाद उत्पद्यते। तत्र मध्यमानादो अर्थ-वाचक[2]-स्फोटात्मक-शब्द-व्यंजकः। वैखरी-नादो ध्वनिः सकल-जन-श्रोत्रमात्र-ग्राह्यो भेर्यादिवन्निरर्थकः। मध्यमा-नादश्च सूक्ष्मतरः कर्णपिधाने जपादौ च सूक्ष्मतरवायु-व्यंग्यः शब्द ब्रह्म-रूप-स्फोट-व्यंजकश्च। तादृश-मध्यमा-नाद-व्यंग्यः[3] शब्दः स्फोटात्मको ब्रह्मरूपो नित्यश्च। तद् आह हरिः—

**"अनादि-निधनं ब्रह्म शब्द-तत्त्वं यद् अक्षरम्।**
**विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ (वाप० १.१)**

'वैखरी' वाणी के द्वारा उत्पन्न नाद दूसरे के श्रोत्र का विषय बनता है तथा 'मध्यमा' वाणी से उत्पन्न नाद 'स्फोट' का व्यंजक कहा जाता है।

१. ह०—परश्रुतिमात्रगोचरः।
२. बंमि०—वाचकः।
३. ह०—नादव्यंग्य—।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(वक्ता की दृष्टि से) 'मध्यमा' तथा 'वैखरी' (वाणियों) से एक साथ नाद उत्पन्न होता है। उनमें 'मध्यमा' नाद अर्थ के वाचक 'स्फोट' रूप शब्द का अभिव्यंजक है। 'वैखरी' (से उत्पन्न) नाद रूप ध्वनि सभी व्यक्तियों के श्रोत्रमात्र से ग्राह्य है तथा भेरी आदि के नाद के समान निरर्थक है, और 'मध्यमा' नाद ('वैखरी' नाद की अपेक्षा) अधिक सूक्ष्म है। कानों को बन्द करने पर और जप आदि के समय अत्यन्त सूक्ष्म वायु से यह व्यक्त होता है तथा शब्द-ब्रह्म रूप 'स्फोट' का व्यंजक है। इस प्रकार के 'मध्यमा' नाद से व्यक्त होने वाला स्फोटात्मक शब्द ब्रह्मरूप है तथा नित्य है। उसके विषय में भर्तृहरि ने कहा है—

"जिससे जगत् का क्रिया-कलाप, अर्थ (बाह्यार्थ एवं बौद्धार्थ) रूप में विवितत होता है, तथा जो अनादि, अनन्त, अक्षर-रूप एवं शब्द-तत्वात्मक ब्रह्म है"।

ऊपर की कारिका तथा उसके बाद के गद्यांश में 'मध्यमा' वाणी के द्वारा उत्पन्न नाद तथा 'वैखरी' वाणी के द्वारा उत्पन्न नाद के अन्तर को स्पष्ट किया गया है। यहां यह कहा गया है कि 'मध्यमा' वाणी से उत्पन्न नाद अर्थ-बोधक 'शब्द' की, जिसका दूसरा नाम 'स्फोट' है, अभिव्यंजना कराता है। वैखरी नाद स्थूल होता है इसलिये उसको सभी सुन सकते हैं। परन्तु वैखरी नाद के प्रकट होने से पूर्व ही, वक्ता की दृष्टि से, मध्यमा नाद के द्वारा अर्थ के वाचक स्फोट का अभिव्यंजन हो जाने के कारण वैखरी नाद, भेरी आदि के नाद के समान, निरर्थक होता है। दूसरी ओर मध्यमा नाद अत्यन्त सूक्ष्म होता है, अतः उसे दूसरा कोई भी नहीं सुन सकता। इस मध्यमा नाद का, कानों को बन्द कर देने पर अथवा मानस जप आदि के समय, अत्यधिक सूक्ष्म वायु के द्वारा कथंचित् अनुभव हो पाता है। इस प्रकार सूक्ष्म वायु के द्वारा अभिव्यक्त यह मध्यमा नाद शब्दब्रह्म अथवा उसके दूसरे पर्याय 'स्फोट' का अभिव्यंजक होता है। इस मध्यानाद की स्थिति में ही वक्ता को वाचक शब्द तथा वाच्य अर्थ की पृथक् पृथक् रूप से स्पष्ट प्रतीति होती है। सम्भवतः यही मध्यमानाद द्वारा 'स्फोट' की अभिव्यक्ति का यहां तात्पर्य है।

इस प्रसंग को आगे इसी प्रकरण के अन्त में कहे गये "अत्रेदं बोध्यम् · ततोऽर्थ-बोधः" इत्यादि पंक्तियों की पृष्ठभूमि में समझना होगा। वक्ता की दृष्टि से पहले मध्यमा नाद उपस्थित होगा तथा उसी स्थिति में वक्ता को 'स्फोट' की प्रतीति हो जायेगी। इसके बाद वैखरी ध्वनि के द्वारा वह उस मध्यमानाद को और स्पष्ट करेगा। इसी कारण वैखरी नाद को मध्यमानाद का उत्साहक (अभिवर्धक) कहा गया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार फूत्कार आदि अग्नि के उत्साहक हैं। परन्तु वक्ता मध्य-मानाद के लगभग साथ ही वैखरी नाद का प्रकाशन करता है इसलिए एक साथ ही दोनों नादों की उत्पत्ति की बात कही गयी।

ऊपर 'मध्यमा' वाक् के वर्णन के प्रसंग में उसे 'शब्द स्फोट-रूपा' कहा गया है, अर्थात् वह 'मध्यमा' वाक् ही 'स्फोट' है। यहाँ, 'मध्यमा' वाणी से उत्पन्न मध्यमा नाद को स्फोट का अभिव्यंजक कहा गया है। यहां यह विचारणीय है कि प्राकृत ध्वनि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



को भी स्फोट का व्यंजक माना गया है तथा मध्यमानाद को भी। इन दोनों स्फोट-व्यंजकों में क्या अन्तर है? साथ ही वैखरी नाद को भेरी आदि के नाद के समान जो सर्वथा निरर्थक कहा गया है उसका अभिप्राय भी सर्वथा स्पष्ट नहीं हो पाता। यह भी ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त कारिका तथा उसकी व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किया गया यह गद्यांश दोनों ही लघुमंजूषा में नहीं मिलते। स्फोट के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन भी इस रूप में लघुमंजूषा में नही प्राप्त होता। भर्तृहरि की "अनादि-निधनम्०" कारिका भी, जिसे यहां उद्धत किया गया है, लघुमंजूषा में 'परा' वाक् के प्रसंग में ही उद्धृत है।

**अनादि-निधनं ब्रह्म**—भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की इस प्रथम कारिका में वैयाकरणों द्वारा अभिमत शब्द-ब्रह्म का स्वरूप बताया है। वैयाकरणों का ब्रह्म शब्द-तत्त्वात्मक है—अनादि, अनन्त एवं अविनाशी है। यह शब्द रूप ब्रह्म हम सबकी बुद्धि में विद्यमान अनन्त अर्थों, पदार्थों तथा अभिप्रायों, विचारों, कल्पनाओं के रूप में तथा दूसरी ओर स्थूल जगत् के सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों, वस्तुओं एवं सृष्टियों के रूप में विवर्तित अथवा आभासित होता है। इसी शब्दब्रह्म से जगत् की सम्पूर्ण प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इस कारिका से आगे की अन्य तीन कारिकाओं में भी इसी शब्दब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन मिलता है, जिनमें यह कहा गया है कि शब्दब्रह्म एक है, परन्तु अपनी अनन्त एवं विभिन्न शक्तियों का आश्रय होने से अनेक सा प्रतीत होता है, शक्तियों से सर्वथा अभिन्न होता हुआ भी भिन्न सा भासित होता है। इस शब्दब्रह्म की प्रमुख शक्ति है, काल शक्ति जिसमें शब्दब्रह्म की अन्य अनन्त शक्तियां समाश्रित हैं। यह काल शक्ति जन्म आदि छ भाव-विकारों का परम अधिष्ठान है, जो पदार्थमात्र अथवा चेष्टा या व्यापारमात्र में परस्पर भेद उत्पन्न किया करते हैं। यह शब्दब्रह्म ही सबका मूल कारण है तथा वही भोक्ता, भोक्तव्य एवं भोग सब कुछ स्वयं बना हुआ है—इत्यादि। यों तो पूरा प्रथम काण्ड ही शब्दब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादक है तथा उसकी विभिन्न विशेषताओं को स्पष्ट करता है, जिसके कारण इस काण्ड को ब्रह्मकाण्ड कहा जाता है, परन्तु इस प्रसंग में निम्न प्रारंभिक कारिकायें शब्दब्रह्म के स्वरूप की दृष्टि से विशेष महत्व की है :—

**एकम् एव यद् आम्नातं भिन्नं शक्ति-व्यपाश्रयात्।**
**अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते ॥ २**

**अध्याहित-कलां यस्य कालशक्तिम् उपाश्रिताः।**
**जन्मादयो विकाराः षड्-भाव-भेदस्य योनयः ॥ ३**

**एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयम् अनेकधा।**
**भोक्तृ-भोक्तव्य-रूपेण भोग-रूपेण च स्थितिः ॥ ४**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[स्फोट एक एवं अखण्ड है]

स च यद्यप्येकोऽखण्डश्च। तथापि पदं वाक्यम्[1]। जपा-कुसुमादि-लौहित्य-पीतत्वादि-व्यंजकोपराग-वशात्[2] लोहितः, पीतः, स्फटिक इति भानवद् वर्णादि-व्यंग्यः वर्णरूपः पदरूपो वाक्यरूपश्च। यथा च मुखे मणि-कृपाण-दर्पण-व्यंजकोपाधि-वशाद् दैर्घ्य-वर्तुलत्वादि-भानं तद्वत्। तद् उक्तम्—

**पदे न वर्णा विद्यन्ते[3] वर्णेष्ववयवा न च[4]।**
**वाक्यात् पदानाम् अप्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।**
(वा प० १. ७३)

और वह (स्फोट) यद्यपि एक तथा अखण्ड है फिर भी पद और वाक्य कहा जाता है। लाल तथा पीले आदि (रंगों) के व्यंजक जपा पुष्प आदि के उपराग (सम्पर्क) के कारण (स्वच्छ वर्ण वाला) स्फटिक लाल तथा पीला है इस प्रतीति के समान वर्ण आदि (पद तथा वाक्य) से व्यक्त होने वाला (एक एवं अखण्ड 'स्फोट') वर्णरूप, पदरूप तथा वाक्यरूप हो जाता है। और जैसे मणि, तलवार तथा दर्पण (इन) व्यंजक रूप 'उपाधियों' के कारण मुख में भी लम्बाई—गोलाई आदि की प्रतीति होती है उसी प्रकार ('स्फोट' में अभि-व्यंजक वर्ण, पद तथा वाक्य के धर्मों की प्रतीति होती है)। इस विषय में भर्तृहरि ने कहा है—

"पद में वर्ण तथा वर्णों में (उनके) अवयव नहीं होते। (इसी प्रकार) वाक्य से पदों का पार्थक्य नहीं है।"

यद्यपि वैयाकरणों की दृष्टि में 'स्फोट' एक एवं निरवयव है तथापि वर्ण, पद तथा वाक्य की 'प्राकृत' ध्वनि से वह व्यक्त हुआ करता है, इसलिये उस एक स्फोट के भी 'वर्णस्फोट' आदि भेद हो जाते हैं। 'प्राकृत' ध्वनि के द्वारा स्फोट की अभिव्यंग्यता की दृष्टि से ही 'स्फोट' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है—"स्फुटति वर्णादिभिर् अभिव्यज्यते यः स स्फोटः"।

इस प्रकार वर्णरूप 'मध्यमा' नाद से अभिव्यक्त होने वाला स्फोट 'वर्णस्फोट', पद रूप मध्यमा' नाद से व्यक्त होने वाला स्फोट 'पदस्फोट' तथा वाक्यरूप मध्यमा

१. 'तथापि पदं वाक्यम्' यह अंश यहां सर्वथा असंगत एवं अनावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि यहीं आगे 'स्फोट' के लिये 'वर्णरूपो पदरूपो वाक्यरूपश्च' की बात कही गयी है।

२. ह०-वशात्

३. ह०-दावयेष्व—।

४. वाक्यपदीय में 'अवयवा इव' तथा 'अवयवा न वा' पाठभेद मिलते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



नाद से व्यक्त होने वाला स्फोट 'वाक्यस्फोट' है। व्यङ्ग्य में व्यंजक का धर्म आभासित होता है तथा उपधेय में उपाधि की विशेषता संक्रान्त हुई प्रतीत होती है। जैसे—लाल अथवा पीले जपा आदि के फूलों (उपाधि) की लालिमा, पीतिमा से उपरक्त सफेद स्फटिक (उपधेय) भी लाल, पीला आदि दिखाई देने लगता है। इस विषय में भर्तृहरि की निम्न कारिका द्रष्टव्य है—

**यथा रक्तगुणे तत्त्वं कषाये व्यपदिश्यते।**
**संयोगि-सन्निकर्षात् तु वस्त्रादिष्वपि गृह्यते ॥ (वाप० ३.१.७)**

जिस प्रकार लाल गुण में रहने वाली लालिमा का प्रयोग लाल गुणयुक्त कषाय रूप द्रव्य के लिये, 'यह लाल है' इस रूप में, किया जाता है, उसी प्रकार 'संयोगी' (कषायभूत द्रव्य) के 'सन्निकर्ष' (सम्बन्ध) से वस्त्र आदि में भी रक्तता धर्म की प्रतीति होती है।

तो जिस प्रकार रक्त द्रव्य गेरु आदि के विषय में 'यह लाल है' इस प्रकार का प्रयोग किया जाता है तथा कषायभूत द्रव्य के सम्बन्ध से वस्त्र को लाल कह दिया जाता है उसी प्रकार 'स्फोट' में भी, अभिव्यंग्य तथा अभिव्यंजक के सम्बन्ध के कारण, वर्ण, पद तथा वाक्य का व्यवहार होता है।

व्यंजक या 'उपाधि' का धर्म व्यंग्य या उपधेय में प्रतिबिम्बित होता है इस कथन के पोषण के लिये दूसरा उदाहरण यहां मणि, कृपाण आदि का दिया गया है। जिस प्रकार व्यङ्ग्य मुख व्यञ्जक मणि में, उसकी गोलाई के कारण, गोल दिखाई देता है तथा कृपाण में, उसकी लम्बाई के कारण, लम्बा दिखाई देता है उसी प्रकार व्यङ्ग्य 'स्फोट' में व्यंजक वर्ण आदि के धर्मों के प्रतीति होती है। भर्तृहरि के नाम से वैयाकरणभूषण (LXVI, पृ० २५२) में उद्धृत निम्न कारिका में इसी उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है :—

**यथा मणि-कृपाणादौ रूपम् एकम् अनेकधा।**
**तथैव ध्वनिषु स्फोट एक एव विभिद्यते ॥**

**उपाधि**—'उप-समीपवर्तिनि स्वीयं धर्मम् आदधाति इति उपाधिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यंजक को ही यहां 'उपाधि' से विशेषित किया गया है क्योंकि व्यञ्जक अपने धर्म का आधान व्यङ्ग्य में करता ही है।

**पदे न वर्णा विद्यन्ते०**—भर्तृहरि आदि वैयाकरण न तो वाक्य में पदों की सत्ता मानते है और न पदों में वर्णों की। भर्तृहरि का कहना है कि यदि पदों के समुदाय को तथा वर्णों के समुदाय को क्रमशः वाक्य तथा पद माना गया तो वर्णों में भी, अणु में परमाणु के समान, विभिन्न वर्णांशों या खण्डों की सत्ता माननी होगी तथा इन खण्डों के क्रमशः उच्चरित होने, और इस रूप में एक साथ न उपस्थित होने तथा एक दूसरे से असंस्पृष्ट रहने के कारण न तो एक वर्ण की स्थिति सम्भव होगी, न एक पद की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



और न एक वाक्य को। फिर ऐसी अवस्था में किसको अर्थ का वाचक माना जायगा (द्र०—वाप० २. २८-२९)। इसलिये वैयाकरण न तो शब्द को विभक्त मानता है और न अर्थ को।

'पदे न वर्णा विद्यन्ते०' इस कारिका को वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस कारिका में 'शब्द-नानात्व', अर्थात् वर्ण, पद तथा वाक्य तीनों ही पृथक् पृथक् हैं, तीनों ही सत्य हैं, तीनों में अवयव-अवयवी की स्थिति स्वीकार्य नहीं है, के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि इस कारिका की व्याख्या से पूर्व,

**पदभेदेऽपि वर्णानाम् एकत्वं न निवर्तते ।**
**वाक्येषु पदम् एकञ्च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते ॥**
**न वर्ण-व्यतिरेकेण पदम् अन्यच्च विद्यते ।**
**वाक्यं वर्ण-पदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किंचन ॥**

(वाप० १.७१-७२)

इन दो कारिकाओं में, 'शब्दैकत्ववाद' को प्रस्तुत करते हुए यह कहा गया कि, गौ, गवय, गगन आदि पदों के भिन्न भिन्न होने पर भी गकार आदि वर्ण एक हैं यह प्रतीति होती ही है। इसलिये भिन्न पदों में भी वर्णों की एकता स्थित रहती है। तथा इसी तरह, 'गाम् आनय', 'गां दोग्धि' इत्यादि, भिन्न भिन्न वाक्यों में 'गो' आदि पदों की एकता का ज्ञान भी बना ही रहता है। इसलिये, भिन्न भिन्न वाक्यों में विद्यमान वे वे पद भी एक ही हैं। इस प्रकार वर्णों तथा पदों की एकता के सिद्ध हो जाने पर वर्ण ही पद हैं तथा पद ही वाक्य हैं। इसलिए वर्ण तथा पद से कुछ अतिरिक्त (अधिक) वाक्य नहीं है। पद वर्ण से अधिक (भिन्न) नहीं है किन्तु वर्ण ही पद हैं तथा वाक्य वर्ण और पद से अधिक कुछ नहीं है।

इस रूप में 'एकत्ववाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर देने के उपरान्त 'अपर आह' कह कर स्वोपज्ञटीकाकार ने "पदे न वर्णा विद्यन्ते"० कारिका को प्रस्तुत किया है जिससे यह स्पष्ट है कि वे इस कारिका में 'शब्दनानात्ववाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन मानते हैं।

परन्तु नागेश ने यहाँ स्फोटैकत्ववाद के जिस प्रसंग में इस कारिका को उद्धृत किया है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे इस कारिका को भी 'शब्दैकत्ववाद' का ही प्रतिपादक मानते हैं। वस्तुतः नागेश को यहाँ यह कारिका उद्धृत न करके उपरि निर्दिष्ट "पदभेदेऽपि वर्णानाम्०" तथा "न वर्णव्यतिरेकेण०" कारिकाओं को उद्धृत करना चाहिए जिनमें, वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका के अनुसार, 'शब्दैकत्ववाद' का प्रतिपादन किया गया है।

ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि नागेश भट्ट ने भट्टोजी दीक्षित के वैयाकरण सिद्धान्त कारिका तथा, उसकी कौण्डभट्ट द्वारा विरचित व्याख्या, वैयाकरण-भूषण से प्रभावित होकर ही भर्तृहरि की "पदे न वर्णा विद्यन्ते०" कारिका को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'शब्दनानात्ववाद' की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि, वाक्यपदीय की अन्य अनेक कारिकाओं के समान, इस कारिका को भी भट्टोजी दीक्षित ने अपनी, व्याकरण सम्बन्धी, कारिकाओं में समाविष्ट कर लिया है। वैभूसा० में इस कारिका की उपक्रमणिका में कौण्डभट्ट ने स्पष्टतः कहा है—"इदानीम् अखण्ड-पक्षम् आह— "पदे न वर्णा विद्यन्ते०" (द्र०—वैभूसा०, पृ० ४६१)।

[ कत्व', 'गत्व' आदि का स्फोट में आभास तथा उसका कारण]

किं च व्यंजक-ध्वनि-गत[1]-कत्व-गत्वादिकं स्फोटे भासते। बिम्ब-गत-धर्म-वैशिष्ट्येनैव प्रतिबिम्बस्य लोकेऽवधारणात्[2]। व्यंजक-रूपितस्यैव[3] स्फटिकादेर् भानाच्च। यथा चैकस्य आकाशस्य 'घटाकाशः', 'महाकाशः' इत्यौपाधिको भेदः, यथा चैकस्यैव चैतन्यस्य औपाधिको जीवेश्वरभेदो जीवानां च परस्पर-भेदः, एवं स्फोटे व्यंजक-ध्वनि-गत-कत्व-गत्वादि-भानात् ककारो बुद्ध इत्यौपाधिको भेद-व्यवहारः। 'औपाधिको भेदः' इत्यत्र उपाधिः घट-कत्वादिर्[4] भिन्नः, उपधेयस् तु आकाश-स्फोटादिर् एक एव इति तात्पर्यम्। पद-वाक्ययोः सखण्डत्व-पक्षे त्वन्तिम-वर्ण-व्यंग्यः स्फोट एक एव। पूर्व-पूर्व-वर्णास्तु तात्पर्य-ग्राहकः। न्याय-नये 'चित्रगुः' इत्यादौ चित्रादि-पदवत्।

इसके अतिरिक्त व्यंजक ध्वनि के कत्व, गत्व, आदि (धर्म) स्फोट में आभासित होते हैं क्योंकि लोक में बिम्ब (व्यंजक) के धर्म-विशेष के साथ ही प्रतिबिम्ब (व्यंग्य) का ज्ञान होता है तथा व्यंजक (के रूप) से युक्त स्फटिक का बोध होता है। और जिस प्रकार एक आकाश के 'घटाकाश' तथा 'महाकाश' आदि औपाधिक (विशेषण-कृत) भेद होते हैं तथा जिस प्रकार एक चैतन्य के उपाधिकृत जीव और ईश्वर तथा जीवों के (शरीर-रूप उपाधि-

१. ह०—ध्वनिगतम्।
२. ह०—अवधारणानुभवात्।
३. ह०—व्यंजकरूपरूपिकस्यैव। बंभि०—व्यंजकरूपरूपितस्यैव।
४. ह०—उपाधिघटकत्वादिभिन्नः। बंभि०—उपाधिः कत्वादिभिन्न—। निस०—उपाधिः कत्वादिभिन्नः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कृत) पारस्परिक भेद होते हैं, इसी प्रकार 'स्फोट' में भी, (उसके) व्यंजक ध्वनि कत्व, गत्व आदि धर्मों का ज्ञान होने के कारण, 'ककार का बोध हुआ' इस प्रकार का उपाधिकृत भेद-व्यवहार होता है। 'औपाधिक भेद है' इसका तात्पर्य यह है कि 'उपाधियाँ' ('घटाकाश' की दृष्टि से) घट तथा ('क' रूप 'स्फोट' की दृष्टि से) कत्व, आदि भिन्न भिन्न हैं। परन्तु उपधेय (व्यंग्य) 'आकाश' तथा 'स्फोट' आदि तो एक ही हैं।

पद तथा वाक्य के सखण्डत्व पक्ष में तो (शब्दों के) अन्तिम वर्ण से व्यक्त होने वाला स्फोट एक ही है। पहले-पहले के वर्ण तो (अन्तिम वर्ण से व्यक्त होने वाले स्फोट के) उसी प्रकार तात्पर्य-ग्राहक हैं जिस प्रकार, न्याय दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार, 'चित्रगुः' इत्यादि प्रयोगों में 'चित्र' आदि (अन्तिम 'गो' पद के अर्थ 'चित्र गौ का स्वामी' के) केवल तात्पर्य-ग्राहक हैं।

यहां 'क' आदि वर्णों के धर्म 'स्फोट' में क्यों भासित होते हैं? इसका उत्तर यह दिया गया है कि 'स्फोट' बिम्ब (व्यंग्य) है तथा 'क' आदि वर्णों की ध्वनि उसका प्रतिबिम्ब (व्यंजक) है। व्यंजक 'का' धर्म व्यंग्य में आ ही जाता है, इसलिये व्यंजक 'क' आदि वर्णात्मक ध्वनियों के धर्म, कत्व आदि, से स्फोट का युक्त होना स्वाभाविक ही है।

व्यंग्य तथा व्यंजक अथवा उपधेय और उपाधि के दो और उदाहरण देकर इस बात की पुष्टि की गयी है। वे उदाहरण हैं—'आकाश' तथा 'चैतन्य'। एक ही आकाश अपनी उपाधि 'घट' आदि के कारण उन-उन धर्मों से युक्त होकर भिन्न-भिन्न भासने लगता है। परन्तु वस्तुतः वह एक है। एक ही चैतन्य के, शरीर तथा सम्पूर्ण जगत् इन दो उपाधियों के कारण, जीव तथा ईश्वर ये दो भेद हो जाते हैं। परन्तु इन उपाधियों में संक्रान्त होने वाला चैतन्य वस्तुतः एक ही माना जाता है। इसी प्रकार एक ही 'स्फोट', अनेक 'क' आदि उपाधियों के कारण, 'कत्व' आदि अनेक रूपों में विभक्त सा प्रतीत होता है।

**पदवाक्ययोः सखण्डत्वपक्षे**—ऊपर शक्ति-निरूपण के प्रारम्भ में ही 'स्फोट' के आठ भेद दिखाये गए हैं। वहां 'पदस्फोट' तथा 'वाक्यस्फोट' के पहले दो विभाग किये गये हैं—'पदव्यक्तिस्फोट' तथा 'पदजातिस्फोट', 'वाक्यव्यक्तिस्फोट' तथा 'वाक्यजातिस्फोट'। 'जाति' अखण्ड मानी गयी है, इसलिये उसमें अखण्ड तथा सखण्ड भेद नहीं किये गये। परन्तु 'पदव्यक्तिस्फोट' तथा 'वाक्यव्यक्तिस्फोट' में खण्ड की कल्पना हो सकती है, इसलिये इनके पुनः दो भेद किये गये—'सखण्डपदव्यक्तिस्फोट' तथा 'अखण्डपद-व्यक्तिस्फोट' और इसी प्रकार 'सखण्डवाक्यव्यक्तिस्फोट' तथा 'आखण्डवाक्यव्यक्ति-स्फोट'। इस सखण्ड विभाग की दृष्टि से ही 'स्फोट' की एकता का प्रतिपादन नागेश यहां की अन्तिम पंक्तियों में कर रहे हैं।

**न्यायनये 'चित्रगुः' इत्यादौ चित्रादिपदवत्**—वैयाकरण विद्वान् समास में शक्ति मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'राजपुरुषः' या 'चित्रगुः' एक समस्त एवं अविभाज्य शब्द है तथा 'राजा का पुरुष' या 'चितकबरी गाय वाला आदमी' ये अर्थ पूरे, अविभक्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



समस्त, पद के हैं। 'राजन्' तथा 'पुरुष' या 'चित्र' तथा 'गो' का समास में अलग अलग अर्थ नहीं है। द्र०—

**ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।**
**देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः॥** (वाप० २. १८)

परन्तु नैयायिक विद्वान् ऐसा नहीं मानते। वे समास में शक्ति न मान कर अलग-अलग पदों का अलग अलग अर्थ करते हैं तथा, 'लक्षणा' वृत्ति के आधार पर, अवयव भूत पदों से ही, समास से प्रगट होने वाले अर्थ का प्रकाशन मानते हैं। यहाँ 'न्यायनये' कह कर नागेश ने नैयायिकों के इसी सिद्धान्त की ओर संकेत किया है। समास में 'शक्ति' न मानने के कारण इन्हें 'व्यपेक्षावादी' कहा जाता है।

कुछ नैयायिक विद्वान् 'चित्रगुः' पद में 'गो' पद की 'गोस्वामी' अर्थ में लक्षणा' करते हैं तथा 'गौ' में 'चित्र' का अभेद-सम्बन्ध से अन्वय करते हैं। परन्तु दूसरे नैयायिक 'गो' पद की 'गोस्वामी' में लक्षणा नहीं करना चाहते क्योंकि "पदार्थ का पदार्थ के साथ ही अन्वय हो सकता है, पदार्थ के एक देश के साथ नहीं"—यह एक न्याय है। यहां 'गो' पद के अर्थ 'गो-स्वामी' का 'गो' रूप अर्थ 'पदार्थैकदेश' है, इसलिये उसमें 'चित्र' के पदार्थ का अन्वय नहीं हो सकता। इस कारण ये दूसरे नैयायिक 'गो' पद की 'चित्र-गो-स्वामी' अर्थ में 'लक्षणा' करते हैं तथा 'चित्र' पद को 'गो' पद के इस विशिष्ट अर्थ का द्योतक मानते हैं।

तो जिस प्रकार ये नैयायिक 'चित्रगुः' शब्द में 'गो' पद को ही 'चित्र-गो-स्वामी' इस पूरे अर्थ का, 'लक्षणा' वृत्ति से, बोधक मानते हैं तथा 'चित्र' पद को 'गो' पद के उस विशिष्ट तात्पर्य का द्योतकमात्र मानते हैं, उसी प्रकार 'पदस्फोट' तथा 'वाक्यस्फोट' की सखण्डता के पक्ष में पदों तथा वाक्यों में अन्तिम वर्ण से 'स्फोट' की अभिव्यक्ति माननी चाहिये। अन्तिम वर्ण से अभिव्यक्त होने वाला यह 'स्फोट' एक है, पद या वाक्य के पहले पहले के वर्ण तो केवल उस तात्पर्य के द्योतकमात्र हैं।

**[दो प्रकार की ध्वनियां]**

ध्वनिस्तु द्विविधः प्रकृतो वैकृतश्च। प्रकृत्या[1] अर्थबोधनेच्छया स्वभावेन वा जातः स्फोट-व्यंजकः; प्रथमः प्राकृतः[2]। तस्मात् प्रकृताज् जातो विकृति-विशिष्टश चिर-स्थायी निवर्तको वैकृतिकः। **हरिर्** अप्याह—

---

१. वाम०—प्रकृतार्थ।

२. ह० में 'प्राकृतः' पद अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिर् इष्यते[1] ॥**
(वाप० १.७६ की स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत)

**शब्दस्योर्ध्वम् अभिव्यक्तेर् वृत्ति-भेदे तु वैकृताः ।**
**ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥**
(वाप०, १.७८)

शब्दस्य अभिव्यक्तेरूर्ध्वं वैकृता ध्वनयः, 'जायन्ते' इति शेषः । 'वृत्तिभेद' इति—

**अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिर्मध्या वै चिन्तने स्मृता ।**
**शिष्याणाम् उपदेशार्थं वृत्तिरिष्टा विलम्बिता[2] ॥**

इति तिसृषु वृत्तिषु 'समुपोहन्ते'—कारणानि भवन्ति । स्फोटस्तु तैर्न भिद्यते इति तदर्थः ।

ध्वनि दो प्रकार की होती है—'प्राकृत' तथा 'वैकृत' । 'प्रकृति' (अर्थात्) अर्थ-ज्ञापन की इच्छा, अथवा स्वभाव, से उत्पन्न तथा स्फोट की अभिव्यक्ति कराने वाली (ध्वनि) प्रथम अथवा 'प्राकृत' है । उस 'प्राकृत' (ध्वनि) से उत्पन्न, (तथा) विकारों से युक्त एवं चिरकाल तक रहने वाली (ध्वनि) 'वैकृत' है । भर्तृहरि भी कहते हैं—

'स्फोट' की अभिव्यक्ति में 'प्राकृत' ध्वनि हेतु है तथा, 'स्फोट' की अभिव्यक्ति के उपरान्त, (द्रुत आदि) वृत्तियों की भिन्नता में 'वैकृत' (ध्वनियाँ) हेतु हैं । उनके कारण स्फोट के स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं आती ।

(भर्तृहरि की कारिका में) 'शब्द' की अभिव्यक्ति के उपरान्त 'वैकृत' ध्वनियां 'उत्पन्न होती हैं' यह (कथन) शेष है ।' वृत्तिभेदे' (वृत्तियों की भिन्नता इस प्रकार है)—

"अभ्यास के लिये द्रुता वृत्ति तथा चिन्तन के समय मध्या (वृत्ति) कही गयी है । शिष्यों के उपदेश के लिये विलम्बित वृत्ति अभीष्ट है ।"

---

१. तुलना करो—वाक्यपदीय स्वोपज्ञटीका १.७६, —
एवं हि संग्रहकार. पठति—
शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।
स्थिति-भेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥

२. तुलना करो—महा० उद्द्योत टीका १.१.६८ में उद्धृत ;
अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिः प्रयोगार्थे तु मध्यमा ।
तथा याज्ञवल्क्यस्मृति (५२) में उद्धृत,—
अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम् ।
शिष्याणाम् उपदेशार्थां कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम् ॥
लघुमंजूषा (पृ० २००) के इस प्रसंग में ऊपर का 'अभ्यासार्थे द्रुता०'' श्लोक उद्धृत नहीं है ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इन तीन वृत्तियों में 'वैकृत' ध्वनियां कारण होती हैं। इनके कारण स्फोट में भेद नहीं आता। यह उस (भर्तृहरि की कारिका) का अर्थ है।

वैयाकरणों की दृष्टि में 'स्फोट' या शब्द नित्य, अखण्ड, एक एवं अविभाज्य है तथा वह मध्यमा नाद के द्वारा पहले अभिव्यक्त होता है, अर्थात् वाणी की मध्यमा स्थिति के समय सर्वप्रथम उसकी अभिव्यक्ति होती है इस तथ्य का स्पष्टीकरण पहले किया जा चुका है (द्र०—पूर्व पृ० ९६-९७)।

**'प्राकृत' तथा 'वैकृत' ध्वनियां**—यहां उसी नाद को दो प्रकार की ध्वनियों में विभक्त किया गया है—'प्राकृत' तथा 'वैकृत'। इनमें 'प्राकृत' वह प्रथम ध्वनि है जिससे 'स्फोट' या शब्द प्रथमतः श्रवणगोचर होता है या अभिव्यक्त होता है। 'प्रकृत्या जातः प्राकृतः' इस विग्रह के अनुसार प्रकृति अर्थात् 'स्फोट' या शब्द की अभिव्यक्ति की दृष्टि से जिस की उत्पत्ति हुई वह 'प्राकृत' ध्वनि है। वक्ता 'स्फोट' की अभिव्यक्ति के लिये 'प्राकृत' ध्वनि को उत्पन्न करता है या दूसरे शब्दों में 'स्फोट' ही 'प्राकृत' ध्वनि के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसलिये 'स्फोट' को 'प्राकृत' ध्वनि का कारण अथवा प्रकृति माना गया है। नागेश ने 'प्रकृति' का अर्थ 'अर्थबोधनेच्छा' किया है। इसका अभिप्राय है अर्थ को बताने के लिये स्फोट की अभिव्यक्ति।

'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति —'प्रकृतौ भवः प्राकृतः' (प्रारम्भ में होने वाला) भी की जा सकती है। शब्दाभिव्यक्ति में सबसे पहले यही ध्वनि उपस्थित होती है। उसके बाद 'वैकृत' ध्वनि के द्वारा विभिन्न वृत्तियों से युक्त शब्द का श्रवण होता है।

वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में 'प्राकृत' ध्वनि उसे कहा गया है, जिसके अभाव में स्फोट' का स्वरूप अनभिव्यक्त होने के कारण परिज्ञात नहीं हो पाता। द्र०—"प्राकृतो नाम येन विना स्फोट-रूपम् अनभिव्यक्तं न परिच्छिद्यते" (चारुदेव संस्करण पृ० ७८)। यहीं 'वैकृत' ध्वनि की परिभाषा में यह कहा गया कि अभिव्यक्ति के उपरान्त जिससे स्फोट निरन्तर अधिक काल तक—जब तक ध्वनि समाप्त नहीं हो जाती तब तक—सुनाई देता रहता है वह 'वैकृत' ध्वनि है। द्र०—"वैकृतस्तु येनाभिव्यक्तिं स्फोटरूपं पुनः पुनरविच्छेदेन प्रचिततरं कालम् उपलभ्यते" (वही)।

स्वोपज्ञ टीका के व्याख्याकार वृषभदेव ने 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि ध्वनि तथा स्फोट की पृथक् पृथक् उपलब्धि न होने कारण स्फोट को ध्वनि की प्रकृति सा माना जाता है। उस प्रकृतिभूत 'स्फोट' की अभिव्यक्ति में हेतु होने के कारण प्रथम ध्वनि को 'प्राकृत' ध्वनि कहते हैं। 'प्राकृत' ध्वनि के उपरान्त होने वाली ध्वनि 'प्राकृत' ध्वनि से विलक्षण होती है तथा उस ध्वनि में 'स्फोट' के साथ विकारों का सम्बन्ध प्रतीत होता है, इसलिये इस उत्तरकालीन ध्वनि को 'वैकृत' ध्वनि कहा जाता है। द्र०—"ध्वनिस्फोटयोः पृथक्त्वेनानुपलम्भात् तं स्फोटं तस्य ध्वनेः प्रकृतिम् इव मन्यन्ते। तत्र भवः 'प्राकृतः'। तदुत्तरकालभावी तस्माद् विलक्षण एवोपलभ्यते इति विकारापत्तिरिव स्फोटस्य इति 'वैकृत' उच्यते" (वही)।

'प्राकृत' ध्वनि के बिना 'स्फोट' या 'शब्द' का श्रवण नहीं हो पाता इसलिये उसे एक तरह से 'स्फोट' का ही स्वरूप मान लिया गया है तथा उसमें 'प्राकृत'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



ध्वनि के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि धर्मों का, 'लक्षणा' वृत्ति द्वारा, आरोप कर लिया गया। द्र०—

**स्वभावभेदान् नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।**
**प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते॥ (वाप०, १.७६)**

स्वरूप की दृष्टि से नित्य होने पर भी ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि स्थितियों में 'प्राकृत' ध्वनि का जो काल है उसे शब्द का मान लिया जाता है।

**शब्दस्योर्ध्वम् अभिव्यक्तेः**—केवल 'प्राकृत' ध्वनि के धर्मों को ही 'स्फोट' या 'शब्द' का धर्म क्यों माना जाता है, "वैकृत" ध्वनि के 'द्रुत' आदि वृत्तियों को 'स्फोट' का धर्म क्यों नहीं माना जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ उद्धृत भर्तृहरि की कारिका में मिल जाता है और वह यह कि 'स्फोट' के अभिव्यक्त हो जाने के पश्चात् 'वैकृत' ध्वनि अपने विकारों के साथ उपस्थित होती है। इस प्रकार 'स्फोट' तथा 'वैकृत' ध्वनि में स्पष्टतः भेद के प्रगट हो जाने के कारण 'वैकृत' ध्वनि के धर्मों को 'स्फोट' में अध्यारोपित नहीं किया जाता। द्र०—"तस्माद् उपलक्षित-व्यतिरेकेण वैकृतेन ध्वनिना सम्प्रयुज्यमानोऽपि स्फोटात्मा तादरूप्यस्य अनध्यारोपात् शास्त्रे ह्रस्वादिवत् कालभेद-व्यवहारं नावतरति" (स्वोपज्ञ टीका, पृ० ८०)।

**'जायन्ते' इति शेषः**—"शब्दस्योर्ध्वम् अभिव्यक्तेः०" इस कारिका के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए नागेश ने 'जायन्ते' इस क्रियापद का अध्याहार किया है। इनके अनुसार इस कारिका का अन्वय होगा—"शब्दस्य अभिव्यक्तेः ऊर्ध्वं वैकृता ध्वनयः जायन्ते। ते च जाताः (द्रुतादि-) वृत्तिभेदे 'समुपोहन्ते' (कारणानि भवन्ति)।" अर्थात् शब्द की अभिव्यक्ति के उपरान्त 'वैकृत' ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। उत्पन्न हुई वे 'वैकृत' ध्वनियां 'द्रुत' आदि वृत्तियों की भिन्नता में कारण बनती हैं। वस्तुतः इस 'जायन्ते' क्रिया के अध्याहार की कोई आवश्यकता यहां नहीं है, क्योंकि 'वैकृताः' पद 'ध्वनयः' का विशेषण है तथा 'ध्वनयः' 'समुपोहन्ते' इस क्रिया का कर्ता है। अतः उस क्रिया से यहां अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

**[ 'वैखरी' नाद तथा 'मध्यमा' नाद का, उदाहरण द्वारा, स्पष्टीकरण]**

अत्रेदं बोध्यम्—
केनचिद् 'घटम् आनय' इति 'वैखरी' नादः प्रयुक्तः। स[1] केनचित् श्रोत्रेन्द्रियेण[2] गृहीतः। स नाद इन्द्रियद्वारा बुद्धिहृद्गतः सन् अर्थबोधकं शब्दं स्व-निष्ठ-कत्वादिना व्यञ्जयति। तस्माद् अर्थबोधः। 'स्फुटत्यर्थोऽस्माद्' इति व्युत्पत्त्या[3] 'स्फोटः'।

---

१. ह० में अनुपलब्ध।
२. ह०—कर्णे—।
३. ह० में इसके बाद 'अत एव' पाठ अधिक है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



उच्चारयितुस्तु युगपदेव 'मध्यमावैखरीभ्यां' नाद उत्पद्यते। तत्र 'वैखरी'-नादो वह्नेः फूत्कारादिवन् 'मध्यमा'-नादोत्साहकः। 'मध्यमा'-नादः स्फोटं व्यञ्जयति इति शीघ्रमेव ततोऽर्थबोधः। परस्य विलम्बेन अनुभव-सिद्धत्वात्।

अत एव "श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः" (महा०, भा० १, पृ० ९५) इत्याकरग्रन्थः सङ्गच्छते। कत्वादिना श्रोत्रोपलब्धित्वं स्फोटात्मक-पदादि-रूपेण तु[1] बुद्धि-निर्ग्राह्यत्वम्। स च प्रयोगेण 'वैखरी' रूपेण अभिज्वलितः स्वरूपरूपितः कृत इति तदर्थः।

यहां यह जानना चाहिये—किसी के द्वारा 'घटम् आनय' इस 'वैखरी' नाद (ध्वनि) का उच्चारण किया गया। उस (ध्वनि) को किसी ने श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया। वह ध्वनि श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा बुद्धि तथा हृदय में जाकर अर्थ-बोधक शब्द को, अपने 'कत्व' आदि के द्वारा, व्यक्त करता है। उस (अभिव्यक्त 'स्फोट') से अर्थ का ज्ञान होता है। 'स्फुटत्यर्थोऽस्मात्' (इससे अर्थ का प्रकाशन होता है) इस व्युत्पत्ति से (अर्थ-वाचक शब्द को) 'स्फोट' कहा जाता है।

उच्चारण करने वाले (व्यक्ति) से 'मध्यमा' तथा 'वैखरी' (वाणी की इन अवस्थाओं) द्वारा एक साथ ही ध्वनि उत्पन्न होती है। उनमें 'वैखरी' नाद, फूंकने से जिस प्रकार आग बढ़ती है उसी प्रकार, 'मध्यमा' नाद को बढ़ाने वाला है। 'मध्यमा' नाद 'स्फोट' को अभिव्यक्त करता है। इस तरह (उच्चारयिता को) उस (व्यक्त 'स्फोट') से शीघ्र ही अर्थ का ज्ञान हो जाता है। (परन्त) दूसरे (श्रोता) को देर से (अर्थ का ज्ञान होता है यह) अनुभवसिद्ध है।

इसीलिए ('स्फोट' को स्वीकार करने के कारण ही) "कानों से जिसका श्रवण होता है, बुद्धि से जिसका अर्थ ज्ञात होता है, उच्चारण से जिसकी अभिव्यक्ति होती है तथा जो आकाश में रहता है वह शब्द है" यह भाष्य (-वचन) सुसङ्गत होता है। "कत्व" आदि ध्वनि रूप से श्रोत्र द्वारा उस 'स्फोट' का ग्रहण होता है। 'पद-स्फोट' आदि (तथा 'वाक्य-स्फोट') रूप से उस 'स्फोट' का बुद्धि के द्वारा ज्ञान होता है और वह (स्फोट) 'वैखरी' ध्वनिरूप प्रयोग से अभिव्यक्त होता है—अपने रूप ('कत्व' आदि) से युक्त किया जाता है" यह उस (भाष्य-पंक्ति) का अर्थ है।

१. ह० में नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यहाँ श्रोता तथा वक्ता दोनों की दृष्टि से 'स्फोट' के द्वारा अर्थाभिव्यक्ति का क्रम बताया गया। 'वैखरी' नाद के द्वारा 'शब्द' श्रोता के कानों तक पहुँचता है और फिर कानों से बुद्धि तथा हृदय में पहुँचकर वह श्रोता को अर्थ का बोध कराता है। परन्तु वक्ता की दृष्टि से तो एक साथ ही 'मध्यमा' तथा 'वैखरी' वाणियों द्वारा नाद या ध्वनि की उत्पत्ति होती है।

नागेश ने ऊपर परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणियों की चर्चा करते समय भी इस बात का उल्लेख किया है—"युगपदेव मध्यमा-वैखरीभ्यां नाद उत्पद्यते। तत्र मध्यमा नादोऽर्थवाचक-स्फोटात्मक-शब्द-व्यञ्जकः।" वहां भी वक्ता की दृष्टि से ही 'मध्यमा' तथा 'वैखरी' द्वारा एक साथ नादोत्पत्ति की बात कही गयी है।

**प्रयोगेणाभिज्वलितः**—यहां विद्यमान 'प्रयोग' शब्द का अभिप्राय नागेश ने 'वैखरी' ध्वनि किया है। सामान्यतया 'प्राकृत' ध्वनि से ही स्फोट की अभिव्यक्ति भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने मानी है जिसका निदर्शन ऊपर हो चुका है। परन्तु यहां 'स्फोट' की परश्रवणगोचरता (दूसरे के द्वारा सुनाई देने की योग्यता) का प्रसंग होने के कारण 'वैखरी' ध्वनि ही 'प्रयोग' का पद अभिप्राय होना चाहिये। क्योंकि 'वैखरी' रूप से ही 'स्फोट' दूसरों के लिए श्रव्य या अभिव्यक्त होता है। "स्फोटः' शब्दो ध्वनिः शब्द-गुणः" (महा० १.१.६९) इस कथन में भी पतंजलि के 'ध्वनि' का अभिप्राय 'वैखरी' ध्वनि ही मानना चाहिये। अन्यथा 'ध्वनि-कृता वृद्धिः' यह भाष्यकार का कथन असङ्गत हो जायेगा, क्योंकि 'वृद्धि' आदि विकार 'वैखरी' ध्वनि के ही धर्म माने गये हैं।

**['जाति' ही वास्तविक 'स्फोट' है]**

तत्रापि शक्यत्वस्येव शक्ततावच्छेदिकाया वर्ण-पद-वाक्य-निष्ठ-जातेः वाचकत्वम्। तदुक्तम् :—

**अनेक-व्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।** इति।

(वाप० १.९३)

तस्माद् अष्टविध-स्फोटात्मकः शब्दो वृत्त्याश्रयः। वस्तुतस्तु वाक्यस्फोटो वाक्यजातिस्फोट एव वृत्त्याश्रयः। तत एव लोके अर्थबोध इत्याद्युक्तत्वात्। इति सर्वं सुस्थम्।

## इति स्फोट-निरूपणम्

उन ('पद-स्फोट' तथा 'वाक्य-स्फोटों' में भी (घट, पट आदि अर्थों में रहने वाली घटत्व पटत्व आदि 'जातियों' की) वाच्यता के समान वाचकता में रहने वाली ('घट', 'पट' आदि पद-निष्ठ घट-पदत्व, पट-पदत्व आदि) 'जाति', जो वर्ण, पद तथा वाक्य में रहती है, उसी में (वास्तविक) वाचकता है। इसी (बात) को (भर्तृहरि ने) कहा है—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



"अनेक ('घट' 'पट', आदि पद रूप) 'व्यक्तियों' से अभिव्यक्त होने वाली 'जाति' ही 'स्फोट' है"।

इसलिये आठ प्रकार का 'स्फोट' रूप 'शब्द' ही 'वृत्तियों' का आश्रय है। वास्तव में तो 'वाक्य-स्फोट' या (और स्पष्ट शब्दों में) 'वाक्य-जातिस्फोट' ही 'वृत्तियों' का आश्रय है, क्योंकि उससे ही लोक में अर्थ का ज्ञान होता है, इत्यादि बातें पहले कही जा चुकी हैं। इस प्रकार ('स्फोट' के मानने पर) सब सुसङ्गत हो जाता है।

यह 'स्फोट'-विषयक विवेचन समाप्त हुआ।

**जातेर्वाचकत्वम्**—व्यावहारिक बुद्धि के सन्तोष अथवा व्याकरण आदि शास्त्रों की प्रक्रिया के निर्वाह के लिये यद्यपि 'स्फोट' के अनेक भेद किये जाते हैं, परन्तु वास्तविक 'स्फोट' या अर्थवाचक शब्द तो 'जाति स्फोट' ही है, जिसमें किसी प्रकार के विभाग के लिये कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः 'व्यक्तियों' का पर्यवसान भी जाति में ही होता है।

जिस प्रकार अनेक दार्शनिक (मीमांसक आदि) यह मानते हैं कि शब्द से पूरी 'जाति' का बोध होता है अथवा पदार्थों में रहने वाली 'जाति' ही वाच्य है, यह दूसरी बात है कि, 'जाति' 'व्यक्ति' से पृथक् नहीं होती—'व्यक्ति' में ही 'जाति' समाविष्ट रहा करती है– इसलिये, शब्दों से 'व्यक्ति' का भी बोध हो जाता है। उसी प्रकार यह भी मानना चाहिये कि 'वर्णस्फोट' की दृष्टि से 'वर्णजाति', 'पदस्फोट' की दृष्टि 'पदजाति' तथा 'वाक्यस्फोट' की दृष्टि से 'वाक्यजाति' को ही वास्तविक 'स्फोट' मानना चाहिये।

भर्तृहरि आदि वैयाकरण 'जाति' को ही वाचक तथा वाच्य दोनों मानते हैं। शब्द पहले 'वाचक-जाति' को प्रगट करता है फिर उसका अर्थ-जाति के रूप में, अध्यारोप कर लिया जाता है। द्र०—

**स्वा जातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवाभिधीयते।**
**ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना॥** (वाप० ३.१.६)

सभी शब्दों के द्वारा पहले अपनी (विशेष) 'घटपदत्व' आदि 'जाति' का बोध कराया जाता है। उसके बाद अर्थ रूप घटत्व आदि जातियों में उस 'शब्दजाति' का अध्यारोप कर लिया जाता है।

वस्तुतः भर्तृहरि आदि केवल 'जाति' को ही सत्य और ब्रह्म मानते हैं तथा 'व्यक्तियों' को असत्य मानते हैं। इस दृष्टि से वाक्यपदीय की निम्न कारिकायें द्रष्टव्य है :—

**सर्वशक्त्यात्मभूतत्वम् एकस्यैवेति निर्णयः।**
**भावानामात्मभेदस्य कल्पना स्मादनर्थिकाः॥** (वाप० ३.१.२२)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



सभी (विविध) 'शक्तियों' की आत्मा एक ('जाति') ही हो सकती है यह निश्चित है। भावों (पृथक् पृथक् शक्तियों अथवा 'व्यक्तियों' की भिन्नता) के कारण आत्मा ('जाति') के स्वरूप भेद की कल्पना अनर्थक (असत्य) है।

**सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ।**
**सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृताः॥** (वाप० ३.१.३२)

प्रत्येक पदार्थ में जो सत्य तथा असत्य भाव विद्यमान हैं उनमें जो सत्य अंश है वह 'जाति' है और जो असत्य अंश है वह 'व्यक्ति' है।

इस प्रकार एकमात्र 'जाति' के ही सत्य होने के कारण उसे ही वास्तविक 'स्फोट' भी मानना चाहिये। अतः ऊपर परमलघुमंजूषा के प्रारम्भ में जो आठ प्रकार के 'स्फोटों' का उल्लेख हुआ है (द्र० पृ० २-१३) उनमें 'वाक्य-स्फोट,', अथवा और स्पष्ट शब्दों में, 'वाक्य-व्यक्ति-स्फोट' को वृत्तियों का आश्रय न मान कर, 'वाक्य-जाति-स्फोट' को ही 'अभिधा', 'लक्षणा', 'व्यंजना' आदि वृत्तियों का आश्रय मानना चाहिये।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# आकांक्षादि-विचारः

['आकांक्षा' का स्वरूप]

अथ शाब्दबोधसहकारिकारणानि 'आकांक्षा'-'योग्यता'-'आसत्ति'-तात्पर्याणि । वाक्यसमयग्राहिका 'आकांक्षा' । सा च एकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोग्यार्थस्य यज्ज्ञानं तद्विषयेच्छा—'अस्यान्वय्यर्थः कः'—इत्येवं रूपा पुरुषनिष्ठैव । तथापि तस्याः स्वविषयेऽर्थे आरोपः । 'अयम् अर्थोऽर्थान्तरम् आकांक्षति' इति व्यवहारात् । इदमेव 'अभिधानापर्यवसानम्'[1] इत्युच्यते । पदे तु नारोपः अर्थबोधोत्तरमेव आकांक्षोदयात् । 'पदं साकांक्षम्' इति तु 'साकांक्षार्थबोधकम्' इत्यर्थकम् । तदुक्तं "समर्थ०" सूत्रे **भाष्ये** 'परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यम् एके । ...का पुनः शब्दयोर्व्यपेक्षा ? न ब्रूमः शब्दयोरिति । किं तर्हि ? अर्थयोः" (महा०२.१.१, पृ० ३६) । ईदृशजिज्ञासोत्थापकं चैकपदार्थेऽपरपदार्थ-व्यतिरेक-प्रयुक्तस्य अन्वयबोधाजनकत्वस्य ज्ञानम् इति तद्विषये तादृशान्वयबोधाजनकत्वेऽपि 'आकांक्षा' इति व्यवहारः ।

'शाब्दबोध' के सहकारी कारण हैं—'आकांक्षा', 'योग्यता', 'आसत्ति' तथा 'तात्पर्य' । वाक्य के सङ्केत का बोध कराने वाली 'आकांक्षा' है । वह ('आकांक्षा') एक पद के अर्थ का ज्ञान होने पर उस पदार्थ के अन्वययोग्य (दूसरे) अर्थ का जो ज्ञान उस विषय वाली—'इस (अर्थ) का अन्वयी अर्थ कौन है ?' इस प्रकार की—इच्छा (यद्यपि) पुरुष (श्रोता) में ही रहती है तो भी उस (इच्छा या 'आकांक्षा') का अपने विषयभूत अर्थ में ('समवाय' सम्बन्ध से) आरोप कर लिया जाता है क्योंकि 'यह अर्थ दूसरे अर्थ की आकांक्षा

१. ह०—पर्यवसन्नम् । 'अभिधानापर्यवसानम्' इस उद्धरण की दृष्टि से द्रष्टव्य तर्ककौमुदी ४ ; अभिधानापर्यवसानम् (आकांक्षा) । इयं च ज्ञाता सती शाब्दबोधे शब्दस्य सहकारिणी । अतएव 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादौ तान्वयबोधः, आकांक्षाविरहात् (न्यायकोश) ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



रखता है' यह व्यवहार होता है। इस ('आकांक्षा') को ही 'अभिधान (अर्थ) की अपरिसमाप्ति' कहा जाता है।

'आकांक्षा' का आरोप पद में नहीं किया जाता क्योंकि (पद के) अर्थ-ज्ञान के उपरान्त ही 'आकांक्षा' का उदय होता है। 'पद आकांक्षा-युक्त है' इस कथन का तो अर्थ यह है कि '(वह पद) साकांक्ष अर्थ का बोधक है'। इस (बात) को "समर्थः पदविधिः" सूत्र के भाष्य में (इस रूप में) कहा गया है—"कुछ विद्वान् पारस्परिक 'आकांक्षा' को 'सामर्थ्य' मानते हैं। दो शब्दों में पारस्परिक 'आकांक्षा' क्या हो सकती है? हम यह नहीं कहते कि दो शब्दों में ('आकांक्षा' रहती है)। तो फिर? दो अर्थों में ('आकांक्षा' रहती है)"।

इस प्रकार की जिज्ञासा ('आकांक्षा') का हेतु है – एक पद के अर्थ में, दूसरे पद के अर्थ के अभाव के कारण, सम्बन्ध का बोध उत्पन्न न कर पाने की स्थिति का ज्ञान। इसलिये उस (सम्बन्धबोध की अजनकता रूप) ज्ञान के विषय में, उस तरह के सम्बन्धबोध की जनकता के न होने पर भी, 'आकांक्षा' यह व्यवहार किया जाता है।

**सहकारिकारणानि**—'सहकारी कारण' वे होते हैं जो प्रमुख कारण से होने वाले कार्य के जनक होते हुए भी प्रमुख कारण से भिन्न हुआ करते हैं। यहां 'शाब्दबोध' में प्रमुख कारण है पद का ज्ञान। पदार्थज्ञान आदि 'सहकारि कारण' हैं। तुलना करो—

**पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।**
**शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी॥**

(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड, ८१)

**तस्याः स्व-विषयेऽर्थे आरोपः**—'आकांक्षा' एक प्रकार की इच्छा है। इसलिये वह आत्मा का धर्म है तथा 'समवाय' सम्बन्ध से श्रोता पुरुष में ही रह सकती है, फिर भी उस पुरुषनिष्ठ 'आकांक्षा' का, शब्द के अर्थ में 'आरोप' कर लिया जाता है क्योंकि पद का अर्थ 'आकांक्षा' का विषय होता है—या दूसरे शब्दों में 'आकांक्षा' पदार्थ-विषयक होती है। यह 'आरोप' इस लिये किया जाता है कि व्यवहार में 'अर्थ' को भी कभी कभी 'साकांक्ष' कह दिया जाता है।

**ईदृशजिज्ञासा·····व्यवहारः**—'आकांक्षा' की उत्पत्ति तब होती है जब श्रोता किसी एक पद को सुन कर उसके अर्थ को तो जान लेता है, परन्तु उससे सम्बद्ध होने वाले दूसरे पदार्थ के बोधक किसी शब्द को वह नहीं सुनता। ऐसी स्थिति में उसे यह ज्ञान होता है कि यह श्रुत शब्द निराकांक्ष अर्थ का बोधक नहीं है। इस प्रकार श्रोता को जो यह ज्ञान होता है कि यह शब्द निराकांक्ष अर्थ का बोधक नहीं है उस ज्ञान का विषय वह श्रुत शब्द होता है। इसलिये उस शब्द या पद को ही साकांक्ष कहा जाता है। यद्यपि वह शब्द अन्वय-बोध का जनक नहीं होता। जैसे—'गां नय' इस वाक्य में यदि केवल 'गाम्' इस एक पद का ही उच्चारण किया जाय तो उससे गो व्यक्ति का बोध हो जाने पर भी, 'नय' पद के अनुच्चरित रहने से उस पद के अर्थज्ञान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



के अभाव में जो यह ज्ञान होता है कि 'गो' पद अन्वय-बोध का जनक नहीं है यह ज्ञान ही 'आकांक्षा' को उत्पन्न करता है। 'आकांक्षा' के हेतुभूत इस ज्ञान का विषय है 'गो' पद का अर्थ, अर्थात् गो व्यक्ति। यहां यद्यपि 'गो' पद के अर्थ में निराकांक्ष अर्थबोध को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है फिर भी उसके लिये 'आकांक्षा' का व्यवहार होता है।

नैयायिकों के अनुसार वाक्य के जिस पद के बिना जिस पद का अन्वय नहीं बनता उस पद के साथ उस पद की 'आकांक्षा' रहती है। द्र० —"यत् पदम् ऋते यत् पदान्वय-बोधो न भवति तत्पदे तत्पदवत्ता (आकांक्षा)"। अथवा—"पदस्य पदान्तर-प्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वम् आकांक्षा" (न्यायकोश)।

वेदान्त परिभाषा (आगमपरिच्छेद) में यह कहा गया है कि पदों के अर्थों में इस प्रकार की योग्यता, कि वे पारस्परिक जिज्ञासा के विषय बन सकें, ही 'आकांक्षा' है। क्रिया को सुनने पर कारक तथा कारक को सुनने पर क्रिया में इस प्रकार की जिज्ञासा का विषय बनने की योग्यता होती है। द्र०—'पदार्थानां परस्पर-जिज्ञासा-विषयत्वयोग्यत्वम् आकांक्षा'।

[एक दूसरे प्रकार से 'आकांक्षा' का विवेचन]

यद् वा 'उत्थापकता'–'विषयता'-अन्यतरसम्बन्धेन, उभय-सम्बन्धेन वा अर्थान्तरजिज्ञासा 'आकांक्षा'। आद्यम्–'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र दर्शनार्थस्य कारकधावना-कांक्षोत्थापकत्वं धावनं तु तद् विषय एव। अन्त्यं तु[1]–'पचति तण्डुलं देवदत्तः' इत्यादौ क्रियाकारकयोर्द्वयोरपि परस्परं तदुत्थापकत्वात् तद्विषयत्वाच्च।

अत एव 'घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः' इत्यतो 'घटम् आनय' इतिवत् नान्वयबोधः। 'आकांक्षा'-विरहात्। 'घटम् आनय' इति विभक्त्यन्ताख्यातान्तयोरेव[2] साकांक्षत्वाच्च।

अथवा 'उत्थापकता' या 'विषयता' इनमें से किसी एक सम्बन्ध से या इन दोनों सम्बन्धों से दूसरे अर्थ को जानने की इच्छा 'आकांक्षा' है। प्रथम (प्रकार) 'पश्य मृगो धावति' (देखो हिरण दौड़ता है) यहाँ है। 'दर्शन' रूप

१. ह० तथा बंमि० में 'तु' नहीं है।

२. तुलना करो —
वैयाकरणमते विभक्ति-धातु-आख्यात-क्रिया-कारक-पदानां परस्परं विना परस्परस्य न स्वार्थान्वया-नुभावकत्वम् (न्यायकोश)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अर्थ में, (कर्म) कारक—'दौड़ना' की 'आकांक्षा' की 'उत्थापकता' है। 'दौड़ना' तो उस 'आकांक्षा' का विषय ही है। अन्तिम (दूसरा प्रकार) तो—'पचति तण्डुलं देवदत्तः' (देवदत्त चावल पकाता है।) इत्यादि में है। क्रिया (पकाना) तथा कारक (कर्त्ता—देवदत्त और कर्म चावल) दोनों में पारस्परिक 'आकांक्षा' की 'उत्थापकता' भी है तथा 'विषयता' भी।

इसीलिये ('आकांक्षा' के 'शाब्दबोध' में कारण होने से) 'घटः कर्मत्वम्' (घड़ा, कर्म कारकता) तथा 'आनयनं कृतिः' (लाना कार्य) इन से, 'घटम् आनय' के समान, 'शाब्दबोध' नहीं होता। क्योंकि यहाँ (शब्दों में) पारस्परिक 'आकांक्षा' का अभाव है। तथा 'घटम् आनय' यहां विभक्त्यन्त ('घटम्') तथा आख्यातान्त ('आनय') पद ही साकांक्ष हैं। परस्पर साकांक्ष होने के कारण (यहाँ अर्थबोध होता है)।

**यद् वा विषयत्वाच्च**—ऊपर 'आकांक्षा' की जो परिभाषा दी गयी उसमें 'आकांक्षा' को पुरुष-निष्ठ मानते हुए यह कहा गया है कि 'समवाय' सम्बन्ध से 'आकांक्षा' का पदार्थ (शब्दार्थ) में आरोप कर जाता है। परन्तु आरोप के बिना भी 'आकांक्षा' को पदार्थ-निष्ठ सिद्ध करने के लिये, 'आकांक्षा' की एक अन्य परिभाषा प्रस्तुत करते हुए, नागेश ने यहाँ 'उत्थापकता' तथा 'विषयता' इन दो सम्बन्धों की चर्चा की है। अलग अलग तथा मिश्रित रूप से इन दोनों सम्बन्धों के आधार पर अर्थ में 'आकांक्षा' की स्थिति मानी जा सकती है। क्योंकि कहीं अर्थ 'आकांक्षा' का उत्थापक हुआ करता है, तो कहीं वह 'आकांक्षा' का विषय रहा करता है और कहीं कहीं पद के अर्थ में दोनों ही सम्बन्ध पाये जाते हैं —वह 'आकांक्षा' का उत्थापक भी होता है तथा विषय भी। इसलिये भले ही 'समवाय' 'सम्बन्ध से 'आकांक्षा' पुरुष में ही रहती हो, परन्तु इन दोनों प्रकार के संबन्धों के आधार पर 'आकांक्षा' को अर्थ में भी माना जा सकता है।

यहां जो प्रथम उदाहरण दिया गया वहाँ केवल 'उत्थापकता' सम्बन्ध से अर्थ को साकांक्ष माना जाता है, अर्थात् 'पश्य मृगो धावति' इस वाक्य में जब केवल 'पश्य' कहा जायगा तो उसका, 'देखो' यह दर्शन रूप, अर्थ अपने 'कर्म', (कर्म कारक), 'धावन' रूप अर्थ, की 'आकांक्षा' को उत्पन्न करेगा। क्योंकि 'पश्य' यह क्रियापद है तथा क्रियापद के लिये यह आवश्यक है कि उसका कोई न कोई 'कर्म' तथा 'कर्ता' आदि कारक हों। अतः यह स्वाभाविक है कि केवल 'पश्य' पद सुनने के उपरान्त यह 'आकांक्षा' होगी कि 'क्या देखो'? इसलिये 'पश्य' पद में केवल 'आकांक्षा' की 'उत्थापकता' है। उसमें 'विषयता' नहीं है क्योंकि 'आकांक्षा' का विषय 'पश्य' नहीं हो सकता। साथ ही 'मृगो धावति' इस अंश में केवल 'आकांक्षा' की 'विषयता' ही है उसकी 'उत्थापकता' नहीं है। क्योंकि 'पश्य' पद के अनुच्चरित होने पर भी केवल 'मृगो धावति' इस अंश को सुनने के उपरान्त श्रोता में किसी प्रकार की 'आकांक्षा' नहीं उत्पन्न होती। परन्तु 'पश्य' पद को सुनने से जो 'आकांक्षा' उत्पन्न होती है उसका विषय 'मृगो धावति' अंश अवश्य है।

द्वितीय उदाहरण—'पचति तण्डुलं देवदत्तः' (देवदत्त चावल पकाता है) में 'पकाना' क्रिया तथा 'कर्ता' कारक (देवदत्त) और 'कर्म' कारक (चावल) दोनों एक दूसरे की जिज्ञासा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अथवा 'आकांक्षा' के उत्थापक भी हैं तथा विषय भी हैं। क्योंकि यदि 'पचति' नहीं कहा गया तो 'तण्डुलं देवदत्तः' अंश साकांक्ष रहेगा तथा यदि 'तण्डुलं देवदत्तः' नहीं कहा गया तो 'पचति' पद साकांक्ष रहेगा। इसी प्रकार 'पचति' के विषय हैं 'तण्डुल' तथा 'देवदत्त' और 'तण्डुल' तथा 'देवदत्त' का विषय है 'पचति' क्योंकि क्रिया बिना 'कारक' के तथा 'कारक' बिना क्रिया के नहीं रह सकता।

**अत एव साकांक्षत्वाच्च**—यहां 'आकांक्षा' की दूसरी परिभाषा क्यों प्रस्तुत की गयी इस प्रश्न का उत्तर इन पंक्तियों में दिया गया है। इस दूसरी परिभाषा के अनुसार 'उत्थापकता' अथवा 'विषयता' इनमें से किसी एक सम्बन्ध से अथवा दोनों सम्बन्धों से पदार्थ में रहने वाली, अन्य पदार्थ-विषयक, जिज्ञासा को ही 'आकांक्षा' माना गया तथा इस प्रकार की 'आकांक्षा' को ही 'शाब्दबोध' में कारण माना गया है। इसलिये इस परिभाषा के कारण ही 'घटःकर्मत्वम् आनयनं कृतिः' इस वाक्य से, 'घटम् आनय' इस वाक्य के समान, 'अन्वयबोध' अथवा अर्थज्ञान नहीं होता। क्योंकि 'घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः' इस प्रयोग में इस प्रकार की 'आकांक्षा' नहीं है जिसका स्वरूपनिर्देश दूसरी परिभाषा में किया गया। अभिप्राय यह है कि 'कर्मत्वम्' पद से उपस्थापित अर्थ ('कर्मत्व') के ज्ञान में, 'कर्मत्व' रूप अर्थ में अन्वित होने के योग्य जो 'आनयन' रूप अर्थ का ज्ञान उस ज्ञान-विषयक इच्छा रूप, 'आकांक्षा' तो है, परन्तु, 'उत्थापकता' या 'विषयता' के सम्बन्ध से अथवा दोनों सम्बन्धों से, एक शब्दार्थ में विद्यमान दूसरे शब्दार्थ से सम्बद्ध जिज्ञासा रूप 'आकांक्षा' यहाँ 'कर्मत्व' रूप शब्दार्थ में नहीं है। क्योंकि 'कर्मत्व' न तो 'आनयन'—ज्ञान का उत्थापक ही है और न उसका विषय ही है। इस प्रकार की 'आकांक्षा' सुबन्त तथा 'तिङन्त' पदों में ही रहा करती है। इसलिये 'घटम् आनय' इस प्रयोग से, इसमें 'आकांक्षा' की विद्यमानता के कारण, 'शाब्दबोध' होता है। परन्तु 'घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः' इस प्रयोग से, इसमें दूसरे प्रकार की 'आकांक्षा' के न होने के कारण, 'शाब्दबोध' नहीं होता। इसलिये 'आकांक्षा' की यह दूसरी परिभाषा अधिक परिष्कृत एवं आवश्यक है।

**['योग्यता' का स्वरूप]**

'योग्यता' च परस्परान्वयप्रयोजकधर्मवत्त्वम्। तेन 'पयसा सिञ्चति' इति वाक्यम्[1] योग्यम्। अस्ति च सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वं योग्यता जले। करणत्वेन जलान्वयप्रयोजकार्द्रीकरणत्वं योग्यता सेकक्रियायाम्। अतएव 'वह्निना सिञ्चति' इति वाक्यम् अयोग्यम्। वह्नेः सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वाभावात्।

(वाक्य के शब्दों में अर्थ की दृष्टि से) पारस्परिक अन्वय (सम्बन्ध) के प्रयोजक (जनक) धर्म से युक्त होना 'योग्यता' है। इसलिये 'पयसा सिञ्चति'

१. काप्रमु० में 'वाक्यम्' पद नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(जल से सींचता है) यह योग्य (वाक्य) है। सेक (सींचना रूप क्रिया) में अन्वय का जनक (धर्म)—वस्तु का द्रव (प्रवाहात्मक) होना रूप योग्यता—जल में है तथा 'करण' रूप से जल में अन्वय (सम्बन्ध) का उत्पादक धर्म--(शुष्क को गीला कर देना)—रूप योग्यता—सेक (सिंचन क्रिया) में है। इसीलिए (योग्यता के इस स्वरूप को मानने के कारण ही) 'वह्निना सिंचति' (आग से सींचता है) यह (वाक्य) अयोग्य है, क्योंकि सिंचन में अन्वय का उत्पादक धर्म (वस्तु का प्रवाह रूप वाला होना) अग्नि में नहीं है।

यहाँ वैयाकरणों की दृष्टि से 'योग्यता' की परिभाषा प्रस्तुत की गयी है -- "परस्परान्वय-प्रयोजक-धर्मवत्त्वं योग्यता"। इसका अभिप्राय यह है कि पदों के अर्थों का जो पारस्परिक अन्वय उसका हेतुभूत जो धर्म उस धर्म से युक्त होना 'योग्यता' है। जैसे 'पयसा सिंचति' इस वाक्य में 'योग्यता' है, क्योंकि 'सिंचन' रूप क्रिया में 'पयसा' शब्द के अर्थ (जल) के अन्वय का हेतुभूत धर्म, अर्थात् गीलापन अथवा प्रवाहात्मक होना रूप योग्यता, जल में है। तथा इसी प्रकार 'करण' भूत जल में 'सिंचन' के अन्वय का हेतुभूत धर्म, अर्थात् सूखे को गीला कर देना रूप योग्यता, 'सिंचन' क्रिया में है। इसलिये 'पयसा सिंचति' यह वाक्य 'योग्यता' से युक्त है। इस 'परस्परान्वय-प्रयोजक-धर्मवत्ता' के न होने के कारण 'वह्निना सिंचति' इस वाक्य में 'योग्यता' नहीं मानी जाती। क्योंकि 'आग' में गीलापन अथवा प्रवाहात्मकता रूप धर्म नहीं है जिससे 'वह्नि' का सिंचन में अन्वय हो सके। तथा इसी प्रकार 'सिंचन' में जलाना या सुखाना रूप धर्म नहीं है जिस से उसका 'वह्नि' के साथ अन्वय हो सके। द्र०—"कार्यविशेषजनने सामर्थ्यम् (योग्यता)। तच्च एक पदार्थे अपर-पदार्थ-प्रकृत-संसर्गवत्त्वम्" (न्यायमंजरी ४ से न्यायकोश में उद्धृत) तथा "इयं योग्यता च ज्ञाता सती शाब्द-बोधप्रयोजिका शब्दयोग्यता इति व्यवहियते। इयं योग्यताऽयोग्यवाक्य-निरसिका च भवति। अत एव 'वह्निना सिंचति' इत्यादि-वाक्यान् नान्वयबोधः प्रमात्मको भवति। योग्यताविरहात्" (तर्ककौमुदी से न्याय-कोश में उद्धृत)।

**['योग्यता' के विषय में नैयायिकों का वक्तव्य तथा उसका खण्डन]**

एतादृशस्थलेषु नान्वयबोधः किन्तु प्रत्येकं पदार्थबोध-मात्रम् इति 'नैयायिकाः। तन्न। बौद्धार्थस्यैव सर्वत्र बोध-विषयत्वेन बाधस्याभावात्। हरिः अप्याह—

**अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति च**[1] इति।

---

१. खण्डनखण्डखाद्य (चौखम्बा संस्करण १९१४, पृ० १६८) में मीमांसाश्लोकवार्तिक (चोदनासूत्र ६) के नाम से निम्न कारिका उद्धृत है :—

अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि।
अबाधात् तु प्रमाम् अत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलाम्॥

परन्तु मीमांसाश्लोकवार्तिक (शेषकृष्ण रामनाथ शास्त्री सम्पादित, मद्रास विश्वविद्यालय, १९४०, पृ० ३३) में निम्न कारिका मिलती है :—

अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि।
तेनोत्सर्गे स्थिते तस्य दोषाभावात् प्रमाणता॥

जो भी हो यह कारिका, जिसे नागेश ने यहां उद्धृत किया है, भर्तृहरि की नहीं है। सम्भवतः भ्रमवश ही भर्तृहरि के नाम से इसे उद्धृत किया गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अतो वन्ध्यासुतादिशब्दानां प्रातिपदिकत्वम् । 'वह्निना सिञ्चति' इत्यतो बोधाभावे तद्वाक्यप्रयोक्तारं प्रति 'अद्रवेण वह्निना कथं सेकं ब्रवीषि' इत्युपहासानापत्तेश्च । वाक्यार्थबोधे जाते बुद्धार्थविषये प्रवृत्तिस्तु न भवति बुद्धार्थेऽप्रामाण्यग्रहाद् इत्यन्यत्र विस्तरः ।

ऐसे (अयोग्यता) के स्थलों में (शब्दों के पारस्परिक) सम्बन्ध का बोध नहीं होता किन्तु केवल प्रत्येक पदों का अर्थज्ञान ही होता है—ऐसा नैयायिक मानते हैं। यह (नैयायिकों का विचार) उचित नहीं है। क्योंकि बौद्धिक अर्थ ही सर्वत्र (शब्द द्वारा) बोध का विषय बनता है। इस कारण (उस बुद्धिगत अर्थ की) बाधा नहीं होती। भर्तृहरि भी कहते हैं—"वस्तु के सर्वथा न होने पर भी शब्द (उस वस्तु का बौद्धिक) ज्ञान कराता ही है।" इसलिये (अर्थ को बुद्धिगत मानने से) 'वन्ध्यासुत' आदि शब्दों की भी (इनकी बौद्धिक अर्थवत्ता के कारण) 'प्रातिपदिक' संज्ञा है। 'वह्निना सिञ्चति' इस वाक्य से ज्ञान न होने पर, इस वाक्य के बोलने वाले के प्रति, 'द्रव रहित आग से तुम सींचने की बात कैसे कहते हो ?' इस प्रकार का उपहास नहीं किया जा सकता। (इसलिये 'योग्यता' के न होने पर भी) वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो जाने से (उस) ज्ञात अर्थ में प्रवृत्ति तो इसलिये नहीं होती कि श्रोता को (उस ज्ञान की) अयथार्थता का निश्चय हो जाता है। यह विषय अन्यत्र। (लघुमंजूषा) में विस्तार से वर्णित है।

नैयायिक विद्वान् 'योग्यता' से रहित, 'वह्निना सिंचति' इत्यादि, वाक्यों के द्वारा सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान होता है—ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि इन वाक्यों में अलग अलग पदों के अर्थ का ही ज्ञान होता है—सम्बद्ध वाक्यार्थ का नहीं। ये विद्वान् "पदों के अर्थों के अन्वय में बाधा का न होना" 'योग्यता' की परिभाषा मानते हैं। इस प्रसंग में नैयायिक विद्वानों द्वारा निर्धारित, 'योग्यता' की, निम्न परिभाषायें द्रष्टव्य हैं:— "बाधक-प्रमा-विरहः" (तत्त्वचिन्तामणि—४), "अर्थाबाधः" (तर्कसंग्रह—४) तथा "बाध-निश्चयाभावो योग्यता इति नव्या आहुः" (नीलकण्ठी—४)

वैयाकरण विद्वान् नैयायिकों के इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि वाक्य से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह सर्वत्र पहले बौद्धिक ही होती है। बाद में बौद्धिक अर्थ तथा बाह्य अर्थ को अभिन्न मान लेने के कारण बुद्धिगत अर्थ से बाह्यार्थ की प्रतीति होती है। इसलिये 'वह्निना सिंचति' इत्यादि वाक्यों में भी बौद्धिक वाक्यार्थ की प्रतीति में कोई बाधा नहीं है। इस कारण 'योग्यता' को वैयाकरण 'शाब्दबोध' में अनिवार्य कारण नहीं मानते।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



परन्तु 'योग्यता'-रहित 'वह्निना सिंचति' इत्यादि वाक्यों से जिस अर्थ का ज्ञान होता है उसमें प्रवृत्ति इसलिये नहीं होती कि श्रोता को यह पता लग जाता है कि यह ज्ञान अप्रामाणिक है, अयथार्थ है, केवल बौद्धिक ही है।

**हरिः अप्याह**—नागेश ने भर्तृहरि के नाम से जिस "अत्यन्तासत्यपि०" कारिका को उद्धृत किया है वह वाक्यपदीय में नहीं मिलती। परन्तु यह अवश्य है कि इस प्रकार का आशय भर्तृहरि की कुछ कारिकाओं से प्रकट होता है। द्र०—

> **अत्यन्तम् अतथाभूते निमित्ते शब्दयुपाश्रयात्।**
> **दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकार-निरूपणा॥** वाप० (१.१३०)

निमित्त (बाह्य वस्तु) के सर्वथा असत्य होने पर भी केवल शब्द-प्रयोग के द्वारा 'अलात-चक्र' आदि में चक्र आदि वस्तुओं के आकार का ज्ञान होता है। इसीलिये 'खपुष्प', 'शशविषाण' इत्यादि शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होती है। यदि इन शब्दों से कोई ज्ञान ही न हो— ज्ञान बाधित हो जाय— तब तो ये शब्द या प्रयोग अर्थ-हीन हो जायेंगे तथा उस स्थिति में इनकी 'प्रातिपदिक' संज्ञा ही नहीं होगी। 'प्रातिपदिक' संज्ञा के अभाव में 'सु' आदि विभक्तियां नहीं आयेंगी और इस रूप में ये 'अपद' अथवा असाधु बन जायेंगे तथा इनका प्रयोग नहीं किया जा सकेगा। परन्तु इस तरह 'योग्यता'-रहित शब्दों का पर्याप्त प्रयोग भाषा में होता ही है। इसलिये ऐसे स्थलों में 'अन्वय-बोध' अथवा ज्ञान का अभाव नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त यदि यह मान लिया जाय कि 'वह्निना सिंचति' जैसे 'योग्यता'-रहित प्रयोगों में 'अन्वय-बोध' (बौद्धिक ज्ञान) होता ही नहीं; तो यह बात समझ में नहीं आती कि सुनने वाला, इस वाक्य का प्रयोग करने वाले व्यक्ति की, इस रूप में हंसी क्यों उड़ाता है कि 'भाई जलाने वाली आग से तुम सींचने की बात क्यों कहते हो?' इस उपहास की संगति तो तभी लग सकती है यदि यह माना जाय कि इस वाक्य से 'अन्वय-बोध' होता है।

यहां नैयायिक यह कह सकते हैं कि 'योग्यता'-रहित वाक्यों या प्रयोगों से अन्वय-बोध होता है यह स्वीकार कर लेने पर एक दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार के वाक्यों को सुनने के उपरान्त ज्ञात विषय में श्रोता की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती?

इस प्रश्न का उत्तर यहां यह दिया गया कि ऐसे वाक्यों से श्रोता को ज्ञान तो होता है परन्तु साथ ही उसे यह भी पता लग जाता है कि यह ज्ञान अप्रामाणिक है। वास्तविकता भी यही है कि इस तरह के वाक्यों से होने वाला ज्ञान केवल बौद्धिक ही होता है— बाह्यार्थ से वह शून्य होता है। इसीलिये ऐसे ज्ञान को योगदर्शन में 'विकल्प' ज्ञान कहा गया है। द्र०— "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (योगदर्शन १.९)। नैयायिकों के अनुसार यदि इस ज्ञान को, बाधित हो जाने के कारण, ज्ञान ही न माना गया तब तो योगदर्शन का 'विकल्प'-विषयक यह मन्तव्य भी असंगत हो जायगा।

इसलिये 'योग्यता' की परिभाषा नैयायिकाभिमत "बाधाऽभाव" इत्यादि न होकर वैयाकरणाभिमत—"परस्परान्वय-प्रयोजक-धर्मवत्त्वम्" ही उचित है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[**'आसत्ति' का स्वरूप तथा उसकी 'सहकारि-कारणता' के विषय में विचार**]

प्रकृतान्वयबोधाननुकूलपदाव्यवधानम् 'आसत्तिः'। 'गिरिः अग्निमान्' इत्यासन्नम्। अनासन्नं च—'गिरिर्भुक्तम् अग्निमान् देवदत्तेन' इति।

'आसत्तिः' अपि मन्दबुद्धेरविलम्बेन शाब्दबोधे कारणम्। अमन्दबुद्धेस्तु आसत्त्यभावेऽपि पदार्थोपस्थितौ आकांक्षादितोऽविलम्बेनैव बोधो भवति इति न बोधे तस्याः कारणत्वम्। ध्वनितं चेदं "न पदान्त०" (पा० १.१.५७) सूत्रे भाष्ये। 'स्थाल्याम् ओदनं पचति' इत्यादौ 'स्थाल्याम्' 'इत्यस्य' 'ओदन'-पदेन व्यवधानेऽपि[2] प्रकृतान्वयबोधानुकूलत्वाद् आसन्नत्वाक्षतिः[3]।

(वाक्य में) प्रासङ्गिक अन्वय-ज्ञान के प्रतिकूल पदों का व्यवधान न होना 'आसत्ति' है। 'गिरिः अग्निमान्' (पर्वत अग्नि वाला है) यह वाक्य 'आसत्ति' से युक्त है। 'गिरिः भुक्तम् अग्निमान् देवदत्तेन' (पहाड़ खाया, अग्नि-युक्त, देवदत्त ने) यह वाक्य 'आसत्ति' से रहित है।

'आसत्ति' भी अल्प बुद्धि वालों को शीघ्र 'शाब्दबोध' कराने में कारण है। तीव्र बुद्धि वालों को 'आसत्ति' के अभाव में भी, पदार्थ के उपस्थित होने से, 'आकांक्षा' आदि के आधार पर शीघ्र ही 'शाब्दबोध' हो जाता है। इस लिये 'शाब्दबोध' में 'आसत्ति' कारण नहीं है। यह "न पदान्त०" इस सूत्र के भाष्य में संकेतित है। 'स्थाल्याम् ओदनं पचति' (पतीली में भात पकाता है) इत्यादि (वाक्यों) में, 'स्थाल्याम्' का 'ओदनम्' इस पद से व्यवधान होने पर भी, प्राकरणिक अन्वय-ज्ञान के अनुकूल होने के कारण, ('ओदनम्' पद से) 'आसत्ति' का नाश नहीं होता।

'आसत्ति' की जो परिभाषा यहां की गयी उसका अभिप्राय है—उच्चरित पदों का प्रसंगानुकूल जो अन्वय-बोध उसके विपरीत अर्थ वाले पद या पदों का बीच में न आ जाना या दूसरे शब्दों में इस प्रकार के विपरीतार्थक या अननुकूलार्थक पद अथवा पदों का अभाव।

तर्कभाषा में एक ही व्यक्ति के द्वारा अभीष्ट अर्थ का बोध कराने वाले पदों के अविलम्ब उच्चारण को 'आसत्ति' कहा गया है। द्र०—"एकेनैव पुंसा पदानाम् अविलम्बेनोच्चारितत्वम् (आसत्तिः)" तर्कभाषा—४। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में भी 'आसत्ति' का यही अभिप्राय माना गया है—"सन्निधानं पदस्य आसत्तिर् उच्यते" (शब्दपरिच्छेद)।

---

१. ह०—'तीक्ष्णबुद्धेः'।
२. निस०, काप्रशु०—सत्यपि
३. निस०, काप्रशु० में इसके पश्चात् 'इत्यासत्ति निरूपणम्' अधिक है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसी प्रकार तर्कौमुदी में भी 'आसत्ति' तथा 'सन्निधि' को एक मानते हुए यह कहा गया कि यदि वाक्य के एक एक शब्द को एक एक घण्टे के मध्यावकाश के बाद उच्चारित किया जाय तो श्रोता को उस वाक्य से अभीष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता क्योंकि वहां 'आसत्ति' अथवा 'सन्निधि' नहीं है। द्र० "एतस्य ज्ञानं च शाब्दबोधजनकम् इति विज्ञेयम्। अतएव एकैकशः प्रहरे प्रहरे असहोच्चारिते 'गाम आनय' इत्यादौ नान्वयबोधः। सन्निधेरभावात्" (तर्कौमुदी—४)।

**आसत्तिरपि सूत्रे भाष्ये**—'आसत्ति' की जो परिभाषा नागेश ने की है उसे देखते हुए 'आसत्ति' को भी 'शाब्दबोध' में अनिवार्य कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि यह देखा जाता है कि अन्य शब्दों का व्यवधान होने पर भी बुद्धिमानों को 'शाब्द-बोध' हो ही जाता है। अल्प बुद्धि वालों को भी 'आसत्ति'-रहित वाक्यों से अर्थ का ज्ञान तो हो जाता है पर उसमें थोड़ी देर अवश्य लग जाती है। इसीलिये यहां यह कहा गया कि मन्द बुद्धि वालों की दृष्टि से शीघ्र 'शाब्दबोध' में कारण है।

यहाँ नागेश ने "न पदान्त०" (पा० १.१.५७) सूत्र के भाष्य के जिस स्थल की ओर संकेत किया है वहाँ पतंजलि ने स्पष्ट कहा है "अनानुपूर्व्येणापि सन्निविष्टानां यथेष्टम् अभिसम्बन्धो भवति" अर्थात् आनुपूर्वी या विशिष्ट क्रम से न रखे हुए शब्दों में भी यथा-भिलषित सम्बन्ध हो जाता है। अपने इस कथन के उदाहरण के रूप में पतंजलि ने वहां यह निम्न वाक्य प्रस्तुत किया है :—"अनड्वाहम् उदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनम् अभिधावन्तम् अद्राक्षीः", तथा इस क्रम-रहित पदों वाले वाक्य का अभीष्ट सम्बन्ध भी स्वयं पतंजलि ने ही इस प्रकार किया है "उदहारि भगिनि ? या त्वं कुम्भं हरसि शिरसा अनड्वाहं साचीनमाभिधावन्तम् अद्राक्षीः" (हे जल ढोने वाली बहन ? जो तुम घड़े को सिर पर रख कर ले जा रही हो, तिरछे दोड़ते हुए बैल को देखा है क्या ?)। इस तरह 'आसत्ति' के न होने पर भी अर्थबोध होता ही है। अतः 'आसत्ति' को 'शाब्दबोध' में अनिवार्य कारण नहीं माना जा सकता। द्र०—"भाष्यात् तु आसत्त्यभावेऽपि पदार्थोपस्थितौ आकांक्षावशाद् व्युत्पत्त्यनुसारेण अन्वयबोध इति लभ्यते" (महा०, उद्द्योत टीका, १.१.५७)। महाभाष्य के उपर्युद्धृत स्थल तथा उसकी टीका से यह स्पष्ट है वाक्य के पदों का एक विशिष्ट क्रम में होना भी 'आसत्ति' की परिभाषा के अन्तर्गत ही माना जाता है।

**स्थाल्याम्**···**अक्षतिः**—उपर 'आसत्ति' की परिभाषा में 'अननुकूल' पद क्यों रखा गया, इस बात को यहाँ 'स्थाल्याम् ओदनं पचति' इस उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। यहाँ 'स्थाली' तथा 'पचति' के मध्य में जो 'ओदनम्' शब्द का व्यवधान है वह अननुकूल (प्रतिकूल) न होकर अनुकूल ही है। इसलिये उसका व्यवधान होने पर भी 'आसत्ति' बनी ही रहती है क्योंकि 'आसत्ति' की दृष्टि से उसी पद का व्यवधान अवांछनीय है जो अन्वयबोध या अभीष्ट अर्थ के प्रतिकूल अर्थ का बोधक हो।

**[ 'तात्पर्य' का स्वरूप-विवेचन तथा 'शाब्दबोध' में उसकी हेतुता ]**

'एतद् वाक्यं पदं वा एतद् अर्थबोधायोच्चारणीयम्' इति ईश्वरेच्छा 'तात्पर्यम्'। अत एव सति 'तात्पर्ये' "सर्वे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



सर्वार्थवाचकाः" इति शाब्दिकनये "घट शब्दात् पट-प्रत्ययो न" इत्याद्युक्तम्। नानार्थस्थले लोके 'तात्पर्यम्' तु, 'एतत् पदं वाक्यं वा एतदर्थ-प्रत्ययाय मया उच्चार्यते' इति, प्रयोक्तुर् इच्छारूपम्। 'तात्पर्य'-नियामकं च लोके' प्रकरणादिकम् एव। अतो भोजन-प्रकरणे 'सैन्धवम् आनय' इत्युक्ते 'सैन्धव'-पदेन लवण-प्रत्ययः, युद्धावसरेऽश्वप्रत्ययः। वेदवाक्ये च[1] ऐश्वर[2]तात्पर्याद् अर्थबोधः।

ननु प्रकरणादीनां शक्ति-नियामकत्वे शक्त्यैव निर्वाहे किन्तात्पर्येण इति चेन् न। "अस्मात् शब्दाद् अर्थद्वय-विशेष्यको बोधो जायते, अर्थद्वये शक्तिसत्त्वात्। 'तात्पर्यम्'तु क्वेति न जानीमः" इत्याद्यनुभव-विरोधात्। अत एव च 'पय आनय' इत्युक्तेऽप्रकरणज्ञस्य 'दुग्धं जलं वाऽऽनेयम् ?' इति प्रश्नः सङ्गच्छते।

## इत्याकांक्षादि-विचारः[4]

'इस वाक्य अथवा पद का इस अर्थ के ज्ञापन के लिये उच्चारण किया जाना चाहिये' इस प्रकार की ईश्वरेच्छा 'तात्पर्य' है। इसीलिये, ('शाब्दबोध' में) 'तात्पर्य' के ('सहकारी' कारण) होने से "सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हैं" इस, वैयाकरणों के, सिद्धान्त में "घट' शब्द से 'पट अर्थ' का ज्ञान नहीं होता" इत्यादि कहा गया। लोक में, अनेक अर्थ वाले शब्द में, 'तात्पर्य', 'यह पद या वाक्य इस अर्थ के ज्ञापन के लिये मेरे द्वारा उच्चारित किया जाता है' इस तरह का, वक्ता का इच्छारूप है।

लोक में 'तात्पर्य' का नियमन करने वाले 'प्रकरण' आदि ही हैं। इसलिये भोजन के अवसर पर 'सैन्धवम् आनय' यह कहने पर 'सैन्धव' शब्द से नमक का ज्ञान तथा युद्ध के अवसर पर घोड़े का ज्ञान होता है। वेद के वाक्यों में 'ऐश्वर तात्पर्य' से अर्थ का बोध होता है।

'प्रकरण' आदि के 'शक्ति'-नियामक होने से 'शक्ति' से ही ('शाब्दबोध' का) निर्वाह हो जाने पर 'तात्पर्य' को सहकारी कारण मानने का क्या प्रयोजन है ? यह (प्रश्न) उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने से, "दो अर्थों में 'शक्ति'

१. ह०—लोक—।
२. ह० तथा बंमि० में 'च' नहीं है।
३. ह०—ईश्वर—।
४. निस०, काप्रशु० में यह अंश नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



होने के कारण इस शब्द से द्विविध अर्थ की प्रतीति होती है, परन्तु इनका तात्पर्य' किस (अर्थ) में हैं ?" इस प्रकार के अनुभव से विरोध उपस्थित होता है, और इसीलिये 'पय आनय' यह कहने पर जो प्रकरण को नहीं जानता उस (व्यक्ति) का 'दूध लाऊं या जल ?' यह प्रश्न सुसंगत होता है।

**ईश्वरेच्छा तात्पर्यम्**—यहाँ 'ईश्वर' पद को वक्ता मात्र का उपलक्षक मानना चाहिये। अन्यथा 'नदी', 'वृद्धि', 'टि', 'घु' जैसे पारिभाषिक शब्दों में ईश्वरेच्छा रूप 'तात्पर्य' के न होने के कारण 'शाब्दबोध' नहीं होना चाहिये। क्योंकि उस उस अर्थ के बोध की इच्छा से केवल सूत्रकार ने ही इन शब्दों का उच्चारण किया है। द्र०—"इदम् एतस्मिन् अर्थे अस्य अन्वयं प्रत्याययतु इति प्रयोक्तुर् इच्छा तात्पर्यम्" (न्यायमंजरी से न्यायकोश में उद्धृत)। 'घटम् आनय' यह वाक्य 'घड़ा लाओ' इस अर्थ के ज्ञापन की इच्छा से उच्चरित हुआ है, इस प्रकार का वक्ता का 'तात्पर्य' होता है। जब श्रोता को वक्ता के इस 'तात्पर्य' का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् जब श्रोता यह जान लेता है कि वक्ता ने इस 'तात्पर्य' की अभिव्यक्ति के लिये इस शब्द या वाक्य का प्रयोग किया है, तभी उसे उस शब्द-प्रयोग से इस अर्थ का ज्ञान होता है। इसीलिये 'तात्पर्य' ज्ञान को शाब्द-बोध में 'सहकारी' कारण माना जाता है।

**ननु प्रकरणादीनां ··· संगच्छते**—यहां इस प्रश्न द्वारा नागेश ने यह संकेतित किया है कि 'शाब्दबोध' में 'तात्पर्यज्ञान' को भी अनिवार्य रूप से 'सहकारी' कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि वक्ता के 'तात्पर्य' को जाने बिना भी प्रायः श्रोता को अर्थ का ज्ञान होता ही है। तुलना करो—"अन्ये तु नानार्थादौ क्वचिद् एव तात्पर्यज्ञानं कारणम्। तथा च शुकवाक्ये विनैव तात्पर्यज्ञानं शाब्दबोधः" (न्यायमुक्तावली-४.८४) 'तात्पर्यज्ञान की उपयोगिता वैयाकरण इस बात में अवश्य मानता है कि अनेकार्थक वाक्यों में 'तात्पर्य'-ज्ञान के द्वारा 'शाब्दबोध' की प्रामाणिकता का निश्चय होता है। जैसे जब 'गेहे सैन्धवम् अस्ति' कहा गया तो अप्रकरणज्ञ श्रोता को नमक तथा अश्व दोनों अर्थों का ज्ञान हुआ फिर 'प्रकरण' आदि के द्वारा नमक में ही वक्ता का 'तात्पर्य' है यह ज्ञान होने पर उससे नमक-विषयक 'शाब्दबोध' की प्रामाणिकता का निश्चय हो जायगा। वैयाकरणों की इस स्थिति का संकेत पतंजलि के निम्न वाक्य से मिलता है:—"अंग हि भवान् ग्राम्यं पांसुल-पादम् अप्रकरणज्ञम् आगतं ब्रवीतु 'गोपालकम् आनय'; 'करंजकम् आनय' इति। उभयगतिस् तस्य भवति। साधीयो वा यष्टिहस्तं गमिष्यति" (महा० १.१.२२) इसका अभिप्राय यह है कि यदि गांव से सीधे आये हुये, धूलि से सने पैर वाले तथा प्रकरण को न जानने वाले ग्रामीण से यह कहा जाय कि गोपाल को बुला लाओ तो उसे या तो दोनों का—जिसका नाम गोपाल है तथा जो गायों का रक्षक (ग्वाला) है—बोध होगा। अथवा वह सीधे उस व्यक्ति को बुलाने चला जायगा जिसके हाथ में लाठी है तथा जो गायों का रक्षक (ग्वाला) है।

यहां स्पष्टतः पतंजलि ने यह स्वीकार किया है कि अप्रकरणज्ञ व्यक्ति को भी अर्थ का ज्ञान होता ही है—यह दूसरी बात है कि वह अनेकार्थक स्थलों में कभी कभी सन्दिग्ध रहता है। 'प्रकरण' तथा 'सामर्थ्य' के द्वारा वक्ता के 'तात्पर्य' का निर्णय होता है और उससे 'शाब्दबोध' की यथार्थता अथवा प्रामाणिकता का निश्चय होता है। इसलिये

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



शाब्दबोध' में स्वतंत्र रूप से 'तात्पर्य' को भी अनिवार्य कारण नहीं माना जा सकता। तुलना करो—"तात्पर्य-गर्भाकांक्षा-ज्ञान-कारणत्वावश्यकतया आकांक्षा-घटकतयैव तात्पर्य-ज्ञानं हेतुः, न तु स्वातन्त्र्येण, इत्याहुः" (तर्कप्रकाश से न्यायकोश में उद्धृत)।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि लघुमंजूषा (पृ० ५२५) के इस प्रकरण में नागेश ने भी 'तात्पर्य' को 'शाब्दबोध' में हेतु मानने का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। द्र०—"अस्मादर्थद्वय-विषयको बोधो जायते, तात्पर्यं तु क्वेति न जानीमः' इति सर्वजनानुभवविरोधात् न तस्य (तात्पर्यस्य) हेतुत्वम्"। परन्तु यहाँ उन्हीं उक्तियों के साथ 'तात्पर्य' को 'शाब्दबोध' में हेतु माना गया है। यदि दोनों के प्रणेता नागेश ही है तो इस प्रकार के स्पष्ट विरोध का कारण समझ में नहीं आता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# धात्वर्थ-निर्णयः

[धातुओं के अर्थ के विषय में विचार]

अथ सकल-शब्द-मूल-भूतत्वाद्[1] धात्वर्थो निरूप्यते । तत्र 'फलानुकूलो यत्न-सहितो व्यापारः' धात्वर्थः ।

अब सभी शब्दों का मूल होने के कारण, धातु के अर्थ के विषय में विचार किया जाता है। इस प्रसंग में "फल' (की उत्पत्ति) के अनुकूल (होने वाला) यत्न सहित 'व्यापार'' धातु का (सामान्य) अर्थ है ।

**सकलशब्द-मूल-भूतत्वात्**— वैयाकरणों तथा नैरुक्त आचार्यों में एक ऐसा वर्ग था जो सभी शब्दों को आख्यात या धातु से उत्पन्न मानता था। इस बात की स्पष्ट सूचना निरुक्तकार यास्क के निम्न शब्दों में मिलती है—"नामान्याख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्त-समयश्च (निरुक्त १.१२), अर्थात् सभी 'नाम' अथवा 'प्रातिपदिक' शब्द धातु से निष्पन्न हैं यह सिद्धान्त वैयाकरण विद्वानों में शाकटायन को तथा प्रायः सभी नैरुक्त विद्वानों को अभिमत था। परन्तु शाकटायन से इतर वैयाकरण विद्वान् तथा नैरुक्त आचार्यों में गार्ग्य इस सिद्धान्त के विरोधी थे। द्र०—"न सर्वाणि (नामानि आख्यतजानि) इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके" (निरुक्त १.१२)। पतंजलि के महाभाष्य (३.३.१) में उद्धृत निम्न कारिका से भी इस सिद्धान्त-विषयक उपर्युक्त स्थिति का संकेत मिलता है—

**नाम च धातुजम् आह निरुक्ते**
**व्याकरणे शकटस्य च तोकम्** ।

आचार्य पाणिनि मध्यम मार्ग के अनुयायी हैं। इसलिये उन्होंने, इस दृष्टि से भी, मध्यम मार्ग का ही अनुसरण किया है। आचार्य पाणिनि के व्याकरण-सम्प्रदाय में 'प्रातिपादिकों' को कहीं 'व्युत्पन्न' अर्थात् 'धातुज' अथवा 'यौगिक' माना जाता है तो कहीं 'अव्युत्पन्न' अर्थात् रूढि। इसीलिये "उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि" तथा "उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि" ये, दोनों तरह की, परिभाषायें प्रतिष्ठित हो सकीं। (द्र०—परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा सं० २२)। यहां 'उणादयः' का तात्पर्य है उणादि-सूत्रों से निष्पन्न होने वाले रूढ़ि शब्द ।

"उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि" इस परिभाषा के अनुसार, अथवा आचार्य शाकटायन के मत की दृष्टि से, सभी शब्दों को धातु से उत्पन्न मानते हुए नागेश ने यहां 'धातुओं को सभी शब्दों का मूल' कहा है।

१. द्र०—मूलभूत—।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**व्यापारो धात्वर्थः**—नागेश केवल 'व्यापार' को ही धात्वर्थ मानते हैं। भट्टोजी दीक्षित तथा उनके अनुयायी कौण्डभट्ट 'फल' तथा 'व्यापार' दोनों को धात्वर्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु नागेश ने उनकी इस मान्यता का आगे खण्डन किया है। वस्तुतः नागेश 'फल' तथा 'व्यापार' दोनों को पृथक् पृथक् धातु का अर्थ न मानते हुए 'फलानुकूल व्यापार' को धातु का अर्थ मानना चाहते हैं। जैसे—'पच्' धातु का अर्थ है—'पाक रूप फल के अनुकूल होने वाला पचन व्यापार'।

यहाँ 'व्यापार' को एक और विशेषण से विशेषित किया गया है। वह विशेषण है—'यत्न-सहितः', अर्थात् फलानुकूल व्यापार भी यदि यत्न-सहित होगा तभी उसे धात्वर्थ माना जायगा अन्यथा नहीं। यदि पकाने के व्यापार में पाचक का कोई यत्न नहीं है तो वहां 'अयं न पचति' यही प्रयोग होगा, 'अयं पचति' यह प्रयोग नहीं होगा।

**['फल' की परिभाषा]**

> फलत्वं च तद्-धात्वर्थ-जन्यत्वे सति कर्तृ-प्रत्यय-समभि-व्याहारे[1] तद्-धात्वर्थ निष्ठ-विशेष्यता-निरूपित-प्रकारता-वत्त्वम्। विभागजन्य-संयोगादिरूपे पतत्यादिधात्वर्थे विभागसंयोगयोः फलत्व-वारणाय उभयम्। कर्म-प्रत्यय-समभिव्याहारे तु फलस्य विशेष्यता।

'फल' उस धात्वर्थ से उत्पन्न होने वाला होता हुआ, 'कर्तृ' (वाचक) प्रत्यय की समीपता में, उस धात्वर्थ में विद्यमान विशेष्यता से निरूपित (ज्ञापित) विशेषणता से युक्त होता है। 'पत्' आदि (धातुओं) के 'विभागजन्य संयोग' रूप धात्वर्थ में (विद्यमान) विभाग तथा संयोग में 'फलत्व' (की अतिव्याप्ति) के निवारण के लिये (यहां 'फल' की परिभाषा में 'फल' को) दोनों (विशेष्य तथा विशेषण) कहा गया। 'कर्म' (वाचक) प्रत्यय की समीपता में 'फल' (विशेषण न होकर) विशेष्य होता है।

**धात्वर्थ-जन्यत्वे सति**—'फल की परिभाषा में पहली बात यह कही गयी कि 'फल' धात्वर्थ-जन्य होता है—धात्वर्थ जो 'व्यापार' उससे उत्पन्न होने वाला होता है। 'फल' 'व्यापार'-जन्य तो होगा ही क्योंकि 'व्यापार' की परिभाषा में 'व्यापार' को, फलोत्पत्ति के अनुकूल होने पर ही 'व्यापार' माना गया है। यह 'व्यापार'-जन्यता कहीं कहीं आरोपित होती है वास्तविक नहीं। जैसे—'ईश्वरस्तिष्ठति' या 'पत्ये शेते' इन प्रयोगों में ठहरने या सोने आदि 'व्यापारों' से किसी 'फल' की वास्तविक जन्यता नहीं है। इस अंश में 'फल' को विशेष्य माना गया क्योंकि धात्वर्थ-रूप 'व्यापार' से जन्य (उत्पन्न होने वाला) होना उसका विशेषण है।

---

१. ह० में यहां क्रम परिवर्तित हो गया है—कर्तृ-प्रत्यय-समभि-व्याहारे तद्-धात्वर्थ-जन्यत्वे सति।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**तद्धात्वर्थनिष्ठ · प्रकारतावत्त्वम्** 'फल' की इस परिभाषा में दूसरी बातें ये कही गयीं कि फल 'व्यापार'-जन्य होने के कारण विशेष्य होते हुए भी, कर्तृवाच्य में विशेषण बनता है तथा धात्वर्थरूप 'व्यापार' को विशेषित करता है। जैसे—'पच्' धातु का 'फल' है 'पाक' (चावल आदि का गल जाना)। यह 'पाक'–रूप 'फल' एक तो पकाना क्रिया या 'व्यापार' रूप धात्वर्थ से उत्पन्न होता है इसलिये विशेष्य है। दूसरे 'पचति' आदि कर्तृवाच्य के प्रयोगों में 'पाक' रूप 'फल' की उत्पादिका क्रिया या 'पाकानुकूल व्यापार' इस अर्थ की प्रतीति होती है इस रूप में यहाँ, धात्वर्थ ('व्यापार') को विशेषित करने के कारण, वही 'फल' विशेषण भी बनता है।

**विभागजन्य-संयोगादिरूपे··· उभयम्**—'वृक्षात् पत्रं भूमौ पतति' (पेड़ से पत्ता भूमि पर गिरता है) इस प्रयोग में 'पत्' धातु का अर्थ है विभागजन्य संयोग। पहले पत्ता वृक्ष से अलग होता है, फिर भूमि पर आता है—भूमि से उसका संयोग होता है। अब 'पत' धातु के इस अर्थ में विभाग तथा संयोग इन दोनों में 'फलत्व' की अतिव्याप्ति न हो जाय इसलिये यहां 'फल' को विशेष्य तथा विशेषण दोनों कहा गया।

यदि यहां 'फल' की परिभाषा में 'धात्वर्थ-जन्य'—('व्यापार' से उत्पन्न होने वाला) यह अंश न कह कर, अर्थात् 'फल' को विशेष्य न बनाते हुए, केवल इतना ही कहा जाय कि धात्वर्थ रूप 'व्यापार' को विशेषित करने वाला ही 'फल' होता है, अर्थात् 'फल' को केवल विशेषण के रूप में ही प्रस्तुत किया जाय, तो ऊपर के उदाहरण में विभाग में 'फलत्व' की अतिव्याप्ति होगी क्योंकि विभाग विशेषण बन कर 'पत' धातु के अर्थ—संयोग—को विशेषित करता है। विभाग-जन्य संयोग ही यहाँ 'व्यापार' है। इसलिये विभाग, संयोगरूप, 'व्यापार' का विशेषण बन जाता है। परन्तु 'फल' को 'धात्वर्थ-जन्य' कह देने पर विभाग में फलत्व की अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि विभाग धात्वर्थ रूप संयोग से जन्य नहीं है, अपितु वह सयोग का जनक है।

इसी प्रकार यदि "धात्वर्थ भूत 'व्यापार' - को विशेषित करने वाला" यह अंश न कह कर केवल इतना ही कहा जाय कि 'फल' धात्वर्थ-जन्य होता है, अर्थात् केवल उसे विशेष्य के रूप में ही प्रस्तुत किया जाय, तो यहाँ 'पत्' के धात्वर्थ (संयोग) में 'फलत्व' की अतिव्याप्ति होती है क्योंकि संयोग धात्वर्थ (विभाग 'व्यापार') से जन्य है। परन्तु "धात्वर्थनिष्ठ-विशेष्यता-निरूपित-प्रकारतावत्त्वम्", अर्थात् 'फल' 'व्यापार' का विशेषण है यह कह देने पर संयोग में 'फलत्व' की अतिव्याप्ति नहीं होती क्योंकि संयोग धात्वर्थ (विभाग) को विशेषित करने वाला नहीं है अपितु वह स्वयं विशेष्य है तथा विभाग उसका विशेषण है। संयोग विभाग से जन्य होता है न कि विभाग संयोग से जन्य।

इसलिये इन दोनों संयोग तथा विभाग में 'फलत्व' की अतिव्याप्ति को रोकने के लिये 'फल' की परिभाषा में उसे विशेष्य तथा विशेषण दोनों ही कहा गया।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**कर्म-प्रत्यय-समभिव्याहारे विशेष्यता**—केवल कर्तृवाच्य की दृष्टि से यहां 'फल को धात्वर्थ ('व्यापार') का विशेषण कहा गया है। कर्मवाच्य में तो, आख्यात 'कर्म' को कहता है 'कर्ता' को नहीं कहता इसलिये, 'फल' विशेषण न होकर, विशेष्य रहता है—प्रधान बन जाता है। वस्तुतः कर्तृवाच्य में 'व्यापार' विशेष्य तथा 'फल' विशेषण बनता है परन्तु कर्मवाच्य में 'फल' विशेष्य तथा 'व्यापार' विशेषण बनता है।

**['व्यापार' पद का स्पष्टीकरण तथा 'धात्वर्थ' की परिभाषा में आये 'अनुकूल' शब्द का अभिप्राय]**

व्यापारत्वं च—'धात्वर्थफलजनकत्वे सति धातुवाच्यत्वम्'। 'अनुकूलत्वम्' संसर्गः। 'अनुकूलत्वम्' च फल-निष्ठ-जन्यता-निरूपित-जनकत्वम्।

धातु के अर्थ ('फल') का उत्पादक होते हुए धातु का वाच्य अर्थ 'व्यापार' है। ('धात्वर्थ की परिभाषा में) 'अनुकूलता' है ('फल' तथा 'व्यापार' का) सम्बन्ध। और (इस) 'अनुकूलता' (का अभिप्राय है) 'फल' में रहने वाली जन्यता से निरूपित (द्योतित) जनकता।

**व्यापारत्वं च·····धातुवाच्यत्वम्**—'व्यापार' की परिभाषा में दो बातें कही गयीं। पहली यह कि 'व्यापार' धात्वर्थ रूप 'फल' का उत्पादक होता है क्योंकि फलानूकूल प्रयास को ही 'व्यापार' कहा जाता है तथा दूसरी बात यह कि 'व्यापार' स्वयं भी धातु का अर्थ होता है।

वस्तुतः 'फल' भी धातु का अर्थ है तथा 'व्यापार' भी। अन्तर इतना ही है कि 'व्यापार' 'फल' का जनक है या दूसरे शब्दों में 'फल' 'व्यापार'-जन्य है, अर्थात् 'व्यापार' से उत्पन्न होने वाला है।

यदि 'व्यापार' की परिभाषा में केवल इतना ही कहा जाए कि "जो धात्वर्थ रूप 'फल' का जनक है वह 'व्यापार' है" तो पहले जो 'व्यापार' को धात्वर्थ कह आये हैं—"व्यापारो धात्वर्थः"—उससे विरोध उपस्थित होता है। यदि केवल इतना ही कहा जाए कि "धातु का अर्थ 'व्यापार' है" तो 'फल' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, अर्थात् 'फल' को भी 'व्यापार' मानना पड़ेगा क्योंकि 'फल' भी धात्वर्थ है ही।

**अनुकूलत्वं·····जनकत्वम्**—ऊपर धात्वर्थ की परिभाषा में—"फलानुकूलो यत्नसहितो व्यापारो धात्वर्थः" में जो 'अनुकूल' शब्द है उसका अभिप्राय है 'फल' तथा 'व्यापार' का पारस्परिक सम्बन्ध (संसर्ग)। इस सम्बन्ध को ही 'जन्य-जनकता'-सम्बन्ध कहकर और स्पष्ट किया गया है। 'फल' जन्य है तथा 'व्यापार' जनक है। इसलिए 'जन्यता' 'फल' में रहती है और उस 'फल-निष्ठ जन्यता' से 'व्यापार' में रहने वाली जनकता का ही ज्ञान होता है। ये दोनों 'फल' तथा 'व्यापार' इस 'जन्य-जनकता'-रूप सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**[कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य में तिङन्तपद क्रिया-प्रधान होता है तथा कर्मवाच्य में 'फल'-प्रधान]**

"भावप्रधानम् आख्यातम् सत्त्वप्रधानानि नामानि" (निरुक्त १.१) इति निरुक्तोक्ते[1] व्यापार-मुख्य-विशेष्यको बोधः। तत्र तिङ्वाच्यं—सङ्ख्या-विशिष्ट-कारकं कालश्च—व्यापार-विशेषणम्।

"तिङन्त (शब्द) 'व्यापार'-प्रधान होते हैं तथा 'प्रातिपदिक' ('नाम') शब्द 'द्रव्य'-प्रधान होते हैं" निरुक्त के इस कथन के अनुसार धातु से इस प्रकार का 'शाब्दबोध' होता जिसमें 'व्यापार' मुख्य रूप से विशेष्य होता है। उस ('शाब्द-बोध') में 'तिङ्' के अर्थ—सङ्ख्या-विशिष्ट 'कारक' तथा 'काल' (ये दोनों)—'व्यापार' के विशेषण हैं।

**भावप्रधानं·····नामानि**—'भावः (क्रिया) प्रधानं यस्मिन् तद् भाव-प्रधानम् आख्यातम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'आख्यात' या तिङन्त शब्द में 'भाव' (क्रिया अथवा 'व्यापार') की प्रधानता होती है— प्रधान रूप से 'व्यापार' का ही ज्ञान होता है। यहाँ 'भाव' शब्द को क्रिया अथवा 'व्यापार' तथा 'फल' दोनों का वाचक मानना चाहिये। 'भाव' शब्द में 'भू' धातु से 'करण' कारक में 'घञ्' प्रत्यय मानने पर 'भाव' शब्द से 'व्यापार' अर्थ का बोध होगा तथा 'कर्म' कारक में 'घञ्' प्रत्यय मानने पर 'फल' का बोध होगा। इस प्रकार 'आख्यात' (तिङन्त) शब्द में कभी 'व्यापार' की तथा कभी 'फल' की प्रधानता मानी जाती है। इसीलिये कर्तृवाच्य में 'व्यापार' की तथा कर्मवाच्य में 'फल' की प्रधानता होती है। इसी प्रकार 'सत्त्व' अर्थात् द्रव्य की प्रधानता जिसमें रहती है उसे 'नाम' अथवा 'प्रातिपदिक' शब्द कहा जाता है। कात्यायन तथा पतंजलि ने भी महाभाष्य (१.३.१) में 'आख्यात' को क्रिया-प्रधान माना है तथा धातु की परिभाषा के रूप में "क्रिया-वाचनो धातुः" इस वाक्य को प्रस्तुत किया है। परन्तु तिङन्त पदों की क्रियाप्रधानता केवल कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य के वाक्यों में ही मानी जाती है। कर्मवाच्य के तिङन्त पदों में तो 'फल' की प्रधानता ही होती है, यह ऊपर कह आये हैं।

**व्यापार-मुख्य-विशेष्यको बोधः**—'फल' तथा 'व्यापार' अथवा फलानुकूल 'व्यापार' को धातु का अर्थ माना गया है इसलिये सामान्यतया दो प्रधान अथवा विशेष्य होंगे। इन दो विशेष्यों में भी 'व्यापार' मुख्य विशेष्य है। इस का कारण यह है कि 'फल' भी कर्तृवाच्य के प्रयोगों में, 'व्यापार' के प्रति विशेषण बन जाता है। द्र०—"फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्" (वैभूसा० पृ० ८)।

---

१. द्र०—यास्कोक्तेः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**तिङ्वाच्यम्.....विशेषणम्**—'तिङ्' के अर्थ 'कर्ता', 'कर्म', 'संख्या' तथा 'काल' माने गये हैं। आधार तथा आधेय सम्बन्ध से कर्ता 'व्यापार' का विशेषण बनता है क्योंकि 'व्यापार' 'कर्ता' में ही रहता है। इसी प्रकार 'कर्म' 'फल' का विशेषण बनता है क्योंकि 'फल' 'कर्म' में रहता है। 'संख्या' कर्तृवाच्य में 'कर्ता' का तथा कर्मवाच्य में 'कर्म' का विशेषण बनती है। यहां नागेश ने यह कहा है कि 'आख्यात' से जो 'शाब्द-बोध' होता है वह सामान्यतया 'व्यापार'-प्रधान होता है तथा उस 'व्यापार' के विशेषण होते हैं 'सङ्ख्या'-विशिष्ट 'कारक' अर्थात् 'कर्ता' या 'कर्म'। कर्तृवाच्य में 'कर्ता' 'व्यापार' का विशेषण होगा तथा कर्मवाच्य में 'कर्म'। इन 'कर्ता' और 'कर्म' के अतिरिक्त काल भी 'व्यापार' (क्रिया) का विशेषण बनता है। भर्तृहरि ने 'काल' को क्रिया का विशेषण बताते हुए कहा है—"क्रियाभेदाय कालस्तु" (वाप० ३.९.२)। यों पृथक् पृथक् ये सभी 'सङ्ख्या', 'कारक' तथा काल, 'तिङ्'-विभक्ति के अर्थ माने गये हैं।

**['फल' तथा 'व्यापार' दोनों में धातु की पृथक् पृथक् 'शक्ति' मानने वालों का खण्डन]**

परे तु—फलव्यापारयोर्धातोः पृथक् शक्तावुद्देश्यविधेय-भावेन अन्वयापत्तिस्तयोः स्यात्। पृथग् उपस्थितयोस्तथा अन्वयस्य औत्सर्गिकत्वात्। किञ्चैकपदे व्युत्पत्ति-द्वय-कल्पनेऽतिगौरवम्। तथाहि फल-विशेषणक-व्यापार-बोधे कर्तृ-प्रत्यय-समभिव्याहृत-धातुजन्योपस्थितिः कारणम्। व्यापार-विशेषणक-फल-बोधे कर्म-प्रत्यय-समभिव्याहृत-धातुजन्योपस्थितिः कारणम् इति कार्य-कारण-भाव-द्वयकल्पनम्। धातोरर्थद्वये शक्तिद्वयकल्पनं, धातोर्बोधजनकत्व-सम्बन्ध-द्वय-कल्पनं चातिगौरवम्। तस्मात् फलावच्छिन्ने व्यापारे व्यापारावच्छिन्ने फले च धातूनां शक्तिः। कर्तृकर्मार्थक-तत्तत्प्रत्यय-समभिव्याहा-रश्च तत्तद्बोधे नियामकः—इत्याहुः।

दूसरे तो यह कहते हैं कि 'फल' तथा 'व्यापार' में धातु की पृथक् पृथक् शक्ति मानने पर (दोनों में) उद्देश्य-विधेयभाव मान कर (दोनों का) अन्वय करना पड़ेगा क्योंकि पृथक् पृथक् पद से ज्ञात हुए दो अर्थों में वैसा ही अन्वय स्वाभाविक है। और एक पद में दो व्युत्पत्तियों (कार्यकारण-भावों) की कल्पना में अत्यधिक गौरव है। वह (दो प्रकार का कार्यकारणभाव) इस प्रकार कि (१)—'फल' है विशेषण तथा 'व्यापार' है विशेष्य (प्रधान) जिसमें ऐसे 'शाब्दबोध' (रूप कार्य) में 'कर्तृ'—(वाचक) प्रत्यय-सम्बद्ध धातु से व्यक्त होने वाला अर्थ कारण है तथा (२)–'व्यापार' है विशेषण और 'फल है' विशेष्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(प्रधान) जिसमें ऐसे 'शाब्दबोध' (रूप कार्य) में 'कर्म' (वाचक) प्रत्यय-सम्बद्ध धातु से व्यक्त होने वाला अर्थ कारण है। इस तरह दो कार्यकारणभाव की कल्पना, दो अर्थों ('व्यापार' तथा 'फल') की दृष्टि से धातु की दो प्रकार की 'शक्ति' की कल्पना तथा धातु में 'बोध-जनकत्व'=रूप दो सम्बन्धों की कल्पना में अत्यधिक गौरव है।

इसलिये ('अनुकूलता' सम्बन्ध से) 'फल' से विशिष्ट 'व्यापार' तथा (जन्यता सम्बन्ध से) 'व्यापार' से विशिष्ट 'फल' में धातु की 'शक्ति' है और 'कर्ता' और 'कर्म' वाचक उन-उन प्रत्ययों की सम्बद्धता उस-उस ज्ञान ('फल'-विशिष्ट 'व्यापार' तथा 'व्यापार'—विशिष्ट 'फल' के बोध) में नियामक है।

भर्तृहरि आदि प्राचीन वैयाकरण तथा उनके अनुयायी भट्टोजी दीक्षित आदि यह मानते हैं कि धातु के 'फल' तथा 'व्यापार' ये दो पृथक् पृथक् अर्थ हैं। इसीलिये "फलव्यापारयोर्धातुः" (वैभूसा० पृ० १६१ में उद्धृत) इस कारिका में 'फलव्यापारयोः' यह द्विवचनान्त प्रयोग किया गया। परन्तु इस मत को मानने में नागेश ने निम्न आपत्तियाँ दिखाई हैं।

**उद्देश्य-विधेयभावेन अन्वयापत्तिः**—पहली आपत्ति यह है कि 'फल' और 'व्यापार' को अलग अलग धातु का अर्थ मानने पर अर्थ के अनुसार कभी 'व्यापार' को उद्देश्य तथा 'फल' को विधेय मानना होगा तथा कभी 'फल' को उद्देश्य और 'व्यापार' को विधेय मानना होगा क्योंकि दो भिन्न अर्थ होने पर इस प्रकार के उद्देश्य-विधेय-भाव की स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है। जैसे—'नीलो घटः' जब कहा जाता है तो कभी 'नीलः' उद्देश्य होता है तथा 'घटः' विधेय होता है और कभी इसके विपरीत स्थित भी होती है।

**व्युत्पत्तिद्वय-कल्पने·····कार्यकारणभावद्वयकल्पनम्**—दूसरी आपत्ति यह है कि दो प्रकार की व्युत्पत्तियों (कार्यकारणभावों) की कल्पना करनी पड़ती है। 'व्यापार' का जब प्रधान रूप से तथा फल का गौण रूप से बोध होता है तब उस बोध रूप कार्य के प्रति, धातु के साथ सम्बद्ध होने वाले, कर्तृवाचक प्रत्ययों को कारण मानना पड़ता है तथा जब 'फल' का प्रधान रूप से तथा 'व्यापार' का गौण रूप से बोध होता है तब उस बोध रूप कार्य के प्रति, धातु के साथ सम्बद्ध होने वाले, कर्मवाचक प्रत्ययों को कारण मानना पड़ता है।

**अर्थद्वये शक्तिद्वयकल्पनम्**—तीसरी आपत्ति यह है कि, धातुओं के दो भिन्न भिन्न अर्थ 'फल' तथा 'व्यापार' हैं इसलिये उनकी दृष्टि से, धातुओं में दो प्रकार की भिन्न भिन्न वाचकता 'शक्ति' की कल्पना करनी पड़ती है।

**बोध-जनकत्व-सम्बन्ध-द्वय-कल्पनम्**—चौथी आपत्ति यह है कि धातुओं में 'फल' तथा 'व्यापार' की दृष्टि से दो प्रकार के 'बोधजनकता' सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है। यह 'बोधजनकता' सम्बन्ध तथा वाचकता 'शक्ति' लगभग एक ही बात है। इसलिये तीसरी आपत्ति की बात को ही यहाँ पुनः कहा गया है। 'बोधजनकता' सम्बन्ध के द्वारा उसी बात को पुनः इसलिए कहा गया कि कुछ प्राचीन विद्वान् 'बोधजनकता' को ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'शक्ति' मानते थे। नागेशभट्ट 'वाच्यवाचकभाव' सम्बन्ध को 'शक्ति' मानते हैं इसीलिए, प्राचीनों की दृष्टि से ही उन्होंने यह चौथी आपत्ति प्रस्तुत की है।

**तस्मात्फलावच्छिन्ने·····नियामक इत्याहुः**—इसीलिए धातु की 'फल'-विशिष्ट-'व्यापार' तथा 'व्यापार'-विशिष्ट 'फल' में 'शक्ति' माननी चाहिये। 'फल'-विशिष्ट-'व्यापार' का अभिप्राय है फलानुकूल अथवा फलोत्पादक 'व्यापार' तथा 'व्यापार'-विशिष्ट-'फल' का अभिप्राय है कि 'व्यापार'-जन्य 'फल'। कर्तृवाच्य के प्रयोगों में फलानुकूल 'व्यापार' की प्रतीति होती है तथा कर्मवाच्य में 'व्यापार'-जन्य 'फल' की प्रतीति होती है। कर्तृवाच्य के प्रयोगों में कर्तृवाचक प्रत्यय इस बात का नियमन अथवा तात्पर्य ज्ञापन करेगा कि यहाँ धातु फलानुकूल 'व्यापार' का बोधक है तथा तथा कर्मवाच्य के प्रयोगों में कर्मवाचक प्रत्यय इस बात का नियामक होगा कि धातु यहाँ 'व्यापार'-जन्य 'फल' का बोधक है। ऐसा मानने में ऊपर दिखाये गये दोष नहीं उपस्थित होते।

**[मीमांसकों के मत—"धातु का अर्थ 'फल' है तथा प्रत्यय का अर्थ 'व्यापार' है"—का खण्डन]**

> यत्तु **मीमांसकाः** "फलं धात्वर्थो व्यापारः प्रत्ययार्थः" इति **वदन्ति**। तन्न "लः कर्मणि०" (पा० ३.४.६९) इत्यादि-सूत्र-विरोधापत्तेः। नहि तेन व्यापारस्य प्रत्ययार्थता लभ्यते। किं च 'पचति', 'पक्ष्यति', 'पक्ववान्' इत्यादौ फूत्कारादि-प्रतीतये तत्रानेक-प्रत्ययानां शक्ति-कल्पनापेक्षया एकस्य धातोरेव शक्ति-कल्पनोचिता। किञ्च फूत्करादेः प्रत्ययार्थत्वे 'गच्छति' इत्यादौ तत्प्रतीति-कारणाय तद्बोधे 'पचि'-समभिव्याहारस्यापि कारणत्व-कल्पनेऽतिगौरवम्।

जो कि मीमांसक (मण्डनमिश्र आदि)—"धातु का अर्थ 'फल' तथा ('तिङ्' आदि) 'प्रत्यय' का अर्थ 'व्यापार"—कहते हैं वह उचित नहीं है क्योंकि (वैसा मानने पर) "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" इत्यादि सूत्रों (के अर्थों) से विरोध उपस्थित होता है। 'प्रत्यय' का अर्थ 'व्यापार' है यह उस सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके अतिरिक्त 'पचति' (पकाता है), 'पक्ष्यति' (पकावेगा) 'पक्ववान्' (पकाया) इत्यादि प्रयोगों में फूंकना आदि 'व्यापारों' के ज्ञान के लिये अनेक प्रत्ययों में (वाचकता शक्ति) की कल्पना करने की अपेक्षा (इन सब प्रयोगों में विद्यमान) एक 'धातु' में 'शक्ति' की कल्पना उचित है। तथा फूंकना आदि 'व्यापारों' को 'प्रत्यय' का अर्थ मानने पर ('पचति' आदि के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



समान) 'गच्छति' इत्यादि में (भी) उस 'फूंकना' आदि 'व्यापारों' के ज्ञान के निवारण के लिए उस (फूंकना आदि 'व्यापार') के ज्ञान में 'पच्' धातु की समीपता में भी कारणत्व की कल्पना करनी पड़ेगी जिसमें गौरव होगा।

मण्डनमिश्र आदि मीमांसक विद्वानों का यह मन्तव्य है कि धातु का अर्थ केवल 'फल' है। 'व्यापार' तो 'तिङ्' आदि प्रत्ययों का अर्थ है। 'पाकः' जैसे प्रयोगों में भी पाक 'व्यापार' 'घञ्' प्रत्यय का अर्थ है। गङ्गेश ने तत्त्वचिन्तामणि के शब्दखण्ड (पृ० ८४७) में, आचार्य मण्डन के मत का उल्लेख करते हुए, लिखा है कि इस आचार्य के अनुसार धातु का अर्थ 'फल' है। लाघव के कारण 'पच्' धातु का अर्थ विक्लित्ति (गीला होना) रूप 'फल' मानना चाहिये। 'आग जलाना' आदि विभिन्न 'व्यापारों' को धातु का अर्थ मानने में गौरव होगा। इसी प्रकार 'गम्' धातु का अर्थ अन्य स्थान से संयोग, 'पत्' का निम्न प्रदेश से संयोग तथा 'त्यज्' का विभाग अर्थ मानना चाहिये। इन सब 'फलों' के उत्पादक 'व्यापारों' को आचार्य मण्डनमिश्र धातु का अर्थ नहीं मानते।

**"लः कर्मणि०" इति सूत्र-विरोधापत्तेः**—इस मत का खण्डन करते हुए नागेश ने पहला दोष यह दिया है कि इस मत को मानने में पाणिनि के "लः कर्मणि०" सूत्र से विरोध उपस्थित होता है। इस सूत्र में ऊपर से "कर्तरि कृत्" (३.४.६७) की अनुवृत्ति आती है जिसके अनुसार "लः कर्मणि०" सूत्र लकारों का विधान 'कर्म' तथा 'कर्त्ता' अर्थ में करता है। इसलिये लकारों के स्थान में होने वाले 'तिङ्' आदि प्रत्ययों का अर्थ 'कर्म' तथा 'कर्त्ता' ही हो सकते हैं, न कि 'व्यापार'।

**एकस्य धातोरेव शक्ति-कल्पनोचिता**—दूसरा दोष यह है कि एक ही धातु के साथ विभिन्न प्रत्ययों के संयोजन से निष्पन्न अनेक प्रयोगों में उन-उन प्रत्ययों को एक ही 'व्यापार' का वाचक मानना पड़ेगा। जैसे—'पचति', 'पक्ष्यति', 'पक्ववान्' इत्यादि में विद्यमान तीन भिन्न-भिन्न प्रत्ययों में एक 'व्यापार' के बोधक 'शक्ति' की कल्पना करनी पड़ेगी, जिसमें गौरव अधिक है। सभी प्रयोगों में विद्यमान एक धातु में, 'व्यापार' को कहने वाली, 'शक्ति' की कल्पना में लाघव है।

**फूत्कारादेः प्रत्ययार्थत्वेऽतिगौरवम्**—तीसरा दोष यह है कि जब 'व्यापार' प्रत्यय का ही अर्थ है तो जिस प्रकार 'पचति' में 'ति' प्रत्यय फूंकने आदि 'व्यापारों' का बोधन करेगा उसी प्रकार 'गच्छति' में विद्यमान 'ति' प्रत्यय के द्वारा भी उन्हीं 'व्यापारों' का बोधन मानना होगा। इस प्रकार 'गच्छति' शब्द से भी फूंकने आदि 'व्यापारों' का ज्ञान होना चाहिये पर ऐसा होता नहीं। इसलिये इस अनिष्ट स्थिति के निवारणार्थ मीमांसक को यह कहना पड़ेगा कि 'पच्' धातु से सम्बद्ध जो 'ति' प्रत्यय वही फूंकने आदि' 'व्यापारों' का वाचक है, अन्य 'ति' प्रत्यय नहीं। इस तरह प्रत्येक प्रत्यय के साथ इस प्रकार की कल्पना करने में बहुत अधिक विस्तार होगा। परन्तु 'व्यापार' को धातु का अर्थ मानने में, धातु की भिन्नता के कारण, 'पचति' से जिस 'व्यापार' की प्रतीति होगी उससे भिन्न 'व्यापार' की प्रतीति 'गच्छति' से होगी। इसलिये अलग से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**[मीमांसकों का उपर्युक्त मत मानने पर 'सकर्मक', 'अकर्मक' सम्बन्धी व्यवस्था की अनुपपत्ति]**

किं च सकर्मकाकर्मक-व्यवहारोच्छेदापत्तिः। न च—प्रत्ययार्थ-व्यापार-व्यधिकरण-फल-वाचकत्वं 'सकर्मकत्वम्' तन्मते, तत्समानाधिकरण-फलवाचकत्वम् 'अकर्मकत्वम्' च, प्रत्ययार्थ-व्यापाराश्रयत्वं 'कर्तृत्वम्', 'घटं भावयति' इत्यादौ णिजर्थ-व्यापार-व्यधिकरण-फलाश्रयत्वेन घटादेः 'कर्मत्वम्'—इति वाच्यम्। अभिधानानभिधानव्यवस्थोच्छेदापत्तेः। न च—व्यापारेणाश्रयाक्षेपात् कर्तुरभिधानम्, कर्माख्याते च प्रधानेन फलेन स्वाश्रयाक्षेपात् कर्मणोऽभिधानम्—इति वाच्यम्। 'जातिशक्तिवादे' जात्याक्षिप्तव्यक्तेरिव आश्रय-प्राधान्यापत्तौ "क्रियाप्रधानम् आख्यातम्" इति यास्कवचो-विरोधापत्तेः। किं च फलस्य धातुना, तदाश्रयस्य च आक्षेपेण लाभसम्भवेन "लः कर्मणि०" (पा० ३.४.६९) इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः।

इसके अतिरिक्त 'सकर्मक' तथा 'अकर्मक' विषयक व्यवस्था नष्ट हो जाती है। यह नहीं कहना चाहिये कि—उन (मीमांसकों) के मत में प्रत्ययार्थरूप 'व्यापार' के अधिकरण से भिन्न अधिकरण वाले 'फल' का वाचक (धातु) 'सकर्मक' है, प्रत्ययार्थ रूप 'व्यापार' के अधिकरण से अभिन्न अधिकरण में रहने वाले 'फल' का वाचक (धातु) 'अकर्मक' है, प्रत्ययार्थ-'व्यापार'-का आश्रय 'कर्ता' है तथा 'घटं भावयति' इत्यादि में, (णिच्) प्रत्यय के अर्थ (प्रेरणा) 'व्यापार' के अधिकरण से भिन्न अधिकरण वाले (उत्पत्तिरूप) 'फल' का आश्रय होने से, 'घट' आदि की 'कर्मता' है—क्योंकि (इस प्रकार की व्यवस्था को मानने से) 'कथित' तथा 'अकथित' की (पाणिनि-प्रोक्त सारी) व्यवस्था विनष्ट हो जायगी। और यह भी नहीं कहना चाहिये कि—(उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार भी कर्तृवाच्य में) 'व्यापार' के द्वारा अपने आश्रय ('कर्ता') के आक्षिप्त होने से 'कर्ता' का कथन तथा 'कर्म'-वाचक 'आख्यात' में प्रधानभूत 'फल' के द्वारा अपने आश्रय ('कर्म') के आक्षिप्त होने से 'कर्म' का कथन हो जायेगा—क्योंकि "जाति में शब्द की 'शक्ति' है" इस सिद्धान्त में 'जाति' से आक्षिप्त 'व्यक्ति (की प्रधानता) के समान (यहाँ भी 'व्यापार' तथा 'फल' के द्वारा आक्षिप्त) आश्रय ('कर्ता' तथा 'कर्म') की प्रधानता के प्राप्त होने पर

१. निरुक्त (१.१) में "भावप्रधानम् आख्यातम्" पाठ ही मिलता है। निरुक्त के किसी संस्करण या टीका में 'क्रियाप्रधानम्' पाठ नहीं मिलता है। स्वयं नागेश ने इसी प्रकरण में 'व्यापार' की परिभाषा के प्रसङ्ग में, "भावप्रधानम्" पाठ को ही उद्धृत किया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यास्क के "आख्यात क्रिया-प्रधान होता है" इस कथन से विरोध उपस्थित होगा। साथ ही 'फल' का (कथन) 'धातु' से तथा उसके आश्रय ('कर्म') का ('फल' के द्वारा) आक्षेप होने से (दोनों के कथन का) लाभ हो जाने के कारण (पाणिनि का) "लः कर्मणि०" यह सूत्र व्यर्थ हो जायगा।

मीमांसकों के मत में चौथा दोष यह है कि धातुओं की 'सकर्मकता' तथा अकर्मकता' विषयक व्यवस्था विशृङ्खलित हो जाएगी क्योंकि 'सकर्मक' तथा 'अकर्मक की परिभाषा 'व्यापार' को 'धातु' का अर्थ मानकर ही की गयी है। और वह है—"स्वार्थ-व्यापार-व्यधिकरण-फल-वाचकत्वं सकर्मकत्वम्" तथा "स्वार्थ-व्यापार-समानाधिकरण-फल-वाचकत्वम् अकर्मकत्वम्", अर्थात् स्वार्थ (धात्वर्थ) रूप जो 'व्यापार' उसके अधिकरण अथवा आश्रय से भिन्न अधिकरण या आश्रय वाले 'फल' का वाचक धातु 'सकर्मक' है तथा 'व्यापार' के अधिकरण (आश्रय) में ही रहने वाले 'फल' का वाचक धातु 'अकर्मक' है।

**न च ·····कर्मत्वम् इति वाच्यम्**—यहां मीमांसक यह कह सकते हैं कि इन परिभाषाओं में 'स्वार्थ' शब्द के स्थान पर 'प्रत्ययार्थ' शब्द रख देने से उपर्युक्त व्यवस्था में दोष नहीं आता। इसी तरह 'कर्ता' तथा 'कर्म' की परिभाषाओं में भी 'प्रत्ययार्थ' शब्द रख कर उनकी व्यवस्था को निर्दोष बताया जा सकता है। वह इस रूप में कि प्रत्ययार्थभूत 'व्यापार' के आश्रय को 'कर्ता' और प्रत्ययार्थ 'व्यापार' से भिन्न अधिकरण वाले 'फल' के आश्रय को 'कर्म' माना जाये।

"प्रत्ययार्थ'-रूप 'व्यापार' का आश्रय 'कर्त्ता' है"—इस परिभाषा को मानने पर 'घटं भावयति' जैसे प्रयोगों में दोष आ सकता है क्योंकि वहां 'प्रत्ययार्थ' (प्रेषण व्यापार) का आश्रय घट नहीं है। और जब उसकी 'कर्त्ता' संज्ञा नहीं होगी तो "गति-बुद्धि०" (पा०१.४.५२) के अनुसार 'घट' 'कर्म' भी नहीं हो सकता क्योंकि इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि अण्यन्तावस्था में जो 'कर्ता' वही ण्यन्तावस्था में 'कर्म' बनता है। अतः 'कर्म' संज्ञा के अभाव में द्वितीया विभक्ति के न आने से 'घटं भावयति' प्रयोग नहीं बन सकेगा। परन्तु इस दोष का निराकरण इस रूप में किया जा सकता है कि "गतिबुद्धि०" सूत्र से 'घट' की 'कर्म' संज्ञा भले ही न हो, "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" (पा० १.४.४९) के नियम से 'घट' की 'कर्म' संज्ञा हो जायगी क्योंकि 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ जो प्रेषण 'व्यापार' उसके अधिकरण से भिन्न अधिकरण वाले 'फल' (उत्पत्ति) का घट आश्रय है।

**अभिधानानभिधान·····यास्कवचोविरोधापत्तेः**—'सकर्मक', 'अकर्मक' आदि की मीमांसक-प्रदर्शित उपर्युक्त व्यवस्था इसलिये मान्य नहीं है कि ऐसा मानने से पाणिनि की 'अनभिहित' तथा 'अभिहित' की व्यवस्था दूषित हो जायगी। पाणिनि ने "अनभिहिते" (पा० २.३.१) सूत्र के अधिकार में "कर्मणि द्वितीया" (पा० २.३.२.) इत्यादि सूत्रों का प्रवचन कर के 'अनभिहित' (अकथित या अनुक्त) 'कर्म' में द्वितीया विभक्ति तथा अनभिहित 'कर्ता' में तृतीया विभक्ति का विधान किया है। यदि 'तिङ्' आदि प्रत्ययों का अर्थ, 'कर्ता' और 'कर्म' न मान कर, 'व्यापार' मान लिया गया तो 'कर्ता' और 'कर्म' कभी भी कथित होंगे ही नहीं क्योंकि प्रत्यय तो सदा 'व्यापार' को ही कहेगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस कठिनाई के समाधान के रूप में यह कहा जा सकता है कि अभिधान तथा अनभिधान की व्यवस्था भी यों बन जायगी कि कर्तृवाच्य में प्रधान जो 'व्यापार' वह अपने आश्रय का आक्षेप (असाक्षात् कथन) ठीक उसी प्रकार करेगा जिस प्रकार, 'जाति' में शक्ति मानने वाले विद्वानों की दृष्टि में, 'जाति' अपने आश्रय 'व्यक्ति' का आक्षेप कर लेती है। इस प्रकार 'व्यापार' के द्वारा 'कर्ता' का आक्षेप होने से कर्तृवाच्य में 'कर्ता' कथित हो जाया करेगा। इसी रूप में कर्मवाच्य में प्रधानभूत 'फल' अपने आश्रय 'कर्म' का आक्षेप करेगा जिससे कर्मवाच्य के प्रयोगों में भी 'कर्म' कथित हो जायगा। इस प्रकार पाणिनि की 'अनभिहित' तथा 'अभिहित' की व्यवस्था में कोई दोष नहीं आता।

परन्तु 'अनभिहिते' की यह व्यवस्था भी इसलिये मान्य नहीं है कि आश्रय के आक्षेप द्वारा 'कर्ता' तथा 'कर्म' विषयक अभिधान, अनभिधान की व्यवस्था के बन जाने पर भी एक महान् दोष उपस्थित होता है। 'जाति' में शब्द की शक्ति मानने के सिद्धान्त में 'जाति' के द्वारा उसके आश्रय 'व्यक्ति' का आक्षेप तो किया जाता है। परन्तु जिस प्रकार 'जाति' से आक्षिप्त 'व्यक्ति' के अर्थ की वहां प्रधानता होती है -- 'व्यक्ति' में ही कार्य किये जाते हैं 'जाति' में नहीं—उसी प्रकार यहां भी 'व्यापार' के द्वारा आक्षिप्त 'कर्ता' तथा 'कर्म की ही प्रधानता माननी होगी 'व्यापार' की नहीं, अर्थात् 'व्यापार' को अप्रधान या गौण मानना होगा। और इस रूप में यदि 'व्यापार' को गौण मान लिया गया तो "आख्यात' क्रिया-प्रधान होता है" यास्क के इस कथन से महान् विरोध उपस्थित होगा। इसलिये, महर्षि यास्क के कथन के विरुद्ध होने के कारण, मीमांसकों का उपर्युक्त मत मान्य नहीं है। इस कारण पूर्वोक्त 'सकर्मक' तथा 'अकर्मक' की अव्यवस्था वाला दोष बना ही हुआ है।

**किञ्च···"लःकर्मणि०" इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः**—यास्क के वचन से विपरीत होने के अतिरिक्त एक और आपत्ति यह है कि, 'व्यापार' के आक्षेप के द्वारा 'कर्ता' तथा 'कर्म' के कथन की बात मान लेने पर, पाणिनि का "लः कर्मणि०" इस सूत्रांश के द्वारा 'कर्ता' तथा 'कर्म' में लकारों का विधान करना व्यर्थ हो जाता है क्योंकि उनका कथन तो क्रमशः 'व्यापार' तथा 'फल' के द्वारा ही हो जाया करेगा।

**[मीमांसकों के मत में अन्य दोषों का प्रदर्शन]**

कर्मकर्तृकृतां कारकभावनोभयवाचकत्वे गौरवाच्च। किञ्च भावविहितघञादीनां व्यापारावाचकत्वे 'ग्रामो गमनवान्' इत्याद्यापत्तिः। तद्वाचकत्वे तेनापि स्वाश्रयाक्षेपे कर्तुरभिधानापत्तिः।

किञ्च 'गुरुः शिष्याभ्यां पाचयति' इत्यादौ "हेतुमति च" (पा० ३.१.२६.) इति सूत्रबलात् प्रयोजक-व्यापारस्य णिजर्थत्वे स्थिते प्रयोज्यव्यापार आख्यातार्थो वाच्यः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



एवं च सङ्ख्यायाः स्ववाचकाख्यातार्थव्यापारे अन्वयिन्येव अन्वयात् 'शिष्याभ्याम्' इति द्विवचनानापत्तिः। 'पाचयति' इत्येकवचनानापत्तिश्च । गुरोनभिधानेन तत्र[1] प्रथमाया अनापत्तेश्च । 'शिष्य'-शब्दात् तदापत्तेश्च इत्यन्यत्र विस्तरः ।

'कर्म' और 'कर्ता' में विहित 'कृत्' प्रत्ययों को कारक ('कर्म' या 'कर्ता') तथा 'व्यापार' (इस रूप में) दो अर्थों का वाचक मानने में गौरव होगा। और (यदि इन 'कृत्' प्रत्ययों का 'व्यापार' अर्थ नहीं माना जाता तो) 'भाव' में विहित 'घञ्' आदि प्रत्ययों के द्वारा 'व्यापार' का कथन न होने पर ('ग्रामः संयोगवान्' प्रयोग के समान) 'ग्रामो गमनवान्' इस प्रयोग को भी साधु मानना पड़ेगा। और यदि उसे (घञ् आदि को) 'व्यापार' का वाचक माना जाता है तो उस ('व्यापार') के द्वारा ही अपने आश्रय ('कर्ता') के आक्षेप हो जाने पर 'कर्ता' के कथित होने की आपत्ति उपस्थित होती है।

इसके अतिरिक्त 'गुरुः शिष्याभ्यां पाचयति' (गुरु दो शिष्यों से पकवाता है) इत्यादि (प्रयोगों) में, "हेतुमति च" इस सूत्र के बल से प्रयोजक (प्रेरक) के 'व्यापार' को 'णिच्' (प्रत्यय) का अर्थ मान लेने पर, प्रयोज्य के 'व्यापार' को 'तिङ्' का अर्थ मानना पड़ेगा। और इस रूप में संख्यावाचक 'आख्यात' के अर्थ –(प्रयोज्य) 'व्यापार'—से अन्वित होने वाले (प्रयोज्य) में सङ्ख्या का अन्वय होने से 'शिष्याभ्याम्' इस (प्रयोग) में द्विवचन तथा 'पाचयति' इस (प्रयोग) में एकवचन नहीं हो सकेगा तथा 'गुरु' के अकथित रहने से वहां 'प्रथमा' विभक्ति की प्राप्ति नहीं होगी और 'शिष्य' शब्द से उस (प्रथमा' विभक्ति) की प्राप्ति होगी। यह बातें अन्यत्र (लघुमंजूषा आदि में) विस्तार से कही गयी हैं।

मीमांसकों की उपर्युक्त मान्यता में पाँचवाँ दोष यह है कि 'व्यापार' को धातु का अर्थ न मानने पर उन 'ण्वुल्' आदि 'कृत्' प्रत्ययों के दो दो अर्थ ('व्यापार' तथा 'कारक') मानने होंगे जिनका बिधान 'कर्ता' या 'कर्म' को कहने के लिये किया गया है। इस प्रकार 'ण्वुल्' प्रत्यय को 'कर्ता' तथा 'व्यापार' दोनों का वाचक मानना होगा जिसमें विशेष गौरव है। वैयाकरण इन 'कृत्' प्रत्ययों को केवल आश्रय का वाचक मानते हैं, इसलिये उनके सिद्धान्त में लाघव है।

और यदि गौरव के भय से 'कृत्' प्रत्ययों को इन उभय अर्थों का वाचक न माना गया केवल 'कर्ता' 'कर्म' आदि को ही उनका वाच्यार्थ माना गया, 'व्यापार' को नहीं, तो एक दूसरा दोष उपस्थित होगा। मीमांसक 'व्यापार' को तो धातु का अर्थ मानते ही नहीं साथ ही यदि वे 'भाव' में विहित 'घञ्' आदि 'कृत' प्रत्ययों को भी 'व्यापार' का

१. ह० में 'तत्र' अनुपलब्ध ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



वाचक नहीं मानेंगे तो 'ल्युट्' प्रत्यय से निष्पन्न 'गमनम्' जैसे शब्द गमन 'व्यापार'-रूप अर्थ को प्रकट नहीं कर सकेंगे। उनका अर्थ केवल संयोग मात्र ही होगा। उस स्थिति में जिस प्रकार 'ग्रामः संयोगवान्' (ग्राम संयोग वाला है) यह प्रयोग होता है उसी प्रकार 'ग्रामो गामनवान्' यह प्रयोग भी होने लगेगा जो अभीष्ट नहीं है।

पर यदि इन प्रत्ययों को 'व्यापार' अर्थ का वाचक मान लिया गया तब भी यह दोष उपस्थित होता है कि 'कृत्' प्रत्यय के अर्थ 'व्यापार' के द्वारा अपने आश्रय 'कर्ता' आदि के अभिधान की स्थिति उत्पन्न होगी जो अभीष्ट नहीं है।

इस प्रकार यदि व्यापार को 'कृत्' प्रत्ययों का अर्थ मानते हैं तब भी और यदि नहीं मानते हैं तब भी—दोनों रूपों में—मीमांसकों के मत में दोष बना ही रहता है।

इसके अतिरिक्त, 'व्यापार' को धातु का अर्थ न मान कर उसे 'तिङ्' का अर्थ मानने वाले मीमांसकों के मत में छठा दोष यह है कि 'गुरुः शिष्याभ्यां पाचयति' इस प्रयोग में अनेक कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। यहां 'प्रयोजक' गुरु के 'व्यापार' को 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ मानना होगा क्योंकि 'प्रयोजक' के 'व्यापार' को कहने के लिये ही पाणिनि ने 'णिच्' प्रत्यय का विधान, "हेतुमति च" सूत्र द्वारा, किया है। अब शेष रह जाता है 'प्रयोज्य' (शिष्य) का 'व्यापार'। उसे ही यहां 'आख्यात' अथवा 'तिङ्' का अर्थ मानना होगा। और जब 'तिङ्' प्रयोज्य के 'व्यापार' को कहेगा तो उससे सम्बद्ध होने वाले 'प्रयोज्य' (शिष्य) में ही 'तिङ्' के अर्थ 'संख्या' का भी अन्वय करना होगा, अर्थात् दोनों में एक ही तरह के वचन का प्रयोग करना होगा क्योंकि 'संख्या' या 'वचन' भी तो 'तिङ्' का अर्थ है। इसका स्पष्ट परिणाम यह होगा कि, यतः 'पाचयति' में एकवचन का प्रयोग है इसलिये, 'शिष्य' शब्द को भी एकवचन से सम्बद्ध करना होगा अथवा 'शिष्य' शब्द में 'द्विवचन' का प्रयोग ('शिष्याभ्याम्') होने के कारण 'पाचयति' को भी 'द्विवचन' में ही रखना होगा।

इसी प्रयोग में एक और दोष यह उपस्थित होता है कि 'गुरु' जो प्रयोजक है वह 'आख्यात' के द्वारा अकथित ही रह जायगा क्योंकि 'आख्यात' तो 'प्रयोज्य' (शिष्य) के 'व्यापार' को कहेगा न कि 'प्रयोजक' गुरु के 'व्यापार' को। 'प्रयोजक' (गुरु) के 'व्यापार' को तो 'णिच् प्रत्यय कहेगा। इस रूप में 'आख्यात' के द्वारा गुरु के अनभिहित रह जाने के कारण 'गुरु' शब्द में, प्रथमा विभक्ति की प्राप्ति न होकर, तृतीया विभक्ति की प्राप्ति होगी। इसी तरह 'आख्यात' द्वारा 'प्रयोज्य' (शिष्य) के 'व्यापार' को कहने और 'व्यापार' द्वारा अपने आश्रय ('प्रयोज्य' भूत शिष्य) के आक्षेप करने तथा इस प्रकार अभिहित होने के कारण 'शिष्य' शब्द से, तृतीया विभक्ति की प्राप्ति न होकर, प्रथमा विभक्ति की प्राप्ति होगी।

इन अनेक दोषों से दूषित होने के कारण मीमांसकों की उपर्युक्त मान्यता स्वीकार्य नहीं है। अन्य विद्वानों ने भी मीमांसकों के इस मत की आलोचना की है। जैसे—वैयाकरणभूषण के धात्वर्थनिर्णय के प्रकरण में कौण्डभट्ट ने, तत्त्वचिन्तामणि के धातुवाद में गङ्गेश ने तथा व्युत्पत्तिवाद में गदाधर ने मीमांसकों के इस मत का सयुक्तिक खण्डन किया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[ 'क्रिया' का स्वरूप ]

सर्व-कारकान्वयितावच्छेदक-धर्मवती 'क्रिया'।
**यावत् सिद्धम् असिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।**
**आश्रित-क्रम-रूपत्वात् सा[1] क्रियेत्यभिधीयते।**

वाप० ३.८.१

**गुण-भूतैर् अवयवैः समूहः क्रम-जन्मनाम्।**
**बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते।**

वाप० ३.८.४

इति "भूवादि०"-(पा० १.३.१)-सूत्रस्थ-भाष्यार्थ-प्रतिपादक-हरिग्रन्थात्। 'क्रम-जन्मनाम्' व्यापाराणां समूहं प्रति 'गुणभूतैरवयवैः' युक्तः संकलनात्मिकया एकत्व-'बुद्ध्या प्रकल्पिताभेद'-रूपः 'समूहः' क्रियेति व्यवह्रियते इति द्वितीय-कारिकार्थः। अत्र अवयवाश्रयं पौर्वापर्यं समुदायाश्रयम् एकत्वम्। क्षण-नश्वराणां व्यापाराणां वस्तु-भूत-समुदायाभावात् 'बुद्ध्या' इत्युक्तम्।

'पचति', 'पक्ष्यति' इत्यादौ 'असिद्धम्'। 'अपाक्षीत्' इत्यादौ 'सिद्धम्', (असिद्धं वा[2]) 'साध्यत्वेन' अभिधीयमानं क्रिया। 'आश्रित'० इति योग-दर्शनं कृतम्, अवयवानां क्रमेण उत्पत्त्या। अतएव 'आश्रित-क्रम-रूपा' क्रिया इति आदिम[4]-कारिकार्थः। एकैकावयवेऽपि समूह-रूपारोपाद् अधिश्रयण-कालेऽपि 'पचति' इति व्यवहारः। तद् उक्तम्—

**एकदेशे समूहे वा[5] व्यापाराणां पचादयः।**
**स्वभावतः प्रवर्तन्ते तुल्यरूपं समाश्रि[6]ताः॥** वाप० ३.७.५८

---

१. इस अंश के पश्चात् प्रकाशित संस्करणों में 'तद् आह' पाठ मिलता है जो सर्वथा अनावश्यक है क्योंकि इन कारिकाओं के अन्त में 'इति भूवादि···हरिग्रन्थात्' पाठ है। ये दोनों पाठ एक साथ किसी प्रकार भी सुसंगत नहीं हो सकते। पलम० के हस्तलेखों तथा लम० के इस प्रसंग में भी 'तद् आह' पाठ नहीं मिलता।

२. वाप०–'तत्'।

३. यह कोष्ठकान्तर्गत पाठ असंगत प्रतीत होता है। वस्तुतः यहाँ "अपाक्षीत्' इत्यादौ सिद्धम्। 'पचति', 'पक्ष्यति' इत्यादौ आसिद्धं वा" यह पाठ अभीष्ट है।

४. ह०, वंमि० में 'क्रिया इति आदिम' के स्थान पर 'क्रियेत्यादि–प्रथम' पाठ है।

५. वाप०—च।

६. वाप०—तुल्यरूपसमन्विताः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



सभी कारकों की अन्वयिता में रहने वाले (अन्वित होने वाले) धर्म (फलत्व तथा व्यापारत्व) से युक्त ('फल' तथा 'व्यापार') 'क्रिया' है। (इस विषय में)—

"सिद्ध तथा असिद्ध जितना भी साध्य रूप से अभिहित होता है उसे, क्रमरूपता का आश्रयण किये जाने के कारण, 'क्रिया' कहा जाता है।

"अप्रधान अवयवों से युक्त तथा क्रम से उत्पन्न होने वालों (व्यापारों) का, बुद्धि द्वारा अभिन्न रूप में प्रकल्पित, समूह 'क्रिया' इस (नाम) से व्यवहृत होता है"।

ये (कारिकायें), "भूवादयो धातवः" (पा० १.३.१.) सूत्रस्थ महाभाष्य के अभिप्राय का प्रतिपादन करने वाले, भर्तृहरि-विरचित (वाक्यपदीय) ग्रन्थ से (उद्धृत) हैं।

क्रम से उत्पन्न होने वाले (आग जलाना आदि अवान्तर) 'व्यापारों' के समूह के प्रति अप्रधानभूत अवयवों (अनेक अवान्तर 'व्यापारों') से युक्त तथा (उन सभी आवन्तर 'व्यापारों') का संकलन अथवा संयोजन करने वाली एकत्व बुद्धि के द्वारा अभिन्न रूप में प्रकल्पित समूह 'क्रिया' इस शब्द के द्वारा व्यवहृत होता है—यह द्वितीय कारिका का अर्थ है। यहाँ अवयवों (अवान्तर 'व्यापारों') के कारण पूर्वापरता (क्रमिकता) है तथा (उन 'व्यापारों' के अभिन्न) समूह के आश्रय से एकता है। एक क्षण में नष्ट हो जाने वाले 'व्यापारों' का समुदाय न बन सकने कारण 'बुद्धि के द्वारा (प्रकल्पित समूह)' यह कहा गया है।

'पचति' (पकाता है), 'पक्ष्यति' (पकायेगा) इत्यादि में ('फल' तथा 'व्यापार') 'असिद्ध' हैं। 'अपाक्षीत्' (पकाया) इत्यादि में ('फल' और 'व्यापार') 'सिद्ध' हैं। (इस प्रकार) 'सिद्ध' या 'असिद्ध' ('फल' तथा 'व्यापार') साध्य रूप से कथित होता हुआ 'क्रिया' है। 'आश्रित-(क्रमरूपा)' इस (कथन) से ('क्रिया' शब्द की) यौगिकता का ज्ञापन किया गया है क्योंकि अवयवों की क्रम से ही उत्पत्ति होती है। इसलिये क्रम का आश्रयण करने वाली 'क्रिया' है—यह प्रथम कारिका का अर्थ है। ('क्रिया' के) एक एक अवयव में भी (उनके) समूह-रूप का आरोप करने के कारण पात्र को चूल्हे पर रखने के सयय भी 'पचति' (पकाता है) यह व्यवहार होता है। इस (बात) को (भर्तृहरि ने) कहा है—

"व्यापारों' के एक अवयव या समूह के (बोध के) लिये, सामान्यरूपता को प्राप्त हुई, 'पच्' आदि (धातुएँ) स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त (प्रयुक्त) होती हैं।"

**सर्वकारका·····क्रिया**—नागेश ने 'क्रिया' की जो यह परिभाषा दी है उसका अभिप्राय यह है कि 'क्रिया' वह है जिसमें सभी कारकों के साथ अन्वित हो सकने—सम्बद्ध हो सकने—की क्षमता हो। यहां परिभाषा में 'कारक' के साथ 'सर्व' विशेषण लगाने का प्रयोजन यह सुस्पष्ट कर देना है कि सभी 'कारकों' का अन्वय 'क्रिया' में ही होता है। 'अधिकरण' कारक भी अपने आश्रय ('कर्ता' अथवा 'कर्म') के द्वारा 'क्रिया' से ही सम्बद्ध होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



वस्तुतः 'कारक' को 'कारक' कहने ही इस कारण हैं कि वह 'क्रिया' का निर्वर्त्तक, निष्पादक या प्रयोजक होता है। इसीलिये 'कारक' शब्द का निर्वचन किया जाता है—'करोति, क्रियां निर्वर्तयति इति कारकः'। अतः 'कारक' 'क्रिया' का जनक है तथा 'क्रिया' 'कारक' से जन्य है। जन्य तथा जनक में परस्पर साकांक्षता रहती है, इसलिये उनमें पारस्परिक अन्वय स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार सभी 'कारकों' का 'क्रिया' में अन्वय होने के कारण 'अन्वयिता' (अन्वयिनो भावः), अर्थात् 'अन्वयी' (सम्बन्धी) का भाव अथवा धर्म, 'क्रिया' में होगी। 'अन्वयिता' का अवच्छेदक धर्म है 'फलत्व' अथवा 'व्यापारत्व' क्योंकि 'क्रिया' या तो 'फल'-रूपा होती है या 'व्यापार'-रूपा।

**यावत् सिद्धम् असिद्धं वा**—'क्रिया' के स्वरूप-प्रतिपादन के लिये नागेश ने भर्तृहरि की जिन दो कारिकाओं को यहाँ उद्धृत किया है उसका आशय भी उसने स्वयं स्पष्ट कर दिया है। व्याख्या करने में यहाँ कारिकाओं का क्रम क्यों उलट दिया गया यह बात समझ में नहीं आती।

कारिकाओं की जो व्याख्या नागेश ने की है उसका और स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जो कुछ भी 'सिद्ध' या 'साध्य' अथवा निष्पन्न या अनिष्पन्न 'भाव' जब साध्यरूप में कहा जाता है तो वह 'क्रिया' बन जाता है क्योंकि उस 'भाव' के 'साध्य' होने के कारण उसमें अवान्तर 'व्यापारों' का एक विशेष क्रम होता है। जैसे—'पचति' इत्यादि कहने पर आरम्भ से लेकर अन्त तक के अनेक—आग जलाना इत्यादि—'व्यापारों' का एक क्रमबद्ध स्वरूप उपस्थित होता है। इसी बात को यास्क ने निम्न शब्दों में कहा है—"पूर्वापरीभूतं भावम् आख्यातेन आचष्टे पचति व्रजतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्" (निरुक्त १.१), अर्थात् 'पचति', 'व्रजति' आदि तिङन्त पद के द्वारा आरम्भ से लेकर अन्त तक के अनेक क्रमिक 'व्यापारों' को कहा जाता है।

जहाँ 'अस्ति' आदि क्रियाओं में अवान्तर या अवयवभूत 'व्यापारों का यह पौर्वापर्य नहीं दिखाई देता वहाँ भी उसका आरोप करके 'क्रियात्व' की स्थिति माननी चाहिये अथवा 'क्रिया' पद को वहाँ रूढ़ मानना होगा।

अवयवभूत अनेक 'व्यापारों' की इस क्रमरूपता के कारण ही 'क्रिया' का सार्थक नाम 'क्रिया' (क्रमरूप वाली) पड़ा। अतः 'क्रिया' शब्द के यौगिक—प्रकृति-प्रत्यय-निष्पन्न—रूप की सार्थकता दिखाने के लिये ही भर्तृहरि ने 'आश्रितक्रमरूपत्वात्' इस शब्द का कारिका में प्रयोग किया—ऐसा नागेश का विचार है। परन्तु 'क्रिया' शब्द, "कृञः श च" (पा० ३.३.१००) सूत्र के अनुसार 'भाव' में निष्पन्न होने के कारण, 'क्रमिकता' के अर्थ को किस प्रकार व्यक्त करेगा—यह विचारणीय है।

दूसरी कारिका में यह बताया गया कि क्रमबद्ध अनेक अवान्तर 'क्रियाओं' या 'व्यापारों' से युक्त होते हुए भी 'पचति' आदि 'क्रियाओं' को एक क्यों माना जाता है? क्रम से उत्पन्न होने वाले इन अवान्तर 'व्यापारों' में पौर्वापर्य या क्रमिकता के होने के कारण वास्तविक एकता नहीं होती फिर भी वक्ता उनमें अपनी संकलनात्मिका बुद्धि से एकता की कल्पना या आरोप कर लेता है और आरम्भ से लेकर अन्त तक की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अवान्तर 'क्रियाओं' को एक मानता है। अवयवभूत इन अवान्तर 'व्यापारों का, अभिन्न दृष्टि से एकत्व को प्राप्त, समूह ही 'क्रिया' कही जाती है। इस बुद्धि-कल्पित समूह को प्रधान 'व्यापार' माना जाता है तथा इसके प्रति सारे अवान्तर 'व्यापार' गुण या गौण अर्थात् अप्रधान होते हैं। 'क्रिया' के इसी स्वरूप को बृहद्देवताकार ने निम्न श्लोक में स्पष्ट किया है—

क्रियासु बहुवीप्सभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इवैक एव।
क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थम् आहुः॥ (बृहद्देवता १.४४)

"भूवादि"०सूत्रस्थ-भाष्यार्थ-प्रतिपादक-हरिग्रन्थात्— महाभाष्यकार पतञ्जलि ने "भूवादयो धातवः" (१.३.१) सूत्र के भाष्य में रोचक विवादों द्वारा 'क्रिया' के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। यहाँ के पतञ्जलि के कथन से स्पष्ट है कि 'क्रिया' का स्वरूप अमूर्त है, अदृश्य है। इसलिये उसे गर्भस्थ शिशु के समान मूर्तरूप में प्रत्यक्ष नहीं दिखाया जा सकता। 'क्रिया' का स्वरूप केवल अनुमानगम्य है। सभी साधनों के उपस्थित रहते हुए भी वक्ता कभी 'पचति' क्रिया' का प्रयोग करता है तथा कभी नहीं करता। अतः जिस साधन के होने पर 'पचति' क्रिया' का प्रयोग होता है उस साधन को ही 'क्रिया' मानना चाहिये, अथवा जिससे देवदत्त यहाँ से पटना पहुँच जाता है वही 'क्रिया' है। द्र०—"क्रिया' नामेयम् अत्यन्तापरिदृष्टा, अशक्या क्रिया पिण्डीभूता निदर्शयितुं यथा गर्भोऽनिलुंठितः। साऽसौ अनुमानगम्या। कोऽसौ अनुमानः। इह सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कदाचित् पचतीत्यादि भवति कदाचिन्न भवति। यस्मिन् साधने सन्निहिते पचतीत्येतद् भवति सा नूनं क्रिया। अथवा यया देवदत्त इह भूत्वा पाटलिपुत्रे भवति सा नूनं 'क्रिया"।

**एकैकावयवे'''पचतीतिव्यवहारः**—यह पूछा जा सकता है कि जब अनेक आवश्यक अवयवभूत अवान्तर 'व्यापारों' के समूह को 'क्रिया' कहते हैं तो उन उन 'क्रियाओं' के एक एक अवयवों के लिये 'क्रिया' शब्द का व्यवहार क्यों होता है? इस अंश में इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

इस अंश का अभिप्राय यह है कि जब एक अवयवभूत 'व्यापार' के लिये पूरी 'क्रिया' का व्यवहार होता है, जैसे 'केवल आग जलाना' या 'पात्र को चूल्हे पर रखना' आदि 'व्यापारों' के लिये 'पचति' क्रिया का प्रयोग किया जाता है, तो वक्ता उस एक अवयव वाले व्यापार में, 'पाचन' क्रिया में समविष्ट होने वाले, सभी अवान्तर 'व्यापारों' के समूह का बौद्धिक आरोप कर लेता है। इस लिये एक एक अवान्तर 'क्रिया' या 'व्यापार' के लिये पूरी 'क्रिया' का व्यवहार होता है।

**['सिद्ध' और 'साध्य' की कौण्डभट्ट सम्मत परिभाषा]**

अत्र केचित्—'सिद्धत्वम्' क्रियान्तराकांक्षोत्थापकता-वच्छेदकवैजात्यवत्त्वे सति कारकत्वेन क्रियान्वयित्वे सति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कारकान्तरान्वयायोग्यत्वम् । 'साध्यत्वं' च क्रियान्तराकांक्षानुत्थापकतावच्छेदकं सत् कारकान्तरान्वययोग्यतावच्छेदकरूपवत्त्वम् ।

'हित्वा' आद्यव्ययानां साध्यत्वाभावेऽपि क्रियावाचकत्वव्यवहारस्तु क्रियामात्रविशेषणत्वात् । तत्र सिद्धत्वं 'पाकः' इत्यादौ घञादिवाच्यम् । साध्यत्वं तु सर्वत्रैव धातुप्रतिपाद्यम् ।

ननु हरिं 'नमेच्चेत् सुखं यायात्' इत्यत्र 'क्रियायाः'[1] अपि क्रियान्तराकांक्षत्वेन सिद्धत्वम् अस्तीति चेन्न । 'चेत्'-शब्दसमभिव्याहारेण अकांक्षोत्थापनाद्—इत्याहुः ।

यहां ('क्रिया' की साध्यता के प्रसङ्ग में) कुछ (विद्वान्) कहते हैं कि दूसरी क्रिया की आकांक्षा की उत्थापकता का अवच्छेदक (परिचायक) एवं ('साध्य' क्रिया की अपेक्षा) विलक्षण धर्म से युक्त होते हुए तथा कारक के रूप में क्रिया के साथ 'अन्वयी' होते हुए दूसरे कारकों के साथ अन्वित हो सकने की अयोग्यता 'सिद्धत्व' है । और दूसरी क्रिया की अकांक्षा की अनुत्थापकता का अवच्छेदक (बोधक) होते हुए अन्य कारकों के साथ अन्वय की योग्यता के परिचायक धर्म से युक्त होना 'साध्यता' है ।

'हित्वा' (छोड़कर) आदि अव्ययों में 'साध्यता' के न रहने पर भी उनमें क्रिया की वाचकता का व्यवहार तो केवल उनके क्रिया-विशेषण होने के कारण होता है । इस प्रसङ्ग में 'पाकः' इत्यादि (प्रयोगों) में 'सिद्धत्व' 'घञ्' आदि प्रत्ययों का अर्थ है । 'साध्यता' तो सर्वत्र ही धातु के द्वारा (ही) कथित होती है ।

'हरिं नमेच्चेत् सुखं यायात्' (यदि विष्णु को प्रणाम करे तो सुख को प्राप्त हो) इस (प्रयोग) में (नमेत्) क्रिया में भी, दूसरी ('यायात्') क्रिया की आकांक्षा होने के कारण 'सिद्धता' है—यह कहा जाय तो उचित नहीं है क्योंकि 'चेत्' शब्द की समीपता के कारण (ही) यहां आकांक्षा का प्रादुर्भाव होता है (उसके अभाव में नहीं) ।

**अत्र केचित्**—'क्रिया' के स्वरूप-विवेचन के इस प्रसङ्ग में नागेश ने भर्तृहरि की जिन दो कारिकाओं को ऊपर उद्धृत किया है उसमें से पहली में प्रयुक्त 'सिद्ध' तथा 'असिद्ध' (साध्य) की अपनी परिभाषा देने से पूर्व लेखक ने सम्भवतः कौण्डभट्ट द्वारा प्रस्तुत परिभाषा का, यहां 'केचित्' कह कर, उल्लेख किया है ।

१. ह०, वंमि० में 'क्रियायाः' पद अनुपलब्ध ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**सिद्धत्वं···वैजात्यवत्वे सति**—इस परिभाषा के अनुसार 'सिद्ध' भाव के लिये तीन विशेषताओं का होना आवश्यक है। पहली यह कि उसमें दूसरी 'क्रिया' की आकांक्षा की उत्थापकतारूप धर्म विद्यमान हो, अर्थात् दूसरी 'क्रिया' की अकांक्षा को उत्पन्न करने की शक्ति उसमें हो। 'क्रियान्तराकांक्षोत्थापकता' रूप यह धर्म, 'साध्य' क्रिया में विद्यमान धर्म की अपेक्षा, एक विलक्षण धर्म है, अर्थात् 'साध्य' क्रिया या भाव में यह धर्म नहीं होता कि वह दूसरी 'क्रिया' की आकांक्षा को उत्पन्न कर सके। जैसे—जब 'पाकः' कहा जाता है तो इस प्रकार की आकांक्षा उत्पन्न होती है कि इसके साथ अन्वित होने वाली 'क्रिया' कौन सी है? इस रूप में दूसरी क्रिया की आकांक्षा की उत्थापकतारूप शक्ति 'पाकः' इत्यादि शब्दों में विद्यमान है।

**कारकत्वेन क्रियान्वयित्वे सति**—दूसरी विशेषता यह कि 'सिद्ध' भाव के वाचक शब्द स्वयं 'कारक' के रूप में उपस्थित होते हैं और 'कारक' के रूप में ही वे क्रिया के साथ अन्वित होते हैं। जैसे—'पाकः' आदि शब्द किसी न किसी 'कारक' के रूप में 'अस्ति' इत्यादि क्रियाओं के साथ अन्वित होते हैं।

**कारकान्तरान्वययायोग्यत्वम्**—तीसरी विशेषता यह है कि, 'सिद्ध' भाव के वाचक ये शब्द स्वयं 'कारक' हैं इसलिये, इनका अन्वय किसी अन्य 'कारक' के साथ नहीं होता क्योंकि 'कारक' के साथ तो 'क्रिया' ही अन्वित हो सकती है, 'कारक' नहीं।

वस्तुतः जब 'क्रिया' समाप्त हो चुकी होती है तभी उसे 'सिद्ध' माना जाता है। क्रिया के 'सिद्ध' या पूर्ण हो जाने के कारण यहां वह द्रव्य का रूप धारण कर लेती है, क्रिया, क्रिया न रह कर, 'कारक' बन जाती है और अन्य क्रियाओं से अन्वित होने लगती है। परन्तु 'कारक' होने के कारण दूसरे 'कारक' से सम्बद्ध होने की क्षमता उसमें नहीं रहती।

'सिद्ध' भावों के इस स्वरूप को बृहद्देवताकार शौनक ने निम्नकारिका में व्यक्त किया है :—

> **क्रियाभिनिर्वृत्तिवशोपजातः कृदन्तशब्दाभिहितो यदा स्यात्।**
> **सङ्ख्या-विभक्ति-व्यय-लिंगयुक्तो भावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्यः॥**
>
> (बृहद्देवता १.४५)

'सिद्धत्व' की जो परिभाषा ऊपर दी गयी उसकी तीन विशेषताओं में से यदि केवल अन्तिम को ही परिभाषा के रूप में प्रस्तुत किया जाता तो भी कार्य चल जाता परन्तु पूर्ण स्पष्टीकरण के लिये इन तीनों विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

**साध्यत्वम्···अवच्छेदकरूपवत्त्वम्**—'सिद्धत्व' के ठीक विपरीत 'साध्यत्व' का स्वरूप है। यहां क्रियान्तर की आकांक्षा की उत्थापकता नहीं पायी जाती। 'साध्य' स्वयं 'क्रिया' है इसलिये उसमें दूसरी क्रिया की आकांक्षा स्वभावतः नहीं रहती, वे तो 'कारक' होते हैं जो क्रिया की अपेक्षा रखते हैं।

'साध्य' भावों की दूसरी विशेषता यह है कि उनमें 'कारकों' से अन्वित होने की योग्यता पायी जाती है क्योंकि, 'साध्य' भाव तो 'क्रिया' ही हैं इसलिये, वे 'कारकों' के साथ ही अन्वित हो सकते हैं (द्र० वैभूसा०, पृ० १०१)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**तत्र सिद्धत्वम् धातुप्रतिपाद्यम्**—शब्द की स्वाभाविक शक्ति के अनुसार 'सिद्ध' भावों को 'घञ्' आदि प्रत्यय कहते हैं या 'घञ्' आदि प्रत्ययों का वाच्यार्थ 'सिद्ध' भाव है जबकि 'साध्य' भाव, अर्थात् क्रिया को, केवल धातु ही सर्वत्र कहती है, अर्थात् तिङन्त पदों के द्वारा ही 'साध्य' भाव (क्रिया) को कहा जा सकता है। द्र०—

**"साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना।**
**सत्त्वभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः॥**

(वाप० ३.८.४८)

'घञ्' आदि 'कृत्' प्रत्यय 'सिद्ध' भाव (द्रव्य भाव) को कहते हैं। इसको बताने वाली वैयाकरणों की एक और परिभाषा है—"कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति" (महा० २.२.१९), अर्थात् 'कृत्' प्रत्ययों के द्वारा कहा गया 'भाव' द्रव्यवत् होता है।

**['साध्यता' की वास्तविक परिभाषा]**

वस्तुतः 'साध्यत्वम्' निष्पाद्यत्वम् एव। तद्रूपेणैव बोधः। स्पष्टं चेदम् "उपपदम् अतिङ्" (२.२.१९) इत्यादौ भाष्ये।

ननु 'घटं करोति' इत्यादौ द्रव्यस्यापि साध्यत्वेन प्रतीतिरिति चेन्न। 'करोति'-पदसमभिव्याहारात्। तथा प्रत्ययेऽपि स्वतो घटादिपदाद् द्रव्यस्य सिद्धत्वेनैव प्रतीतेः।

वस्तुतः निष्पाद्यता ही 'साध्यता' है—उसी रूप में क्रिया का ज्ञान होता है, और यह "उपपदम् अतिङ्" इत्यादि सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट है।

'घटं करोति' (घड़ा बनाता है) इत्यादि (प्रयोगों) में द्रव्य (घट) की भी 'साध्यता' रूप से प्रतीति होती है—यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि 'करोति' पद की समीपता के कारण उत्पाद्यतारूप से ज्ञान होने पर भी स्वयं 'घट' आदि शब्दों से द्रव्य (घट) की 'सिद्धत्व' रूप से प्रतीति होती है।

'सिद्धत्व' तथा 'साध्यत्व' को, कौण्डभट्ट आदि को अभिमत, परिभाषा देने के उपरान्त नागेशभट्ट 'साध्यत्व' की अपनी परिभाषा देते हैं। नागेशभट्ट के विचार में 'साध्यता' का सीधा अर्थ 'निष्पाद्यता' है और 'सिद्धत्व' का अर्थ है 'निष्पन्नता'।

कौण्डभट्ट की परिभाषा इसलिये स्वीकार्य नहीं है कि उसमें यह आवश्यक माना गया है कि 'साध्य' में दूसरी क्रिया की आकांक्षा को उत्पन्न करने की क्षमता न हो। परन्तु महाभाष्य में पतञ्जलि ने 'पचति भवति' जैसे प्रयोग किये हैं जिसमें 'भवति' को 'पचति' क्रिया की आकांक्षा का उत्थापक स्वीकार किया गया है। द्र०—'पचति-क्रियाः भवति-क्रियायाः कर्त्र्यो भवन्ति" (महा०१.३.१, पृ० १६७)। इसलिये 'साध्यत्व' की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस परिभाषा का, पतंजलि के इन प्रयोगों से, विरोध उपस्थित होता है। इसके अतिरिक्त 'भुक्त्वा गच्छति' जैसे प्रयोगों में 'भुक्त्वा' को 'साध्य' अथवा क्रिया नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाँ भी 'भुक्त्वा' क्रिया, 'गच्छति' क्रिया-विषयक, आकांक्षा को उत्पन्न करती है।

**"उपपदम् अतिङ्" इत्यादौ भाष्ये**—"उपपदम् अतिङ्" (पा०२.२.१९) तथा "सुट् कात् पूर्वः" (पा० ६.१.१३५) सूत्रों में पतञ्जलि ने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि धातु का सम्बन्ध पहले 'साधनों' (कारकों) से होता है। उसके बाद उपसर्ग से उसका सम्बन्ध होता है क्योंकि साधन क्रिया को बनाते हैं—"पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, पश्चाद् उपसर्गेण, साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति"। यहाँ महाभाष्य में क्रिया के 'निर्वर्तन' की जो बात कही गई है उसी को, अपनी परिभाषा—"साध्यत्वं निष्पाद्यत्वम् एव"—की पुष्टि के लिये, नागेश ने प्रमाण के रूप में यहां संकेतित किया है।

**'करोति'-पदसमभिव्याहारात् प्रतीतेः**—'घटं करोति' जैसे प्रयोगों में 'घट' की 'साध्य' या 'निष्पाद्य' रूप में जो प्रतीत होती है वह 'घटम्' पद के साथ 'करोति' पद के उच्चारण के कारण होती है। द्रव्य स्वभावतः 'सिद्ध' होते हैं परन्तु क्रिया पद के सामीप्य से उनमें 'साध्यता' या उत्पाद्यता आ जाती है। यदि केवल द्रव्य शब्द ('घट' आदि) का प्रयोग किया जाये तो उनकी 'सिद्धता' या निष्पन्नता का रूप स्पष्ट प्रतीत होता है। इसीलिये पतञ्जलि ने कहा—"स्वभावसिद्धं तु द्रव्यम्" (महा० १.३.१), अर्थात् द्रव्य तो स्वभाव से 'सिद्ध' (निष्पन्न) होता है तथा सिद्ध-स्वभाव वाला होने के कारण ही द्रव्य के वाचक 'नाम' शब्दों की परिभाषा में "सत्त्वप्रधानानि" (निरुक्त १.१), अर्थात् 'नाम' शब्दों में 'सिद्ध' भाव प्रधान होता है, कहा गया।

**['अस्' इत्यादि धातुओं की क्रियारूपता]**

> अस्ति-भवति-वर्तति-विद्यतीनाम् अर्थः सत्ता। सा च अनेककालस्थायिनी इति कालगतपौर्वापर्येण क्रमवती इति तस्याः क्रियात्वम्। सत्तेह आत्मधारणम्।

'अस्', 'भू', वृत्', 'विद्' (धातुओं) का अर्थ सत्ता है। और वह सत्ता अनेक काल (काल-विषयक परिमाण, अर्थात् घण्टा, मिनट, सिकण्ड आदि) तक स्थिर रहने वाली है। इसलिये काल में विद्यमान पौर्वापर्य या क्रमिकता के कारण यह (सत्ता) क्रमवती है। यह उस (सत्ता) का क्रियात्व है। यहाँ सत्ता का तात्पर्य है आत्म-धारण।

यदि 'साध्यता' का अभिप्राय 'निष्पाद्यता' माना जाय, जिसमें, भर्तृहरि के उपर्युक्त कथन के अनुसार, एक विशेष क्रम होना चाहिये, तो 'अस्ति', 'भवति' जैसे प्रयोगों को क्रियापद नहीं माना जा सकता क्योंकि इन धातुओं का अर्थ है सत्ता और सत्ता से 'सिद्धता' की अभिव्यक्ति होती है जिसमें क्रमरूपता नहीं रहा करती।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसी आशंका का उत्तर यहाँ नागेश ने दिया है। सत्ता का अर्थ है आत्म-धारण, इसलिये सत्ता में भी आत्मधारणानुकूल-व्यापार होता ही है। अतः उसमें भी 'निष्पाद्यता' है तथा क्रमिकता इस रूप में है कि जितने समय तक सत्ता रहती है उस आधारभूत समय में क्रमिकता होती है। उस कालगत क्रमिकता का आरोप सत्ता में करके सत्ता को भी क्रमिक मान लिया जाता है। यों तो काल भी अखण्ड एवं क्रम-रहित है परन्तु उसे समझने तथा समझाने के लिये—व्यवहारिक बुद्धि के सन्तोष के लिये—उसमें भी वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिन, घण्टा आदि अनेक खण्डों तथा अवयवों की कल्पना की जाती है। समय के इन कल्पित अवयवों के कारण समय को क्रमिक मान कर तथा क्रमिकता का आरोप सत्ता रूप व्यापार में करके उसे भी क्रमिक मान लिया जाता है। इसी बात को भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की निम्न कारिका में स्पष्ट किया है—

**आत्मभूतः क्रमोऽप्यस्या यत्रेदं कालदर्शनम्।**
**पौर्वापर्यादिरूपेण प्रविभक्तमिव स्थितम्॥**

(वाप० ३.१.३७)

इस सत्ता का स्वरूपभूत क्रम भी तभी (व्यक्त) होता है जब काल-विषयक दर्शन, पौर्वापर्यादिरूप से, (अनेक कल्पित अवयवों या खण्डों में) बँटा हुआ सा माना जाता है।

**['सकर्मक' तथा 'अकर्मक' की परिभाषा]**

'सकर्मकत्वम्' च फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम्। फल-समानाधिकरणव्यापार-वाचकत्वम् 'अकर्मकत्वम्'। क्वचित्तु फलांशाभावाद् 'अकर्मकत्वम्'। यथा—'अस्ति'आदौ केवलं सत्तादिरेवार्थः। फलांशस्य सूक्ष्म-दृष्ट्याऽप्यप्रतीतेः। "उत्पन्नस्य सत्त्वस्य स्वरूपधारणरूपां सत्ताम् आचष्टे अस्त्यादिः" इति **निरुक्ततोक्ते**[1]**श्च**।

फल के आश्रय से भिन्न आश्रय वाले 'व्यापार' का वाचक होना 'सकर्मकत्व' तथा फल के आश्रय से अभिन्न आश्रय में रहने वाले 'व्यापार' का वाचक होना 'अकर्मकत्व' है। कहीं कहीं पर तो 'फल' अंश के सर्वथा अभाव के कारण 'अकर्मकता' मानी जाती है। जैसे 'अस्ति' (है) आदि (क्रियापदों) में केवल सत्ता आदि ही अर्थ हैं क्योंकि (इनमें) 'फल' अंश की प्रतीति सूक्ष्म दृष्टि से भी नहीं हो पाती तथा "उत्पन्न हुए द्रव्य की आत्मधारणरूप सत्ता को 'अस्ति' आदि (प्रयोग) कहते हैं" यह निरुक्त (के कर्ता यास्क) का कथन है।

१. तुलना करो—निरुक्त (१.२); अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्य अवधारणम् (आचष्टे)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'सकर्मक' तथा 'अकर्मक' की अपनी परिभाषा देने से पूर्व नागेश यहां कौण्डभट्ट-सम्मत परिभाषा देते हैं। कौण्डभट्ट के वैय्याकरणभूषणसार में 'सकर्मक' तथा 'अकर्मक' की परिभाषा के लिए भट्टोजी दीक्षित की निम्न कारिका प्रस्तुत की गयी है :—

**फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायाम् अकर्मकः।**
**धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः॥**

(धात्वर्थनिर्णय, कारिका सं० १३, पृ० ६८)

'फल' तथा 'व्यापार' के एक अधिकरण में रहने पर धातु 'अकर्मक' तथा धर्मी, अर्थात्—'फल' और 'व्यापार' रूप धर्म से युक्त दो आश्रय, के भिन्न भिन्न होने पर धातु 'सकर्मक' कही गयी है। इस कारिका के आशय को ही नागेश ने यहाँ अपनी पंक्तियों में निबद्ध किया है। कारिका के 'एकनिष्ठता' पद का अर्थ कौण्डभट्ट ने 'एकमात्रनिष्ठता' किया है, अर्थात् केवल एक अधिकरण या आश्रय में ही दोनों 'फल' तथा 'व्यापार' का रहना या दूसरे शब्दों में भिन्न अधिकरण में 'फल' तथा 'व्यापार' का न रहना। इसी लिये 'गम्' आदि धातुओं में 'फल' के कर्तृनिष्ठ होने पर भी उन्हें 'अकर्मक' नहीं माना जाता क्योंकि वहां 'फल' कर्मस्थ भी है। अतः एक अधिकरण में ही 'फल' नहीं है।

**'अस्ति' आदौ केवलं सत्तादिरेवार्थः**—'अस्' आदि धातुओं का अर्थ केवल सत्ता ही है। इस कारण यहां 'फल' अंश की प्रतीति होती ही नहीं। इसलिये इस प्रकार की धातुओं को, 'फल' अंश के न होने के कारण, 'अकर्मक' मान लिया जाता है। वस्तुतः इन धातुओं के विषय में भी यह माना गया है कि यहां भी अपनी सत्ता को धारण करने रूप 'फल' के अनुकूल 'व्यापार' की प्रतीति होती है। परन्तु स्वधारणात्मक 'फल' तथा तदनुकूल 'व्यापार' दोनों ही एक अधिकरण 'कर्ता' में ही विद्यमान हैं। इसलिये इन धातुओं को 'सकर्मक' नहीं माना जाता। दूसरे शब्दों में आत्मधारणरूप 'फल' का आश्रयभूत 'कर्म' 'कर्ता' में ही अन्तर्भूत हो जाता है—'कर्ता' से पृथक् उसकी सत्ता नहीं है। इसलिये आश्रय-भिन्नता के न होने के कारण 'अस्' आदि धातुओं को 'अकर्मक' ही माना जाता है। 'अस्' आदि धातुओं की इस स्थिति को निम्न कारिका में भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है—

**आत्मानम् आत्मना बिभ्रद् अस्तीति व्यपदिश्यते।**
**अन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मणा न सकर्मकः॥**

(वाप० ३.३.४७)

अपनी सत्ता को अपने द्वारा धारण करता हुआ, अर्थात् सत्तानुकूल व्यापारवान् होता हुआ, (व्यक्ति) 'अस्ति' इस प्रयोग के द्वारा कहा जाता है। (परन्तु) इस (सत्ता रूप 'फल' के आश्रयभूत) 'कर्म' के द्वारा वह ('अस्' धातु) 'सकर्मक' नहीं होती क्योंकि 'कर्म' (यहां 'कर्ता' में) अन्तर्भूत हुआ रहता है।

परन्तु नागेश ने संभवतः 'सत्ता-धारण' को 'फल' न मानते हुए यहां फलांश की अप्रतीति की बात कही है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



['सकर्मक' तथा 'अकर्मक' की निष्कर्षभूत परिभाषा]

वस्तुतस्तु शब्दशास्त्रीयकर्मसंज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वं 'सकर्मकत्वम्' । तदनन्वय्यर्थकत्वम् 'अकर्मकत्वम्' । तेन 'अध्यासिता भूमयः' इत्यादिसिद्धिः । "अधिशीङ्स्थासाम्" (पा० १.४.४६) इत्यनेन 'भूमयः' इत्याधारस्य 'कर्मत्वम्' ।

अन्वयश्च पृथग्बुद्धेन संसर्गरूपः । 'अन्वय'-पदस्य तत्रैव व्युत्पत्तेः । तेन 'जीवति' इत्यादौ न दोषः । तत्र प्राणादिरूप-कर्मणो धारणार्थ-धात्वर्थात् पृथग् अबोधाद् इति "सुप आत्मनः" (पा० ३.१.८) इति सूत्रे **भाष्ये** स्पष्टम् ।

वस्तुतः व्याकरणशास्त्रीय 'कर्म'-संज्ञक अर्थ से अन्वित होने वाला अर्थ है जिन धातुओं का वे 'सकर्मक' तथा उससे अन्वित न होने वाला अर्थ है जिन धातुओं का वे 'अकर्मक' हैं। इसी कारण 'अध्यासिता भूमयः' (भूमियों पर बैठा गया) इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि होती है।

('अध्यासिता भूमयः' इस प्रयोग में) 'भूमयः' इस आधार की "अधि-शीङ् स्था-आसां कर्म" इस (सूत्र) से 'कर्म' संज्ञा है। (अतः 'कर्म' संज्ञक अर्थ से अन्वित होने के कारण 'आस्' धातु यहाँ सकर्मक है)।

पृथग् रूप से ज्ञात (पदार्थ) के साथ सम्बन्ध (ही) 'अन्वय' है क्योंकि 'अन्वय' शब्द की उस (अर्थ) में ही 'शक्ति' है। इसलिये 'जीवति' (जीता है) इत्यादि (प्रयोगों) में दोष नहीं है क्योंकि 'प्राण' आदि रूप 'कर्म का, ('जीव्') धातु के '(प्राण) धारण करना' इस अर्थ से, पृथक् ज्ञान नहीं होता, यह बात "सुप आत्मनः क्यच्" इस सूत्र के भाष्य से स्पष्ट है।

ऊपर प्रदर्शित कौण्डभट्ट की 'सकर्मक-अकर्मक'-विषयक व्यवस्था के अनुसार उन धातुओं को, जिनमें देश, काल आदि को कर्म माना जाता है, अथवा 'अधि' उपसर्ग के साथ 'शी', 'स्था' और 'आस्' धातुओं या इस प्रकार की स्थिति वाले अन्य धातुओं को, 'सकर्मक' नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें 'फल' से भिन्न अधिकरण वाले 'व्यापार' की वाचकता नहीं है। इसलिये इन धातुओं से 'कर्म' में 'लकार' या 'क्त' आदि प्रत्यय नहीं आ सकते। इस कारण नागेश ने यहां 'सकर्मक' की अपनी नयी परिभाषा 'वस्तुतस्तु' कह कर दी है।

१. प्रकाशित संस्करणों में "अधि · कर्मत्वम्" यह पूरा वाक्य, यहां के दूसरे गद्यांश, "अन्वयश्च ··· भाष्ये स्पष्टम्" के पश्चात् पठित मिलता है। अर्थ एवं प्रकरण की संगति की दृष्टि से उपरिलिखित पाठ ही उचित है। ह० में भी यही पाठ है। तुलना करो—लम० पृ० ५६५।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



नागेश की परिभाषा - "शब्दशास्त्रीय 'कर्म' संज्ञक अर्थ से अन्वित अर्थ वाले धातु 'सकर्मक' हैं" के अनुसार 'अध्यासिताः भूमयः' इत्यादि प्रयोगों में 'आस्' आदि धातुओं की 'सकर्मकता' सिद्ध हो जाती है क्योंकि व्याकरण के सूत्र "अधिशीङ्स्थासां कर्म" के अनुसार 'अधि' उपसर्ग के साथ 'आस्' धातु के प्रयोग में 'आधार' की कर्म संज्ञा होती है। इसलिये 'कर्म' संज्ञक 'भूमि' रूप अर्थ से अन्वित होने वाले अर्थ का वाचक होने के कारण 'अधि+आस्' को 'सकर्मक' माना जायगा।

**अन्वयश्च पृथग्बुद्ध्या संसर्गरूपः**—यहां 'अन्वय' का अर्थ है धात्वर्थ से पृथग् ज्ञात 'कर्म' से अन्वित होना। इस कारण 'जीव्' धातु को 'सकर्मक' नहीं माना जा सकता क्योंकि वहाँ 'जीव्' का अपना ही अर्थ है 'प्राण-धारणे' (प्राणों का धारण करना)। यहाँ 'प्राण' रूप 'कर्म' धात्वर्थ में ही अन्तर्भूत है—उससे पृथक् नहीं है।

**"सुप आत्मनः०" इति सूत्रे भाष्ये**—"सुप आत्मनः क्यच्" इस सूत्र के भाष्य में 'क्यच्'-प्रत्ययान्त धातुओं को 'सकर्मक' माना जाय या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में, पूर्वपक्ष के रूप में यह कहा गया कि इष् धातु, जिसके अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय का विधान किया गया है, 'सकर्मक' है। इसलिये क्यजन्त धातु को भी 'सकर्मक' मानना चाहिये। परन्तु भाष्यकार पतंजलि ने इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए यह कहा कि —"अभिहितं तत्कर्मान्तर्भूतं धात्वर्थः सम्पन्नः। न चेदानीम् अन्यत् कर्म अस्ति येन सकर्मकः स्यात्" अर्थात् 'पुत्रीय्' आदि नामधातुओं के द्वारा ही वह अर्थ कह दिया गया। अतः वह 'कर्म' अन्तर्भूत होकर धात्वर्थ में ही ही समाविष्ट हो गया। अब कोई अन्य 'कर्म' है नहीं जिसके कारण उसे 'सकर्मक' माना जाय। 'पुत्रीयति माणवकम्' (माणवक के साथ पुत्र के समान व्यवहार करता है) इस प्रयोग में तो दो 'कर्म'—'उपमानकर्म' तथा 'उपमेयकर्म'—हैं। इसलिये 'उपमान-कर्म' के अन्तर्भूत हो जाने पर भी, 'उपमेयकर्म' से अन्वित अर्थ वाला होने के कारण, धातु 'सकर्मक' हो जाती है।

**['ज्ञा' धातु के अर्थ के विषय में विचार]**

'जानातेः' विषयतया ज्ञानं फलम्। आत्ममनःसंयोगो व्यापारः। अत एव 'मनो जानाति' इत्युपपद्यते। आत्मात्रान्तःकरणम्, मनोऽपि तद्वृत्तिविशेषरूपम्। "आत्मा[1] आत्मानं जानाति" इत्यादौ अन्तःकरणा-वच्छिन्नः कर्त्ता शरीरावच्छिन्नं[2] कर्म इति "कर्मवत्०" (पा० ३.१.८७) सूत्रे **भाष्ये** स्पष्टम्।

'ज्ञा' धातु का, 'विषयता' सम्बन्ध से (रहने वाला), ज्ञान 'फल' है तथा आत्मा और मन का (ज्ञानानुकूल) संयोग 'व्यापार' है। इसलिये 'मनो जानाति'

१. ह० तथा लम० (पृ०१८२) में 'आत्मा' अनुपलब्ध।

२. ह०, वंमि० -- शरीरावच्छिन्नः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(मन जानता है) यह प्रयोग उपपन्न होता है। यहाँ आत्मा अन्तःकरण है तथा मन भी अन्तःकरण का वृत्ति-विशेष है। 'आत्मा आत्मानं जानाति' (आत्मा आत्मा को जानता है) इत्यादि (प्रयोगों) में "अन्तःकरणावच्छिन्न (आत्मा) 'कर्त्ता' है तथा शरीरावच्छिन्न (आत्मा) 'कर्म' है", यह "कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः" इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया गया है।

'ज्ञा' धातु के 'फल' तथा 'व्यापार' के विषय में नागेश का मत यह है कि, घट, पट आदि विषय हैं जिसका ऐसा, ज्ञान ही 'ज्ञा' धातु का 'फल' है तथा उस ज्ञान के अनुकूल जो आत्मा तथा मन का संयोग वही 'व्यापार' है। इसीलिये 'मनो जानाति' इस प्रयोग में 'मन के जानने' की बात सुसंगत हो पाती है। आत्मा का अर्थ यहाँ 'अन्तः करण' तथा मन का अर्थ है अन्तःकरण की कोई विशिष्ट वृत्ति। 'आत्मा' शब्द को इन्द्रियों का उपलक्षण भी माना जा सकता है क्योंकि मन से युक्त इन्द्रियाँ ज्ञान का कारण मानी गयी हैं। द्र०—"मनसा संयुक्तानि इन्द्रियाणि उपलब्धौ कारणानि भवन्ति" (महा० ३.२.११५)।

'आत्मा आत्मानं जानाति' इस प्रकार के प्रयोग इसलिये किये जाते हैं कि वहाँ दो प्रकार के आत्माओं की कल्पना की जाती है—अन्तरात्मा और शरीरात्मा। इनमें पहले को 'कर्त्ता' तथा दूसरे को 'कर्म' मान लिया गया। "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः" सूत्र के भाष्य में आत्मा की द्विविधता की बात स्पष्टतः निम्न शब्दों में स्वीकार की गयी है :—"द्वौ आत्मानौ अन्तरात्मा शरीरात्मा च। अन्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुखे अनुभवति। शरीरात्मा तत्कर्म करोति येन अन्तरात्मा सुखदुखे अनुभवति"।

**['आवरण-भङ्ग' अथवा 'विषयता' को 'ज्ञा' धातु का 'फल' नहीं माना जा सकता]**

यत्तु—आवरणभङ्गो विषयता वा फलम्, व्यापारस्तु ज्ञानम् एव—तन्न, कर्मस्थक्रियकत्वापत्तेः। तद्-व्यवस्था चेत्थम् उक्तं हरिणा—

**विशेषदर्शनं यत्र क्रिया तत्र व्यवस्थिता।**
**क्रिया-व्यवस्था त्वन्येषां शब्दैरेव प्रकल्पिता[1]॥**

वाप० ३.७.६६

अस्यार्थः—यत्र कर्मणि कर्तरि वा क्रियाकृतो विशेषः कश्चिद् दृश्यते तत्र क्रिया व्यवस्थिता इत्युच्यते। नन्वेवं पच्यादिकर्तर्यपि श्रमादिरूपविशेषस्य दर्शनाद् इदम् अयुक्तम्। किंच 'चिन्तयति', 'पश्यति' इत्यादीनां कर्तृस्थभावकत्वानुपपत्तिः। कर्तरि क्रियाकृत-

१. वाप०—प्रकाश्यते।
२. ह०—कर्तृस्थभावकत्वानापत्तिः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



विशेषाभावात्। अत आह–'अन्येषाम्' इति। 'मते' इति शेषः। यत्र कर्तृ-कर्म-साधारणरूपं फलं शब्देन प्रतिपाद्यते स कर्तृस्थभावकः। यथा–'पश्यति घटम्', 'ग्रामं गच्छति', 'हसति' इत्यादौ। तत्र विषयता-समवायाभ्यां ज्ञानम् उभयनिष्ठम्। संयोगश्च[1] उभयनिष्ठः। एवं हासोऽपि। न हि विषयता-आवरणभङ्गौ एवम्। यत्र कर्तृवृत्ति-कर्मस्थ-फलं स कर्मस्थभावकः। यथा–'भिनत्ति' इत्यादौ। नहि द्विधा-भवनादि कथमपि कर्तृनिष्ठम्—इति हेलाराजः[2]। तथा च आवरणभंगस्य विषयतायाश्च कर्म-मात्रनिष्ठत्वात् 'जानातेः' अपि कर्मस्थ-क्रियकत्वापत्तिरित्यलम्।

जो—(विद्वान्) यह कहते हैं कि 'ज्ञा' धातु में) आवरण का विनाश अथवा विषयता (विषय होना) 'फल' है तथा 'व्यापार' तो ज्ञान ही है--वह उचित नहीं है क्योंकि (ऐसी स्थिति में) 'ज्ञा' धातु को 'कर्मस्थक्रियक' मानना पड़ेगा। उस ('कर्मस्थ-क्रियक' तथा 'कर्तृस्थ-क्रियक' धातुओं) की व्यवस्था भर्तृहरि ने इस प्रकार कही है :—

"जिस ('कर्ता' या 'कर्म') में क्रियाकृत विशेषता दिखायी दे वहां क्रिया व्यवस्थित होती है। परन्तु अन्य आचार्यों के मत में शब्दों (धातुओं) से ही क्रिया को ('कर्ता' या 'कर्म' में) स्थिति मानी जाती है।"

इस (कारिका) का अभिप्राय है—जहां 'कर्म' या 'कर्ता' में क्रिया-कृत कोई विशेषता दिखाई दे उस 'कर्म' या 'कर्ता' में क्रिया को व्यवस्थित माना जाता है। परन्तु इस प्रकार 'पच्' आदि (धातुओं) के 'कर्ता' में भी श्रम आदि रूप क्रियाकृत विशेषता के देखे जाने के कारण यह (मत) अनुचित है। इसके अतिरिक्त 'चिन्तयति' (सोचता है), 'पश्यति' (देखता है) इत्यादि (प्रयोगों में विद्यमान 'चिन्त्' तथा 'दृश्') धातुओं को 'कर्तृस्थभावक' नहीं माना जा सकता क्योंकि इनके 'कर्ता' में कोई क्रियाकृत विशेषता नहीं पायी जाती।

---

१. निस०, काप्रशु०—योगश्च।

२. तुलना करो—वाप० ३.७.६६, हेलाराज टीका;
यत्र कर्तरि कर्मणि वा विशेषः कश्चित् परिदृश्यते तत्रैव क्रिया व्यवस्थिता इति बोद्धव्यम्···अन्येषां मते क्रिया-व्यवस्था शब्दैरेव प्रकाश्यते। एतद् उक्तं भवति--येऽपि कर्मस्थभावकाः पच्यादयस् तत्रापि कर्तर्यपि परिश्रमादिको विशेषः परिदृश्यते। ततो नैतद् व्यवस्थापकं—'विशेष-दर्शनं यत्र तत्र क्रिया' इति। तस्माच् छब्दैरेव च यत्र विशेषः प्रकाश्यते प्रतिपाद्यते तत्रैव क्रिया स्थिता इति वक्तुं युक्तम्। शब्दप्रमाणकानां शब्द एव यथा यथा अर्थम् अभिधत्ते तथैव तस्याभिधानम् उपपन्नम्। न तु वस्तु-मुखापेक्षितया। शब्दश्च 'पश्यति घटम्' इत्यादौ दृशिक्रिया-विषयम् अविशिष्टम् एवं प्रत्याययति। 'काष्ठं भिनत्ति' इत्यादौ तु भिदि-क्रिया-विषयं सविशेषम् अभिधत्ते इति तद्वशेनैव कर्तृस्थभावकत्वं कर्मस्थभावकत्वं चाभिधानीयम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसलिये भर्तृहरि ने 'अन्येषाम्०' यह (अन्य आचार्यों के मत में इत्यादि) कहा। (यहाँ 'अन्येषाम्', इस कथन में) 'मते' (मत में) यह शेष है।

जहां 'कर्ता' तथा 'कर्म' दोनों में समान रूप से रहने वाला 'फल', शब्द (अर्थात् उस 'धातु') से, कहा जाय वह 'कर्तृस्थभावक' क्रिया है। जैसे—'पश्यति घटम्' (घड़े को देखता है), 'ग्रामं गच्छति' (गांव जाता है), 'हसति' (हँसता है) इत्यादि में ('दृश्', 'गम्' और 'हस्' धातुएँ)। वहाँ (इन प्रयोगों में क्रमशः) ज्ञान, (दर्शनरूप 'ज्ञान) के विषय बनने' के सम्बन्ध से ('कर्म' घट में) तथा 'समवाय' सम्बन्ध से ('कर्ता' ज्ञाता में रहने के कारण), उभयनिष्ठ ('कर्म' तथा 'कर्ता' दोनों में रहने वाला) है। ('गम्' धातु का अर्थ) संयोग भी (गन्ता तथा ग्राम दोनों में होने से) दोनों ('कर्ता'—जाने वाला—तथा 'कर्म' –ग्राम) में है। इसी प्रकार ('हस्' धातु का अर्थ) हास भी (दोनों 'कर्ता' तथा 'कर्म' में) है।

'आवरणभङ्ग' तथा 'विषयता' इस प्रकार के ('कर्ता' तथा 'कर्म' दोनों में साधारणरूप से रहने वाले) नहीं हैं (वे तो केवल 'कर्म' में रहने वाले हैं)।

'कर्मस्थभावक' वह धातु है जहां 'कर्ता' में न रहता हुआ 'फल' (केवल) 'कर्म' में (ही) रहता है। जैसे –'भिनत्ति' (फाड़ता है) इत्यादि में दो टुकड़े होना आदि ('फल') कभी भी 'कर्ता' में नहीं पाये जा सकते—यह हेलाराज की व्याख्या है। इस रूप में, 'आवरणभङ्ग' तथा 'विषयता' दोनों के केवल 'कर्म' में रहने वाला होने के कारण (उन्हें 'फल' मानते हुए), 'ज्ञा' धातु के 'कर्मस्थक्रियक' होने की अनिष्ट स्थिति उपस्थित होती है।

**यत्तु·····ज्ञानमेव**—वेदान्तियों का यह विचार है कि जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमारा अन्तःकरण ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उस वस्तु के पास पहुँच कर उसके आकार के रूप में परिणत हो जाता है। इसी स्थिति को वृत्ति या ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान से उस अज्ञात वस्तु पर पड़े आवरण (परदे) का भङ्ग या विनाश हो जाता है। इस 'आवरणभङ्ग' को ही वेदान्ती 'फल' मानते हैं। कौण्डभट्ट भी 'आवरणभङ्ग' को ही 'फल' मानते हैं (द्र०—वैभूसा० पृ० ६४)। दूसरा नैयायिकों का पक्ष यह है कि जो वस्तुएँ ज्ञात होती जाती हैं वे ज्ञान का विषय बनती जाती हैं। इस 'विषयता' (विषय बनना) को ही कुछ लोग 'फल' मानते हैं।

परन्तु 'आवरणभङ्ग' या 'विषयता' को 'फल' मानने में यह दोष उपस्थित होता है कि 'ज्ञा' धातु 'कर्मस्थक्रियक' बन जाती है क्योंकि ये दोनों ही ('आवरणभङ्ग' तथा 'विषयता'-रूप) 'फल' कर्मस्थ हैं ('कर्म' में विद्यमान हैं) तथा 'कर्मस्थफल' वाली क्रियायें 'कर्मस्थक्रियक' मानी जाती हैं। 'ज्ञा' धातु के 'कर्मस्थक्रियक' होने पर "कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः" सूत्र के अनुसार 'ज्ञायते घटः स्वयमेव' इस असाधु प्रयोग को भी साधु मानना पड़ेगा क्योंकि इस सूत्र में 'कर्मस्थभावक' तथा 'कर्मस्थक्रियक' धातुओं के 'कर्ता' को 'कर्मवत्' बनाया जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**तद्व्यवस्था च**—'कर्मस्थक्रियक' तथा 'कर्तृस्थक्रियक' धातुओं की व्यवस्था के विषय में नागेश ने यहां भर्तृहरि की कारिका उद्धृत की है जिसमें दो मत प्रस्तुत किये गए हैं। पहले मत में सामान्यतया इतना ही माना जाता है कि जहाँ क्रिया से उत्पन्न विशेषता 'कर्म' में दिखाई दे वह 'कर्मस्थक्रियक' धातु है तथा जहाँ क्रिया से उत्पन्न विशेषता 'कर्ता' में दिखाई दे वह 'कर्तृस्थक्रियक' धातु है। परन्तु इस व्यवस्था को मानने पर अनेक 'कर्मस्थक्रियक' धातुओं को 'कर्तृस्थक्रियक' मानना पड़ता है। जैसे—'पच्' आदि धातुओं में पाचन क्रिया से उत्पन्न श्रम आदि विशेषतायें 'कर्त्ता' में दिखाई देती हैं, इसलिये इस प्रकार की धातुओं को 'कर्तृस्थक्रियक' मानना होगा। इसके अतिरिक्त 'चिन्त्' तथा 'दृश्' इत्यादि धातुएँ, जो 'कर्तृस्थक्रियक' मानी जाती हैं, इस व्यवस्था को मानने पर 'कर्तृस्थक्रियक' नहीं बन पाती क्योंकि सोचने या देखने आदि क्रियाओं से 'कर्ता' में कोई विशेषता नहीं दृष्टिगोचर होती। इसलिये कारिका के उत्तरार्ध में 'अन्येषाम्०' के द्वारा एक दूसरी, सिद्धान्तभूत, व्यवस्था को प्रस्तुत किया गया।

सिद्धान्तभूत मत यह है कि शब्दों, अर्थात् धातुओं, से अभिव्यक्त विशेषता के आधार पर ही धातु को 'कर्मस्थक्रियक' या 'कर्तृस्थक्रियक' मानना चाहिये। जहाँ ऐसी विशेषता की अभिव्यक्ति धातु से हो जो 'कर्ता' तथा 'कर्म' दोनों में साधारण रूप से मिलें वह 'कर्तृस्थभावक' या 'कर्तृस्थक्रियक' धातु है। जैसे—'घटं पश्यति', 'ग्रामं गच्छति', तथा 'दुष्टं हसति' इत्यादि प्रयोगों में क्रमशः 'दृश्', 'गम्' तथा 'हस्' धातुओं के द्वारा 'दर्शन', 'संयोग' तथा 'हास' रूप 'फल' की अभिव्यक्ति इस रूप में होती है कि वे 'कर्ता' तथा 'कर्म' दोनों में साधारण रूप से मिलते हैं। 'घड़ा' दर्शन का विषय बनता है, 'ग्राम' संयोग का विषय बनता है तथा 'दुष्ट व्यक्ति' हास का विषय बनता है। इसलिये 'विषयता' सम्बन्ध से ये 'फल' या विशेषतायें 'कर्म' (घड़े, ग्राम तथा दुष्ट व्यक्ति) में हैं तथा 'समवाय' सम्बन्ध से ये 'फल' 'कर्त्ता, (घड़े को देखने वाले, गाँव जाने वाले तथा दुष्ट व्यक्ति के ऊपर हँसने वाले) में भी हैं। इसलिए ये सभी धातुएँ 'कर्तृस्थक्रियक' मानी जायँगी। अतः 'कर्तृस्थक्रियक' होने के कारण—'दृश्यते घटः स्वयमेव' अथवा 'गम्यते ग्रामः स्वयमेव' इत्यादि प्रयोग साधु नहीं माने जाते क्योंकि "कर्मवत् कर्मणा-तुल्यक्रियः" सूत्र केवल 'कर्मस्थक्रियक' धातुओं के ही कर्ता को 'कर्मवद्भाव' का विधान करता है।

जहां धातु से ऐसे 'फल' की अभिव्यक्ति होती है जो 'कर्ता' में न हो तथा केवल 'कर्म' में हो उस धातु को 'कर्मस्थक्रियक' मानना चाहिये। जैसे—'भिद्' आदि धातुओं से अभिव्यक्त होने वाले भेदन या फटना आदि 'फल' केवल 'कर्म' में ही पाये जाते हैं—कभी भी 'कर्ता' फाड़ने वाले व्यक्ति में नहीं पाये जाते। अतः उन्हें 'कर्मस्थक्रियक' माना जाता है। इस कारण 'भिद्यते घटः स्वयमेव' इत्यादि प्रयोग साधु माने गये हैं।

इस प्रकार इस सिद्धान्तभूत मत के अनुसार 'ज्ञा' धातु को, उसका 'फल' 'आवरणभङ्ग' या 'विषयता' मानने पर, 'कर्मस्थक्रियक' मानना होगा क्योंकि ये दोनों ही 'फल' केवल 'घट' आदि 'कर्म' में ही रहते हैं, कभी भी 'कर्ता' (जानने वाले व्यक्ति) में नहीं रहते। और 'ज्ञा' धातु को 'कर्मस्थक्रियक' मानने पर "कर्मवत् कर्मणा०" सूत्र के अनुसार 'ज्ञायते घटः स्वयमेव' जैसे अनिष्ट प्रयोगों को भी साधु मानना पड़ेगा। अतः

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'आवरणभङ्ग' या 'विषयता' को 'ज्ञा' धातु का 'फल' न मानकर, 'घट' आदि 'कर्म' हैं विषय जिसके ऐसे, ज्ञान को ही 'फल' मानना चाहिये।

**'कर्तृस्थभावक' तथा 'कर्मस्थभावक'**—'कर्मस्थभावक' तथा 'कर्मस्थक्रियक' शब्दों को तथा 'कर्तृस्थभावक' तथा 'कर्तृस्थक्रियक' शब्दों को नागेश ने यहाँ पर्याय के रूप में ग्रहण किया है। 'भाव' और 'क्रिया' हैं भी लगभग पर्यायवाचक शब्द। इसी लिये पाणिनि के सूत्र "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" (पा० २.३.३७) में 'भाव' पद से क्रिया का ग्रहण भी अभिप्रेत है तथा "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (पा० ३.२.१२६) में 'क्रिया' पद से भाव का ग्रहण भी अभिप्रेत है। भर्तृहरि की कारिका के "विशेष दर्शनं यत्र क्रिया तत्र व्यवस्थिता" इस अंश की व्याख्या में हेलाराज ने भी यही प्रतिपादन किया है कि भर्तृहरि की दृष्टि में यहां 'क्रिया' तथा 'भाव' दोनों अभिन्न अर्थ के वाचक है। द्र०—"विशेषमनपेक्ष्य सूत्रकाराभिप्रायेण क्रियाऽपि भावोऽभिधीयते इति टीकाकारस्य (भर्तृहरेः) अभिप्रायः। तथा च 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः', 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इत्यादावभेद एव सूत्रकारस्य क्रियाभावयोश्चेतसि वर्तते" (प्रकाश टीका वाप० ३.७.६६)।

महाभाष्य की वार्तिक "कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां च" (३.१.८७) में 'कर्मस्थभावक' तथा 'कर्मस्थक्रियक' शब्दों को, परस्पर पर्याय न मानते हुए, भिन्न-भिन्न अर्थ का वाचक माना गया है। यहां 'कर्मस्थभावक' का उदाहरण 'आसयति देवदत्तम्' (देवदत्त को बैठाता है) 'शाययति देवदत्तम्' (देवदत्त को सुलाता है) इत्यादि प्रयोग हैं तथा 'कर्मस्थक्रियक' के उदाहरण हैं—'गाम् अवरुणद्धि' (गौ को रोकता है), 'कटं करोति' (चटाई बुनता है)। इसी प्रसंग में महाभाष्य में 'कर्तृस्थक्रियक' तथा 'कर्तृस्थ-भावक' शब्दों को भी भिन्न-भिन्न अर्थों वाला माना गया है। काशिका (३.१.८७) में उद्धृत निम्न कारिका में 'कर्मस्थभावक', 'कर्मस्थक्रियक' तथा 'कर्तृस्थभावक' और 'कर्तृस्थक्रियक' इन चारों के अलग-अलग चार उदाहरण दिये गये हैं—

**कर्मस्थः पचतेर्भावः कर्मस्था च भिदेः क्रिया।**
**मासासिभावः कर्तृस्थः कर्तृस्था च गमेः क्रिया॥**

महाभाष्य की प्रदीप टीका में ऊपर की वार्तिक के 'भाव' तथा 'क्रिया' पद की परिभाषा करते हुए कैयट ने कहा कि स्पन्दन (गति अथवा चेष्टा) से रहित साधन के द्वारा साध्य जो धात्वर्थ वह 'भाव' है तथा स्पन्दन-सहित साधन से साध्य धात्वर्थ क्रिया है। द्र०—"अपरिस्पन्दसाधनसाध्यधात्वर्थो भावः सपरिस्पन्दसाधनसाध्या तु क्रिया"।

परन्तु वाक्यपदीय के टीकाकार हेलाराज को 'भाव' तथा 'क्रिया' का यह विभाग, परिभाषा अथवा व्यवस्था स्वीकार्य नहीं है। उनकी दृष्टि में 'पच्यते घटः स्वयमेव' (घड़ा स्वयमेव पकता है), जिसे 'कर्मस्थ भावक' का उदाहरण माना गया है, में भी सपरिस्पन्द साधन की स्थिति मानी जा सकती है। द्र० —"यत्रपरिस्पन्दसाधनसाध्यो भाव इत्यादिलक्षणमभिधाय कर्मस्थः पचतेर्भावः इत्यादिकमभिदधति तदप्यव्यवस्थितमिव लक्ष्यते। तथा च पीलुपाके 'घटं पचति' इति घटस्यानलसम्पर्कादवयवक्रियाद्वारेणावयवसंयोगविनाशपूर्वकं पूर्वपूर्वकार्यविनाशे उत्तरोत्तरकार्यद्रव्यविनाशात् सपरिस्पन्दपरमाणुविषयपाकक्रियापि। ततश्चाव्यवस्थितमेवैवत्" (प्रकाश टीका, वाप० ३.७.६६)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**इति हेलाराजः**—यहां हेलाराज का नाम लेने की कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती क्योंकि यह व्याख्या नागेश की अपनी है। हेलाराज की व्याख्या से यहां थोड़ा सा भी अंश उद्धृत नहीं किया गया है। प्रारम्भ के दो एक वाक्य थोड़े बहुत अवश्य मिलते हैं पर कोई अन्य समानता नहीं है। हां व्याख्या का अभिप्राय, कारिका की दृष्टि से, समान ही है। अतः सम्भवतः अभिप्राय की दृष्टि से ही यहां नागेश ने हेलाराज का नाम लिया है।

**['इष्' धातु का अर्थ]**

इच्छतेरिच्छानुकूलं[1] ज्ञानम् अर्थः। अतीतानागतयोरपि बुद्ध्युपारोहात् फलशालित्वम्।

'इष्' (धातु) का इच्छा (रूप 'फल') के अनुकूल होने वाला ज्ञान (–रूप 'व्यापार') अर्थ है। भूत तथा भविष्यत् काल की वस्तुएं भी, (तात्कालिक) बुद्धि का विषय बनने के कारण, (इच्छा रूप) 'फल' का आश्रय हो जाती हैं।

यहां प्रसंगतः 'इष्' धातु के अर्थ के विषय में विचार किया गया है। 'इष्' धातु का 'फल' 'इच्छा' है तथा इच्छानुकूल जो ज्ञान वही 'व्यापार' है। यहां यह पूछा जा सकता है कि 'इच्छा' रूप 'फल' का आश्रय तो वे ही वस्तुएं हो सकती हैं जो इच्छा करने वाले की इच्छा के समय में विद्यमान हों। भूत तथा भविष्यत् काल की वस्तुएं इच्छा का विषय कैसे बन सकती हैं? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ यह दिया गया कि बुद्धि में उन वस्तुओं के उपस्थित होने के कारण अतीत तथा अनागत की वस्तुएं भी इच्छा का विषय बन जाती है।

**['पत्' धातु की 'सकर्मकता' तथा 'अकर्मकता' के विषय में विचार]**

पतिः गमिवत् सकर्मकः, 'नरकं पतितः' इत्यादि-प्रयोगात्। विभाग-जन्य-संयोगमात्र-परत्वे 'अकर्मकः' इति[2]।

'पत्' धातु, 'गम्' धातु के समान, 'सकर्मक' है क्योंकि 'नरकं पतितः' (नरक में गिरा) इत्यादि प्रयोग देखे जाते हैं। 'विभाग से उत्पन्न संयोग' इतना ही अर्थ मानने पर ('पत्' धातु) 'अकर्मक' है।

'पत्' धातु के अर्थ के विषय में दो मत हैं। पहला यह है कि विभाग से उत्पन्न संयोग रूप 'फल' के अनुकूल 'व्यापार' 'पत्' धातु का अर्थ है। इस मत में 'पत्' धातु को 'सकर्मक' माना जाता है क्योंकि संयोगरूप 'फल' के आश्रयभूत 'नरक' आदि की

१. ह०– इच्छानुकूलज्ञानम्।
२. ह०—इति बोध्यम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



व्याकरण के अनुसार 'कर्म' संज्ञा है और उससे अन्वित अर्थ का वाचक होने के कारण 'पत्' धातु की 'सकर्मकता', उपर्युक्त परिभाषा–"शब्द-शास्त्रीय-कर्म-संज्ञाकार्थान्वय्यर्थकत्वं सकर्मकत्वम्"—के अनुसार, सिद्ध है। इस धातु को 'सकर्मक' मानते हुए ही पाणिनि का "द्वितीया श्रितातीत०" (पा० २.१.२४) सूत्र, जो 'पतित' शब्द के साथ 'द्वितीया-तत्पुरुष' समास का विधान करता है, सुसंगत हो पाता है। द्र०—"अन्ये तु भूम्यादेः कर्मत्व-विवक्षायां 'भूमिं पतितः' इति प्रयोग इष्ट एव। अतएव 'द्वितीया श्रित०' इत्यादि-सूत्रेण 'नरकं पतितः' इत्यादि-स्थले द्वितीया-समास-विधानम् अप्युपपद्यते" (व्युत्पत्तिवादः, द्वितीयाकारक-प्रथम-खण्डे पतति-कर्म विचारः)।

दूसरा मत यह है कि 'पत्' धातु का अर्थ केवल 'विभाग से उत्पन्न संयोग' ही है—विभाग-जन्य संयोग के अनुकूल होने वाला 'व्यापार' नहीं। इस मत में 'पत्' धातु को 'अकर्मक' माना जाता है। यहां संयोग को ही व्यापार मान लिया गया। वृक्ष से विभक्त हुए बिना भी, आंधी आदि के कारण, शाखा के झुकने से, भूमि के साथ पत्ते का संयोग हो सकता है। परन्तु इस स्थिति में 'पत्' धातु का प्रयोग नहीं होता। इस कारण विभाग-जन्य संयोग को ही 'पत्' धातु का अर्थ माना गया।

इस प्रकार, विभाग-जन्य संयोग को ही 'पत्' धातु का अर्थ मानने पर, धात्वर्थ में 'फल' अंश के न होने के कारण उसका आश्रयभूत 'कर्म' भी नहीं होगा। इसलिये 'कर्म' से अन्वित न होने वाले अर्थ का वाचक होने के कारण, "तदनन्वय्यर्थकत्वम् अकर्मकत्वम्" इस परिभाषा के अनुसार, 'पत्' धातु को 'अकर्मक' मानना होगा।

**['कृ' धातु का अर्थ]**

कृञ उत्पत्तिव्यधिकरणस्तदनुकूलो व्यापारोऽर्थः। [1]फलमात्रार्थकत्वे अकर्मकत्वापत्तिर्यतिवत्। किंच कर्मस्थ-भावकत्वाभावात् कर्मकर्तरि यगाद्यनापत्तिः। 'कृतिः' इत्यादौ धातूनाम् अनेकार्थत्वात् यत्नमात्रे वृत्तिः। यद् वा 'यत्न'-'कृति'-शब्दयोरपि व्यापारसामान्यवाचिता एव। अतएव "स्थालीस्थे यत्ने पचिना कथ्यमाने 'स्थाली पचति" इति "कारके" (पा० १.४.२३) इति सूत्रे **भाष्ये** उक्तम्।

'कृञ्' (धातु) का "उत्पत्ति से भिन्न अधिकरण वाला, उत्पत्ति (रूप 'फल') के अनुकूल, व्यापार" अर्थ है। इसका 'फल'-मात्र (केवल यत्न) अर्थ मानने पर 'यत्' (धातु) के समान (इस 'कृ' धातु को भी) 'अकर्मक' मानना पड़ेगा तथा (इस रूप में इसके) 'कर्मस्थभावक' न होने के कारण, कर्मकर्त्ता में 'यक्' आदि प्रत्ययों की प्राप्ति नहीं होगी। 'कृतिः' (यत्न) इत्यादि (प्रयोगों) में, धातुओं की अनेकार्थकता के कारण, केवल 'यत्न' अर्थ में ('कृ' धातु की)

१. द्र०—यत्न।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



शक्ति माननी चाहिये, अथवा 'यत्न' और 'कृति' दोनों शब्दों को सामान्य 'व्यापार' का वाचक मान लेना चाहिये। इसीलिये ('यत्न' शब्द को 'व्यापार'-सामान्य का वाचक मानने के कारण ही) "कारके" इस सूत्र के भाष्य में यह कहा गया कि "स्थाली (पतीली) में होने वाले यत्न (सामान्य 'व्यापार') को 'पच्' धातु के द्वारा कहे जाने पर 'स्थाली पकाती है, यह प्रयोग किया जाता है"—यह विचार यहां पर्याप्त है।

**कुत्र उत्पत्तिव्यधिकरण''' अर्थः**—'कृ' धातु के अर्थ के विषय में भी दो मत हैं। एक मत में उत्पत्ति रूप 'फल' के अधिकरण (आश्रय) से भिन्न अधिकरण वाले तथा उत्पत्ति रूप 'फल' के अनुकूल होने वाले 'व्यापार' को 'कृ' धातु का अर्थ माना जाता है। इस मत में 'कृ' धातु की 'सकर्मकता' भी सिद्ध हो जाती है क्योंकि उत्पत्तिरूप 'फल' से भिन्न आश्रय ('कर्ता') में होने वाले 'व्यापार' का वाचक 'कृ' धातु है इसलिये, 'फल-व्यधिकरण-व्यापार-वाचकत्वं सकर्मकत्वम्' इस, कौण्डभट्ट-अभिमत, परिभाषा के अनुसार भी, 'कृ' धातु 'सकर्मक' बन जाती है। अन्य लाभ इस मत में यह है कि 'कृ' धातु 'कर्मस्थ-भावक' ('कर्मस्थक्रियक') बन जाती है क्योंकि 'कृ' धातु यहाँ 'कर्ता' में न रहने वाले तथा केवल 'कर्म' में रहने वाले 'फल' का बोधक बनता है। यह मत वैयाकरण विद्वानों का है। इसी का निर्देश नागेश ने यहाँ किया है।

**फलमात्रार्थकत्वे अकर्मकत्वापत्तिर्यतियत्**—दूसरा मत यह है कि 'कृ' का अर्थ केवल 'फल' अर्थात् 'यत्न' है। उत्पत्ति के अनुकूल 'व्यापार' नहीं। यह मत नैयायिक विद्वानों का है। इस मत में दो दोष उपस्थित होते हैं। पहला यह कि 'कृ' धातु 'अकर्मक' बन जाती है क्योंकि, जिस प्रकार 'यत्न' तथा यत्नानुकूल 'व्यापार' दोनों ही 'कर्ता' में होते हैं इसलिये प्रयत्न अर्थ वाली 'यत्' धातु, "फल-समानाधिकरण-व्यापार-वाचकत्वम् अकर्मकत्वम्" इस परिभाषा के अनुसार, 'अकर्मक' मानी जाती है उसी प्रकार, केवल 'यत्न' अर्थ मानने पर 'कृ' धातु भी 'अकर्मक' बन जायगी।

**कर्मस्थभावकत्वाभावात् कर्मकर्तरि यगाद्यनापत्तिः**—दूसरा दोष यह है कि 'कृ' धातु 'कर्मस्थभावक' नहीं बन पाती क्योंकि इस मत में 'कृ' का अर्थ केवल 'यत्न' है और 'यत्न' चेतन का धर्म होने के कारण 'करोति' इत्यादि के 'कर्म', अचेतन 'घट' आदि, में नहीं रह सकता। अतः यहां 'यत्न' रूप 'फल' 'कर्म' में नहीं पाया जाता। इसलिये, केवल 'कर्म' में रहने वाले 'फल' के वाचक धातुओं को ही 'कर्मस्थ-क्रियक' माने जाने के कारण, 'कृ' धातु को 'कर्मस्थक्रियक' नहीं माना जा सकता।

'कृ' धातु के 'कर्मस्थक्रियक' न होने पर, 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' (पा. ३.१.८७) सूत्र से, 'कर्मकर्ता' में 'कर्मवद्भाव' की प्राप्ति नहीं होगी क्योंकि यह सूत्र केवल 'कर्मस्थभावक' तथा 'कर्मस्थक्रियक' धातुओं के 'कर्मों' के, जो 'कर्ता' के रूप में विवक्षित होते हैं, 'कर्मवद्भाव' का विधान करता है। इस प्रकार 'कर्मवद्भाव' न होने पर 'क्रियते घटः स्वयमेव' इत्यादि प्रयोगों में 'यक्' आदि प्रत्ययों की प्राप्ति नहीं हो सकती। यहाँ 'यक्' से सम्बद्ध 'आदि' पद से 'आत्मनेपद', 'चिण्', 'चिणवद्भाव' आदि कार्य अभिप्रेत हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**'कृतिः' इत्यादौ···यत्नमात्रे वृत्तिः**—यदि प्रथम मत के अनुसार 'कृ' धातु का अर्थ, 'यत्न' न मान कर, 'उत्पत्ति' रूप 'फल के अनुकूल होने वाला 'व्यापार' अर्थ माना गया तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'कृतिः' इत्यादि प्रयोगों में, जो 'कृ' धातु से निष्पन्न हैं, केवल 'यत्न' अर्थ कैसे कथित होता है ? इसका उत्तर यहाँ यह दिया गया कि धातुएँ अनेक अर्थों वाली हैं इसलिये 'कृति' इत्यादि प्रयोगों में 'कृ' धातु को 'यत्न' अर्थ का वाचक मान लेना चाहिये ।

**यद् वा 'यत्न'-'कृति'-शब्दयोरपि···इत्यलम्**—उपर्युक्त प्रश्न का दूसरा उत्तर यहाँ यह दिया गया कि 'कृतिः' तथा 'यत्न' इन दोनों शब्दों को सामान्य 'व्यापार' का वाचक मानना चाहिये तथा इस 'यत्न' शब्द को केवल मन के 'व्यापार' रूप यत्न का वाचक नहीं मानना चाहिये । ऐसा मानने पर 'कृति' का अर्थ 'यत्न' करने पर भी कोई दोष नहीं आता क्योंकि सामान्य 'व्यापार' का कथन तो किसी भी धातु से हो सकता है ।

"यत्न' शब्द सामान्य 'व्यापार' का वाचक है" अपने इस कथन की पुष्टि में नागेश ने "कारके" (पा० १.४.२३) सूत्र के भाष्य के एक ऐसे स्थल की ओर सङ्केत किया है जहाँ यह कहा गया है कि जब वक्ता की यह इच्छा होती है कि पतीली में होने वाले 'यत्न' (सामान्य पाचन 'व्यापार') को कहा जाय तो वह 'स्थाली पचति' का प्रयोग करता है । यदि यहाँ भी पतंजलि के वाक्य—"स्थालीस्थे यत्ने कथ्यमाने" में विद्यमान 'यत्न' का मनो-व्यापार' अर्थ किया जाय तो वाक्य सर्वथा असंगत हो जायगा क्योंकि मन का 'व्यापार' रूप 'यत्न' पतीली में कैसे हो सकता है ? अतः 'यत्न' का अर्थ सामान्य 'व्यापार' मानना चाहिये और वही 'कृति' का भी वाच्यार्थ है ।

**"कारके" इति सूत्रे भाष्ये**—यद्यपि "कारके" (१.४.२३) सूत्र के भाष्य में एक साथ ऐसा कथन नहीं मिलता जैसा नागेश ने यहाँ उद्धृत किया है । परन्तु वहीं के दो स्थानों के वाक्यों को एक साथ मिला कर देखने से इस प्रकार का आशय प्रकट हो जाता है । इस दृष्टि से द्रष्टव्य—"द्रोणं पचति आढकं पचति इति सम्भवन-क्रियां धारणक्रियां च कुर्वती स्थाली पचतीत्युच्यते" (पृ० ३४८) तथा "एवं तर्हि स्थालीस्थे यत्ने कथ्यमाने स्थाली स्वतंत्रा" (पृ० ३५२) ।

**['लकारार्थ' के विषय में नैयायिकों का सिद्धान्त]**

यत्तु **तार्किकाः**—फलव्यापारौ धात्वर्थः । लकाराणां कृतौ एव शक्तिः, लाघवात्, न तु कर्तरि, कृतिमतः कर्तृत्वेन तत्र शक्तौ गौरवात्, प्रथमान्तपदेनैव तल्लाभाच्च ।

आख्यातार्थे धात्वर्थो विशेषणम्, प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः सहार्थत्वे प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात् । प्रथमान्तार्थे आख्यातार्थो विशेषणम् ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अनुकूलत्वम् आश्रयत्वं च संसर्गः । तथा च 'चैत्रः पचति' इत्यादौ 'विक्लित्त्यनुकूलव्यापारानुकूलकृति-मांश्चैत्रः' इति बोधः । 'रथो गच्छति' इत्यादौ रथस्य अचेतनत्वात् यत्नशून्यत्वेन व्यापारे आश्रयत्वे वा[1] आख्यातस्य लक्षणा—इत्याहुः ।

नैयायिक जो यह कहते हैं कि 'फल' तथा 'व्यापार' धातु के अर्थ हैं और 'लकार', लाघव के कारण, 'कृति' ('यत्न') के वाचक हैं न कि 'कर्ता' के क्योंकि 'कर्ता' के कृतिमान् (यत्नवान्) होने से उस ('कर्ता') में 'लकारों' की वाचकता मानने में गौरव है तथा प्रथमा विभक्त्यन्त (देवदत्त आदि) पद के द्वारा ही 'कर्त्ता' का ज्ञान हो जाता है (इसलिये उन्हें 'लकारों' का वाच्य मानने की आवश्यकता भी नहीं है) ।

'आख्यात' ('तिङ्' विभक्तियों) के अर्थ में धातु का अर्थ 'विशेषण' (अप्रधान) होता है क्योंकि प्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययार्थ के एक साथ उपस्थित होने पर 'प्रत्यय' के अर्थ की प्रधानता मानी गयी है । (इसके अतिरिक्त) प्रथमा विभक्त्यन्त पदों के अर्थ में 'तिङ्' (विभक्तियों) का अर्थ 'विशेषण' (अप्रधान) होता है ।

('फल' तथा 'व्यापार' में और 'व्यापार' तथा 'कृति' में) 'अनुकूलता' और ('तिङर्थ' तथा 'प्रथमान्तार्थ' में) 'आश्रयता' सम्बन्ध है । इसलिये 'चैत्रः पचति' (चैत्र पकाता है) इत्यादि (प्रयोगों) में "विक्लित्ति' (गलना रूप 'फल') के अनुकूल (जो पाचन रूप) 'व्यापार' (उस) के अनुकूल (जो) 'कृति' (उस) का आश्रय चैत्र" यह बोध होता है । 'रथो गच्छति' (रथ जाता है) इत्यादि में, रथ के अचेतन होने के कारण 'यत्न'-शून्य होने से, 'व्यापार' अथवा 'आश्रयता' (अर्थ) में 'तिङ्' की लक्षणा माननी चाहिये ।

**लकाराणां कृतावेव शक्तिः**—नैयायिक विद्वान् लकारों या उनके स्थान पर आये 'तिप्' आदि विभक्तियों का वाच्य अर्थ 'कृति' या 'यत्न' मानते हैं । वैयाकरण विद्वानों के समान वे इन विभक्तियों का अर्थ 'कर्ता' नहीं मानते । उनका कहना है कि 'कर्ता' अर्थ मानने में गौरव है क्योंकि 'कर्ता' को वाच्य मानने का अभिप्राय है 'कृतिमान्' को वाच्य मानना तथा 'कृतिमान्' में अनन्त 'कृतियों' के समाविष्ट रहने से उन सब को 'लकारों' का वाच्य मानना होगा—अतः 'कर्ता' को वाच्य मानने में गौरव है । यद्यपि 'कृति' को वाच्य मानने पर भी अनन्त कृतियों को वाच्य मानना होगा परन्तु इस पक्ष में गौरव इसलिये नहीं है कि अनन्त कृतियों में कृतित्व 'जाति' एक है उसे ही वाच्य मान लेने से लाघव बना रहता है । लाघव के अतिरिक्त, 'लकारों का 'कृति' अर्थ मानने में, दूसरा हेतु यह है कि वाक्य में विद्यमान प्रथमा विभक्त्यन्त देवदत्त आदि पदों से ही 'कर्ता' का बोध हो जाता है फिर उसे 'लकारों' का वाच्यार्थ मानने की क्या आवश्यकता ?

१. ह० में 'व्यापारे आश्रयत्वे वा' के स्थान पर 'व्यापारे' तथा बंमि० में 'आश्रये' पाठ मिलता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



क्योंकि एक न्याय है "अननुलभ्यः शब्दार्थः" (शब्द का वाच्यार्थ वही होता है जो साथ के अन्य शब्द से ज्ञात न हो)। इस न्याय के अनुसार 'तिङ्' का वाच्यार्थ 'कर्ता' नहीं माना जा सकता क्योंकि उसका ज्ञान प्रथमा विभक्ति वाले पदों से ही हो जाता है।

**आख्यातार्थे धात्वर्थो विशेषणम्**—इस प्रसङ्ग में नैयायिक दूसरी बात यह मानते हैं कि आख्यातार्थ ('तिङ्' के अर्थ 'कृति') में धातु का अर्थ 'विशेषण' (अप्रधान) होता है। इसका अभिप्राय यह है कि 'तिङ्' का अर्थ ('कृति') 'विशेष्य' अथवा प्रधान होता है तथा धातु का अर्थ ('फल' और 'व्यापार') 'विशेषण' अर्थात् अप्रधान या गौण। ऐसा वे इसलिये मानते हैं कि "प्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययार्थ के एक साथ उपस्थित होने पर प्रकृत्यर्थ की अपेक्षा प्रत्ययार्थ की प्रधानता होती है" यह एक स्वीकृत न्याय है। यहां भी धातु 'प्रकृति' है तथा 'तिङ्' 'प्रत्यय' है। अतः उनके अर्थों में प्रत्ययार्थ ('तिङर्थ' अर्थात् 'कृति') को प्रधान मानना ही चाहिये।

'आख्यात' शब्द का प्रयोग यद्यपि व्याकरण में धातु या धातु से बने क्रिया पदों के लिये ही हुआ है। निरुक्त (१।१) में "नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च" तथा "भाव-प्रधानम् आख्यातम्" इत्यादि स्थलों में 'आख्यात' का अभिप्राय क्रिया पद है। इसी प्रकार "क्रियावाचकम् आख्यातम्" (वाजसनेय प्रातिशाख्य ५।१) "आख्यातम् आख्यातेन क्रियासातत्ये" (पाणिनीय गणपाठ, गणसूत्र २।७२) इत्यादि सूत्रों में भी 'आख्यात' का अभिप्राय क्रिया पद ही है। "तन्नाम येनाभिदधाति सत्त्वं, तद् आख्यातं येन भावं स धातुः" ऋक्प्रातिशाख्य (१२।५) के इस वाक्य में 'आख्यात' पद का प्रयोग केवल धातु के लिये किया गया है। नैयायिक विद्वान् 'तिङ्' प्रत्ययों को 'आख्यात' कहते हैं। यहां नागेश ने भी, नैयायिकों की दृष्टि से, 'तिङ्' के लिये 'आख्यात' शब्द का प्रयोग किया है।

यहां जो 'आख्यातार्थ ('तिङ्' के अर्थ 'कृति') की प्रधानता की बात कही गयी वह केवल कर्तृवाचक प्रत्ययों की दृष्टि से मानना चाहिये—कर्मवाचक प्रत्ययों की दृष्टि से नहीं। नैयायिक विद्वान् "लः कर्मणि०" (पा० ३.४.६९) सूत्र की वृत्ति के 'कर्म' तथा 'कर्तृ' पदों को भाव-प्रधान मानते हुए उनका अर्थ क्रमशः 'कर्मत्व' तथा कर्तृत्व' करते हैं। इस कारण कर्तृवाच्य में 'लकार' का अर्थ 'कर्तृत्व' अर्थात् 'कृति' है तथा कर्मवाच्य में 'कर्मत्व' अर्थात् 'फल'। परन्तु यदि वे ऐसा मानते हैं तो, कर्मवाचक 'प्रत्यय' में 'लकार' का अर्थ 'फल' है इसलिए, धातु का अर्थ केवल 'व्यापार' मानना होगा। और तब "फल-व्यापारौ धात्वर्थः" ('फल' तथा 'व्यापार' दोनों धातु के अर्थ हैं) नैयायिकों की यह प्रतिज्ञा खण्डित हो जाती है।

**प्रथमान्तार्थे आख्यातार्थो विशेषणम्**—तीसरी बात नैयायिक यहां यह मानते हैं कि प्रथमा विभक्त्यन्त पदों का जो 'कर्ता' आदि अर्थ होता है उसमें 'आख्यातार्थ' 'विशेषण' (अप्रधान) होता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रथमान्त पदों के 'कर्ता' आदि अर्थ प्रधान होते हैं तथा 'आख्यात' का अर्थ ('कृति') 'कर्ता' आदि का 'विशेषण' होता है, अर्थात् 'कर्ता' की अपेक्षा 'कृति' अप्रधान या गौण होती है। ऐसा वे, सम्भवतः, इसलिए मानते हैं कि सर्वत्र जो शाब्दबोध होता है उसमें धात्वर्थ या आख्यातार्थ की प्रधानता न होकर प्रथमान्तार्थ की ही प्रधानता पायी जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**अनुकूलत्वम् ····चैत्र इति बोधः**—ऊपर की तीनों मान्यताओं के पारस्परिक समन्वय के लिये वे 'अनुकूलता' तथा 'आश्रयता' इन दो सम्बन्धों की कल्पना करते हैं। इस रूप में वे 'फल' तथा 'व्यापार' में और 'व्यापार' तथा 'कृति' में 'अनुकूलता' सम्बन्ध मानते हैं क्योंकि 'व्यापार' 'फल' के अनुकूल होता है तथा 'कृति' 'व्यापार' के अनुकूल होती है। इसके साथ ही वे 'कृति' तथा 'प्रथमान्तार्थ (कर्ता) के बीच आश्रयता' सम्बन्ध मानते हैं क्योंकि 'कृति' का आश्रय 'कर्ता' है।

इन सब मान्यताओं तथा उनके पारस्परिक समन्वय का परिणाम यह होता है कि नैयायिकों की दृष्टि में "चैत्रः पचति" का अर्थ है—"विक्लत्ति (चावलों का गलना) रूप 'फल' के अनुकूल जो 'व्यापार' उसके अनुकूल जो 'कृति' ('यत्न') उसका आश्रय चैत्र"।

**रथो गच्छतीत्यादौ ····लक्षणेत्याहुः**—परन्तु ऊपर की प्रक्रिया में दोष वहां आता है जहाँ 'कर्ता' कोई अचेतन पदार्थ हो। जैसे—'रथो गच्छति' (रथ जाता है)। यहाँ रथ अचेतन है, अतः उसमें 'कृति' या यत्न हो ही नहीं सकता क्योंकि यत्न चेतन का धर्म है। इसलिए "संयोग' रूप 'फल' के अनुकूल जो गमन 'व्यापार' उसके अनुकूल जो यत्न उसका 'आश्रय रथ" यह अर्थ कैसे किया जा सकता है?

इस आक्षेप का उत्तर यहाँ यह दिया गया कि ऐसे स्थलों में 'व्यापार' या 'आश्रयता' रूप अर्थ में आख्यात की 'रूढ़' लक्षणा कर लेंगे। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि, गमनानुकूल जो 'कृति' उस मुख्यार्थ में रथ का अन्वय न होने के कारण, 'आख्यात' का अर्थ लक्षणा वृत्ति से 'व्यापार' किया जाएगा और तब अर्थ होगा—"गमनानुकूल जो 'व्यापार' उससे युक्त रथ"।

परन्तु 'व्यापार' में लक्षणा मानने पर भी यह दोष दिखाई देता है कि यदि रथ को गमनानुकूल 'व्यापार' से युक्त माना गया तो फिर जिस समय रथ में घोड़े नहीं जुते होते तथा वह यों ही पड़ा होता है, उस समय भी 'रथो गच्छति' जैसे प्रयोग होने लगेंगे। इसलिए एक दूसरे विकल्प के रूप में यह प्रस्ताव रखा गया कि 'व्यापार' के स्थान पर 'आश्रयता' में 'आख्यात' अर्थात् 'तिङ्' की लक्षणा मानी जाय। दूसरे शब्दों में 'तिङ्' का अर्थ यहाँ 'आश्रयता' है 'व्यापार' नहीं। इस 'आश्रयता' में लक्षणा मानने पर कोई दोष नहीं आता क्योंकि रथ गमनानुकूल व्यापार की आश्रयता से युक्त तो है ही, अर्थात् उसमें गमनानुकूल 'व्यापार' तो होता ही है, भले ही वह व्यापार स्वयं उसी का न हो, घोड़े आदि अन्य साधनों का हो।

इस प्रकार नैयायिकों के इस मत को, उसका खण्डन करने के लिए, यहाँ पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लघुमंजूषा के तिङर्थनिरूपण के प्रकरण में इस मत का उल्लेख नव्य मीमांसकों के नाम से किया गया है तथा वहीं विस्तार से इस मत का खण्डन भी किया गया है। परन्तु पलम० तथा लम० के ये प्रसंग एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। द्र०—"यदपि कर्त्रधिकरणे नव्यमीमांसकाः—फलावच्छिन्न-व्यापारानुकूलः कृत्यादिराख्यातार्थः। स च व्यापारत्वेनैव। कृत्यादि-व्यापारस्तु विशेष्यत्वानुरोधात् तिङ्-वाच्यः। 'रथो गच्छति' इत्यादौ आश्रयत्वम् एव तिङर्थव्यापारः" (लम० पृ० ७५०)। पूरे प्रसंग के लिए द्रष्टव्य—लम० पृ० ७५०-५६।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[नैयायिकों के प्रथम सिद्धान्त—'लकारों का अर्थ 'कृति' है—का खण्डन]

तत् न । युष्मद्-अस्मदोर्लकारेण सामानाधिकरण्याभावात् पुरुषव्यवस्थानापत्तेः[1]। 'पचन्तं चैत्रं पश्य', 'पचते देवदत्ताय देहि' इत्यादौ 'शतृ-शानच्' आदीनाम् अपि 'तिप्' आदिवत् लादेशाविशेषेण तेभ्यः कृतिमात्र-बोधापत्तेश्च[2]। न चेष्टापत्तिः। आश्रयाश्रयि-भावेन कर्मणि[3] सम्प्रदाने च कृतेरन्वयाद् इति वाच्यम्, "नामार्थयोर् अभेदान्वयो व्युत्पन्नः" इति व्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः।

ननु "फलमुखगौरवं न दोषाय" इति न्यायेन 'शतृ' आदीनां कर्तरि शक्तिः, 'तिप्' आदीनां कृतौ एव इति चेत्, न। "स्थान्येव वाचको लाघवात् आदेशानां बहुत्वेन तेषां वाचकत्वे गौरवम्" इति हि तव मतम्। एवं च तिबादीनां शत्रादीनां च स्थानि[4]-स्मारकतया लिपि-स्थानीयत्वं बोधकस्तु लकार एव। स च शत्राद्यन्ते कर्तरि शक्तः तिबाद्यन्ते कथं कृतिं बोधयेत्, "अन्यायश्चानेकार्थत्वम्" इति न्यायात्।

बह ('लकारों' का अर्थ 'कृति' है 'कर्ता' नहीं यह मत) उचित नहीं है क्योंकि 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' (इन सर्वनाम शब्दों) की 'लकार' ('लकार' के अर्थ 'कृति') के साथ समानाधिकरणता न होने से 'पुरुष'—(मध्यम तथा उत्तम 'पुरुष') विषयक व्यवस्था नहीं बन सकेगी। तथा 'पचन्तं' चैत्रं पश्य' (पकाते हुए चैत्र को देखो) और 'पचते देवदत्ताय देहि' (पकाते हुए देवदत्त को दो) इत्यादि प्रयोगों में 'शतृ' 'शानच्' आदि (प्रत्ययों) के, 'तिप्' आदि विभक्तियों के समान, 'लकार' के स्थान में होने वाले 'आदेशों' से अभिन्न होने के कारण, उन ('शतृ' 'शानच्' आदि) से केवल 'कृति' का बोध हो सकेगा ('कर्म' तथा 'सम्प्रदान' का नहीं)। यह नहीं कहा जा सकता कि—'आश्रय-आश्रयी' सम्बन्ध से (आश्रयी अर्थात् 'कृति' के आश्रय होने के कारण) 'कर्म' तथा 'सम्प्रदान' में 'कृति' का अन्वय हो जाने से ('शतृ' 'शानच्' प्रत्ययों का

१. इसके बाद ह० में "देवदत्तेन भव्यमाने आस्यमाने च यज्ञदत्तो गतः इति भावे शानच्-अनापत्तेः" इतना पाठ अधिक है।

२. ह० में 'च' नहीं है।

३. ह० में 'विभक्त्यर्थकर्मणि' पाठ है।

४. ह०, वंमि० में 'स्थान्यर्थं'।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



केवल 'कृति' अर्थ) इष्टापत्ति है क्योंकि (ऐसा मानने से) "नामार्थयोः अभेदान्वयो व्युत्पन्नः" (दो प्रातिपदिकार्थों में परस्पर अभेदान्वय ही निश्चित है) इस न्याय का उल्लङ्घन होता है।

"फलमुखगौरवं न दोषाय" (किसी प्रमुख प्रयोजन की दृष्टि से गौरव को स्वीकार करना दोष नहीं है) इस न्याय के अनुसार 'शतृ' आदि (प्रत्ययों) की 'कर्ता' में तथा 'तिप्' आदि की 'कृति' में 'शक्ति' (वाचकता) मानी जाय तो (वह भी) उचित नहीं क्योंकि "लाघव के कारण 'स्थानी' ('लकार' आदि) ही वाचक है, 'आदेशों' के बहुत होने के कारण उन्हें वाचक मानने में गौरव है" यह तो तुम्हारा (नैयायिक का ही) मत है। और इस प्रकार 'तिप्' आदि तथा 'शतृ' आदि (सभी अपने) 'स्थानी' ('लकार' के) स्मारक (मात्र) होने के कारण लिपि के समान हैं, (वस्तुतः) बोधक तो 'लकार' ही है। और वह 'लकार', शतृ' आदि (प्रत्यय) हैं अन्त में जिस शब्द के उसमें, 'कर्ता' का वाचक बन कर, 'तिब्' आदि जिनके अन्त में हैं उन (क्रिया पदों) में, ('कर्ता' का बोध न करा कर) 'कृति' का बोध कैसे करायेगा ? क्योंकि "अन्यायश्चानेकार्थत्वम्" (एक ही शब्द के अनेक अर्थ होना अनुचित है) यह न्याय है।

**पुरुष-व्यवस्थानापत्तेः**— 'लकारों' का अर्थ केवल 'कृति' मानने में पहला दोष यह है कि 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' सर्वनामों के साथ 'लकार' का सामानाधिकरण्य न बनने से पुरुष-विषयक व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अभिप्राय यह है कि पाणिनि ने, "युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः" (पा० १.४.१०५) तथा "अस्मद्युत्तमः" (पा० १.४.१०७) इन दो सूत्रों से, यह व्यवस्था बनायी कि समान-अधिकरण, अर्थात् अभिन्न वाच्यार्थ, के होने पर 'युष्मद' तथा 'अस्मद्' की विद्यमानता में क्रमशः मध्यम तथा उत्तम पुरुष प्रयुक्त होंगे। यहां 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' की समानाधिकरणता 'लकार' के स्थान पर आये 'तिङ्' के साथ ही देखी जा सकती है, अर्थात् यदि 'युष्मद्' या अस्मद्' तथा 'तिङ्' का वाच्यार्थ एक ही द्रव्य को अपना अधिकरण (विषय) बनाता है तभी मध्यम तथा उत्तम पुरुष का प्रयोग होगा। स्पष्ट शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिस 'कारक' को 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' सर्वनाम कह रहे हों उसी को यदि 'तिङ्' विभक्ति भी कहती हो तभी क्रमशः मध्यम तथा उत्तम पुरुषों का प्रयोग हो सकता है। अब यदि नैयायिकों के मत के अनुसार 'लकार' या उसके 'आदेश' 'तिङ्' का अर्थ केवल 'कृति' माना जाता है ('कर्ता' आदि नहीं:) तो 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' की उसके साथ समानाधिकरणता (वाच्यार्थ की एकता) ही नहीं बन पाती क्योंकि इन दोनों सर्वनामों का वाच्य अर्थ है क्रमशः मध्यम तथा उत्तम पुरुष और दूसरी ओर 'तिङ्' का वाच्यार्थ है 'कृति'। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ के होने के कारण समानाधिकरणता कहां रही ?

**शतृ-शानजादीनामपि·····कृतिमात्र-बोधापत्तेश्च**— इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि 'पचन्तं चैत्रं पश्य' तथा 'पचते चैत्राय देहि' जैसे प्रयोगों में 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्यय भी केवल 'कृति' का ही बोध करा सकेंगे, 'कर्म', 'सम्प्रदान' आदि 'कारकों' का नहीं क्योंकि ये प्रत्यय भी "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(पा० ३.२.१२४) सूत्र के द्वारा उसी प्रकार 'लकार' के स्थान पर आते हैं जिस प्रकार 'तिप्' आदि विभक्तियां।

**न चेष्टापत्ति**:—यहां यह कह कर इस दोष का निवारण नहीं किया जा सकता कि इन उपर्युक्त दोनों प्रयोगों में क्रमशः 'कृति' के आश्रय 'कर्म' तथा 'सम्प्रदान' हैं इसलिये, 'आश्रयाश्रयी' सम्बन्ध से, 'लकार' का अर्थ केवल 'कृति' मानने पर भी, 'कृति' के द्वारा उन 'कर्म' तथा सम्प्रदान' का आक्षेप हो जाया करेगा क्योंकि एक न्याय है—"नामार्थयोर्भेदेन साक्षाद् अन्वयोऽव्युत्पन्नः"—जिसका अभिप्राय है कि समान विभक्ति वाले दो प्रातिपादिकों के अर्थों में भेद सम्बंध से उन दोनों का साक्षात् सम्बन्ध-बोध नहीं हुआ करता, या दूसरे शब्दों में अभेद सम्बन्ध से ही दो समान विभक्ति वाले प्रतिपदिकार्थों का परस्पर सम्बन्ध होता है। जैसे 'नीलो घटः' (नीला घड़ा) इस प्रयोग में दोनों प्रातिपदिकार्थों का अभेदरूप से ही परस्पर सम्बन्ध अभीष्ट है—भेद सम्बन्ध से नहीं। यहाँ 'पचन्तम्' तथा 'चैत्रम्' अथवा 'पचन्तम्' तथा 'देवदत्तम्' दोनों ही प्रातिपदिक हैं तथा समान विभक्ति वाले हैं। अतः उनके अर्थों में 'अभेद' सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई भी सम्बन्ध—'आश्रयाश्रयिभाव' आदि—नहीं स्वीकार किया जा सकता।

**ननु फलमुखगौरवं ··· इति न्यायात्**—'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्ययान्त शब्दों में उपस्थित होने वाले इस दोष के निवारण के लिये यह कहा जा सकता है कि—'शतृ' आदि का अर्थ 'कारक' है तथा 'तिप्' आदि विभक्तियों का अर्थ केवल 'कृति' है। ऐसा मानना गौरवयुक्त होते हुए भी दोषावह इसलिये नहीं है कि किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये अपनाया गया गौरव (विस्तार) दोष नहीं होता—"फलमुखगौरवं न दोषाय"—यह एक न्याय है।

परन्तु यह कथन इसलिये स्वीकार्य नहीं है कि स्वयं नैयायिक यह मानता है कि लाघव के कारण 'स्थानी' ('लकार') ही वाचक होता है, 'लकार' के स्थान पर आने वाले 'आदेश' नहीं क्योंकि 'आदेश' अनेक होते हैं, इसलिये उन्हें 'वाचक' मानने में गौरव (विस्तार) है। नैयायिकों के ही इस मान्यता के आधार पर यहाँ भी वास्तविक वाचक तो 'लकार' ही है। 'तिप्' और 'शतृ' आदि 'आदेश' तो, लिपि के समान, केवल अपने 'स्थानी' की याद दिलाने वाले हैं। अतः उनका अपना कोई अर्थ ही नहीं है। जब उनका अपना कोई अर्थ ही नहीं है, वे केवल 'लकार' के अर्थ को ही वे प्रस्तुत करते हैं, तो एक ही 'लकार' 'शतृ'-प्रत्ययान्त शब्द में 'कारक' को कहे तथा 'तिप्' आदि विभक्त्यन्त प्रयोगों में केवल 'कृति' का बोध कराये इस रूप में यह एक ही शब्द की द्व्यर्थकता कैसे सम्भव है? क्योंकि एक ही शब्द की अनेकार्थकता को अनुचित माना गया है—"अन्यायश्चानेकार्थत्वम्"।

**[नैयायिकों के अनुसार 'लकार' का अर्थ 'कृति' मानने से उत्पन्न दोषों के निराकरण का एक और उपाय तथा उसका खण्डन]**

ननु "लः कर्मणि०" (पा० ३.४.६९) इति सूत्रे 'कर्तृ'-'कर्म'पदे[1] भावप्रधाने[1]। तथा च[2] कर्तृत्वं कृतिः, कर्मत्वं

१. ह०—कर्तृकर्मपदं भावप्रधानम्।
२. ह० तथा बंमि० में 'च' अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



फलं, तयोः शक्तौ सूत्रस्वरसः। कर्मप्रत्ययान्ते 'पच्यते ओदनो देवदत्तेन' इत्यादौ 'देवदत्त-निष्ठ-कृति-जन्य-व्यापार-जन्य-विक्लित्तिमान् ओदनः' इति बोधः। "कर्तरि कृत्" (पा० ३.४.६७) इति सूत्रे तु 'कर्तरि' इति पदस्य धर्मिप्रधानत्वात् कृत्याश्रये शत्रादीनां शक्तिरिति चेत् ?

न। "कर्तरि कृत्" इति सूत्रे यत् 'कर्तृ'-ग्रहणं तस्यैव "लः कर्मणि०" इति सूत्रे चकारानुकृष्टत्वेन भावप्रधानत्वे सूत्रस्वरसाभावात्। शत्रादीनां "स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैव आदेशत्वम्" इति न्यायेन स्थान्यर्थेन निराकाङ्क्षत्वात् "आकांक्षितविधानं ज्यायः" इति न्यायात् "कर्तरि कृत्" इत्यनेन शक्तिग्रहाभावात्। अन्यथा 'देवदत्तेन शय्यमाने आस्यमाने च यज्ञदत्तो गतः' इत्यादौ भावे शानजनापत्तेः[1]।

"लः कर्मणि०" इस सूत्र (के अर्थ) में (विद्यमान) 'कर्त्ता' तथा 'कर्म' शब्द भाव-प्रधान हैं और इस तरह भावप्रधान होने के कारण 'कर्त्ता' अर्थात् कर्तृत्व का अभिप्राय 'कृति' (यत्न) तथा 'कर्म' अर्थात् कर्मत्व (का अभिप्राय) 'फल' है। (अतः) उन दोनों ('कृति' तथा 'फल') को (क्रमशः कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य में लकार का) वाच्यार्थ बताने में सूत्र की सङ्गति है। कर्मवाच्य में 'पच्यते ओदनो देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा चावल पकाया जाता है) इत्यादि (प्रयोगों) में "देवदत्त' में होने वाले 'यत्न' से उत्पन्न व्यापार से उत्पन्न होने वाली विक्लित्ति का आश्रय ओदन" यह बोध होता है। परन्तु "कर्तरि कृत्" इस सूत्र में 'कर्तरि' इस पद के धर्मिप्रधान ('कर्तृता'-रूप धर्म से युक्त धर्मी, अर्थात् 'कर्त्ता', का प्रधान रूप से वाचक) होने के कारण कृति के आश्रय ('कारक') में 'शतृ' आदि प्रत्ययों की वाचकता-शक्ति माननी चाहिये---यदि यह कहा जाय तो वह उचित नहीं है क्योंकि "कर्तरि कृत्" इस सूत्र में जो 'कर्तृ' पद का प्रयोग किया गया है उसी ('कर्तृ' पद) के "लः कर्मणि०" इस सूत्र में 'च' के द्वारा अनुकृष्ट होने (खींचे जाने) के कारण ("लः कर्मणि०" सूत्र में) उसे भाव-प्रधान मानने में सूत्र की स्वाभाविकता समाप्त हो जाती है। 'स्थानी' के अर्थ को कह सकने में समर्थ ही 'आदेश' होता है" इस न्याय के अनुसार 'स्थानी' ('लकार') के अर्थ ('कृति') के द्वारा (अर्थवान् हो जाने से) आकांक्षारहित हो जाने के कारण, "साकांक्ष (अर्थ) का विधान करना ही श्रेष्ठ है" इस न्याय से,

१. यह अन्तिम वाक्य ह० तथा बंमि० में अनुपलब्ध है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'शतृ' आदि (प्रत्ययों) के वाच्य-अर्थ का निर्णय "कर्तरि कृत्" (इस सूत्र) के द्वारा नहीं किया जा सकता। अन्यथा (यदि "कर्तरि कृत्" इस सूत्र से इन प्रत्ययों के वाच्यार्थ का निर्णय किया गया तो) 'देवदत्तेन शय्यमाने आस्यमाने च यज्ञदत्तो गतः' (देवदत्त के सोये जाने तथा बैठे जाने पर यज्ञदत्त गया) इत्यादि (प्रयोगों) में 'भाव' को कहने के लिये 'शानच्' प्रत्यय का प्रयोग नहीं हो सकेगा।

नैयायिक के मत में 'लकार' का अर्थ कृति मानने से 'शतृ' प्रत्ययान्त शब्दों में उपस्थित होने वाले जिस दोष का ऊपर प्रदर्शन किया गया उसके निराकरण के लिये, नैयायिकों की दृष्टि से पूर्वपक्ष के रूप में, एक और उपाय प्रस्तुत किया गया। वह यह कि "लः कर्मणि०" तथा "कर्तरि कृत्" इन सूत्रों के अर्थों को बदल दिया जाय। "लः कर्मणि०" इस सूत्र के अर्थ में दिखाई देने वाले 'कर्तृ' तथा 'कर्म' पदों को प्रधानतः भाव अथवा धर्म (कर्तृत्व और कर्मत्व) का वाचक मानते हुए इस सूत्र का यह अर्थ किया जाय कि कर्तृवाच्य में 'लकार' का अर्थ कर्तृत्व ('कृति') तथा कर्म-वाच्य में 'कर्मत्व' ('फल') होता है। इसके विपरीत "कर्तरि कृत्", सूत्र में विद्यमान 'कर्तरि' पद को धर्मिप्रधान माना जाय, अर्थात् 'कर्तृ' पद, कर्तृत्व का वाचक न होकर, कर्तृत्वरूप धर्म से युक्त धर्मी ('कर्ता') का वाचक है यह माना जाय। इस रूप में सूत्र का यह अर्थ किया जाय कि "कृत् प्रत्यय कर्ता के वाचक हैं—कर्ता को कहते हैं"। यह "कर्तरि कृत्" सूत्र सभी 'कृत्' प्रत्ययों के वाच्य अर्थ का निर्णय करता है और 'कृत्' प्रत्ययों में 'शतृ' तथा 'शानच्' भी हैं, इसलिये उनके वाच्यार्थ का निर्णय भी "कर्तरि कृत्" सूत्र से ही होगा।

इस रूप में एक ओर "कर्तरि कृत्" सूत्र के अनुसार 'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्यय 'कर्ता' या क्रिया के आश्रय 'कारकों' को अपना वाच्यार्थ बनायेंगे तो दूसरी ओर, "लः कर्मणि०" सूत्र की उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार, 'लकार' कर्तृवाच्य में 'कृति' को तथा कर्मवाच्य में 'फल' को अपना वाच्यार्थ बनायेंगे। इस प्रकार 'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्ययान्त शब्दों में दिखाई गयी पूर्वोक्त अव्यवस्था का समाधान हो जाता है।

परन्तु पूर्वपक्षी का यह प्रयास आधार-रहित होने के कारण अस्वीकार्य है क्योंकि "कर्तरि कृत्" सूत्र में जो 'कर्तरि' पद विद्यमान है उसी का "लः कर्मणि च भावे०" सूत्र में 'च' के द्वारा अनुकर्षण किया जाता है। इसलिये, "लः कर्मणि०" सूत्र में एक ही 'कर्तृ' पद को भावप्रधान मानना तथा उसी को "कर्तरि कृत्" सूत्र में धर्मिप्रधान कहना सर्वथा अव्यवस्थित व्याख्या है जिसे किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त यदि इस व्याख्या को मान भी लिया जाय तो अगला प्रश्न यह है कि क्या "कर्तरि कृत्" सूत्र 'शतृ' 'शानच्' प्रत्ययों के वाच्य-अर्थ का निर्णय कर सकता है। यहाँ दो बातें सोचने की हैं। पहली यह कि जो 'लकार' का अर्थ है वही अर्थ, उनके 'स्थान' पर आने वाले, 'आदेश' का भी मानना होगा—चाहे वह कोई भी 'आदेश' क्यों न हो। अन्यथा उस 'आदेश' की आदेशता ही समाप्त हो जायगी। उस 'आदेश' को, जो 'स्थानी' के अर्थ को नहीं कहता, 'स्थानी' के स्थान पर आने ही नहीं दिया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



जायगा। इसी बात को "स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैव आदेशत्वम्" इस न्याय के द्वारा प्रकट किया गया है। इसलिये 'शतृ' तथा 'शानच्' का भी वही वाच्यार्थ मानना होगा जो उनके 'स्थानी' 'लकार' का है। अतः जब "लः कर्मणि०" सूत्र के द्वारा 'लकारों' का अर्थ 'कृति' निश्चित कर दिया गया तो उसी को अपना वाच्यार्थ बनाकर 'शतृ' तथा 'शानच्' भी, वाच्यार्थ-निर्णय की दृष्टि से, निराकांक्ष हो गये। फिर उन निराकांक्ष 'शतृ' तथा 'शानच्' के वाच्यार्थ का निर्णय "कर्तरि कृत्" सूत्र द्वारा कैसे होगा जब कि "आकांक्षित-विधानं ज्यायः" (साकांक्ष अथवा अनिर्णीत शब्द के अर्थ का विधान ही उचित है) यह न्याय विद्यमान है। अतः "कर्तरि कृत्" उन, 'शतृ' तथा 'शानच्' से भिन्न, प्रत्ययों के वाच्यार्थ का निर्णय करेगा जिनका, "लः कर्मणि०" जैसे किसी अन्य सूत्र द्वारा, निर्णय नहीं किया गया है।

दूसरी बात यह है कि यदि, उपर्युक्त न्याय का विरोध करके, "कर्तरि कृत्" सूत्र के द्वारा ही 'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्ययों के अर्थ का निर्णय भी किया गया तो यह दोष उपस्थित होगा कि 'देवदत्तेन शय्यमाने आस्यमाने च यज्ञदत्तो गतः' जैसे प्रयोग नहीं हो सकेंगे, जिनमें 'भाव' को कहने के लिये 'शानच्' प्रत्यय प्रयुक्त हुआ करता है क्योंकि "कर्तरि कृत्" सूत्र तो, नैयायिकों की उपर्युक्त पद्धति के अनुसार, 'कर्ता' को कहने के लिये ही 'शानच्' का विधान कर सकता है, 'भाव' को कहने के लिये नहीं। अतः यही मानना चाहिये कि, वाच्यार्थ की दृष्टि से निराकांक्ष रहने के कारण, 'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्ययों के वाच्यार्थ का निर्णय "कर्तरि कृत्" सूत्र द्वारा नहीं हो सकता।

**["नामार्थयोरभेदेनान्वयः," इस न्याय के आधार पर भी 'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्ययों का अर्थ 'कर्ता' नहीं माना जा सकता]**

ननु नामार्थयोरभेदान्वयानुरोधात् 'शतृ'-'शानच्'[1] आदीनां कर्तरि शक्तिरिति चेत्—न। 'पचतिकल्पं पचतिरूपं देवदत्तः' इत्याद्यनुरोधेन तिङ्क्ष्वपि कर्त्तुरेव वाच्यत्वौचित्यात्।

"दो (समानविभक्ति वाले) प्रातिपदिकार्थों के अभेदान्वय" (इस न्याय) के अनुरोध से (यदि केवल) 'शतृ' 'शानच्' आदि (प्रत्ययों) की 'कर्त्ता' में (वाचकता—) 'शक्ति' मान ली जाय तो (वह भी) ठीक नहीं है क्योंकि 'पचति-कल्पं, पचतिरूपं देवदत्तः' (कुछ कम पकाने वाला, अच्छा पकाने वाला देवदत्त) इत्यादि (प्रयोगों) के अनुरोध से 'तिङ्' प्रत्ययों का भी वाच्यार्थ 'कर्त्ता' मानना ही उचित है।

---

१. ह०—ण्वुल्।

२. इसके बाद ह० में "कर्तरि कृत्' इत्यनेन" यह पाठ अधिक है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यहाँ पूर्वपक्ष के रूप में यह कहा गया कि "नामर्थयोरभेदान्वयो व्युत्पन्नः" (दो समानविभक्ति वाले प्रातिपदिकार्थों में अभेदान्वय ही होता है) इस न्याय के अनुसार, यदि 'शतृ' तथा 'शानच्' को 'कर्ता' का वाचक न माना गया तो, पूर्वप्रदर्शित 'पचन्तं चैत्रं पश्य' इत्यादि प्रयोगों में 'पचन्तं चैत्रम्' का परस्पर अन्वय नहीं हो सकेगा। इसलिये इस न्याय के अनुरोध से 'शतृ' 'शानच्' को 'कर्ता' का वाचक मान लेना चाहिये तथा 'तिङ्' को केवल 'कृति' का ही वाचक मानना चाहिये। परन्तु यह बात उचित नहीं है क्योंकि वही, अन्वय के अभाव का, दोष तिङन्त प्रयोगों में भी उपस्थित हो सकता है। जैसे—'पचतिकल्पं पचतिरूपं देवदत्तः' इत्यादि प्रयोगों में 'देवदत्तः' के साथ 'पचति कल्पम्', 'पचतिरूपम्' आदि का तब तक अन्वय नहीं हो सकता जब तक 'तिङ्' का अर्थ 'कर्ता' भी न मान लिया जाय।

इसलिये अन्वयाभावरूप एक ही कारण के होते हुए, 'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्ययों को तो 'कर्ता' का वाचक माना जाय पर 'तिङ्' विभक्तियों को, 'कर्ता' का वाचक न मान कर, 'कृति' का वाचक माना जाय—यह कहाँ तक उचित है?

**['लकारों' का अर्थ, 'कर्ता' न मान कर, केवल 'कृति' मानने पर एक और दोष]**

किञ्च कृतिवाच्यत्वे 'रथो गच्छति' इत्यादौ आश्रये लक्षणास्वीकारे गौरवापत्तिः। अभिहितत्वानभिहितत्वव्यवस्थोच्छेदापत्तिश्च। न च—"अनभिहिते" (पा० २.३.१.) इति सूत्रे 'अनभिहितसङ्ख्याके' इत्यर्थवर्णनम्—इति वाच्यम्, कृत्तद्धितसमासैः सङ्ख्याभिधानस्य अप्रसिद्धत्वात्।

किंच यत्नोऽपि व्यापारसामान्यं धातुत एव लभ्यते, "स्थालीस्थे यत्ने पचिना कथ्यमाने 'स्थाली पचति'" इति "कारके" (१.४.२३) इत्यधिकारसूत्रे भाष्यप्रयोगात्, "अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्", कृतौ शक्तेरुक्तिसम्भव एव न—इत्यलम्।

तथा ('लकारों' का केवल) 'कृति' अर्थ मानने पर 'रथो गच्छति' इत्यादि (प्रयोगों) में ('कृति' के) आश्रय में ('आख्यात' का) लक्षणात्मक प्रयोग स्वीकार करने में गौरव होगा। (और 'तिङ्' के द्वारा 'कारक' के सर्वदा अकथित रहने पर) 'अभिहितत्व' तथा 'अनभिहितत्व' की व्यवस्था भी विनष्ट हो जायगी। "अनभिहिते" इस सूत्र का 'अकथित संख्या वाले कारक में' यह अर्थ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



करना उचित नहीं है क्योंकि ('तिङ्' के द्वारा तो संख्या के कथन की बात मानी गयी है पर) 'कृत्', 'तद्धित' तथा 'समास' के द्वारा संख्या का कहा जाना अप्रसिद्ध है।

इसके अतिरिक्त 'व्यापार'-सामान्य अर्थात् 'यत्न' (अर्थ) भी धातु से ही प्राप्त हो जाता है क्योंकि "स्थाली (पतीली) में होने वाले 'यत्न' को 'पच्'' धातु के द्वारा कहे जाने पर 'स्थाली पचति' (पतीली पकाती है)" यह "कारके" इस 'अधिकार' सूत्र के भाष्य में कहा गया है। (इस प्रकार) "दूसरे शब्द से वाच्यार्थ के रूप में उक्त न होने वाला (अर्थ) ही किसी शब्द का अर्थ बनता है" इस न्याय के अनुसार 'कृति' में 'आख्यात' की शक्ति (अभिधा) है (यह) कथन सम्भव ही नहीं है। इस विषय में इतना ही (विचार) पर्याप्त है।

**किंच कृतिवाच्यत्वे ··· गौरवापत्तिः**— लकारों का अर्थ केवल 'कृति' मानने, कर्ता न मानने, से 'तिङ्' विभक्तियों की दृष्टि से भी अनेक दोष उपस्थित होते हैं। पहला दोष यह है कि 'रथो गच्छति' इत्यादि प्रयोगों में, रथ के अचेतन होने तथा उसमें चेतन के धर्म 'कृति' अर्थात् 'यत्न' के न होने के कारण, 'आख्यात' की 'व्यापार' अथवा 'आश्रयता' में रूढ़ि लक्षणा माननी पड़ेगी। इस बात को, नैयायिकों के मत की प्रस्थापना करते हुए, ऊपर दिखाया जा चुका है। यह लक्षणा का आश्रय लेना एक प्रकार का अनावश्यक गौरव (विस्तार) है।

**अभिहितत्वानभिहितत्वव्यवस्थोच्छेदापत्तिश्च**— दूसरा दोष यह है कि, 'लकारों' के द्वारा सदा ही केवल 'कृति' के कहे जाने तथा इस कारण 'कारक' के अकथित रहने से, 'अभिहित' तथा 'अनभिहित' की व्यवस्था विशृङ्खल हो जायगी। आचार्य पाणिनि ने "अनभिहिते" सूत्र के अधिकार में "कर्मणि द्वितीया" (पा० २.३.२)— तिङ् आदि प्रत्ययों से 'अनभिहित कर्म' में द्वितीया विभक्ति होती है— तथा "कर्तृकरणयोस्तृतीया" (पा० २.३.१८)—'अकथित 'कर्त्ता' और 'करण' कारकों में तृतीया विभक्ति होती है— इत्यादि सूत्रों के द्वारा 'अनभिहित' की व्यवस्था की है। परन्तु नैयायिकों की उपर्युक्त मान्यता के अनुसार 'कर्त्ता', 'कर्म', 'करण' आदि कभी भी 'तिङ्' से कथित नहीं होंगे क्योंकि उनके 'स्थानी' ('लकार') का अर्थ नैयायिक केवल 'कृति' मानता है 'कारक' नहीं। इस प्रकार ये कारक सदा ही 'अकथित' रहेंगे और जब सदा ही 'अकथित' रहेंगे तो 'अनभिहित' विषयक नियम बन ही नहीं सकता। उदाहरण के लिये 'चैत्रः पचति' (चैत्र पकाता है) इत्यादि में 'चैत्र' पद से सदा ही तृतीया विभक्ति आयेगी, प्रथमा नहीं। इसका कारण यह है कि 'कर्त्ता' सदा 'आख्यात' द्वारा 'अकथित' ही रहेगा क्योंकि 'आख्यात' तो केवल 'कृति' को कहेगा। इसी प्रकार 'चैत्रेण तण्डुलः पच्यते' (चैत्र के द्वारा तण्डुल पकाये जाते हैं) इत्यादि कर्मवाच्य के प्रयोगों में 'कर्म' ('तण्डुल' आदि) में प्रथमा विभक्ति के स्थान पर "कर्मणि द्वितीया" के अनुसार, सदा ही द्वितीया विभक्ति की प्राप्ति होगी क्योंकि यहाँ नैयायिकों के अनुसार 'कर्म' 'अकथित' है।

**न च 'अभिहितसंख्याके' इत्यर्थवर्णनम्**—यहाँ नैयायिक की दृष्टि से 'अनभिहित' की व्यवस्था को सुरक्षित रखने के, लिये पूर्वपक्ष के रूप में, यह उपाय प्रस्तुत किया गया कि पाणिनि के "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" (पा० १.४.२२) तथा **"बहुषु बहुवचनम्"**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(पा० १.४.२३) इन सूत्रों से "अनभिहिते" (पा० २.३.१) सूत्र का सम्बन्ध स्थापित करके "अनभिहिते" सूत्र का अर्थ किया जाय—"अनुक्त-संख्या या अनुक्त-वचन वाले कारक में आगे निर्दिष्ट विभक्तियाँ होती हैं" । इस प्रकार "कर्मणि द्वितीया" तथा "कर्तृकरणयोस्तृतीया" इन सूत्रों का क्रमशः अर्थ होगा—"जिसकी संख्या ('वचन') 'आख्यात' द्वारा नहीं कही गयी है ऐसे 'कर्म' में द्वितीया विभक्ति हो" तथा "कर्त्ता' और 'करण' में तृतीया विभक्ति हो" । इस रूप में 'अभिहित' 'अनभिहित' की व्यवस्था में दोष नही आता ।

**कृत्तद्धित-समासैः·····अप्रसिद्धत्वात्**—वैयाकरण विद्वान् नैयायिकों की इस व्यवस्था से सहमत नहीं हैं क्योंकि यदि 'अनभिहितत्व' का सम्बन्ध, कारक से न करके, संख्या से कर दिया गया तो कात्यायन तथा पतंजलि के एक सिद्धान्त से विरोध उपस्थित होगा। महाभाष्य में यह निर्धारित किया गया है कि 'तिङ्', 'कृत्', 'तद्धित' तथा 'समास' के द्वारा ही कथित होने पर कारक को 'अभिहित' माना जायगा तथा इनसे अन्य के द्वारा कथित होने पर उसे 'अभिहित' नहीं माना जायगा। अतः यदि 'अभिहित', 'अनभिहित' का सम्बन्ध संख्या से किया गया तो, 'तिङ्' का अर्थ संख्या भी माना गया है इस कारण, 'तिङ्' से तो संख्या का अभिधान हो जायगा, पर 'कृत्', 'तद्धित' तथा 'समास' का अर्थ संख्या भी है—यह बात कभी नहीं सुनी गयी। इसलिये अभिधान के इन हेतुओं से विरोध उपस्थित होगा। इस कारण नैयायिकों द्वारा उपरिनिष्टि "अनभिहिते" सूत्र का अर्थ स्वीकार्य नहीं है।

**यत्नोऽपि ···· लभ्यते**—नैयायिक जो 'आख्यात' का अर्थ 'कृति' मानते हैं उसे अनुचित ठहराने के लिये एक और हेतु यहाँ दिया जा रहा है। एक न्याय है—"वाक्य के किसी शब्द का वाच्यार्थ वही हो सकता है जो उस वाक्य के किसी अन्य शब्द का वाच्यार्थ न हो" (अनन्यलभ्यः शब्दार्थः)। इस दृष्टि से यहाँ यह विचारणीय है कि 'कृति' अथवा 'यत्न' (सामान्य 'व्यापार') धातु के द्वारा ही कह दिया जाता है—धातु के वाच्यार्थ में यह 'यत्न' भी समाविष्ट रहता है, क्योंकि नैयायिक भी 'व्यापार' तथा 'फल' दोनों को ही धातु का अर्थ मानते हैं। यहाँ 'व्यापार' शब्द से फलानुकूल (फलोत्पादक) 'व्यापार' ही अभिप्रेत है। इसलिये वह 'व्यापार' 'यत्न' के सिवा और क्या हो सकता है? जैसे 'पच्' धातु विक्लित्तिरूप 'फल' के उत्पादक 'व्यापार' का ही तो बोध कराता है। इसलिये उन उन 'व्यापारों' के बोधक वे वे धातुएँ हैं—यह मानना चाहिये। और यह मान लेने पर कि 'यत्न' अर्थात् सामान्य 'व्यापार' धातु का ही अर्थ है तो फिर उसे ही 'आख्यात' अर्थात् लकारों का वाच्यार्थ मानने की क्या आवश्यकता?

**[नैयायिकों द्वारा स्वीकृत, 'आख्यातार्थ में धात्वर्थ विशेषण बनता है' इस, द्वितीय सिद्धान्त का निराकरण]**

'आख्यातार्थे धात्वर्थो विशेषणम्' इत्यस्य निराकरणम् अवशिष्यते। तथाहि "प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थयोः सहार्थत्वे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्'' इत्युत्सर्गः। 'पाचकः,' 'औपगवः' इत्युदाहरणम्। 'पाकक्रियाश्रयः', 'उपगुसम्बन्ध्यभिन्नापत्यम्' इति प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यं तयोरर्थे। तत्रापि प्रत्यय-वाच्यस्यैव अर्थस्य प्राधान्यम्। द्योत्यस्य तु अप्राधान्यमेव। यथा—'अजा' इत्यत्र 'स्त्रीत्वविशिष्टपशुविशेषः' इति बोधः। तस्य उत्सर्गस्य ''भावप्रधानम् आख्यातम्। सत्त्वप्रधानानि नामानि'' (नि० १.१) इति **यास्कवचनम्** अपवादः। तेन आख्याते तिङन्ते क्रियाया **एव प्राधान्यं** शाब्दबोधे, न प्रत्ययार्थस्य, इति बोध्यम्।

यत्तु—'आख्यात'-पदेन तिङ्मात्रग्रहणाद् 'भावप्रधानम्'' इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषाश्रयणात् प्रत्ययार्थप्राधान्यमेव फलति इति—तन्न। ''आख्यातम् आख्यातेन क्रियासातत्ये'' इति सूत्रे 'आख्यात'-पदेन तिङन्तस्यैव ग्रहणात्। उत्सर्गेणैव निर्वाहे **यास्क**कृतापवादवचनवैयर्थ्यापत्तेश्च। तस्माद् ''भावप्रधानम्'' इत्यत्र बहुव्रीहिः। 'आख्यात'-पदेन तिङन्तस्यैव ग्रहणम्—इत्यलम्।

'आख्यातार्थ में धातु का अर्थ विशेषण होता है' इस (सिद्धान्त) का खण्डन करना शेष है। "प्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययार्थ के एक साथ उपस्थित होने पर प्रत्ययार्थ की प्रधानता होती है" यह (एक) सामान्य नियम है। (इसके) 'पाचकः' (पकाने वाला), 'औपगवः, (उपगु का पुत्र) ये उदाहरण हैं। 'पाक' क्रिया का आश्रय' (पकाने वाला) तथा 'उपगु से सम्बद्ध (उसका) अभिन्न पुत्र' इस रूप में उन दोनों (शब्दों) के अर्थ में प्रत्ययार्थ की प्रधानता है। उस (सामान्य नियम) में भी प्रत्यय के वाच्य अर्थ की ही प्रधानता होती है—प्रत्यय से द्योत्य अर्थ तो गौण ही रहता है। जैसे—'अजा' (बकरी) इस (शब्द) से 'स्त्रीत्वयुक्त पशु विशेष' यह ज्ञान होता है। उस सामान्य-नियम का ''भावप्रधानम् आख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि'' ('आख्यात' क्रियाप्रधान होता है तथा 'नाम' द्रव्य-प्रधान) यह यास्क का कथन विशेष नियम है। इसलिये (इस विशेष नियम के कारण) 'आख्यात' (तिङन्त) में शाब्दबोध के समय क्रिया की प्रधानता होती है, प्रत्यय के अर्थ ('कर्त्ता' तथा 'कर्म)' की नहीं, यह जानना चाहिये।

१. वंमि, तथा ह० में इसके बाद 'आख्यातम्' अधिक है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



जो कि (यह कहा जाता है कि यास्क के कथन में)—'आख्यात' पद से केवल 'तिङ्' का ग्रहण होने तथा 'भावप्रधानम्' में (बहुव्रीहि न मान कर) षष्ठी तत्पुरुष (समास) का आश्रयण करने से प्रत्ययार्थ की प्रधानता ही ज्ञात होती है—वह उचित नहीं है क्योंकि "आख्यातम् आख्यातेन क्रियासातत्ये" इस (मयूर-व्यंसकादिगण में पठित) गणसूत्र में 'आख्यात' पद से तिङन्त का ग्रहण किया जाता है। इसके अतिरिक्त सामान्य-नियम से ही कार्य चल जाने पर यास्क कथित विशेष वचन भी व्यर्थ हो जाता है। इस कारण 'भावप्रधानम्' में बहुव्रीहि समास ही मानना चाहिये तथा 'आख्यात' पद से 'तिङन्त' (पदों) का ही ग्रहण करना चाहिये—यह (विचार) पर्याप्त है।

नैयायिकों की पहली बात—" 'तिङ्' का अर्थ केवल कृति है"—का खण्डन कर चुकने के पश्चात् अब उनकी दूसरी बात—" 'तिङ्' का अर्थ 'विशेष्य' (प्रधान) तथा धातु का अर्थ, 'तिङ्' के अर्थ का 'विशेषण' (अप्रधान) होता है"—का खण्डन करते हैं।

**तथाहि ·····पशुविशेष इति बोधः**—इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ दोनों एक साथ उपस्थित होते हैं तथा दोनों अर्थों में प्रत्ययार्थ की प्रधानता होती है। इस विषय में निम्न परिभाषा द्रष्टव्य है—"प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्"। यहाँ प्रत्ययार्थ की प्रधानता का तात्पर्य है प्रत्यय के वाच्य अर्थ की प्रधानता। प्रत्यय का द्योत्य अर्थ तो अप्रधान ही माना जाता है। इसीलिये 'अजा' कहने पर, 'टाप्' प्रत्यय के द्योत्य अर्थ 'स्त्रीत्व' की प्रधानता न होने से, स्त्रीत्व से विशिष्ट पशुविशेष अर्थ का ही प्रधान रूप से ज्ञान होता है।

**तस्य उत्सर्गस्य ····· इति बोध्यम्**—परन्तु प्रत्ययार्थ की प्रधानता का नियम एक सामान्य नियम है। इस नियम का बाधक, अथवा अपवाद या विशेष नियम, यास्क का यह स्पष्ट कथन है कि "आख्यात भाव-प्रधान होता है तथा नाम द्रव्य-प्रधान" (भावप्रधानम् आख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि)। यहाँ 'भाव' का अर्थ है 'व्यापार' तथा 'फल', जिन्हें वैयाकरण धात्वर्थ मानता है। 'भावप्रधानम्'—पद में बहुव्रीहि समास है। इसलिये इस पद का अर्थ है—"जिसमें 'भाव' अर्थात् 'व्यापार' या 'फल' की प्रधानता—(विशेष्यता) हो"। यहाँ के 'आख्यात' पद का अभिप्राय है तिङन्त पद, न कि नैयायिकों के समान केवल 'तिङ्' विभक्ति। इस कथन के उदाहरण के रूप में 'पचति' तथा 'पच्यते' प्रयोग द्रष्टव्य है। 'पचति' में पाक 'व्यापार' की प्रधानता का बोध होता है तो 'पच्यते' में विक्लित्ति आदि 'फल' की प्रधानता का। 'सत्त्व' अर्थात् द्रव्य की प्रधानता 'प्रातिपदिक' या नाम पदों में होती है। यास्क के इस कथन का पतंजलि ने महाभाष्य के अनेक स्थलों में हृदयग्राही युक्तियों द्वारा प्रतिपादन तथा प्रतिष्ठापन किया है। उदाहरण के लिये निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य है :—"सिद्धं तु क्रियाप्रधानत्वात्। क्रियाप्रधानम् आख्यातं भवति। एका च क्रिया। द्रव्यप्रधानं नाम। कथं पुनर्ज्ञायते क्रियाप्रधानम् आख्यातं द्रव्यप्रधानं नाम इति? यत् क्रियाम् पृष्टः तिङा आचष्टे—'किं देवदत्तः करोति?' 'पचति' इति। द्रव्यं पृष्टः कृता आचष्टे—'कतरो देवदत्त? 'यः कारको यो हारक इति" (महा० ५.३.६६)। "भूवादयो धातवः" (पा० १.३.१) सूत्र के भाष्य में भी इस आशय के पोषक अनेक वाक्य मिलते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसलिये यास्क आदि के इस कथनरूप विशेष नियम के कारण तिङन्त पदों में क्रिया की प्रधानता, या दूसरे शब्दों में धात्वर्थ की ही प्रधानता, माननी चाहिये न कि 'तिङ्' के अर्थ की।

**यत्तु 'आख्यात'-पदेन ·····फलति इति**—नैयायिक 'आख्यात' शब्द का प्रयोग 'तिङ्' विभक्तियों के लिये करते हैं। इसलिये यहां, यास्क के वचन में, भी 'आख्यात' का अर्थ 'तिङ्' मान कर तथा 'भावप्रधानम्' इस पद में, बहुव्रीहि समास के स्थान पर, षष्ठी-तत्पुरुष समास मान कर, नैयायिकों की दृष्टि से यास्क के इस कथन को तिङर्थ की प्रधानता का प्रतिपादक सिद्ध करने का प्रयास, पूर्वपक्ष के रूप में, किया गया है। षष्ठी-तत्पुरुष समास मानने तथा 'आख्यात' का अर्थ 'तिङ्' मानने पर 'भावप्रधानम्' शब्द का अर्थ होगा 'भाव' अर्थात् क्रिया से निरूपित प्रधानता। 'भावस्य' पद में विद्यमान षष्ठी विभक्ति का अर्थ 'निरूपितत्व' या 'द्योतितत्व' किया गया। इस रूप में "भावप्रधानम् आख्यातम्" का अभिप्राय यह है कि 'आख्यात' ('तिङ्' प्रत्यय) ऐसे हैं जिनकी प्रधानता का द्योतन क्रियायें, जिन्हें 'भाव' कहा जाता है तथा जो धातु के अर्थ हैं, करती हैं। दूसरे शब्दों में 'तिङ्' के अर्थ प्रधान या 'विशेष्य होते हैं, तथा धात्वर्थ (क्रिया) उनके 'विशेषण' होते हैं।

**तन्न'''इत्यलम्**—परन्तु यास्क की उपर्युक्त पंक्ति का इस प्रकार मनमानी विग्रह तथा उसके अर्थ के विषय में खेंचातानी करके नैयायिक-अभिमत अर्थ नहीं निकाला जा सकता और नहीं वह अर्थ यास्क को कथमपि अभिप्रेत माना जा सकता है। यहाँ पहली बात तो यह है कि 'आख्यात' पद का अभिप्राय वैयाकरणों तथा नैरुक्तों की दृष्टि में 'तिङन्त' पद ही होता है, केवल 'तिङ्' प्रत्यय नहीं। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि यास्क ने निरुक्त के आरम्भ में पदों का चार विभाग करते हुए 'नाम' 'आख्यात', 'उपसर्ग' तथा निपात' का नाम लिया है—"चत्वारि पदजातानि, नामाख्यातोपसर्गनिपातांश्च"। यहाँ कोई भी यह नहीं कह सकता कि 'आख्यात' पद केवल 'तिङ्' विभक्तियों का वाचक है, क्योंकि केवल 'तिङ्' प्रत्यय किसी शब्द को नहीं बनाते। हाँ धातु के साथ संयुक्त होकर 'तिङ्' विभक्तियाँ अवश्य क्रिया पदों को बनाती है। ये क्रिया पद ही यास्क को 'आख्यात' पद द्वारा अभिप्रेत हैं।

इसके अतिरिक्त 'भावप्रधानम्' पद में बहुव्रीहि के स्थान पर षष्ठीतत्पुरुष समास इसलिये नहीं माना जा सकता कि यदि षष्ठीतत्पुरुष के द्वारा नैयायिक-अभिमत अर्थ का ही कथन करना यास्क को अभीष्ट होता तो वह बात तो सामान्य नियम—"प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थयोः सहार्थत्वे प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्"—से ही सिद्ध थी। विशेष नियम के रूप में ही "भावप्रधानम् आख्यातम्" इस वाक्य को कहने की आवश्यकता हो सकती है। तिङन्त पदों के स्वरूप को बताते हुए यास्क ने जो यह विशेष बात कही उससे ही उनकी इस प्रवृत्ति का ज्ञापन हो जाता है कि न तो 'भावप्रधानम्' पद में षष्ठी तत्पुरुष समास है और न नैयायिक अभिमत अर्थ ही उन्हें अभीष्ट है। ऊपर महाभाष्य से पतंजलि की जो पंक्तियाँ उद्धृत की गयीं उनसे भी यास्क का यही आशय स्पष्ट होता है। इसलिये 'भावप्रधानम्' पद की नैयायिक-अभिमत व्याख्या स्वीकार्य नहीं हो सकती।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**[नैयायिकों के तृतीय सिद्धान्त—"शाब्दबोध में प्रथमा-विभक्त्यन्त पद का अर्थ प्रमुख होता है"—के खण्डन की दृष्टि से, पहले वैयाकरणों के मत की स्थापना।]**

"प्रथमान्तार्थ-मुख्य-विशेष्यको बोधः" **तार्किकमते**—इति निराकर्तुम् अवशिष्यते। तथा हि **शाब्दिक**-मते—'पश्य मृगो धावति' इत्यादौ 'मृग-कर्तृकं धावनम्' दृशि-क्रियायाः[1] कर्म। प्रधानं दृशि-क्रिया एव। तथा च—'मृग-कर्तृक-धावन-कर्मकं प्रेरणा-विषयीभूतं त्वत्कर्तृकं दर्शनम्' इति बोधः। तत्र 'मृगो धावति' इत्यत्र विशेष्य-भूत-धावन-रूपार्थ-वाचकस्य 'धावति' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् न द्वितीया। कर्मत्वं तु संसर्ग-मर्यादया भासते। एवं 'पचति भवति'[2] इत्यत्र 'पचि-क्रिया-कर्तृ का सत्ता' इति बोधः। "पच्यादयः क्रिया भवति-क्रियायाः कर्त्र्यो भवन्ति" इति "भूवादि०" (पा० १.३.१)—सूत्रस्थ-**भाष्यात्**। उक्तं च **हरिणा**[3]—

**सुबन्तं हि यथानेक-तिङन्तस्य विशेषणम्।**
**तथा तिङन्तमप्याहुस्तिङन्तस्य विशेषणम्'**[4]॥

नैयायिकों के इस मत में 'प्रथमा-विभक्त्यन्त (पद) का अर्थ शाब्द-बोध में मुख्य विशेष्य होता है' इस (सिद्धान्त) का निराकरण शेष है।

वैयाकरणों के मत में तो—'पश्य मृगो धावति' (देखो मृग दौड़ता है) इत्यादि (प्रयोगों) में "मृग है 'कर्त्ता' जिसमें ऐसा दौड़ना" 'दृश्' किया (देखना) का 'कर्म' है। 'दृश' क्रिया ही (यहाँ) प्रधान है। इस रूप में—"मृग है 'कर्त्ता' जिसका ऐसा दौड़ना जिसमें 'कर्म' है तथा, प्रेरणा का विषय बना हुआ, 'त्वम्' (तुम) है कर्त्ता जिसमें ऐसा दर्शन (देखना)" इस प्रकार का बोध 'पश्य मृगो धावति' इस वाक्य से होता है। वहाँ ('कर्म' अंश) 'मृगो धावति' (मृग दौड़ता है) में प्रधानभूत 'दौड़ना' रूप अर्थ के वाचक 'धावति' इस (पद) के 'प्रातिपदिक' संज्ञक न होने के कारण (इस पद के साथ) द्वितीया विभक्ति नहीं आती (भले

१. ह०—क्रियायाम्।

२. महा० (१.३.१, पृ० १६७) के अनुसार यहां 'भवति पचति' पाठ होना चाहिये। द्र०—व्याख्या।

३. काप्रभु० में 'उक्तं च हरिणा' पाठ नहीं है।

४. तुलना करो, वाप० २.६;

यथानेकम् अपि कृत्वान्तं तिङन्तस्य विशेषकम्।
तथा तिङन्तं तत्राहुस्तिङन्तस्य विशेषकम्॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



ही 'धावति' पद 'पश्य' का 'कर्म' क्यों न हो)। परन्तु (द्वितीया विभक्ति के न होने पर भी) 'कर्मत्व' की प्रतीति ('पश्य' इस पद में विद्यमान) 'आकांक्षा' के कारण होती है। इसी प्रकार 'पचति भवति' (पचन क्रिया होती है) यहाँ "पचन-क्रिया है 'कर्ता' जिसमें ऐसी सत्ता" यह ज्ञान होता है क्योंकि "पच्' आदि (धातुएँ) 'भवति' (होने) क्रिया की 'कर्त्री' होती हैं" ऐसा "भूवादयो धातवः" (पा० १.३.१) सूत्र के भाष्य में कहा गया है। और भर्तृहरि ने भी कहा है:—

"जिस प्रकार अनेक सुबन्त अनेक तिङन्त के विशेषण होते हैं उसी प्रकार (विद्वानों ने) तिङन्त (क्रिया पद) को भी तिङन्त (क्रिया पद) का विशेषण माना है।

इस प्रसङ्ग में नैयायिकों की तीसरी मान्यता यह है कि वाक्य के शाब्द-बोध में प्रथमाविभक्त्यन्त शब्द के अर्थ की प्रधानता होती है तथा 'तिङ्' का अर्थ उस प्रथमा-विभक्त्यन्त-शब्द के अर्थ ('कर्ता') के प्रति 'विशेषण' होता है। इस मत का प्रदर्शन ऊपर किया जा चुका है।

परन्तु वैयाकरण इससे भिन्न प्रक्रिया मानता है। उसके अनुसार वाक्य में धात्वर्थ —'व्यापार' अथवा 'फल'— की प्रधानता होती है। नैयायिक की उपर्युक्त मान्यता में दोष दिखाने की दृष्टि से यहाँ उदाहरण के रूप में एक वाक्य 'पश्य मृगो धावति' प्रस्तुत किया गया है तथा, वैयाकरणों के सिद्धान्त के अनुसार उसका अन्वय दिखाते हुए, वैयाकरण-सिद्धान्त की निर्दोषता प्रतिपादित की गयी है।

**शाब्दिक मते ..... संसर्ग-मर्यादया भासते**— वैयाकरण मत के अनुसार इस वाक्य का प्रधान अर्थ है 'देखना' रूप क्रिया अथवा 'व्यापार'। उस प्रधानभूत 'देखने' क्रिया का 'कर्म' है 'मृग का दौड़ना' तथा इस 'देखने' क्रिया का 'कर्ता' है 'त्वम्' (तुम), जिसको वक्ता देखने के लिये प्रेरित कर रहा है। इस रूप में—"मृग का दौड़ना है 'कर्म' जिसमें तथा प्रेरणा का विषय बना हुआ 'त्वम्' (तुम) है 'कर्ता' जिसका ऐसा 'दर्शन' (देखना)" यह शाब्दबोध इस वाक्य से होता है। यहाँ यद्यपि 'मृगो धावति' यह अंश 'पश्य' का कर्म है इसलिये उससे द्वितीया-विभक्ति आनी चाहिये। परन्तु 'मृगो धावति' इस 'कर्म' अंश में भी, 'व्यापार' के प्रधान होने के कारण, जो 'विशेष्य' (प्रधान) 'धावति' पद है उससे तो द्वितीया विभक्ति इसलिये नहीं आती कि वह 'प्रातिपदिक' नहीं है तथा 'मृगः' जो 'प्रातिपदिक' है उससे द्वितीया विभक्ति इसलिये नहीं आती कि वह अप्रधान है।

इस प्रकार प्रधानभूत 'पश्य' क्रिया के 'कर्म' कारक 'मृगो धावति' अंश से द्वितीया विभक्ति तो नहीं आती पर, द्वितीया विभक्ति के न हो होने पर भी, 'पश्य' पद के सुनने से जो 'आकांक्षा' उत्पन्न होती है उसके कारण 'मृगो धावति' की कर्मता का ज्ञान हो जाता है। इस 'आकांक्षा' को पारिभाषिक शब्दों में यहाँ 'संसर्ग-मर्यादा' कहा गया है। इस 'संसर्गमर्यादा' को एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के सम्बन्ध का कारण माना जाता है। द्र०—"एकपदार्थे अपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते" (व्युत्पत्तिवाद पृ० १)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसीलिये 'नीलो घटः' (नीला घड़ा) इत्यादि प्रयोगों में, 'आकांक्षा' के कारण ही, 'नीला' तथा 'घड़ा' इत्यादि में परस्पर अभिन्नता की प्रतीति होती है।

**एवं 'पचति भवति' इत्यत्र ·· सूत्रस्थभाष्यात्**—यदि यह कहा जाय कि 'धावति' यह क्रिया पद 'पश्य' इस, एक अन्य, क्रियापद का 'कर्म' कैसे बन सकता है ? तो वह उचित नहीं है। क्रियायें भी अन्य क्रियाओं के 'कर्ता', 'कर्म' आदि हो सकती हैं इस बात को प्रमाणित करने के लिये नागेश ने "भूवादयो धातवः" सूत्र के भाष्य से पतंजलि की एक पंक्ति तथा भर्तृहरि के वाक्यपदीय से एक कारिका यहां उद्धृत की है।

'भवति पचति' जैसे प्रयोगों का, पतंजलि की दृष्टि में, यह अर्थ है कि "वर्तमान कालिक जो पाक क्रिया वह है 'कर्ता' अथवा आश्रय जिसका ऐसी भवन-क्रिया" अर्थात् 'पचन-क्रिया-सम्बद्ध सत्ता'। यहां पतंजलि ने 'पचन' क्रिया को 'भवन' क्रिया का 'कर्ता' माना है। द्र०—"का एषा वाचो युक्तिः 'भवति पचति', 'भवति पक्ष्यति', 'भवति अपाक्षीत्' ? एषैषा वाचो युक्तिः—पच्यादयः क्रियाः भवति-क्रियायाः कर्त्र्यो भवन्ति" (महा० ३.३. १ पृ० १६७)।

**"सुबन्तं हि यथानेक ···विशेषणम्"**—यह कारिका वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड में मिलती है। परन्तु वहां इसका प्रथम चरण है—"यथानेकमपि वस्त्वन्तम्"। वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में इसी पाठ की व्याख्या भी मिलती है तथा प्रक्रियाकौमुदी के प्रसाद टीका (पृ० ७१) में भी इसी रूप में यह उद्धृत है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में कारिका का उत्तरार्ध ही द्रष्टव्य है जिस में यह कहा गया है कि 'तिङन्त' अर्थात् क्रिया पद को भी दूसरे क्रियापद का विशेषण माना गया है। जैसे—'पूर्वं स्नाति, पचति, ततो व्रजति' (पहले नहाता है, फिर पकाता है, उसके बाद जाता है)। यहां एक 'व्रजति' क्रिया की ही प्रधानता है अन्य क्रियायें उसके विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त हुई हैं। इसी प्रकार 'पश्य मृगो धावति' इस वाक्य में 'मृगो धावति' अंश 'पश्य' का विशेषण है या दूसरे शब्दों में उसका 'कर्म' है। इस रूप में व्याकरण के सिद्धान्त के अनुसार शाब्दबोध में कोई दोष नहीं आता है। परन्तु वैयाकरणों की इस मान्यता के साथ, जिसके अनुसार वाक्य में क्रिया की प्रधानता होती है, नैयायिकों के इस सिद्धान्त का, कि शाब्दबोध में प्रथमान्त पद की प्रधानता रहा करती है, स्पष्टतः विरोध है क्योंकि नैयायिकों के इस सिद्धान्त के अनुसार तो क्रिया कभी भी प्रधान हो ही नहीं सकती।

**[नैयायिकों के सिद्धान्त में दोष]**

**तार्किक**मते-'अन्य-देश-संयोगानुकूल-धावनानुकूलकृतिमन्-मृगकर्मकं प्रेरणाविषयीभूतं यद् दर्शनं तदनुकूल-कृतिमांस्त्वम्' इति बोधः। तत्र विशेष्यभूतार्थ-वाचक-मृगशब्दस्य प्रातिपदिकत्वात् दृशिक्रिया-कर्मत्वाच्च द्वितीयापत्तौ, 'धावन्तं मृगं पश्य' इतिवत्, 'पश्य मृगं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



धावति' इत्यापत्तेः। अ[1]प्रथमासमानाधिकरणे शतृशानचो-र्नित्यत्वादेवं प्रयोगविलयापत्तेश्च।

नैयायिकों के मत में ('पश्य मृगो धावति' इस वाक्य का) "अन्य देश के संयोग (रूप 'फल') के अनुकूल (जो) 'धावन' (रूप 'व्यापार' उसके) अनुकूल 'यत्न' वाला 'मृग' है 'कर्म' जिसमें ऐसा, प्रेरणा का विषयीभूत जो, 'दर्शन' (रूप 'व्यापार') उसके अनुकूल 'यत्न' वाले तुम" यह शाब्दबोध होगा। उस (शाब्दबोध) में प्रधानभूत अर्थ के वाचक 'मृग' शब्द की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने तथा 'दर्शन' क्रिया के 'कर्म' होने के कारण, द्वितीया विभक्ति को उपस्थिति होने पर, 'धावन्तं मृगं पश्य' (दौड़ते हुए मृग को देखो) के समान, 'पश्य मृगं धावति' इस (अशुद्ध प्रयोग) को (साधु) मानना होगा तथा, प्रथमा विभक्ति से भिन्न विभक्ति के साथ समानाधिकरणता होने पर 'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्ययों के नित्य रूप से विहित होने के कारण, ('पश्य मृगो धावति') इस प्रकार के प्रयोग सर्वथा नष्ट हो जायेंगे।

नैयायिक प्रथमाविभक्त्यन्त पद के अर्थ को वाक्यार्थ में सर्वाधिक प्रधानता देता है। अतः 'पश्य मृगो धावति' इस वाक्य के '(त्वम्) पश्य' अंश में तो 'त्वम्' की प्रधानता होगी क्योंकि नैयायिक के अनुसार "देखना रूप जो 'व्यापार' उसके अनुकूल जो 'यत्न' उसके आश्रय तुम" इस प्रकार यहाँ शाब्दबोध होगा। यहाँ जो 'त्वम्' है वह 'पश्य' का कर्ता है।

इस 'पश्य' क्रिया का 'कर्म' है 'मृगो धावति'। इस 'मृगो धावति' का शाब्दबोध नैयायिक के अनुसार होगा—"अन्य स्थान से संयोग रूप जो 'फल' उसके अनुकूल जो 'यत्न' उसके आश्रय मृग"। नैयायिक के मत में इस प्रकार का अन्वय इसलिये होगा कि वह प्रथमान्त पद के अर्थ के प्रति 'तिङ्' के अर्थ 'कृति' को विशेषण मानता है तथा 'कृति' ('यत्न') के प्रति धात्वर्थ को 'विशेषण' मानता है। इस प्रक्रिया को ऊपर, नैयायिक मत के प्रतिपादन के अवसर पर, विस्तार से प्रदर्शित किया गया है।

इस प्रकार नैयायिक-अभिमत शाब्दबोध में 'धावति' की प्रधानता न हो कर 'मृग' की प्रधानता है क्योंकि वह प्रथमान्त है। इसलिये 'पश्य' क्रिया के 'कर्म' होने तथा प्रधान होने के कारण, 'कर्मणि द्वितीया' (पा० १.३.२) के अनुसार, 'मृग' पद के साथ द्वितीया विभक्ति का प्रयोग करना होगा।

वैयाकरण इस आपत्ति से इसलिये बच जाता है कि उसके सिद्धान्त के अनुसार शाब्द-बोध में 'मृग' की प्रधानता न होकर 'धावति' की प्रधानता है। और 'धावति' पद 'प्राति-पदिक' न होकर क्रिया पद है। इसलिये 'प्रातिपदिक' संज्ञा के अभाव में द्वितीया विभक्ति का निवारण स्वतः हो जाता है। नैयायिक के मत में प्रथमान्त 'मृग' की 'प्रातिपदिक' संज्ञा है इसलिये वह इस आपत्ति से नहीं बच पाता।

इस कारण उक्त प्रयोग में 'मृगः धावति' के स्थान पर 'मृगं धावति' प्रयोग नैयायिक को स्वीकार करना पड़ेगा। इस स्थिति में एक और आपत्ति यह उपस्थित

१. ह० तथा वंमि० में इससे पहले 'किंच' अधिक।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



होगी कि 'पश्य मृगं धावति' यह प्रयोग भी स्थिर नहीं रह सकेगा क्योंकि 'मृगम्' के द्वितीया विभक्त्यन्त होने के कारण 'धावति' का प्रथमा से भिन्न (द्वितीया विभक्ति) के साथ सामानाधिकरण्य हो जायगा। इसका दुष्परिणाम यह होगा कि अप्रथमा-समानाधिकरण की स्थिति में, "लटः शतृ-शानचावप्रथमा-समानाधिकरणे" से नित्य 'शतृ' तथा 'शानच्' का विधान किये जाने के कारण, नित्य ही 'पश्य मृगं धावन्तम्' प्रयोग होगा। इसलिये 'पश्य मृगो धावति' जैसे प्रयोग सर्वथा विलुप्त हो जायँगे।

**['पश्य मृगो धावति' इस के वाक्य में उपरि प्रदर्शित दोष का, पूर्वपक्ष के रूप में, समाधान तथा उस का खण्डन]**

ननु विशिष्टार्थ-वाचकस्य 'धावति मृगः' इति वाक्यस्य कर्मत्वेऽपि पृथक् 'मृगः' इत्यस्य प्रातिपदिकस्य कर्मत्वाभावात् न द्वितीयेति चेत्—न। "अनभिहिते" (पा.२.३.१) इत्यधिकारसूत्रप्रघट्टके "अभिधानं च तिङ्कृत्तद्धित-समासैः" इत्येतत्परिगणनप्रत्याख्यानपर**भाष्य**रीत्या द्वितीयापत्तेः। तथाहि 'कटं भीष्मं कुरु' इत्यादौ विशेष्य-'कट'—शब्दाद् उत्पन्नया द्वितीयया कर्मत्वस्य उक्तत्वाद् विशेषणीभूत-'भीष्म'-शब्दाद् द्वितीया न स्यात्। अतः परिगणनं **भाष्ये** कृतम्। तत्प्रत्याख्यानं च सर्वकारकाणां साक्षात्, स्वाश्रयद्वारा वा 'अरुणाधिकरण'—न्यायेन भावनान्वयस्वीकारात्[1]। अतएवोक्तं **भाष्ये** "कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि" (महा० २.३.१, पृ० २५२-५३) इति। तत्र कट-निष्ठ-कर्मत्वोक्तावपि भीष्मत्वादि-गुण-विशिष्ट-कर्मत्वानुक्तेस्तस्माद् द्वितीया—इति तात्पर्यम्। उभयोः पश्चात् परस्परम् अन्वयस्तु विशेष्य-विशेषण-भावेन। अयम् एवान्वयः पार्ष्णिक[2] इत्युच्यते।

अयम् एवान्वयोः **अरुणाधिकरणे** (मीमांसा सं० ३.१.६.१२) "अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति" (तैत्तिरीय सं० ६.१.६) इत्यत्र क्रयणक्रियायां **मीमांसकैः** स्वीकृतः।

---

१. ह०—स्वीकाराच्च।

२. ह०—पार्ष्टिकः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



तस्माद् 'धावति मृगः' इत्यत्र उभयोः कर्मत्वे 'धावति' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वाभावाद् विशेषणत्वेन अन्यत्र निराकांक्षत्वाच्च द्वितीयोत्पत्त्यभावेऽपि 'मृग'-शब्दाद् द्वितीया दुर्वारा एव इत्यवेहि ।

**शाब्दिक**-मते तु क्रिया-विशेषणत्वेन इतरार्थे निराकांक्षत्वाद् 'मृग'-शब्दान्न द्वितीया । **तार्किक**-मते तु विशेष्यार्थ-वाचकत्वाद्[1] 'मृग'-शब्दाद्, 'राज्ञः पुरुषम् आनय' इतिवद्, द्वितीया दुर्वारा । इत्यलमतिविस्तरेण ।

## इति धात्वर्थ-निर्णयः

यदि यह कहा जाय कि—विशिष्ट अर्थ के वाचक 'धावति मृगः' (मृग दौड़ता है) इस वाक्य के 'कर्म' होने पर भी 'मृगः' इस प्रातिपदिक की पृथक् 'कर्म' संज्ञा न होने के कारण उससे द्वितीया विभक्ति नहीं होगी—तो वह उचित नहीं है क्योंकि "अनभिहिते" इस अधिकार सूत्र के प्रकरण में "अभिधानं च तिङ्कृत्तद्धित-समासैः" (और अभिधान तिङ्, कृत्, तद्धित तथा समास के द्वारा मान्य है) इस परिगणन (वार्तिक) का खण्डन करने वाली भाष्य-शैली से द्वितीया विभक्ति की प्राप्ति होती है । 'कटं भीष्मं कुरु' (बहुत बड़ी चटाई बनाओ) इत्यादि प्रयोगों में 'कट' शब्द से उत्पन्न द्वितीया (विभक्ति) के द्वारा 'कर्मत्व' के कह दिये जाने के कारण विशेषणीभूत 'भीष्म' शब्द से द्वितीया विभक्ति नहीं प्राप्त होगी । इस दृष्टि से भाष्य में (पूर्वोक्त) परिगणन किया गया और उस (परिगणन) का खण्डन, सभी कारकों का सीधे अथवा अपने आश्रय (कर्ता, कर्म) के द्वारा, (मीमांसा के) 'अरुणाधिकरण' न्याय से, 'भावना' (क्रिया) में अन्वय मान कर, (भाष्य में) किया गया । इसीलिये भाष्य में (वहां) यह कहा गया कि—"कटोऽपि कर्म' भीष्मादयोऽपि" (कट भी 'कर्म' है तथा भीष्म आदि भी) । उनमें ('कट' शब्द से उत्पन्न द्वितीया के द्वारा), 'कट' में रहने वाली 'कर्मता' के कह दिये जाने पर भी, भीष्मत्व आदि गुणों से विशिष्ट 'कर्मता' के कथित न होने के कारण, उस ('भीष्म' शब्द) से द्वितीया होगी यह (भाष्य-वचन) का अभिप्राय है । (द्वितीया विभक्ति के आ जाने के) बाद में (इन) दोनों ('कट' तथा 'भीष्म') का विशेष्य-विशेषण-भाव के रूप में अन्वय होता है । यही अन्वय 'पाश्चात्य' (बाद का) कहा जाता है ।

इसी प्रकार का अन्वय, 'अरुणाधिकरण' (मीमांसा सू० ३.१.६.१२) में "अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति" (लाल वर्ण वाली, पीली

१. ह०, बंमि०—वाचकात् ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



आंख वाली, एक वर्ष की बछिया से सोम खरीदता है) यहां खरीदने की क्रिया में, मीमांसकों ने अपनाया है।

इसलिये 'धावति मृगः' यहां दोनों की (पृथक् पृथक्) 'कर्म' संज्ञा होने पर, 'धावति' (इस पद) के 'प्रातिपदिक' न होने तथा (नैयायिकों के अनुसार) विशेषण होने और अन्यत्र ('दर्शन' क्रिया के प्रति) निराकांक्ष होने के कारण 'धावति' में द्वितीया-विभक्ति के न होने पर भी, 'मृग' शब्द से द्वितीया विभक्ति का निवारण सर्वथा दुष्कर ही है।

वैयाकरणों के मत में तो 'धावन' क्रिया का विशेषण होने तथा दूसरे ('दर्शन' क्रिया रूप) अर्थ के प्रति निराकांक्ष होने के कारण 'मृग' शब्द से द्वितीया विभक्ति नहीं होगी। परन्तु नैयायिकों के मत में प्रधान अर्थ का वाचक होने के कारण 'मृग' शब्द से, 'राज्ञः पुरुषम् आनय' इस वाक्य के 'पुरुष' शब्द के समान, (प्राप्त होने वाली) द्वितीया विभक्ति का निवारण करना कठिन ही है। इस से अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

**ननु विशिष्टार्थवाचकस्य**···· **द्वितीयेति चेत्**—नैयायिकों के अनुसार 'विशिष्ट अर्थ' का अभिप्राय है "उत्तर देश से संयोगरूप 'फल' के अनुकूल जो धावनरूप 'व्यापार' उसके अनुकूल जो 'यत्न' उसका आश्रय मृग"। नैयायिकों की दृष्टि से, पूर्व पक्ष के रूप में, यहाँ यह कहा गया कि 'पश्य मृगो धावति' में 'मृगो धावति' इन दोनों शब्दों के समूहात्मकरूप की एक साथ 'कर्म'संज्ञा है, न कि पृथक् पृथक्। अतः 'मृग' को अलग करके उसकी 'कर्मसंज्ञा ही नहीं है। इस रूप में दोनों 'मृगो धावति' शब्दों की एक साथ 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं हो सकती तथा जिसकी 'प्रातिपदिक' संज्ञा है उस अकेले 'मृग' शब्द की 'कर्म' संज्ञा नहीं है। अतः नैयायिकों के मत में भी 'मृग' के साथ द्वितीया विभक्ति की प्राप्ति का दोष नहीं उपस्थित होता।

परन्तु इस पूर्वपक्ष के खण्डन के लिये नागेश ने महाभाष्य तथा मीमांसा से दो ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जो इस बात को स्पष्ट कर देते हैं 'मृग' तथा 'धावति' की अलग अलग ही 'कर्म' संज्ञा होनी चाहिये।

न, "**अनभिहिते**"···**द्वितीयापत्तेः**—यहाँ पहला प्रमाण महाभाष्य से है। "अनभिहिते" इस अधिकार-सूत्र के विषय में कात्यायन ने यह कहा कि किस किस से 'अभिहित' या कथित होने पर 'कारकों' को 'अभिहित' माना जायगा इसका परिगणन कर देना चाहिये। अपने इस परिगणन में कात्यायन ने—'तिङ्', 'कृत्', 'तद्धित' तथा 'समास' को प्रस्तुत किया—"तिङ्कृत्तद्धितसमासैः परिसंख्यानम्" (२.३.१, पृ० २५६)। इस परिसंख्यान का अभिप्राय यह है कि यदि इनसे 'कारकों' का कथन हुआ हो तब 'कारकों' को 'अभिहित' माना जायगा। इन से अतिरिक्त किसी अन्य के द्वारा यदि 'कारक' कथित होंगे तो भी उन्हें 'अनभिहित' ही माना जायगा। इस परिसंख्यान का प्रस्ताव इसलिये रखा गया कि 'कटं करोति भीष्मम् उदारं शोभनम्' जैसे वाक्यों में विशेष्यभूत, 'कट' शब्द के साथ प्रयुक्त द्वितीया विभक्ति के द्वारा 'कर्म' कारक के कथित हो जाने पर 'कट'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



के विशेषण 'भीष्म', 'उदार' आदि शब्दों से, "अनभिहिते" सूत्र के अनुसार द्वितीया विभक्ति नहीं आ सकती है। इन शब्दों से द्वितीया विभक्ति तभी आसकती है यदि 'कर्म' 'अनभिहित' हो। अब तो वह अभिहित हो चुका। द्र०—"कट'शब्दाद् उत्पद्यमानया द्वितीयया अभिहितं कर्मेति कृत्वा भीष्मादिभ्योऽपि द्वितीया न प्राप्नोति" (महा० २.३.१, पृ०२५०)। परन्तु स्थिति यह है कि इन प्रयोगों में विशेष्य तथा विशेषण दोनों से द्वितीया विभक्ति अभीष्ट है। इसलिये इन प्रयोगों की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि उपर्युक्त परिगणन-वार्तिक को स्वीकार किया जाय जिससे केवल तिङ्, कृत्, तद्धित तथा समास द्वारा कथित 'कारक' को ही 'अभिहित' माना जाय। विशेष्य आदि के द्वारा कथित कारकों को 'अभिहित' न माना जाय। अतः इस परिगणन के आधार पर विशेष्य 'कट' शब्द शब्द से द्वितीया विभिक्त के संयाजन के साथ साथ, 'भीष्म' आदि विशेषण शब्दों से भी द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हो सकेगी, जैसा कि अभीष्ट है।

**तत्प्रत्याख्यानं च·····'पार्ष्णिकः' इत्युच्यते**—पतंजलि ने कात्यायन के इस परिगणन-प्रस्ताव को यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि सभी कारकों का क्रिया के साथ सम्बन्ध या तो साक्षात् होता है या अपने आश्रय के द्वारा। 'आश्रय के द्वारा' यह कहने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि 'अधिकरण' कारक का क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता अपितु परम्परया, अपने आश्रय के द्वारा, ही होता है। इस प्रकार सभी 'कारकों' का क्रिया में अन्वय होने के कारण 'कटं करोति भीष्मम्' जैसे वाक्यों में विशेष्य विशेषण दोनों को कर्म माना जायगा। इसी दृष्टि से पतंजलि ने इसी सूत्र के भाष्य में दो बार कहा—"कटोऽपि कर्म, भीष्मादयोऽपि। तत्र 'कर्मणि०' इत्येव सिद्धम्" (महा० २.३.१, पृ० २५२-५३ तथा २५८), अर्थात् 'कट' भी 'कर्म' है तथा उसके विशेषण 'भीष्म' आदि भी। जब दोनों ही 'कर्म' हैं तो, 'कट' शब्द में विद्यमान कर्मता, 'कट' शब्द के साथ प्रयुक्त द्वितीया विभक्ति के द्वारा, भले ही कह दी गयी हो, भीष्मत्वादिगुण विशिष्ट कर्मता तो अभी भी 'अनभिहित' ही है। इसलिये उस 'कर्मता' को कहने के लिये 'भीष्म' आदि विशेषणों से भी द्वितीया विभक्ति आयेगी। इन दोनों विशेष्य तथा विशेषणों के द्वारा अभिहित 'कर्मत्वों' का विशेष्य विशेषण रूप से अन्वय द्वितीया विभक्ति के आजाने के पश्चात् होता है। इस प्रकार यहाँ विशेष्य-विशेषणभाव के रूप में अन्वय बाद में होता है। अतः इस अन्वय को 'पार्ष्णिक' अथवा कहीं कहीं 'पार्ष्ठिक' (बाद का, पिछे का) भी कहा जाता है।

इस तरह 'कटं करोति भीष्मम् उदारं दर्शनीयं शोभनम्' जैसे वाक्यों में 'कटम्' तथा 'भीष्मम्' आदि का पहले पृथक् पृथक् 'करोति' क्रिया के साथ अन्वय करके बाद में दोनों का विक्षेष्य-विशेषण-भाव के रूप में एक साथ जिस प्रकार अन्वय किया गया उसी प्रकार का 'पार्ष्णिक' अन्वय ममांसकों ने भी ज्योतिष्टोम याग के सोम-क्रयण के प्रकरण में, "अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति" इस वाक्य का अर्थ करने में, किया है। इसी कारण 'अरुणाधिकरण' नामक न्याय प्रसिद्ध होगया।

यहाँ 'अन्वय-व्यतिरेक' के आधार पर 'अरुणा', 'पिंगाक्षी तथा 'एकहायनी' शब्दों को गुण या जाति का वाचक माना गया। इन शब्दों के साथ संयुक्त तृतीया विभक्ति के द्वारा उनके वाच्यार्थ 'अरुण' आदि गुणों को ही यहां सोम-क्रयण में 'करण' बताया जा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



जा रहा है। यद्यपि स्वयं ये गुण सोम खरीदने की क्रिया में समर्थ नहीं हैं परन्तु इन गुणों की आश्रयभूता गोवत्सा (बछिया) तो 'करण' बन ही सकती है।

इस रूप में पहले इन 'अरुण', 'पिंगाक्षी' तथा 'एकहायनी' गुणों का 'क्रयण' क्रिया में अन्वय होता है। उसके बाद, ये गुण स्वयं 'क्रयण' क्रिया में 'करण' बन नहीं सकते इसलिये, इन गुणों के आश्रयभूत द्रव्य की आकांक्षा होती है। उस स्थिति में, प्रकरण की अपेक्षा "गवा ते सोमं क्रीणानि" इस मंत्र-वाक्य के अधिक बलवान् होने के कारण, इन तीनों शब्दों के वाच्यार्थभूत गोद्रव्य में ही, समानाधिकरणता के आधार पर, इन तीनों शब्दों का अन्वय किया जाता है।

अभिप्राय यह है कि पहले 'अरुणया', 'पिंगाक्ष्या' तथा 'एकहायन्या' इन तीनों तृतीया-विभक्त्यन्त पदों का स्वतंत्र रूप से 'क्रयण' क्रिया में अन्वय होता है फिर बाद में, 'अरुण गुण से विशिष्ट जो गोवत्सा वही पीली आँखों से युक्त है तथा वही एक वर्ष वाली है इस तरह, तीनों का 'गोवत्सा' के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है।

**तस्माद् द्वितीया ····· दुर्वारा**—इस प्रकार 'पश्य मृगो धावति' इस वाक्य में 'पश्य' के 'कर्म' 'मृगो धावति' इस इस अंश में दोनों को अलग-अलग 'कर्म' मानना होगा। 'धावति' पद 'प्रातिपादिक' संज्ञक नहीं है तथा 'पश्य' क्रिया की दृष्टि से वह निराकांक्ष भी है क्योंकि नैयायिक की दृष्टि में वह 'मृग' का विशेषण है--विशेष्य स्वयं 'मृग' है। इसलिये, 'धावति' के साथ तो द्वितीया विभक्ति नहीं आ सकती। परन्तु 'मृग' पद के साथ द्वितीया विभक्ति का प्रयोग करना ही होगा। इसका कारण यह है कि 'मृग' पद 'प्रातिपदिक' भी है तथा विशेष्य होने के कारण साकांक्ष भी है। इसलिये 'मृग' शब्द के साथ द्वितीया विभक्ति का संयोजन नैयायिक के मत उसी प्रकार अनिवार्य होगा जिस प्रकार 'राज्ञः पुरुषम् आनय' इस वाक्य में 'आनयन' क्रिया के 'कर्म' एवं विशेष्य 'पुरुष' शब्द के साथ द्वितीया विभक्ति संयुक्त होती है। अतः नैयायिकों के मत में इस दोष की निराकरण बहुत कठिन है।

वैयाकरणों के उपर्युक्त मत में यह दोष नहीं उपस्थित होता क्योंकि वहाँ तो 'मृग' शब्द ही 'धावन' क्रिया का विशेषण है और विशेष्य अथवा प्रधान है 'धावन' क्रिया। इस प्रधान भूत कर्म 'धवति' के साथ द्वितीया विभक्ति का प्रयोग इसलिये नहीं होगा कि 'धावति' पद 'प्रातिपदिक' नहीं है।

इसलिये इस दोष के कारण नैयायिकों का यह सिद्धान्त भी दूषित होगया कि "शाब्द-बोध में प्रथमान्त शब्दों का अर्थ प्रधान होता है"।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# निपातार्थ-निर्णयः

['निपातों' की अर्थ-द्योतकता का प्रतिपादन]

'अनुभूयते सुखम्', 'साक्षात्क्रियते गुरुः' इत्यादौ निपातानां द्योतकत्वेन अनुभव-साक्षात्कार-रूप-फलयोः धात्वर्थत्वेन सकर्मकत्वम् । "कर्म-संज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वम् सकर्मकत्वम्" इति निष्कृष्टमतेऽपि फलाश्रयतया कर्मसंज्ञकस्य धात्वर्थ-फल एवान्वयौचित्येन द्योतकत्वम् आवश्यकम् ।

'अनुभूयते सुखम्' (सुख का अनुभव किया जाता है) 'साक्षात्क्रियते गुरुः' (गुरु का दर्शन किया जाता है) इत्यादि वाक्यों में ('अनु' तथा 'साक्षात्') 'निपातों' के (अर्थ का) द्योतक होने से 'अनुभव' तथा 'साक्षात्कार' रूप 'फलों' के (निपातार्थ न होकर) धात्वर्थ होने के कारण ('भू' तथा 'कृ' धातुओं की) 'सकर्मकता' है। "कर्म' संज्ञक अर्थ में अन्वित होने वाले अर्थ का वाचक होना 'सकर्मकता' है"—इस सिद्धान्तभूत मत में भी, 'फल' का आश्रय होने के कारण, 'कर्म' संज्ञक शब्द का धातु के अर्थ 'फल' में ही अन्वय करना उचित है। इस लिये (निपातों की) द्योतकता आवश्यक है।

स्वरूप की दृष्टि से शब्दों के 'नाम', 'आख्यात', 'उपसर्ग' तथा 'निपात' इन चार विभागों की कल्पना बहुत प्राचीन काल में अस्तित्व धारण कर चुकी थी जिसका स्पष्ट निर्देश यास्क तथा पतंजलि ने क्रमशः निरुक्त तथा महाभाष्य में किया है। इस चतुर्विध विभाग में 'उपसर्ग', तथा 'निपात' को अलग अलग स्वीकार किया गया है। यों तो 'उपसर्ग' 'निपातों' के अन्तर्गत ही माने जाते हैं, परन्तु क्रिया अथवा तिङन्त पदों से सम्बद्ध होने से कुछ—'प्र' आदि बीस—'निपातों' को 'उपसर्ग' मान लिया जाता है तथा क्रियापदों से असम्बद्ध होने पर इन 'प्र' आदि को, 'उपसर्ग' न मान कर, 'निपात' ही माना जाता है। कम से कम पाणिनीय व्याकरण में इनकी यही स्थिति है। इस विषय में द्रष्टव्य —"चादयोऽसत्त्वे" (पा० १.४.५७), "प्रादयः" (पा० १.४.५८) तथा "उपसर्गाः क्रियायोगे" (पा० १.४.५९) इत्यादि अष्टाध्यायी के सूत्र।

नैयायिक विद्वान् 'निपातों' को अर्थ का वाचक मानते हैं तथा 'उपसर्गों' को अर्थ का द्योतक। नवीन वैयाकरण इन दोनों को ही अर्थ का द्योतक मानते हैं। यास्कीय निरुक्त तथा पातंजल महाभाष्य में इस बात की चर्चा तो हुई है कि 'उपसर्गों' को अर्थ का द्योतक माना जाय अथवा वाचक, परन्तु 'निपातों' के विषय में स्पष्टतः कुछ भी नहीं कहा गया। यास्क के द्वारा निरुक्त (१.४.११) में किये गये 'निपात'—विषयक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अर्थ-निर्देश से यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके अनुसार अनेक प्रयोगों में, 'उपसर्गों' के समान ही, 'निपात' भी अर्थ के वाचक हैं।

**अनुभूयते ·····सकर्मकत्वम्**—यहां नागेश ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि 'निपात' तथा 'उपसर्ग' दोनों ही अर्थ के द्योतक हैं। इसका कारण यह है कि 'अनुभूयते सुखम्' तथा 'साक्षात् क्रियते गुरुः' जैसे वाक्यों में 'अनुभव' तथा 'साक्षात्कार' रूप 'फल' को यदि क्रमशः 'भू' तथा 'कृ' धातुओं का ही अर्थ माना जाता है—'अनु' उपसर्ग तथा 'साक्षात्' निपात का अर्थ नहीं माना जाता—तभी यहां प्रयुक्त 'कृ' तथा 'भू' धातुएँ 'सकर्मक' बन सकती हैं।

कौण्डभट्ट ने वैभूसा० में 'सकर्मक' तथा 'अकर्मक' की निम्न परिभाषायें, जिनका निर्देश 'धात्वर्थ-निरूपण' के प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है, दी हैं—"धात्वर्थभूत 'फल' के अधिकरण से भिन्न अधिकरण वाले 'व्यापार' के वाचक धातु को 'सकर्मक" तथा "धात्वर्थभूत 'फल' के अधिकरण से अभिन्न अधिकरण वाले 'व्यापार' के वाचक धातु को 'अकर्मक" मानना चाहिये। (द्र०—"सकर्मकत्वं च फल-व्यधिकरण-व्यापार-वाचकत्वम्। फल-समानाधिकरण-व्यापार-वाचकत्वम् अकर्मकत्वम्")। इस परिभाषा के अनुसार 'भू' तथा 'कृ' धातुओं को सकर्मक बनाने के लिये यह आवश्यक है कि यहाँ के 'अनुभव' तथा 'साक्षात्कार' रूप 'फल' को, 'निपात' का अर्थ न मानकर, 'धातु' का ही अर्थ माना जाय।

**कर्म-संज्ञक·····आवश्यकम्**—परन्तु 'अध्यासिता भूमयः' जैसे अनेक प्रयोगों की दृष्टि से कौण्डभट्ट की उपर्युक्त परिभाषा को अव्याप्ति दोष से दूषित मानते हुए नागेश भट्ट ने 'वस्तुतस्तु' कह कर 'सकर्मक' विषयक अपनी एक दूसरी परिभाषा प्रस्तुत की। वह है—"शब्द-शास्त्रीय-कर्म-संज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वं सकर्मकत्वम्"—अर्थात् व्याकरण शास्त्रीय 'कर्म' संज्ञक अर्थ से अन्वित होने वाले अर्थ की बोधक धातुएँ 'सकर्मक' हैं। यहाँ, 'निष्कृष्ट-मतेऽपि' कथन के द्वारा, इसी सिद्धान्तभूत मत की ओर संकेत करते हुए, यह कहा गया कि इस परिभाषा की दृष्टि से भी 'निपातों' को अर्थ का द्योतक मानना ही उचित है क्योंकि इस परिभाषा में भी यह तो माना ही जाता है कि, 'फल' का आश्रय होने के कारण, 'कर्म' संज्ञक शब्द का धातु के अर्थभूत 'फल' में ही अन्वय होना चाहिये।

**['द्योतकता' का अभिप्राय]**

'द्योतकत्वम्' च स्व-समभिव्याहृत-पद-निष्ठ-वृत्त्युद्बोधकत्वम्। क्वचित्तु क्रिया-विशेषाक्षेपकत्वं 'द्योतकत्वम्'। यथा —'प्रादेशं विलिखति' इत्यादौ 'विः'[1] विमान[2]-क्रियाऽऽक्षेपकः 'प्रादेशं विमाय लिखति' इत्यर्थावगमात्। अतएव "अथ

१. निस० में अनुपलब्ध।

२. निस०—वर्तमान। काप्रशु०—मान।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



शब्दानुशासनम्" (महा०, भा० १, पृ०४) इत्यत्र "अथ'-शब्दस्य प्रारम्भ-क्रियाऽऽक्षेपकत्वम्"[1] कैय्यटाद्युक्तं संगच्छते। क्वचित्तु सम्बन्ध-परिच्छेदकत्वं द्योतकत्वम्। यथा—कर्मप्रवचनीयानाम्। विशिष्टस्य तु[2] न धातुत्वम्, अपाठात्, अडाद्यव्यवस्थापत्तेश्च।

द्योतकता का अभिप्राय है अपने ('निपात' के) समीपस्थ (साथ में उच्चरित या लिखित) पद की (वाच्यार्थबोधिका) वृत्ति (शक्ति) का ज्ञान कराना। कहीं कहीं तो किसी विशेष क्रिया का अनुमान कराना ही द्योतकत्व है। जैसे—'प्रदेशं विलिखति' इत्यादि वाक्यों में 'वि' ('उपसर्ग') 'नापने' की क्रिया का अनुमान कराता है क्योंकि (इस वाक्य से) "अँगूठे से तर्जनी तक के नाप की रेखा खींचता है" इस अर्थ की प्रतीति होती है। इसीलिये (क्रिया विशेष के अनुमानरूप द्योतकता के कारण ही) "अथ शब्दानुशानम्" (अब व्याकरण का आरम्भ होता है) यहां "अथ' शब्द 'प्रारम्भ' क्रिया का अनुमान कराने वाला है" यह कैयट आदि का कथन सुसंगत हो जाता है। कहीं सम्बन्ध का निश्चय करना द्योतकत्व है। जैसे—'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा वाले शब्दों का। विशिष्ट (निपात के साथ पूरे समुदाय) की धातु संज्ञा नहीं मानी जा सकती क्योंकि उनका (धातुपाठ में) पाठ नहीं किया गया है तथा ('निपात'-विशिष्ट समुदाय की 'धातु' संज्ञा मानने से) 'अट्' आदि (आगमों) के विषय में अव्यवस्था उपस्थित होगी।

**द्योतकत्वं च ''''बोधकत्वम्**—भिन्न भिन्न स्थलों में 'निपात' सहित पदों से प्रकट होने वाले भिन्न भिन्न अर्थों की दृष्टि से 'द्योतकत्व' के तीन अभिप्राय यहां बताये गये। 'द्योतकता' का प्रथम अभिप्राय है निपात के साथ अव्यवहित रूप से उच्चरित या लिखित धातु में विद्यमान, वाच्य अर्थ को कहने वाली, 'शक्ति' का ज्ञान कराना। जैसे—'साक्षात् क्रियते गुरुः' इस प्रयोग में 'साक्षात्' इस 'निपात' के साथ उच्चरित 'कृ' धातु में विद्यमान, 'दर्शन करना' रूप अर्थ का बोध कराना। यहाँ 'स्व' का अभिप्राय है द्योतकरूप से अभिमत 'साक्षात्' आदि 'निपात' पद या 'अनु' आदि 'उपसर्ग' पद। उसके साथ 'समभिव्याहृत' अर्थात् समुच्चरित पद हैं 'कृ', 'भू' आदि धातुएँ। उनमें रहने वाली 'वृत्ति' अर्थात्—'दर्शन करना' तथा 'अनुभव करना' आदि अर्थों को, वाच्यार्थ के रूप में, कहने वाली शक्ति। इस 'वृत्ति' अथवा शक्ति का बोध कराना ही निपातों की द्योतकता का अभिप्राय है।

**क्वचित्तु'' संगच्छते**—'द्योतकता' का दूसरा अभिप्राय है कहीं कहीं किसी विशिष्ट क्रिया का अनुमान कराना। जैसे—'प्रादेशं लिखति' इस वाक्य में 'प्रादेशम्' में प्रयुक्त

१. तुलना करो—महा० प्रदीप टीका, भा० १, पृ० ४; शब्दानुशासनस्य प्रारभ्यमाणता-'अथ'-शब्द-सन्निधानेन प्रतीयते।

२. प्रकाशित संस्करणों में 'तु' अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'कारक विभक्ति' (द्वितीया) का 'लिखति' के साथ कोई सम्बन्ध न बन पाने के कारण 'वि' को 'नापने' की क्रिया का अनुमापक माना गया क्योंकि 'प्रादेश पर्यन्त भाग को नाप कर वहाँ चित्र बनाता है' यह 'प्रादेशं विलिखति' का अभिप्राय है। इन स्थलों में 'द्योतकता' के प्रथम अर्थ से कार्य नहीं चल सकता क्योंकि यहाँ 'नापना' अर्थ 'लिख्' धातु के वाच्य अर्थों में नहीं है। 'द्योतकता' के इस दूसरे अभिप्राय के आधार पर ही महाभाष्य के पस्पशाह्निक के प्रथम वार्तिक—"अथ शब्दानुशासनम्" की व्याख्या में कैयट ने 'अथ' इस 'निपात' शब्द को 'आरम्भ करना' रूप क्रिया का आक्षेप करने वाला बताया। द्र०—"शब्दानुशासनस्य प्रारभ्यमाणता 'अथ'-शब्दसन्निधानेन प्रतीयते" (महा० प्रदीप, भाग १, पृ०४)।

**क्वचित्तु ...कर्मप्रवचनीयानाम्**—'द्योतकता' का तीसरा अभिप्राय है सम्बन्ध-विशेष का निश्चायक होना। जैसे—'जपम् अनु प्रावर्षत्' (जप के बाद वर्षा हुई)। यहाँ 'अनु' निपात 'जप' तथा 'वर्षण' क्रिया का पूर्वापर सम्बन्ध बताता है, अर्थात् पहले जप हुआ तथा उसके बाद वर्षा हुई इस बात का ज्ञान 'अनु' से होता है। ऊपर 'द्योतकता' के जिन दो अर्थों का निर्देश किया गया है उनसे यहाँ काम नहीं चल सकता। "कर्मप्रवचनीयाः" (पा० १.४.८३) सूत्र के अधिकार में पाणिनि ने जिन 'निपातों की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा मानी है वे सभी इसी प्रकार के सम्बन्ध विशेष के निर्णायक हैं। 'कर्मप्रवचनीय' शब्द का अर्थ भी यही है। अन्वर्थकता की दृष्टि से ही इतनी बड़ी संज्ञा पाणिनि ने स्वीकार की। इसी तथ्य को बताते हुए पतंजलि ने कहा—"कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः। के पुनः कर्म प्रोक्तवन्तः? ये सम्प्रति क्रियां न आहुः। के च सम्प्रति क्रियां नाहुः? ये अप्रयुज्यमानस्य क्रियाम् आहुः" (महा० १.४.८३)। यहाँ 'क्रियाम् आहुः' में विद्यमान 'क्रिया' का तात्पर्य है—'क्रिया-विषयक सम्बन्ध'। द्र० —"क्रिया' शब्देन तदुपजनितसम्बन्धविशेष उपचाराद् उच्यते" प्रदीप टीका (१.४.८३)। भर्तृहरि ने भी इन 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक शब्दों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा :—

**क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः।**
**नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः॥** वाप० २.१०६

इस प्रकार 'निपातों' के इन विभिन्न प्रयोगों की दृष्टि से उनकी 'द्योतकता' के तीन प्रकार माने गये।

**विशिष्टस्य न धातुत्वम् आपत्तेश्च**—यहाँ एक प्रश्न यह हो सकता है कि 'निपातों' तथा 'उपसर्गों' से युक्त धातुओं अर्थात् 'अनुभू', 'साक्षात्कृ' इत्यादि पूरे समुदायों, की ही धातु संज्ञा क्यों न मान ली जाय, जिससे 'निपातों' की 'द्योतकता' 'वाचकता' का सारा विवाद ही समाप्त हो जाय।

इसके उत्तर में पहला हेतु यह दिया गया कि जिन धातुओं को 'उपसर्ग' के साथ धातुपाठ में स्थान दिया गया है वहां तो पूरे समुदाय को ही धातु माना जाता है परन्तु जिनका अभीष्ट 'उपसर्गों' के साथ, पाणिनि आदि आचार्यों द्वारा, प्रचवन नहीं किया गया वहाँ 'उपसर्गयुक्त समुदाय को धातुसंज्ञक कैसे मान लिया जाय? यहां यह ध्यान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



देने योग्य है कि "भूवादयो धातवः" (पा० १.३.१) सूत्र के महाभाष्य में 'पाठ' अथवा प्रवचन को भी धातुओं की धातुता में एक विशिष्ट आधार माना गया है।

दूसरा हेतु यह है कि 'निपात' या 'उपसर्ग' सहित समुदाय की यदि धातु संज्ञा मान ली गयी तो अनेक स्थानों पर दोष आयेगा। जैसे—इन विशिष्ट समुदायों से पूर्व 'लुङ्' आदि लकारों में 'अट्', 'आट्', आदि आगमों को रखना होगा, जब कि वे अभीष्ट हैं 'निपात' तथा 'उपसर्ग' के बाद। इसके अतिरिक्त 'लिट्' आदि लकारों में भी दोष आयेगा। वहाँ धातु को द्वित्व करते समय 'उपसर्ग' आदि के आधार पर 'अनजादि' धातुएं भी 'अजादि' हो जायेंगी जिससे अनभीष्ट 'द्वितीय एकाच्' अथवा 'प्रथम एकाच' को "अजादेर्द्वितीयस्य" (पा० ६.१.१) तथा "एकाचो द्वे प्रथमस्य" (पा. ६.१.२) के अनुसार 'द्वित्व' करना पड़ेगा। इस प्रकार अनेक अव्यवस्थाओं के कारण 'निपात' या 'उपसर्ग' से युक्त धातु की धातु संज्ञा नहीं मानी जा सकती।

**["'उपसर्ग' अर्थ के द्योतक हैं तथा 'निपात' अर्थ के वाचक"—नैयायिकों के इस मत का खण्डन]**

यत्तु **तार्किकाः**—उपसर्गाणां द्योतकत्वं तदितर-निपातानां वाचकत्वम्, "साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः" इति **कोशात्** (अमरकोश ३।२५२)। 'नमः' पदेन 'देवाय नमः' इत्यादौ नमस्कारार्थस्य,[1] दानावसरे 'गवे नमः' इत्यत्र पूजार्थस्य[2] प्रसिद्धत्वाच्च। '**सकर्मकत्वम्**' च स्व-स्व-समभिव्याहृत-निपातान्यतरार्थ-फल-व्यधिकरण-व्यापार-**वाचकत्वम्**[3]। 'कर्मत्वम्' च स्व-स्व-समभिव्याहृत-निपातान्यतरार्थफल-शालित्वम्।

तन्न। वैषम्ये बीजाभावात्। 'अनुभूयते' इत्यनेन 'साक्षात्क्रियते' इत्यस्य समत्वात्। "नामार्थ-धात्वर्थयोर्भेदेन साक्षाद् अन्वयाभावात्", नामार्थधात्वर्थयोरन्वयस्यैवासम्भवात्। निपातार्थफलाश्रयत्वेऽपि धात्वर्थान्वयं विना कर्मत्वानुपपत्तेश्च।

---

१. ह०, वंमि०—नमस्कारार्थत्वस्य।

२. ह०, वंमि०—पूजार्थत्वस्य।

३. तुलना करो—वैभूसा० पृ० ३७३: स्व-स्व-मुक्त-निपातान्यतरार्थ-फल-व्यधिकरण-व्यापार-वाचित्वं सकर्मकत्वम् अपि सुवचम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



नैयायिक जो यह कहते हैं कि—'उपसर्गों' की द्योतकता तथा उनसे भिन्न 'निपातों' की वाचकता माननी चाहिये क्योंकि "साक्षात् प्रत्यक्ष-तुल्ययोः" ('साक्षात्' निपात प्रत्यक्ष तथा तुल्य इन दो अर्थों का वाचक है) यह कोश का वाक्य है तथा 'नमः' पद से 'देवाय नमः (देवता के लिये नमस्कार) इत्यादि (प्रयोगों) में 'नमस्कार' अर्थ की और दान के समय (कहे गये) 'गवे नमः' (गाय के लिये नमस्कार) इस (प्रयोग) में 'पूजा' अर्थ की प्रसिद्धि है। और 'सकर्मकत्व' (की परिभाषा) है—"अपने (धातु के), अथवा अपने समीप विद्यामान 'निपात' के, दोनों में से किसी एक के, अर्थ रूप 'फल' के अधिकरण से भिन्न अधिकरण वाले 'व्यापार' की वाचकता"। 'कर्मत्व' (की परिभाषा) है—"अपने (धातु के), अथवा अपने समीपस्थ 'निपात' के, दोनों में से किसी के, अर्थ रूप 'फल' का आश्रय होना।"

वह (नैयायिकों का उपर्युक्त कथन) उचित नहीं है क्योंकि 'उपसर्गों' तथा 'निपातों' की विषमता में कोई कारण नहीं है। अनुभूयते' इस (प्रयोग) से 'साक्षात् क्रियते' इस प्रयोग की (सर्वथा) समानता है। प्रातिपदिकार्थ तथा धात्वर्थ में, भेद सम्बन्ध से, सीधे अन्वय न होने के कारण, निपातार्थ तथा धात्वर्थ में परस्पर अन्वय ही सम्भव नही होगा तथा निपातार्थ रूप 'फल' का आश्रय होने पर भी, धात्वर्थ में अन्वय के बिना, 'सुख' तथा 'गुरु' आदि की 'कर्मता' नहीं बन सकेगी।

**यत्तु तार्किका''''''प्रसिद्धत्वाच्च**—नैयायिक 'उपसर्गों' को तो अर्थ का द्योतक मानते हैं परन्तु अन्य 'निपातों' को वे अर्थ का वाचक मानते है। 'निपातों' की वाचकता के प्रतिपादन के लिये वे कोशों का प्रमाण देते हैं। कोशों में 'निपातों' को अनेक अर्थों का वाचक माना गया है। दूसरा प्रमाण वे लोक-प्रसिद्धि को प्रस्तुत करते हैं। लोक-प्रसिद्ध प्रयोगों से यह ज्ञात होता है कि 'निपात' अलग अलग अवसरों पर अलग अलग अर्थों को बताते हैं।

**सकर्मकत्वं च''''''फलशालित्वम्**—नैयायिकों के इस सिद्धान्त में यह शंका हो सकती है कि यदि 'निपातों' को अर्थ का वाचक माना जाता है तो 'साक्षात् क्रियते गुरुः' (गुरु का दर्शन किया जाता है) इत्यादि प्रयोगों में 'कृ' आदि धातुओं से 'कर्म' में लकार नहीं आ सकते क्योंकि "लः कर्मणि०" (पा० ३.४.६९) सूत्र के द्वारा 'सकर्मक' धातुओं से ही 'कर्म' में लकारों का विधान किया गया है। 'साक्षात् क्रियते गुरुः' जैसे प्रयोगों में 'कृ' इत्यादि धातुएँ 'सकर्मक' नहीं हैं क्योंकि 'साक्षात्कार' आदि 'फल', धातु का अर्थ न होकर, 'निपात' का अर्थ है, जबकि धात्वर्थरूप 'फल' के अधिकरण से भिन्न अधिकरण वाले 'व्यापार' के वाचक धातु को ही 'सकर्मक' कहा गया है—"सकर्मकत्वं च (धात्वर्थरूप—) फल-व्यधिकरण-व्यापार-वाचकत्वम्" (वैभूसा० पृ० ९८)।

इसी प्रकार उपर्युक्त—'अनुभूयते सुखम्' तथा 'साक्षात् क्रियते गुरुः',—प्रयोगों में 'सुख' तथा 'गुरु' शब्दों की 'कर्म' संज्ञा भी नहीं हो सकती क्योंकि वे 'अनुभव' तथा 'दर्शन' रूप 'फल' के आश्रय तो हैं परन्तु, नैयायिकों के मत के अनुसार, 'अनुभव' तथा 'दर्शन'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



धात्वर्थ न होकर निपातार्थ हैं, जब कि धात्वर्थरूप फल के आश्रय की ही 'कर्म' संज्ञा मानी गयी है—निपातार्थरूप 'फल' के आश्रय की नहीं। इस रूप में 'कर्म' संज्ञा न होने के कारण कर्मवाच्य में 'सुख' तथा 'गुरु' शब्दों में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग नहीं हो सकेगा।

नैयायिकों के मत में उपस्थित होने वाले इन आक्षेपों का समाधान, पूर्व पक्ष के रूप में, "सकर्मकत्वं च···फलशालित्वम्" इस अंश में किया गया है। इन पंक्तियों में 'सकर्मक' धातुओं तथा 'कर्म' कारक की परिभाषाओं में 'स्व' के साथ 'निपात' पद का संयोजन करके उपर्युक्त दोनों आक्षेपों का निराकरण कर दिया गया है। नैयायिकों के अनुसार 'सकर्मक' की परिभाषा होगी "धातु या, धातु के समीप उच्चरित 'निपात', दोनों में से किसी एक के अर्थरूप 'फल' के अधिकरण से भिन्न अधिकरण वाले 'व्यापार' का वाचक धातु 'सकर्मक' है" (सकर्मकत्वं च स्व-स्व-समभिव्याहृत-निपातान्यतरार्थ-फल-व्यधिकरण-व्यापार-वाचकत्वम्)।

इसी प्रकार 'कर्म' की परिभाषा में भी 'निपात' पद का प्रयोग करके उसे इस रूप में स्वीकार किया गया कि "धातु, अथवा 'धातु' के समीप उच्चरित 'निपात' दोनों में से किसी एक के अर्थरूप 'फल' का आश्रय 'कर्म' है" (कर्मत्वम् च स्व-स्व-समभिव्याहृत-निपातान्यतरार्थ-फल-शालित्वम्)।

**तन्न··· समत्वात्**—नैयायिकों के सिद्धान्त—"उपसर्ग' अर्थ के द्योतक हैं तथा 'निपात' अर्थ के वाचक हैं" का खण्डन करते हुए यहां प्रथम हेतु यह दिया गया कि 'निपात' तथा 'उपसर्ग' दोनों तत्त्वतः एक ही प्रकार के शब्द हैं। अन्तर केवल इतना है कि क्रिया पदों से युक्त होने के कारण 'प्र' आदि कुछ 'निपातों' का एक और नाम 'उपसर्ग' पड़ जाता है। जब दोनों एक ही प्रकार के शब्द हैं तो एक को द्योतक तथा दूसरे को वाचक कैसे मान लिया जाय ?

**नामार्थ-धात्वर्थयोर्भेदेन साक्षाद् अन्वयाभावात्**—दूसरा हेतु यह है कि 'निपातों' को अर्थ का वाचक मानने पर 'साक्षात् क्रियते गुरुः' इत्यादि प्रयोगों में 'साक्षात्कार' आदि अर्थों को प्रातिपदिकार्थ अथवा नामार्थ मानना होगा। ऐसी स्थिति में यहाँ निम्न परिभाषा उपस्थित होगी—"प्रातिपदिकार्थ तथा धात्वर्थ का भेद-सम्बन्ध से सीधे अन्वय नहीं हुआ करता", अपितु उस भेदसम्बन्ध (भिन्न-अर्थता) को प्रगट करने वाली द्वितीया आदि विभक्तियों की सहायता अपेक्षित होती है—"नामार्थ-धात्वर्थयोर्भेदेन साक्षाद् अन्वयोऽव्युत्पन्नः"।

इस परिभाषा का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि 'नाम' ('प्रातिपदिक') के अर्थ तथा धातु के अर्थ में भेद-सम्बन्ध ('कर्मत्व' आदि सम्बन्ध, जिनसे नामार्थ तथा धात्वर्थ में विद्यमान भिन्नता की प्रतीति होती हो) से पारस्परिक अन्वय सीधे नहीं होता, अपितु द्वितीया आदि विभक्तियों के अर्थ 'कर्मत्व' आदि की सहायता वहाँ आवश्यक होती है। यदि विभक्त्यर्थ की सहायता के बिना भी नामार्थ तथा धात्वर्थ में भेद-सम्बन्ध से परस्पर अन्वय की स्थिति मान ली गयी तो 'तण्डुलं पचति' (चावल पकाता है) इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये 'तण्डुलः पचति' इस असाधु प्रयोग को भी साधु मानना होगा। या दूसरे शब्दों में नामार्थ (चावल) तथा धात्वर्थ (पकाता है) का भेद सम्बन्ध,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अर्थात् कर्मत्व सम्बन्ध, से बिना द्वितीया विभक्ति के प्रयोग के ही अन्वय स्वीकार करना होगा--और यह निश्चित ही एक अवांछनीय स्थिति होगी। तुलना करो—"नामार्थ-धात्वर्थयोर्भेदेन साक्षाद् अन्वयासम्भवात् निपातार्थधात्वर्थयोरन्वयस्यैव असम्भवात्। अन्यथा 'तण्डुलः पचति' इत्यत्रापि कर्मतया तण्डुलानां धात्वर्थेऽन्वयापत्तेः" (वैभूसा० पृ० ३७३-७४)।

इस प्रकार नामार्थ तथा धात्वर्थ में भेदसम्बन्ध से सीधे अन्वय न होने के कारण 'निपातार्थ' (साक्षात्कार' रूप 'फल') का 'कृ' धातु के अर्थ 'व्यापार' में, अनुकूलत्व रूप भेदसम्बन्ध से, अन्वय नहीं हो सकेगा। और ऐसा न होने पर 'साक्षात्कारानुकूल व्यापार' यह बोध नहीं हो सकेगा।

**निपातार्थ ·····कर्मत्वानुपपत्तेश्च**—नागेश ने तीसरा हेतु यह दिया कि 'निपातों' को अर्थ का वाचक मानने पर 'साक्षात्क्रियते गुरुः' इत्यादि प्रयोगों में 'गुरुः' इत्यादि के 'कर्मत्व' की सयुक्तिक उपपत्ति नहीं हो पाती। 'निपातार्थ' (साक्षात्काररूप 'फल') की आश्रयता भले ही 'कर्म' ('गुरु') में मिल जाय पर 'कर्मत्व' के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। यह भी आवश्यक है कि 'फल' भी प्रकृत धातु' का ही अर्थ हो। 'धातु'-वाच्य 'फल' के आश्रय की 'कर्म' संज्ञा "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" (पा० १,४,४६) सूत्र से की गयी है। इसलिये निपातार्थ का धात्वर्थ में अन्तर्भाव माने बिना निपातार्थरूप 'फल' के आश्रय 'गुरु' आदि की 'कर्म' संज्ञा नहीं हो सकती। वस्तुतः 'कारकों' का कारकत्व तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक वे क्रिया या, दूसरे शब्दों में, धात्वर्थ में अन्वित न हों। इसलिये 'गुरु' इत्यादि की 'कर्मता' की सिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि उनका धात्वर्थ में अन्वय हो तथा यह तभी हो सकता है जब 'निपातार्थ' का धात्वर्थ में अन्तर्भाव कर दिया जाय। इस प्रकार इन हेतुओं के आधार पर नागेश ने नैयायिकों के मत—"निपात अर्थों के वाचक होते हैं"—का खण्डन कर दिया।

**[इस प्रसङ्ग में नैयायिकों पर अन्य वैयाकरणों द्वारा किये गये आक्षेप]**

> यदपि केचित् **शाब्दिकाः**—निपातानां वाचकत्वे 'शोभनः समुच्चयः' इतिवत् 'शोभनश्च' इत्यापत्तिः। 'घटस्य समुच्चयः' इतिवत् 'घटस्य च' इत्यापत्तिः। 'घटं पटं च पश्य' इत्यादौ षष्ठ्यापत्तिश्च—इत्याहुः।

और जो कि कुछ (कौण्डभट्ट आदि) व्याकरण के विद्वान् कहते हैं कि 'निपात' को अर्थ का वाचक मानने पर 'शोभनः समुच्चयः' (सुन्दर संकलन) इस प्रयोग के समान 'शोभनः च' यह (प्रयोग) भी साधु मानना पड़ेगा। 'घटस्य समुच्चयः' (घट का संग्रह) इस (प्रयोग) के समान 'घटस्य च' यह

१. बंमि०—पटं घटं च पश्येत्यादौ षष्ठ्यापत्तिश्चेत्याहुः। निस० तथा काप्रमु० में यह अंश नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(प्रयोग) भी स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार 'घटं पटं च पश्य' (घड़े और वस्त्र को देखो) इत्यादि प्रयोगों में ('घट' तथा 'पट' शब्दों के साथ) षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति होगी।

नागेश भट्ट ने यहाँ कौण्डभट्ट-रचित वैय्याकरणभूषणसार के उस स्थल की ओर संकेत किया है जहाँ कौण्डभट्ट ने नैयायिकों के मत—"निपात' अर्थों के वाचक हैं"—में अनेक दोष दिखाये हैं।

पहला दोष यह है कि, यदि 'निपातों' को अर्थ का वाचक माना जाता है तो जिस प्रकार 'शोभनः समुच्चयः' यह प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार 'शोभनः च' प्रयोग भी किया जाना चाहिये क्योंकि इस मत के अनुसार 'च'' समुच्चय' अर्थ का वाचक है। इसलिये जिस प्रकार 'समुच्चय' शब्द 'समुच्चय' अर्थ का वाचक है तथा विशेष्य है इस कारण उसमें 'शोभन' शब्द का विशेषण रूप से अन्वय होता है उसी प्रकार 'च' शब्द के वाच्य अर्थ को भी विशेष्य मानते हुए उसमें भी 'शोभनः' विशेषण का अन्वय सुसंगत मान लिया जाना चाहिये। द्र०--"शोभनः समुच्चयो द्रष्टव्य' इतिवत् 'शोभनश्च द्रष्टव्यः' इत्यस्यापत्तेः" (वैभूसा० पृ० ३७४)।

दूसरा दोष यह दिया गया कि 'घटस्य समुच्चयः' में जिस प्रकार 'समुच्चय' शब्द के सम्बन्ध से 'घट' शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार 'च' शब्द के सम्बन्ध से भी 'घट' शब्द के साथ षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग करके 'घटस्य च' प्रयोग को शुद्ध मानना चाहिये। एक परिभाषा है—"नामार्थयोर्विभिन्न-विभक्तिकयोर्भेदेन अन्वयः", अर्थात् दो प्रातिपदिकार्थों का भेद-सम्बन्ध —'विशेष्य-विशेषण' आदि सम्बन्धों—से अन्वय तभी हो सकता है जबकि उनमें भिन्न-भिन्न विभक्तियों का प्रयोग किया गया हो। इसलिये 'विशेष्य विशेषण सम्बन्ध' होने के कारण 'घटस्य च' प्रयोग ही होना चाहिये, 'घटश्च' प्रयोग नहीं होना चाहिये।

वस्तुतः 'निपातों' को अर्थ का वाचक मानने पर 'निपातों' के अर्थों को प्रातिपदिकार्थ मानना होगा और दो प्रातिपदिकार्थों का, बिना षष्ठी आदि विभक्तियों के, भेद-सम्बन्ध से अन्वय हो नहीं सकता इसलिये 'घटश्च' के स्थान पर 'घटस्य च' प्रयोग ही साधु हो सकता है और यदि दो प्रातिपदिकार्थों का बिना षष्ठी आदि विभक्तियों के भी, भेद सम्बन्ध से, अन्वय सुसंगत मान लिया गया तो 'राजा पुरुषः' प्रयोग से भी 'राजा का पुरुष' इस अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। द्र०--"अपि च निपातानां वाचकत्वे प्रातिपदिकार्थयोर्विना षष्ठ्यादिकं भेदेन अन्वयासम्भवः। अन्यथा 'राजा पुरुषः' इत्यस्य 'राजसम्बन्धी पुरुषः' इत्यर्थस्यापत्तेः" (वैभूसा० पृ० ३७५-७६)।

कौण्डभट्ट-रचित वैभूसा० के इस प्रसंग में "घटस्य समुच्चयः' इतिवत् 'घटस्य च" के स्थान पर " धव-खदिरयोः समुच्चयः' इतिवत् धवस्य च खदिरस्य च" यह उदाहरण प्राप्त होता है।

तीसरा दोष यह है कि 'घटं पटं च पश्य' इत्यादि प्रयोगों में 'घट' शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति प्राप्त होगी क्योंकि यहाँ विवक्षित अर्थ यह है कि 'घट और पट

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(घट के समुच्चय से युक्त पट) को देखो'। इस प्रकार 'घट' तथा 'च' में विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध है—'घट' विशेषण है तथा 'च' विशेष्य है—घट-विशिष्ट जो समुच्चय उससे युक्त जो पट उसे देखो ('घट-समुच्चयवन्तं पटं पश्य')। इस रूप में, 'घट' का अन्वय 'पश्य' क्रिया के साथ न होकर 'च' के साथ होने के कारण, 'घट' में षष्ठी विभक्ति होनी चाहिये।

यह तीसरा दोष वैयाकरणभूषणसार में नहीं मिलता। साथ ही परमलघुमंजूषा के भी कुछ संस्करणों में नहीं मिलता। परन्तु उत्तर पक्ष की "किंच घटं पटं च पश्य' इत्यादौ 'घटम्' इत्यस्य क्रियायामेव अन्वयः" इत्यादि पंक्तियों को देखने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि यहाँ पलम० के पूर्वपक्ष में "घटं पटं च पश्य' इत्यादौ षष्ठ्यापत्तेश्च" इतना पाठ भी अवश्य रहा होगा। अन्यथा उत्तर पक्ष की उपरिनिर्दिष्ट पंक्तियों की संगति नहीं लगती।

वैयाकरणों के मत में ये दोष इसलिये उपस्थित नहीं होते कि वे 'उपसर्गों' के समान 'निपातों' को भी अर्थ का द्योतक ही मानते हैं, अर्थात् 'निपात' के साथ उच्चरित पद ही, अपने अर्थ के साथ-साथ, 'निपात' पदों से द्योतित होने वाले भिन्न-भिन्न अर्थों का भी वाचक बन जाता है। इसलिये 'च' शब्द 'समुच्चय' अर्थ का वाचक न होकर उसका द्योतक मात्र है। 'समुच्चय' अर्थ का वाचक तो स्वयं 'शोभनः' ही है। अतः एक पद के द्वारा ही दोनों अर्थों को उपस्थित कर देने के कारण 'शोभनः' के साथ 'च' का विशेष्य-विशेषण रूप से अन्वय नहीं हो सकता। 'शोभनः समुच्चयः' प्रयोग तो इसलिये साधु है कि 'समुच्चयः' शब्द जिस अर्थ (संग्रह) का वाचक है उसके साथ 'शोभनः' का विशेष्य-विशेषणरूप से अन्वय हो जाता है। यहाँ 'शोभनः' विशेष्य है तथा 'समुच्चयः' विशेषण।

इसी तरह 'घटस्य समुच्चयः' के समान 'घटस्य च' प्रयोग भी इसलिये साधु नहीं हो सकता कि यहाँ भी समुच्चय अर्थ को स्वयं 'घट' शब्द ही अपने वाच्य अर्थ के रूप में प्रकट कर देता है—'च' निपात तो केवल उसका द्योतन मात्र करता है। इसलिये 'घटश्च' प्रयोग ही व्युत्पन्न हो सकता है। वस्तुतः 'घटश्च' प्रयोग में दो प्रातिपदिकार्थ होते ही नहीं, जिनका भेद-सम्बन्ध दिखाने के लिये षष्ठी विभक्ति लायी जाये, जबकि 'घटस्य समुच्चयः' प्रयोग में दो प्रातिपदिकार्थ हैं जिनमें भेद-सम्बन्ध दिखाने के लिये षष्ठी विभक्ति का प्रयोग आवश्यक है।

इसी प्रकार 'घटं पटं च पश्य' इस प्रयोग में भी 'घट' का 'च' के साथ अन्वय न होने, अपितु सीधे क्रिया ('पश्य') के साथ अन्वय होने, के कारण वैयाकरणों के मत में तो 'घट' के साथ द्वितीया विभक्ति ही आ सकती है।

**[कौण्डभट्ट के आक्षेपों की निस्सारता]**

तन्न। शब्द-शक्तिस्वभावेन निपातैः स्वार्थस्य पर-विशेषणत्वेनैव बोधनेन विशेषणान्वयाप्रसङ्गात्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'च'-शब्दद्योत्य[1]-समुच्चयस्य असत्त्व-भूतत्वात् षष्ठ्य-प्राप्तेश्च। किंच 'घटं पटं च पश्य' इत्यादौ घट[2]-पदस्य घट-प्रतियोगिक-समुच्चयवति अप्रसिद्धा शक्तिरेव लक्षणा। 'च'-शब्दस्तु तात्पर्यग्राहकः। अतएव उभयोः सामानाधिकरण्येन क्रियान्वयाद् द्वितीया। 'घट'-समुच्चयवन्तं पटं पश्य' इति बोधः। [3]समुच्चयस्य प्रतियोग्याकाक्षायां सन्निहितत्वाद् 'घटस्य' प्रतियोगित्वम् पटे तु समुच्चयस्य भेदेन अन्वयो न तु पटस्य समुच्चये इति क्व षष्ठ्यापादनम्। "नामार्थयोरभेदान्वय०"-व्युत्पत्तिस्तु[4] निपातातिरिक्तविषया।

वह (कौण्डभट्ट आदि का कथन) ठीक नहीं है क्योंकि शब्द की शक्ति के स्वभाव के कारण 'निपात' अपने अर्थ को अन्य शब्दों के विशेषण के रूप में ही प्रकट करते हैं। इसलिये 'च' आदि ('निपातों') का पुनः विशेषणों (शोभनः' आदि) के साथ अन्वित होने का प्रसंग ही नहीं है। और 'च' 'निपात' के द्योत्य अर्थ 'समुच्चय' के द्रव्य न होने के कारण षष्ठी (विभक्ति) की प्राप्ति भी नहीं है। तथा 'घटं पटं च पश्य' (घड़े तथा वस्त्र को देखो) इत्यादि (वाक्यों) में 'घट' इस पद को, घट के (घट-प्रतियोगिक) समुच्चय से युक्त, पट में अप्रसिद्धा शक्ति अथवा 'लक्षणा' माननी चाहिये। 'च' निपात तो ('घट' शब्द के इस विशिष्ट) तात्पर्य का द्योतक (मात्र) है। इसलिये दोनों ('घट' तथा 'पट') का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से क्रिया ('पश्य') के साथ अन्वय होने के कारण दोनों ('घट' तथा 'पट') शब्दों के साथ द्वितीया (विभक्ति) होती है। (इसी कारण इस वाक्य से) 'घट सहित पट को देखो' यह बोध होता है। 'समुच्चय' (सहित का भाव) के प्रतियोगी की 'आकांक्षा' होने पर, समीप में स्थित होने के कारण 'घट' को ही प्रतियोगी माना जायगा। 'पट' में तो 'समुच्चय' (सहितता) का भेद सम्बन्ध से ही अन्वय होगा, न कि 'समुच्चय' में 'पट' का। इसलिये षष्ठी विभक्ति की उपस्थिति कहाँ हो सकती है? "दो प्रातिपदिकार्थों में अभेद-सम्बन्ध से अन्वय होता है" यह व्युत्पत्ति (नियम) तो निपातों से भिन्न विषय वाली है।

---

१. निस० तथा काप्रशु० में—'च शब्द-द्योत्य''' '''असत्त्वभूतत्वात्" यह अंश अनुपलब्ध है।

२. निस० तथा काप्रशु० में "घटपदस्य '''द्वितीया" यह अंश भी अनुपलब्ध है। इस के स्थान पर वहां "घटम्' इत्यस्य क्रियापदम् एवान्वयः। अतः एव ततो द्वितीया" इतना ही पाठ मिलता है।

३. निस० तथा काप्रशु०—घटं।

४. वंमि० में 'त्वन्मतेऽपि' इतना अधिक है।

५. ह० में इसके बाद 'वाच्यार्थम् आदाय' इतना अधिक है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषणसार में, निपातों को अर्थ का वाचक मानने वाले, नैयायिकों पर जो उपर्युक्त आक्षेप किये हैं वे नागेशभट्ट की दृष्टि में बहुत युक्तियुक्त नहीं हैं। इसलिये उनका निराकरण करते हुए नागेश ने उन्हें यहाँ अनुचित ठहराया है।

**शब्द-शक्ति-स्वभावेन ··· अप्रसंगात्**—कौण्डभट्ट ने नैयायिकों के मत में जितने भी दोष दिखाये हैं वे इस मान्यता पर निर्भर हैं कि 'निपातों' के अर्थों का विशेषण के साथ सम्बन्ध होता है। परन्तु नागेश के अनुसार उनकी यह मान्यता ही ठीक नहीं है क्योंकि शब्दों का अपना अपना अलग अलग स्वभाव होता है तथा अपने स्वभाव के अनुकूल ही उनसे अर्थ की भिन्न भिन्न रूप में प्रतीति होती है। इसके लिये शब्द-स्वभाव के अतिरिक्त कोई अन्य कारण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। उदाहरण के लिये एक ही 'पचन' क्रिया 'पाक' शब्द के द्वारा 'सिद्ध' या निष्पन्न रूप में कही जाती है परन्तु 'पचति' शब्द के द्वारा वही 'साध्य' या अनिष्पन्न रूप में प्रकट की जाती है। इसी प्रकार 'निपात' शब्द भी स्वभावतः ऐसे हैं कि वे सदा ही दूसरे शब्दार्थ के विशेषण के रूप में ही सुसंगत हो पाते हैं—विशेष्य के रूप में नहीं। इस प्रकार—केवल विशेषण के रूप में ही उपस्थित होने के कारण—निपातों का किसी दूसरे विशेषण के साथ अन्वित होने की बात ही नहीं उठती।

**'च'-शब्द-द्योत्य ·· षष्ठ्यप्राप्तेश्च**—एक दूसरी बात यह भी है कि 'च' निपात का द्योत्य अर्थ 'समुच्चय' है और यह अर्थ 'असत्त्वभूत' है, अर्थात् द्रव्य नहीं है (द्र०-"चादयोऽसत्त्वे" पा० १.४.५७)। इस कारण उस असत्त्वभूत अर्थ की दृष्टि से 'घट' शब्द में षष्ठी विभक्ति नहीं आ सकती। परन्तु स्वयं नागेशभट्ट की यह युक्ति भी कुछ ठोस नहीं प्रतीत होती क्योंकि 'घटस्य घटत्वम्' इत्यादि प्रयोगों में भी 'घटत्वम्' का अर्थ असत्त्वभूत ही है। परन्तु यहाँ 'घट' शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त होती ही है।

**किंच घटं पटं च ····· द्वितीया**—'घटं पटं च पश्य' इत्यादि में षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति का जो तीसरा दोष है उसमें भी, नागेश के अनुसार, कोई सार नहीं है क्योंकि इस प्रयोग में 'घट' पद का अर्थ केवल घट नहीं है अपितु उसका अर्थ है 'घट के समुच्चय से युक्त'। 'घट' शब्द के इस विशिष्ट तात्पर्य को इस शब्द की अप्रसिद्धा शक्ति, अथवा दूसरे शब्दों में लक्षणा वृत्ति, से प्रकट मानना चाहिये। ऊपर लक्षणा के प्रकरण में, लक्षणा वृत्ति का खण्डन करते हुए, नागेश उसे अप्रसिद्धा शक्ति के रूप में स्वीकार कर आये हैं। उसी दृष्टि से यहाँ अप्रसिद्धा शक्ति अथवा 'लक्षणा' वृत्ति की बात कही गयी।

इस प्रकार 'घट के समुच्चय से युक्त' इतना अर्थ 'घट' पद का है। इस प्रयोग का 'च' निपात, 'घट' शब्द के, इस विशिष्ट तात्पर्य का द्योतक मात्र है। इस कारण इस अर्थ की दृष्टि से यहाँ 'घट' तथा 'पट' दोनों ही पट अर्थ को कह रहे हैं—दोनों का अधिकरण एक (पट) ही है। इस रूप में समान-अधिकरणता से युक्त इन दोनों 'घट' तथा 'पट' पदों का 'पश्य' क्रिया में अन्वय होता है। अतः इस वाक्य का अर्थ है—'घट के समुच्चय से युक्त पट को देखो।' इस रूप में 'घट' तथा 'पट' दोनों पदों का 'पश्य' क्रिया में अन्वय होने के कारण दोनों के साथ ही द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त होगी। इसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कारण यह है कि 'घट', 'पश्य' क्रिया का, 'कर्म' कारक है। कारक में क्रिया से अन्वित होने का धर्म तो होना ही चाहिये—उसके बिना तो कारक को कारक ही नहीं माना जा सकता। इसलिये, क्रिया में 'कर्म' कारक के रूप में अन्वित होने के कारण, 'घट' के साथ द्वितीया विभक्ति का प्रयोग ही न्याय्य है।

**समुच्चयस्य प्रतियोग्याकांक्षायां··· घटस्य प्रतियोगित्वम्**—यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'घट सहित पट को देखो' इस प्रकार के बोध में सहित (समुच्चय) का प्रतियोगी (विशेषण) कौन है, अर्थात् किसका समुच्चय है, इस प्रकार की जिज्ञासा के उपस्थित होने पर स्वभावतः 'घट' को ही समुच्चय का प्रतियोगी माना जायगा क्योंकि वह 'च' के समीप पूर्व में प्रयुक्त है। परन्तु प्रतियोगी होने पर भी 'घट' शब्द से षष्ठी विभक्ति नहीं आ सकती क्योंकि वहाँ पहले ही, पश्य' क्रिया से अन्वित होने के कारण, द्वितीया विभक्ति आ चुकी है। इसलिये प्रत्ययान्त होने के कारण, "अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" (पा० १.२.४५) सूत्र में विद्यमान 'अप्रत्ययः' निषेध से, 'घटम्' की 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं होगी और 'प्रातिपदिक' संज्ञा के अभाव में षष्ठी विभक्ति नहीं आ सकती।

**पटे तु समुच्चयस्य ···क्व षष्ठ्यपादनम्**—जहाँ तक 'पट' शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति के आने की बात है वह भी नहीं बनती क्योंकि 'पट' में तो 'समुच्चय' का भेद-सम्बन्ध (अनुयोगिता-निरूपक), या दूसरे शब्दों में विशेष्यतावच्छेदक सम्बन्ध, से अन्वय होता है। परन्तु 'समुच्चय' में 'पट' का भेद-सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यहाँ 'पट' विशेष्य तथा 'समुच्चय' विशेषण है। इसलिए 'विशेष्यता-निरूपक' सम्बन्ध से 'पट' में तो 'समुच्चय' का अन्वय होता है परन्तु 'समुच्चय' में 'पट' का इसी सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता क्योंकि 'पट', 'समुच्चय' का, विशेषण नहीं है। इस प्रकार, विशेषण न होकर, विशेष्य होने के कारण 'पट' शब्द के साथ भी षष्ठी विभक्ति नहीं आ सकती, अपितु 'पश्य' क्रिया से अन्वित होने के कारण द्वितीया विभक्ति ही वहाँ भी प्रयुक्त होगी क्योंकि "विशेषण-वाचक शब्दों से षष्ठी विभक्ति होती है, विशेष्य-वाचक शब्दों से नहीं" यह सभी मानते हैं। इस तरह उपर्युक्त प्रयोग में किसी भी शब्द में षष्ठी विभक्ति नहीं उपस्थित होगी।

**प्रतियोगी तथा अनुयोगी**—'प्रतियोगी' तथा 'अनुयोगी' ये दोनों शब्द न्याय दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली के बड़े व्यापक शब्दों में से है। इन्हें हिन्दी भाषा के किसी एक शब्द द्वारा स्पष्ट करना कठिन है। परन्तु इस प्रसंग में इनके लिये क्रमशः विशेषण तथा विशेष्य शब्द से कार्य चलाया जा सकता है। इनके उदाहरण के रूप में 'राज्ञः पुरुषः' को प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ 'राजा' 'पुरुष' का 'प्रतियोगी' तथा 'पुरुष' 'राजा' का 'अनुयोगी' है।

**नामार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तिस्तु निपातातिरिक्तविषया**—एक परिभाषा है "समान-विभक्तिक-नामार्थयोर् अभेदान्वयः", अर्थात् समान विभक्ति वाले दो प्रातिपदिकार्थों में अभेदसम्बन्ध से अन्वय होता है। अतः इस नियम के होते हुए दो प्रातिपदिकार्थों, 'घट' तथा 'समुच्चय', में भेदसम्बन्ध ('घट' को विशेषण तथा 'समुच्चय' को विशेष्य,) एवं 'पट' तथा 'समुच्चय' में भेदसम्बन्ध, ('पट' को विशेष्य तथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'समुच्चय' को विशेषण) कैसे माना जा सकता है जब कि दोनों में, विभिन्न विभक्ति न होकर, समान विभक्तियाँ ही हैं।

इस आशंका का उत्तर नागेश ने यहाँ यहां दिया है कि "नामार्थयोरभेदान्वय-व्युत्पत्तिः" यह परिभाषा 'निपात' शब्दों से अतिरिक्त विषयों में उपस्थित हुआ करती है। इसलिये 'निपातों' की चर्चा करते हुए हमें इस नियम को भूल जाना चाहिये और 'घट' तथा 'समुच्चय' में विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध और 'पट' तथा समुच्चय' में विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध के रूप में भेदसम्बन्ध से अन्वय स्वीकार कर लेना चाहिये। वस्तुतः 'प्रातिपदिक' शब्द 'लिङ्ग' तथा 'संख्या' से युक्त होते हैं, परन्तु 'निपात' शब्द इस प्रकार के नहीं होते। इसलिये इनके 'प्रातिपदिक' न होने के कारण उपरिनिर्दिष्ट परिभाषा 'निपातों' के विषय में लागू नहीं होती। वैभूसा० (पृ० ३७७-७८) में इस बात का खण्डन किया गया है।

इस रूप में 'निपातों' की वाचकता के मत में कौण्डभट्ट द्वारा दिखाये गये दोषों का नागेश ने अपनी उपर्युक्त युक्तियों से खण्डन तो कर दिया पर 'सकर्मकत्व' आदि के विषय में उपर्युक्त अव्यवस्था को देखते हुए 'निपातों' को द्योतक ही मानना चाहिये यह नागेशभट्ट का अभिप्राय है।

**[द्योतक होने पर भी निपात सार्थक हैं, अनर्थक नहीं]**

निपातानाम् अर्थवत्त्वम् अपि द्योत्यार्थम् आदायैव। शक्ति-लक्षणा-द्योतकतान्यतम[1]-सम्बन्धेन बोधकत्वस्यैव अर्थवत्त्वात्। नञ्समासे 'उत्तरपदार्थ-प्राधान्यम्' द्योत्यार्थापेक्षया एव।

द्योत्य अर्थ के आधार पर ही 'निपातों' की अर्थवत्ता है क्योंकि 'अभिधा', 'लक्षणा' तथा 'व्यंजना में से किसी एक सम्बन्ध से (अर्थ का) बोधक शब्द अर्थवान् होता है। नञ्समास में 'उत्तर पद' के अर्थ की प्रधानता ('नञ्' निपात के) द्योत्य अर्थ की दृष्टि से ही है।

**निपातानाम्.....आदायैव** :—'निपातों' को अर्थ का द्योतक मानने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि 'निपात' शब्द अर्थवान् नहीं हैं। द्योत्य अर्थ के आधार पर भी 'निपात' सार्थक माने जा सकते हैं क्योंकि शब्द को सार्थक मानने के लिये यह आवश्यक नहीं है वह अभिधा वृत्ति से ही अर्थ को प्रकट करे। 'अभिधा', 'लक्षणा' तथा 'व्यंजना' ('द्योतकता') इनमें किसी भी वृत्ति के द्वारा यदि शब्द अभीष्ट अर्थ को प्रकट करता है तो उस शब्द को अर्थवान् माना जायगा। इसलिये द्योतक होने पर भी 'निपात' शब्दों की सार्थकता समाप्त नहीं होती।

---

१. ह०—अन्यतर—।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**नञ्समासे** '' **उत्तर-पदार्थ-प्राधान्यम्** :— 'निपातों' के सार्थक मानने के कारण ही नञ्समास में 'नञ्' निपात से द्योत्य अर्थ के विशेषण (अप्रधान) होने से उत्तरपद के अर्थ की विशेष्यता (प्रधानता) मानी जाती है। यदि पूर्वपद के रूप में विद्यमान 'नञ्' का कोई अर्थ ही न हो, उसे सर्वथा अनर्थक माना जाय, तो किस पद की अपेक्षा उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता स्वीकार की जायगी ? जैसे—'अब्राह्मणः' का अर्थ है जो वस्तुतः ब्राह्मण तो नहीं है पर ब्राह्मण के सदृश है, उसमें किसी गुण आदि के कारण ब्राह्मणत्व आरोपित है। यहाँ 'सादृश्य' या 'आरोपितत्व' अर्थ 'नञ्' निपात का, जो समास का पूर्वपद है, द्योत्य अर्थ है। 'नञ्' का यह अर्थ समास के उत्तरपद 'ब्राह्मणः' के अर्थ का विशेषण है। इसलिये उत्तरपद ('ब्राह्मणः') का अर्थ प्रधान हुआ।

**द्र०—नञ्समासे चापरस्य द्योत्यम् प्रत्येव मुख्यता।**
**द्योत्यमेवार्थमादाय जायन्ते नामतः सुपः ॥ (वैभूसा० पृ० ३८५)**

**[''उपसर्ग अर्थों के द्योतक हैं'' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन]**

'प्रतिष्ठते' इत्यत्र 'तिष्ठतिः' एव गति-वाची धातूनाम् अनेकार्थत्वात्[1]। 'प्र'-शब्दस्तु तदर्थ-गत्यादित्वस्य[2] द्योतकः। अतएव ''धातुः पूर्वं साधनेन युज्यते पश्चाद् उपसर्गेण'' इति सिद्धान्तितम्। ('साधनेन'–) साधनं कारकम्—तत्प्रयुक्त-कार्येण। 'उपसर्गेण'—उपसर्ग-संज्ञक-शब्देन[3]। तत्र हि **भाष्ये** (६.१. १३५)—''पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन' इति[4]। नैतत् सारम्। 'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चाद् उपसर्गेण' साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति। ताम् उपसर्गो विशिनष्टि। (अभिनिर्वृत्तस्य चार्थस्य उपसर्गेण विशेषः शक्यो वक्तुम्[5])। सत्यम् एवम्[6] एतत्[7]। यस्त्वसौ धातूपसर्गयोर् अभिसम्बन्धस्तम् अभ्यन्तरं कृत्वा धातुः साधनेन युज्यते।

१. ह० में यहाँ क्रम-विपर्यय है—'तिष्ठतिरेव धातूनाम् अनेकार्थत्वाद् गतिवाची'।
२. वंमि०—गत्यादिमत्वस्य।
३. ह० में इसके बाद 'इत्यर्थः' इतना अधिक है।
४. ह० तथा वंमि० में इसके बाद 'इतर आह' इतना अधिक है।
५. यह कोष्ठकान्तर्गत पाठ पलम० में छूटा हुआ है परन्तु महा० में उपलब्ध है।
६. वंमि०—एव।
७. ह० में 'सत्यम् एवम् एतत्' यह अंश अनुपलब्ध है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अवश्यं चैतद् एवं विज्ञेयम्[1]। यो हि मन्यते पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, पश्चाद् उपसर्गेण[2] इति तस्य 'आस्यते गुरुणा' इत्यकर्मकः, 'उपास्यते गुरुः' इति केन[3] सकर्मकः स्यात्" इति।

'प्रतिष्ठते' (प्रस्थान करता है अथवा जाता है) यहाँ ('गति-निवृत्ति' अर्थ वाली) 'स्था' (धातु) ही "धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण" 'गति' अर्थ का वाचक है। 'प्र' शब्द तो उस ('स्था' धातु) के अर्थ—'गति का आरम्भ'—का द्योतक है। इसीलिये ('उपसर्गों' के अर्थ-द्योतक होने के कारण) "धातुः पूर्वं साधनेन युज्यते पश्चाद् उपसर्गेण" (धातु पहले साधन से युक्त होती है उसके बाद 'उपसर्ग' से) यह सिद्धान्त बनाया गया। 'साधन' (का अभिप्राय) है 'कारक', (अर्थात्) उस ('कारक') से प्रयुक्त कार्य ('लट्, आदि)। 'उपसर्गेण' (इस पद का अभिप्राय है) 'उपसर्ग' संज्ञा वाले ('प्र', 'परा' आदि) शब्द। इस प्रसंग में महाभाष्य में यह कहा गया है कि "पहले धातु 'उपसर्ग' से युक्त होती है बाद में 'कारक' से। यह कथन सत्य नहीं है। 'धातु' पहले 'साधन' से युक्त होती है बाद में 'उपसर्ग' से क्योंकि 'कारक' (स्व-प्रयुक्त 'लट्' आदि के द्वारा) क्रिया को बनाता है (उसका 'साध्य' रूप से बोध कराता है)। उस ('साध्य' रूप से ज्ञात क्रिया) को 'उपसर्ग' (अपने द्योत्य अर्थ के द्वारा) विशेष अर्थ से युक्त करता है। (अभिनिष्पन्न अर्थ की विशेषता को ही उपसर्ग के द्वारा कहा जा सकता है)। इसी रूप में यह (बात) सत्य है। परन्तु वह जो 'धातु' तथा 'उपसर्ग' का बाद में होने वाला अभिसम्बन्ध है उसको अपने अन्दर समाविष्ट कर के (उस अर्थ को प्रकट करते हुए) 'धातु' 'कारकों' से युक्त होती है। इस बात को इसी रूप में अवश्य मानना चाहिये क्योंकि जो यह मानता है कि पहले 'धातु' ('उपसर्ग' के सम्बन्ध से द्योत्य अर्थ को अपने अन्दर समाविष्ट किये बिना ही) 'साधन' ('कारक') से युक्त होती है बाद में 'उपसर्ग' से (धातु का सम्बन्ध होता है और तब 'उपसर्ग' विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है), उसके मत में 'आस्यते गुरुणा' (गुरु बैठता है) यह 'अकर्मक' प्रयोग 'उपास्यते गुरुः' (गुरु की उपासना या पूजा की जाती है) इस रूप में 'सकर्मक' कैसे होगा"?

ऊपर कहा जा चुका है कि नैयायिक 'निपातों' को, उनसे प्रकट होने वाले, अर्थों का वाचक मानते हैं तथा 'उपसर्गों' को द्योतक। परन्तु वैयाकरण, विशेषतः नवीन वैयाकरण, दोनों को समान रूप से अर्थ का द्योतक मानते हैं। जहाँ तक 'उपसर्गों' की अर्थ-द्योतकता की बात है ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल से यह विवाद चलता आ रहा है कि 'उपसर्ग' अर्थ के वाचक हैं या द्योतक। यास्क के निरुक्त (१।३) में इस विषय में दो रोचक मतों की चर्चा मिलती है। वैयाकरणों में प्रतिष्ठित आचार्य

१. ह० में 'अवश्यं चैतद् एवं विज्ञेयम्' यह अंश भी अनुपलब्ध है।

२. ह० तथा वभि० में "पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चाद् 'उपसर्गेण' इति" यह अंश अनुपलब्ध है।

३. ह० में अनुपलब्ध है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



शाकटायन 'उपसर्गों' को अर्थ का द्योतक मानते थे—"न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायनः नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति" (उपसर्ग स्वतंत्र रूप से अर्थों को, अपने वाच्यार्थ के रूप में नहीं कहते अपितु 'प्रातिपदिकों' तथा 'धातुओं' के विशिष्ट अर्थों के संयोग के द्योतक होते हैं)। दूसरी ओर नैरुक्त विद्वान् गार्ग्य का मत है कि 'उपसर्ग' अर्थों के वाचक होते हैं—"उच्चावचाः पदार्था भवन्ति इति गार्ग्यः"। वस्तुतः वेद-मंत्रों में ऐसे अनेक स्थल मिल जाते हैं जहाँ स्वतंत्र रूप से 'उपसर्ग' अर्थों के वाचक दिखाई देते हैं। बाद की भाषा में 'उपसर्गों' का स्वतंत्र रूप से अर्थाभिधान-सामर्थ्य प्रायः नहीं दिखाई देता। इसलिये पतंजलि तथा भर्तृहरि इत्यादि, पाणिनीय-व्याकरण के मूर्द्धाभिषिक्त विद्वान्, 'उपसर्गों' की अर्थ-द्योतकता-पक्ष के ही प्रबल समर्थक हैं।

**'प्रतिष्ठते' इत्यत्र ·····द्योतकः**—'निपातों' की द्योतकता की सिद्धि के पश्चात् 'उपसर्गों' की द्योतकता के प्रबल प्रतिपादन के लिये नागेश ने यह प्रसंग आरम्भ किया है। 'प्रतिष्ठते' का उदाहरण इस चर्चा का उपक्रम है। 'स्था' 'धातु' का अर्थ पाणिनीय धातुपाठ में 'गति-निवृत्ति' अथवा 'गतिरहितता' माना गया है। इसीलिये तिष्ठति' का अर्थ 'गतिरहित हो कर ठहरना' है। परन्तु 'प्रतिष्ठते' का अर्थ 'प्रस्थान करना'—गति, गमन अथवा यात्रा का आरम्भ करना—है। इन 'तिष्ठति' तथा 'प्रतिष्ठते' के अर्थों में स्पष्टतः पर्याप्त अन्तर है। इसलिये अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'प्रतिष्ठते' में 'गमन' अर्थ 'प्र' 'उपसर्ग' का ही है। महाभाष्यकार पतंजलि ने इस अन्वय-व्यतिरेक की बात को निम्न शब्दों में प्रकट किया है :—'इह तर्हि व्यक्तम् अर्थान्तरं गम्यते 'तिष्ठति' 'प्रतिष्ठते' इति। 'तिष्ठति' इति व्रजि-क्रियायाः निवृत्तिः। 'प्रतिष्ठते' इति व्रजि-क्रिया गम्यते। ते मन्यामहे उपसर्गकृतम् एतद् येन अत्र व्रजि-क्रिया गम्यते" (महा० १. ३. १.)।

परन्तु पतंजलि ने स्वयं ही इस प्रसंग में आगे चलकर स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। वस्तुतः 'धातुएं' अनेक अर्थ वाली होती हैं :—'धातुओं' के जिन अर्थों का निर्देश धातुपाठ में मिलता है वह केवल उपलक्षण के रूप में प्रधान या प्रसिद्ध अर्थों का ही निर्देश समझना चाहिये। अर्थ-निर्देश करने वाले आचार्य ने इस प्रवृत्ति का ज्ञापन स्वयं धातु पाठ में ही कर दिया है जिसके प्रमाण ऊपर दिये जा चुके हैं। 'धातुओं' की इस अनेकार्थकता के सिद्धान्त के कारण ही, 'धातुओं' से किसी भी रूप में प्रकट होने वाले अर्थों को 'धातुओं' का ही वाच्यार्थ मान लिया गया। इसलिये 'प्र' के संयोग से 'स्था धातु' के द्वारा जो अर्थ प्रकट होता है वह 'स्था धातु' का ही है 'प्र' तो उसका द्योतन मात्र करता है। 'उपसर्गों' की द्योतकता का यह सबसे बड़ा हेतु है। यदि अन्वय व्यतिरेक के आधार पर 'प्र' स्वयं 'गति' अर्थ को कह सकता है तो वह पृथक् स्वतंत्र रूप में उस अर्थ को क्यों नहीं कहता। पतंजलि के निम्न शब्दों में यही आशय सन्निहित है :—

"बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति इति। तद्यथा 'वपिः' प्रकिरणे दृष्टः छेदने चापि वर्तते—'केशश्मश्रु वपति' इति। 'ईडिः' स्तुतिचोदनायाञ्चासु दृष्टः, प्रेरणे चापि वर्तते 'अग्निर्वा इतो वृष्टिम् ईट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति'। ·····एवम् इहापि तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियाम् आह तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियाया निवृत्तिम्" (महा० १.३.१)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**अतएव ... केन सकर्मकः स्यात्** :—'उपसर्गों' की द्योतकता की सिद्धि के लिये ही नागेश ने महाभाष्य के एक सिद्धान्त को यहां प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। वह सिद्धान्त है—"धातु' का सम्बन्ध पहले कारकों से होता है उसके बाद 'उपसर्गों' से होता है"। "उपपदम् अतिङ्" (पा० २.२.१८) तथा "सुट् कात् पूर्वः" (पा० ६.१.१३५) इन दोनों सूत्रों के भाष्य में इस सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। परन्तु जिन पंक्तियों को यहां उद्धृत किया गया है वे "सुट्कात् पूर्वः" के भाष्य से ली गयी हैं।

इस सिद्धान्त का आशय यह है कि 'धातु' का सम्बन्ध पहले, 'कारकों' को कहने वाले, 'लट्' आदि से होता है क्योंकि ये 'लकार' क्रिया को साध्य के रूप में प्रस्तुत करके क्रिया के क्रियात्व की निष्पत्ति करते हैं। जब 'धातु' के द्वारा 'लट्' आदि की सहायता से क्रिया की 'साध्यत्वेन' प्रतीति हो जाती है तब उसके पश्चात् 'धातु' का 'उपसर्ग' शब्दों के साथ सम्बन्ध होता है। इसके विपरीत यह नहीं माना जा सकता कि 'धातु' का सम्बन्ध पहले 'उपसर्ग' से होता है फिर बाद में 'कारक'-प्रयुक्त लट्' आदि से क्योंकि यदि इस बात को मान लिया जाय तो 'प्रत्येति', 'प्रत्ययः' या 'णेरध्ययने वृत्तम्' (पा० ७.२.२६) सूत्र का 'अध्ययन' इत्यादि अनेक प्रयोगों की सिद्धि नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि इन प्रयोगों में 'इ' धातु का 'कारक' प्रयुक्त 'प्रत्ययों' से सम्बन्ध होकर 'एति', 'अयः' 'अयनम्' इत्यादि शब्दों की निष्पत्ति के पश्चात् उनके साथ 'उपसर्ग' का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। यदि 'उपसर्गों' के साथ 'धातु' को पहले सम्बद्ध कर दिया जाय तो इन प्रयोगों में, यण् सन्धि न होकर, सवर्णदीर्घ सन्धि होगी तथा अनेक अनिष्ट प्रयोगों की सृष्टि होगी।

"पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन" इस पंक्ति का 'उपसर्गेण' शब्द भी विशेष महत्त्व का है। 'उपसर्गेण' का अर्थ है 'प्र', 'परा' आदि केवल 'उपसर्ग'-शब्द। इन 'उपसर्गों' के अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं हैं। अभिप्राय यह है कि इस नियम के अनुसार यह ठीक है कि 'धातु' के साथ 'उपसर्ग' शब्दों का सम्बन्ध बाद में होता है। परन्तु 'धातु' के जिस विशिष्ट अर्थ का प्रदर्शन या द्योतन (बाद में 'धातु' के साथ सम्बद्ध होकर) ये 'प्र' आदि उपसर्ग कराया करते हैं उन अर्थों को, 'उपसर्ग' शब्दों के सम्बन्ध से पहले ही, अपने अन्तर्गत करके, अपने में समविष्ट करके, 'धातु' 'कारक'-प्रयुक्त 'लट्' आदि 'प्रत्यों' से युक्त होता है और उसके बाद 'लट्' आदि 'प्रत्ययों' से युक्त 'धातु' के साथ 'उपसर्ग' शब्दों का सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'धातु' में वे अर्थ पहले से ही विद्यमान रहते हैं जिनका द्योतन बाद में 'धातु' से सम्बद्ध होने वाले 'उपसर्ग' किया करते हैं। यदि कोई यह कहे कि 'उपसर्ग' का अभिप्राय 'प्र' आदि शब्द तथा उनके अर्थ दोनों से ही है तथा 'धातु' का 'लट्' आदि से सम्बन्ध हो जाने के बाद ही 'उपसर्ग' शब्द और उनके अर्थ दोनों ही 'धातु' से सम्बद्ध होते हैं तो इस प्रश्न का उत्तर देना होगा कि 'आस्यते गुरुणा' प्रयोग में अकर्मक 'आस्' धातु से 'भाव' में जब 'लकार' आ गया तो उससे 'उप' उपसर्ग के साथ सम्बद्ध होकर बनने वाले 'उपास्यते गुरुः' प्रयोग में वही 'धातु' सकर्मक कैसे हो गयी, उससे 'कर्म' में 'लकार' कहां से आ गया, वह 'धातु' तो 'अकर्मक' है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'धातुओं' को अनेकार्थक तथा 'उपसर्गों' को अर्थों का द्योतक मानने वाला तो यह कह सकता है कि 'आस्' 'धातु' 'उप' उपसर्ग के द्योत्य अर्थ को, उससे सम्बद्ध होने से पूर्व भी, अपने में समाविष्ट किये रहती है इसलिये वह 'सकर्मक' है। अतः उससे 'कर्म' में लकार आ जाता है तथा उसके बाद 'सकर्मक' 'आस्' धातु का 'उप' उपसर्ग से सम्बन्ध होता है। इस तरह उस पक्ष में कोई दोष नहीं आता।

वस्तुतः "पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चाद् उपसर्गेण" यह नियम बन ही तब पाता है यदि यह मान लिया जाय कि 'उपसर्ग' का अर्थ पहले ही 'धातु' के अर्थ में अन्तर्भूत रहा करता है। यदि इस तथ्य को समझे बिना ही इस उपर्युक्त नियम को मान लिया गया तो 'उपास्यते गुरुः' की कठिनाई का कोई समाधान नहीं दिया जा सकता। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये पतंजलि ने कहा—"यस्त्वसौ धातूपसर्गयोरभिसम्बन्धस्तम् अभ्यन्तरं कृत्वा धातुः साधनेन युज्यते"।

इसलिये यही मानना चाहिये कि 'उपास्यते गुरुः' जैसे प्रयोगों में पहले 'उपासना' आदि क्रिया रूप अर्थ की उपस्थिति वक्ता की बुद्धि में हो जाती है, फिर उसे प्रकट करने के लिये वह 'आस्' धातु का प्रयोग करना चाहता है। और क्रिया, साध्य होने के कारण, साधन की आकाङ्क्षा करती है, अतः पहले 'साधन' अर्थ की उपस्थिति और फिर उसके वाचक 'लट्' आदि 'प्रत्ययों' का धातु से सम्बन्ध होता है। इस तरह सबके बाद 'धातु' का सम्बन्ध 'उपसर्ग' से होता है क्योंकि उससे 'आस्' धातु के 'उपासना' रूप अर्थ का द्योतन होता है। यदि 'उप' को 'धातु' के साथ न जोड़ा जाय तो केवल 'आस्' धातु के प्रयोग से 'उपासना' आदि अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि सामान्यतया उससे उपासना अर्थ की प्रतिति नहीं होती। इस रूप में, 'धातु' को ही 'उपासना' अर्थ का वाचक मानते हुए 'उपास्यते गुरुः' इत्यादि प्रयोगों में धातु के 'सकर्मकत्व' की सिद्धि हो जाती है। इसी तथ्य को कैयट ने निम्न शब्दों में सुस्पष्ट किया है—पूर्वं साधनाभिधायिप्रत्ययोत्पत्तिः पश्चात् साधन-संसृष्ट एव धातुरुपसर्गेण युज्यते।···'अनुभूयते सुखम्', 'उपास्यते गुरुः' इत्यादौ धातुरेव सकर्मिकां क्रियां वक्ति उपसर्गस्तु द्योतकः (महा० प्रदीप २.१.१८)।

[उपसर्गों की अर्थ-द्योतकता के विषय में भर्तृहरि का कथन]

हरिणाप्युक्तम्—

**धातोः साधनयोगस्य भाविनः प्रक्रमाद् यथा।**
**धातुत्वं कर्मभावश्च तथान्यदपि दृश्यताम्॥** वाप० २.१८६.

**बुद्धिस्थाद् अभिसम्बन्धात्तथा धातूपसर्गयोः।**
**अभ्यन्तरीकृतो भेदः पद-काले प्रकाशते॥** वाप० २.१८८.

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अस्यार्थः—यथा भावि-साधन-सम्बन्धाश्रयणेन क्रिया-वाचित्वम् आश्रित्य धातुसंज्ञा उच्यते[1], यथा च सन्प्रत्यये चिकीर्षिते भावि इषिकर्मत्वम् आश्रित्य उपक्रमे एव इषि-कर्मत्वम् उक्तम् तथा भाव्युपसर्गसम्बन्धाद् उपक्रमे एव विशिष्टक्रियावाचकत्वं दृश्यताम्। धातूपसर्गयोः सम्बन्धं बुद्धिविषयी-कृत्य उपसर्गार्थिकृतो विशेषो धातुनैव अभ्यन्तरीकृतः पदप्रयोग-काले[2] उपसर्गसम्बन्धे सति प्रकाशते। 'श्रोतुः' इति शेषः। उपसर्ग-योगात् प्रागेव धातुनैव उपसर्गार्थं विशिष्टः[3] स्वार्थं उच्यते इति तात्पर्यम्। "पूर्वं धातुरुपसर्गेण०" इति तु तदर्थस्य धात्वर्थान्तर्भावाद् व्यवहारः।

भर्तृहरि ने भी कहा है—

"जिस प्रकार भविष्य में होने वाले कारक-सम्बन्ध के आधार पर 'धातु' की 'धातु' संज्ञा तथा ('सन्' प्रत्यय की विवक्षा से भविष्य में होने वाली 'इच्छ् धातु' को कर्मता के आधार पर 'धातु' की), 'कर्म' संज्ञा मान ली जाती है उसी प्रकार और भी (बाद में होने वाले 'उपसर्ग के सम्बन्ध से प्रारम्भ में ही 'धातु' की विशिष्ट क्रिया-वाचकता) मान लेना चाहिये।"

"और 'धातु' तथा 'उपसर्ग के बौद्धिक अभिसम्बन्ध से ('धातु' के द्वारा) अपने अन्तर्गत किया हुआ विशिष्ट अर्थ ('उपसर्ग' शब्द से युक्त 'धातु' रूप) पद(के प्रयोग) के समय (श्रोता को) ज्ञात होता है।"

इसका अर्थ है—जिस प्रकार बाद में होने वाले कारक-सम्बन्ध के आश्रय से ('कृ' आदि की) क्रियावाचकता के आधार पर (उनकी) 'धातु' संज्ञा मानी जाती है और जिस प्रकार ('धातु' के साथ) 'सन्' प्रत्यय को (संयुक्त) करने की इच्छा होने पर, भावी 'इच्छ' ('धातु') की 'कर्मता' का आश्रयण करके, प्रारम्भ में ही ('कृ' आदि 'धातु' को) 'इच्छ्' ('धातु' का) कर्म ("धातोः कर्मणः समानकर्तृ-काद् इच्छायां वा", पा० ३.१.७ इस सूत्र में) कह दिया गया, उसी प्रकार बाद में होने वाले 'उपसर्ग' के सम्बन्ध से प्रारम्भ में ही ('उपसर्ग' के द्वारा बाद में द्योत्य होने वाले अर्थ से) विशिष्ट क्रिया की वाचकता ('धातु' में) जाननी चाहिये।

१. ह० में 'धातुसंज्ञोच्यते' अनुपलब्ध।
२. ह०—पदकाले प्रयोगकाले।
३. ह०—विशिष्टस्वार्थ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'धातु' तथा 'उपसर्ग' के (पश्चात्कालिक) संयोग को बुद्धि का विषय बनाकर 'उपसर्ग' के (द्योत्य) अर्थ से उत्पन्न विशिष्ट अर्थ, जो ('उपसर्ग' सम्बन्ध से पूर्व) 'धातु के द्वारा अपने में अन्तर्भूत किया हुआ विद्यमान था, पद के उच्चारण के समय, 'उपसर्ग' का ('धातु से) सम्बन्ध होने पर, प्रकट होता है। यहां 'श्रोतुः' (श्रोता को) यह ('प्रकाशते' क्रिया के 'कर्म' के रूप में) शेष है। 'उपसर्ग' के सम्बन्ध से पहले ही, (केवल) धातु के द्वारा ही, 'उपसर्ग के (द्योत्य) अर्थ से विशिष्ट अपना (वाच्य) अर्थ कहा जाता है—यह तात्पर्य है। "पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन" (धातु पहले 'उपसर्ग' से युक्त होती है, बाद में 'कारक' से) यह व्यवहार तो इस कारण होता है कि उस ('उपसर्ग') का अर्थ 'धातु' के अर्थ में अन्तर्भूत रहता है।

वक्ता की बुद्धि में विवक्षित अर्थ की उपस्थिति पहले हो जाती है उसके बाद वह उस अर्थ को श्रोता पर प्रकट करने के लिए शब्दों का प्रयोग करता है। इस कारण, अर्थ के बौद्धिक अभिसम्बन्ध की प्राथमिक सत्ता को स्वीकार करते हुए, वैयाकरण शब्द-प्रयोग के भावी सम्बन्ध के आधार पर, अनेक कार्य करता है। इस तथ्य के प्रतिपादन के लिये नागेश ने भर्तृहरि की दो कारिकायें यहाँ उद्धृत कीं तथा उनका अर्थ भी दिया।

प्रथम कारिका में शब्द-प्रयोग के भावी-सम्बन्ध के आधार पर होने वाले, व्याकरण की प्रक्रिया के, दो दृष्टान्त दिये गये हैं तथा दूसरी कारिका में 'धातु' तथा 'उपसर्ग' का, अर्थ की दृष्टि से, बौद्धिक अभिसम्बन्ध 'उपसर्ग' के सम्बन्ध से पहले ही हो जाता है यह, बात कही गयी है।

पहला उदाहरण है—'भू' आदि शब्दों की 'धातु' संज्ञा का। 'भूवादयो धातवः' (पा० १.३.१) सूत्र के भाष्य से स्पष्ट है कि वैयाकरणों ने क्रियावाचक 'भू' आदि की 'धातु' संज्ञा मानी है। परन्तु जब तक 'भू' का सम्बन्ध 'कारकों' से नहीं होता तब तक कभी भी इनमें क्रियावाचकता आ ही नहीं सकती क्योंकि 'कारक' या दूसरे शब्दों में 'साधन' ही तो 'क्रिया' को 'क्रिया' बनाते हैं—"साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति" (महा० ६.१.१३५)। इसलिए 'कारकों' से सम्बन्ध होने के पहले 'धातुओं' की 'धातु' संज्ञा कैसे हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया जा सकता है कि भविष्य में होने वाले 'कारक'-सम्बन्ध के आधार पहले ही 'धातुओं' की संज्ञा मान ली जाती है, या दूसरे शब्दों में बुद्धि में 'कारकों' का सम्बन्ध पहले ही उपस्थित हो जाता है, इसलिये उस बौद्धिक सम्बन्ध के कारण 'धातु' की धातु संज्ञा, शाब्दिक रूप से 'कारक' के साथ सम्बन्ध हुए बिना भी, हो जाती है।

दूसरा उदाहरण है— धातुओं का, 'इच्छ् धातु' का, 'कर्म' बनना। पाणिनि के "धातोः कर्मणः समानकर्तृकाद् इच्छायां वा" (पा० ३.१.७) इस सूत्र में 'इष्' (इच्छ्) 'धातु' के 'कर्म'-भूत धातु से 'सन्' प्रत्यय' के विधान की बात कही गयी है। धातुएँ 'इष्' धातु का कर्म कब बनेंगी? जब उनसे 'सन्' प्रत्यय लाया जायगा। उससे पहले तो 'धातुएँ' 'इच्छ्' का कर्म नहीं बन सकतीं। परन्तु अर्थ की दृष्टि से पहले ही विद्यमान 'इष्' के बौद्धिक सम्बन्ध के आधार पर 'पठ्' आदि 'धातुओं' को इष् 'धातु' का कर्म मान लिया जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसी प्रकार प्रथम उपस्थित होने वाले अर्थविषयक बौद्धिक अभिसम्बन्ध तथा उसके अनुसार होने वाले भावी शब्द-सम्बन्ध के आधार पर अन्य कार्यों को भी सुसंगत माना जाता है। इन अन्य कार्यों में ही 'धातु' तथा 'उपसर्ग' के सम्बन्ध की बात भी आ जाती है। 'धातु' तथा 'उपसर्ग का बौद्धिक अभिसम्बन्ध पहले उपस्थित होता है। परन्तु उस बौद्धिक सम्बन्ध के आधार पर वक्ता की बुद्धि में विद्यमान रहने वाला विशिष्ट 'धात्वर्थ' उस समय प्रकट होता है, जब वक्ता 'उपसर्ग से युक्त 'धातु' का प्रयोग करता है। इस दृष्टि से भर्तृहरि की ही निम्न कारिका भी द्रष्टव्य है—

**प्रयोगार्हेषु सिद्धः सन् भेत्तव्योऽर्थो विशेषणैः।**
**प्राक् तु साधनसम्बन्धात् क्रिया नैवोपजायते॥** (वाप० २.१८३)

प्रयोग के योग्य 'धातुओं' में, प्रसिद्ध (या बुद्धि में विज्ञात) अर्थ (ही) विशेषणों (विशिष्ट अर्थों के द्योतक 'उपसर्गों') के द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं। (यदि 'कारकों' का पहले बौद्धिक सम्बन्ध न हो तो) 'कारकों' के सम्बन्ध से पहले तो क्रिया होती ही नहीं (फिर 'भू' आदि 'धातुओं' का क्रियात्व कैसे बनेगा ?)।

**['चन्द्र इव मुखम्' इत्यादि प्रयोगों में 'चन्द्र' आदि पदों की स्वसदृश में 'लक्षणा है'' इस कौण्डभट्ट के मत की स्थापना]**

'चन्द्र इव मुखम्' इत्यादौ 'चन्द्र' पदस्य स्वसदृशे अप्रसिद्धा शक्तिरेव[1] लक्षणा। "नञ्'-'इव'-युक्तम् अन्यसदृशाधिकरणे०" (परिभाषेन्दुशेखर, परि०सं०७५) इति न्यायात्। 'इव' पदं तात्पर्यग्राहकम्। तात्पर्यग्राहकत्वं च—'स्वसमभिव्याहृतपदस्य अर्थान्तरशक्तिद्योतकत्वम्' इति आगतम् 'इव' निपातस्य द्योतकत्वम्।

'चन्द्र इव मुखम्' (चन्द्रमा के समान मुख) इत्यादि (प्रयोगों) में 'चन्द्र' पद की 'चन्द्रसदृश' (अर्थ) में अप्रसिद्ध ('अभिधा') शक्ति रूप 'लक्षणा' है क्योंकि "नञ्-इव-युक्तम्-अन्यसदृशाधिकरणे (तथा ह्यर्थगतिः)" —'नञ्' अथवा 'इव' से युक्त (शब्द अपने से) भिन्न (पर अपने) सदृश अर्थ का बोधक होता है क्योंकि ऐसे स्थलों में इसी तरह का ज्ञान होता है"—यह न्याय है। 'इव' पद (चन्द्र पद के) इस तात्पर्य ('चन्द्रसदृश') का ज्ञापक है। 'तात्पर्यग्राहकता' (की परिभाषा) है "अपने समीप के पद की, एक दूसरे अर्थ को कहने की, शक्ति का द्योतक होना"। इस प्रकार 'इव' निपात की द्योतकता प्रमाणित हो जाती है।

वैयाकरण विद्वान् 'निपातों' को भी, 'उपसर्गों' के समान अर्थ का द्योतक ही मानते हैं वाचक नहीं यह ऊपर प्रतिपादित किया जा चुका है। इसलिये यहाँ यह विचार किया

---

१. ह०, वंमि—शक्तिरूपा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



जा रहा है कि 'इव निपात' के प्रयोग से जिस सादृश्य अर्थ की प्रतीति होती है वह 'इव' का द्योत्य अर्थ है या वाच्य अर्थ है। नैयायिक सादृश्य को 'इव' का वाच्य अर्थ मानते हैं। परन्तु कौण्डभट्ट आदि वैयाकरण ऐसा नहीं मानते। 'चन्द्र इव मुखम्' इत्यादि प्रयोगों में चन्द्र-सदृश' अर्थ का वाचक स्वयं 'चन्द्र' शब्द ही है, 'इव' निपात तो केवल इस बात का द्योतक है कि इस प्रयोग में 'चन्द्र' शब्द केवल चन्द्र अर्थ को ही प्रस्तुत नहीं करता अपितु 'चन्द्रसदृश' अर्थ को भी 'लक्षणा' के द्वारा उपस्थित करता है। वैयाकरण 'लक्षणा' वृत्ति को नहीं मानते, उसे (शक्ति अथवा अभिधा का ही एक रूप) अप्रसिद्धा शक्ति मानते हैं, इसलिये यहां भी यह कहा गया कि 'चन्द्र' पद की 'चन्द्रसदृश' अर्थ में अप्रसिद्धा शक्ति रूप 'लक्षणा' है। यह विचार कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषणसार में व्यक्त किया है। इस मत के प्रतिपादन तथा समर्थन के लिये "नञ् इव युक्तम्०" इस परिभाषा को प्रमाण के रूप में यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

**"नञ्-इव-युक्तम्०" ···गतिः**— महाभाष्यकार पतंजलि ने "भूशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः" (पा. ३.१.१२) सूत्र के भाष्य में, 'अच्वि' शब्द के विषय में विचार करते हुए, कात्यायन की "नञ्-इव-युक्तम् अन्य-सदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः" इस वार्तिक को प्रस्तुत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि जब 'नञ्' या 'इव' 'निपात' से युक्त किसी शब्द का प्रयोग होता है तो उस शब्द के अर्थ से भिन्न, परन्तु उसके सदृश, अर्थ में कार्य होता है क्योंकि इन 'निपातों' से युक्त शब्द के द्वारा ऐसा ही अर्थ-बोध होता है। उदाहरण के लिये जब यह कहा जाता है कि 'अब्राह्मणम् आनय' (अब्राह्मण को लाओ) तो ब्राह्मण सदृश, किसी क्षत्रिय आदि चेतन आदमी, को ही लाया जाता है अचेतन ढेले या पत्थर आदि को नहीं।

कात्यायन की इस वार्तिक तथा पतंजलि के द्वारा की गई उसकी व्याख्या से स्पष्ट है कि 'नञ्' के समीप में विद्यमान शब्द तथा 'इव' के समीप में विद्यमान शब्द अपने से भिन्न परन्तु अपने सदृश अर्थ का बोधक होता है। अतः 'नञ्' तथा 'इव' 'निपातों' को उस समीपस्थ शब्द में विद्यमान, सदृशविशिष्ट अर्थ को कहने वाली, अप्रसिद्ध 'अभिधा' शक्ति अथवा, नैयायिकों के शब्दों में, 'लक्षणा' का द्योतक मानना चाहिये। इसलिये 'इव' को सदृश अर्थ का द्योतक सिद्ध करने के लिये कात्यायन की इस वार्तिक का, जिसने बाद में एक न्याय का रूप धारण कर लिया (द्र०—परिभाषेन्दुशेखर, परि० सं० ७५), यहाँ उल्लेख किया गया।

**'इव' पदम्···द्योतकत्वम्**— 'चन्द्र इव मुखम्' इत्यादि प्रयोगों में 'चन्द्र' शब्द ही 'चन्द्र-सदृश' अर्थ का बोधक है इसलिये 'इव' को 'चन्द्र' शब्द के इस विशिष्ट तात्पर्य का ग्राहक या द्योतक माना जाता है। 'तात्पर्यग्राहकता' तथा 'द्योतकता' लगभग पर्याय-वाचक शब्द हैं। 'तात्पर्यग्राहकता' की परिभाषा में 'स्व' पद से यहां 'इव' आदि 'निपात' अभिप्रेत हैं। अभिप्राय यह है कि ये 'निपात' इस बात का द्योतन करते हैं कि उनके साथ अव्यवहित पूर्व में उच्चरित जो पद है वह अपने सामान्य अर्थ से भिन्न परन्तु उसके सदृश अर्थ को अप्रसिद्ध 'अभिधा' शक्ति से कहता है। यही इन 'निपातों' की 'तात्पर्यग्राहकता' (समीपस्थ शब्द के तात्पर्य का ज्ञान कराना) है। जैसे— 'चन्द्र इव मुखम्' इस प्रयोग में 'इव' निपात, अपने से अव्यवहित समीप में विद्यमान 'चन्द्र' शब्द का चन्द्रसदृश' अर्थ है इस, तात्पर्य का ग्राहक है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[" 'इव' सादृश्य अर्थ का वाचक है" इस नैयायिक मत का खण्डन]

यत्तु—"इवार्थः सादृश्यम्", तत्र प्रतियोग्यनुयोगिभावेनैव चन्द्रमुखयोरन्वयोपपत्तौ किं लक्षणया? तथा च 'चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्याश्रयो मुखम्' इति बोध इत्याहुः—तन्न। 'चन्द्र इव मुखं दृश्यते', 'चन्द्रम् इव मुखं पश्यामि' इत्यादौ 'चन्द्र'पदस्य मुखरूप-कर्म-सामानाधिकरण्याभावाद् उक्तानुक्तत्व-प्रयुक्त-विभक्त्यनापत्तेः षष्ठ्यापत्तेश्च।

(नैयायिक विद्वान्) जो यह कहते हैं कि—'इव' का वाच्य (अर्थ) 'सादृश्य' है। उस ('सादृश्य') में 'प्रतियोगी' तथा 'अनुयोगी' सम्बन्ध से ही 'चन्द्र' तथा 'मुख' के अन्वय की सिद्धि हो जाने पर ('चन्द्र' शब्द की 'चन्द्र-सदृश' अर्थ में) 'लक्षणा' मानने की क्या आवश्यकता? इस प्रकार 'चन्द्र' है" प्रतियोगी' जिसमें ऐसे सादृश्य का आश्रय मुख हैं" यह ज्ञान होता है · वह उचित नहीं है क्योंकि 'चन्द्र इव मुखं दृश्यते' (चन्द्र-सदृश मुख दिखाई देता है), 'चन्द्रम् इव मुखं पश्यामि' (चन्द्र-सदृश मुख को देखता हूं) इत्यादि (प्रयोगों) में, 'चन्द्र' शब्द का मुख रूप 'कर्म' के साथ एकाधिकरणता न होने के कारण, 'अभिहित' तथा 'अनभिहित' के आधार पर होने वाली (अभीष्ट प्रथमा तथा द्वितीया) विभक्ति नहीं प्राप्त होगी तथा (अनिष्ट) षष्ठी विभक्ति प्राप्त होगी।

**यत्तु इवार्थः·····इत्याहुः**—नैयायिक 'इव' को 'सादृश्य' अर्थ का, द्योतक न मान कर, वाचक मानते हैं। उनका यह कहना है कि 'इव' के वाच्य अर्थ 'सादृश्य' में 'चन्द्र' 'प्रतियोगी' है तथा 'मुख' 'अनुयोगी' है, अर्थात् 'चन्द्र इव मुखम्' इस वाक्य का अर्थ ऐसा 'सादृश्य' है जिसमें 'चन्द्र' 'प्रतियोगी' (एक तरह से विशेषण) है तथा 'मुख' 'अनुयोगी' (एक तरह से विशेष्य)। इस रूप में 'चन्द्र' में विद्यमान जो 'प्रतियोगिता' उसका निरूपक जो सादृश्य उसका आश्रय मुख—इस प्रकार का अन्वय, बिना 'लक्षणा' की कल्पना किये ही, हो जाता है। इसलिये 'इव' को तात्पर्यग्राहक मानने तथा 'चन्द्र' जैसे पदों में लक्षणा का सहारा लेने की क्या अवश्यकता? लाघव की दृष्टि से 'इव' को ही वाचक क्यों न माना जाय।

**तन्न·····षष्ठ्यापत्तेश्च**—नैयायिकों के इसी अभिमत का खण्डन नागेश ने इस अंश में किया है। नैयायिकों के मत के खण्डन में नागेश ने जो युक्ति दी है वह यह है कि इस मत को मानने से अनेक प्रयोगों में 'अभिहित' एवं 'अनभिहित' सम्बन्धी अव्यवस्था उपस्थित होती है। इसलिये, व्याकरण की प्रक्रिया को देखते हुए, यह मत कथमपि मान्य नहीं हो सकता। इस अव्यवस्था के दृष्टान्त के रूप में यहां दो प्रयोग प्रस्तुत किये गए हैं—'चन्द्र इव मुखं दृश्यते' तथा 'चन्द्रम् इव मुखं पश्यामि'। प्रथम प्रयोग में 'चन्द्र' तथा 'मुख' दोनों प्रथमा विभक्ति से युक्त हैं तो दूसरे में द्वितीया विभक्ति से।

अब यदि 'इव' को 'सादृश्य' अर्थ का वाचक माना जाय तो उपरि निर्दिष्ट वाक्यों में 'मुख' की 'चन्द्र' के साथ एकाधिकरणता नहीं बन पाती क्योंकि 'इव'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



के वाच्यार्थ भूत 'सादृश्य' में 'चन्द्र-पदार्थ' प्रतियोगी (विशेषण) बन गया। और "एकत्र विशेषणं नापरत्र" (एक स्थान पर, अर्थात् 'सादृश्य' में, विशेषण बनकर पुनः वह 'चन्द्र-पदार्थ' अन्यत्र, अर्थात् मुख में, विशेषण नहीं बन सकता) इस नियम से 'चन्द्र' तथा 'मुख' में विशेष्यविशेषणभाव न बन सकने से दोनों में समान-अधिकरणता नहीं होगी। समान-अधिकरणता न होने के कारण 'लकार' ('इश्यते') के द्वारा 'चन्द्र' शब्द 'अभिहित' नहीं हो सकेगा। इसलिये प्रथम प्रयोग में 'अनभिहित' होने के कारण 'चन्द्र' में प्रथमा विभक्ति नहीं प्रयुक्त हो सकेगी क्योंकि अभिहित 'कर्त्ता' में ही प्रथमा विभक्ति होती है। इसी प्रकार दूसरे प्रयोग में, 'मुख' तथा 'चन्द्र' की समान-अधिकरणता न होने से, लकार ('पश्यामि') के द्वारा 'चन्द्र' के अनभिहित न होने के कारण द्वितीया विभक्ति नहीं हो सकती क्योंकि 'अनभिहित' कर्म में ही द्वितीया विभक्ति होती है।

इसके अतिरिक्त, 'इव' के अर्थ 'सादृश्य' का 'प्रतियोगी' (विशेषण) होने तथा इस रूप में 'चन्द्र' तथा 'इव' में भेदसम्बन्ध के होने के कारण, 'चन्द्र' के साथ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा क्योंकि दो नामार्थों में भेद सम्बन्ध के प्रतिपादन के लिये विभिन्न विभक्ति का आश्रयण करना ही पड़ता है—"नामार्थयोर्भेदेन साक्षाद् अन्वयबोधोऽव्युत्पन्नः"। अतः यहां 'राज्ञः पुरुषः' के समान विशेषणभूत 'चन्द्र' शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति ही आनी चाहिये। कौण्डभट्ट ने इसी प्रकार के दोष, 'इव' की सादृश्यार्थ-वाचकता की दृष्टि से, 'शरैः इव उल्लैः' इत्यादि प्रयोगों में दिखाये हैं (द्र०—वैभूसा०, पृ० ३८०–८३)।

**['इव' के द्योत्य अर्थ के विषय में नागेश का मत]**

परे तु 'इव' शब्दस्य उपमानता-द्योतकत्वम्। उपमानत्वं च उपमानोपमेयोभय-निष्ठ-साधारण-धर्मवत्त्वेन ईषद् इतर-परिच्छेदकत्वम्। तद्-धर्मवत्तया परिच्छेद्यत्वं च उपमेयत्वम्। साधारण-धर्म-सम्बन्धश्च क्वचिद्[1] विशेषणतया अन्वेति क्वचिद् विशेष्यतया। एवं 'चन्द्र इव आह्लादकं[2] 'मुखम्' इत्यादौ 'आह्लादकोपमानभूतचन्द्राभिन्नम् आह्लादकं मुखम्' इति बोधः। 'चन्द्र इव मुखम् आह्लादयति' इत्यादौ च 'उपमान-भूत-चन्द्र-कर्तृक- आह्लादाभिन्नो मुखकर्तृकाह्लादः' इति बोधः। इदम् "उपमानानि सामान्यवचनैः" (पा० २.१.५५) इत्यत्र **भाष्ये** स्पष्टम्।

---

१. पलम० के प्रकाशित संस्करणों में यहां विपरीत क्रम मिलता है :—'क्वचिद् विशेष्यतया अन्वेति क्वचिद् विशेषणतया'। परन्तु बाद के उदाहरणों के क्रम को देखते हुए ऊपर का पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। हस्तलेखों में भी उपरिनिर्दिष्ट क्रम ही उपलब्ध है।

२. ह० में यह पद अनुपलब्ध है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



दूसरे (विद्वान्) 'इव' शब्द को 'उपमानता का द्योतक मानते हैं। उपमानता (का अभिप्राय) है 'उपमान' तथा 'उपमेय' दोनों में रहने वाले 'सामान्य धर्म' के सम्बन्ध से, कुछ न्यून (साधारण) धर्म वाले दूसरे ('उपमेय') का बोधक होना तथा 'उपमेयता' है उस 'सामान्य धर्म' के सम्बन्ध से बोध्य होना।

'साधारण धर्म' का सम्बन्ध कहीं (उन प्रयोगों में जहाँ 'साधारण धर्म' का वाचक शब्द सुबन्त पद है) विशेषण रूप से तथा कहीं (उन प्रयोगों में जहाँ 'साधारण धर्म' का वाचक शब्द तिङन्त या क्रियापद है) विशेष्य रूप से अन्वित होता है।

इस प्रकार 'चन्द्र इव आह्लादकं मुखम्' (चन्द्र के समान आनन्दप्रद मुख) इत्यादि (प्रयोगों) में "आनन्द देने वाले 'उपमान'-भूत चन्द्र से अभिन्न मुख" यह ज्ञान होता है। 'चन्द्र इव मुखम् आह्लादयति' (चन्द्र के समान मुख आनन्दित करता है) इत्यादि (प्रयोगों) में "उपमान'-भूत चन्द्र है 'कर्ता' जिस आनन्द का उससे अभिन्न एवं मुख है 'कर्त्ता' जिसका ऐसा आनन्द" यह बोध होता है! यह (विषय) "उपमानानि सामान्य-वचनैः" इस (सूत्र) के भाष्य में स्पष्ट किया गया है।

**परे तु उपमेयत्वम्**—यहां 'परे तु' कह कर नागेश ने संभवतः स्व-सम्मत मत ही प्रस्तुत किया है। इस मत में 'इव' को, 'सदृश' अर्थ का द्योतक न मानकर, 'उपमानता' का द्योतक माना गया है। 'उपमानता' के इस प्रसंग में 'उपमान', 'उपमेय' तथा 'साधारण धर्म' की भी चर्चा की गई है। 'साधारण धर्म' 'उपमान' तथा 'उपमेय' दोनों में ही रहता है 'उपमान' में उसकी अधिकता होती है तथा 'उपमेय' में कुछ न्यूनता। इस 'साधारण धर्म' के सम्बन्ध से ही 'उपमान' 'उपमेय' का बोध कराता है तथा 'उपमेय' 'उपमान' द्वारा बोध्य बनता है।

**साधारणधर्मसम्बन्धश्च'''बोधः**—यह 'साधारण धर्म' विशेषण तथा विशेष्य इन दो भिन्न-भिन्न रूपों में उपस्थित होता है। कहीं वह विशेषण के रूप में दिखाई देता है तो कहीं विशेष्य के रूप में। यदि 'साधारण धर्म', 'तिङन्त' शब्द के द्वारा न कहा जाकर, 'प्रातिपदिक' शब्द के द्वारा कहा गया तो 'साधारण धर्म' विशेषण के रूप में प्रतीत होगा। जैसे 'चन्द्र इव आह्लादकं मुखम्' यहां 'आह्लादकम्' 'मुखम्' का विशेषण है, अर्थात् ऐसा 'मुख' जो 'चन्द्र' के समान 'आह्लादक' है। पर यदि 'साधारण धर्म' को 'तिङन्त' शब्द, अर्थात् किसी क्रिया पद, द्वारा कहा गया तो 'साधारण धर्म' विशेष्य के रूप में प्रतीत होता है। जैसे–'चन्द्र इव मुखम् आह्लादयति' इस प्रयोग में 'आह्लाद' विशेष्य है तथा उसके दो विशेषण हैं— 'मुखकर्तृक आह्लाद तथा 'चन्द्रकर्तृक आह्लाद से अभिन्न 'आह्लाद', अर्थात् ऐसा 'आह्लाद' जिसका 'कर्त्ता' 'मुख' है तथा जो उस आह्लाद से अभिन्न है जिसका कर्त्ता चन्द्र है।

**'उपमानानि सामान्यवचनैः' इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्**—अपने उपर्युक्त कथन की पुष्टि में नागेश ने, प्रमाण के रूप में "उपमानानि सामान्यवचनैः" सूत्र के महा० की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



ओर संकेत किया है। इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि, 'शस्त्री श्यामा देवदत्ता (आरी के समान काली देवदत्ता) इत्यादि प्रयोगों में, उपमान-बोधक शस्त्री' इत्यादि शब्द 'साधारण धर्म' से विशिष्ट 'उपमेय'-वाचक 'श्याम' आदि शब्दों के साथ समास को प्राप्त होते हैं। इस सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने एक रोचक विवाद प्रस्तुत किया है कि 'शस्त्री श्यामा देवदत्ता' इत्यादि प्रयोगों में 'श्यामत्व' रूप 'साधारण धर्म' की स्थिति 'उपमान' (शस्त्री) में माना जाय या उपमेय' (देवदत्ता)' में ? यदि 'उपमेय' में 'साधारण धर्म' की स्थिति मानी जाय तो 'उपमान' की श्यामता को कौन कहेगा ? और यदि 'उपमान' में उसकी स्थिति मानी जाय तो 'उपमेय' की श्यामता को कौन कहेगा ?

"समास की शक्ति से 'उपमेय'-भूत देवदत्ता स्त्री की श्यामता कही जाती है" यह मानते हुए यदि उपमान शस्त्री में 'साधारण धर्म' की स्थिति मानी जाय तो 'शस्त्री श्यामो देवदत्तः' (आरी के समान काला देवदत्त) यहां 'शस्त्री श्यामः' प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि यहां 'श्यामता' रूप 'साधारण धर्म' 'उपमेय' देवदत्त की न होकर 'उपमान' शस्त्री की है। इसलिये समासयुक्त पद के अन्त में स्त्रीलिंग का द्योतक 'टाप्' प्रत्यय आना ही चाहिये। और यदि 'उपमेय' में 'साधारण धर्म' की स्थिति मानी जाती है तो 'साधारण धर्म' और 'उपमान' दोनों की समान-अधिकरणता नष्ट हो जाती है—दोनों भिन्न-भिन्न आश्रय वाले हो जायेंगे। समान-अधिकरणता के अभाव में समास नहीं हो सकता। किसी तरह यदि समास का विधान कर भी लिया गया तो 'मृगचपला' (मृगी के समान चपला) इस प्रयोग में "पुंवत् कर्मधारय-जातीय-देशीयेषु" (पा० ६.३.४२) इस सूत्र से, समानाधिकरणता के आधार पर होने वाला, 'पुंवद्भाव' 'मृगी' में नहीं हो सकता (द्र० -- महा० १.२.५५, पृ० १२८–१२९)।

अभिप्राय यह है कि 'उपमेय' में 'साधारण धर्म' तो रहता ही है। साथ ही, 'उपमेय' तथा 'उपमान' की सदृशता के आधार पर दोनों में अभेद का आरोप कर दिये जाने के कारण, 'उपमान' भी 'उपमेय' में ही रहता है तथा 'साधारण धर्म' (श्यामत्व आदि) का अन्वय दोनों 'उपमान' तथा 'उपमेय' में ही होता है, अर्थात् 'शस्त्री श्यामा देवदत्ता' इस प्रयोग से यह बोध होता है कि 'उपमान' भूत जो शस्त्री उसकी श्यामता से अभिन्न, 'उपमेय' भूत देवदत्ता की श्यामता।

पतंजलि के इस कथन "तस्याम्, एव उभय वर्तते" से यह स्पष्ट है कि उपमान-वाचक 'शस्त्री' या 'चन्द्र' आदि शब्द शस्त्री-सदृश या चन्द्र-सदृश अर्थ के वाचक नहीं हैं और न ही 'इव' इस तात्पर्य का द्योतक है। अपितु ये शब्द उपमानता के वाचक है तथा 'इव' उस 'उपमानता' रूप अर्थ का द्योतक है। द्र०—"इव शब्दश्च स्वसमभिव्याहृते उपमानत्व-द्योतकः। शस्त्रीपदस्य तत्सदृशपरत्वम् इवो द्योतयति इति तु न युक्तम्। द्योत्यार्थं समभिव्याहृत-पदार्थ-विशेषणतायां इव स्वभाव-सिद्धत्वात्" (महा०, उद्द्योत टीका, २.१.५५, पृ० १३१)।

**['पर्युदास नञ्' तथा उसका द्योत्य अर्थ]**

'नञ्' द्विविधः पर्युदासः प्रसज्य-प्रतिषेधश्च। तत्र आरोप-विषयत्वं नञ्-पर्युदास-द्योत्यम्। आरोप-विषयत्व[1]-द्योतकत्वं च 'नञः'

१. ह० में 'आरोप-विषयत्व-द्योतकत्वं च' के स्थान पर 'आरोप-विषयत्वं च' पाठ मिलता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



स्व[1] समभिव्यहृत घटादि-पदानाम् आरोपित-प्रवृत्ति-निमित्त-बोधकत्वे तात्पर्य-ग्राहकत्वम्। प्रवृत्ति-निमित्तं घटत्व-ब्राह्मणत्वादि। तस्माद् 'अब्राह्मणः' इत्यादौ 'आरोपित-ब्राह्मणत्ववान् क्षत्रियादिः' इति बोधः। अतएव "उत्तरपदार्थ-प्राधान्यं नञ्तपुरुषस्य" इति प्रवादः सङ्गच्छते। अत एव च 'अतस्मै ब्राह्मणाय', 'असः शिवः' इत्यादौ सर्वनामकार्यम्। अन्यथा गौणत्वान् न स्यात्। प्रवृत्तिनिमित्तारोपस्तु सदृश एव भवति इति "पर्युदासः सदृशग्राही" इति प्रवादः। पर्युदासे निषेधस्तु आर्थः।

अन्यस्मिन् अन्यधर्मारोपस्तु आहार्यज्ञान[2]रूपः। "बाधकालिकम् इच्छाजन्यं ज्ञानम् आहार्यम्[3]" इति वृद्धाः। सादृश्यादयस्तु प्रयोगोपाधयः, पर्युदासे त्वार्थिका अर्थाः। तदुक्तं हरिणा[4]-

तत्सादृश्यम् अभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

'तत्सादृश्यम्'—गदर्भे अनश्वोऽयम्' इत्यादौ। 'अभावः' तु प्रसज्यप्रतिषेधे वक्ष्यते। 'तदन्यत्वम्'—'अमनुष्यं प्राणिनम् आनय' इत्यादौ। 'तदल्पत्वम्'—'अनुदरा कन्या' इत्यत्र अर्थात् स्थूलत्वनिषेधेन उदरस्य अल्पत्वं गम्यते। 'अप्राशस्त्यम्'—ब्राह्मणे 'अब्राह्मणोऽयम्' इति प्रयोगे। 'विरोधे'—'असुरः', 'अधर्मः' इति प्रयोगे।

'नञ्' दो प्रकार का होता है 'पर्युदास' तथा 'प्रसज्यप्रतिषेध'। उनमें 'पर्युदास नञ्' का द्योत्य (अर्थ) है— 'अरोप' (आरोपित ज्ञान) का विषय बनना और 'आरोपविषयता' की द्योतकता (का अभिप्राय) है—'अपने साथ (अव्यवहितरूप से) उच्चरित 'घट' आदि पद आरोपित प्रवृत्ति-निमित्त के बोधक हैं" इस तात्पर्य का 'नञ्' के द्वारा ज्ञापन करना। 'घटत्व', 'ब्राह्मणत्व' आदि

१. प्रकाशित संस्करणों में 'स्व' पाठ नहीं मिलता।

२. ह० में 'आहार्यज्ञानेन'।

३. ह० में 'अहार्यम्' के स्थान पर 'आहार्यज्ञानम्' पाठ मिलता है। न्यायकोश में यह परिभाषा निम्न रूप में मिलती है—"बाधकालीनम् इच्छाजन्यं ज्ञानम् आहार्यम्"।

४. यह कारिका भर्तृहरि के वाक्यपदीय में नहीं मिल सकी। न्यायकोश में शब्दशक्तिप्रकाशिका के नाम से यह कारिका उद्धृत की गयी है। यहाँ "सादृश्यं तद्भावश्च" पाठ है। उपर्युद्धृत कारिका से मेदिनीकोश (अव्ययेषु अङ्किम्, पृ० १८८) के निम्न श्लोक से पूरी तुलना की जा सकती है—

नञ् अभावे निषेधे च स्वरूपार्थेऽप्यतिक्रमे।
ईषदर्थे च सादृश्ये तद्विरुद्ध-तदन्ययोः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(धर्म) 'प्रवृत्ति-निमित्त' हैं। ('पर्युदास नञ्' आरोपविषयता का द्योतक है) इसलिये 'अब्राह्मणः' इत्यादि (प्रयोगों) में, आरोपित है ब्राह्मणत्व (धर्म) जिस में ऐसे, क्षत्रिय आदि का बोध होता है। (तथा) इसी कारण "नञ्-तत्पुरुष समास में उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है" यह प्रसिद्ध कथन सुसंगत होता है। और इसीलिये 'अतस्मै ब्राह्मणाय' (जो वस्तुतः ब्राह्मण नहीं है उस कल्पित ब्राह्मण के लिये), 'असः शिवः' (कल्पित वह शिव) इत्यादि प्रयोगों में सर्वनाम संज्ञा के कार्य ('स्मै' आदि) उपपन्न हो जाते हैं। अन्यथा (यदि पर्युदास 'नञ्' को 'आरोपविषयता' का द्योतक न मान कर भिन्न अर्थ का वाचक माना जाय तो नञर्थ के प्रधान हो जाने तथा 'तत्' पद के अर्थ के) गौण हो जाने के कारण (उसमें) सर्वनाम के कार्य नहीं होंगे।

'प्रवृत्ति-निमित्त' का आरोप सदृश में ही होता है इसलिये "पर्युदास (नञ्) सदृश का द्योतक है" यह प्रसिद्धि है। 'पर्युदास' में निषेध (अर्थ) तो ('पर्युदास नञ्' के द्योत्य) अर्थ के जानने के बाद (उस अर्थ के द्वारा) उपस्थित होता है (सीधे 'नञ्' शब्द से नहीं)। दूसरे में दूसरे के धर्म का आरोप करना 'आहार्य' ज्ञान है। "बाधित ज्ञान की स्थिति में इच्छा से उत्पन्न (वह) ज्ञान ही आहार्य ज्ञान है"—ऐसा वृद्ध लोग कहते हैं। ('पर्युदास नञ्' के) सादृश्य आदि (अर्थ) तो प्रयोग की 'उपाधियाँ' (धर्म) हैं—(अर्थात्) 'पर्युदास' में तो (वे) अर्थ के (द्वारा प्रतीयमान) अर्थ हैं।

उन सादृश्य आदि अर्थों को भर्तृहरि ने कहा है—

"उस (उत्तरपद के अर्थ) की सदृशता, उस का अभाव, उससे भिन्नता, उसकी न्यूनता, उसकी निन्दनीयता तथा उसका विरोध ये छ 'नञ्' के (द्योत्य अर्थ से व्यक्त) अर्थ हैं।"

गदहे के लिये (प्रयुक्त) 'अनश्वोऽयम्' (यह घोड़ा नहीं है) इत्यादि (प्रयोगों) में उस (उत्तरपदार्थ) का 'सादृश्य' (अर्थ) है। 'अभाव' (के विषय में) 'प्रसज्य प्रतिषेध' (के प्रसङ्ग) में कहा जायगा। 'अमनुष्यं प्राणिनम् आनय' (मानवेतर प्राणी को लाओ) इत्यादि (प्रयोगों) में उस (उत्तरपदार्थ) से 'भिन्नता' (अर्थ) है। 'अनुदरा कन्या' (छोटे पेट वाली लड़की) यहां उस (उत्तरपदार्थ) की 'अल्पता' (अर्थ) है। (यहां) अर्थ (स्थूलता के निषेध) से उदर की 'अल्पता' की प्रतीति होती है। ब्राह्मण के लिये 'अब्राह्मणोऽयम्' (यह अब्राह्मण है) इस प्रयोग में उस (उत्तरपदार्थ) को 'हीनता' (अर्थ) है। 'असुरः' 'अधर्मः', इन प्रयोगों में (क्रमशः देवताओं तथा धर्म से) 'विरोध' अर्थ है।

'नञ्' यह निपात है। प्रयोग में 'न' के रूप में ही यह सर्वत्र दिखायी देता है। अर्थ की दृष्टि से 'नञ्' दो प्रकार का माना जाता है। यद्यपि सर्वत्र इस निपात से 'निषेध' अर्थ ही गम्य है परन्तु कहीं वह गौण रहता है तथा कहीं प्रधान। पहली

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



स्थिति वहां होती है जहाँ 'नञ्' का किसी उत्तरपद के साथ समास हुआ रहा है। जैसे 'अब्राह्मणः'। तथा दूसरी स्थिति वहाँ पायी जाती है जहां क्रिया के साथ 'न' का प्रयोग होता है। जैसे— 'घटो नास्ति' (घड़ा नहीं है)। इन में से पहले को 'पर्युदास नञ्' कहते हैं तो दूसरे को 'प्रसज्य नञ्'। 'नञ्' के इस द्विविध रूप का वर्णन निम्न श्लोकों में मिलता है—

**द्वौ नञौ च समाख्यातौ पर्युदास-प्रसज्यकौ।**
**पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्॥**
(पलम० की वंशीधर मिश्रकृत टीका के पृ० ७५ पर उद्धृत)

**प्राधान्यं तु विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।**
**पर्युदासः स विज्ञेयः यत्र उत्तरपदेन नञ्॥**
(शब्दकल्पद्रुम कोश में मलमासतत्त्व के नाम से उद्धृत)

**अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।**
**प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं क्रियया सह यत्र नञ्॥**
(वाचस्पत्यम् कोश में 'शाब्दिकों' के नाम से उद्धृत)

**तत्र आरोपविषयत्वं नञ्पर्युदासद्योत्यम्**— वैयाकरणों की दृष्टि में 'पर्युदास नञ्' से अभिव्यक्त होने वाला अर्थ है—'आरोपविषयत्व', या 'आरोपितत्व' अर्थात् आरोप का विषय बनना। 'आरोप' की परिभाषा है—"अतद्वति तत्प्रकारज्ञानम् आरोपः" (न्यायकोश), अर्थात् जिस व्यक्ति या वस्तु में जो धर्म नहीं है उसका उस व्यक्ति या वस्तु में इच्छा से कल्पना कर लेना ही 'आरोप' है। जैसे—'सिंहो माणवकः' (बालक सिंह है) इत्यादि प्रयोगों में बालक में सिंह का आरोप।

इस प्रकार 'पर्युदास नञ्' यह द्योतन करता है कि उसके अव्यवहित समीप में उच्चरित शब्द का वाच्य अर्थ 'आरोपित ज्ञान की विषयता वाला' है। जैसे— 'अब्राह्मणः' प्रयोग मे 'नञ्' के साथ 'ब्राह्मण' पद का समास हुआ है। 'नञ्' पूर्वपद तथा 'ब्राह्मणः' उत्तरपद है। इस तरह 'पर्युदास नञ्' के इस प्रयोग में उत्तरपद (ब्राह्मण) का वाच्य अर्थ है—'आरोपविषयत्ववान् ब्राह्मणः' (आरोपविषयता वाला ब्राह्मण)। इसका अभिप्राय यह है कि आरोपित अथवा काल्पनिक ज्ञान का विषयभूत ब्राह्मण, अर्थात् जिसमें वास्तविक ब्राह्मणता नहीं है अपितु उसकी कल्पना कर ली गई है, ऐसा ब्राह्मणेतर कोई मनुष्य। इस अब्राह्मण व्यक्ति में रहने वाली ब्राह्मणता ही विषयता है। 'इस विषयता से युक्त ब्राह्मण' यह 'अब्राह्मणः' इस समस्त शब्द के 'ब्राह्मण' भाग का वाच्य अर्थ है। 'ब्राह्मण' शब्द का यहाँ यही वाच्य अर्थ है इस तात्पर्य का द्योतक है, इस समस्त पद के पूर्व में विद्यमान, 'नञ्' निपात। अतः 'पर्युदास नञ्' का द्योत्य अर्थ है—'आरोपित-विषयता'।

**उत्तरपदार्थप्राधान्यं नञ्तत्पुरुषस्य**— 'पर्युदास नञ्' 'आरोप-विषयता' का द्योतक है इस सिद्धान्त की पुष्टि में नागेश ने दो हेतु प्रस्तुत किया है। पहला हेतु है— "उत्तरपदार्थप्रधानो नञ्समासः" (नञ्-समास उत्तरपदार्थप्रधान होता है) यह स्वीकृत

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



न्याय। इस न्याय की संगति तभी लग सकती है यदि 'पर्युदास 'नञ्' को 'आरोप-विषयता' का वाचक न मानकर द्योतक माना जाय। यदि इस भेदरूप अर्थ को 'नञ्' को वाचक माना गया, जैसा कि नैयायिक मानते हैं, तो इस भेदरूप अर्थ की प्रधानता होने के कारण, नञ्तत्पुरुष समास को 'पूर्वपदार्थप्रधान' मानना होगा क्योंकि इस अर्थ का वाचक 'नञ्' समास के पूर्वपद में विद्यमान है। तुलना करो "नञ्समासेऽपरस्य उत्तरपदार्थस्य प्राधान्यात् सर्वनामता सिध्यति ···अतएव आरोपितत्वमेव नञ्द्योत्य-मित्यभ्युपेयम्" (वैभूसा०, पृ० ३५६)।

**'अतस्मै ब्राह्मणाय', 'असः शिवः' इत्यादौ सर्वनामकार्यम्**—'पर्युदास नञ्' को आरोपविषयता का द्योतक मानने में जो दूसरा हेतु है वह पहले हेतु से ही सम्बद्ध है। यदि 'नञ्' को द्योतक न मान कर वाचक माना गया तो 'नञ्समास' की 'उत्तरपदार्थ-प्रधानता' नहीं बनेगी और उस स्थिति में 'अतस्मै ब्राह्मणाय' या 'असः शिवः' जैसे नञ्समास' के प्रयोगों के उत्तरपद ('तद्') की सर्वनाम संज्ञा नहीं हो सकेगी क्योंकि तब 'तद्' का अर्थ प्रधान न होकर 'नञ्' का अर्थ ही प्रधान होगा। इसका कारण यह है कि 'अतस्मै' का अर्थ है 'तद्भिन्नाय' या इसी प्रकार 'असः' का अर्थ है 'तद्भिन्नः'। इस तरह 'नञ्' का अर्थ प्रधान होने से 'पूर्वपदार्थप्रधानता' तो होगी ही साथ ही, जिस प्रकार 'अतिसर्वः' इत्यादि प्रयोगों में पूर्वपदार्थ की प्रधानता के कारण 'सर्व' शब्द के उपसर्जन या अप्रधान होने से उसकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होती उसी प्रकार, उपर्युक्त प्रयोगों में 'तद्' की सर्वनाम संज्ञा भी नहीं होगी। सर्वनाम संज्ञा के अभाव में 'अतस्मै' में 'ङे' को 'स्मै' आदेश तथा 'असः' में प्रथमा विभक्ति के 'सु' का लोपाभाव इत्यादि, सर्वनाम को निमित्त मान कर होने वाले, कार्य नहीं हो सकते। इसलिये यही युक्तियुक्त मत है कि 'पर्युदास नञ्' आरोपविषयता का द्योतक ही है।

**"पर्युदासः सदृशग्राही"—इति प्रवादः**—यह प्रश्न हो सकता है कि यदि 'पर्युदास 'नञ्' आरोप का द्योतक है तो "पर्युदासः सदृशग्राही" ('पर्युदास नञ्' सदृश का ज्ञान कराता है) इस प्रकार की प्रसिद्धि क्यों है?

इसका उत्तर यह है कि दूसरे वस्तु या व्यक्ति में यदि किसी दूसरी वस्तु या व्यक्ति के 'प्रवृत्तिनिमित्त' या 'धर्म' का आरोप किया जायगा तो किसी न किसी मात्रा में, किसी न किसी रूप में, थोड़ी बहुत सदृशता वहां होगी ही, दोनों सर्वथा एक दूसरे से भिन्न नहीं हो सकते। इसलिये उपर्युक्त प्रसिद्धि उचित ही है। पर 'सदृशता' को 'नञ्' का द्योत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि यहां सदृशता की प्रतीति बाद में होती है।

**पर्युदासे निषेधस्तु आर्थः**—'पर्युदास' में 'निषेध' अर्थ की प्रतीति होती तो है पर 'पर्युदास नञ्' के अपने द्योत्य अर्थ 'आरोप' या 'आरोप-विषयता' का ज्ञान हो जाने के बाद यह प्रतीति होती है क्योंकि 'आरोप' भिन्न व्यक्ति या वस्तु में हुआ करता है, इसलिये 'निषेध' को यहाँ 'आर्थ', अर्थात् 'नञ्' के द्योत्य अर्थ 'आरोप' से उत्पन्न, कहा गया है। इसी कारण 'निषेध' अर्थ को 'पर्युदास नञ्' के प्रयोगों में अप्रधान माना गया है। तथा 'आरोप' अर्थ को प्रधान।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**बाधकालिकम् इच्छाजन्यं ज्ञानम् एव 'आहार्यम्'**—'आरोप' के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये 'आरोप' तथा 'आहार्यज्ञान' को एक मानते हुए यहाँ 'आहार्यज्ञान' की परिभाषा दी गयी है। बाधक ज्ञान के निश्चित रूप में विद्यमान होने पर भी वक्ता जब अपनी इच्छा से उस प्रकार के ज्ञान की कल्पना या 'आरोप' कर लेता है तो उसे 'आहार्य ज्ञान कहते है। जैसे—बालक में सिंहत्व नहीं है इस प्रकार का निश्चित ज्ञान होने पर भी वक्ता अपनी इच्छा से बालक में सिंहत्व की कल्पना कर लेता है। यह दूसरी बात है कि इस इच्छा का आधार कुछ न कुछ 'सादृश्य' ही होता है।

**सादृश्यादयस्तु प्रयोगोपाधयः**—'पर्युदास नञ्' के प्रयोगों में 'सादृश्य' आदि अनेक अर्थों की प्रतीति होती है, जिनकी चर्चा यहीं नीचे ग्रन्थकार स्वयं करने जा रहा है। परन्तु उन अर्थों को 'नञ्' का द्योत्य या वाच्य अर्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि वे अर्थ सीधे, 'नञ्' शब्द से प्रतीत न होकर, 'नञ्' के अर्थ 'आरोप' में विद्यमान 'व्यंजकता वृत्ति' से व्यक्त होते हैं, जबकि ('आरोप') अर्थ सीधे 'नञ्' शब्द की द्योतकता से द्योत्य हैं। इसी बात को 'प्रयोगोपाधयः' (प्रयोग के धर्म) कह कर नागेश ने सूचित किया है तथा 'आर्थिका अर्थाः' (अर्थ से व्यक्त अर्थ) कह कर उसे और स्पष्ट कर दिया है।

**नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः**—यहां उल्लिखित 'सादृश्य' आदि पांच अर्थ 'पर्युदास नञ्' के अर्थ ('आरोप') से व्यक्त होने वाले अर्थ हैं। छठा अर्थ 'अभाव' 'प्रसज्यप्रतिषेध' का शाब्दिक अर्थ है। पर्युदास के इन पांच आर्थिक अर्थों में भी 'सादृश्य की ही व्यापकता या प्रधानता है।

'गदहे' के लिये 'अनश्वोऽयम्' कहने पर अश्वसादृश्य की प्रतीति होती है। 'अमनुष्यं प्राणिनम् आनय' कहने पर मनुष्य से भिन्न प्राणी का ज्ञान होता है। उदर वाली कन्या को 'अनुदरा कन्या' कहने पर इस प्रयोग के अर्थ (उदरत्व का निषेध) से उदर की 'अल्पता' (पेट के छोटे होने) का ज्ञान होता है क्योंकि पेट वाले तो सभी होते हैं, फिर भी पेट का निषेध इसलिये किया जा रहा है कि जितना बड़ा पेट होना चाहिये उतना बड़ा न होकर उससे छोटा है। इसी तरह ब्राह्मण को जब 'अब्राह्मण' कहा जाता है तो वहां ब्राह्मण की हीनता या निन्दनीयता की अभिव्यक्ति होती है। तुलना करो—'अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति, अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् भक्षयति (महा० २.१.६)। इसी प्रकार 'असुरः', 'अधर्मः' इन प्रयोगों में 'विरोध' अर्थ की प्रतीति होती है—'सुरों (देवों) के विरुद्ध' तथा 'धर्म के विरुद्ध'।

**['पर्युदास नञ्' प्रायः समासयुक्त मिलता है]**

पर्युदासस्तु स्व-समभिव्याहृत-पदेन सामर्थ्यात् समस्त एव[1]। क्वचित्तु[2] "यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु" (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४. १३. ५) इत्यादौ, 'घटः

१. इसके बाद निस० तथा काप्रभु० में 'प्रायः' पाठ मिलता है जो अनावश्यक प्रतीत होता है।

२. ह० में "क्वचित्तु ...फलितो भवति" यह अंश अनुपलब्ध है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अपटो भवति' इत्यर्थके, 'घटो न पटः' इत्यादौ च समास-विकल्पाद् असमासेऽपि । अत्र 'अन्योऽन्याभावः' फलितो भवति ।

'पर्युदास (नञ्)' तो अपने समीपस्थ पद के साथ, सामर्थ्य के कारण, समासयुक्त ही होता है । कहीं (कहीं) तो 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' (अनुयाज याग से भिन्न यागों में यजमान 'ये यजामहे' इस मन्त्र का उच्चारण करता है) इत्यादि (प्रयोगों) में तथा 'घड़ा अवस्त्र है' इस अर्थ वाले, 'घटो न पटः' (घड़ा वस्त्र नहीं है) इत्यादि (प्रयोगों) में, विकल्प से समास का विधान किये जाने के कारण, समासरहित स्थिति में भी 'पर्युदास नञ्' रहता है) । यहां (घटो न पटः' इस प्रयोग में) 'अन्योऽन्याभाव' (घड़े और वस्त्र की पारस्परिक भिन्नता) 'फलित' अर्थ है ('नञ्' का शाब्दिक अर्थ तो 'आरोप' ही है) ।

**"यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु"**—'पर्युदास नञ्' प्रायः सदा ही उत्तरपद के साथ समास को प्राप्त हुआ रहता है—यह एक सामान्य स्थिति है । पर कहीं कहीं ऐसे भी प्रयोग मिलते हैं जहाँ समास नहीं होता । उदाहरण के रूप में यहां दो वाक्य दिये गये हैं । पहला है—"यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु" । इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि होता नामक ऋत्विज् अनुयाज यागों से इतर यागों में 'ये यजामहे' इस मंत्र का उच्चारण करता है । यहाँ 'यजति' शब्द, जो अन्य पुरुष एक वचन का क्रिया पद है तथा नाम पद के रूप में व्यवहृत हुआ है, याग सामान्य का वाचक है । इसी प्रकार 'अनुयाज' एक विशिष्ट याग का वाचक है । 'ये यजामहम्' का अभिप्राय है 'ये यजामहे' यह मंत्रांश है प्रारम्भ में जिन मंत्रों के वे 'याज्या' नामक मंत्र । 'करोति' का अर्थ है 'उच्चारण करता है' । इस वाक्य के अर्थ के विषय में मीमांसादर्शन के अर्थसंग्रह आदि पुस्तकों में पर्याप्त विचार किया गया है तथा वहाँ निर्णय दिया गया है कि 'नञ्' तथा 'अनुयाज' का परस्पर सम्बन्ध मान कर यहाँ 'पर्युदास' मानना ही उचित है । इसलिये इस का अर्थ होगा—"अनुयाज से भिन्न यागों में 'ये यजामहे' नामक मंत्रों का उच्चारण होता करे" । द्र०—"नञोऽनुयाजसम्बन्धम् आश्रित्य पर्युदासस्यैव (आश्रयणम्) । इत्थं च अनुयाज-व्यतिरिक्तेषु यजतिषु 'ये यजामहे' इति मंत्रं कुर्यात् इति वाक्यार्थबोधः" (अर्थसंग्रह—६.८७, पृ० १३०) ।

**घटो नः पटः**—'पर्युदास नञ्' में समासाभाव की स्थिति का दूसरा उदाहरण है—('घटः अपटो भवति' इस अर्थ की दृष्टि से प्रयुक्त) 'घटः पटो न भवति' यह प्रयोग । यहाँ भी निषेध की प्रधानता न होकर विधि की प्रधानता है क्योंकि कहा यह जा रहा है कि—'घटः पटत्वाभाववान् भवति' अर्थात् घड़ा पटत्वाभाव वाला है । 'अपटः' का अर्थ है—'आरोपित-पटत्ववान्', अर्थात् जिसमें पटत्व का 'आरोप' किया गया है (वास्तविक पटत्व जिसमें नहीं है) वह घट । इस प्रकार यहाँ विधि की प्रधानता है तथा निषेध अर्थ की अप्रधानता है । इसलिये इसे 'पर्युदास नञ्' का ही प्रयोग मानना चाहिये । पर 'पर्युदास नञ्' होते हुए भी यहां 'नञ्' का तथा 'पट' का समास नहीं किया गया ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इन दोनों ही स्थलों में समास न होने का कारण यह है कि समास का विधान, "विभाषा" (पा० २.१.११) का अधिकार होने के कारण, विकल्प से किया गया है। अर्थात् समास का करना न करना वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है।

[**'प्रसज्यप्रतिषेध' का स्वरूप**]

प्रसज्यप्रतिषेधस्तु समस्तोऽसमस्तश्चेति द्विविधः। तत्र विशेष्यतया क्रियान्वयनियमात् सुबन्तेन असामर्थ्येऽपि "असूर्यललाटयोः०" (पा० ३.२.३६) इत्यादिज्ञापकात् समासः। तदुक्तम्—

"प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं क्रियया सह यत्र नञ्[1]।"

अत्र 'क्रिया'-पदं गुणस्याप्युपलक्षणम् इति **बहवः**। अत एव[2] "नञ्" (पा० २.२.६) सूत्रे **भाष्ये** "प्रसज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चान् निवृत्तिं कुरुते" इत्युक्तम्[3]। उदाहरणम्—'न अस्माकम् एकं प्रियम्' इति। एक-प्रिय-प्रतिषेधे बहुप्रिय-प्रतीतिः। एवं[4] 'न सन्देहः', नोपलब्धिः' इत्याद्युदाहरणं गुणस्य, सन्देहादीनां गुणत्वात्। क्रियोदाहरणं च—"अनचि च" (पा० ८.४.४७), 'गेहे घटो नास्ति' इत्यादि।

'प्रसज्यप्रतिषेध (नञ्)' तो समास-युक्त तथा समासरहित दो तरह का होता है। उनमें (समासयुक्त स्थलों में 'प्रसज्यप्रतिषेध वाले 'नञ्' के) प्रधान रूप से क्रिया में अन्वित होने के नियम के कारण 'सुबन्त' (पद) के साथ ('एकार्थीभाव' रूप) 'सामर्थ्य' के न होने पर भी "असूर्यललाटयोर्दृशितपोः" (इस सूत्र से सिद्ध होने वाले 'असूर्यम्पश्या राजदाराः') इत्यादि (प्रयोगरूप) ज्ञापक से समास हो जाता है।

यह कहा गया है कि—"यह 'प्रसज्यप्रतिषेध' (वहां होता) है जहां 'नञ्' क्रिया के साथ (सम्बद्ध या अन्वित) होता है"। यहां (कारिका का) 'क्रिया' पद 'गुण' का भी उपलक्षण है ऐसा अनेक आचार्य मानते हैं। इसीलिये 'नञ्' सूत्र के भाष्य में (पतंजलि ने) यह कहा है—कि

१. वाचस्पत्यम् कोश में शाब्दिकों के नाम से यह कारिका उद्धृत है।
२. ह० में "अत एव···इत्युक्तम्" अंश अनुपलब्ध है।
३. तुलना करो—महा० २.२.६, पृ० १७८; प्रसज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चात् निवृत्तिं करोति।
४. ह० में 'एवं न···गुणत्वात्" अंश अनुपलब्ध है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



"प्रसज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चान् निवृत्तिं करोति" (यह 'नञ्' 'क्रिया' तथा 'गुण' की प्रसक्ति करा के फिर उनकी निवृत्ति, अर्थात निषेध करता है)। ('गुण' का) उदाहरण है—'नास्माकम् एकं प्रियम्' (हमें एक प्रिय नहीं है)। (यहाँ) एक प्रिय का प्रतिषेध हो जाने पर बहुप्रिय का ज्ञान होता है। इसी तरह 'न सन्देहः' (सन्देह नहीं हैं) 'नोपलब्धि.' (ज्ञान नहीं है) इत्यादि 'गुण' के उदाहरण है क्योंकि 'सन्देह' आदि 'गुण' हैं। 'क्रिया' का उदाहरण है—"अनचि च" (अच् के परे रहने पर द्वित्व नहीं होता है), गेहे घटो नास्ति' (घर में घड़ा नहीं है) इत्यादि।

**सुबन्तेन असामर्थ्येऽपि ··· समासः**—'प्रसज्यप्रतिषेध' के विषय में उपर यह कहा जा चुका है कि यह विधि-प्रधान न होकर निषेध-प्रधान होता है तथा यहाँ 'नञ्' का सम्बन्ध क्रिया के साथ होता है। यह 'प्रसज्यप्रतिषेध' सामान्यतया दो प्रकार का होता है—समासयुक्त एवं समासरहित।

यह पूछा जा सकता है कि यहां 'नञ्' का सम्बन्ध 'सुबन्त' पद के साथ न होकर 'क्रिया' के साथ होता है इसलिये, 'सुबन्त' पद के साथ 'एकार्थीभाव सामर्थ्य' न होने के कारण, "समर्थः पदविधिः" (पा० २.१ १) के नियमानुसार, 'प्रसज्यप्रतिषेध' के प्रयोगों में समास नहीं होना चाहिये।

इस प्रश्न का उत्तर यहां यह दिया गया कि 'प्रसज्यप्रतिषेध' के प्रयोगों में सामान्यतया समास नहीं हुआ करता। पर कुछ प्रयोगों में, अपवाद के रूप में, समास का प्रयोग भी पाया जाता है। इस अपवाद वाली स्थिति का ही संकेत आचार्य पाणिनि के सूत्र "असूर्यललाटयोर्दृशितपोः" में किया गया है। इस सूत्र से 'असूर्य' इस 'कर्म' वाचक शब्द के उपपद होने पर 'दृश्' धातु से 'खश्' प्रत्यय का विधान किया गया है। इसका उदाहरण है—'असूर्यम्पश्या राजदाराः' (सूर्य को न देख सकने वाली रानियां)। यहां 'नञ्' का सम्बन्ध 'सूर्यम्' के साथ न होकर 'दृश्' क्रिया के साथ है—'न देखने वाली'। इसलिये, 'नञ्' तथा 'सूर्य' के परस्पर अन्वित न हो सकने रूप 'असमर्थता' के कारण, समास नहीं होना चाहिये था। परन्तु व्यवहार में यह प्रयोग प्रचलित था। इस कारण इस शब्द की सिद्धि के लिये पाणिनि को उपर्युक्त सूत्र बनाना पड़ा।

पाणिनि के सूत्र से सिद्ध होने वाला यह 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' प्रयोग सूचित करता है कि 'प्रसज्य प्रतिषेध' के कुछ और भी प्रयोग ऐसे मिल सकते हैं या मिलते हैं, जहाँ सामर्थ्य न होने पर भी समास किया जाता है। वैयाकरण ऐसे स्थलों में 'असमर्थ समास' मानते हैं। द्र०—'असूर्य' इति च असमर्थ समासोऽयम्, दृशिना नञः सम्बन्धात्, सूर्यं न पश्यन्तीति' (काशिका ३.२.३६)।

**क्रियापदं गुणस्याप्युपलक्षणम्**—'प्रसज्यप्रतिषेध' में 'नञ्' के अर्थ की प्रधानता होती है तथा उसका सम्बन्ध 'क्रिया' से होता है। परन्तु केवल 'क्रिया' के साथ ही सर्वत्र 'नञ्' का सम्बन्ध दिखाई देता हो ऐसा नहीं है। 'क्रिया' के समान ही 'गुण' वाचक शब्दों के साथ भी 'नञ्' का सम्बन्ध अनेक प्रयोगों में देखा जाता है। इसलिये

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अनेक आचार्य उपर्युक्त कारिका "क्रियया सह यत्र नञ्" के 'क्रिया' पद को 'गुण' पद का भी उपलक्षक मानते हैं। आचार्य पतंजलि भी इन्हीं आचार्यों में से एक हैं। इन्हें भी 'प्रसज्य प्रतिषेध' वाले 'नञ्' का सम्बन्ध 'क्रिया' तथा 'गुण' दोनों प्रकार के शब्दों से अभिप्रेत है। पतंजलि के "प्रसज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चात् निवृत्तिं करोति" इस कथन से यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

'प्रसज्यप्रतिषेध' के उन स्थलों में जहाँ 'नञ्' का सम्बन्ध 'गुण' के साथ होता है उनके उदाहरण के रूप में यहाँ दो तीन उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। पहला है—'नास्माकम् एकं प्रियम्' (हमें एक नहीं प्रिय है)। यहाँ 'प्रिय' में 'एकत्व संख्या' का प्रतिषेध किया गया है। अतः 'नञ्' का सम्बन्ध किसी क्रिया' से न होकर 'एकत्व संख्या' से है। 'एकत्व संख्या' के प्रतिषेध से ही यहां 'एकत्व' से इतर, द्वित्व आदि 'संख्या' से युक्त 'प्रिय' की प्रतीति होती है। यह 'एकत्व संख्या' जिसके साथ नञ् का सम्बन्ध किया जाता है वह 'क्रिया, न होकर 'गुण' है।

'नञ्' सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने भी इसी प्रकार का एक उदाहरण दिया है—'न न एकं प्रियम्' (हमें एक प्रिय नहीं है)। इस उदाहरण को स्पष्ट करते हुए कैय्यट कहता है—"अत्र एक प्रतिषेधसामर्थ्यादेव संख्यान्तरयुक्तवस्तुप्रतीतिः"।

यहां दूसरे तथा तीसरे उदाहरण (न सन्देहः, नोपलब्धिः) में भी सन्देह तथा उपलब्धि या ज्ञान 'गुण' हैं जिनके साथ 'नञ्' का सम्बन्ध होता है।

**क्रियोदाहरणम्**—क्रिया के भी दो उदाहरण यहां प्रस्तुत किये गये हैं। पहला है पाणिनि का सूत्र "अनचि च"। इस सूत्र के दो अर्थ किये जाते हैं—एक विधिपरक तथा दूसरा निषेधपरक। विधिपरक अर्थ है—"अच् से अव्यवहित बाद में विद्यमान 'यर्' को, 'अच्' के परे न होने पर, विकल्प से द्वित्व होता है"। तथा निषेधपरक अर्थ है—"अच् से अव्यवहित बाद में विद्यमान 'यर्' को 'अच्' के परे होने पर द्वित्व नहीं होता"।

इस प्रकार "अनचि" सूत्र में पतंजलि तथा काशिकाकार आदि विद्वान् 'पर्युदास प्रतिषेध' मानते हैं तथा कैय्यट, पदमंजरीकार, हरदत्त इत्यादि 'प्रसज्यप्रतिषेध' मानते हैं। कैय्यट ने (महा० की अपनी उद्द्योत टीका में) एक त्रुटित पाठ[1] उद्धृत किया है जिसका अभिप्राय है कि यदि इस सूत्र में 'पर्युदास प्रतिषेध' माना गया तो इस सूत्र का अर्थ होगा "अच् सदृश ('अज्' भिन्न) वर्ण के परे होने पर द्वित्व होता है"। इस रूप में, अच् सदृश वर्णान्तर को निमित्त मानने के कारण 'वाक्क्' इत्यादि अवसान वाले प्रयोगों में द्वित्व करना सम्भव न होगा, क्योंकि यहां 'क्' से परे कोई वर्ण है ही नहीं। दूसरी ओर 'प्रसज्यप्रतिषेध' मानने में यह लाभ है कि वहां प्रतिषेध से विधि का अनुमान कर लिया जायगा, अर्थात् 'अच्' से परे होने पर 'यर्' के द्वित्व का प्रतिषेध किया जा रहा है, इसलिये 'अच्' से उत्तर 'यर्' को सर्वत्र द्वित्व होगा।

१. द्र०—उद्द्योत टीका ८.४.४७ पृ० २२६;
पाठोऽयं लेखकप्रमादान्नष्टः। पर्युदासे हि अच्सदृशवर्णान्तरस्य निमित्तत्वेनोपादानाद् अवसाने द्वित्वचनस्याप्रसंगात्। तस्मात् नायं पर्युदासो 'यदन्यदजः' इति। किं तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधो 'अचि न' इत्ययं पाठः। तत्र प्रसज्यप्रतिषेधे विधिरनुमीयते। अचि उत्तरस्य यरो नूनं द्वित्वचनं सर्वत्रास्ति यतोऽचि प्रतिषिध्यते। एवं चानैमित्तिकं द्वित्वचनम् अवसानेऽपि भवति।
हरदत्त ने भी पदमंजरी (८.४.४७) में इसी प्रकार की बातें कही हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



['प्रसज्यप्रतिषेध' के प्रयोगों के अर्थ]

तस्य[1] समस्तस्य तु 'अत्यन्ताभावः' एवार्थः। असमस्तस्य तु 'अत्यन्ताभावः, 'अन्योन्याभावः' च। तादात्म्येतर-सम्बन्धाभावः 'अत्यन्ताभावः'। तादात्म्यसम्बन्धाभावः 'अन्योन्याभावः' भेदः इत्यर्थः। 'असूर्यम्पश्या राजदाराः', 'गेहे घटो नास्ति,' 'घटो न पटः' इत्युदाहरणानि। प्रागभावप्रध्वंसाभावौ तु न नञ्द्योत्यौ। तत्र 'अत्यन्ता-भावः 'विशेष्यतया तिङन्तार्थ-क्रियान्वय्येव[2]। नञर्थ[3]— 'अत्यन्ताभाव'—विशेष्यकबोधे तिङ्समभिव्याहृत-धातु-जन्योपस्थितेः कारणत्वात्। तथा च 'घटो नास्ति' इत्यादौ 'घटकर्तृक-सत्ताप्रतियोगिकोऽभावः' इति बोधः। अतएव 'अहं नास्मि[4]', 'त्वं नासि' इत्यादौ 'घटौ न स्तः', 'घटा न सन्ति' इत्यादौ च पुरुष-वाचनव्यवस्था उपपद्यते अन्यथा युष्यमदादेस्तिङ्सामानाधिकरण्याभावात् 'मद् अभावोऽस्ति' इत्यादाविव सा न स्यात्[5]।

अ[6]सन्देहः' इत्यादौ आरोपितार्थकनञैव समासः। 'अत्यन्ताभावः'तु फलित एव। 'वायौ रूपं नास्ति' इत्यत्र तु तात्पर्यानुपपत्त्या रूपप्रतियोगिकात्यन्ताभावे लक्षणा। तेन 'वाय्वधिकरणिका रूपाभावकर्तृका सत्ता' इति बोधः। वस्तुतस्तु समनियताभावैक्यम् आश्रित्य फलितार्थ एवायम्। 'अरूपम् अस्ति' इत्यर्थकं वा तत्[7]। एतेन 'अत्यन्ताभाव-प्रकारकक्रियाविशेष्यको बोधः' इति **तार्किकोक्तम् अपास्तम्।**

---

१. ह०—तत्र।

२. ह० में इसके बाद "असमस्त-समस्ते 'असन्देहः' 'अविवादः' इत्यादौ अत्यन्ताभावार्थक नञोऽप्यक्रियान्वयित्वात् असमस्त इत्युक्तम्" इतना अधिक है।

३. ह०—नञ्पदार्थ।

४. ह०—अहं नासम्।

५. ह०—में 'सा न स्यात्' के स्थान पर 'सा पुरुष-वचन-व्यवस्था न स्यात्' है।

६. 'असन्देहः इत्यादौ...वा तत्' यह अंश ह० में अनुपलब्ध है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



उस समास-युक्त ('प्रसज्यप्रतिषेध') का 'अत्यन्ताभाव' अर्थ ही है परन्तु समास-रहित ('प्रसज्य प्रतिषेध' तथा 'पर्युदास' का (क्रमशः) 'अत्यन्ताभाव' और 'अन्योयन्याभाव' (अर्थ) है। 'तादात्म्य' (सम्बन्ध) से भिन्न सम्बन्धों के अभाव को 'अत्यन्ताभाव' कहा जाता है तथा 'तादात्म्य'-सम्बन्ध के अभाव को 'अन्योऽन्याभाव'। (इस 'अन्योऽन्याभाव' का) अर्थ है (पारस्परिक) भिन्नता। (क्रमशः इन तीनों अर्थों के) उदाहरण हैं—'असूर्यम्पश्या राजदाराः' (सूर्य को न देखने वाली रानियां), 'गेहे घटो नास्ति' (घर में घड़ा नहीं है), 'घटो न पटः' (घड़ा वस्त्र नहीं है) 'प्राग अभाव' तथा 'प्रध्वंसाभाव' नञ् के द्योत्य (अर्थ) नहीं हैं।

उन ('अत्यन्ताभाव' तथा 'अन्योऽन्याभाव') में 'अत्यन्ताभाव' विशेष्य (प्रधान) बन कर तिङन्त (पद) के अर्थ (क्रिया) में अन्वित होता है क्योंकि 'नञ्' का अर्थ 'अत्यन्ताभाव'—है प्रधान जिसमें ऐसे ज्ञान में तिङ् के समीपस्थ धातु से उत्पन्न अर्थ कारण बनता है। इस तरह 'घटो नास्ति' (घड़ा नहीं है) इत्यादि (प्रयोगों) में "घड़ा है 'कर्त्ता' जिसका ऐसी सत्ता है 'प्रतियोगी' 'जिसमें ऐसा अभाव'" यह 'शाब्दबोध' होता है। इसीलिए ('क्रिया' के प्रति 'नञ्' के अर्थ 'अत्यन्ताभाव' के प्रधान होने के कारण) 'अहं नास्मि' (मैं नहीं हूँ), 'त्वं' नासि, (तुम नहीं हो) इत्यादि (प्रयोगों) में तथा 'घटौ न स्तः' (दो घड़े नहीं हैं), 'घटा न सन्ति' (बहुत घड़े नहीं हैं') इत्यादि (प्रयोगों) में 'पुरुष' एवं 'वचन' की व्यवस्था बन जाती है। इसके विपरीत 'नञ्' के अर्थ 'अत्यन्ताभाव' को 'क्रिया' का विशेषण तथा 'क्रिया' को (विशेष्य) मानने पर, 'युष्मद्' तथा 'अस्मद्' आदि का तिङ् के साथ समान-अधिकरणता के न होने के कारण, 'मदभावोऽस्ति' (मेरा अभाव है) इत्यादि प्रयोगों के समान वह ('पुरुष-वचन'-विषयक व्यवस्था) नहीं उत्पन्न हो सकती।

'असन्देहः' (सन्देह का अभाव) इत्यादि (प्रयोगों) में तो 'आरोपित'-अर्थ वाले 'नञ्' के साथ ही समास किया गया है। (इसलिये) 'अत्यन्ताभाव' तो उस का 'फलित' (अर्थ से उत्पन्न) ही है (शब्दार्थ नहीं)। 'वायौ रूपं नास्ति' (वायु में रूप नहीं है) यहाँ तो तात्पर्य के सुसङ्गत न होने के कारण, 'रूप' है 'प्रतियोगी जिसमें ऐसे 'अत्यन्ताभाव' में ('रूप' शब्द की) 'लक्षणा' है। इसलिये "वायु रूप 'अधिकरण' में रहने वाली तथा 'रूप' का 'अभाव' है 'कर्ता' जिसमें ऐसी सत्ता" का बोध होता है। वास्तविकता तो यह है कि 'समनियत अभावों' ('रूपाभाव' तथा 'रूपकर्तृक सत्ता का 'अभाव' इन दोनों) की एकता का आश्रयण करके यह ('रूपाभाव') 'फलित' अर्थ ही है। अथवा वह ('वायौ रूपं नास्ति' यह वाक्य) 'अरूप है' इस अर्थवाला है। इस ("नञ्' के अर्थ 'अत्यन्ताभाव' का 'क्रिया' के प्रति 'विशेष्य' रूप से ज्ञान होता है"—इस सिद्धान्त) से "अत्यन्ताभाव है 'विशेषण' तथा 'क्रिया' है 'विशेष्य' जिसमें" ऐसा बोध होता है" नैयायिकों का यह कथन खण्डित हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**समस्तस्य अत्यन्ताभाव एवार्थः**—'प्रसज्यप्रतिषेध' तथा 'पर्युदासप्रतिषेध' की समास-युक्त तथा समासरहित स्थितियों में जो अर्थ प्रकट होते हैं उनकी चर्चा यहाँ की जा रही है। 'प्रसज्यप्रतिषेध' वाले 'नञ्' का जब किसी सुबन्त पद के साथ समास हुआ रहता तो वहाँ 'अत्यन्ताभाव' अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। 'तादात्म्य', अर्थात् 'अभेद'-सम्बन्ध, से भिन्न सम्बन्ध के अभाव को 'अत्यन्ताभाव' कहा जाता है। समासयुक्त 'प्रसज्यप्रतिषेध' का उदाहरण है—'असूर्यम्पश्या राजदाराः' (सूर्य को न देख पाने वाली रानियों)। यहाँ रानियों में, सूर्य को देखने की 'क्रिया' का जो अभाव है वह 'अत्यन्ताभाव' है, क्योंकि 'तादात्म्य-सम्बन्ध' से इतर ('समवाय') सम्बन्ध का यहाँ अभाव है। देखने वाले व्यक्ति में देखने की 'क्रिया' 'समवाय' सम्बन्ध से रहती है इसलिये उस क्रिया का न होना 'समवाय' सम्बन्ध का अभाव है।

**असमस्तस्य अत्यन्ताभावः**—समासरहित 'प्रसज्यप्रतिषेध' का उदाहरण—है 'गेहे घटो नास्ति' (घर में घड़ा नहीं है)। यहाँ भी 'अत्यन्ताभाव' अर्थ ही है क्योंकि घट है 'कर्ता' जिसमें ऐसी सत्ता का अभाव भी 'तादात्म्य'सम्बन्ध से भिन्न ('समवाय') सम्बन्ध का ही अभाव है।

**अन्योऽन्याभावश्च**—समासरहित 'पर्युदासप्रतिषेध' के प्रयोगों से 'अन्योन्याभाव' अर्थ प्रकट होता है। इसका उदाहरण है—'घटो न पटः'। यहाँ 'पट' में जो 'घटत्व' का अभाव है वह 'तादात्म्य'सम्बन्ध का ही अभाव है। 'अन्योऽन्यः' का अर्थ है 'तादात्म्य' या 'अभेद'। इस 'तादात्म्य' के अभाव को ही 'अन्योऽन्याभाव' कहते हैं। समासरहित 'पर्युदासप्रतिषेध' का यह 'अन्योऽन्याभाव अर्थ फलित' अर्थ ही है क्योंकि उसका शाब्दिक अर्थ तो आरोपविषयता या 'आरोप' ही है।

**प्रागभावप्रध्वंसाभावौ तु न नञ्द्योत्यौ**—'प्रागभाव' तथा 'प्रध्वंसाभाव' 'नञ्' के द्योत्य अर्थ नहीं है। 'प्रागभाव' का उदाहरण है—'घटो भवष्यति' (घड़ा उत्पन्न होगा) तथा 'प्रध्वंसाभाव' का उदाहरण है—'घटो नष्टः' (घड़ा टूट गया)। शब्दशक्ति के स्वभाव के कारण दोनों ही अभाव 'नञ्' के द्वारा द्योतित नहीं हो पाते। यद्यपि जब ऐसे पक्के हुए घड़े के लिये जिसकी श्यामता नष्ट हो गयी है यह कहा जाता है कि 'श्यामो घटो नास्ति' (काला घड़ा नहीं है) तो ऐसा लगता है कि यहाँ 'प्रध्वंसाभाव' की प्रतीति 'नञ्' से हो रही है। तथा इसी प्रकार, घड़ा बनने से पहले कपालावस्था में, जब यह कहा जाता है कि 'घटो नास्ति' (घड़ा नहीं है) तो ऐसा लगता है कि यहाँ 'नञ्' 'प्रागभाव' की प्रतीति करा रहा है। परन्तु इन प्रतीतियों को वास्तविक नहीं माना जा सकता क्योंकि सत्य यह है कि इन दोनों ही प्रयोगों में 'अत्यन्ताभाव' का ही द्योतन 'नञ्' से होता है।

**अत्यन्ताभावो विशेष्यतया तिङन्तार्थक्रियान्वय्येव**—'प्रसज्यप्रतिषेध' में 'नञ्' के अर्थ की प्रधानता रहती है जबकि 'पर्युदास' में अप्रधानता। 'प्रसज्यप्रतिषेध' के प्रयोग में चाहे वे समास-सहित हों या समास-रहित, 'नञ्' का अर्थ 'अत्यन्ताभाव' ही होता है। यह 'अत्यन्ताभाव' रूप अर्थ 'तिङन्त पद' (क्रिया पद) के अर्थ (क्रिया) में 'विशेष्य' (प्रधान) रूप से अन्वित होता है। यहाँ के 'तिङन्त पद' को 'कृदन्त' प्रयोगों का भी उपलक्षण माना जाता है, अन्यथा 'असूर्यम्पश्या-राजदाराः' इत्यादि प्रयोगों, में जहाँ 'नञ्', 'तिङन्त पद' से सम्बन्द्ध न होकर, 'कृदन्त पद ('पश्य') से सम्बन्द्ध है, 'अत्यन्ताभाव' तथा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



क्रिया का विशेष्य विशेषण भाव नहीं बन सकेगा। इसके अतिरिक्त 'तिङन्तार्थ-क्रियान्वय्येव' इस वाक्य के 'क्रिया' पद में 'गुण' पद का भी अन्तर्भाव मानना चाहिए क्योंकि ऊपर भाष्य की पंक्ति उद्धृत करते हुए यह कहा गया है 'क्रिया' तथा 'गुण' दोनों की प्राप्ति या विधान कराकर फिर 'नञ्' उनकी निवृत्ति करता है—"प्रसज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चान् निवृत्तिं करोति"।

**तिङ्समभिव्यहृतधातुजन्योपस्थितेः कारणत्वात्**—'प्रसज्यप्रतिषेध' के प्रयोगों में 'तिङन्त' (या 'कृदन्त') पद का अर्थ क्यों 'विशेषण' (अप्रधान) बनता है तथा 'नञ्' का अर्थ ('अत्यन्ताभाव') 'विशेष्य' (प्रधान) बनता है इसका उत्तर यह है कि 'नञ्' के 'अत्यन्ताभाव' रूप अर्थ को 'विशेष्य' रूप में उपस्थित करने का जो कार्य है उस कार्य का कारण है 'तिङन्त' अथवा 'कृदन्त' पद का अर्थ। इस प्रकार 'तिङन्त' अथवा 'कृदन्त' पद का जो अर्थ है उसके 'साधन' (विशेषण) होने के कारण 'नञ्' के द्योत्य अर्थ का 'विशेष्य' होना स्वाभाविक ही है। इस कारण 'घटो नास्ति' का अर्थ है 'घटकर्तृकसत्ताप्रयोगिकोऽभावः,' अर्थात् घट है 'कर्ता' जिसका ऐसी सत्ता है 'प्रतियोगी' जिसमें वह 'अभाव'। घट, 'सत्ता' क्रिया का, 'कर्ता' है तथा 'सत्ता' अभाव का 'प्रतियोगी' है। इस प्रकार 'सत्ता' तथा 'अभाव' दोनों की समान-आश्रयता अथवा समान-अधिकरणता से घट में मिल जाती है।

**अतएव ····पुरुष-वचन-व्यवस्था उपपद्यते**—नञ् के अर्थ 'अत्यन्ताभाव' को क्रिया तथा गुण के प्रति विशेष्य मानने से, व्याकरण की प्रक्रिया की दृष्टि से, एक लाभ यह है कि 'प्रसज्यप्रतिषेध' के प्रयोगों में 'पुरुष' तथा 'वचन' की व्यवस्था सुसंगत हो जाती है। इसके प्रदर्शन के लिये नागेशभट्ट ने चार उदाहरण दिये हैं। ये हैं—'अहं नास्मि', 'त्वं नासि', घटौ न स्तः' 'घटा न सन्ति'। इन सभी प्रयोगों में 'अभाव' अर्थ प्रधान है तथा उसका 'विशेषण' है 'सत्ता', क्योंकि 'सत्ता,' अभाव का 'प्रतियोगी' है ('सत्ताप्रतियोगिताकोऽभावः'—'सत्ता' है 'प्रतियोगी' जिसमें ऐसा 'अभाव') यह ज्ञान इन प्रयोगों से होता है। अब इस 'सत्ता' के 'कर्ता हैं' क्रमशः 'अहम्', 'त्वम्', 'घटौ', 'घटाः'। इनमें 'सत्ता' तथा 'अभाव' दोनों की समान-अधिकरणता बन जाती है, इसलिये इन्हीं के अनुसार 'पुरुष' तथा 'वचन' की व्यवस्था संगत हो सकती है।

**अन्यथा ····· सा न स्यात्**:—यदि उपर्युक्त सिद्धान्त के विपरीत 'नञर्थ' (अत्यन्ताभाव) को विशेषण तथा क्रिया को विशेष्य मान लिया जाए तो—जिस प्रकार 'मद् अभावोऽस्ति' इस प्रयोग में 'मत्प्रतियोगिताकाभावकर्तृकसत्ता' ('मैं' है 'प्रतियोगी' जिसमें ऐसा 'अभाव' है 'कर्ता' जिसमें ऐसी 'सत्ता') इस अर्थ की प्रतीति होने के कारण, 'अभाव' 'कर्ता' है इसलिये उसके साथ, 'सत्ता' क्रिया का सामानाधिकरण्य होने से, 'अभाव' के अनुसार 'अन्य पुरुष' तथा 'एकवचन' का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार—'अहं नास्मि' का अर्थ होगा 'अस्मत्प्रतियोगिताकाभावकर्तृका सत्ता', अर्थात् 'मैं' है 'प्रतियोगी' जिसमें ऐसा 'अभाव' है 'कर्त्ता' जिसमें ऐसी 'सत्ता', न कि 'मत्कर्तृक-सत्ता-प्रतियोगिताकोऽभावः' अर्थात् 'मैं' है 'कर्ता' जिसका ऐसी 'सत्ता' है 'प्रतियोगी' जिसमें ऐसा 'अभाव'। दूसरे शब्दों में 'अभाव' की प्रधानरूप से प्रतीति न होकर 'सत्ता' की प्रधान रूप से प्रतीति होगी तथा उस 'सत्ता' का 'विशेषण' बनेगा 'अभाव'। इस तरह 'युष्मद्', 'अस्मद्' के साथ क्रिया का सामानाधिकरण्य न होकर 'अभाव' के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



साथ उसका सामानाधिकरण्य होगा क्योंकि 'सत्ता' रूप क्रिया का कर्ता वह 'अभाव' ही है। अतः 'अहं नास्मि' इत्यादि सभी प्रयोगों में 'अभाव' के अनुसार केवल 'अन्यपुरुष' तथा 'एक वचन', अर्थात् 'अस्ति' क्रिया, का ही प्रयोग हो सकेगा, क्रमशः 'अस्मि', 'असि', 'स्तः', 'सन्ति' इन भिन्न क्रियाओं का नहीं। यह एक महान् अनौचित्य दोष है।

**'असन्देहः' इत्यादौ ···· फलितएव :**—पर यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाय कि 'अत्यन्ताभाव' रूप 'नञर्थ', 'विशेष्य' (प्रधान) बन कर, क्रिया में अन्वित होता है तो 'असन्देहः' इत्यादि 'प्रसज्यप्रतिषेध' के समासयुक्त प्रयोगों में "नञ्-तत्पुरुष में उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता होती है" इस नियम का उल्लंघन होता है क्योंकि यहाँ तो अभाव की, जो 'नञ्' का अर्थ है, प्रधानता है और इस प्रयोग में 'नञ्' समास का पूर्वपद है। इसलिये यहाँ पूर्वपदार्थ की प्रधानता माननी होगी।

परन्तु इस आक्षेप का उत्तर यह है कि 'असन्देहः' जैसे उदाहरणों में 'प्रसज्य-प्रतिषेध' है ही नहीं, यहाँ तो 'पर्युदासप्रतिषेध' है। इसलिये 'असन्देहः' आदि प्रयोगों में 'नञ्' का शाब्दिक अर्थ केवल 'आरोप' है। 'अत्यन्ताभाव' रूप अर्थ भले ही यहाँ प्रतीत हो रहा है पर वह फलित अर्थ है, अर्थात् 'नञ्' के 'आरोप' रूप अर्थ-ज्ञान के उपरान्त ही उसका ज्ञान होता है।

**वायौ रूपं ·····लक्षणा :**—वैयाकरणों के उपर्युक्त सिद्धान्त को मानने पर 'वायौ रूपं नास्ति' इस प्रयोग में असंगति उपस्थित होती है। अत्यन्ताभाव को प्रधान मानते हुए इस वाक्य का अर्थ होगा "आधारभूत वायु का आधेयभूत जो रूप वह है 'कर्त्ता' जिसका ऐसी सत्ता है 'प्रतियोगी' जिसमें ऐसा अभाव" (वायु-निरूपिताधेयतावद्-रूप-कर्तृक-सत्ता-प्रतियोगिताकोऽभावः)। परन्तु असत्य होने के कारण इस अर्थ को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि सत्य तो यह है कि वायु में रूप होता ही नहीं। इसलिये जब वायु में रूप है ही नहीं तो वह सत्ता का कर्त्ता कैसे बन सकता है। इस कारण 'रूप-कर्तृक-सत्ता' अर्थ असत्य एवं असंगत है। इस असंगति के निवारणार्थ नागेश भट्ट ने तीन समाधान यहाँ प्रस्तुत किये हैं। पहला यह है कि, उपरिनिर्दिष्ट तात्पर्य की अनुपपत्ति या असंगति होने के कारण, 'वायौ रूपं नास्ति' इस प्रयोग के 'रूपम्' को 'रूप के अत्यन्ताभाव' अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग माना जाय तथा 'नञ्' पद को उस तात्पर्य का ग्राहक माना जाय। इस स्थिति में वाक्य का अर्थ होगा—"रूपाभाव है 'कर्ता' जिसमें ऐसी, 'वायु' रूप 'अधिकरण' में रहने वाली, 'सत्ता'"। इस प्रकार 'लक्षणा' का आश्रयण करने तथा 'वायु' का 'सत्ता' में अन्वय कर देने से कोई दोष नहीं आता।

**वस्तुतस्तु·····फलितार्थ एवायम् :**—परन्तु 'लक्षणा' वृत्ति को मानने में एक प्रकार का गौरव है इसलिये 'वस्तुतस्तु' कह कर दूसरा समाधान दिया गया जो सम्भवतः नागेश का अपना मत है। यहाँ दो प्रकार के 'अभावों' की बात उठायी गयी है—'रूप कर्तृक अभाव' तथा 'रूपाभाव'। वायु में 'रूपकर्तृक अभाव' मानने में तो कठिनाई है पर रूपाभाव मानने में कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ये दोनों ही अभाव 'समनियत' हैं—समान स्थान में रहने वाले हैं। दोनों में से कोई भी न्यून या अधिक स्थान में रहने वाला नहीं है, अर्थात् जहाँ 'रूपाभाव' है वहीं 'रूपकर्तृक सत्ता' का अभाव भी है—इससे अन्यत्र नहीं। इस प्रकार 'समनियत' होने के कारण ये

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



दोनों हो—('रूपाभाव' तथा 'रूपकर्तृकाभाव') अभिन्न हैं, एक हैं। इसलिये 'रूप-कर्तृक "सत्ता' का अभाव इस शाब्दबोध के होने पर भी उससे 'फलित' अर्थ के रूप में 'रूपाभाव' अर्थ स्वतः प्रकट हो जायगा। इस रूप में पूर्वोक्त सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता।

**'अरूपम् अस्ति' इत्यर्थकं वा तत्** :—तीसरा समाधान यह दिया गया कि 'वायौ रूपं नास्ति' इस वाक्य में 'रूपं नास्ति' यह अंश 'अरूपम्' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'अरूपम्' यह जो समास का प्रयोग है, वह वैकल्पिक है, अर्थात्—'अरूपम्' तथा 'रूपं नास्ति' दोनों में से किसी एक का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार जब 'अरूपम्' के अर्थ में 'रूपं नास्ति' का प्रयोग किया गया तो, 'अरूपम्' में 'प्रसज्यप्रतिषेध' न होकर 'पर्युदासप्रतिषेध' है तथा 'पर्युदास नञ्' का अर्थ है 'आरोप', इसलिये, यहाँ 'रूपं नास्ति' का शाब्दिक अर्थ होगा—"आरोपित-रूपता वाला जो 'वायु' उस अधिकरण में रहने वाले जो स्पर्श आदि वे हैं कर्त्ता जिसमें ऐसी 'सत्ता' और इस शाब्दबोध से 'रूपाभाव' की प्रतीति 'अर्थ से उत्पन्न ज्ञान' या 'फलित अर्थ' के रूप में हो जायगी (तुलना करो—"अत्यन्ताभावेऽपि 'प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते' इति न्यायेन आरोपितप्रसंगस्यैव निषेधः। तेन 'वायौ रूपं नास्ति' इत्यादावपि वायौ रूपारोपं कृत्वैव निषेधो नञा बोध्यते इति विवेकः" वाचस्पत्यम् कोश)।

**एतेन तार्किकोक्तम् अपास्तम्** :—इस प्रकार वैयाकरणों का यह सिद्धान्त कि "प्रसज्यप्रतिषेध' का अत्यन्ताभाव रूप अर्थ क्रिया के प्रति 'विशेष्य' के रूप में तथा 'क्रिया' उसके 'विशेषण' के रूप में उपस्थित होती है" निर्दोष सिद्ध हो जाता है तथा इसके विपरीत नैयायिकों का सिद्धान्त—"'अत्यन्ताभाव विशेषण के रूप में क्रिया के साथ अन्वित होता है" दोषयुक्त ठहरता है। इसलिये दूषित होने के कारण "अत्यन्ता-भाव है 'विशेषण' जिसमें तथा क्रिया है 'विशेष्य' (प्रधान) जिसमें' ऐसा शाब्दबोध प्रसज्यप्रतिषेध में होता है" यह नैयायिकों का कथन उपर्युक्त विवेचन से खण्डित हो गया।

**[बुद्धिगत शब्द ही वाचक है तथा वही वाच्यार्थ भी है]**

नन्वेवं[1] घटसत्तारूपोऽर्थः प्रथमं बुद्धो नञा निवर्तयितुम् अशक्यः सतो निषेधायोगात्, असतस्तु असत्त्वादेव निवृत्तिसिद्ध्या निषेधो व्यर्थः। तदुक्तम्—

**सतां च न निषेधोऽस्ति सोऽसत्सु च न विद्यते।**
**जगत्यनेन न्यायेन नञर्थः प्रलयं गतः॥**

(प्रमाणवार्तिक, अध्याय, ४, श्लोक २२६)

इति चेत्? न "बौद्धो हि शब्दो वाचकः बौद्ध एव अर्थो वाच्यः" इत्युक्तत्वात् बुद्धिसतोऽप्यर्थस्य नञा

१. ह० में 'एवं·····अशक्यः' यह अंश अनुपलब्ध है। वहाँ 'ननु सतो निषेधायोगात्' पाठ है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



बाह्यसत्तानिषेधात् । बुद्धौ सन्नपि घटो बहिर्नास्ति इत्यर्थात् ।

न च—"'घट'-'अस्ति'-पदाभ्यां या 'घटविषया अस्ति बुद्धिः' जाता सा नञा निवर्त्यते । किं बौद्धार्थस्वीकारेण" इति—वाच्यम् । बुद्धेः शब्दावाच्यत्वेन नञा तन्निषेधायोगात् । एतेन बौद्धार्थम् अस्वीकुर्वन्तो नञर्थबोधाय कष्टकल्पनां कुर्वन्त[1]**स्तार्किकाः** परास्ताः ।

इस प्रकार (नञर्थ—'अत्यन्ताभाव'—का 'विशेष्य' रूप से 'क्रिया' में अन्वय मानने पर) घट की 'सत्ता'-रूप अर्थ का, जो पहले ज्ञात हो चुका है, 'नञ्' के द्वारा निवर्तन असम्भव होगा क्योंकि 'सत्' (विद्यमान) का निषेध नहीं होता और 'असत्' (वस्तु) के तो, (उसकी) सत्ता के न होने से ही, निवारण के (स्वतः) सिद्ध होने के कारण ('नञ्' के द्वारा) निषेध अनावश्यक है । जैसा कि कहा है :—

"विद्यमान वस्तुओं का निषेध (संभव नहीं है और अविद्यमान वस्तुओं में भी वह (निषेध) आवश्यक नहीं है । इस न्याय से संसार में (सर्वत्र) 'नञ्' का अर्थ (प्रयोग) नष्ट हो गया ।"

यदि यह कहा जाय तो वह ठीक नहीं है क्योंकि "बुद्धि में विद्यमान शब्द ही वाचक है तथा बुद्धिगत अर्थ ही वाच्य है" यह (स्फोट प्रकरण में) कहा जा चुका है । (इसलिये) बुद्धि में विद्यमान अर्थ की भी बाह्य सत्ता का निषेध 'नञ्' शब्द द्वारा किया जाता है, जिसका अर्थ यह है कि बुद्धि में विद्यमान घट भी बाहर नहीं है ।

यह नहीं कहा जा सकता कि—"'घट' तथा 'अस्ति' शब्दों के द्वारा जो घट विषयक सत्ता का ज्ञान उत्पन्न हुआ उस ज्ञान का ही 'नञ्' के द्वारा निवारण किया जाता है इसलिये अर्थ को बुद्धिगत मानने की क्या आवश्यकता ?" क्योंकि (घट की सत्ता-विषयक) ज्ञान शब्दों का वाच्य नहीं है । अतः 'नञ्' के द्वारा उस (ज्ञान) का निषेध (भी) सम्भव नहीं है । इस (कथन) से अर्थ को बुद्धिगत न मानने वाले तथा 'नञ्' के अर्थज्ञान के लिये कष्ट-कल्पना करने वाले नैयायिक पराजित हुए ।

वैयाकरणों के उपर्युक्त सिद्धान्त के विषय में यहाँ एक और प्रश्न किया गया है कि "तिङन्त' पद का क्रियारूप अर्थ 'विशेषण' है तथा 'प्रसज्यप्रतिषेध' वाले 'नञ्' का 'अत्यन्ताभाव' रूप अर्थ 'विशेष्य है" इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि 'अभाव' को

१. ह०—कुर्वन्तश्च ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'सत्ताप्रतियोगिक' मानना, अर्थात् 'सत्ता' है 'प्रतियोगी' ('विशेषण') जिसमें ऐसा 'अभाव' यह प्रतिपादन करना। उदाहरण के रूप में 'घटो नास्ति' जैसे वाक्यों में घट के अभाव की जो प्रतीति होती है उस 'अभाव' ज्ञान रूप कार्य में 'प्रतियोगी' या विशेषणभूत 'घटकर्तृक सत्ता' कारण है। इस रूप में 'अभाव' के ज्ञान से पूर्व घट की 'सत्ता' अनिवार्य है। यहाँ कठिनाई यह है कि 'सत्' या विद्यमान घट आदि का निषेध 'नञ्' के द्वारा असम्भव है क्योंकि 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त के अनुसार 'सत्' का कभी भी विनाश नहीं होता और 'असत्' की कभी सत्ता नहीं होती। द्र०—

**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**
**उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥**

गीता (२.१६)

इस तरह विद्यमान की निवृत्ति 'नञ्' के द्वारा हो नहीं सकती और असत् (अविद्यमान) की निवृत्ति, उसके अविद्यमान होने के कारण, स्वतः ही सिद्ध है। अतः उसके लिये 'नञ्' के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार, सत् असत् दोनों ही रूपों में 'नञ्' का प्रयोग न हो सकने के कारण, नञ् के प्रयोग का प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि बुद्धिगत शब्द ही वाचक होता है, जिसे 'स्फोट' कहा गया है, तथा बुद्धिगत अर्थ ही वाच्य होता है। इस कारण, बुद्धिगत अर्थ के ही शब्द द्वारा वाच्य होने के कारण, भले ही वस्तु बुद्धि में विद्यमान रहा करे और उसका निषेध नञ् के द्वारा संभव न हो परन्तु वस्तु की बाह्य सत्ता का निषेध तो नञ् कर ही सकता है क्योंकि बुद्धि में विद्यमान वस्तु भी बाहर न हो ऐसा तो प्रायः ही होता है।

**न च 'घट'-'अस्ति'-पदाभ्याम्.....इति वाच्यम्**—अर्थ को बुद्धिगत मानने के विषय में एक यह आशंका प्रस्तुत की गयी है क्यों न ऐसा माना जाय कि 'घटो नास्ति' जैसे वाक्यों में प्रयुक्त 'घट' तथा 'अस्ति' आदि पदों द्वारा घटविषयक जिस सत्ता का ज्ञान हुआ उसी सत्ता का निवारण 'नञ्' अपने अर्थ द्वारा किया करता है। इतना मान लेने से ही यदि काम चल जाता है तो अर्थ को बुद्धिगत मानने की परोक्ष कल्पना क्यों की जाय?

**बुद्धः शब्दावाच्यत्वेन नञा तन्निषेधायोगात्**:—इस आशंका का समाधान यह है कि 'नञ्' का यह स्वभाव है कि वह जिस शब्द के समीप उच्चरित या प्रयुक्त होता है उसके वाच्य-अर्थ का निषेध कर दिया कर करता है। यहाँ 'घट' तथा 'अस्ति' के साथ प्रयुक्त 'नञ्' इनके वाच्यार्थ का निषेध तो कर सकता है पर कठिनाई यह है कि 'घट' तथा 'अस्ति' पदों का वाच्यार्थ घट-विषयक सत्ता का ज्ञान नहीं है। इसलिये जब 'ज्ञान' या 'बुद्धि' इन 'घट' तथा 'अस्ति' जैसे शब्दों द्वारा वाच्य नहीं है तो यह कैसे मान लिया जाय कि घटविषयक 'अस्ति-बुद्धि' या सत्ता के ज्ञान, का निवर्तन 'नञ्' के द्वारा होगा। घट-विषयक सत्ता के ज्ञान का 'नञ्' के द्वारा निवर्तन तो तब हो सकता है जब 'घटसत्ताबुद्धि' या 'घट-सत्ता-ज्ञान' के साथ 'नञ्' का प्रयोग किया जाय अर्थात् यह कहा जाय कि 'घटसत्ताबुद्धिर्न', अथवा 'घटसत्ताज्ञानं न'। परन्तु यहां तो केवल 'घटो नास्ति' कहा गया है। भाष्यकार पतंजलि के—'प्रसज्यायं क्रियागुणौ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



ततः प्रश्चात् निवृत्तिं करोति" (महा० २.२.६, पृ० १७८)। इस पंक्ति का भी यही आशय है कि शब्द के द्वारा वाच्यार्थ के रूप में उत्पन्न एवं बुद्धि के विषयभूत जो 'क्रिया' अथवा 'गुण' उनका ही प्रतिषेध 'नञ्' निपात करता है।

**['घटो: न पटः' इस प्रयोग के अर्थ के विषय में विचार तथा उसके सम्बन्ध में नैयायिकों के मत का खण्डन]**

'घटो न पटः' इत्यत्र 'घट'पदस्य घटप्रतियोगिकभेदाश्रये अप्रसिद्धा शक्तिरेव लक्षणा, 'नञ्'पदं तात्पर्यग्राहकम्। तात्पर्यग्राहकत्वं द्योतकत्वमेव इत्युक्तम्। अतएव "अन्योन्याभावबोधे प्रतियोग्यनुयोगिपदयोः समानविभक्तिकत्वं नियामकम्" इति **वृद्धोक्तं** संगच्छते।

यत्तु—'घट'पदं घटप्रतियोगिके लाक्षणिकं'नञ्'पदं तु भेदवति, अतो 'घटप्रतियोगिकभेदवान् पटः' इतिबोध इति-**तार्किकैरुक्तम्**, तन्न। भेदवति नञर्थे भेदस्य एकदेशत्वात् तत्र घटार्थानन्वयापत्तेः "पदार्थः पदार्थेन अन्वेति न तु पदार्थैकदेशेन" इति **न्यायात्**। पदद्वये लक्षणा-स्वीकारे **गौरवाच्च**। **भाष्य**-मते लक्षणाया निपातानां वाचकत्वस्य **च** स्वीकाराभावाद् इति संक्षेपः।

'घटो न पटः' (घड़ा वस्त्र नहीं है) इस (प्रयोग) में घट शब्द की, 'घट' है 'प्रतियोगी' ('विशेषण') जिसमें ऐसी 'भिन्नता' के आश्रय ('पट') में अप्रसिद्ध (अभिधा) 'शक्ति' अथवा (दूसरे शब्दों में) 'लक्षणा' है। 'नञ्' पद इस तात्पर्य का ग्राहक है। तात्पर्यग्राहकता (का अभिप्राय) द्योतकता ही है यह कहा जा चुका है। इसीलिये वृद्ध विद्वानों का-"अन्योऽन्याभावबोधे प्रतियोग्यनुयोगिपदयोः समानविभक्तिकत्वं नियामकम्" ('अन्योऽन्याभाव' के ज्ञान में 'प्रतियोगी' पदों का समान अथवा एक विभक्ति में प्रयुक्त होना कारण है) यह कथन सुसङ्गत होता है।

नैयायिकों ने जो यह कहा है कि—"घट' शब्द 'घटप्रतियोगिक' (घट का' इस अर्थ) में 'लाक्षणिक' प्रयोग है तथा 'नञ्' शब्द तो 'भेद' के आश्रय ('पट') में (लाक्षणिक' प्रयोग है)। इसलिये ('घटो न पटः' इस प्रयोग से) 'घट' है 'प्रतियोगी' ('विशेषण') जिसमें ऐसी भिन्नता से युक्त पट यह शाब्द-बोध होता है"—वह उचित नहीं है।

इसका कारण यह है कि 'नञ्' के अर्थ 'भेदवान्' में 'भेद' एक देश (एक भाग या अंश) है इसलिये उस ('नञ्' पद के अर्थ के एकदेशभूत अर्थ 'भेद') में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'घट' रूप 'पदार्थ' ('घट' पद का अर्थ) का अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि—"पदार्थ-पदार्थ के साथ (ही) अन्वित होता है उस (पदार्थ) के एक देश के साथ नहीं"—यह, एक न्याय है। इसके अतिरिक्त दोनों ('घट'तथा 'नञ्' पदों में) 'लक्षणावृत्ति' मानने में गौरव भी है। भाष्यकार के मत में (भी) 'लक्षणा त्ति'वृत था 'निपातों' की वाचकता को स्वीकार नहीं किया गया है। यह ('नञ्' के अर्थ के विषय में) संक्षिप्त विवेचन है।

**अतएव 'अन्योऽन्याभाव०'·· संगच्छते**—'घटो न पटः' इस प्रयोग में 'घट' शब्द की 'घट भिन्न पट' अर्थ में 'लक्षणा' मानने से 'घट' का तिङन्त पद ('अस्ति') के साथ सामानाधिकरण्य हो जायगा जिससे 'घट' शब्द के साथ प्रथमा विभक्ति का संयोजन हो सकेगा। इस रूप में 'भेद' के प्रतियोगी 'घट' तथा अनुयोगी 'पट' दोनों में समान विभक्ति होने से यहां 'अन्योन्याभाव' अर्थ का बोध हो सकेगा और वृद्ध विद्वानों के द्वारा कथित न्याय, "अन्योऽन्याभाव' के बोध में 'प्रतियोगी' तथा अनुयोगी' पदों में समान-विभक्ति का प्रयोग निमित्त बनता है" (अन्योऽन्याभाव-बोधे प्रतियोग्यनुयोगिपदयोः समान-विभक्तिकत्वं नियामकम्) भी सुसंगत हो जायगा।

परन्तु यदि उपर्युक्त पद्धति न मानी गयी तो 'घट' का, 'प्रतियोगिताबोधकत्व' सम्बन्ध से,'पट' में अन्वय स्वीकार करना होगा। इस तरह 'घट' पद का क्रिया ('अस्ति') पद के साथ समान-अधिकरणता न बन सकेगी और तब, क्रिया के द्वारा उसके अनुक्त होने के कारण, 'घट' शब्द के साथ प्रथमाविभक्ति नहीं आ सकेगी। इस स्थिति में, भिन्न विभक्तिकता के होने पर, वृद्ध विचारकों का उपर्युक्त न्याय असंगत हो जायगा।

**यत्तु 'घट'पदं·····स्वीकाराभावात्**—यहां नैयायिकों के मत को अनुचित एव युक्ति-रहित प्रतिपादन करने में नागेश ने तीन हेतु दिये हैं। प्रथम यह कि नैयायिकों के अनुसार 'घट' का अर्थ होगा 'घट-प्रतियोगी' ('घट का') तथा 'नञ्' का अर्थ होगा 'भेदवान्'। परन्तु अन्वय करते हुए 'घट' पद के अर्थ 'घटप्रतियोगी' का 'नञ्' के अर्थ 'भेदवान्' में अन्वय न करके, 'भेदवान्' इस अर्थ के एक भाग, 'भेद' रूप अर्थ के साथ अन्वय करना होगा। इसलिये इस अन्वय में "पदार्थः पदार्थेन अन्वेति न तु पदार्थैकदेशेन" इस न्याय से विरोध उपस्थित होगा।

दूसरा हेतु यह है कि नैयायिकों के अनुसार दोनों 'घट' तथा पट' पदों में 'लक्षणा' वृत्ति माननी होगी जिस में अनावश्यक गौरव होगा तथा पतंजलि के मत से विरोध भी होगा क्योंकि वे 'लक्षणा' वृत्ति को नहीं मानते। इस मत का प्रतिपादन 'लक्षणानिरूपण' के प्रकरण में किया जा चुका है।

तीसरा हेतु यह है कि भाष्यकार पतंजलि 'निपातों' को वाचक नहीं मानते। 'निपात' अर्थ के द्योतक होते हैं यही मत पतंजलि को अभीष्ट है क्योंकि 'नञ्' निपात के विषय में उन्होने स्पष्ट कहा है—"नञ्निमित्ता तूपलब्धिः" अर्थात् 'नञ्' के कारण तो (उस साथ में उच्चरित पद के अर्थ का) द्योतन होता है। परन्तु नैयायिक 'निपातों' को वाचक मानते हुए यहां 'नञ्' को 'भेदवान्' अर्थ का वाचक बताते हैं इसलिये, इस दृष्टि से भी, पतंजलि से उनका विरोध दिखाई देता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



['एव' निपात के विविध अर्थ]

'एव' शब्दस्यार्थः 'अवधारणम्' 'असम्भव'श्च । "एवे चानियोगे" (महा० ६.१.९४) इति **वार्तिके** "नियोगो अवधारणम् । तदभावो असम्भवः" इति **कैय्यटोक्तेः**[1] । अनयोरर्थयोः 'एव' शब्दो द्योतकः । अतएव तं विनापि तदर्थप्रतीतिः । "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" इति **वृद्धोक्तं** संगच्छते । "लवणम् एव असौ भुङ्क्ते' इत्यादौ प्राचुर्यार्थकस्य, 'घट एव प्रसिद्धः' इत्यादौ अप्यर्थकस्य, 'क्वेव भोक्ष्यसे' इत्यादौ असम्भवार्थकस्य च तस्य सत्त्वम्" इति—**आलङ्कारिकाः** ।

'एव' शब्द का अर्थ है 'अवधारण' (नियमन) तथा 'असम्भव' क्योंकि "एवे चानियोगे" इस वार्तिक (की व्याख्या) में " 'नियोग' अर्थात् 'अवधारण' तथा उसका अभाव (अनियोग) अर्थात् 'असम्भव' है" यह कैयट ने कहा है। इन दोनों अर्थों का 'एव' शब्द द्योतक है । इसीलिये उस ('एव') के (प्रयोग के) बिना भी उस ('एव') के अर्थ का ज्ञान होता है तथा "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" (सभी वाक्य अवधारण, अर्थात् नियम के सहित होते हैं) यह वृद्धों का कथन सुसंगत होता है। (इसके अतिरिक्त) 'लवणम् एव असौ भुङ्क्ते' (वह नमक ही खाता है) इत्यादि (प्रयोगों) में 'अधिकता' अर्थ वाले, 'घट एव प्रसिद्ध,' (घट भी प्रसिद्ध है) इत्यादि (प्रयोगों) में 'भी' अर्थ वाले तथा 'क्वेव भोक्ष्यसे' (कहां खाओगे ? अब तो कहीं भी खाना नहीं मिलेगा) इत्यादि (प्रयोगों) में 'असम्भव' अर्थ वाले उस ('एव') की सत्ता है—ऐसा आलंकारिक – विद्वान् कहते हैं ।

"एवे चानियोगे"·····**इति कैय्यटोक्तेः**—कात्यायन की वार्तिक "एवे चानियोगे" से यह स्पष्ट है कि 'एव' निपात के 'नियोग' तथा 'अनियोग' दोनों ही अर्थ है। अन्यथा, यदि केवल 'नियोग' अर्थ ही होता तो, केवल 'अनियोग' अर्थ में ही कात्यायन ने 'एव' के साथ पररूप का विधान न किया होता। 'नियोग' का अर्थ है है 'अवश्यम्भाव' अथवा 'अवधारण' या 'नियमन' । 'अनियोग' का अर्थ है 'अनवक्लृप्ति' (असम्भावना) या 'अनिश्चय' । इस 'अनिश्चय' अर्थ वाले 'एव' के साथ ही पररूप का विधान किया गया है। इसलिये 'नियोग' अर्थ वाले 'एव' के साथ "वृद्धिरेचि" (पा० ६. १. ८८) से प्राप्त वृद्धि होती है । इसीलिये किसी विद्वान् कहा है—

**अनवक्लृप्तौ यदा दृष्टः पररूपस्य गोचरः ।**
**एवस्तु विषयो वृद्धेर्नियमेऽयं यदा भवेत् ॥**
(सिद्धान्तकौमुदी ६. १. ९४ की तत्त्वबोधिनी टीका में उद्धृत)

१. तुलना करो—"कैयटकृत प्रदीप टीका, महा० ६.१.९४. पृ० ६३६; नियोगोऽवश्यम्भावः, अवधारणम् तस्माद् अन्यत्र अर्थे पररूपं भवति"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'अनियोग' के उदाहरण के रूप में 'क्वेव भोक्ष्यसे' प्रयोग मिलता है जिसका अभिप्राय है—'कहाँ खाओगे, अब तो कहीं भी भोजन नहीं मिलेगा ?' देर से आए हुए व्यक्ति के लिये इस प्रकार का उलाहना दिया जाता है। यहां 'एव' का अर्थ 'असम्भावना' है। अथवा इस वाक्य का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि अनेक स्थानों से निमन्त्रण आया है, उनमें में किस स्थान पर खाओगे ? इस द्वितीय अभिप्राय में 'एव' का अर्थ अनिश्चय' है।

इस वार्तिक में 'नियोग' का अर्थ, जिनेन्द्रबुद्धि इत्यादि कुछ विद्वान् 'नियोजन', अर्थात् 'व्यापार', करते हैं (द्र०—न्यास ६.१.९४)। परन्तु इस अर्थ को स्वीकार करने से अनेक प्रयोगों में दोष उपस्थित होता है जिनका प्रदर्शन प्रौढ़मनोरमा इत्यादि में किया गया है। इसलिये 'नियोग' का अर्थ 'अवधारण ही करना चाहिये।

**अनयोरर्थयोः 'एव' शब्दो द्योतकः**—'एव' शब्द इन दोनों, 'नियोग' तथा 'अनियोग', अर्थों का द्योतक है वाचक नहीं क्योंकि 'एव' के प्रयोग के बिना भी अनेक स्थलों में इन अर्थों की प्रतीति होती है तथा 'एव' को द्योतक मानने पर ही "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" (सभी कथन नियम से युक्त होता है) यह वृद्ध आचार्यों का कथन सुसंगत होता है। इस प्रसंग में आचार्य पतंजलि का निम्न कथन द्रष्टव्य है जहाँ से यह आशय निकलता है कि बिना 'एव' के प्रयोग के भी 'अवधारण' अर्थ की प्रतीति होती है—"अथवा सन्ति एकपदानि अप्यवधारणानि। तद्यथा—'अब्भक्षो' 'वायु-भक्षः' इति। अप एव भक्षयति वायुमेव भक्षयति इति गम्यते"। (महा०, भा० १, पृ० ४९)। यहाँ 'एकपदानि' का अभिप्राय है कि 'एव' शब्दरहित एक पद भी अवधारण अर्थ वाले होते हैं। 'एव' का प्रयोग करने पर तो द्विपद अवधारण हो जायगा क्योंकि द्योतक रूप में 'एव' की भी अपेक्षा होगी ही।

[अवधारण के तीन प्रकार]

तच्चावधारणं त्रिविधम्। विशेष्य-संगत-एवकारे—'अन्ययोगव्यवच्छेदरूपम्', विशेषणसंगत-एवकारे—'अयोगव्यवच्छेदरूपम्,' क्रियासंगत-एवकारे—'अत्यन्तायोगव्यच्छेदरूपम्'।

**विशेष्ये**—'पार्थ एव धनुर्धरः'। "पार्थेतरावृत्ति यद्धनुर्धरत्वं तादृशधनुर्धरत्ववान् पार्थः" इति बोधः, इति अन्यस्मिन् धनुर्धरत्व-सम्बन्ध-व्यवच्छेदः।

**विशेषणे**—'शंखः पाण्डुर एव'। 'अयोगः' सम्बन्धाभावः। तस्य व्यवच्छेदो निवृत्तिः। द्वाभ्यां निषेधाभ्यां प्रकृतदार्ढ्यबोधनेन 'अव्यभिचरित-पाण्डुरत्वगुणवान् शंखः' इति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



बोधः, इति 'अयोगव्यवच्छेदः' । न तु नीलः'' इति तु फलति ।

**क्रियायाम्**—'नीलं सरोजं भवत्येव' । 'अत्यन्तः' अतिशयितः, 'अयोगः' सम्बन्धाभावः । तस्य 'व्यवच्छेदः' अभावः । तथा च 'कदाचिन् नीलत्वगुणवद् अभिन्नं यत् सरोजं तत्कर्तृका सत्ता' इति बोधः । 'कदाचिद् अन्यादृशगुण-संयुक्तम्' इत्यपि गम्यते, इति 'अत्यन्तायोगव्यवच्छेदः' ।

वह 'अवधारण' तीन प्रकार का होता है । 'विशेष्य' के साथ संगत होने वाले 'एवकार' में वह (अवधारण) अन्य (विशेषण) में धर्म के सम्बन्ध का अभाव रूप, 'विशेषण' के साथ संगत होने वाले 'एवकार' में (वह 'अवधारण') अयोग (सम्बन्धाभाव) का अभावरूप तथा 'क्रिया' पद के साथ सम्बद्ध होने वाले 'एवकार' में (धर्म के) सम्बन्ध के अत्यन्ताभाव का व्यवच्छेद (अभाव) रूप वाला होता है ।

विशेष्य में (संगत होने वाले 'एवकार' का उदाहरण)—'पार्थ एव धनुर्धरः' (अर्जुन ही धनुष धारण करने वाला है) । 'अर्जुन से अन्य व्यक्तियों में न रहने वाली जो धनुर्धरता है उस (धनुर्धरता) से युक्त अर्जुन' यह ज्ञान होता है । इसलिये (यहाँ) अन्य (व्यक्ति) में धनुर्धरता के सम्बन्ध का व्यवच्छेद (अभाव) है ।

विशेषण में (सम्बद्ध होने वाले 'एवकार' का उदाहरण)—'शङ्खः पाण्डुर एव' (शंख सफेद ही होता है) । 'अयोग' (अर्थात्) सम्बन्ध का अभाव । उसका 'व्यवच्छेद' (अर्थात्) निवृत्ति । दो निषेधों के द्वारा प्राकरणिक अर्थ की दृढ़ता का ज्ञान होने से 'अटूट सम्बन्ध से रहने वाली श्वेतता गुण से शंख युक्त है' यह बोध होता है । इस प्रकार (यहाँ) 'अयोग' का अभाव (धर्म का अटूट सम्बन्ध) है । न कि (शंख) नील वर्ण वाला (भी) होता है यह 'फलित' (अर्थजनित अर्थ) है ।

क्रिया में (सम्बद्ध होने वाले 'एवकार' का उदाहरण)—'नीलं सरोजं भवत्येव' (नीला कमल होता ही है) । 'अत्यन्त' (अर्थात्) अत्याधिक (अथवा नित्य) 'अयोग' (अर्थात्) सम्बन्ध का अभाव । उस (अत्यन्तायोग) का व्यवच्छेद (अर्थात्) अभाव । इस तरह 'कभी नीलत्व गुण (वर्ण) वाला जो कमल उसकी सत्ता' यह ज्ञान होता है । 'कभी अन्य (नीलत्वगुण से भिन्न) गुण से युक्त'

१—निस०, काप्रशु०—हि ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(कमल होता है) यह भी ज्ञान होता है। इस रूप में यहाँ 'अत्यन्तायोग' का व्यवच्छेद (अभाव) है।

यहाँ 'विशेष्य-संगत', 'विशेषण-संगत' तथा 'क्रिया-संगत' में 'विशेष्य' 'विशेषण' तथा 'क्रिया' शब्द क्रमशः विशेष्यवाचकपद' 'विशेषणवाचकपद तथा 'क्रियावाचकपदों' के लिये व्यवहृत हुए हैं।

'एव' के इस त्रिविध अर्थ-प्रकाशन की, स्थिति को किसी विद्वान् ने निम्न कारिका में संगृहीत किया है—

**अयोगम् अन्ययोगं चात्यन्तायोगमेव च।**
**व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधामतः॥**

नागेश की उपर्युक्त पंक्तियों में 'धर्म' शब्द नहीं कहा गया पर उसे वहाँ अध्याहृत समझना चाहिये।

इस तरह जब 'एव' विशेष्य वाचक पद से अन्वित हो तो विशेष्य भूत व्यक्ति या वस्तु से अन्य व्यक्ति या वस्तु में निर्दिष्ट 'धर्म' का निषेध या अभाव 'एव' का द्योत्य अर्थ होता है। जैसे—'पार्थ एव धनुर्धरः' प्रयोग से विशेष्यभूत पार्थ से इतर व्यक्ति में धनुर्धरता रूप 'धर्म के, अभाव की प्रतीति 'एव' शब्द से होती है। इसी को 'अन्य-योग-व्यवच्छेद' कहा गया।

जब विशेषण-वाचक पद के साथ 'एव' शब्द प्रयुक्त होता है तो 'एव' निपात, निर्दिष्ट 'धर्म' का विशेष्य के साथ जो सम्बन्धाभाव उसका निषेध करते हुए, विशेष्य के साथ उस 'धर्म' का नियमन करता है। जैसे—'शंखः पाण्डुर एव' इस प्रयोग में 'एव' पाण्डुरत्व या श्वेतता रूप 'धर्म' का शङ्ख के साथ सम्भाव्य सम्बन्धाभाव का निषेध करता है। अतः यहाँ 'धर्म' के 'अयोग' (सम्बन्धाभाव) का अभाव 'एव' का द्योत्य अर्थ हुआ। इस रूप में 'अयोग' तथा 'व्यवच्छेद' इन दोनों निषेधात्मक शब्दों के कथित होने के कारण दो 'नञ्' यहां उपस्थित होते हैं और ये दो निषेध, विशेष दृढ़ता के साथ, यह बताते हैं कि शंख सफेद ही होता है—कभी भी वह नील आदि वर्णवाला नहीं होता। इस स्थिति को 'अयोग-व्यवच्छेद' कहा गया है।

जब क्रिया-वाचक पद के साथ 'एव' का सम्बन्ध होता है तब वहां निर्दिष्ट 'धर्म' के 'अत्यन्तायोग,' (अत्यधिक सम्बन्ध के अभाव), के निषेध मात्र की प्रतीति 'एव' से होती है। जैसे—'नीलं सरोजं भवत्येव' यहाँ कमल के साथ नीलता का जो सम्भाव्य 'अत्यन्ताभाव' उसी का 'एव' निषेध करता है। इसका अभिप्रायः यह है कि किसी-किसी कमल में नीलता भी रह सकती है—यह आवश्यक नहीं कि केवल नीलता ही कमल में रहे श्वेतता भी कमल में रहती है, अर्थात् कमल नीला भी हो सकता है तथा सफेद भी। इस तरह 'अवधारण' के प्रथम प्रकार के समान यहां न तो यही नियम किया जाता है कि 'कमल ही नीला है' और न, अवधारण के दूसरे प्रकार के समान, 'नीला ही कमल है' यह नियम ही यहां बनता है। अवधारण की इस तीसरी स्थिति को 'अत्यन्ता-योग-व्यवच्छेद' नाम दिया गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[ 'एव' के प्रयोग के बिना भी नियम की प्रतीति ]

क्वचिद् 'एव'-शब्दं विनापि नियम-प्रतीतिः। तद् उक्तं **'भाष्ये'**[1]—"अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः' इत्युक्ते गम्यते एतद् आरण्यो भक्ष्यः' इति। "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" इति न्यायात्। **अलङ्कारिका** अपि 'परिसङ्ख्या'अलङ्-कार-प्रकरणे "प्रमाणान्तरेण प्राप्तस्यैव वस्तुनः पुनः शब्देन प्रतिपादनं प्रयोजनान्तराभावात्-स्व-तुल्य-न्याय-व्यवच्छेदं गमय'ति" इति।

भागवते (११.५.११) अपि :—

लोके व्यवायामिष-मद्य-सेवा
नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाह-यज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥

'व्यवायो' मैथुनम्, 'आमिषम्' मत्स्यादि, 'मद्यम्'—एतेषां सेवा। 'जन्तोः' प्राणिमात्रस्य। 'नित्या' रागतः प्रा'प्ता। अतः 'तत्र'[2] 'चोदना' विधिः, नास्ति।

नन्वेवम् "ऋतौ भार्याम् उपेयात्," "हुतशेषं भक्षयेत्," "सौत्रामण्यां सुरा-ग्रहान् गृह्णाति" इत्येतेषां वैयर्थ्यम्। 'भार्याम्' विवाहिताम्। तत्र आह—'व्यवस्थितिः' इति। तेषु पुनः प्रापणम् इत्यर्थः। नियमस्य अन्य-निवृत्ति-फल-कत्वाद् आह—'आसु निवृत्तिरिष्टा' इति। 'अन्येषु' इति शेषः।

कहीं (कुछ प्रयोगों में) 'एव' शब्द के (प्रयोग के) बिना भी नियम (अवधारण) की प्रतीति होती है। इसलिये भाष्य में कहा है—"अभक्ष्यो

१—तुलना करो—महा०, भा० १, पृ० ३६;
'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः', 'अभक्ष्यो ग्राम्यसूकरः' इत्युक्ते गम्यते एतद् आरण्यो भक्ष्यः।

२—ह० में 'इतर'

३—तुलना करो—काव्य प्रकाश, १०.१२२;
प्रमाणान्तरावगतम् अपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात् सदृश-वस्त्वन्तर-व्यवच्छेदाय यत् पर्यवस्यति सा भवेत् 'परिसंख्या'।

४—निस०, काप्रशु० में 'प्राप्ताः'।

५—ह० में "प्राप्तेति।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



ग्राम्य-कुक्कुटः' (ग्रामीण मुर्गा अभक्ष्य है) यह कहने पर जंगली मुर्गा भक्ष्य है' यह प्रतीति होती है"। क्योंकि "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" (सभी वाक्य नियम सहित होते हैं) यह न्याय है। अलंकार-शास्त्र के आचार्य (मम्मट आदि) भी 'परिसंख्या' अलंकार के प्रकरण में (यह कहते हैं कि)—"दूसरे प्रमाण से प्राप्त हुए वस्तु का पुनः शब्द के द्वारा कथन, दूसरे प्रयोजन के न होने के कारण, अपने समान अन्य वस्तु के अभाव की अभिव्यक्ति कराता है।"

भागवत (पुराण) में भी कहा है—"मैथुन, मांस, मद्य का सेवन लोक में प्राणी के लिये नित्य (स्वतः प्राप्त विषय) हैं। इनमें प्रेरणा अथवा विधान वाक्य (की अपेक्षा) नहीं है। (परन्तु) विवाह, यज्ञ तथा सुराग्रह-परक वाक्यों द्वारा इनकी व्यवस्था (इसलिये) की गयी कि इन (मैथुन, मांस, मद्य के सेवन) से निवृत्ति (ही) अभीष्ट है।"

'व्यवाय' (अर्थात्) मैथुन, 'आमिष' (अर्थात्) मत्स्य आदि (का मांस) तथा मद्य—इनका सेवन। 'जन्तोः' (अर्थात्) प्राणीमात्र के लिये। नित्य हैं- (अर्थात्) स्वभाव या इच्छा से ही प्राप्त हैं। इसलिये इनके विषय में 'चोदना' (अर्थात्) विधि (की आवश्यकता) नहीं है।

यदि ऐसा है तो—"ऋतौ भार्यामुपेयात्" (ऋतुकाल में स्त्री के पास जाय), "हुतशेषं भक्षयेत्" (आहुति से बचे हुए मांस हवि का भक्षण करे), 'सौत्रामण्यां सुराग्रहान् गृह्णाति" (सौत्रामणि याग में सुरापात्र को पकड़े तथा मदिरा पीवे)—ये वाक्य क्या निरर्थक हैं? 'भार्याम्' (का अर्थ है) विवाहित स्त्री। इस पर (इस प्रश्न के उत्तर में) कहते हैं—'व्यवस्थितिः' (अर्थात्) इन कार्यों का पुनः विधान (और उससे अभिव्यक्त नियम)। नियम का प्रयोजन अन्य विधानों का निवारण करना होता है, इसलिये (भागवतकार ने) कहा- इन (मैथुन, मांस, मद्य के सेवन) से निवृत्ति (ही) इष्ट है। (यहां 'भार्या' आदि से) भिन्न (मैथुन आदि के सेवन से) यह शेष है।

**क्वचिद् 'एव' शब्दं विनापि नियम-प्रतीतिः**—नागेश भट्ट ने यहाँ 'क्वचित्' शब्द के द्वारा जिन प्रयोगों की ओर संकेत किया है उन्हें तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। इन तीन प्रकारों का पारिभाषिक नाम है 'नियम', 'परिसंख्या' तथा 'अभ्यनुज्ञा'। इन तीनों ही प्रकार के प्रयोगों में एक प्रकार का 'अवधारण' या नियम पाया जाता है परन्तु इन—'नियम,' 'परिसंख्या' तथा 'अभ्यनुज्ञा' वाले वाक्यों में 'एव' का प्रयोग नहीं होता। बिना 'एव' शब्द के प्रयोग के ही ये वाक्य नियमरूप अर्थ को प्रकट करते हैं। यहां नागेश ने 'नियम' पद का प्रयोग 'नियम', 'परिसंख्या' तथा 'अभ्यनुज्ञा' तीनों के लिये किया है क्योंकि तीनों में सामान्य रूप से नियम की स्थिति पायी जाती है।

**नियम**—'नियम' की परिभाषा है—"नियमः पाक्षिके सति" (तंत्रवार्तिक १.२.३४), अर्थात् एक पक्ष में किसी अन्य प्रमाण से 'विधि' की प्राप्ति होने पर भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



दूसरे पक्ष में भी प्राप्त होने वाले उस विधान के निवारणार्थ पुनः विधान करने को 'नियम' वाक्य कहा जाता है। जैसे—"समे देशे यजेत" (सम स्थान में यज्ञ करे) यह वाक्य "स्वर्गकामो यजेत" (स्वर्गाभिलाषी व्यक्ति यज्ञ करे) इस वाक्य के द्वारा सम तथा विषम सभी तरह के स्थानों में यज्ञ करने का विधान प्राप्त है। इसलिये सम देश में यजन की पाक्षिक प्राप्ति तो है ही। परन्तु विषम देश में भी यजन के पाक्षिक विधान होने से, उस स्थिति में, सम देश में यजन करने की पाक्षिक अप्राप्ति है। इसलिये "समे देशे यजेत" कह कर उस पाक्षिक अप्राप्ति का भी निवारण कर के, यह नियम बना दिया गया कि 'समे देशे एव यजेत (सम भूमि में ही यजन करे, असम भूमि में नहीं)। इस तरह इन नियम-वाक्यों में बिना 'एव' के प्रयोग के भी नियमन या 'अवधारण' की प्रतीति होती है जिससे दूसरे प्रकार की विधि के प्रतिषेध का ज्ञान होता है (द्र०—अर्थ संग्रह ५०)।

**'परिसंख्या विधि'**—परिसंख्या विधि' का लक्षण है—"तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्या विधीयते" (तंत्रवार्तिक १.२.३४), अर्थात् जहाँ दूसरे प्रमाण से सामान्यतया प्राप्त कार्य का पुनः विशेष स्थिति में विधान करना जिससे सामान्यतया प्राप्त दूसरी विधि का निषेध हो जाय। यहाँ 'परि' शब्द वर्जन (निषेध) अर्थ वाला है तथा संख्या' शब्द का अर्थ है 'बुद्धि'। इस रूप में 'परिसंख्या' का शाब्दिक अर्थ हुआ निषेधात्मिका बुद्धि। निषेधात्मिका बुद्धि अथवा 'परिसंख्या' के जनक विधि को 'परिसंख्या विधि' कहा जाता है।

'परिसंख्या विधि' का उदाहरण है—'पंच पंचनखा भक्ष्याः' (पाँच नखवाले पाँच प्राणी भक्ष्य हैं)। मानव की मांसभक्षण की सामान्य प्रवृत्ति के कारण स्वतः सभी प्रकार के पशुओं का मांस खाना, लौकिक व्यवहार के अनुसार, विहित हो जाता है—चाहे वह मांस खरगोश का हो या कुत्ते आदि का। इस तरह सामान्यतया सभी पाँच नखवाले प्राणियों के भक्षण की प्राप्ति होने पर 'पाँच नखवाले' परिगणित पाँच—गोधा, कूर्म, शशक, शल्यक तथा खड्ग—पशु ही भक्ष्य हैं' इस विशेष विधान के द्वारा यह नियमन किया गया कि यदि पाँच नखवाले प्राणियों का माँस खाना है तो जिस किसी भी पाँच नख वाले प्राणी का माँस नहीं खाना चाहिये अपितु, पांच नख वाले केवल उपर्युक्त पाँच प्राणियों का ही मांस खाना चाहिये। पाँच नख वाले इन प्राणियों का संग्रह वाल्मीकीय रामायण के निम्न श्लोक में किया गया है:

**पंच पंचनखा भक्ष्याः ब्रह्मक्षत्रेण राघव।**
**शशकः शल्ककी गोधा खड्गी, कूर्मोऽथपंचमः।**
(किष्किन्धा काण्ड १७.३९)

मनुस्मृति (५.१८), याज्ञवल्क्यस्मृति (१ १७७) तथा वसिष्ठस्मृति (१४.३९) में भी इन पाँच प्राणियों का उल्लेख मिलता है।

'परिसंख्या' के इस स्वरूप के सम्बन्ध में अर्थसंग्रह (५१) का यह अंश द्रष्टव्य है—"उभयोश्च युगपत् प्राप्तौ इतर व्यावृत्तिपरो विधिः 'परिसंख्याविधिः'। यथा—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इति। इदं हि वाक्यं न पंचनखभक्षणपरं, तस्य रागतः प्राप्तत्वात्। नापि नियमपरः—पंच पंचनख-अपंचनख-भक्षणस्य युगपत् प्राप्तेः पक्षेऽप्राप्त्यभावात्। अतः इदम् अपंच-पंचनख-भक्षण-निवृत्तिपरम्, इति भवति 'परिसङ्ख्याविधिः"।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस तरह 'परिसंख्या' के इन प्रयोगों में भी 'एव' के प्रयोग के बिना ही नियम की प्रतीति होती है जिससे स्वतः प्राप्त दूसरी 'विधि' का निषेध हो जाता है।

**आलङ्कारिका अपि.....गमयतीति** :—जिस 'परिसंख्या' की चर्चा ऊपर की गई उसके अलंकृत प्रयोगों को साहित्यशास्त्र के आचार्यों (आलंकारिकों) ने 'परिसङ्ख्या' अलंकार का नाम दिया है। आचार्य मम्मट ने 'परिसंख्या' अलंकार की निम्न परिभाषा दी है :—

**किंचित् पृष्टम् अपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्पते।**
**तादृग् अन्यव्यपोहाय परिसङ्ख्या तु सा स्मृता॥**

(काव्यप्रकाश १०.११६)

इस परिभाषा को स्पष्ट करते हुए मम्मट ने लिखा है—"प्रमाणान्तरावगतम् अपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात् सदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत् पर्यवस्यति सा भवेत् परिसंख्या"। संभवतः मम्मट की इन पंक्तियों के भाव को ही नागेश ने यहाँ आलंकारिकों के नाम से उद्धृत किया है। मम्मट की इन पंक्तियों का अभिप्राय यह है कि प्रमाणान्तर से ज्ञात वस्तु भी जब शब्द से कह दी जाती है तो, उस कथन का कोई और प्रयोजन न होने के कारण, वह कथन अपने सदृश दूसरी वस्तु का व्यावर्तन करता है।

संक्षेप में 'परिसंख्या' अलंकार की परिभाषा है कि 'पूछे जाने पर अथवा बिना पूछे ही यदि कोई ऐसी बात कही जाय जिससे तत्सदृश अन्य का व्यावर्तन अथवा निषेध हो जाय वहाँ 'परिसंख्या' अलंकार माना जाता है। यह कथन प्रश्न पूर्वक अथवा बिना प्रश्न के भी हो सकता है। इस रूप यह दो प्रकार का होता है। कहीं अन्य अर्थ का निषेध प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) होता है तथा कहीं वह वाच्यार्थ के रूप में ही होता है। इस रूप में 'परिसंख्या' के दो और प्रकार हो जाते हैं। इन चार प्रकार के परिसंख्या में से दो प्रकार के उदाहरण नीचे काव्य प्रकार से दिये जा रहे हैं जिन में अन्य अर्थ का निषेध प्रतीयमान होता है क्योंकि नागेश ने 'स्वतुल्यान्यस्य व्यवच्छेदं गमयति' कहकर संभवतः इन्हीं दो प्रकारों का निर्देश यहाँ किया है।

**पहला उदाहरण** :—

**किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः,**
**किम् एकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृतः।**
**किमाराध्यं पुण्यं, किमभिलषणीयं च करुणा,**
**यदासक्त्या चेयं निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति।**

मानवों को किसका सेवन करना चाहिये? गङ्गा नदी के उत्तम तट का (ही सेवन करना चाहिये अन्य व्यसन आदि का सेवन नहीं करना चाहिये)। एकान्त में किसका ध्यान करना चाहिये? विष्णु के चरण युगलों का (ही ध्यान करना चहिये विषय वासना आदि का ध्यान नहीं करना चाहिये)। किसका आराधन (उपार्जन) करना चाहिये? पुण्य का (अर्जन करना चाहिये, पाप का अर्जन नहीं करना चाहिये)। किसकी अभिलाषा करनी चाहिये? दया की (अभिलाषा करनी चाहिये, हिंसा आदि की अभिलाषा नहीं करनी चाहिये)। इन सब के सेवन आदि से चित्त असीम आनन्द की प्राप्ति में समर्थ होता है। यह प्रश्नपूर्विका 'परिसंख्या' का उदाहरण है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



दूसरा उदाहरण :—

**कौटिल्यं कचनिचये कर-चरण-अधरदलेषु रागस्ते ।**
**काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोरवसति ।।**

हे प्रिये ? तुम्हारे केवल केश-समूह में ही कुटिलता है (हृदय में कुटिलता अर्थात् कपटाचरण नहीं है) । हाथ, पैर तथा ओठों में राग (लाली) है (अन्य पुरुष विषयक राग अर्थात् अनुराग नहीं है) । दोनों स्तनों में ही कठोरता (दृढ़ता) है (हृदय में कठोरता अर्थात् निर्दयता नहीं है) । आँखों में ही तरलता (चंचलता) है (मन में तरलता अर्थात् अस्थिरता नहीं है) ।

**भागवतेऽपि·····'अन्येषु' इति शेषः**—भागवत पुराण का यह श्लोक भी 'परिसंख्या' का ही एक अच्छा उदाहरण है । स्वतः मानव की औत्सर्गिक इच्छा ही उसे विषय वासनाओं की ओर आकृष्ट करती है । इसलिये इन कार्यों में मनुष्य को प्रवृत्त करने के लिये किसी प्रकार के 'विधि' वाक्य की आवश्यकता नहीं है । इस रूप में सामान्यतया इन सब कार्यों में स्वतः प्रवृत्ति होने पर भी विशेष स्थितियों में इन का जो विधान किया गया उससे यह नियम बन जाता है कि इन विहित परिस्थितियों में ही इन मैथुन आदि का सेवन करना चाहिये अन्य समयों तथा परिस्थितियों में नहीं ।

यहाँ जिन विशिष्ट परिस्थितियों की ओर संकेत किया गया है वे हैं केवल ऋतुकाल में अपनी धर्मप्रणीता पत्नी के साथ गमन, केवल यज्ञशेष के रूप में मांसभक्षण, केवल सौत्रामणि याग में सुरापान, इत्यादि । किसी समय यज्ञों में मांस तथा सुरा की आहुति देने की परम्परा चल पड़ी थी तथा शास्त्रों में उसका विधान भी कर दिया गया था । आहुति देने से अवशिष्ट मांस तथा सुरा का भक्षण ऋत्विज् आदि करते थे । इस मांसभक्षण तथा सुरापान को पाप नहीं समझा जाता था । पर इनसे अतिरिक्त अवसरों पर मांसभक्षण तथा सुरापान को पाप समझा जाता था । भागवतकार ने 'विवाह-यज्ञसुराग्रहैः' पद से यह बताया कि मैथुन, मांसभक्षण तथा मद्यपान जैसे कार्यों में सामान्यतया व्यक्ति की स्वतः प्रवृत्ति होती है उसके लिये विधान करने की आवश्यकता नहीं होती । फिर भी शास्त्रों में विशेष अवसरों पर इन कार्यों को करने का जो विधान किया गया वह इस बात का नियामक है कि केवल उन्हीं विशिष्ट अवसरों पर वे वे कार्य करने है जिनका विधान शास्त्रकारो ने किया है । अन्य अवसरों पर इन कार्यों से व्यक्ति को निवृत्त करना ही इन विधानों का प्रयोजन है । इस प्रकार के विधायक वाक्यों का पारिभाषिक नाम 'परिसंख्या' है ।

**[प्रसंगतः 'विधि', 'नियम' तथा 'परिसंख्या' के लक्षण और शास्त्रीय उदाहरण]**

तदुक्तम्—

**विधिरत्यन्तम् अप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति ।**
**तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते ।।**

**(तन्त्रवार्तिक १.२.३४)**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



"स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेत" इति 'विधिः'। क्षुत्प्रतिघातो यद्यपि शशकादिमांसैः श्वादिमांसैश्च भवति। तथापि शशकादिमांसैरेव कर्त्तव्य इति परिसंख्यायते "पञ्च पञ्च-नखा भक्ष्याः" इत्यनेन। नखविदलन-अवहननाभ्यां व्रीहेर्निस्तुषीकरणं प्राप्तम्। तत्र अवहनेन[1] निस्तुषीकरणं पुण्यजनकम् इति "व्रीहीन्[2] अवहन्ति" इत्यनेन नियम्यते।

यद्यपि 'परिसङ्ख्यायां' 'नियमे' च--'स्वार्थहानिः' 'प्राप्तबाधः' 'परार्थकल्पना' इति-दोषत्रयम्। तथापि अनन्यगत्या स्वीक्रियते इति **वृद्धाः**। पञ्च पञ्च-नखाः इत्यस्य नियमत्वेन **भाष्ये** (महा०, भा० १, पृ० ३९) व्यवहृतत्वादन्य-निवृत्ति-रूप-फलेन ऐक्याच्च 'नियम'पदेन 'परिसंख्या'अपि व्याकरणे गृह्यते इति संक्षेपः।

## इति निपातार्थ-निर्णयः

इस विषय में (कुमारिल भट्ट ने) कहा है--"(विधान की) सर्वथा अप्राप्ति में 'विधि' (एक) पक्ष में प्राप्ति होने (तथा एक पक्ष में प्राप्ति न होने) पर 'नियम' तथा उस (अभीष्ट) से अन्य में भी विधान की प्राप्ति होने पर 'परिसंख्या' कही जाती है"।

"स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेत" (स्वर्गाभिलाषी व्यक्ति अश्वमेध से यजन करे) यह 'विधि' (वाक्य) है। क्षुधा की निवृत्ति तो यद्यपि खरहे आदि के मांस तथा कुत्ते आदि के मांस से भी हो सकती है फिर भी "पञ्च पञ्च-नखा भक्ष्याः" (पाँच नखवाले पाँच ही जानवर खाने चाहियें) इस वाक्य से खरहे आदि (पांच पञ्च-नख वालों) के मांस से ही (भूख की निवृत्ति) करनी चाहिये —इस तरह 'परिसंख्यान' (परिगणन) कर दिया जाता है। नखों के द्वारा विदलन करके अथवा मूसल से कूट करके (इन दोनों ही उपायों से) धान की भूसी हटायी जा सकती है। उन (दोनों उपायों) में "व्रीहीन् अवहन्ति" (धानों को कूटता है) इस वाक्य से '(मूसल के) अवघात (चोट) द्वारा भूसी का हटाना पुण्यजनक है' यह 'नियम' किया जाता है।

यद्यपि 'परिसंख्या' तथा 'नियम' (के स्थलों) में अपने (वाच्य) अर्थ का परित्याग, (स्वभावतः) प्राप्त का बाध तथा परार्थ अथवा लक्ष्यार्थ को

१. ह० में इसके बाद 'व्रीहेः' पाठ अधिक है।
२. ह०—धान्यम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कल्पना ये तीन दोष (उपस्थित होते) हैं। फिर भी किसी और उपाय के न होने के कारण (इन दोनों को) मान लिया जाता है—ऐसा वृद्ध लोग कहते है।

"पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" इस (वाक्य) के 'नियम' रूप से भाष्य में व्यवहृत होने के कारण तथा ('नियम' और 'परिसंख्या' दोनों में) अन्य के निवारणरूप प्रयोजन के एक होने के कारण 'नियम' शब्द के द्वारा 'परिसंख्या' का भी ग्रहण व्याकरण में किया जाता है। यह संक्षेप (से 'निपातों के विषय में विवेचन) है।

**विधिरत्यन्तम् अप्राप्ते'''परिसंख्या' विधीयते**—इस कारिका में 'विधि','नियम' तथा 'परिसंख्या' इनकी परिभाषायें संक्षेप में दी गयी हैं। 'विधि' उन विधान वाक्यों को कहते हैं जो ऐसी बातों का विधान करते हैं जिनका पहले किसी वाक्य से विधान किया गया हो। इसीलिये, विधान की पहले से सर्वथा अप्राप्ति होने के कारण, 'विधि' को वस्तुतः 'अपूर्व विधि' कहा जाता है। 'विधि' का उदाहरण है—"स्वर्गकामो अश्वमेधेन यजेत", क्योंकि अश्वमेध याग करने का विधान इस वाक्य से पहले किसी अन्य वाक्य द्वारा नहीं किया गया। 'नियम' तथा 'परिसंख्या' के स्वरुप का विवेचन तथा उदाहरण का प्रदर्शन ऊपर किया जा चुका है।

यहां 'नियम' के उदाहरण के रूप में 'व्रीहीन् अवहन्ति' इस वाक्य को प्रस्तुत किया गया है। धानों की भूसी को अलग करने को निस्तुषीकरण कहा जाता है। यह निस्तुषीकरण दो उपायों से हो सकता है नखों से धानों को तोड़कर अथवा मुसल द्वारा कूटकर। 'मुसल द्वारा धानों को कूटना' इस उपाय की पाक्षिक प्राप्ति स्वतः है। इस पाक्षिक प्राप्ति के होने पर भी, नख-विदलन द्वारा निस्तुषीकरण के पक्ष में मुसलावघात की अप्राप्ति है। इस प्रकार पाक्षिक अप्राप्ति मे 'व्रीहीन् अवहन्ति' यह वाक्य नियम करता है कि मुसलावघात से ही धान की भूसियों को अलग करना चाहिये—वही पुण्य जनक है।

**यद्यपि 'परिसंख्यायां' 'नियमे च'''बुद्धाः**—'नियम' तथा 'परिसंख्या' के वाक्यों में नियमन की स्थिति लगभग समान है इसलिये दोनों में ही तीन प्रकार के दोष उपस्थित होते हैं। पहला दोष (स्वार्थ की हानि) यह है कि इनमें वाक्य को अपने वाच्यार्थ का परित्याग करना पड़ता है। जैसे "व्रीहीन् अवहन्ति" इस 'नियम' वाक्य में वाच्यार्थ (धानों को कूटता है) को छोड़ना पड़ता है, उसका परित्याग करना पड़ता है। इसी प्रकार 'परिसंख्या' के वाक्य—पंच "पञ्च-नखा भक्ष्याः" में 'पांच पांच-नख वाले भक्ष्य है' इस वाच्यार्थ का परित्याग करना पड़ता है।

दूसरा दोष (प्राप्त का बाध) यह है कि प्राप्त अर्थ का बाध स्वीकार करना पड़ता है। जैसे—"व्रीहीन् अवहन्ति" में, पुरोडाशविधायक वाक्य से प्राप्त, नखों से भूसी को अलग करने रूप अर्थ की बाधा होती है। इसी प्रकार 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' इस वाक्य में भी स्वतः प्राप्त कुत्ते आदि के मांस-भक्षण रूप अर्थ की बाधा होती है।

तीसरा दोष (परार्थ की कल्पना) यह है कि इन 'नियम' तथा 'परिसंख्या' के वाक्यों में एक दूसरे अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। जैसे—"व्रीहीन् अवहन्ति" इस 'नियम'-वाक्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



में 'नखों से घानों की भूसी को अलग न करे' इस 'लक्ष्य' अर्थ, अथवा, 'अर्थ जन्य' एक अन्य अर्थ, की कल्पना करनी पड़ती है। 'परिसंख्या' के वाक्य में भी 'परिगणित पाँच से इतर पञ्चनख वाले जानवरों को नहीं खाना चाहिये' इस अन्य अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। इन तीनों दोषों का संकलन, 'परिसंख्या'-विषयक, निम्न श्लोक में किया गया है:—

श्रुतार्थस्य परित्यागाद् अश्रुतार्थ-प्रकल्पनात् ।
प्राप्तस्य बाधाद् इत्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा ॥

(अर्थसंग्रह ५३ में उद्धृत)

परन्तु इन तीनों दोषों के होते हुए भी 'नियम' तथा 'परिसंख्या' की कल्पना को इसलिये स्वीकार किया गया कि यदि इन्हें न माना गया होता तो, दूसरे प्रमाणों या वाक्यों से अनिष्ट विधि के प्राप्त होने के कारण, 'परिसंख्या' तथा 'नियम' वाले अनेक वाक्य व्यर्थ हो जाते। इस कारण ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अनेक वाक्यों के निरर्थक हो जाने रूप महान् दोष के निवारण के लिये 'नियम' तथा 'परिसंख्या' की कल्पना की गयी—ऐसा मीमांसा के विशिष्ट आचार्यों का कहना है।

**पंच पंचनखाः···व्याकरणे गृह्यते**—मीमांसा के आचार्यों ने 'परिसंख्या' तथा 'नियम' इन दोनों नियामक विधियों का अलग अलग स्वरूप निर्धारित किया है तथा उनकी भिन्न भिन्न परिभाषायें दी हैं। 'विधि' की पाक्षिक प्राप्ति में जो विधान किया जाता है—वह 'नियम विधि' है। 'सामान्य' तथा 'विशेष' दोनों रूपों में 'विधि' की प्राप्ति होने पर केवल विशेष में जो विधान किया जाता है वह 'परिसंख्या विधि' है। इस प्रकार 'परिसंख्या' में एक साथ दोनों 'विधियां' सम्भव है। जैसे—यहीं दोनों प्रकार के 'पांच नख वाले पांच प्राणियों के मांसों तथा उनसे इतर प्राणियों के मांसों का भक्षण सम्भव है। परन्तु 'नियमविधि' में दोनों विधियां एक साथ सम्भव नहीं है। जैसे—सम तथा विषम दोनों प्रकार के स्थलों में एक साथ यज्ञ सम्भव नहीं है।

पर इस भेद के होते हुए भी व्याकरण के विद्वानों ने 'नियम' तथा 'परिसंख्या' दोनों को, अन्य निवृतिरूप प्रयोजन की एकता के कारण, एक माना है, या 'नियम' में 'परिसंख्या' का भी समावेश मान लिया है। इसीलिये महाभाष्य के प्रथम आह्निक (पस्पशाह्निक पृ० ४०) में 'परिसंख्या के उदाहरणभूत वाक्य को प्रस्तुत करते हुए भी 'परिसंख्या' का नाम न लेकर 'नियम' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। द्र०—"भक्ष्य-नियमेन अभक्ष्य-प्रतिषेधो गम्यते। अभक्ष्य-प्रतिषेधेन वा भक्ष्य-नियमः"। नागेश भट्ट ने अपनी उद्द्योत टीका में इस प्रसङ्ग को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है—"ननु अस्य परिसंख्यात्वात् कथं नियमत्वेन व्यवहारः ? अस्ति च नियमपरिसंख्ययोर् भेदः। पाक्षिकाप्राप्तांशपरिपूरणफलो नियमः, अन्यनिवृत्तिफला च परिसङ्ख्या, इति चेन्न। नियमेऽप्यप्राप्तांशपरिपूरणरूप-फल-बोधन-द्वारा अर्थादन्य-निवृत्तेः सत्त्वेन अभेदम् आश्रित्योक्तेः" (महा०, उद्द्योत टीका, भा० १, पृ० ४०)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# दश-लकारादेशार्थ-निर्णयः

**['लकारों' के स्थान पर विहित 'आदेश'भूत 'तिङ्' की अर्थवाचकता के विषय में विचार]**

यद्यपि लकाराणाम् एवार्थ-निरूपणं तार्किकैः कृतम्, तथापि "उच्चारित एव शब्दो अर्थप्रत्यायको नानुच्चारितः" इति भाष्यात्[1] लोके तथैवानुभवाच्च तदादेश-तिङाम् अर्थो निरूप्यते। "वर्तमाने लट्" (पा०३.२.१२३) इत्यादि-विधायक-"लः कर्मणि०" (पा० ३.४.६९) इति शक्ति-ग्राहक-सूत्राणाम्, आदेशार्थं स्थानिन्यारोप्य, प्रवृत्तिः।

यद्यपि नैयायिकों ने ('लट्' आदि) 'लकारों' का ही अर्थ निर्देश किया है (उनके 'आदेश'-भूत 'तिब्' आदि का नहीं) फिर भी उच्चारित शब्द ही अर्थ का बोधक होता है अनुच्चारित (शब्द) नहीं" इस भाष्य (के वाक्य) से तथा व्यवहार में उसी प्रकार का अनुभव होने से उन ('लकारों') के 'आदेश'भूत 'तिब्' आदि का (यहाँ) अर्थ विचार किया जाता है। "वर्तमाने लट्" इत्यादि ('लकारों' का विशेष काल में) विधान करने वाले (सूत्रों) तथा 'लकारों' का अर्थ बताने वाले "लः कर्मणि०" आदि सूत्रों की रचना, 'आदेश' ('तिब्' आदि) के अर्थ का 'स्थानी' (लकारों) में 'आरोप' करके, की गई है।

**लकाराणाम् ·····कृतम्** नैयायिक विद्वान् यह मानते हैं कि 'कर्त्ता', 'कर्म' आदि 'आख्यातार्थ' के वाचक 'लकार' हैं, 'लकार' के स्थान पर 'आदेश' के रूप में आने वाले, 'तिब्' आदि प्रत्यय नहीं। यदि 'तिब्' आदि 'आदेशों को 'कर्त्ता', 'कर्म' आदि अर्थों का वाचक माना गया तो, इनके अनेक होने के कारण, अनन्त वाचकता 'शक्तियों' की कल्पना करनी पड़ेगी जिसमें अनावश्यक गौरव (विचार) होगा। इसके अतिरिक्त यदि 'तिब्' आदि आदेशों को वाचक माना जाता है तो 'एधाञ्चक्रे इत्यादि प्रयोगों में, जहां इन 'आदेशों' का 'लुक्' हो जाता है या दूसरे शब्दों में अभावरूपता रहती है वहां, अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं होनी चाहिये—यह दोष उपस्थित होता है। इसलिए इन 'आदेशों' के 'स्थानी' 'लकारों' को ही अर्थ का वाचक मानना चाहिये। लकारों की जातिरूपता के आधार पर उनके एक होने के कारण उन्हें वाचक मानने में एक ही

---

१. तुलना करो—महा० १.१.६८ ;
उच्चार्यमाणः शब्दः सम्प्रत्यायको भवति न सम्प्रतीयमानः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'शक्ति' की कल्पना करनी पड़ती है—अतः इस पक्ष में लाघव है। इसके अतिरिक्त आचार्य पाणिनि के "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" इत्यादि सूत्र भी लकारों की वाचकता का ही प्रतिपादन करते हैं क्योंकि उन अभीष्ट अर्थों में 'लकारों' का विधान पाणिनि ने इन सूत्रों द्वारा किया है। जिस प्रकार पाणिनि ने अपने सूत्रों में 'लकारों' के अर्थों का निर्देश किया है उस प्रकार तिब् आदि 'आदेशों' का नहीं।

परन्तु व्याकरण के विद्वान् नैयायिकों के इस विचार से सहमत नहीं हैं। वे 'तिब्' आदि 'आदेशों' को ही अर्थ का वाचक मानते हैं। नागेश भट्ट ने यहाँ नैयायिकों के सिद्धान्त के विपरीत दो युक्तियों का संकेत किया है। पहली युक्ति यह है कि भाष्यकार पतंजलि ने उच्चारित शब्द को ही अर्थ का बोधक माना है अनुच्चारित को नहीं। आख्यात के प्रयोगों में 'तिब्' आदि 'आदेशों' का ही उच्चारण होता है 'लकारों' का नहीं इसलिये पतंजलि के कथन के अनुसार 'आदेश' 'तिब्' आदि को वाचक मानना चाहिये। दूसरी युक्ति यह है कि लोक में—भाषा के लौकिक व्यवहार में—वक्ता तथा श्रोता दोनों को 'तिब्' आदि 'आदेशों' से अर्थ का ज्ञान होता है, 'लकारों' से नहीं। वस्तुतः अनुभव की बात को ही पतंजलि ने अपने कथन में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार अनुभव तथा आचार्य पतंजलि के प्रामाणिक कथन के आधार पर 'तिब्' आदि 'आदेशों' की वाचकता ही सिद्ध होती है, 'लकारों' की नहीं।

भट्टोजि दीक्षित ने अपनी कारिकाओं में नैयायिकों के उपर्युक्त सिद्धान्त का अनेक युक्तियों द्वारा निराकरण किया है जिनकी विस्तृत व्याख्या कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषणसार (पृ० ४६२-७२) में द्रष्टव्य है।

**आदेशार्थं स्थानिन्यारोप्य प्रवृत्तिः**—परन्तु वैयाकरणसम्मत—'आदेशों' की वाचकता—पक्ष में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि 'लकार' अर्थ के वाचक नहीं हैं तो फिर पाणिनि ने "वर्तमाने लट्" तथा "लः कर्मणि०" इत्यादि सूत्रों के द्वारा उन उन विशिष्ट अर्थों के वाचक के रूप में लकारों का विधान क्यों किया?

इस का उत्तर यह है कि 'तिब्' आदि आदेशों में जो अर्थ की वाचकता है उसका, केवल शास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह के लिए, 'स्थानी' के रूप में कल्पित 'लकारों' में आरोप कर लिया जाता है। इस आरोप की पृष्ठभूमि में ही पाणिनि ने "वर्तमाने लट्" आदि सूत्रों की रचना की, 'लकारों' को वस्तुतः अर्थ का वाचक मान कर नहीं।

**['लादेश'मात्र के अर्थ तथा उनका परस्पर अन्वय]**

तत्र संख्याविशेष-कालविशेष-कारकविशेष-भावाः लादेश-मात्रस्य अर्थाः। तथाहि लडादेशस्य वर्तमानकालः, 'शब्' आदि–समभिव्याहारे कर्ता, यक्-चिण्-समभिव्याहारे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



भावकर्मणी, उभय-समभिव्याहारे एकत्वादि-संख्या चार्थः। तद् आह—

**फल-व्यापारयोस्तत्र फले तङ्-यक्-चिणादयः।**
**व्यापारे शप्[1]-श्नमाद्यास्तु द्योतयन्त्याश्रयान्वयम् ॥**

(वैभूसा०—धात्वाख्यातार्थ-निर्णय, कारिका सं० ३)

फल-व्यापारौ तु धात्वर्थौ इत्युक्तम् एव। तत्र तिङ्-[2]समभिव्याहारे तद्-अर्थ-संख्या तद्-अर्थ कारके विशेषणम्। कालस्तु व्यापारे। तदाह—

**फल-व्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।**
**फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम् ॥**

(वैभूसा०, धात्वाख्यातार्थनिर्णय, कारिका सं० २)

तिङर्थः कर्ता व्यापारे, कर्म च फले विशेष[5]णम्। "क्रिया-प्रधानम् आख्यातम्" इति **या[6]स्कोक्तौ** 'क्रिया'-पदं करण-व्युत्पत्त्या व्यापारपरम्, कर्म-व्युत्पत्त्या फल-परम्—इति बोध्यम्। तथा च 'ग्रामं गच्छति चैत्रः' इत्यत्र "एकत्वावच्छिन्न-चैत्राभिन्न-कर्तृको वर्तमान-कालिको ग्रामाभिन्नकर्मनिष्ठो यस्संयोगस्तदनुकूलो व्यापारः", 'ग्रामो गम्यते मैत्रेण' इत्यत्र तु "मैत्रकर्तृक-वर्तमानकालिकव्यापारजन्यो ग्रामाभिन्न-कर्मनिष्ठः संयोगः" इति बोधः।

इस प्रसंग में ('एकत्व' आदि) संख्या विशेष, ('वर्तमान' आदि) काल विशेष, 'कारक' विशेष ('कर्ता' या 'कर्म') तथा भाव (शुद्ध धात्वर्थ) सभी लादेशों ('तिङ्' प्रत्ययों) के अर्थ हैं। जैसे—'लट्' के 'आदेश' (तिङ्') का 'वर्तमान' काल, 'शप्' आदि के साथ 'कर्ता' ('कारक'), 'यक्' तथा 'चिण्' प्रत्यय की समीपता में 'भाव' और 'कर्म' तथा दोनों ('शप्' आदि और 'यक्'

१. ह०—भावकर्म। निस०—भावकर्मणि।
२. ह०—चार्थ इति।
३. ह० तथा वंमि०—श्नमुणवाद्यास्तु।
४. ह० में 'समभिव्याहारे तत्' यह अंश अनुपलब्ध है।
५. ह०—विशेषणम् इति।
६. निरुक्त १.१; भावप्रधानम् आख्यातम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



तथा 'चिण' प्रत्ययों) की समीपता में (समान रूप से) 'एकत्व' आदि 'संख्या' अर्थ हैं। इस (बात) को (भट्टोजि दीक्षित ने) कहा है—

"उन 'फल' तथा 'व्यापार' (रूप धात्वर्थ) में, 'फल' में आश्रय ('कर्म') के अन्वय का द्योतन 'तङ्', 'यक्' तथा 'चिण्' आदि प्रत्यय करते हैं। 'शप्' 'श्नम्' आदि (प्रत्यय) तो 'व्यापार' में आश्रय ('कर्ता') के अन्वय का द्योतन करते हैं"।

'फल' तथा 'व्यापार' धातु के अर्थ हैं यह कहा ही गया है। उनमें 'तिङ्' की समीपता में उस ('तिङ्') का अर्थ 'सङ्ख्या', उस ('तिङ्') के (ही) अर्थ, 'कारक' में विशेषण है। इस (बात) को (दीक्षित ने) कहा है—

"धातु को 'फल' एवं 'व्यापार' का वाचक माना गया है तथा 'तिङ्' को (इन दोनों के) आश्रय ('कर्ता' या 'कर्म') का। 'फल' के प्रति 'व्यापार' प्रधान होता है और तिङ् के अर्थ ('कर्ता', 'कर्म', 'संख्या', 'काल' और 'भाव') तो विशेषण होते हैं"।

"आख्यात (के अर्थ) में 'क्रिया' की प्रधानता होती है" यास्क के इस कथन में 'क्रिया' शब्द 'करण'-व्युत्पत्ति ('क्रियते अनया इति क्रिया') के द्वारा 'व्यापार' अर्थ का बोधक है तथा 'कर्म'-व्युत्पत्ति ('क्रियते यत् सा क्रिया') के द्वारा 'फल' अर्थ का (बोधक है)—यह जानना चाहिये। इस तरह (कर्तृवाच्य में) 'ग्रामं गच्छति चैत्रः (चैत्र गांव जाता है) इस (वाक्य) में "एकत्व' ('संख्या) से युक्त' चैत्र है 'कर्ता' जिसमें ऐसा, 'वर्तमान काल' में होने वाला, तथा ग्राम रूप 'कर्म' में स्थित जो 'संयोग' उसके अनुकूल होने वाला 'व्यापार' (यह बोध होता है) तथा 'ग्रामो गम्यते मैत्रेण' (मैत्र के द्वारा गांव जाया जाता है) इस (कर्मवाच्य के प्रयोग) में "मैत्र है 'कर्त्ता' जिसमें ऐसे, 'वर्तमानकाल' में होने वाले, 'व्यापार' से उत्पन्न, 'ग्राम' रूप 'कर्म' में स्थित, 'संयोग' (रूप 'फल') यह ज्ञान होता है।

**तत्र संख्याविशेष'''संख्या चार्थः**—सभी लादेश सामान्यतया 'संख्या'-विशेष, 'काल'-विशेष और 'कर्ता' तथा 'कर्म' में से किसी न किसी एक 'कारक' अथवा कहीं कहं केवल भाव, अर्थात् शुद्ध 'धात्वर्थ', को कहते हैं। 'शप्', 'श्नम्' आदि प्रत्ययों की समीपता में 'लादेश' का अर्थ 'कर्ता' कारक होता है तथा 'यक्' के साथ आये हुए 'तङ्' आदि की सन्निधि में 'लादेश' का अर्थ 'कर्म' अथवा 'भाव' होता है। अपने इस प्रतिपादन के पोषण के लिये ऊपर नागेश ने दीक्षित की कारिका को उद्धृत किया।

**फलव्यापारयोस्तत्र'''आश्रयान्वयम्** :—दीक्षित की इस कारिका की सरल व्याख्या यह है कि 'परस्मैपदी' धातुओं से विहित 'तिङ्' प्रत्यय, "सार्वधातुके यक्" (पा० ३.१.६७) से विहित 'यक्' प्रत्यय तथा "चिण् भावकर्मणोः" (पा० ३.१.६६) से विहित 'चिण्' प्रत्यय की उपस्थिति में 'लादेश' का अन्वय 'फल' के आश्रय ('कर्म') में होता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



है, अर्थात् इन प्रत्ययों की समीपता में 'लादेश' 'कर्म' कारक का वाचक होता है तथा ये प्रत्यय 'लादेश' की इस वाचकता के द्योतक होते हैं। इसके विपरीत 'शप्', 'श्नम्' आदि प्रत्ययों की उपस्थिति में 'लादेश' का अन्वय 'व्यापार' के आश्रय 'कर्ता' में होता है, अर्थात् इन प्रत्ययों की सन्निधि में 'लादेश' 'कर्ता' कारक का वाचक होता है तथा ये प्रत्यय इस बात का द्योतन करते हैं।

**तत्र तिङ्समभिव्याहारे'''कालस्तु व्यापारे** :—यहां 'लादेश' (तिङ्) के जो अनेक अर्थ-कालविशेष, कारकविशेष, इत्यादि कहे गये हैं उनमें परस्पर संगति या विशेष्य विशेषण-भाव का अन्वय इस प्रकार माना गया है कि 'सङ्ख्या' 'कारकों' ('कर्ता' या 'कर्म') के प्रति विशेषण होती है तथा 'काल' धात्वर्थभूत 'व्यापार' के प्रति। इस व्यवस्था की पुष्टि में नागेश ने पुनः दीक्षित की कारिका उद्धृत की है।

**''फले प्रधानं व्यापारः''**—कारिका के तृतीय चरण में यह आशय व्यक्त किया गया है कि 'फल' के प्रति 'व्यापार' प्रधान ('विशेष्य') है तथा 'फल' उसका 'विशेषण' है। 'ग्रामं गच्छति चैत्रः' जैसे कर्तृवाच्य के प्रयोगों में "ग्राम रूप 'कर्म' में रहने वाले 'उत्तरदेश-संयोग' रूप 'फल' के अनुकूल, तथा 'एकत्व संङ्ख्या' से युक्त चैत्र है 'कर्ता' जिसमें ऐसा, वर्तमानकालिक 'व्यापार'' इस रूप में 'व्यापार'-प्रधान शाब्दबोध होता है। इसी तरह 'ग्रामो गम्यते चैत्रेण' जैसे कर्म-वाच्य के प्रयोगों में भी "चैत्र रूप 'कर्ता' से उत्पन्न वर्तमानकालिक, 'एकत्व' सङ्ख्या से युक्त, तथा ग्राम रूप 'कर्म' में विद्यमान जो संयोग रूप 'फल' उसके अनुकूल होने वाला, 'व्यापार'' यह बोध होता है। यहाँ भी 'व्यापार'-प्रधान ही शाब्दबोध है। कुछ विद्वान् कर्तृवाच्य की दृष्टि से "फले प्रधानं व्यापारः," तथा कर्मवाच्य के प्रयोगों की दृष्टि से "फलेऽप्रधानं व्यापारः" पाठ मान कर अपने नवीन मत का प्रतिपादन कर लेते हैं। इसी मत को नागेश ने भी माना है तथा यास्क के वचन में 'भाव' के स्थान पर 'क्रिया' पद रख कर तथा उसकी द्विविध व्युत्पत्ति करके उसकी पुष्टि भी की है।

**तिङर्थस्तु विशेषणम्** :—'फल' तथा 'व्यापार' इन दोनों के प्रति तिङर्थ—'कर्ता', 'कर्म', 'संख्या' तथा 'काल'—'विशेषण' होते हैं। इनमें भी 'कर्ता' तथा 'कर्म' क्रमशः 'व्यापार' तथा 'फल' के 'विशेषण' हैं। 'तिङर्थ' रूप 'कर्ता' 'व्यापार' का 'आधाराधेयभाव' से 'विशेषण' है। आधार है 'कर्ता' तथा आधेय है 'व्यापार' क्योंकि 'पचति' आदि कर्तृवाच्य के प्रयोगों में कर्तृनिष्ठ 'व्यापार' का बोध होता है। इसी तरह तिङर्थ रूप 'कर्म' 'फल' का 'विशेषण' है। यहां भी आधार-आधेय सम्बन्ध से ही विशेष्य-विशेषण भाव मानना चाहिए। 'कर्म' आधार है तथा 'फल' आधेय है क्योंकि 'पच्यते' आदि कर्मवाच्य के प्रयोगों में तण्डुल में आश्रित विक्लित्ति का बोध होता है।

**ग्रामं गच्छति चैत्रः** —'ग्रामं गच्छति चैत्रः' जैसे कर्तृवाच्य के प्रयोगों में जो शाब्द बोध होता है उसमें 'व्यापार' की प्रधानता रहती है और 'क्रियते यया सा क्रिया' इस ('करण' कारक वाली) व्युत्पत्ति के अनुसार 'क्रिया' शब्द का अर्थ है 'व्यापार'। इस प्रकार 'ग्रामं गच्छति चैत्रः' प्रयोग से—"एकत्व संख्या से विशिष्ट चैत्र जिसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कर्त्ता है, जो वर्तमानकालिक है तथा जो 'ग्राम' रूप कर्म में होने वाले 'संयोग' रूप 'फल' के अनुकूल है ऐसा 'व्यापार''—यह शाब्द बोध होता है।

**ग्रामो गम्यते मैत्रेण**—कर्मवाच्य के 'ग्रामो गम्यते मैत्रेण' जैसे प्रयोगों में शाब्द बोध में फल की प्रधानता होती है। इस दृष्टि से, 'क्रियते यत् सा क्रिया' इस ('कर्म' कारक वाली) व्युत्पत्ति के अनुसार 'क्रिया' शब्द का अर्थ 'फल' माना गया। यहाँ "मैत्र है 'कर्ता' जिसका तथा जो वर्तमानकालिक है ऐसे 'व्यापार' से उत्पन्न होने वाला और 'एकत्व' संख्या से विशिष्ट जो ग्राम रूप 'कर्म' उसमें रहने वाला संयोग रूप 'फल'' यह शाब्द बोध होता है।

**[वर्तमान काल की परिभाषा]**

वर्तमानकालत्वं च प्रारब्धापरिसमाप्तक्रियोपलक्षित-त्वम्।

वर्तमानकालता (की परिभाषा) है प्रारम्भ की गयी, अपरिसमाप्त, क्रिया से उपलक्षित होना।

'वर्तमान' आदि शब्द काल से सम्बद्ध हैं, कालगत हैं। अतः उसकी परिभाषा काल से सम्बद्ध ही हो सकती है, पृथक् नहीं। इसलिए वह काल, जो एक ऐसी 'क्रिया' का आश्रय है जो आरम्भ तो किया गया पर सर्वथा समाप्त नहीं हुआ, 'वर्तमान' काल है। 'क्रिया' से उपलक्षित होना, अर्थात् 'क्रिया' का आश्रय बनना। इस काल के मध्य में होने वाली 'पचन' आदि मुख्य क्रियाओं की किसी भी अवयवभूत क्रिया के लिये 'पचति' आदि 'लडन्त' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। कौण्डभट्ट ने 'वर्तमान' काल की दूसरी परिभाषा दी है "भूतभविष्यद्भिन्नत्वं वर्तमानत्वम्", अर्थात 'भूत'काल तथा 'भविष्यत्' काल से भिन्न काल 'वर्तमान' काल है। काल के तीन ही भेद हैं इसलिये दो से भिन्न करके तीसरे को जाना जा सकता है।

'आत्मा अस्ति' (आत्मा है), 'पर्वताः सन्ति' (पर्वत हैं) जैसे प्रयोगों में 'आत्मा' आदि के नित्य होने के कारण आत्मधारणानुकूल 'व्यापार' आदि को नित्य मानना होगा। अतः इन प्रयोगों में 'क्रिया' के प्रारम्भ न होने से वर्तमान काल का उपर्युक्त लक्षण घटित न हो सकेगा। इस अव्याप्ति दोष का निराकरण यह कह कर दिया गया कि आत्मा के नित्य एवं उत्पत्ति-रहित होने पर भी उसके आश्रय या 'उपाधि'भूत शरीर की उत्पत्ति आदि धर्मों से युक्त होने के कारण शरीरविशिष्ट आत्मा की उत्पत्ति आदि की कल्पना करके 'आत्मा अस्ति' में 'वर्तमानता' की उपपत्ति हो जाती है।

'पर्वताः सन्ति' में भी यद्यपि पर्वत आदि का आत्मधारणानुकूल 'व्यापार' नित्य है तथा उत्पत्ति आदि धर्मों से रहित है। परन्तु भिन्न भिन्न कालों मे होने वाले राजा आदि की क्रिया के उत्पत्ति आदि गुणों से युक्त होने के कारण उन क्रियाओं से विशिष्ट पर्वतों का आत्मधारणानुकूल 'व्यापार' उत्पत्ति आदि से युक्त है। इस तरह यहां भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'वर्तमान-कालता' उपपन्न हो जाती है। इस विषय में महा० (३.२.१२३) तथा वाप० (काल समुद्देश ८०) में विचार किया गया है।

['लिट्' के 'आदेश' भूत 'तिङ्' का अर्थ]

लिट्तिङस्तु भूतानद्यतनकालः परोक्षत्वं चाधिकोऽर्थः। शेषं लङ्वत्। परोक्षत्वं च कारके विशेषणं न तु क्रियायां तस्या अतीन्द्रियत्वेन "लिट्" ("परोक्षे लिट्") (३.२.११५) सूत्रे भाष्ये प्रतिपादनात् व्यभिचाराभावात्।

'लिट्' (के स्थान पर आने वाले) 'तिङ्' का 'अनद्यतन भूतकाल' तथा 'परोक्षत्व' अर्थ अधिक है। शेष ('कारक' तथा 'संख्या') 'लट्' (के आदेशभूत 'तिङ्') के समान हैं। 'परोक्षत्व' विशेषण 'कारकों' से सम्बद्ध होता है 'क्रिया' से नहीं क्योंकि "परोक्षे लिट्" (३.२.११५) सूत्र के भाष्य में 'क्रिया' की अतीन्द्रियता का प्रतिपादन किये जाने के कारण, उसमें ('परोक्षता' का कभी भी) अभाव नहीं है।

**भूतानद्यतनकालः**—'अद्यतन' तथा 'अनद्यतन' भेद से काल दो प्रकार का माना गया है। ये दोनों ही भेद 'भूत' तथा 'भविष्यत्' दोनों कालों के हैं—'अद्यतन भूत', 'अद्यतन भूत' तथा 'अनद्यतन भविष्यत्', 'अनद्यतन' भविष्यत्'।

सामान्यतया आज के समय को 'अद्यतन' (अद्य भवो अद्यतनः) तथा उससे भिन्न काल को 'अनद्यतन' कहा जा सकता है। परन्तु 'अद्यतन' और 'अनद्यतन' की परिभाषा के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् बीती हुई रात्रि के पिछले आधे समय से लेकर आने वाली रात्रि के पहले आधे समय तक, अर्थात् बीती रात्रि के १२ बजे से लेकर आगामी रात्रि के १२ बजे तक 'अद्यतन' तथा उससे अतिरिक्त काल को 'अनद्यतन' मानते हैं। द्र०—"अतीतायाः रात्रेः पश्चार्धेन आगामिन्याः पूर्वार्धेन च सहितो दिवसोऽद्यतनः" (सिकौ० १.२.५७)।

दूसरे विद्वान् यह मानते हैं कि बीती रात्रि के अन्तिम तीसरे या चौथे भाग से लेकर आने वाली रात्रि के प्रथम तीन या चार भाग तक के साथ पूरा दिन, अर्थात् बीती रात्रि के लगभग ३ या ४ बजे प्रातः से लेकर आगामी रात्रि के ९ बजे रात्रि तक का समय 'अद्यतन' है तथा उससे भिन्न 'अनद्यतन'। द्र०—"एकस्या रात्रेश्चतुर्थो यामो दिवसश्च सर्वो द्वितीयायाश्च रात्रेः प्रथमो यामोऽद्यतन इत्याहुः" (महाभाष्य प्रदीप टीका ३.२.११०)। नागेश को भी 'अद्यतन' की यही परिभाषा अभीष्ट है यह उनकी इसी प्रसंग की पंक्ति—"भूतानद्यतनत्वं च अद्यतनाष्टप्रहरीव्यतिरिक्तत्वे सति भूतत्वम्" से स्पष्ट है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**परोक्षत्वं च'''व्यभिचाराभावात्**— यहाँ यह विचार किया गया है कि 'परोक्ष' विशेषण का सम्बन्ध किसके साथ माना जाय ? यदि उसे क्रिया का विशेषण माना जाता है तो वह अनावश्यक है क्योंकि क्रिया तो सदा ही 'परोक्ष' होती है—कभी भी वह प्रत्यक्ष नहीं होती। द्र०—'क्रिया नाम इयम् अत्यन्तापरिदृष्टा अनुमानगम्या अशक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्। यथा गर्भोऽनिर्लुठितः" (महा० १.३.१ तथा ३.२.११५)। भाष्यकार पतंजलि ने भी 'परोक्षे लिट्' सूत्र पर इस प्रश्न को उठाया है तथा यह निर्णय दिया है कि 'परोक्ष' विशेषण 'साधनों' का है। पतंजलि के इस निर्णय को ही नागेश ने यहाँ अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है। कौण्डभट्ट के निम्न शब्द भी यहां तुलना के लिये द्रष्टव्य है :— "व्यापाराविष्टानां क्रियानुकूल-साधनानाम् एव अत्र पारोक्ष्यं विवक्षितम्" (वैभूसा० पृ० १५३)।

**[कृ', 'भू' आदि के अनुप्रयोग के स्थलों में 'कृ' 'भू', आदि धातुओं तथा 'आम्' प्रत्यय के अर्थ का निर्णय और उनके पारस्परिक अन्वय का स्पष्टीकरण]**

कृभ्वाद्यनुप्रयोगस्थले कृभ्वसां क्रियासामान्यम् अर्थः। आम्प्रकृतेस्तु तत्तत्क्रियाविशेषः। समान्यविशेषयोरभेदान्वयः। अकर्मकप्रकृतिक-आमन्तप्रयुक्त-कृभ्वसाम् अकर्मिकैव क्रिया। वस्तुतस्तु अनुप्रयुक्तानां कृभ्वसां फलशून्यक्रियावाचकत्वमेव। सकर्मका'कर्मकत्वव्यवहारस्तु आम्प्रकृतिभूतधातोरेवेति निष्कर्षः। एवञ्च 'एधाञ्चक्रे चैत्रः' इत्यत्र "एकत्वावच्छिन्नपरोक्षत्वावच्छिन्नचैत्रकर्तृका भूतानद्यतनकालाधिकरणिका वृद्ध्यभिन्ना क्रिया" इति बोधः। परोक्षत्वं च साक्षात्कृतम् इत्येतादृशविषयताशालिज्ञानाविषयत्वम्। भूतानद्यतनत्वं च अद्यतनाष्टप्रहरीव्यतिरिक्तत्वे सति भूतत्वम्।

'कृ' 'भू' आदि ('अस्') के 'अनुप्रयोग' के स्थलों ('एधाञ्चक्रे', एधाम्बभूव', 'एधामास') में 'कृ', 'भू', 'अस्' धातुओं का क्रियासामान्य अर्थ ही है। 'आम्' प्रत्यय की प्रकृति (एध्' आदि धातुओं) का तो अर्थ वे वे विशिष्ट 'क्रियाएँ' हैं (जिनके वाचक वे वे धातु हैं जिनसे 'आम्, प्रत्यय आया है)। (इन) सामान्य तथा विशेष (अर्थों) का (परस्पर) अभेदान्वय होता है। 'अकर्मक प्रकृति' (धातु) वाले 'आम्' प्रत्ययान्त' के साथ 'अनुप्रयुक्त' 'कृ', 'भू', 'अस्' (धातुओं) की (वाच्यार्थ भूता) 'क्रिया' भी 'अकर्मक' ही होती है। वास्तविकता

१. द्र०—सकर्मकत्वाकर्मकत्व—।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



तो यह है कि 'अनुप्रयुक्त' 'कृ', 'भू', अस् धातुएँ 'फल'रहित क्रिया-सामान्य (केवल 'व्यापार') के ही वाचक हैं। 'सकर्मकता' तथा 'अकर्मकता' का व्यवहार तो 'आम्' (प्रत्यय) की 'प्रकृति' ('एध्' आदि धातुओं) के आधार पर ही होता है -- यह निष्कर्ष है। और इस प्रकार 'एधाञ्चक्रे चैत्रः' (चैत्र वृद्धि को प्राप्त हुआ) इस प्रयोग में "एकत्व संख्या' से युक्त तथा 'परोक्षता' से विशिष्ट चैत्र है 'कर्ता' जिसका ऐसी, 'भूत अनद्यतन' काल में होने वाली, वृद्धि-रूप क्रिया" यह बोध होता है। 'परोक्षत्व' (का अभिप्राय) है (मैंने) इसका साक्षात्कार किया इस प्रकार की 'विषयता' वाले ज्ञान का विषय न बनना। तथा 'भूतानद्यतनता' (का अभिप्राय) है आज के आठ प्रहर (गत रात्रि के पिछले दो, आगामी रात्रि के पहले दो और बीच के दिन के चार प्रहर) से भिन्न काल का होना।

**कृभ्वाद्यनुप्रयोगस्थले''''''अकर्मिकैव क्रिया** :—'एधाञ्चक्रे', 'एधाम्बभूव' तथा 'एधामास' जैसे प्रयोगों में 'एध्' आदि धातुओं के साथ "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" (पा० ३.१.३६) सूत्र से 'लिट्' लकार में आम् प्रत्यय का संयोजन तथा 'कृ', 'भू' 'अस्' का, "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" (पा० ३.१.४०) सूत्र के अनुसार 'अनुप्रयोग' होता है। यहाँ यह विचारणीय है कि 'आम्' प्रत्यय की प्रकृतिभूत 'एध्', आदि प्रधान धातुओं तथा 'अनुप्रयुक्त' होने वाली 'कृ' आदि धातुओं के अर्थों का परस्पर समन्वय कैसे किया जाय -- जब कि दोनों भिन्न भिन्न 'क्रियाओं' के वाचक हैं।

इस विषय में यहां यह निर्णय दिया गया है कि इन प्रयोगों में 'अनुप्रयुक्त' होने होने वाली 'कृ', 'भू', 'अस्' धातुएं सामान्य व्यापार को कहती हैं तथा 'एध्' आदि धातुएँ, जिनके साथ 'आम्' प्रत्यय आता है, किसी न किसी विशेष ('वृद्धि' के अनुकूल होने वाला 'व्यापार' आदि) 'क्रिया' को कहती हैं। इसलिये इन दोनों सामान्य तथा विशेष अर्थों का परस्पर 'अभेद' सम्बन्ध से अन्वय उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार 'द्रोणः' (ब्रीहिः) प्रयोग में विशेष परिमाण वाले 'द्रोण' पदार्थ का सामान्य परिमाण वाले प्रत्ययार्थ के साथ 'अभेद' रूप से अन्वय होता है। यदि दोनों ही ('एध्' आदि तथा 'कृ' आदि) क्रिया-सामान्य या क्रिया-विशेष को कहते हों तब दोनों का 'अभेदान्वय' सम्भव नहीं हैं क्योंकि शाब्द बोध के लिए आवश्यक है कि इन दोनों क्रियाओं में से एक विशेष हो तथा दूसरा विशेषण—एक सामान्य अर्थ का वाचक हो तथा दूसरा विशेष अर्थ का। यहां ऐसी ही स्थिति नहीं है। इसलिये दोनों धात्वर्थों का परस्पर अन्वय सुसंगत हो जाता है। द्र०—"कृम्वस्तयः क्रिया-सामान्यवाचिनः क्रिया-विशेष-वाचिनः पचादयः" (महा० ३.१.४०)। इन 'अनुप्रयुक्त' धातुओं के क्रिया-सामान्यवाची होने के कारण ही इनके वाच्यार्थ 'क्रिया' को न तो 'सकर्मक' माना जाता है और न 'अकर्मक' अपितु 'आम्' प्रत्यय की प्रकृतिभूत धातु यदि 'अकर्मक' हो तो 'अनुप्रयुक्त' धातुएँ भी 'अकर्मक' बन जाती हैं तथा यदि वह प्रमुख धातु 'सकर्मक' हो तो ये धातुएँ भी 'सकर्मक' हो जाती हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**वस्तुतस्तु अनुप्रयुक्तानाम्·····क्रियासामान्यवाचकत्वम् एव** :—पर यदि इन 'अनुप्रयुक्त' धातुओं को केवल 'क्रिया'-सामान्य का वाचक माना जाता है तो 'एधाञ्चक्रे' का अर्थ होगा "वृद्धि रूप 'फल' के अनुकूल होने वाले 'व्यापार' से अभिन्न सामान्य 'फल' के अनुकूल 'व्यापार''। स्पष्ट है कि 'एधाञ्क्रे' जैसे प्रयोगों का इतना विस्तृत अर्थ मानने में गौरव है। इसलिए नागेश ने 'वस्तुतस्तु' कह कर दूसरा विकल्प प्रस्तुत किया जिसका अभिप्राय है कि ये 'अनुप्रयुक्त' धातुएँ 'फल'-रहित सामान्य-'क्रिया' के वाचक हैं। अतः 'फल'-शून्य 'क्रिया' का वाचक मानने पर 'एधाञ्चक्रे' का अर्थ होगा—"वृद्धि के अनुकूल जो 'व्यापार' उससे अभिन्न 'व्यापार'', जिसमें निश्चित ही पहले की अपेक्षा लाघव है। पहले विकल्प में 'अनुप्रयुक्त 'धातुओं का 'व्यापार'-सामान्य अर्थ मानते हुए भी वहां 'व्यापार' को 'फल' शून्य नहीं माना जाता।

**सकर्मकाकर्मत्व·····क्रियेति बोधः** - यह पूछा जा सकता है कि यदि 'अनुप्रयुक्त' धातुएँ 'फल'-रहित सामान्य क्रिया के वाचक हैं तो फिर उनकी 'सकर्मकता' तथा 'अकर्मकता' का निर्णय कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर यहां यह दिया गया है। 'आम्प्रत्यय' की 'प्रकृति'भूत जो 'एध्' आदि धातुएँ हैं यदि वे 'सकर्मक' हैं तो 'अनुप्रयुक्त' धातु को भी सकर्मक माना जाएगा तथा यदि 'आम्' प्रत्यय की 'प्रकृति' भूत धातु 'अकर्मक' है तो उसके साथ 'अनुप्रयुक्त धातु 'अकर्मक' मानी जाएगी। इस प्रकार इन धातुओं की 'सकर्मकता' तथा 'अकर्मकता' के निर्णय में कोई कठिनाई नहीं होगी।

इस रूप में 'एधाञ्चक्रे चैत्रः' इस प्रयोग में शाब्दबोध होगा "एकत्व' संख्या से युक्त एवं 'परोक्षता' से विशिष्ट चैत्र है 'कर्त्ता' जिसका तथा 'भूत' अनद्यतन काल है 'अधिकरण' जिसका (अर्थात् 'भूत' अनद्यतन काल में होने वाली) ऐसी 'वृद्धि' रूप 'क्रिया''।

**['लुट् के 'आदेश' भूत 'तिङ्' के अर्थ तथा 'भविष्यत्व' की परिभाषा के विषय में विचार]**

लुडादेशस्य तु भविष्यदनद्यतनार्थोऽधिकः। शेषं लङ्वत्।
भविष्यत्त्वं च वर्तमानप्रागभावप्रतियोगिक्रियोपलक्षितत्वम्।

'लुट्' (लकार) के 'आदेश' ('तिङ्') का तो 'भविष्यद् अनद्यतन' अर्थ अधिक है। शेष (अर्थ—संख्या' तथा 'कारक') 'लट्' के ('आदेश'भूत 'तिङ्' के अर्थों के) समान है। भविष्यत्त्व' (की परिभाषा) है वर्तमान (कालीन) 'प्राग-भाव' की 'प्रतियोगी' क्रिया के द्वारा उपलक्षित होना।

'लुट्' लकार का विधायक सूत्र है—"अनद्यतने लुट्" (पा० ३.३.१५ पृ) इस सूत्र में 'भविष्यति गम्यादयः' (पा० ३.३.३) से 'भविष्यति' पद की अनुवृत्ति आरही है तथा 'धातोः' (३.१.९१) से 'धातु' का अधिकार है ही। 'भविष्यति' तथा तथा 'अनद्यतने' पदों का अन्वय धात्वर्थभूत क्रिया में होगा इस प्रकार "अनद्यतने लुट्" का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अर्थ हुआ 'अनद्यतन भविष्यत्' काल में होने वाली 'क्रिया' के वाचक धातु से 'लृट् लकार होता है''।

**भविष्यत्त्वं च ··उपलक्षितत्वम्** :—'अनद्यतन' पद के अभिप्राय के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। भविष्यत् काल की परिभाषा यहाँ यह दी गयी है कि वर्तमान काल में जिसका 'प्रागभाव' है उस 'क्रिया' से उपलक्षित होने वाले, अर्थात् उसके आश्रयभूत, काल को 'भविष्यत्' काल कहते हैं। 'प्रतियोगी' स्वयं वह क्रिया ही है जिसका वर्तमान काल में 'प्रागभाव' है। जैसे—'घटः श्वो भविता' (घड़ा कल बनेगा)। यहाँ घट में होने वाली जो 'सत्ता' रूप क्रिया है वह दूसरे (आने वाले) दिन होगी, इसलिये आज उस सत्ता का 'प्रागभाव' है। यहाँ 'प्रागभाव' का 'प्रतियोगी' है 'सत्ता' क्रिया। यह 'सत्ता' क्रिया कल होगी। इसलिये इस क्रिया के द्वारा उपलक्षित -- इस क्रिया का आश्रयभूत—काल हुआ 'श्वः' (कल)।

['लृट्' स्थानीय 'तिङ्' का अर्थ]

लृट्तिङस्तु भविष्यत्सामान्यम् अर्थः।

'लृट्' (लकार के 'आदेश'भूत) तिङ् का अर्थ सामान्य भविष्यत् काल है।

'लृट्' लकार का विधायक सूत्र है—"लृट् शेषे च" (पा०-३.३.३), जिसमें "भविष्यति गम्यादयः" (पा०३.३.३) से 'भविष्यति' पद की अनुवृत्ति आ रही है। "लृट् शेषे च" इस सूत्र से पूर्ववर्ती सूत्र "तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्" (पा० ३.३.१०) में 'क्रियार्थक क्रिया' का जो अर्थ-निर्देश किया गया उससे अन्य, अर्थात् 'क्रियार्थक क्रिया का अभाव' इस सूत्र के 'शेष' पद से अभिप्रेत है। परन्तु यहाँ के 'च' पद से 'क्रियार्थक क्रिया' के होने पर भी 'लृट्' होता है। जैसे—'शयिष्यते इति स्थीयते' (वह सोयेगा इस लिये रुका है)। अतः "लृट् शेषे च" का यह अर्थ किया जाता है कि "भविष्यत् काल" में होने वाली जो 'क्रिया' उसके वाचक धातु से, 'क्रियार्थक क्रिया' के होने अथवा न होने पर दोनों स्थितियों में, 'लृट्' होता है"।

['लेट्' लकार के 'आदेश'भूत 'तिङ्' का अर्थ]

लेट्तिङस्तु विध्यादिरर्थः, "छन्दसि लिङर्थे लेट्" (पा०३.४.७) इति सूत्रात्। लट् प्रक्रियातो[1] "लेटोऽडाटौ" इति विशेषः। 'भवति', 'भवाति' इति प्रयोगदर्शनात्।

'लेट्' (लकार के 'आदेश') तिङ् के तो 'विधि' आदि अर्थ हैं क्योंकि इस ('लकार') का विधायक सूत्र है—"लिङर्थे लेट्"। 'लट्' (लकार) की प्रक्रिया

१. काप्रशु०—लेट् क्रियातो।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



से 'लेट्' के क्रिया पदों में 'अट्' और 'आट्' ('आगम') विशेष है क्योंकि ('लेट्' लकार में) 'भवति', 'भवाति' (ये प्रयोग) देखे जाते हैं।

पाणिनि ने "लिङर्थे लेट्" सूत्र के द्वारा 'लेट्' लकार का विधान 'विधि' आदि उन्हीं अर्थों में किया जिनमें 'लिङ्' लकार का विधान किया गया है। ये 'विधि' आदि अर्थ हैं—'विधि', 'निमन्त्रण', 'आमंत्रण,' 'अधीष्ट', 'सम्प्रश्न' तथा 'प्रार्थना'।

ये 'लेट्' लकार वाले प्रयोग केवल वेद तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। इसलिये 'लेट्' का विधान भी पाणिनि ने केवल वैदिक प्रयोगों की दृष्टि से किया है। "लिङर्थे लेट्" सूत्र से पहला सूत्र है "छन्दसि लुङ्-लङ्-लिट्:" (पा०३.४.६)। यहाँ से 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति इस सूत्र में आ रही है। इसीलिये सम्भवतः अर्थ की दृष्टि से, नागेश ने "छन्दसि लिङर्थे लेट्" के रूप में सूत्र उद्धत किया है। भट्टोजि दीक्षित ने भी इसीलिये 'लेट्' लकार को केवल 'छान्दस' कहा है—"पंचमो (लेट्) लकारस्तु छन्दोमात्रगोचरः" (सिद्धा०—'तिङन्ते भ्वादयः' के आरम्भ में)।

**लेटोऽडाटौ इति विशेषः**—नागेश ने 'लेट्' तथा 'लट्' लकार के प्रयोगों में रूप की दृष्टि से केवल 'अट्' तथा 'आट्' आगमों का ही अन्तर माना है। परन्तु यह बात केवल 'परस्मैपदी' धातुओं के विषय में ही, किसी हद तक, ठीक हो सकती है। 'आत्मनेपदी' धातुओं के प्रयोगों में तो और भी अन्तर पाये जाते हैं जिनका निर्देश स्वयं सूत्रकार पाणिनि ने अपने सूत्रों—"आत ऐ" (पा० ३.४.९५) तथा "वैतोऽन्यत्र" (पा०३.४.९६) में किया है। इनके उदाहरण हैं—'मन्त्रयैते', 'मन्त्रयैथे', 'शये', 'ईशै', 'गृह्णातै इत्यादि, जिनमें 'आ' के स्थान पर 'ऐ' आदेश हो गया है। 'परस्मैपदी' धातुओं के विषय में भी नागेश का कथन बहुत उचित नहीं है क्योंकि उनमें भी कुछ और विशेषता पायी जाती हैं जिनका निर्देश—"इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" (पा०३.४.९७) तथा "स उत्तमस्य" (पा०३.४.९८) में किया गया है। इनके उदाहरण हैं—'जोषिषत्', 'तारिषत्' तथा "करवाव,' 'करवाम'। इन प्रथम दो उदाहरणों में 'सिप्,' के 'इ' का लोप तथा बाद के उदाहरणों में 'वस्' 'मस्' के 'स्' का लोप हुआ है।

**['लोट्' लकार के स्थान पर आने वाले 'तिङ' का अर्थ]**

> लोट्तिङस्तु विध्यादिरर्थः। तत्र 'अधीष्टम्' सत्कारपूर्वको व्यापारः, 'आगच्छतु भवान् जलं गृह्णातु' इत्यादौ। 'सम्प्रश्नः' अनुमतिः, 'गच्छति चेद् भवान् गच्छतु' इत्यादौ।

'लोट्' (लकार के 'आदेश' भूत) 'तिङ्' के 'विधि' आदि (निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न, प्रार्थना) अर्थ हैं। उनमें, 'अधीष्ट' (का अर्थ) है सत्कार पूर्वक 'व्यापार' (क्रिया में लगाना)। जैसे—'आगच्छतु भवान् जलं

१. ह०—अधीष्टः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'गृह्णातु' (आइये आप जल पीजिये) इत्यादि (प्रयोगों) में। 'सम्प्रश्न' (का अभिप्राय) है अनुमति (स्वीकृति)। जैसे—'गच्छति चेद् भवान् गच्छतु' (यदि आप जाते हैं तो जाइये) इत्यादि (प्रयोगों) में।

['लङ्' के 'आदेश' भूत 'तिङ्' का अर्थ]

लङादेशस्य तु भूतानद्यतनत्वम् अधिकोऽर्थः। शेषं लङ्-वत्।

'लङ्' (लकार) के 'आदेश' ('तिङ्') का तो 'भूत-अनद्यतन' अर्थ अधिक है। शेष (अर्थ—'संख्या' तथा 'कारक') 'लट्' (के 'आदेश' भूत 'तिङ्' के अर्थ) के समान ही हैं।

'लङ्' लकार का विधायक सूत्र है "अनद्यतने लङ्" (पा० ३.२.१११), जिस में "धातोः "(पा० ३.१.९१) तथा "भूते (३.२.८४) इन दो सूत्रों का अधिकार चला आ रहा है। "अनद्यतन" पद 'भूते' का विशेषण है तथा 'भूते' पद 'धातु' के अर्थ 'क्रिया' का। इसलिये "अद्यतने लङ्" का अर्थ है "अद्यतन भूत काल' में होने वाली जो क्रिया उसके वाचक धातु से 'लङ्' लकार होता है'। इस प्रकार 'लङ्' का विशिष्ट अर्थ हुआ 'भूत-अनद्यतनत्व'। इस 'भूतानद्यतनत्व' के अतिरिक्त 'संख्या' तथा 'कारक' रूप जो अर्थ हैं वे 'लट्' के 'आदेश' तिङ् के अर्थ समान हैं।

['लिङ्' के 'आदेश'-भूत 'तिङ्' का अर्थ]

लिङादेशस्य तु विध्यादिरर्थः। तत्र विध्यादिचतुष्टयस्य अनुस्यूतप्रवर्तनात्वेन चतुर्णां वाच्यता लाघवात्। तदुक्तम् हरिणा—

**अस्ति प्रवर्तनारूपम् अनुस्यूतं चतुर्ष्वपि।**
**तत्रैव लिङ् विधातव्यः किं भेदस्य विवक्षया॥**

(वैभूसा० पृ० १६० में उद्धृत)

'लिङ्' (लकार) के 'आदेश' (तिङ्) के तो 'विधि' आदि ('निमन्त्रण' 'आमन्त्रण', 'अधीष्ट', 'सम्प्रश्न' 'प्रार्थना') अर्थ हैं। इन 'विधि' आदि ('विधि' निमन्त्रण,' 'आमन्त्रण,' तथा 'अधीष्ट') चारों पदों में समान रूप से विद्यमान 'प्रवर्तनात्व' (रूप 'धर्म' की दृष्टि) से वाच्यता (वाच्य-अर्थ) माननी चाहिये क्योंकि ऐसा मानने में लाघव है। इसी बात को भर्तृहरि ने कहा है :—

१. भर्तृहरि के वाक्यपदीय में यह कारिका उपलब्ध नहीं है। कौण्डभट्ट ने भी इस कारिका को 'तदुक्तम्' कह कर उद्धृत किया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



चारों (पदों) में ही 'प्रवर्तना' रूप (धर्म) विद्यमान है। उसी ('प्रवर्तना' अर्थ) में 'लिङ्' (लकार) का विधान करना चाहिये। भेद ('विधि' आदि भिन्न भिन्न अर्थों) की विवक्षा से क्या (लाभ) ?

'लिङ्' लकार का विधान उपर्युक्त 'विधि,' 'निमंत्रण', 'आमंत्रण,' 'अधीष्ट', 'सम्प्रश्न' तथा 'प्रार्थना' इन ६ अर्थों में किया गया। विधायक सूत्र का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। इन ६ अर्थों में 'विधि' की प्रमुखता होने के कारण इस लकार को 'विधिलिङ्' कहा जाता है। एक दूसरे सूत्र 'आशिषि लिङ्लोटौ" (पा० ३.३.१७३) से जिस 'लिङ्' का विधान किया जाता है उसे 'आशीर्लिङ्' कहा जाता है।

**विधि**—'विधि' का अर्थ व्याख्याकारों ने 'अपने से छोटे को कार्य में प्रवृत्त होने के लिये प्रेरणा करना' माना है। इस तरह 'विधि' का अभिप्राय आज्ञा देना है। भाष्यकार पतंजलि ने 'विधि' का अर्थ "प्रेषण' किया है'—'विधिर् नाम प्रेषणम्' '(महा० ३.३.१६१) जिसकी व्याख्या करते हुए कैयट ने कहा है—"भृत्यादेः कस्यांचित् क्रियायां नियोजनम्" (प्रदीप टीका)

**निमन्त्रण**—'निमंत्रण' शब्द का अर्थ है 'इस कार्य को अवश्य करना है अन्यथा दोष का भागी बनना पड़ेगा अथवा दण्ड मिलेगा' इस रूप में किसी को कार्य में प्रेरित करना। द्र०—"यन्नियोगतः कर्तव्यं तन्निमन्त्रणम्" (महा० ३.३.१६१) तथा—"असत्याम् अपि इच्छायाम् अकरणे सति अधर्मोत्पत्तेर्नियमेन अवश्यम्भावेन यत् करणं तन्निमन्त्रणम्' (न्यास ३.३.१६१)।

**आमन्त्रण**—'अमन्त्रण' पद का अर्थ है 'प्रेरणा करते हुए भी कर्ता की इच्छा के ऊपर छोड़ देना, उसे कार्य को करने के लिये बाधित न करना'। इस तरह 'आमंत्रण' में अवश्यकर्तव्यता की स्थिति नहीं रहती, कार्य को करना न करना वक्ता की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है। द्र०—"आमन्त्रणे कामचारः", (महा० ३.३.६९) तथा—"यद् इच्छयैव करणं न अनिच्छया, अकरणेऽपि दोषाभावात्, तद् आमन्त्रणम्" (न्यास ३.३.६९)। 'अधीष्ट' तथा 'सम्प्रश्न' का अर्थ ऊपर किया जा चुका है।

**चतुर्णाम् अनुस्यूत-प्रवर्तनात्वेन लाघवात्**—यहाँ निर्दिष्ट 'विधि' आदि प्रथम चार शब्दों में किसी न किसी प्रकार 'प्रवर्तना' अथवा प्रेरणा की स्थिति पायी जाती है। इसलिये इन चारों को भिन्न भिन्न रूप में 'विधि' आदि का वाच्यार्थ न मान कर केवल 'प्रवर्तना' रूप एक वाच्यार्थ मानना चाहिये क्योंकि यह अर्थ चारों शब्दों में अनुगत है, व्याप्त है। ऐसा मानने में लाघव है। इसके विपरीत इन चारों भिन्न भिन्न अर्थों को वाच्य मानने में गौरव है।

**अस्ति प्रवर्तनारूपम्'''विवक्षया**—इस कारिका का आशय यह है कि 'लिङ्' लकार का विधान केवल 'प्रवर्तना' अर्थ में ही करना चाहिये, अर्थात् इन 'विधि' आदि अनेक शब्दों को सूत्र में स्थान नहीं देना चाहिये क्योंकि उनसे किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि तो होती नहीं उलटे गौरव या सूत्र का विस्तार अधिक हो जाता है। भट्टोजि दीक्षित ने भी इस सूत्र की व्याख्या, में "प्रवर्तनायाम् इत्येव सुवचम्" कह कर इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। पर केवल 'प्रवर्तना' (प्रेरणा) शब्द से काम नहीं चल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



सकता क्योंकि 'सम्प्रश्न' में 'प्रेरणा' अर्थ न होने के कारण उसे 'प्रवर्तना के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। इसलिये "प्रवर्तना सम्प्रश्नयोर्लिङ्" यह सूत्र बनाया जा सकता था। यदि भर्तृहरि के नाम से उद्धृत भट्टोजि दीक्षित की उपरिनिर्दिष्ट कारिका के 'चतुर्ष्वपि' पद पर ध्यान दिया जाय तब तो 'प्रवर्तना-सम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्' इस रूप में सूत्र बनाया जाना चाहिये। परन्तु 'प्रवर्तना' में ही में ही 'प्रार्थना' का अर्थ भी समाविष्ट हो जाता है इसलिये वहाँ 'चतुर्षु' को 'पंचसु' का उपलक्षण माना जा सकता है।

आचार्य पाणिनि ने केवल लाघव को ही सूत्ररचना में एकमात्र प्रमुखता नहीं दी थी अपितु सरलता और सुस्पष्टता की दृष्टि से भी विचार किया था। इसीलिये 'प्रवर्तना' (प्रेरणा) के विविध भेदों के प्रदर्शनार्थ अथवा 'विधि' आदि शब्दों के 'प्रवृत्तिनिमित्त'रूप विशिष्ट अर्थों को 'लिङ्' लकार का वाच्यार्थ बनाने की दृष्टि से इन इन सभी शब्दों का निर्देश पाणिनि ने किया। इसी बात का उल्लेख भट्टोजि दीक्षित ने निम्न कारिका में किया है :—

न्यायव्युत्पादनार्थं वा प्रपञ्चार्थम् अथापि वा।
विध्यादीनाम् उपादानं चतुर्णाम् आदितः कृतम्॥
(वैभूसा० पृ० १६० में उद्धृत)

[**'प्रवर्तना' की परिभाषा**]

प्रवर्तनात्वं च प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम्। तच्चेष्टसाधनत्वमेव[1] इति तदेव लिङर्थः। न तु कृति-साध्यत्वम्, तस्य यागादौ लोकत एव लाभाद् इति अन्य-लभ्यत्वात्। न च[2] बलवदनिष्टाननुबन्धित्वम्, द्वेषा-भावेन अन्यथासिद्धत्वाद्—इत्यन्यत्र विस्तरः।

प्रवर्तनात्व (का अभिप्राय) है (कार्य में) प्रवृत्ति के उत्पादक ज्ञान की विषयता का अवच्छेदक (बोधक) होना। और वह (अवच्छेदकता) 'इष्ट साधनता' ही है। इसलिये वह ('इष्टसाधनता') ही 'लिङ्' का अर्थ है। 'यत्न-साध्य' होना तो ('लिङ्' का अर्थ) नहीं है क्योंकि उस ('यत्न-साध्यता' रूप अर्थ) का, याग आदि में, लोक से ही ज्ञान हो जाने के कारण वह (अर्थ) अन्य (लोक) के द्वारा लभ्य (ज्ञेय) है। और 'प्रबल अनिष्ट का उत्पादक न होना' (भी 'लिङ्' का अर्थ) नहीं है क्योंकि (कार्य विशेष-विषयक प्रवृत्ति में) द्वेष का अभाव कारण है इसलिये वह (बलवान् अनिष्ट की अनुत्पादकता रूप अर्थ भी) 'अन्यथासिद्ध' है। यह विचार अन्यत्र (मंजूषा आदि में) विस्तार से किया गया है।

१. निस०, काप्रशु०—साधनत्वस्यैव।
२. ह०—वा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**प्रवर्तनात्वं च**' ' **इष्टसाधनत्वस्यैव**--'प्रवर्तना' शब्द का अभिप्राय है जिसके द्वारा कार्य में व्यक्ति की प्रवृत्ति करायी जाय। 'प्रवर्त्यतेऽनया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ 'प्र' उपसर्ग से युक्त णयन्त 'वृत्' धातु से 'करण' कारक में 'युच्' प्रत्यय माना जा सकता है। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि "प्रवृत्ति का उत्पादक अथवा कारणभूत जो ज्ञान उस ज्ञान का विषय 'प्रवर्तना' है"। जैसे— 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गाभिलाषी यजन करे) यहाँ 'याग मेरे अभीष्ट स्वर्ग का साधन है' ('यागो मदिष्ट-साधनम्') यह ज्ञान ही याग में व्यक्ति की प्रवृत्ति का हेतु है तथा इस ज्ञान का विषय है याग का इष्ट साधन बनना। इसलिये याग-विषयक इष्ट-साधनता ही यहाँ 'प्रवर्तना' है।

इसी अभिप्राय को नागेश ने यहाँ नैयायिकों की भाषा में प्रस्तुत किया है। किसी कार्य में व्यक्ति की प्रवृत्ति का उत्पादक या प्रवर्तक है—'इदं मद् इष्टसाधनम्' (यह कार्य मेरे अभीष्ट वस्तु का साधन है) यह ज्ञान। जैसे—ऊपर के उदाहरण--'स्वर्गकामो यजेत'--में 'याग मेरे अभीष्ट स्वर्ग का साधन है' यह ज्ञान। अतः यह ज्ञान प्रवृत्ति का जनक हुआ। इस ज्ञान का विषय है 'याग का इष्टसाधन' होना। 'विषय' में रहने वाले धर्म को 'विषयता' कहते हैं। इस तरह यहाँ रहने वाली जो 'विषयता' है उसका अवच्छेदक (निरूपक या बोधक) हुआ 'इष्टसाधन'। तथा 'अवच्छेदकत्व' हुआ 'इष्टसाधनत्व'-रूप 'धर्म' जो इष्टसाधन में रहता है। इस प्रकार 'इष्टसाधनता' को ही 'प्रवर्तनात्व' कहा गया और वह 'इष्टसाधनता' ही 'लिङ्' का अर्थ है।

**तदेव लिङर्थः**—'एव' का प्रयोग यहाँ यह बताने के लिये किया गया है कि वैयाकरण केवल 'इष्टसाधनता' को ही 'लिङ्' का अर्थ मानते हैं। वे नैयायिकों के समान 'इष्ट साधनता' के साथ साथ 'कृतिसाध्यता' तथा 'बलवद् अनिष्टाननुबन्धिता' को भी 'लिङ्' का अर्थ नहीं मानते। इसी बात को नागेश ने यहाँ आगे की पंक्तियों में स्पष्ट किया है।

**न तु कृतिसाध्यत्वं···लभ्यत्वात्**--'यह कार्य मेरे द्वारा साध्य है, असाध्य नहीं' इस प्रकार का 'कृतिसाध्यता' का ज्ञान भी यद्यपि कार्य में प्रवृत्ति का हेतु है ही क्योंकि 'पर्वत को उठा लाने' जैसे किसी भी कार्य में किसी भी व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, भले ही उससे कितने भी बड़े इष्ट की सिद्धि क्यों न होती हो। परन्तु इस 'कृतिसाध्यता' का ज्ञान याग आदि कार्यों में लोक ('अनुमान' प्रमाण) आदि से ही सिद्ध है क्योंकि याग करने में कोई ऐसी बात नहीं दिखायी देती जो असाध्य हो। जिस प्रकार हम किसी भी साध्य कार्य को करते हैं उसी प्रकार 'याग' को भी कर सकते हैं। 'यागो मत्कृतिसाध्यः। मत्कृतिसाध्यत्वविरोधिधर्मानाक्रान्तत्वात्। मदीयनगरगमनादिवत्' इस प्रकार के अनुमान से 'याग' की कृतिसाध्यता ज्ञात हो जाती है। अतः 'यजेत' आदि 'लिङ्' लकार के क्रियापदों में कृति-साध्यता को 'लिङ्' का अर्थ मानना अनावश्यक है क्योंकि "अनन्य-लभ्यः शब्दार्थः" इस न्याय के अनुसार 'प्रत्यय' आदि का अर्थ वही होना चाहिये जो किसी अन्य विधि से ज्ञात न हो सके। इसलिये 'कृतिसाध्यता' को 'लिङ्' का अर्थ न मान कर केवल 'इष्टसाधनता' को ही 'लिङ्' का अर्थ मानना चाहिये क्योंकि 'अभीष्ट स्वर्ग का साधन याग है' इस प्रकार की यागविषयक 'इष्ट साधनता' का ज्ञान केवल वेद के 'यजेत' पद द्वारा ही हो पाता है। अतः उसकी 'अनन्यलभ्यता'—किसी अन्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अनुमान अदि उपायों द्वारा उसका ज्ञान न हो सकने—के कारण उसे ही वैयाकरण 'लिङ्' का अर्थ मानता है।

**न च बलवदनिष्टाननुबन्धित्वम्, द्वेषाभावेनान्यथासिद्धत्वात्**—'इष्टसाधनता' के ज्ञान के समान ही, कार्य में प्रवृत्त होने के लिये, यह ज्ञान भी आवश्यक है कि इस कार्य से किसी बहुत बड़े अनिष्ट की उत्पत्ति नहीं होगी। जैसे—विष-मिश्रित सुस्वादु भोजन में हमारी प्रवृत्ति इसीलिये नहीं होती कि हम जानते हैं इसमें विष मिला हुआ है तथा सुस्वादुरूप 'इष्टसाधनता' के साथ साथ यह मृत्यु रूपी महान् अनिष्ट का भी कारण बनेगा। इसलिये नैयायिक इस प्रकार के प्रबल अनिष्ट के अनुत्पादक ज्ञान को भी 'लिङ्' का अर्थ मानते हैं।

परन्तु किसी भी व्यक्ति की प्रवृत्ति ऐसे कार्य में नहीं होती जहाँ कोई प्रतिबन्धक हेतु होता है। अतः किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने के लिये प्रतिबन्धक के अभाव को भी अवश्य कारण मानना पड़ता है। इसीलिये सभी कारणों के उपस्थित होने पर भी यदि कोई प्रतिबन्ध या रुकावट आ जाती है तो कार्य नहीं होता। जैसे—चक्र, चीवर तथा कुम्हार के होते हुए भी यदि कुम्हार बीमार है तो घटोत्पत्तिरूप कार्य नहीं हो पाता। विषमिश्रित भोजन में भी तृप्ति सुख की अपेक्षा मृत्यु रूप प्रबल दुख की उत्पादकता के होने के कारण उस दुख की आशंका से उत्पन्न विरक्ति ही उस भोजन के करने में प्रतिबन्धक के रूप में उपस्थित होती है। जहाँ इस प्रकार का कोई प्रतिबन्धक नहीं होता वहाँ, भोजनादि कार्यों में, व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है। इसलिए याग आदि में, जहाँ बहुत परिश्रम तथा धन की अपेक्षा सुखविशेष (स्वर्ग) की प्राप्ति होती है, स्वर्गाभिलाषी व्यक्ति की प्रवृत्ति होगी ही। इस तरह 'प्रतिबन्धकाभाव' को सर्वत्र कार्योत्पत्ति में कारण मानने पर प्रवृत्ति में भी प्रतिबन्धकाभाव का ज्ञान स्वतः हो जाया करेगा।

अतः 'अन्यथासिद्ध', अर्थात् अन्य प्रकार से प्रतिबन्धकाभावरूप कारण के द्वारा ही कार्य के सिद्ध, होने से 'बलवद्-अनिष्ट-अननुबन्धित्व' के ज्ञान (प्रबल अनिष्ट या दुख से असम्बद्ध होना रूप ज्ञान) को प्रवृत्ति में हेतु मानना अनावश्यक है।

इस तरह 'कृति-साध्यता' के अनुमानगम्य होने तथा 'बलवद् अनिष्टाननुबन्धित्व' के 'अन्यथासिद्ध' होने अथवा अनुपयोगी होने के कारण केवल 'इष्टसाधनता' ही 'लिङ् लकार का वाच्य अर्थ है ऐसा व्याकरण के विद्वान् मानते हैं।

आचार्य मण्डनमिश्र को भी 'प्रवर्तना', अथवा प्रवृत्तिजनक ज्ञान के विषय के रूप में 'इष्टसाधनता' ही 'लिङ्' के अर्थ के रूप में अभिप्रेत है। द्र०—

> **पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः।**
> **प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम्॥**
>
> (वैभूसा० पृ० १६३ में उद्धृत)

इष्टाभ्युपायत्व (इष्टसाधनता) से अतिरिक्त, क्रिया में पुरुष को प्रवृत्त कराने वाले, और कोई भी ('कृति-साध्यता' तथा 'बलवद्-अनिष्टाननुबन्धिता') नहीं है। प्रवृत्ति के हेतुभूत धर्म (इष्ट-साधनता) को ही 'प्रवर्तना' कहते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस 'प्रवर्तना' को ही मीमांसकों ने 'शाब्दी भावना' कहा है तथा इसकी परिभाषा यह की है कि "पुरुष की कार्य में प्रवृत्ति हो इसलिये भावयिता या प्रेरक का प्रेरणारूप व्यापार विशेष 'शाब्दी भावना" है। द्र०—"तत्र पुरुष-प्रवृत्त्यनुकूलो भावकव्यापारविशेषः शाब्दी भावना" (मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० ५)। यह 'शाब्दी भावना' आख्यात के 'लिङ्' अंश का वाच्यार्थ है क्योंकि 'लिङ्' लकार के प्रयोगों को सुनने पर उनसे यह प्रतीत होता है कि यह कहने वाला मुझे इस कार्य को करने के लिये प्रेरित कर रहा है। यह विशिष्ट 'व्यापार' अथवा 'शाब्दी भावना' या 'प्रवर्तना' लौकिक वाक्यों में वक्ता पुरुष में विद्यमान अभिप्राय विशेष है। परन्तु वैदिक वाक्यों में 'लिङ्' आदि शब्दों में ही रहता है क्योंकि वेद मीमांसकों की दृष्टि में अपौरुषेय हैं, उनका कोई कर्त्ता या वक्ता नहीं है। इसीकारण इसे 'शाब्दी भावना' कहा जाता है। द्र०—"अतश्च शब्दनिष्ठ एव प्रेरणापर्यायो व्यापारः शाब्दी भावना। सैव च प्रवर्तनात्वेन रूपेण विध्यर्थः" (मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० २६९ तथा अर्थसंग्रह ६)।

**['लुङ्' लकार के 'आदेश' भूत 'तिङ्' का अर्थ तथा 'भूतत्व' की परिभाषा]**

लुङादेशस्य तु भूतसामान्यम् अर्थः। भूतत्वं च वर्तमान-ध्वंस-प्रतियोगि-क्रियोपलक्षितत्वम्।

'लुङ्' लकार के 'आदेश' ('तिब्' आदि) का अर्थ सामान्य 'भूत' काल है। 'भूतत्व' (का अभिप्राय) है (अतीत में हुई क्रिया का) वर्तमानकालीन जो ध्वंस उसके 'प्रतियोगी' (अतीतकालीन क्रिया) से उपलक्षित होना।

**भूतत्वं च वर्तमानध्वंसप्रतियोगिक्रियोपलक्षितत्वम्**— यहाँ 'वर्तमानध्वंस' पद के 'वर्तमाने ध्वसः' अथवा 'वर्तमानो ध्वंसः' इस रूप में विग्रह किया जा सकता है। दोनों ही विग्रहों में 'वर्तमानकालिक ध्वंस' अभिप्राय ही प्रकट होता है। यह वर्तमानकालिक ध्वंस 'अतीत' काल में होने वाली क्रिया का ही हो सकता है। इस तरह अतीत काल में की गयी क्रिया का वर्तमान काल में होने वाला ध्वंस ही यहाँ 'वर्तमान-ध्वंस' पद का अभिप्राय है। इस ध्वंस का 'प्रतियोगी' क्रिया, अर्थात् जिस क्रिया का यह ध्वंस है, जिस काल में अविनष्ट या ध्वंसरहित थी वह काल ही 'भूत'काल है।

**['लुङ्' लकार के 'आदेश'-भूत 'तिङ्' का अर्थ]**

लुङादेशस्य तु क्रियातिपत्तौ गम्यमानायां हेतुहेतुमद्भावे च गम्यमाने भूतत्वं भविष्यत्त्वं चार्थः। आपादना तु गम्यमाना। भूते—एधश्चेद् अलप्स्यत ओदनम्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अपक्ष्यत । भविष्यति—सुवृष्टिश्चेद् अभविष्यत् सुभिक्षम्[1] अभविष्यद् इति संक्षेपः ।

## इति दश-लकारादेशार्थ-निर्णयः ।

'लृङ्' (लकार) के 'आदेश' ('तिङ्') का तो क्रिया की अनिष्पत्ति (असिद्धि) के गम्यमान होने तथा 'हेतुहेतुमद्भाव' (कार्यकारणभाव) के प्रतीत होने पर भूत काल तथा भविष्यत् काल अर्थ है। 'आपादना' (एक वस्तु के न होने पर दूसरी वस्तु के न होने का प्रसंग) तो गम्य है। भूतकाल में (उदाहरण है) —'एधश्चेद् अलप्स्यत ओदनम् अपक्ष्यत' (यदि लकड़ी मिली होती तो चावल पका होता)। भविष्यत् काल में (उदाहरण है)—'सुवृष्टिश्चेद् अभविष्यत् सुभिक्षम् अभविष्यत् (यदि अच्छी वृष्टि होगी तो सम्पन्नता होगी)। (वैयाकरणों की दृष्टि से) यह संक्षिप्त (लकारार्थनिर्णय) है।

**लृङादेशस्य.....भविष्यत्त्वं चार्थः**—'लृङ्' लकार का विधायक प्रथम सूत्र है "लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ" (पा० ३.३.१३९)। इस सूत्र में ऊपर के सूत्र "भविष्यति मर्यादावचनेऽवरस्मिन्" (पा० ३.३.१३८) से 'भविष्यति' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः यह सूत्र भविष्यत् काल में, 'लिङ्' लकार के निमित्तभूत 'हेतुहेतुमद्भाव' अथवा 'कार्यकारणभाव' आदि की प्रतीति होने पर तथा क्रिया की 'अतिपत्ति' (असिद्धि या अनिष्पत्ति) के प्रतीत होने पर, 'लृङ्' लकार का विधान करता है। 'लृङ्' लकार का विधायक द्वितीय सूत्र है "भूते च" (पा० ३.३.१४०)। यह सूत्र उपरनिर्दिष्ट स्थितियों के होते हुए 'भूत' काल में 'लृङ्' लकार का विधान करता है। अतः 'लृङ्' लकार से, इन विशिष्ट स्थितियों के साथ, भविष्यत् काल तथा भूत काल की प्रतीति होती है।

**आपादना तु गम्यमाना**:—उपर्युक्त "लिङ्निमित्ते लृङ्क्रियातिपत्तौ" सूत्र में 'अतिपत्ति' पद का अर्थ है 'क्रिया का निष्पन्न न होना'। इस 'अतिपत्ति' तथा 'कार्यकारणभाव' के गम्यमान रहने के कारण ही 'लृङ्' के प्रयोगों में एक प्रकार के तर्क अथवा, नागेश के शब्दों में, 'आपादना' की प्रतीति होती है। यहाँ 'लृङ्' के उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में ये तीनों ही बातें—'क्रिया की असिद्धि', 'हेतुहेतुमद्भाव' (कार्यकारणभाव) तथा 'आपादना'—अभिव्यक्त होती हैं।

प्रथम उदाहरण में भूतकाल की दृष्टि से ईंधन का प्राप्त होना रूप क्रिया तथा चावल का पकना रूप क्रिया दोनों की असिद्धि, ईंधन का न मिलना रूप कारण तथा भात का न पकना रूप कार्य तथा यदि ईंधन मिलता तो भात पकता इस प्रकार की 'आपादना' (तर्क) की प्रतीति होती है।

इसी तरह दूसरे उदाहरण में भविष्यत् काल की दृष्टि से सुवृष्टि का होना रूप क्रिया तथा सम्पन्नता एवं समृद्धि का होना रूप क्रिया की असिद्धि, सुवृष्टि का न होना रूप क्रिया की कारणता और समृद्धि का न होना रूप क्रिया की कार्यता—इस रूप में

१. ह०—गुराज्यम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



दोनों में 'कार्यकारणभाव' एवं, जब जब सृष्टि नहीं होगी तब तब सम्पन्नता नहीं होगी --इस प्रकार की, 'आपादना' की प्रतीति होती है।

**आपादना :**—अगले प्रकरण 'लकारार्थ-निर्णय' के अन्त में "सा चापादना तर्कः" कह कर नागेश ने यह स्पष्ट कर दिया कि 'तर्क' के पर्याय के रूप में ही उन्होंने यहाँ तथा आगे, नैयायिकों के अनुसार "लृङ्' लकार के अर्थ-प्रदर्शन के अवसर पर, भी 'आपादना' शब्द का प्रयोग किया है।

'तर्क' की परिभाषा की गयी है—"व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः" (तर्कसंग्रह, गुण-प्रकरण) इस का अभिप्राय है कि 'व्याप्य', अर्थात् अल्प देश या स्थान में रहने वाले, के काल्पनिक ज्ञान के द्वारा व्यापक, अर्थात् अधिक देश या स्थान में रहने वाले, का काल्पनिक ज्ञान करना। परिभाषा में 'आरोप' का अर्थ है 'आहार्य', अर्थात् काल्पनिक ज्ञान। जैसे—पर्वत में आग तथा धूम दोनों हैं परन्तु उनके अभाव के काल्पनिक ज्ञान के द्वारा धूमाभाव का काल्पनिक ज्ञान किया जाता है। यहाँ अग्नि का अभाव 'व्याप्य' है तथा धूम का अभाव 'व्यापक' है। इसलिये इन दोनों के आधार पर यह 'तर्क' प्रस्तुत किया जाता है कि 'यदि यहाँ आग नहीं होती तो धूआँ भी नहीं होता।'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# लकारार्थ-निर्णयः

[लकारार्थ के विषय में विविध मत]

अथ नैयायि[1]कानां मते संक्षेपात् लकाराणाम् अर्थो निरूप्यते। तत्र लडादि-लृङन्ताः दश लकाराः। तत्र लकारस्य 'कर्त्ता', 'कालः', 'संख्या' इति त्रयोऽर्थाः। तत्र 'कर्त्ता' इति पातंजलाः—"लः कर्मणि[2] च०" इति सूत्रे चकारेण कर्तुः परामर्शात्। 'कर्तृ'-स्थाने 'व्यापारः' इति भाट्टाः। 'यत्नः' इति नैयायिकाः। युक्तं चैतत्—व्यापारतादपेक्षया लाघवेन यत्नत्वस्यैव शक्य[3]तावच्छेदकत्वात्।

अब नैयायिकों के मत के अनुसार संक्षेप में 'लकारों' के अर्थ के विषय में विचार किया जाता है। यहाँ (व्याकरण में) 'लट्' से लेकर 'लृङ्' तक दस 'लकार' हैं। उनमें लकार के तीन अर्थ हैं—'कर्ता', 'काल' तथा 'संख्या'। इस प्रसंग में "('लकारों' का अर्थ) कर्त्ता है"—यह पतंजलि के अनुयायियों (वैयाकरण विद्वानों) का मत है क्योंकि "लः कर्मणि च०" इस सूत्र में 'च' पद से (कर्तृवाच्य में 'लकार' के अर्थ) 'कर्त्ता' की सूचना मिलती है। 'कर्त्ता' के स्थान पर ('लकारों' का अर्थ) 'व्यापार' है—यह कुमारिल भट्ट के अनुयायियों (मीमांसक विद्वानों के एक वर्ग) का मत है। 'लकार' का अर्थ 'यत्न' है—यह नैयायिकों का मत है और यह (नैयायिकों का मत ही) ठीक है क्योंकि 'व्यापारत्व' आदि (कर्तृत्व) की अपेक्षा, लाघव के कारण, 'यत्नत्व' ही ('लकारों' की) वाच्यार्थता का अवच्छेदक है।

नैयायिक विद्वान् 'लकार', अर्थात् 'तिब्' आदि आदेशों के स्थानी, को ही अर्थ का वाचक मानते हैं उसके स्थान पर आने वाले 'आदेशों' ('तिब्' आदि) को नहीं। इस बात की चर्चा ऊपर हो चुकी है (द्र० इस ग्रन्थ का पूर्व पृष्ठ २४३-४४)। यहां विविध दार्शनिकों की दृष्टि से 'लकार' के अर्थ के विषय में विचार किया जारहा है। वैयाकरण 'लकार' (अथवा उसके 'आदेश तिब्' आदि) का अर्थ 'कर्त्ता' मानते हैं। दूसरी ओर

---

१. ह०—नैयायिक—।

२. ह०—"लः कर्मणि०" इति सूत्रस्थचकारेण।

३. काप्रशु०—शक्तता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कुमारिल भट्ट तथा उनके अनुयायी मीमांसक विद्वान् 'लकार' का अर्थ 'व्यापार' मानते हैं—ये लोग व्यापार को धातु का अर्थ नहीं मानते। नैयायिकों का इन दोनों से भिन्न मत है। ये विद्वान् 'लकार' का अर्थ 'यत्न' मानते हैं।

**तत्र कर्त्तेति ... कर्तुः परामर्शात्**—वैयाकरण विद्वान् 'लकार' का अर्थ 'कर्त्ता' किस आधार पर मानते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यहां दिया गया है। 'लकारों' का अर्थ 'कर्ता' मानने में प्रमुख हेतु है पाणिनि का "लः कर्मणि च०" यह सूत्र। इस सूत्र के दो विभाग किये जाते हैं—"लः कर्मणि च" तथा "भावे च अकर्मकेभ्यः"। इन दोनों भागों में विद्यमान 'च' पद के द्वारा, पूर्ववर्ती "कर्तरि कृत्" (पा० ३।४।६७) सूत्र से, 'कर्तरि' पद का अनुकर्षण किया जाता है। इस कारण "लः कर्मणि०" सूत्र का अर्थ है–"सकर्मक धातुओं से सम्बद्ध 'लकार' 'कर्म' तथा 'कर्त्ता' को कहते हैं" तथा "अकर्मक' धातुओं से सम्बद्ध 'लकार' 'कर्त्ता' तथा 'भाव' को कहते हैं"। द्र०—"लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युः, अकर्मकेभ्यः भावे कर्तरि च" (सिकौ० ३.४.६८)

**व्यापार इति भाट्टाः**—कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसक विद्वान् धातु का अर्थ 'फल' मानते हैं तथा 'लकार' का अर्थ 'व्यापार' मानते हैं। इस बात की भी चर्चा ऊपर धात्वर्थ-विचार के प्रकरण में की जा चुकी है। इन विद्वानों का कहना है कि 'कर्ता' 'व्यापार' का आश्रय है इसलिये उसका ज्ञान तो लक्षणा वृत्ति से, बिना उसे लकारार्थ माने ही, हो जायेगा। अतः "अनन्यलभ्यः शब्दार्थः" इस न्याय के अनुसार 'कर्ता' को लकारार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इन मीमांसकों के अनुसार किसी विशेष प्रयोजन को पूरा करने की इच्छा से उत्पन्न क्रियाविषयक मानसिक प्रवृत्ति ही 'व्यापार' है। इस मानसिक प्रवृत्ति को मीमांसकों ने 'आर्थी भावना' नाम दिया है। यह 'व्यापार' या 'आर्थी भावना' क्रिया पद के 'आख्यात' (लकार) अंश का वाच्य अर्थ है क्योंकि आख्यात सामान्यतया 'व्यापार' का वाचक है। द्र०—"प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थी भावना। सा च आख्यातत्वांशेन उच्यते। आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात्" (अर्थसंग्रह ८)।

**'यत्नः' इति नैयायिकाः**—नैयायिक विद्वान् 'फल' तथा 'व्यापार' को धातु का अर्थ मानते हैं तथा 'लकार' का अर्थ 'कृति' अथवा 'यत्न' मानते हैं। इस मत की भी चर्चा तथा इसका खण्डन ऊपर धात्वर्थ-विचार के प्रकरण में विस्तार से किया जा चुका है। द्र०—"यत्तु तार्किकाः फलव्यापारौ धात्वर्थः। लकाराणां कृतावेव शक्तिगौरवात्"—इत्यादि (पृ० १६०-१७२)।

**युक्तं चैतत्**—अपने मत की पुष्टि में नैयायिक यह कहते हैं कि 'लकार' का वाच्यार्थ, वैयाकरण मत के अनुसार, 'कर्ता', अथवा मीमांसक मत के अनुसार, 'व्यापार' मानने मे गौरव है। परन्तु नैयायिकों के मत के अनुसार 'कृति' (यत्न) अर्थ मानने में लाघव है।

यदि लकारों का अर्थ 'कर्ता' माना गया तो, कर्ता 'कृति' से युक्त होता है इसलिए, प्रत्येक 'कर्ता' के अनुसार 'कृति' भिन्न भिन्न रूप में उपस्थित होगी। अनन्त रूपों में 'कृति' का उपस्थित होना ही गौरव है। 'कृति' अर्थ मानने में यह गौरव (विस्तार) का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



दोष नहीं आता क्योंकि सभी 'कृतियों' में कृतित्व जाति के एक होने के कारण उसे वाच्यार्थता का आधार मानने में लाघव बना ही रहता है। इसके अतिरिक्त 'कर्ता' को वाच्यार्थ मानने का अर्थ है 'कृतिमान्' को वाच्य मानना। इसलिये 'कृति' की अपेक्षा 'कृतिमान' के 'गुरु' होने के कारण भी 'कर्ता' को वाच्यार्थ मानने में गौरव है। साथ ही वाक्य के प्रथमा-विभक्त्यन्त पद से ही 'कर्ता' के बोध होजाने के कारण, "अनन्य लभ्यः शब्दार्थः" इस न्याय के अनुसार भी, 'लकार' का अर्थ 'कर्ता' नहीं मानना चाहिये।

इसी प्रकार, मीमांसकों के मतानुसार, 'व्यापार' को 'लकार' का वाच्यार्थ मानने में भी गौरव है क्योंकि 'व्यापार' की परिभाषा की गयी है—"धात्वर्थफल-जनकत्वे सति धातुवाच्यत्वम्", अर्थात् धातु के अर्थ 'फल' का उत्पादक होते हुए जो धातुवाच्य हो वह 'व्यापार' है। इसलिये 'व्यापार' को वाच्यार्थ मानने का अभिप्राय है एक इतनी लम्बी परिभाषा 'लकार' के अर्थ के साथ सदा चिपटी रहे। इस रूप में वाच्यार्थता का आकार लम्बा या गुरु होने के कारण 'व्यापार' को वाच्यार्थ मानने में गौरव है। 'कृति' को लकारार्थ मानने में इस प्रकार का कोई भी दोष नहीं आता। अतः लाघव के कारण 'कृति' जाति अथवा 'यत्न' को 'लकार' का अर्थ मानना ही युक्त है।

**यत्नत्वस्यैव शक्यतावच्छेदकत्वात्**—'शक्य', अर्थात् वाच्यार्थ का वह असाधारण 'धर्म' जो केवल वाच्य अर्थ में ही रहता हो उसे 'शक्यतावच्छेदक' कहा जाएगा। जैसे—'घट' शब्द का शक्यतावच्छेदक धर्म 'घटत्व' है क्योंकि 'घटत्व' केवल घट में ही रहता है। इसी रूप में यहां 'यत्नता' ही 'लकार' का शक्यतावच्छेदक धर्म है।

**['लकार' को ही वाचक मानना युक्त हैं उसके स्थान पर आने वाले 'तिप्' आदि 'आदेशों' को नहीं]**

शक्ततावच्छेदकं[1] च लकारसाधारणं[2] लत्वम् एव। 'भवति' इत्यादौ च आदेशेन आदेशिनो लस्यैव[3] स्मरणाद् अन्वयधीः। आदेशेषु बहुषु[4] शक्तिकल्पने गौरवात्, तदस्मरणे च शक्तिभ्रमाद् एव अन्वयधीः। 'चैत्रो गन्ता', 'गतो ग्रामः' इत्यादौ सामानाधिकरण्यानुरोधेन[5] यथा-यथं कर्तृकर्मणी कृद्वाच्ये। न चैवं "लटः शतृशानचौ०" (पा० ३.२.१२४) इत्यनेन शतृशानचोर् आदेशत्वात्

१. काप्रशु०—शक्तत्यता।
२. ह०—दशलकारसाधारणम्।
३. ह०—लकारस्यैव।
४. ह०—बहु-।
५. ह०—अनुरोधाद्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कथं कर्तरि शक्तिः ? आदेशिशक्त्या निर्वाह एव आदेश-शक्त्यकल्पनात् । 'चैत्रः पचन्' इत्यादौ सामानाधिकरण्यानुरोधाद् आदेशिशक्त्या अनिर्वाहाद् अत्र आदेशेऽपि शक्तिः[1] ।

वाचकता का 'अवच्छेदक' सभी 'लकारों' में साधारण रूप से रहने वाला 'लत्व' ही है । 'भवति' इत्यादि (प्रयोगों) में ('लकार' के) 'आदेश' ('तिब्' आदि) के द्वारा 'आदेशी' ('स्थानी') 'लकार' के स्मरण होने से अन्वय (शाब्द-बोध) का ज्ञान होता है । अनेक 'आदेशों' ('तिब्' आदि) में वाचकता 'शक्ति' मानने में गौरव होने से (लकारों की वाचकता ही युक्त है) । उस ('स्थानी लकार') के स्मरण न होने पर ('तिब्' आदि में) वाचकता शक्ति का भ्रम हो जाने के कारण ही शाब्दबोध होता है । 'चैत्रो गन्ता' (चैत्र जाने वाला है) तथा 'गतो ग्रामः' (गांव जाया गया) इत्यादि (प्रयोगों) में दोनों ('चैत्र' तथा 'गन्ता' और 'गतः' तथा 'ग्रामः') पदों का समान अधिकरण होने के कारण क्रमशः 'कर्ता' तथा 'कर्म' 'कृत्' ('तृच्' तथा 'क्त' प्रत्ययों) के वाच्य हैं—ऐसा मानने पर "लटः शतृशानचावप्रथमा समानाधिकरणे" इस सूत्र से ('लकार' के स्थान पर) 'शतृ' तथा 'शानच्' आदेश किये जाने के कारण ('शतृ' तथा 'शानच् में) 'कर्ता' को कहने की 'शक्ति' किस प्रकार है—यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'आदेश' में 'शक्ति' के अभाव की कल्पना वहीं की जाती है जहां 'स्थानी' में कल्पित 'शक्ति' के द्वारा काम नहीं चलता । 'चैत्रः पचन्' (पकाता हुआ चैत्र) इत्यादि ('शतृ' आदि प्रत्ययों से निष्पन्न प्रयोगों) में समान अधिकरणता (अभेदान्वय) के अनुरोध से, 'स्थानी' ('लकार') की वाचकता-'शक्ति' के द्वारा (शाब्दबोध रूप कार्य के) निर्वाह न होने के कारण, यहां ('लकार') के 'आदेश' ('शतृ') में भी वाचकता 'शक्ति' की कल्पना कर ली गयी ।

**शक्ततावच्छेदकं'''अन्वयधीः**—नैयायिक विद्वान् यह मानते हैं कि सभी 'लकारों में रहने वाली जो 'लत्व' जाति है वही शक्ततावच्छेदक है तथा 'कृति' (यत्न) जाति रूप अर्थ शक्यतावच्छेदक है । 'लकार' के स्थान पर आने वाले, 'तिप्' आदि, 'आदेश' उनके मत में अर्थ के वाचक नहीं हैं । इस प्रकरण के आरम्भ में यह विस्तार से बताया जा चुका है कि वैयाकरण 'तिप्' आदि 'आदेशों' को ही वाचक मानते हैं—उसके 'स्थानी' 'लकार' को नहीं । वहीं इस बात की भी चर्चा की गयी है कि नैयायिकों की दृष्टि में 'स्थानी लकार' ही अर्थ का वाचक है । वैयाकरणों की दृष्टि से अनेक युक्तियां प्रस्तुत करके नैयायिकों के मत का खण्डन भी किया गया है । यहाँ नैयायिकों का प्रसंग होने के कारण पुनः उनकी दृष्टि से इस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जारहा है ।

---

१. ह०—शक्तेः ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'शक्त' का अभिप्राय है वाचक शब्द अथवा पद, जिसमें वाचकता शक्ति रहती है। उस 'शक्त' (पद) के असाधारण 'धर्म' को शक्तता कहा जाता है। यह शक्तता पदों की वर्णानुपूर्वी अथवा वर्णों के पौर्वापर्य में रहती है इसलिये वर्णानुपूर्वी का धर्म ही 'शक्तता-वच्छेदक' कहा जाता है। उदाहरण के लिए घट शब्द की दृष्टि से शक्ततावच्छेदक धर्म है 'घटशब्दत्व' अर्थात् घ्+अ+ट्+अ में रहने वाली जाति। इसी प्रकार 'लकार' का 'शक्ततावच्छेदक' है 'लत्व'।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि 'भवति' आदि प्रयोगों में जहां लकार दिखाई नहीं देता, केवल 'लकारों' के स्थान पर आने वाले 'आदेश' ('तिब्' आदि) ही दिखाई देते हैं, 'कृति' (यत्न) अर्थ का बोध नहीं होना चाहिये क्योंकि नैयायिकों के अनुसार 'तिब्' आदि 'आदेश' तो 'कृति' के वाचक हैं ही नहीं ?

इस आशका के उत्तर में नैयायिक का यह कहना है कि 'भवति' इत्यादि प्रयोगों में 'आदेश' 'तिब्' आदि अपने 'स्थानी लकार' का स्मरण कराते हैं और इस रूप में उन स्मृत 'लकारों' से ही अर्थ का बोध होता है। इस तरह इनमें भी 'लकार' ही अर्थ के वाचक हैं, 'तिब्' आदि तो केवल उनके स्मारक मात्र हैं।

**आदेशेषु बहुषु शक्ति-कल्पने गौरवात्**—लकारों को ही 'कृति' रूप अर्थ का वाचक मानने का कारण यह है कि, 'स्थानी'-(लकारों) में 'लत्व जाति' के एक होने के कारण, 'लकारों' की वाचकता के पक्ष में एक को वाचक मानने से काम चल जाता है। परन्तु यदि, वैयाकरणों के मत के अनुसार, 'आदेशों' को वाचक माना गया तो उनके अनेक होने के कारण अनेक प्रत्ययों को वाचक मानना होगा जिसमें अनावश्यक गौरव होगा।

**तदस्मरणे च शक्तिभ्रमादेव अन्वयधीः**—नैयायिकों के मत में यह प्रश्न हो सकता है कि जो सामान्य जन 'स्थानी' तथा 'आदेश' आदि की कल्पना से अपरिचित हैं उन्हें कैसे अर्थ का बोध होता है। वे तो केवल 'तिब्' आदि 'आदेशों' को ही सुनते हैं, 'स्थानी लकार' का स्मरण या ज्ञान उन्हें होता ही नहीं। इस स्थिति में उन्हें अर्थ-ज्ञान कैसे होता है।

इसका उत्तर यह दिया गया कि इन सामान्य श्रोताओं को, 'लकार' का स्मरण तो नहीं होता परन्तु उन्हें, श्रूयमाण 'तिब्' आदि में वाचकता 'शक्ति' विद्यमान है इस प्रकार का, भ्रम हो जाता है। इस भ्रम के कारण ही उन्हें 'तिब्' आदि से अर्थ का बोध होता है। नैयायिकों के 'शक्तिभ्रम' की चर्चा ऊपर भी हो चुकी है।

**'चैत्रो गन्ता', 'गतो ग्रामः'**—नैयायिक 'लकार' का अर्थ 'कृति' (यत्न) मानते हैं। इसलिए उन्हें इस प्रश्न का उत्तर देना होगा कि क्यों 'चैत्रो गन्ता' (जाने वाला चैत्र) तथा 'गतो ग्रामः' (गया हुआ गाँव) इन प्रयोगों में क्रमशः 'लकार'स्थानीय 'तृच्' तथा 'क्त' ये 'कृत्' प्रत्यय क्रमशः 'कर्त्ता और 'कर्म' को कहते हैं, उन्हें तो केवल 'यत्न' का वाचक होना चाहिये था। इसी प्रश्न का उत्तर नैयायिकों की दृष्टि से यहाँ दिया गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस विषय में नैयायिकों का उत्तर यह है कि इन प्रयोगों में 'चैत्र' जो 'कर्त्ता' है उसका तथा 'गन्ता' का और इसी प्रकार 'ग्राम' जो 'कर्म' है उसका तथा 'गतः' का 'अभेदान्वय' सम्बन्ध मान कर अर्थ-ज्ञान होता है क्योंकि ऐसे स्थलों पर निम्न परिभाषा उपस्थित हुआ करती है—"समानविभक्तिकनामार्थयोरभेदान्वयः", अर्थात् समान विभक्ति वाले दो 'प्रातिपदिकार्थों' का अभेद सम्बन्ध से ही अन्वय होता है भेद सम्बन्ध से नहीं। इस अभेदान्वय के कारण इन प्रयोगों में क्रमशः 'कर्त्ता' तथा 'कर्म' इन प्रत्ययों के वाच्यार्थ बनते हैं।

**न चैवं "लटः शतशानचौ"०·····शक्तिः**—नैयायिकों के मत में एक प्रश्न और यह उपस्थित होता है कि जब 'लकारों' का अर्थ 'कृति' है तो 'लकार' के स्थान पर आने वाले 'शतृ', 'शानच्' प्रत्ययों का वाच्य अर्थ 'कर्त्ता' क्यों है। इस प्रश्न का उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि 'आदेश' में वाचकता 'शक्ति' के अभाव की कल्पना उसी स्थिति में की जाती है कि जब 'स्थानी' की वाचकता 'शक्ति' से काम चल जाता हो। जैसे—'तिङन्त' प्रयोगों में। 'चैत्रः पचन्' इत्यादि 'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्ययान्त शब्दों में दूसरे तरह की स्थिति है। यहां 'पचन्' तथा 'चैत्रः' में, पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार, समान-अधिकरणता माने जाने के कारण 'आदेशी' अर्थात् 'स्थानी' की वाचकता 'शक्ति' से कार्य नहीं चल पाता क्योंकि वह 'शक्ति' तो 'यत्न' को कहती है, चैत्र को नहीं कहती। इसलिये 'चैत्रः पचन्' इत्यादि प्रयोगों में 'आदेश' में भी वाचकता 'शक्ति' की कल्पना कर लेनी चाहिये। 'आदेश' में विद्यमान यह 'शक्ति' 'कर्त्ता' को कह सकेगी।

['लत्व' तथा 'आत्मनेपदत्व' रूप 'शक्तियों में अन्तर]

> इयांस्तु विशेषः—लत्वेन यत्ने शक्तिः आत्मनेपदत्वेन फले। 'मैत्रेण गम्यते ग्रामः' इत्यादौ "मैत्रवृत्तिकृतिजन्य-गमनजन्य-फलशाली ग्रामः" इत्यन्वयबोधा[1]त्। कृतिश्चात्र[2] तृतीयार्थः। जन्यत्वं संसर्गः। मैत्रः कृतौ विशेषणम्, सा च गमने, तच्च फले, तच्च ग्रामे[3]।

इतना अन्तर तो है कि 'यत्न' (को कहने) में (वाचकता शक्ति) 'लत्व' रूप से है तथा 'फल' (को कहने) में 'आत्मनेपदत्व' रूप से क्योंकि 'मैत्रेण गम्यते ग्रामः' (मैत्र के द्वारा गाँव जाया जाता है) इत्यादि (प्रयोगों) में "मैत्र में रहने वाली 'कृति' (यत्न) से उत्पन्न जो गमन रूप 'व्यापार' उससे उत्पन्न होने वाले (संयोग रूप) 'फल' का आश्रय ग्राम" इस प्रकार का शाब्दबोध होता है। यहाँ 'कृति' ('मैत्र' शब्द में प्रयुक्त) तृतीया विभक्ति का अर्थ है तथा

१. ह० में 'अन्वयबोधात्' के स्थान पर केवल 'बोधः' पाठ है।

२. ह०—वृत्तिश्चात्र।

३. ह०—ग्रामे इति।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



('कृति-जन्य' एवं 'गमन-जन्य' इन दोनों में विद्यमान) 'जन्यता' (सम्बन्ध) 'आकांक्षा' से प्रतीत होती है। 'मैत्र' 'कृति' (यत्न) का विशेषण है, वह ('कृति') गमन (रूप 'व्यापार') में (विशेषण है) और वह (गमन रूप 'व्यापार') 'फल' (मैत्र तथा ग्राम का 'संयोग') में (विशेषण है) तथा वह ('फल') ग्राम में विशेषण है।

कर्मवाच्य के 'मैत्रेण गम्यते ग्रामः' इत्यादि प्रयोगों में 'लकार' से ही 'यत्न' तथा 'फल' दोनों की प्रतीति होते देख कर उनमें दोनों अर्थों के लिये भिन्न भिन्न वाचकता 'शक्ति' के निर्णय के लिये नैयायिकों ने यह व्यवस्था दी कि इन प्रयोगों में 'यत्न' (कृति) का वाचक तो 'लत्व' है परन्तु 'फल' का वाचक उसका 'आत्मनेपदत्व' है। इसका अभिप्राय यह है कि कर्तृवाच्य के प्रयोगों में 'लकार' केवल 'कृति' का वाचक है—वहाँ के 'आत्मनेपदत्व' तथा 'परस्मैपदत्व' में वाचकता 'शक्ति' नहीं मानी जायगी। इसलिये यहाँ 'आत्मनेपदत्व' से वह 'आत्मनेपदता' अभिप्रेत है जो कर्मवाच्य के प्रयोगों में उपस्थित होती है। कर्तृवाच्य की प्रक्रिया में प्रयुक्त होने वाले 'लकारों' के आत्मनेपदीय प्रयोगों के लिये यह बात नहीं कही जा रही है। कर्तृवाच्य में तो 'परस्मैपदत्व' तथा 'आत्मनेपदत्व' दोनों ही केवल 'कृति' के ही वाचक हैं, 'फल' के नहीं।

**[कर्तृवाच्य के प्रयोगों में शाब्दबोध का स्वरूप]**

> 'ग्रामं गच्छति मैत्रः' इत्यत्र तु 'ग्राम-वृत्ति-फल-जनक-गमनानुकूल-कृतिमान्-मैत्रः' इति बोधः। फलं च द्वितीयार्थः। जनकत्वं संसर्गः। ग्रामश्चात्र फले विशेषणम्। तद् गमने, तच्च कृतौ, सा मैत्रे इति विशेष्यविशेषण-भावभेदेनैव कर्मकर्तृस्थलीयबोधयोर्विशेषः। तावन्तः पदार्थास्तूभयत्रैव तुल्याः।

'ग्रामं गच्छति मैत्रः' (मैत्र गाँव को जाता है) इस (कर्तृवाच्य के प्रयोग) में तो "ग्राम में रहने वाले (संयोग रूप) 'फल' के उत्पादक गमन ('व्यापार') के अनुकूल (जनक) 'यत्न' से युक्त मैत्र" यह (शाब्द) बोध होता है। (संयोग रूप) 'फल' द्वितीया (विभक्ति) का अर्थ है। (फलजनक तथा गमनानुकूल में) 'जनकता' (अथवा अनुकूलता रूप) सम्बन्ध है। यहाँ 'ग्राम' 'फल' (संयोग) में विशेषण है, वह ('फल') गमन ('व्यापार') में (विशेषण है) और गमन ('व्यापार') 'कृति' का (विशेषण है) तथा वह ('कृति') मैत्र का (विशेषण है)। इस प्रकार विशेष्य-विशेषण-भाव की भिन्नता के कारण ही कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य के प्रयोगों के शाब्द-बोध में भिन्नता आ जाती है। उतने पदार्थ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



('आख्यात' के अर्थ 'यत्न', 'संख्या' तथा 'काल' आदि और धातु के अर्थ 'फल' तथा व्यापार') तो दोनों ही (कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य के प्रयोगों) में समान हैं।

**विशेष्य-विशेषणभावभेदेन :**—कर्मवाच्य के प्रयोगों में 'कृति' विशेष्य होती है तथा 'कर्त्ता' उसका विशेषण बनता है। जैसे—'मैत्रेण गम्यते ग्रामः' इस वाक्य के शाब्दबोध में मैत्रनिष्ठ 'यत्न' की प्रतीति होती है जिसमें 'मैत्र' विशेषण तथा 'यत्न' विशेष्य है। परन्तु कर्तृवाच्य के प्रयोगों में इससे भिन्न विशेष्य-विशेषणभाव होता है। यहाँ 'कर्त्ता' विशेष्य तथा 'कृति' उसका विशेषण बनती है। जैसे—'ग्रामं गच्छति मैत्रः' में "ग्राम-निष्ठ जो 'फल' (संयोग) उसके जनक (गमन 'व्यापार') के अनुकूल जो 'कृति' उससे विशिष्ट मैत्र" की प्रतीति होती है। यहाँ 'कृति' मैत्र का विशेषण है और मैत्र उसका विशेष्य। इस विशेष्य-विशेषणभाव की भिन्नता के कारण इन दोनों स्थलों के शाब्दबोध में भी भिन्नता आ जाती है।

नैयायिक की इस व्यवस्था का संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि कर्तृवाच्य में 'कृति' 'लकार' का अर्थ है तथा 'फल' द्वितीया विभक्ति का अर्थ है। कर्मवाच्य के प्रयोगों में 'फल' 'लकार' का, 'कृति' तृतीया-विभक्ति का तथा 'व्यापार' धातु का अर्थ है।

परन्तु यह सारी व्यवस्था, यहाँ के प्रारम्भिक कथन—"कृति का वाचक 'लत्व' है तथा 'फल' का वाचक 'आत्मनेपदत्व'"—तथा नैयायिकों के सिद्धान्त वाक्य - "'फल' तथा 'व्यापार' धातु के अर्थ होते हैं और 'यत्न' 'लकार' का अर्थ होता है"—इन दोनों की दृष्टि से, सर्वथा असंगत एवं असम्बद्ध प्रतीत होती है क्योंकि एक स्थान पर 'फल' को धातु का अर्थ तथा 'कृति' को 'लकार' का अर्थ कहा जा रहा है तो दूसरी जगह 'कृति' को द्वितीया अथवा तृतीया विभक्ति का अर्थ माना जा रहा है और 'फल' को 'लकार' का अथवा 'आत्मनेपदत्व' का अर्थ कहा जा रहा है।

**[कर्मवाच्य तथा कर्तृवाच्य के कुछ और प्रयोग]**

> 'मैत्रेण ज्ञायते, इष्यते, क्रियते घटः' इत्यादौ तु वृत्तिस्तृतीयायाः, विषयता त्वाख्यातस्य अर्थः। 'मैत्रवृत्तिज्ञानविषयो घटः' इति बोधः। 'घटं जानाति मैत्रः' इत्यादौ तु विषयता द्वितीयायाः आश्रयत्वं चाख्यातस्य अर्थः। 'घटविषयकज्ञानाश्रयो मैत्रः' इति बोधः।

'मैत्रेण ज्ञायते, इष्यते, क्रियते घटः' (मैत्र के द्वारा घड़ा जाना जाता है, चाहा जाता है, बनाया जाता है) इत्यादि (प्रयोगों) में 'वृत्ति' (तन्निष्ठता) तृतीया (विभक्ति) का अर्थ है और 'विषयता' (विषय बनाना); 'आख्यात' का अर्थ है। "मैत्र में ('समवाय' सम्बन्ध से) रहने वाले ज्ञान का विषय घट है"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यह शाब्दबोध होता है। 'घटं जानाति मैत्रः' (मैत्र घड़े को जानता है) इत्यादि (कर्तृवाच्य के प्रयोगों) में तो 'विषयता' (विषय होना) द्वितीया (विभक्ति) का अर्थ है तथा आश्रयता ('वृत्ति' अथवा 'तन्निष्ठता') 'आख्यात' ('लकार') का अर्थ है। "घट विषयक जो ज्ञान उसका आश्रय मैत्र" यह शाब्दबोध होता है।

[काल की दृष्टि से 'लकारों' के भिन्न भिन्न अर्थ]

कालश्चातीत-वर्तमान-अनागतात्मा यथायथं लडादेरर्थः। लटः, 'भवति' इत्यादौ, वर्तमानत्वम्; लङ्-लुङ्-लिटाम्—'अभवत्', 'अभूत्' 'बभूव इत्यादौ, भूतकालः; लुङ्लृटोः 'भविता', 'भविष्यति' इत्यादौ, भविष्यत् कालः। लिङ्-लोट्-लेटाम्,—'भवेत्', 'भवतु', अग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' इत्यादौ—विधिः। सङ्ख्या च केवलार्थः। लेटस्तु छन्दस्येव प्रयोगः। तत्र दीर्घत्वमपि विकल्पेन 'भवति', 'भवाति' इति दर्शनात्।

'भूत', 'वर्तमान' (तथा) 'भविष्यत्' रूप काल यथायोग्य 'लट्' आदि 'लकारों' का अर्थ है। 'भवति' इत्यादि (प्रयोगों) में 'लट्' (लकार) का 'वर्तमान' काल; 'अभवत्', 'अभूत' तथा 'बभूव' इत्यादि (प्रयोगों) में (क्रमशः) 'लुङ्', 'लङ्' तथा 'लिट्' (लकारों) का 'भूत' काल तथा 'भविता', 'भविष्यति इत्यादि (प्रयोगों) में (क्रमशः) 'लुट्' तथा 'लृट्' (लकारों) का 'भविष्यत्' काल अर्थ है। 'भवेत्', 'भवतु' तथा 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' इत्यादि (प्रयोगों) में (क्रमशः) 'लिङ्', 'लोट्' तथा 'लेट्' (लकारों) का 'विधि' (प्रवर्तना) अर्थ है। केवल 'संख्या' भी (कहीं कहीं 'लकारों' का) अर्थ होता है। लेट् (लकार) का (केवल) वेद (वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों) में ही प्रयोग होता है। वहाँ ('लेट्' लकार के प्रयोगों में) विकल्प से दीर्घत्व भी होता है क्योंकि 'भवति', 'भवाति' (इस प्रकार के दोनों तरह के प्रयोग) देखे जाते हैं।

भिन्न भिन्न 'लकारों' के जिन जिन अर्थों का निर्देश किया गया है वे बहुत ही प्रसिद्ध अर्थ हैं तथा आचार्य पाणिनि ने भी उन्हीं अर्थों में इन 'लकारों' का विधान किया है। 'लेट्' की स्थिति पाणिनि ने भी छन्दस् अर्थात् वेद में ही मानी है। द्र०— "लिङर्थे लेट्" (३.४.७)। 'लेट्' लकार के प्रयोगों में दो प्रकार की स्थिति पायी जाती है—कहीं 'धातु' तथा 'लिङ्' के बीच 'आ' पाया जाता है तो कहीं 'अ'। इसीकारण पाणिनि ने "लेटोऽडाटौ" (३.४.९४) सूत्र बनाया। इसी बात को यहाँ 'दीर्घत्व-विकल्प' कह कर संकेतित किया गया है। 'लेट्' के प्रयोगों की कुछ और भी विशेषतायें हैं जिनका निर्देश पाणिनि ने अपने "आत ऐ", "वैतोऽन्यत्र", "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" तथा "स उत्तमस्य"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इन सूत्रों (पा० ३.४.९५-९८) में किया है। परन्तु यहाँ संक्षेप में केवल 'दीर्घत्वविकल्प' का ही संकेत किया गया।

**['वर्तमान' आदि कालों का अन्वय 'कृति' (यत्न) अथवा 'व्यापार' में ही होता है]**

तत्र व्यापारादिबोधकेन लटा वर्तमानत्वं व्यापारादावेव बोध्यते। 'पचति' इत्यादितो वर्तमान-पाकानुकूल-व्यापारवान् इति बोधात्। एवम् अन्यत्रापि। व्यापार-बोधक-आख्यातजन्य-वर्तमानत्व-प्रकार[1]क-बोधे आख्यात-जन्यव्यापारोपस्थितेर्हेतुत्व-कल्पनात् नातिप्रसङ्गः।

वहाँ ('लट्' लकार के प्रयोगों में) 'व्यापार' ('कृति' अथवा यत्न) आदि के बोधक 'लट्' (लकार) के द्वारा 'वर्तमान' काल का बोध ('लकार' के अर्थ) 'व्यापार' ('कृति') में ही होता है क्योंकि 'पचति' इत्यादि (प्रयोगों) से पाक (रूप 'फल') के जनक 'वर्तमान'-कालीन 'यत्न' (पुरुषनिष्ठ 'व्यापार') का बोध होता है। इसी प्रकार अन्य 'लकारों' में भी ('काल' का सम्बन्ध 'लकार' के अर्थ 'कृति' में ही) होता है। (धातु के अर्थ 'फल' या 'व्यापार' में 'वर्तमान' की) 'अतिव्याप्ति' इसलिये नहीं होती कि (पुरुषनिष्ठ) 'व्यापार' ('कृति') के बोधक 'आख्यात' ('लकार') का अर्थ 'वर्तमानता' है विशेषण जिसमें ऐसे ज्ञान में 'आख्यात' ('लकार') से उत्पन्न होने वाली 'व्यापार' की उपस्थिति ('कृति' का ज्ञान) ही कारण मानी गयी है।

यहां 'व्यापार' शब्द का प्रयोग 'लकार' के वाच्यार्थ 'कृति' अथवा पुरुष में होने वाले 'यत्न' (व्यापार) के लिये किया गया है क्योंकि अनेक स्थलों में 'यत्न' तथा 'व्यापार' को पर्याय माना गया है। परन्तु सुस्पष्ट ज्ञान के लिये यह उचित था कि नागेश यहां 'कृति' अथवा 'यत्न' शब्द का ही प्रयोग करते। 'व्यापार' शब्द के प्रयोग से पाठक को निश्चित ही पहले धातु के अर्थभूत 'व्यापार' का भ्रम होता है।

यहां यह कहा गया है कि नैयायिकों के मत में वर्तमान आदि काल का अन्वय अथवा सम्बन्ध सदा ही, धातु के अर्थभूत 'व्यापार' में न होकर, 'लकार' के वाच्यार्थ 'कृति' ('यत्न' अथवा पुरुष-निष्ठ 'व्यापार') में ही होता है क्योंकि पाकानुकूल 'व्यापार' (चावल का उबलना आदि) के वर्तमान काल में होते हुए भी यदि वहां पुरुष का यत्न नहीं दिखाई देता तो 'पचति' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। तुलना करो :— "पचतीत्यादौ कृत्यादिरूप-व्यापार-बोधक-प्रत्ययोपस्थाप्य-कालः तादृश-व्यापार एव अन्वेति न तु क्रियायाम्। यदा पुरुषो व्यापारशून्यः तदधीन-अग्निसंयोगादिरूपः पच्यादेः अर्थो विद्यते तदा 'अयं न पचति' इति व्यवहारात्" (व्युत्पत्तिवाद, पृ० ३३८)।

१. निस०, काप्रशु०—प्रकार।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**['ज्ञा' आदि धातुओं के विषय में विचार]**

व्यापाराबोधक[1]-ज्ञाधात्वादिसमभिव्याहृत-आख्यातजन्य-वर्तमानत्व-प्रकारक-बोधे तु ताद्दशधातुजन्योपस्थितिर्हेतुः। कार्यताकारणतावच्छेदिका च प्रत्यासत्त्या विषयता एवेति नातिप्रसङ्गः। 'जानाति', 'इच्छति', 'यतते' इत्यादौ वर्तमानत्वाश्रयज्ञानाश्रयत्वादि[2]बोधस्यैव अनुभाविकत्वात्।

'ज्ञा' आदि धातुओं के (नियत) समीपवर्ती तथा (पुरुषनिष्ठ 'यत्न' रूप) 'व्यापार' का बोध न कराने वाले 'लकार' से उत्पन्न ज्ञान में, जिसमें 'वर्तमानता' विशेषण है, उस प्रकार के अर्थ वाले धातु से उत्पन्न अर्थ कारण होता है। समीप होने से कार्यता तथा कारणता का अवच्छेदक सम्बन्ध 'विषयता' ही है। इसलिये काल में अतिव्याप्ति (रूप दोष) नहीं होगा क्योंकि 'जानाति' (जानता है), 'इच्छति' (इच्छा करता है) तथा 'यतते' (प्रयत्न करता है) इत्यादि (प्रयोगों) में 'वर्तमानत्व है आश्रय जिसका ऐसे (वर्तमान-कालिक) ज्ञान की आश्रयता आदि (एवं 'वर्तमान' कालिक 'इच्छा' तथा 'प्रयत्न' की आश्रयता) का ज्ञान होता है - ऐसा (सब का) अनुभव है।

'जानाति', 'इच्छति' तथा 'यतते' इत्यादि प्रयोगों में 'ज्ञा', 'इच्छ्' तथा 'यत्' धातुओं का क्रमशः 'ज्ञानमात्र', 'इच्छामात्र' तथा 'प्रयत्नमात्र' अर्थ है। इनमें ही 'फलत्व' तथा 'व्यापारत्व' का आरोप कर लिया जाता है। इसलिये ज्ञानरूप 'फल' का आश्रय होने के कारण 'विषयता' अथवा 'फलता' के 'अवच्छेदक' (आधारभूत) सम्बन्ध से 'घट' आदि ज्ञान के 'कर्म' हैं तथा इसी प्रकार ज्ञानरूप (पुरुषनिष्ठ) 'व्यापार' का आश्रय होने के कारण 'व्यापारता' के अवच्छेदक सम्बन्ध से घट आदि के ज्ञाता चैत्र आदि ज्ञान के 'कर्ता' हैं। ऐसे स्थलों में 'आख्यात' ('लकार') की वाचकता 'शक्ति' 'कृति' (यत्न) में न मान कर 'फल' तथा 'व्यापार' के आश्रय में 'लक्षणा' मानी जाती है क्योंकि इन प्रयोगों में ज्ञानानुकूल 'कृति' का बोध न होकर 'आश्रय' का बोध होता है। इस प्रकार इन धातुओं में प्रयुक्त 'आख्यात' (लकार) 'कृति' रूप 'व्यापार' के बोधक नहीं हैं।

परन्तु 'आख्यात' के अर्थ 'आश्रय' में यदि 'वर्तमान' काल का सम्बन्ध मान लिया गया तो केवल आश्रयभूत घट आदि के वर्तमान कालिक होने पर भी, अर्थात् घट आदि-विषयक ज्ञान के न होने पर भी, 'जानाति' जैसे प्रयोग हो सकेंगे जो अभीष्ट नहीं हैं। इसलिये 'ज्ञा' आदि धातुओं के अर्थ 'ज्ञान' आदि में 'वर्तमान काल' का सम्बन्ध मानना चाहिये। यहाँ जिस 'कार्यकारणभाव' की कल्पना की गई उसका विश्लेषण यों

१. ह०, वमि०—व्यापारबोधक।

२. ह०—वर्तमानाश्रयत्वारोपज्ञानाश्रयत्वादि—।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



किया जा सकता है कि 'ज्ञा' आदि धातुओं के साथ प्रयुक्त 'आख्यात' ('लकार') से उत्पन्न, तथा जिसमें 'वर्तमानता' विशेषण है ऐसा (वर्तमानकालिक), ज्ञान 'कार्य' है और इस कार्य' के प्रति 'ज्ञा' आदि धातुओं से उत्पन्न ज्ञान या अर्थ 'कारण' है।

**कार्यतावच्छेदिका**—'कार्य' जिस सम्बन्ध से अपनी उत्पत्ति के स्थान में रहता है उस सम्बन्ध का नाम है 'कार्यतावच्छेदक'। यहां आख्यात से उत्पन्न 'वर्तमान-कालिक ज्ञान' रूप जो 'कार्य' है वह अपने उत्पत्ति-स्थान--'व्यापार रूप विषय'—में 'विषयता' अथवा दूसरे शब्दों में विशेष्यता सम्बन्ध से रहता है। इसलिये यह 'विषयता' सम्बन्ध ही यहाँ 'कार्यतावच्छेदक' सम्बन्ध है। इसी तरह जिस सम्बन्ध से 'कारण' 'कार्य' के साथ रहता है उस सम्बन्ध को 'कारणतावच्छेदक' कहा जाता है। यहाँ धातुजन्य ज्ञान 'कारण' है। वह भी 'विषयता' सम्बन्ध से ही 'वर्तमानकालिक ज्ञान' रूप 'कार्य' के साथ रहता है। वर्तमानकालिक ज्ञान रूप 'व्यापार' ('कार्य') है 'विषय' जिसका ऐसा धातुजन्य ज्ञान ('कारण') तथा 'धातुजन्य ज्ञान' है ('कारण') 'विषय' जिसका ऐसा वर्तमान-कालिक ज्ञान ('कार्य') इस प्रकार 'कार्यतावच्छेदिका' तथा 'कारणतावच्छेदिका' दोनों 'विषयता' ही है। इस तरह 'विषयता' सम्बन्ध से ही 'कार्य' अपने उत्पत्ति स्थान 'व्यापार' में है तथा 'विषयता' सम्बन्ध से ही 'कारण' 'कार्य' मे है।

यदि यहाँ 'अवच्छेदक' शब्द न रखा जाय, केवल 'कार्यता' तथा 'कारणता' शब्दों का ही प्रयोग किया जाय, तो जिस किसी भी सम्बन्ध से जिसमें 'कारणता' मिलेगी उसके होने पर 'वर्तमानत्व-प्रकारक' बोध (वर्तमान-कालिक ज्ञान) होने लगेगा। और 'कालिक' सम्बन्ध से स्वयं काल अथवा घट आदि कोई भी कारण बन सकता है, इस लिये इस तरह 'कालिक' सम्बन्ध से कारण बनने वाले जिस किसी की भी सत्ता मात्र से ही वर्तमान कालिक ज्ञान का बोध होने लगेगा, जो अभीष्ट नहीं है। इसलिये यहाँ मूल में 'कार्यता' तथा 'कारणता' के साथ 'अवच्छेदक' शब्द जोड़ा गया तथा उसे 'विषयता' से सम्बद्ध कर दिया गया। अब 'काल' या 'घट' आदि 'विषयता' सम्बन्ध से 'कारण' नहीं है, इसलिये केवल इनके होने से ही वर्तमान कालिक 'ज्ञान' का बोध नहीं होगा अपितु 'विषयता' सम्बन्ध से उपस्थित होने वाले धातुजन्य ज्ञान के होने पर ही उस प्रकार का बोध होगा। इसलिये 'काल' अथवा 'घट' आदि में अतिव्याप्ति दोष नहीं आता।

यहाँ व्युत्पत्तिवाद के लेखक गदाधरभट्ट ने इतना और कहा है कि यदि ज्ञान आदि से विशिष्ट आश्रयता में 'वर्तमान' काल का सम्बन्ध मान कर इस अतिप्रसक्ति दोष का निवारण किया गया तो भी विशेषणभूत ज्ञान आदि में तो 'वर्तमान' काल का सम्बन्ध अनिवार्यतः मानना ही पड़ता है। इसलिये वाक्यार्थ रूप ज्ञान से ही 'वर्तमानता' को सम्बद्ध करना उचित है। द्र०—"व्यापाराबोधकेन च लडादिप्रत्ययेन क्रियायामेव वर्तमानत्वान्वयो बोध्यते जानातीत्यादौ। न तु लडर्थाश्रयत्वादौ। ज्ञानाद्यसत्त्वेऽपि तदाश्रयत्वासम्बन्धे सति जानातीत्यादिप्रयोगापत्तेः। ज्ञानादिविशिष्टे आश्रयत्वादौ कालान्वयम् उपगम्य अतिप्रसङ्गवारणे विशेषणे ज्ञानादावपि तदन्वयस्य आवश्यकत्वे तस्यैव स्वीकारौचित्यात्"। (व्युवा० पृ०, ३४०-३४१)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**['लट्' से किस प्रकार 'वर्तमान' काल तथा 'आश्रयता' दोनों का बोध होता है और 'वर्तमान काल' का क्या अभिप्राय है इन प्रश्नों का उत्तर]**

> तत्र लटा शक्त्या वर्तमानत्वं लक्षणाया आश्रयत्वं बोध्यते इति विशेषः । लटा स्वाधिकरणकालोपाधिस्पन्द एव वर्तमानः प्रत्याय्यते । वर्तमानसामीप्ये विहितेन तु स्वानधिकरण-समीपवर्ती तादृशकालः । तत्रापि शक्तिर्लक्षणा वा इत्यन्यद् एतत् ।

वहां 'लट्' के द्वारा 'शक्ति' (अभिधा) से वर्तमान काल तथा 'लक्षणा' के द्वारा 'आश्रयता' का बोध होता है यह विशेषता है । अपना ('लट्' लकार के उच्चारण का) आधार भूत काल है विशेषण जिसमें ऐसी क्रिया रूप 'वर्तमानता' ही 'लट्' लकार के द्वारा ज्ञात होती है । वर्तमान के सामीप्य में विहित ('लट्' लकार) के द्वारा तो अपने उच्चारण का जो आधार नहीं है ऐसे ('भूत' अथवा 'भविष्यत्' काल के) समीपवर्ती 'वर्तमान' (काल) की प्रतीति होती है । यहां भी 'लट्' में 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' वृत्ति मानी जाये--यह दूसरी बात है ।

**लटा विशेषः**— 'जानाति' जैसे स्थलों में, जहां 'वर्तमान' काल तथा 'कृति' के आश्रय दोनों का बोध होता है, नैयायिक 'लट्' के दो अर्थ मानते हैं—एक अभिधेय तथा दूसरा लक्ष्य । 'वर्तमानता' रूप अर्थ अभिधेय है तथा 'आश्रयता' रूप अर्थ लक्ष्य है । यह नहीं कहा जा सकता कि शक्यार्थ के बाधित हो जाने पर ही लक्षणा वृत्ति उपस्थित होती है, इसलिये ये दोनों अभिधेय तथा लक्ष्य अर्थ एक साथ कैसे उपस्थित होंगे क्योंकि 'गङ्गायां मीनघोषौ स्तः' (गङ्गा में मछली और घोष है) जैसे प्रयोगों में एक साथ ही जल-प्रवाह रूप वाच्यार्थ तथा तट रूप लक्ष्यार्थ दोनों का बोध देखा जाता है ।

**स्वाधिकरणकालोपाधिस्पन्दः**— 'लट्' लकार जिस 'वर्तमान' काल का बोध कराता है उसकी परिभाषा करते हुए यह कहा गया कि 'लट्' लकार का जिस आधार भूत काल में उच्चारण किया गया वह 'स्वाधिकरण' काल ही जिस क्रिया ('स्पन्द',) की उपाधि अर्थात् विशेषण, है उस तत्काल-विशिष्ट क्रिया को ही यहां 'वर्तमान' माना गया है ।

**वर्तमान-सामीप्ये विहितेन·····तादृशकालः**—परन्तु "वर्तमान-सामीप्ये वर्तमानवद् वा" (पा० ३.३.१३१) इस सूत्र से जिस 'लट्' लकार का विधान किया गया उससे 'वर्तमान' काल के समीपवर्ती 'भूत' तथा 'भविष्यत्' काल में होने वाली क्रिया का बोध होता है । इसलिये उस 'लट्' लकार के विषय में 'स्वाधिकरणकालोपाधिस्पन्दः' की बात नहीं सङ्गत हो पाती । वहां वक्ता जिस समय 'लट्' लकार का उच्चारण कर रहा होता है या तो उस से पहले ही क्रिया हो चुकी होती है अथवा उस काल के बाद क्रिया होने वाली होती है । जब 'कदा आगतो भवान्?' (आप कब आये?) इस प्रश्न के उत्तर में 'एष आगच्छामि' (अभी आता हूँ) कहा जाता है तो वहां 'आना' क्रिया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कुछ पहले हो चुकी होती है। तथा इसी तरह 'कदा गमिष्यसि' (कब जाओगे ?) इस प्रश्न के उत्तर में जब 'एष गच्छामि' (अभी जाता हूँ) कहा जाता है तब वहां 'जाना' क्रिया हो नहीं रही होती, अपितु कहने के बाद होने वाली होती है।

अतः इस वर्तमान के सामीप्य में विहित 'लट्' से जिस काल का ज्ञान होता है उसके निर्देश के लिये "स्वानधिकरण-समीपवर्ती तादृशकालः" कहा गया। यहाँ जो काल अभिप्रेत है वह 'लट्' के उच्चारण का आधारभूत काल नहीं है, अर्थात् उस काल में 'लट्' का उच्चारण नहीं किया जाता। परन्तु आधार या अधिकरण न होते हुए भी वह अभिप्रेत काल उच्चारण के अधिकरण काल के आस-पास का ही काल होता है। बहुत अधिक पहले का 'भूत' अथवा बहुत अधिक बाद का 'भविष्यत्' काल इस 'लट्' से कथित नहीं हो सकता। इस तरह अधिकरण न हो कर भी जो, समीपवर्ती होने के कारण, 'वर्तमान' काल के समान है उस आसन्न 'भूत' या 'भविष्य' का बोध वर्तमान-सामीप्य में विहित 'लट्' के द्वारा होता है।

**तत्रापि शक्तितर्लक्षणा वा**-- वर्तमान-सामीप्य में विहित इस 'लट्' लकार के 'एष जानामि' (अभी जान लेता हूं) जैसे प्रयोगों में 'लट्' की 'अभिधा' शक्ति के द्वारा वर्तमान-सामीप्य का बोध तथा 'लक्षणा' के द्वारा 'आश्वयता' का बोध होगा—यह दूसरी बात है। यहां 'वा' का अर्थ 'समुच्चय' लेना चाहिये, 'विकल्प' नहीं।

**[एक ही पद ('लट्') से बोधित 'कृति' तथा 'वर्तमानता' इन दोनों अर्थों में परस्पर अन्वय का प्रकार]**

> नन्वेकपदोपस्थितयोः कृतिवर्तमानत्वयोः कथं मिथोऽन्वयः? तत्पदजन्यशाब्दबोधे पदान्तरजन्योपस्थितेर्हेतुत्वात्। कार्यतावच्छेदिका च प्रत्यासत्तिः प्रकारता। कारणतावच्छेदिका च विशेष्यतेति। अन्यथा हरिपदार्थयोः दण्डेनेत्यादौ च करणत्वैकत्वयोः मिथोऽन्वयापत्तेः। मैवम्। तत्तत्पदान्यत्वस्य उक्तव्युत्पत्तौ प्रवेशात्। कथम् अन्यथा एवकारार्थयोरन्ययोगव्यवच्छेदयोः मिथोऽन्वयः ?

एक पद ('लट्') से बोधित 'कृति' तथा 'वर्तमानता' में परस्पर अन्वय किस प्रकार होगा ? क्योंकि उस पद से उत्पन्न 'शाब्दबोध' के प्रति (किसी) अन्य पद से उत्पन्न अर्थ कारण होता है। 'कार्यता' का अवच्छेदक (सम्बन्ध) 'प्रकारता' (विशेषणता) है तथा 'कारणता' का अवच्छेदक (सम्बन्ध) 'विशेष्यता' है। अन्यथा (एक पद से उपस्थापित दो अर्थों में अन्वय स्वीकार कर लेने पर) 'हरि' शब्द के दो अर्थों (अश्व तथा इन्द्र) का (आधाराधेयभाव सम्बन्ध से)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



तथा 'दण्डेन' इत्यादि (प्रयोगों) में 'करणत्व' तथा 'एकत्व' का परस्पर सम्बन्ध होने लगेगा (यदि यह कहा जाए तो ?)

ऐसी बात नहीं है । क्योंकि (ऊपर) कथित (उस पद से उत्पन्न 'शाब्द-बोध' में दूसरे पद का अर्थ कारण होता है' इस) व्युत्पत्ति में "उन उन (जिनके अपने दो अर्थों का परस्पर अन्वय अभीष्ट है ऐसे सभी 'लट्' तथा 'एव' आदि) पदों से भिन्न" (इतने अंश) का प्रवेश हो जायगा । अन्यथा (ऐसा न करने से) 'एवकार' के दो —'अन्ययोग' (भी) तथा 'व्यवच्छेद' (ही)—अर्थों में (अभीष्ट) पारस्परिक अन्वय कैसे होगा ?

**ननु हेतुत्वात्**— यहाँ पूर्वपक्ष के रूप में यह प्रश्न किया गया कि 'कृति' तथा 'वर्तनानता' इन दोनों अर्थों का वाचक यदि एक 'लट्' पद ही है तो इन दोनों अर्थों का परस्पर अन्वय कैसे होगा । दो अर्थों के पारस्परिक अन्वय के लिये यह आवश्यक है कि दोनों में 'आकांक्षा' हो । एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ, उन दोनों में विद्यमान आकांक्षा' के कारण ही, अन्वय होता है । वस्तुतः 'आकांक्षा' के द्वारा ही दोनों पदार्थों के ऐसे पारस्परिक सम्बन्ध का पता लगता है जिसमें एक पदार्थ 'अनुयोगी' होता है तथा दूसरा 'प्रतियोगी' । 'जैसे—'नीलो घटः' (नीला घड़ा) इस वाक्य में 'नीलः' तथा 'घटः' इन दोनों पदार्थों का जो परस्परिक सम्बन्ध है उसमें नील 'प्रतियोगी' तथा घट 'अनुयोगी' है । इस सम्बन्ध का ज्ञान इन दोनों में विद्यमान, नील में घट-विषयक तथा घट में नील-विषयक, 'आकांक्षा' के कारण ही होता है । दो पदार्थों का यह सम्बन्ध कहीं अभिन्न रूप में होता है, जैसे—ऊपर के उदाहरण में, तथा कहीं भिन्न रूप में, जैसे—'नीलस्य घटः' इत्यादि में जहाँ 'आधार-आधेयभाव' या 'विषयविषयिभाव' इत्यादि सम्बन्ध माने जाते हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'आकांक्षा' का पदार्थों के पारस्परिक अन्वय में प्रमुख हाथ है तथा वह दो पदों के अर्थों में रहती है । यहाँ 'कृति' तथा 'वर्तमानता' दोनों ही एक पद 'लट्' के अर्थ हैं, इसलिये उनमें 'आकाँक्षा' नहीं मानी जा सकती और 'आकांक्षा' के अभाव में दोनों का अन्वय नहीं हो सकता । गदाधरभट्ट ने अपने व्युत्पत्तिवाद का प्रारम्भ ही इस नियम वाक्य से किया :—"शाब्दबोधे च एकपदार्थेऽपर-पदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते" (व्युवा०, पृ०१), अर्थात् शाब्दबोध में एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध 'आकांक्षा' से प्रकट होता है ।

**कार्यतावच्छेदिका'''विशेष्यता** :—यहाँ नियम का जो यह रूप है—"किसी पद से उत्पन्न 'शाब्दबोध' रूप कार्य में उस पद से भिन्न पद के अर्थ का ज्ञान कारण होता है"—उसमें 'कार्यता' का अवच्छेदक सम्बन्ध, (जिस सम्बन्ध से कार्य अपने उत्पत्ति स्थान में रहता वह सम्बन्ध) 'प्रकारता' या दूसरे शब्दों में 'विशेषणता" है । यहां सम्बन्ध को ही 'प्रत्यासत्ति' कहा गया है । इसी प्रकार 'कारणता' का 'अवच्छेदक सम्बन्ध' ('कारणता' जिस सम्बन्ध से अपने 'कार्य' में रहती है वह सम्बन्ध) 'विशेष्यता' है । इसका अभिप्राय यह है कि एक पद से उत्पन्न अर्थ विशेषण बनता है तथा उसका विशेष्य (विषय) बनता है दूसरा पदार्थ, जो पहले पदार्थ में विद्यमान, इस दूसरे पदार्थ-विषयक, 'आकांक्षा' के कारण उपस्थित होता है । जैसे—'नीलो घटः' प्रयोग में, 'नील' पदार्थ में विद्यमान घटपदार्थ-विषयक 'आकांक्षा' के कारण उपस्थित होने वाला 'घट' विशेष्य है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



तथा 'नील' उसका विशेषण है। इसी प्रकार 'घट पदार्थ' में विद्यमान 'नील'पदार्थ-विषयक 'आकांक्षा' के कारण उपस्थित होने वाला 'नील' विशेष्य है तथा 'घट' उसका विशेषण। दोनों दोनों के विशेषण हैं तथा दोनों दोनों के विशेष्य भी हैं। इस तरह दोनों में विशेषणता की 'आकांक्षा' बनी होने पर भी दोनों में केवल एक को, उस पदार्थ के ज्ञात होने के कारण, विशेषण मान लिया जाता है तथा दूसरे अज्ञात पदार्थ को विशेष्य माना जाता है।

**अन्यथा हरिपदार्थयो:.....अन्वयापत्ते** :- यदि इस नियम को कि "एक पद से उत्पन्न अर्थज्ञान में दूसरे पद से उपस्थित होने वाला अर्थ हेतु होता है" न माना जाय तो 'हरि' शब्द के दो अर्थों - घोड़ा तथा इन्द्र—में भी परस्पर अन्वय मानना होगा। इसी तरह 'दण्डेन' इस प्रयोग में तृतीया विभक्ति के दो अर्थों - 'करणत्व' तथा 'एकत्व' —में भी परस्पर अन्वय स्वीकार करना होगा।

**मैवम्.....मिथोऽन्वयः**—परन्तु नैयायिक इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह देता है कि इस नियम को तो मानना ही चाहिये। परन्तु केवल कुछ स्थलों या प्रयोगों को, जहाँ द्व्यर्थक शब्दों के अपने ही दो अर्थों का परस्पर अन्वय अभीष्ट है, इस नियम का अपवाद मान लेना चाहिये। दूसरे शब्दों में, उक्त नियम को 'तत्तत्पदान्यत्व' इस विशेषण द्वारा कुछ संकुचित कर देना चाहिये, अर्थात् 'लकार' अथवा 'एव' आदि, जिन पदों में एक ही पद के दोनों अर्थों में अन्वय अभीष्ट है, से अतिरिक्त पदों में यह नियम उपस्थित होगा। इसलिये अपवाद के रूप में 'लट्' के दो अर्थों—'कृति' तथा 'वर्तमानता'—में परस्पर अन्वय हो जायगा।

**['घटो नश्यति' इत्यादि वाक्यों में 'लट्' के अर्थ के विषय में विचार]**

'घटो नश्यति' इत्यादौ वर्तमानोत्पत्तिकत्वं प्रतियोगित्वं च लडर्थः। आद्यं नाशे प्रकारः, द्वितीयं घटे प्रकारः। 'वर्तमानोत्पत्तिकनाशप्रतियोगी घटः' इति बोधस्य अनुभविकत्वात्। अत्र च वृत्तिद्वयस्य युगपद् बोधकत्वं सर्वैरेषितव्यम्। तादृशोत्पत्तिकत्व[1]प्रतियोगित्वयोरर्थयोः युगपदेव बोधात्। न च तादृशोत्पत्तिकत्वम् एव अर्थोऽस्तु। धात्वर्थस्य नाशस्य घटे प्रातिपादिकार्थे साक्षाद् अन्वयासम्भवात्। न च प्रतियोगित्वमेव अर्थोऽस्तु इति वाच्यम्, चिरनष्टेऽपि 'नश्यतीति' प्रसङ्गात्। एतेनात्र वर्तमानत्वम् एवार्थो नोत्पत्तिरित्यपास्तम्।

१. ह०—उत्पत्ति-।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'घटो नश्यति' (घड़ा फूटता है) इत्यादि (प्रयोगों) में ('नाश'की) 'वर्तमान-कलीन उत्पत्ति' तथा 'प्रतियोगिता' 'लट्' के (ये दो) अर्थ हैं। प्रथम (वर्तमानोत्पत्तिकता रूप अर्थ) 'नाश' का विशेषण है तथा दूसरा ('प्रतियोगिता' रूप अर्थ) 'घट' का विशेषण है क्योंकि ('घटो नश्यति' कहने पर) वर्तमानकालीन उत्पत्ति वाले नाश का प्रतियोगी घट' इस प्रकार के अर्थ का अनुभव होता है। यहां ('अभिधा' तथा 'लक्षणा' इन) दोनों 'वृत्तियों' का एक साथ अर्थ-बोधकता है यह सब को मानना चाहिये क्योंकि ('घटो नश्यति' जैसे प्रयोगों में) वैसी (वर्तमान-कालीन) उत्पत्ति तथा प्रतियोगिता (इन दोनों) अर्थों का एक साथ बोध होता है। यदि कहो ('लट्' का केवल) वैसी (वर्तमान कालीन नाश-) उत्पत्ति ही अर्थ मान लिया जाय तो क्या हानि है? ऐसा नही हो सकता क्योंकि ('नश्') धातु के अर्थ (नाश) का घट रूप प्रातिपदिकार्थ में साक्षाद् अन्वय असम्भव है। और केवल 'प्रतियोगिता' अर्थ ही ('लट्' का) है यह भी नहीं माना जा सकता क्योंकि (तब तो) बहुत पहले फूटे घड़े के लिये भी 'नश्यति' प्रयोगों होने लगेगा। इस (कथन) से "वर्तमानता ही ('लट्' का) अर्थ है, उत्पत्ति अर्थ नहीं है" इस बात का भी खण्डन हो गया।

'नश्यति' (नष्ट होता है) जैसे प्रयोगों में नैयायिक 'लट्' के दो अर्थ मानता है। एक अर्थ है—'वर्तमानकालीन (नाश-) उत्पत्ति' तथा दूसरा अर्थ है 'प्रतियोगिता' (विशेषण बनाना)। ऐसा मानने का कारण यह है कि जब 'घटो नश्यति' कहा जाता है तो वहां "वर्तमानकालीन जो उत्पत्ति' उससे विशिष्ट 'नाश' का 'प्रतियोगी' घट" इसी अर्थ का बोध होता है। 'वर्तमानकालीन उत्पत्ति' रूप अर्थ तो 'नाश' इस धात्वर्थ का विशेषण है। दूसरा अर्थ 'प्रतियोगिता' घट का विशेषण है, अर्थात् ऐसा घट जो नाश का प्रतियोगी है, जिसका नाश हो रहा है।

इन दोनों अर्थों में प्रथम—'वर्तमानकालीन उत्पत्ति'रूप—अर्थ को नैयायिक 'लट्' का वाच्य अर्थ मानते हैं तथा 'प्रतियोगिता'रूप अर्थ को 'लट्' का लक्ष्य अर्थ मानते हैं। ऐसे अनेक प्रयोग है जहां 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' दोनों वृत्तियाँ साथ-साथ अपने अर्थों को प्रस्तुत करती हैं। अतः मुख्यार्थ की बाधा के बाद लक्षणा उपस्थित हो यह आवश्यक नहीं है।

**न च तद्विशोत्पत्तिकत्वमेव'''प्रसंगात्**—इन दोनों अर्थों को मानने की आवश्यकता इसलिये है कि यदि 'लट्' का केवल प्रथम अर्थ—'वर्तमानकालीन उत्पत्ति'—ही माना जाय तो धात्वर्थ 'नाश' का प्रातिपदिकार्थ 'घट' में सीधे अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि "नामार्थ तथा धात्वर्थ का भेद सम्बन्ध से साक्षाद् अन्वय नहीं होता" (नामार्थधात्वर्थयोर्भेदसम्बन्धेन साक्षाद् अन्वयोऽव्युत्पन्नः) यह परिभाषा है। इसलिये भेदसम्बन्ध से दोनों का अन्वय करने के लिये यह आवश्यक है कि 'घट-प्रतियोगिक' (घट का) इस अर्थ का भी ज्ञान हो।

इसी तरह केवल 'प्रतियोगिता' अर्थ को मानने पर यह कठिनाई उपस्थित होती है कि बहुत पहिले फूटे घड़े के लिये भी 'घटो नश्यति' प्रयोग होने लगेगा क्योंकि वहां

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



भी तो नाश का 'प्रतियोगी' घट है ही, घट का ही नाश वहां पर भी हुआ है। इसलिये 'वर्तमानकालीन उत्पत्ति' को 'लट्' का अर्थ मानना भी आवश्यक है। अतः इन दोनों अर्थों को नैयायिक 'लट्' से सम्बद्ध करते हैं।

इसी बात को दीधितिकार ने यों कहा है कि 'नाश' क्रिया में केवल वर्तमान काल का अन्वय मानने पर विनष्ट घट के लिये भी 'नश्यति' का प्रयोग होने लगेगा। इसलिये 'उत्पत्ति' को भी 'लट्' का अर्थ मान कर उसमें ही काल का अन्वय करना चाहिये। परन्तु गदाधरभट्ट आदि नव्य नैयायिकों का यह विचार है कि धात्वर्थ 'नाश' में 'उत्पत्ति' अर्थ भी समाविष्ट है, अर्थात् 'नाशत्व' का अर्थ ही है 'उत्पत्ति-युक्त अभाव। अतः धातु के वाच्य अर्थ में समाविष्ट 'उत्पत्ति' में ही काल का अन्वय करना उचित है। दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि 'वर्तमानता' का, 'उत्पत्तिमत्त्व' सम्बन्ध से, धात्वर्थ 'नाश' में अन्वय होने के कारण चिर-नष्ट घट के लिये 'नश्यति' प्रयोग नहीं होगा। अतः 'आख्यात' के 'वर्तमानता' तथा 'प्रतियोगिता' ये दो अर्थ मानने युक्त हैं न कि 'वर्तमान-कालीन उत्पत्ति' तथा 'प्रतियोगिता' (द्र०— व्युत्पा०, आख्यात प्रकरण पृ० ३४१)।

[**इस विषय में अन्य आचार्यों का मत**]

केचित्तु लत्वमेवात्र प्रतियोगित्वस्य वृत्त्यवच्छेदकं लट्त्वन्तु तादृशोत्पत्तिकत्वस्य। एकधर्मावच्छिन्नवृत्तिद्वयस्यैव न युगपद् बोधकत्वम्। अन्यथा 'दण्डेन' इत्यादौ करणत्वैकत्वयोर्बोधो न स्याद् इत्याहुः।

कुछ आचार्य 'लत्व' ('ल') को ही यहां 'प्रतियोगिता' (अर्थ) की वृत्ति ('लक्षणा') का अवच्छेदक मानते हैं तथा 'लट्त्व' (लट्) को वैसी (वर्तमान-कालिक) उत्पत्तिकता (उत्पत्तिरूप अर्थ) की ('वृत्ति' अर्थात् 'अभिधा' का अवच्छेदक मानते हैं)। एक 'धर्म' से अवच्छिन्न दो 'वृत्तियाँ' एक साथ (अर्थ का) बोधक नहीं हो सकती (भिन्न भिन्न 'धर्म' से अवच्छिन्न दो 'वृत्तियां' तो एक साथ अर्थ का बोध करा ही सकती हैं)। अन्यथा (यदि भिन्न भिन्न 'धर्म' से अवच्छिन्न दो 'वृत्तियों' को भी एक साथ अर्थ का बोधक न माना गया तो) 'दण्डेन' इस पद में 'करणत्व' तथा 'एकत्व' का (एक साथ) बोध नहीं हो सकेगा।

'घटो नश्यति' इस प्रयोग के अर्थ-विवेचन में, पहले मत में, नैयायिक विद्वानों ने 'लट्' के ही 'वर्तमानकालीन उत्पत्ति' तथा 'प्रतियोगिता' ये दो अर्थ माने हैं। एक अर्थ के लिये 'अभिधावृत्ति' तथा दूसरे के लिये 'लक्षणावृत्ति' का आश्रय लिया गया। परन्तु दोनों 'वृत्तियां' 'लट्त्व' रूप एक धर्म से अवच्छिन्न हैं। ऐसी स्थिति में दोनों 'वृत्तियों' को परस्पर विरोधी माना जा सकता है। इसलिये दोनों 'वृत्तियों' के आश्रय के रूप में

१. द्र०—वृत्तितावच्छेदकत्वम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



केवल 'लट्' को न मान कर इस विद्वानों ने दो 'धर्मों' की कल्पना की । वे 'लत्व' धर्म से अवच्छिन्न 'अभिधावृत्ति' को तथा 'लट्त्व' धर्म से अवच्छिन्न 'लक्षणावृत्ति' को मानते हैं । अब इन दोनों 'वृत्तियों' के एक साथ ही उपस्थित होने में कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि जब एक ही 'धर्म' से दोनों वृत्तियां अवच्छिन्न हों तभी दोनों में विरोध हो सकता है, दोनों वृत्तियों का अलग अलग दो अवच्छेदक 'धर्म' मानने पर विरोध नहीं होता । इसीलिये 'दण्डेन' इस पद की तृतीया विभक्ति में 'करणत्व' तथा 'एकत्व' इन दो अर्थों के बोध के लिये दो 'वृत्तियों' की कल्पना की गयी तथा उनके आश्रय के रूप में वहीं दो 'धर्मों' की भी कल्पना की गयी। 'अभिधा'का अवच्छेदक (आश्रय) 'धर्म' 'सुप्त्व' तथा 'लक्षणा' का अवच्छेदक 'धर्म' 'तृतीयात्व' माना गया ।

**['नश्यति' के अर्थ के विषय में कुछ अन्य विद्वानों का मत]**

**अन्ये** तु 'नश्यति' इत्यादौ लटा नाशसामग्री एव बोध्यते । तेन न चिरनष्टे 'नश्यति' इति प्रसङ्गः । अत एव 'विनश्यत्ता विनाशसामग्रीसान्निध्यम्' इत्याहुः **प्रामाणिकाः**।

दूसरे प्रामाणिक विद्वान् यह कहते हैं कि 'नश्यति' इत्यादि (प्रयोगों) में लट्' के द्वारा नाश की सामग्री का ही बोध होता है । इसलिये बहुत पहले नष्ट (पदार्थ) के लिये 'नश्यति' यह प्रयोग नहीं होगा । इसीकारण 'विनश्यता' (का अर्थ किया जाता) है 'विनाश की सामग्री का पास में विद्यमान होना' ।

यह मत वैयाकरण विद्वानों का है । वे 'नश्' धातु का अर्थ नाशरूप 'फल' तथा विनाशक सामग्री का एकत्रित होना रूप 'व्यापार' मानते हैं । इस विनाशक सामग्री के एकत्रित होने रूप, 'व्यापार' में 'लट्' के अर्थ 'वर्तमान' काल का अन्वय होगा । इस प्रकार विनाश सामग्री के होने पर 'नश्यति', उसके बीत जाने पर 'नष्टः' तथा भविष्य में उसके उपस्थित होने पर 'नंक्ष्यति' इत्यादि प्रयोग होंगे । द्र०—"घटो नश्यति' इत्यादिघटाभिन्नाश्रयको नाशानुकूलो व्यापार इति बोधः । स च व्यापारः प्रतियोगित्व-विशिष्ट-नाश-सामग्रीसमवधानम् । अत एव तस्यां सत्यां 'नश्यति', तदत्यये 'नष्टः, तद्भावित्वे 'नंक्ष्यति' इति प्रयोगः" (वैभूसा० पृ० ४७) । वैयाकरणों का मत होने के कारण ही संभवतः नागेश ने यहाँ इन वैयाकरण विद्वानों के लिये 'प्रामाणिकाः' विशेषण का प्रयोग किया है ।

**['आख्यात' (लकार) से होने वाले अर्थ-बोध के विषय में वैयाकरणों, मीमांसकों तथा नैयायिकों के विभिन्न वाद]**

आख्यातात् क्रियाविशेष्यको बोध इति **वैयाकरणा भाट्टाश्च** । आद्यनये धात्वर्थः क्रिया । 'चैत्रःतण्डुलं पचति' इत्यादितः 'चैत्रकर्तृकतण्डुलकर्मकपाकः' इति धीः ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अन्त्यनये भावना क्रिया प्रत्ययार्थः । 'चैत्रीयपाककरणिका तण्डुलकर्मिका भावना' इति बोधः । प्रथमान्तार्थविशेष्यक एव बोधः । 'ओदनकर्मकपाकानुकूलकृतिमाँश्चैत्रः' इति **नैयायिकाः** । द्वितीयाद्यर्थकर्मकरणत्वादेः क्रियायामेव सर्वमतेऽन्वयः ।

तिङन्त (पदों) से क्रिया है 'विशेष्य' (प्रधान) जिसमें ऐसा ज्ञान होता है—ऐसा वैयाकरण तथा भाट्टमतानुयायी मीमांसक कहते हैं। प्रथम (वैयाकरणों) के मत में धातु का अर्थ 'क्रिया' है। 'चैत्रः तण्डुलं पचति' (चैत्र चावल पकाता है) इत्यादि (प्रयोगों) से "चैत्र है 'कर्ता' जिसमें तथा तण्डुल है 'कर्म' जिसमें ऐसी पाक क्रिया" यह ज्ञान होता है।

अन्तिम (भाट्ट मतानुयायी मीमांसकों के) मत में 'भावना' रूप 'क्रिया' प्रत्यय का अर्थ है (धातु का नहीं)। "चैत्र का पाक है 'करण' जिस में तथा तण्डुल है 'कर्म' जिस में ऐसी 'क्रिया' (भावना)" यह ज्ञान (भाट्ट मीमांसकों के मत में) होता है।

प्रथमान्त (पद) का अर्थ जिसमें प्रधान है ऐसा ही ज्ञान 'आख्यात' पद से होता है, (अर्थात्) "चावल है 'कर्म' जिसमें ऐसे पाक के अनुकूल 'यत्न' वाला चैत्र" यह बोध होता है—ऐसा नैयायिकों का मत है।

द्वितीया आदि विभक्तियों के अर्थ 'कर्मत्व', 'करणत्व' आदि का सभी के मत में 'क्रिया' में ही अन्वय होता है।

वैयाकरण तथा मीमांसक दोनों ही यह मानते हैं कि 'आख्यात' से क्रिया-प्रधान अर्थ की प्रतीति होती है परन्तु दोनों की विवेचना-पद्धति में मौलिक अन्तर है। वैयाकरण क्रिया ('व्यापार') को धातु का अर्थ मानता है तथा 'सङ्ख्या'-विशेष, 'काल'-विशेष, 'कारक' विशेष तथा कहीं-कहीं केवल 'भाव' (शुद्ध धात्वर्थ) को 'आख्यात' ('लकार') का अर्थ मानता है। इसलिये वैयाकरणों की दृष्टि में 'चैत्रः तण्डुलं पचति' वाक्य से ऐसी पाक क्रिया की प्रतीति होती है जिसका 'कर्ता' चैत्र है तथा तण्डुल 'कर्म' है।

**'अन्त्य-नये ... भावनेति बोधः**— भाट्टमतानुयायी मीमांसक विद्वान् भी यद्यपि 'आख्यात' पद से क्रिया-प्रधान अर्थ की ही अभिव्यक्ति होती है ऐसा मानते हैं। परन्तु उनकी दृष्टि में 'क्रिया' अथवा 'भावना', धातु का अर्थ न होकर 'लिङ्' आदि प्रत्ययों का अर्थ है तथा 'फल' धातु का अर्थ है। जैसे—'पच्' धातु के प्रयोग में जो विक्लित्ति-(पकना) रूप 'फल' वह धातु का अर्थ है तथा इस विक्लत्ति के अनुकूल जो पाक 'व्यापार' है वह आख्यात या 'लिङ्' प्रत्यय का अर्थ है।

**भावना**— मीमांसक 'भावना' को 'लकार' का अर्थ मानते हुए उसे 'शाब्दी' तथा 'आर्थी' भेद से दो प्रकार का मानते हैं। 'लिङ्' लकार के प्रयोगों में नियमतः यह प्रतीत

१. ह० अन्य-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



होता है कि कहने वाला हमें किसी कार्य-विशेष को करने के लिये प्रेरित कर रहा है। इस तरह यहां जो 'भावना' ('व्यापार' अथवा क्रिया) है वह शब्दरूप है।

'आर्थी भावना', प्रेरणा या प्रवृत्ति के अनुकूल 'व्यापार' न होकर, धात्वर्थरूप 'फल' के अनुकूल होने वाला 'व्यापार' है जो आख्यात'-('लकार') मात्र का वाच्य अर्थ है। इसलिये 'लिङ्' के अतिरिक्त अन्य लकारों में 'आर्थी भावना' का कथन माना गया है तथा 'लिङ् लकार' में दोनों—'शाब्दी' तथा 'आर्थी'—भावनाओं का कथन मीमांसकों ने माना है क्योंकि वहां 'आख्यातत्व' तथा 'लिङ्त्व' दोनों ही हैं। इनमें पहले से 'आर्थी भावना' तथा दूसरे से 'शाब्दी भावना' का ज्ञान होता है (द्र०—अर्थसंग्रह ४-८)।

**प्रथमान्तार्थ·····नैयायिका:**—नैयायिक विद्वान् यह मानते हैं कि 'तिङन्त' पदों से जो ज्ञान होता है उसमें प्रथमा विभक्त्यन्त शब्द का अर्थ प्रधान होता है। इन विद्वानों के अनुसार 'लकार' का अर्थ है 'कृति' अथवा 'प्रयत्न' तथा प्रथमान्त पद के अर्थ में 'आख्यातार्थ' अथवा 'लकारार्थ' विशेषण बनता है तथा प्रथमान्त पद का अर्थ विशेष्य बनता है। इसलिये 'चैत्र: तण्डुलं पचति' इस वाक्य का नैयायिक-सम्मत अर्थ होगा ''चावल रूप 'कर्म' का जो पकना रूप 'व्यापार' उसके अनुकूल 'प्रयत्न' वाला चैत्र'। नैयायिकों के इन सिद्धान्तों के विषय में इस ग्रन्थ के धात्वर्थप्रकरण (पृ० १६०-१८४) में विस्तार से विचार किया जा चुका है।

**द्वितीयार्थ··· ···अन्वय:**—अन्य 'द्वितीया' आदि विभक्तियों के अर्थ 'कर्मत्व' आदि का तो 'क्रिया' में ही अन्वय होगा—ऐसा सभी विद्वान् मानते हैं। वस्तुत: 'कारकत्व' का सम्बन्ध तो 'क्रिया' से है। 'क्रिया' से सम्बद्ध हुए बिना तो 'कारकों' की कारकता ही निष्पन्न नहीं हो सकती। अत: 'द्वितीया' आदि विभक्तियों के अर्थ 'कर्मत्व', 'करणत्व' आदि का अन्वय तो 'क्रिया' में ही होगा। इसीलिये 'कारक' की परिभाषा ही की गयी—"क्रियानिर्वर्तकत्वं कारकत्वम्", अर्थात् 'क्रिया' का निष्पादक ही 'कारक' होता है।

**['लङ्' तथा 'लुङ्' लकार के अर्थ के विषय में विचार]**

लङस्तु शक्यो ह्योऽनद्यतनकाल:। लुङस्तु भूतसामान्यम्। भूतत्वं च वर्तमानध्वंसप्रतियोग्युत्पत्तिकत्वम्। न तु तादृशप्रतियोगित्वम् एव। चिरोत्पन्नेऽपि 'पूर्वेद्युरभवत्' इति प्रत्ययापत्ते:। 'नष्ट:' इत्यादौ नाशे तदन्वयासम्भवाच्च। उत्पत्तेस्तु देशकालादौ अन्वयान्न दोष:। 'अभवत्' इत्यादौ तु धातुना उत्पत्ति: प्रत्याय्यते 'नष्ट:' इत्यादौ तादृशोत्पत्तिकत्वं प्रत्ययेन इति विशेष:।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'लङ्' (लकार) का वाच्य अर्थ है 'अनद्यतन भूतकाल' तथा 'लुङ्'(लकार) का तो (अर्थ है) 'भूतसामान्य'। भूतत्व' की परिभाषा है "वर्तमान कालीन विनाश की 'प्रतियोगिनी' (क्रिया) की उत्पत्ति का आश्रय (अतीत काल)"। केवल "वैसी (वर्तमान कालीन ध्वंस की) 'प्रतियोगिता" ही ('भूतकाल' की) परिभाषा नहीं है क्योंकि ("वर्तमानकालीन ध्वंस की 'प्रतियोगिता" को ही 'भूतकाल' की परिभाषा मानने पर) बहुत काल पूर्व उत्पन्न (घट आदि) के लिये भी 'पूर्वेद्युर् अभवत्' (कल उत्पन्न हुआ) यह (प्रयोग) होने लगेगा। तथा 'नष्टः' (नष्ट हुआ) इत्यादि (प्रयोगों) में 'नाश' में उस (वर्तमानकालीन ध्वंस की 'प्रतियोगिता') का अन्वय असम्भव है। (ऊपर की परिभाषा में विद्यमान) उत्पत्ति का तो देश तथा काल के साथ अन्वय होने के कारण ('नष्टः' इस प्रयोग में) दोष नहीं आता। 'अभवत्' इत्यादि (प्रयोगों) में 'उत्पत्ति' (रूप अर्थ) का ज्ञान धातु से होता है। परन्तु 'नष्टः' इत्यादि (प्रयोगों) में वैसी (वर्तमानकालीन ध्वंस की 'प्रतियोगिनी' क्रिया की) 'उत्पत्ति' वाले (देश काल आदि) का ज्ञान प्रत्यय से होता है—इतना अन्तर है।

यहां 'भूतकाल' की परिभाषा के विषय में विचार किया गया है। प्राचीन नैयायिक यह कहते हैं कि 'वर्तमान-ध्वंस-प्रतियोगिता', अर्थात् क्रिया का वर्तमान कालीन जो ध्वंस उसकी 'प्रतियोगिनी' जो क्रिया उसका आश्रयभूत काल ही 'भूत' काल है। जैसे--'घटोऽभवत्'—यहां घड़े की 'उत्पत्ति' रूप क्रिया का वर्तमान-कालीन ध्वंस हुआ है। इस ध्वंस की 'प्रतियोगिनी' क्रिया पहले होने वाली घट की 'उत्पत्ति' है। उस 'उत्पत्ति' रूप क्रिया का जो काल वही 'भूत' काल है। द्र०—"वर्तमानध्वंसप्रतियोग्यवच्छिन्नः कालः" (पदार्थमाला) तथा "भूतत्वं च विद्यमानध्वंसप्रतियोगित्वम्" (न्यायसिद्धान्तमंजरी)। इसी बात को वैशेषिक उपस्कार में कुछ भिन्न शब्दों में कहा गया है—"यत्प्रध्वंसेन च कालोऽवच्छिद्यते स तस्य भूतकालः"। (ये तीनों उद्धरण न्यायकोश से लिये गये हैं)।

परन्तु अर्वाचीन नैयायिकों को भूतकाल की इस परिभाषा में अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष दिखाई देता है। इनका यह कहना है कि यदि 'वर्तमान-ध्वंस-प्रतियोगिता' ही 'भूत'काल की परिभाषा मानी गयी तो बहुत पहले उत्पन्न हुए घट के लिये भी 'घटः पूर्वेद्युर् अभवत्', (घड़ा कल उत्पन्न हुआ) यह प्रयोग होने लगेगा क्योंकि घटोत्पत्ति रूप क्रिया का जो वर्तमान-कालिक-विनाश उसका प्रतियोगी—अतीत कालिक उत्पत्ति रूप क्रिया—तो है ही। यह अतीत कालिक क्रिया किसी न किसी काल का आश्रयण करेगी। वह आश्रयभूत काल कौन सा माना जाय इस बात का उपर्युक्त परिभाषा में कोई निर्देश नहीं किया गया। इसलिये बहुत पहले का अतीत काल भी उसका आश्रय हो सकता है तथा बीता हुआ कल या वर्तमान काल से थोड़ा पहले का काल भी उसका आश्रय हो सकता है। इस आश्रयभूत काल तथा क्रिया के एक होने के कारण बहुत पहले उत्पन्न घड़े के लिये 'पूर्वेद्युर् अभवत्' प्रयोग होने लगेगा क्योंकि वर्तमानकालिक ध्वंस की 'प्रतियोगिता' वहां पर भी है। इस प्रकार यहां 'अतिव्याप्ति' दोष है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्राचीन नैयायिकों की इस परिभाषा में 'अव्याप्ति' दोष भी है। 'नष्टः घटः' (घड़ा टूट गया) इस प्रकार के प्रयोगों में 'वर्तमान-ध्वंस-प्रतियोगित्व' लक्षण नहीं घटता क्योंकि यहां 'नाश' वर्तमान कालिक ध्वंस का 'प्रतियोगी' नहीं है। 'नाश' तो ध्वंस का प्रतियोगी तब बन सकता है जबकि घट के 'नाश' का अभाव या ध्वंस हो रहा हो। यहां तो 'नाश' ही है उसका ध्वंस नहीं।

इसलिये नवीन नैयायिकों का यह विचार है कि 'वर्तमान-ध्वंस-प्रतियोगी' के साथ 'उत्पत्ति' पद और जोड़ देना चाहिए तथा 'वर्तमान-ध्वंस-प्रतियोग्युत्पत्तिकत्वं भूतत्वम्' यह 'भूतकाल की परिभाषा माननी चाहिये। अब परिभाषा का स्वरूप यह हुआ कि वर्तमानकालीन ध्वंस या अभाव की 'प्रतियोगिनी' जो अतीतकालिक क्रिया उसकी 'उत्पत्ति' जिस काल में हुई वह विशिष्ट काल ही 'भूत'काल है। इस प्रकार 'उत्पत्ति'पद के संयुक्त हो जाने के कारण बहुत पहले उत्पन्न घट के लिये 'पूर्वेद्युर् अभवत्' प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि ध्वंस की 'प्रतियोगिनी' जो घटोत्पत्तिरूप क्रिया उसकी 'उत्पत्ति' का काल कल (पूर्वेद्युः) न होकर उससे पहले का है।

इसी प्रकार इस 'उत्पत्ति'पद के जोड़ देने से ऊपर प्रदर्शित 'अव्याप्ति' दोष का भी निराकरण हो जाता है क्योंकि यहां 'उत्पत्ति' पद का अन्वय, 'प्रतियोगिनी' क्रिया की 'उत्पत्ति' के आश्रयभूत, देश तथा काल में किया जाता है। इस तरह 'नाश' की उत्पत्ति रूप क्रिया वर्तमान कालीन 'नाश' की प्रतियोगिनी है। इस नाशोत्पत्ति रूप क्रिया का आश्रयभूत जो काल वही 'नाश' का 'भूत'काल है। नवीन नैयायिकों के मत लिये द्रष्टव्य—"भूतत्वं चोत्पत्तावन्वेति। तथा च विद्यमानध्वंस-प्रतियोग्युत्पत्तिकत्वं लब्धम्" (तर्कामृतम् से न्यायकोश में उद्धृत)।

**अभवत्'···विशेषः**—'घटोऽभवत्' (घड़ा उत्पन्न हुआ) तथा 'घटो नष्टः' (घड़ा टूट गया) इन दो प्रयोगों में केवल अन्तर यह है कि पहले प्रयोग 'घटोऽभवत्' में जो यह अर्थ किया गया कि 'घड़े की उत्पत्ति रूप क्रिया का अभाव' उसमें उत्पत्ति रूप अर्थ 'भू' धातु से ही ज्ञात हो जाता है क्योंकि 'भू' का अर्थ ही उत्पत्ति है। परन्तु दूसरे प्रयोग 'घटो नष्टः' में जो 'घड़े के नाश की उत्पत्ति रूप क्रिया का अभाव' यह अर्थ है उसमें 'उत्पत्ति रूप' अर्थ धातु का न हो कर 'क्त' प्रत्यय का मानना होगा क्योंकि यहाँ 'नश्' धातु प्रयुक्त है, जिसका अर्थ 'उत्पत्ति' कभी नहीं होता अपितु 'उत्पत्ति' के विपरीत सदा 'विनाश' अर्थ ही होता है।

**['लिट्' लकार के अर्थ—'भूत' काल तथा 'परोक्षता'—के विषय में विचार]**

लिटस्तु भूतकाल इव परोक्षत्वम् अप्यर्थः, 'अहं चकार' इत्यादिप्रयोगादर्शनात्[1]। न[2] चैवं "ण्लुत्तमो वा", (पा० ७.१.९१) इति ज्ञापकात् उत्तमपुरुषस्तत्र स्याद् इति

१. ह०—प्रयोगदर्शनात्।
२. निम०, काप्रशु०—ननु।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



वाच्यम् । 'सुप्तोऽहं किल विललाप,' 'मत्तोऽहं किल-विचचार' इत्यादौ चित्तविक्षेपादिना पारोक्ष्यम्[1] उपपाद्य तत्र सूत्रसार्थक्यसम्भवात् । तत्र च परोक्षत्वेन पारोक्ष्यसादृश्ये तात्पर्यम् । 'चक्रे सुबन्धुः' इति तु न लिट्प्रयोगोऽपितु तिङन्तप्रतिरूपको निपातः ।

'लिट्' (लकार) का तो 'भूत' काल के समान 'परोक्षता' भी अर्थ है क्योंकि 'अहं चकार' इत्यादि (जैसे) प्रयोग नहीं देखे जाते । "णलुत्तमो वा" इस (सूत्र) के ज्ञापक से वहाँ ('लिट्' लकार की क्रियाओं में) 'उत्तम पुरुष' का प्रयोग होगा यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'सुप्तोऽहं किल विललाप' (कहते हैं सोये हुए मैंने विलाप किया), 'मत्तोऽहं किल विचार' (कहते हैं मत्त होकर मैंने भ्रमण किया) इत्यादि प्रयोगों में चित्त की व्याकुलता आदि के आधार पर 'परोक्षता' का उपपादन करने से ("णलुत्तमो वा") सूत्र की सार्थकता सम्भव है और वहाँ ("परोक्षे लिट्" पा० ३.२.११५ इस सूत्र में) 'परोक्षता' का तात्पर्य है– 'परोक्षता के सदृश' । 'चक्रे सुबन्धुः' (सुबन्धु ने रची) यह ('चक्रे' प्रयोग) 'लिट्' लकार का प्रयोग नहीं है अपितु है 'तिङन्त' सदृश 'निपात' ।

'लिट्' लकार का अर्थ केवल 'भूत' काल न होकर परोक्षत्व-विशिष्ट भूतकाल है । परोक्ष का अर्थ है वक्ता की ज्ञानेन्द्रियों से परे होना । पाणिनि ने "परोक्षे लिट्" (पा० ३.२.११५) सूत्र द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि 'लिट्' लकार का प्रयोग केवल 'भूत' काल के लिये नहीं होता अपितु परोक्षत्व-विशिष्ट 'भूत' काल के लिये होता है ।

'लिट्' लकार के 'परोक्षत्व-विशिष्ट भूतकाल' अर्थ की पुष्टि करते हुए, हेतु के रूप में, यहाँ यह कहा गया कि यदि 'लिट्' लकार का अर्थ केवल 'भूत' काल ही होता तो 'अहं चकार' जैसे प्रयोग भी होने चाहिये । परन्तु ऐसे प्रयोग नहीं देखे जाते इससे यह स्पष्ट है कि 'लिट्' लकार का अर्थ 'परोक्षत्व-विशिष्ट भूतकाल' ही है । वस्तुतः वक्ता स्वयं किसी ऐसे कार्य को नहीं कर सकता जो उससे 'परोक्ष' हो । इसलिये 'अहं चकार' (मैंने अपने से परोक्ष कार्य को किया) जैसे प्रयोग नहीं देखे जाते ।

यहाँ एक प्रश्न यह है कि यदि 'लिट्' लकार की क्रियाओं के साथ 'उत्तम पुरुष' का प्रयोग नहीं हो सकता तो पाणिनि का "णलुत्तमो वा" सूत्र व्यर्थ हो जायगा क्योंकि इस सूत्र का अर्थ ही है– "उत्तमपुरुष से युक्त जो 'णल्' वह विकल्प से 'णित्' होता है" । 'णित्' होने का परिणाम यह होगा कि 'अङ्ग' के उपधाभूत अकार को विकल्प से वृद्धि होगी (द्र०–"अत उपधायाः", पा० ७.२.११६) । जैसे–'कृ' धातु के 'अहं चकार' तथा 'अहं चकर' दोनों तरह के प्रयोग होते हैं । "परस्मैपदानां णलतुस्०" (पा० ३.४.८२) सूत्र से विहित यह, 'उत्तमपुरुष' में होने वाला, 'णल्' 'लिट्' लकार में ही होता है क्योंकि उस सूत्र में ऊपर से 'लिट्' पद की अनुवृत्ति आ रही है । इसलिये

१. ह०—पराक्ष्यम् ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



पाणिनि के "णलुत्तमो वा" सूत्र की सार्थकता के लिये यह आवश्यक है कि 'अहं चकार' जैसे 'उत्तम पुरुष' के प्रयोगों को साधु माना जाय और यदि इन प्रयोगों को साधु माना गया तो 'लिट्' लकार का अर्थ 'परोक्षत्व-विशिष्ट भूतकाल' नहीं माना जा सकता क्योंकि वक्ता स्वयं अपने से परोक्ष कार्य को नहीं कर सकता।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया कि "णलुत्तमो वा" सूत्र की सार्थकता तो इस तरह हो जाती है कि चित्त की अव्यवस्था के कारण कभी-कभी वक्ता स्वयं अपने द्वारा किये गये कार्यों को नहीं जान पाता, वे कार्य स्वयं उस कर्त्ता से 'परोक्ष' ही रहा करते हैं। इसलिये चित्त की अव्यवस्था आदि के कारण परोक्षता की उपपत्ति हो जाने से 'सुप्तोऽहं किल विललाप', 'मत्तोऽहं किल विचचार' इत्यादि प्रयोग प्रचलित हो गये। इसी बात को पतंजलि ने "परोक्षे लिट्" सूत्र के भाष्य की निम्न पंक्तियों में स्पष्ट किया है: "भवति वै कश्चिद् जाग्रद् अपि वर्तमानकालं नोपलभते·····। किं पुनः कारणं वर्तमानकालं नोपलभते? मनसा संयुक्तानि इन्द्रियाणि उपलब्धौ कारणानि भवन्ति। मनसोऽसान्निध्यात्" (महा० ३.२.११५), अर्थात् मन से युक्त इन्द्रियों से वस्तु आदि का ज्ञान होता है। अतः चित्त-विक्षेप आदि के कारण मन की अनुपस्थिति से जाग्रद-अवस्था में भी व्यक्ति को वर्तमानकालिक वस्तु आदि का ज्ञान नहीं हो पाता।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि "परोक्षे लिट्" सूत्र में 'परोक्ष' पद का तात्पर्य 'परोक्ष' सदृश है। अतः, 'परोक्ष' न होने पर भी, 'परोक्ष सदृश' होने के कारण उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे। इस तरह "णलुत्तमो वा" सूत्र की सार्थकता तथा 'लिट्' का अर्थ 'परोक्षत्व विशिष्ट भूतकाल' इन दोनों बातों की सिद्धि हो जाती है।

'चक्रे सुबन्धुः' (सुबन्धु ने ग्रन्थ विशेष की रचना की) इत्यादि प्रयोगों में चित्त विक्षेप आदि के द्वारा परोक्षता की सिद्धि नहीं की जा सकती क्योंकि चित्त के विक्षिप्त या अस्थिर होने पर ग्रन्थ रचना जैसा कार्य, जो केवल एकाग्र एवं स्थिर चित्त से ही सम्भव है, नहीं हो सकता। इसलिये यहाँ 'चक्रे' को लिट् लकार का प्रयोग न मान कर 'तिङन्त' सदृश एक 'निपात' माना गया। इसी प्रकार का एक और प्रयोग है—"व्यातेने किरणावलीम् उदयनः" (उदयन ने किरणावली ग्रन्थ का विस्तार किया)। यहाँ भी किरणावली जैसे विशिष्ट ग्रन्थ के लिखने के लिये मन की पर्याप्त एकाग्रता आवश्यक है। इसलिये यहाँ 'लिट्' लकार के प्रयोग को 'कौण्डभट्ट ने असाधु मान लिया है। द्र०—वैभूसा० पृ० १५४—५५)

परन्तु नागेश भट्ट ने यहाँ 'अपरोक्षता' में भी 'परोक्षता' का 'आरोप' कर के उसकी संगति लगाने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि 'अपरोक्षता' में भी 'परोक्षता' के आरोप का प्रयोजन यह है कि "व्यातेने किरणावलीम् उदयनः" को सुनकर लोगों को ग्रन्थ की सुकरता' तथा 'उस ग्रन्थ का बहुत अल्पकाल में रचा जाना' इत्यादि अभिप्रायों का श्रोता को पता लग जाय (द्र०—लघुमंजूषा पृ० ९२१-२२)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



['लुट्' तथा 'लृट्' लकार से प्रकट होने वाले 'भविष्यत्' काल की परिभाषा]

लुट्लृटोस्तु भविष्यत्कालः। भविष्यत्त्वं वर्तमान-प्राग-भाव-प्रतियोग्युत्पत्तिकत्वम्। उत्पत्तौ[1] च देशविशेषः काल-विशेषश्च अधिकरणत्वेन अन्वेति। 'गृहे घटो भविता', 'अद्य घटो भविष्यति' इत्यादौ धातुना उत्पत्तिः प्रत्याय्यते, वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वम् आश्रयत्वं च प्रत्ययेन। 'गृहाधिकरणक-वर्तमान-प्रागभाव-प्रतियोग्यु-त्पत्त्याश्रयो घटः', 'अद्यतन-प्रागभावप्रतियोग्युत्पत्त्याश्रयो घटः' इत्यन्वयबोधात्। वर्तमानप्रागभाव-प्रतियोगित्वमात्रस्य लुडाद्यर्थत्वे श्वो गृहे समुत्पद्य परश्वः प्राङ्गणं[3] गमिष्यति मैत्रे 'परश्वः प्राङ्गणे मैत्रो भविष्यति' इति प्रसङ्गः।

'लुट्' तथा 'लृट्' (लकारों) का तो 'भविष्यत्' काल अर्थ है। 'भविष्यत्' काल (का लक्षण) है वर्तमानकालीन जो प्रागभाव उसके 'प्रतियोगी' 'उत्पत्ति' का आश्रयभूत काल। (यहां) 'उत्पत्ति' में देशविशेष तथा काल-विशेष अधिकरण रूप से अन्वित होता है। 'गृहे घटो भविता' (घर में घड़ा उत्पन्न होगा) तथा 'अद्य घटो भविष्यति', (आज घड़ा उत्पन्न होगा) इत्यादि (प्रयोगों) में ('भू') धातु से 'उत्पत्ति' (रूप अर्थ) ज्ञात होता है और वर्तमानकालीन 'प्रागभाव' की 'प्रतियोगिता' तथा ('प्रतियोगी' 'उत्पत्ति' की) आश्रयता का ज्ञान (क्रमशः 'लुट्' तथा 'लृट्') प्रत्ययों (लकारों) द्वारा होता है क्योंकि (इन प्रयोगों से क्रमशः) "गृह है 'अधिकरण' जिसका ऐसी, तथा जो वर्तमानकालीन 'प्रागभाव' की 'प्रतियोगिनी' है उस, उत्पत्ति का आश्रय घट' एवं "आज (दिन में) होने वाली तथा वर्तमानकालीन 'प्रागभाव' की प्रतियोगिनी जो 'उत्पत्ति' उसका आश्रय घट" यह शाब्दबोध होता है। यदि केवल वर्तमानकालीन 'प्रागभाव' की प्रतियोगिता' को 'लुट्' आदि ('लृट्') का अर्थ माना जाय तो (आने वाले) कल को घर में उत्पन्न होकर परसों आँगन में जाने वाले मैत्र के लिये 'परश्वः प्राङ्गणे मैत्री भविष्यति' (परसों आङ्गन में मैत्र होगा) यह (प्रयोग) होने लगेगा।

'भूत'काल की परिभाषा के समान ही 'भविष्यत्'काल की परिभाषा के विषय में भी प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों में पर्याप्त विवाद है। प्राचीन नैयायिकों ने यहां भी 'उत्पत्ति'पद के बिना ही भविष्यत्काल की परिभाषा प्रस्तुत की थी। द्र०—"भविष्यत्त्वं च

१. ह०—उत्पत्तिः।

२. ह० में "घटो भविता अद्य घटो भविष्यति" के स्थान पर "घटो भविष्यति भविता इति" पाठ है।

३. ह०—प्राङ्गणे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



वर्तमानकालवृत्तिप्रागभाव-प्रतियोगित्वम्"— (वाक्यवृत्ति से न्यायकोश में उद्धृत), अर्थात् वर्तमान काल में रहने वाले 'प्रागभाव' का 'प्रतियोगी' 'भविष्यत्' काल है। इसी प्रकार वैशेषिकोपस्कार में भी कहा गया है—"यत्प्रागभावेन च कालोऽवच्छिद्यते स तस्य भविष्यत् कालः" (न्यायकोश में उद्धृत)।

परन्तु नव्य नैयायिकों को यहां भी 'उत्पत्ति' पद को संयुक्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई क्योंकि उसके बिना लक्षण में 'अतिव्याप्ति' दोष आता है। 'उत्पत्ति' पद के अभाव में 'भविष्यत्' काल की परिभाषा बनेगी—क्रिया का जो वर्तमान-कालिक 'प्रागभाव' उसके प्रतियोगी, अर्थात् क्रिया, का आश्रयभूत काल 'भविष्यत्' काल है।[1] परन्तु 'प्रागभाव' की 'प्रतियोगिनी' क्रिया का आश्रयभूत काल तो, जब से उस क्रिया की उत्पत्ति हुई तब से लेकर आगे जब तक वह क्रिया विद्यमान है तब तक का, कोई भी काल हो सकता है। इसलिये कल उत्पन्न होकर परसों आंगन में जाने वाले मैत्र के लिये 'परश्वः प्राङ्गणे मैत्रो भविष्यति' प्रयोग भी हो सकता है क्योंकि मैत्र की 'होना'-रूप क्रिया का आश्रयभूत काल 'परसों' भी है ही।

'उत्पत्ति' पद जोड़ देने के बाद 'भविष्यत्'काल के लक्षण का स्वरूप होगा "वर्तमान कालिक जो प्रागभाव' उसकी 'प्रतियोगिनी', अर्थात् क्रिया की 'उत्पत्ति' का आश्रयभूत काल 'भविष्यत्' काल है", अर्थात् जिस विशिष्ट काल में मैत्र की यह 'उत्पत्ति' होगी उसी काल को 'भविष्यत्' काल माना जायगा, उस उत्पत्ति-काल से बाद वाले काल को नहीं। इसलिये जो मैत्र कल उत्पन्न होगा उसके लिये यही कहा जा सकता है कि 'श्वः मैत्रो भविष्यति', 'परश्वः मैत्रो भविष्यति' जैसे प्रयोग उसके लिये नहीं हो सकते। अथवा परसों आंगन में जाने वाले मैत्र के लिये 'मैत्रः परश्वः प्राङ्गणे गमिष्यति' ही कहा जायगा, 'परश्वो मैत्रः भविष्यति' नहीं, क्योंकि मैत्र का आधार भले ही 'परसों' तथा 'प्राङ्गण' दोनों ही हैं—एक स्थान की दृष्टि से आधार है तो दूसरा काल की दृष्टि से—परन्तु क्रिया के उत्पन्न होने का विशिष्ट आधार 'परसों' तथा 'प्राङ्गण' नहीं हैं, उसके आधार तो 'श्वः' (कल) तथा 'गृहम्' (घर) ही हैं।

**[कुछ अन्य विद्वानों का मत]**

केचित्तु देशविशेषः कालविशेषश्च प्रागभावे प्रतियोगिनि चान्वेति। 'परश्वः प्राङ्गणे मैत्रो भविष्यति' इत्यस्य 'परश्वोवृत्तिः प्राङ्गणवृत्तिर्यः प्रागभावस्तत्प्रतियोग्युत्पत्त्याश्रयः परश्वोवृत्तिः प्राङ्गणवृत्तिर्मैत्रः' इति बोधः। तेन नोक्तातिप्रसंगः। एतेन श्वो भाविनि घटे 'अद्य भविष्यति' इति प्रसङ्गो निरस्त इत्याहुः।

---

१. ह०—नोक्तप्रसंगः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि देश-विशेष तथा तथा काल-विशेष (ये दोनों अधिकरण) 'प्रागभाव' तथा 'प्रतियोगी' (दोनों) में अन्वित होते हैं। 'परश्वः प्राङ्गणे मैत्रो भविष्यति' का अर्थ होगा 'परसों दिन में होने वाला तथा प्राङ्गण में होने वाला, उत्पत्ति से पूर्व, जो 'प्रागभाव' उसके 'प्रतियोगी', अर्थात् 'उत्पत्ति', का आश्रय, परसों होने वाला तथा प्राङ्गण में होने वाला, मैत्र। इस कारण 'अतिव्याप्ति' दोष नहीं होगा। इस ("अधिकरण का 'प्रागभाव' तथा 'प्रतियोगी' दोनों में अन्वय होता है" इस कथन) से कल होने वाले घड़े के लिये 'अद्य भविष्यति' (आज घड़ा उत्पन्न होगा) इस प्रयोग का निराकरण हो गया।

कुछ अन्य विद्वानों का यह विचार है कि यहां 'भविष्यत्' काल के लक्षण में 'उत्पत्ति' पद देने की आवश्यकता नहीं है। देश तथा काल इन दोनों अधिकरणों का 'प्रागभाव' तथा 'प्रतियोगी' दोनों में अन्वय कर लेने से ही उपर्युक्त 'अतिव्याप्ति' दोष का निराकरण हो जाता है क्योंकि कल उत्पन्न होने वाले मैत्र का 'परसों' इस कालरूप अधिकरण में तथा 'प्राङ्गण' इस देशरूप अधिकरण में 'प्रागभाव' नहीं हो सकता। इसलिये 'भविष्यत्' काल का लक्षण घटित न होने के कारण यहाँ 'परश्वः प्राङ्गणे मैत्रो भविष्यति' यह प्रयोग नहीं हो सकता।

**एतेन श्वोभाविनि··· ···इत्याहुः**—'भविष्यत्' काल के इस दूसरे लक्षण के अनुसार देश तथा काल रूप अधिकरण का 'प्रतियोगी' (उत्पत्ति) में अन्वय करने से जो उत्पत्ति जिस काल में होगी उसके लिये वही काल 'भविष्यत्' काल होगा। इसलिये कल होने वाले घड़े के लिये 'अद्य भविष्यति' प्रयोग नहीं हो सकता।

परन्तु इस लक्षण को भी सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि अधिकरण का 'प्रागभाव' के साथ अन्वय करना कुछ उचित नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है कि परसों के 'प्रागभाव' को वर्तमान कालीन 'प्रागभाव' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह वर्तमान नहीं है। इसलिये 'भविष्यत्' काल के लक्षण में 'उत्पत्ति' पद का होना आवश्यक है।

**['नश्' धातु के 'लुट्' तथा 'लृट्' लकार के प्रयोग के विषय में विचार]**

'नंक्ष्यति' इत्यादौ[1] वर्तमान-प्रागभाव-प्रतियोग्युत्पत्तिकत्वं प्रतियोगित्वं च प्रत्ययार्थः। 'श्वो घटो नंक्ष्यति' इत्यादौ 'श्वोवृत्तिः वर्तमान-प्रागभाव-प्रतियोगिनी या उत्पत्तिः तदाश्रय-नाशप्रतियोगी घटः' इत्यन्वयबोधः। यत्त्वत्र 'वर्तमान-प्रागभाव-प्रतियोगित्वम् एव प्रत्ययार्थः' इति[2] तन्न। श्वोभावि-नाशके घटे 'अद्य नंक्ष्यति' इति प्रसंगात्।

---

१. ह०—इत्यादौ तु।

२. ह०—प्रत्ययार्थः। तत्र; बंगि०—प्रत्ययार्थः। तन्न।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'नंक्ष्यति' इत्यादि (प्रयोगों) में वर्तमान कालीन 'प्रागभाव' के 'प्रतियोगी' (क्रिया) की उत्पत्ति का (आश्रय) होना तथा 'प्रतियोगिता' (ये दोनों 'लृट्' तथा लृट् इन दो) प्रत्ययों के अर्थ हैं। 'श्वो घटो नंक्ष्यति' (कल घड़ा फूटेगा) इत्यादि (प्रयोगों) में 'कल होने वाली, वर्तमान कालीन प्रागभाव की प्रतियोगिनी जो नाश रूप क्रिया उस की उत्पत्ति के आश्रय 'नाश' का प्रतियोगी, 'घट' यह शाब्दबोध होता है। 'वर्तमान-कालीन प्रागभाव की प्रतियोगिता ही 'लृट्' प्रत्यय (लकार) का अर्थ है' वह (मत) ठीक नहीं है क्योंकि (तब तो) कल नष्ट होने वाले घड़े के लिये भी 'अद्य नंक्ष्यति' (आज घड़ा नष्ट हो जायेगा) यह (प्रयोग) होने लगेगा।

'नश्' जैसी अदर्शन अर्थ वाली धातुओं के साथ जब 'लृट्' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है तो वहां यह प्रत्यय दो अर्थों को कहता है। पहला अर्थ है—'वर्तमान-प्रागभाव-प्रतियोग्युत्पत्तिकता', अर्थात् वर्तमान कालीन प्रागभाव की 'प्रतियोगिनी' जो ('नाश' क्रिया की) उत्पत्ति उसका आश्रय अर्थात् 'नाश'। दूसरा अर्थ है—'प्रतियोगिता', अर्थात् 'नाश' या अदर्शन रूप क्रिया का आश्रय (घट आदि)। इन दोनों अर्थों का सम्मिलित ज्ञान 'लृट्' प्रत्यय कराता है। उदाहरण के लिये 'श्वः घटो नंक्ष्यति (कल घड़ा फूटेगा) यहाँ 'नाश' या 'अदर्शन' क्रिया का वर्तमान कालीन जो 'प्रागभाव' उसकी 'प्रतियोगिनी है 'नाश' क्रिया। उस की उत्पत्ति के आश्रयभूत काल 'श्वः' (आने वाला कल) का, तथा प्रतियोगिनी जो नाश या अदर्शन क्रिया उसके प्रतियोगी ('घट') इन दोनों का ज्ञान 'लृट्' प्रत्यय से होता है। यदि केवल 'वर्तमान-प्रागभाव की प्रतियोगिता' ही 'लृट्' प्रत्यय का अर्थ माना जाय तब तो कल नष्ट होने वाले घड़े के लिये भी 'अद्य 'नंक्ष्यति' प्रयोग हो सकता है क्योंकि वर्तमान-कालीन जो 'प्रागभाव' उसकी 'प्रतियोगिनी', अर्थात् 'नाश' क्रिया, की उत्पत्ति का आश्रयभूत 'घट' तो आज भी रहेगा ही। भले ही उसका नाश कल हो परन्तु कल होने वाली नाशोत्पत्ति-रूप 'प्रतियोगी' का आश्रय बनने वाला घट तो आज भी होगा ही।

उपर्युक्त 'वर्तमान-प्रागभाव-प्रतियोग्युत्पत्तिकत्व' तथा 'प्रतियोगी' ये दोनों अर्थ 'लृट्' प्रत्यय के हैं यह मानने पर उपरिनिर्दिष्ट दोष नहीं आता क्योंकि वहाँ तो 'नाश'-रूप क्रिया की उत्पत्ति के काल को भी 'लृट्' प्रत्यय बतायेगा। इसलिये 'घटोऽद्य नंक्ष्यति' का इतना ही अर्थ नहीं होगा कि 'किसी भी समय में उत्पन्न नाश रूप क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय घट' अपितु देश तथा काल का भी 'उत्पत्ति' के साथ अन्वय होने के कारण यह अर्थ होगा कि "आज घड़े की जो 'नाश' क्रिया उत्पन्न होगी, जिसका वर्तमान काल में 'प्रागभाव' है, उसका आश्रय-भूत घट"। इसलिये कल नष्ट होने वाले घड़े के लिये 'श्वः नंक्ष्यति' प्रयोग ही हो सकता है। अतः केवल 'वर्तमान प्रागभाव-प्रतियोगिता' को 'लृट्' प्रत्यय का अर्थ नहीं मानना चाहिये, अपितु 'वर्तमान-प्रागभाव-प्रतियोग्युत्पत्तिकत्व' को 'लृट्' का अर्थ मानना चाहिये, अर्थात् नाशोत्पत्ति के आश्रय-भूत काल का तथा जिसका नाश होना है उस आधार का—दोनों का—बोध 'लृट्' प्रत्यय के द्वारा होता है।

'वर्तमान-प्रागभाव-प्रतियोग्युत्पत्तिकत्वम्' का विग्रह किया जाता है—'वर्तमान-कालिको यः प्रागभावः तत्प्रतियोगिनी उत्पत्तिर्यस्मिन् काले स वर्तमान-प्रागभाव-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्रतियोग्युत्पत्तिकः कालः। तस्य भावः तत्त्वम्'। यहाँ बहुव्रीहि समास में "शेषाद् विभाषा" (पा० ५.४.१५४) सूत्र से 'कप्' प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार 'स्वोभाविनाशके' पद का भी विग्रह है—'स्वोभावी नाशो यस्य स स्वोभाविनाशकः (घटः) तस्मिन्'। यहाँ भी बहुव्रीहि समास में ही 'कप्' प्रत्यय मानना चाहिये, अन्यथा 'ण्वुल्' प्रत्यय मानने पर तो कोई संगति नहीं लग सकेगी।

**['पक्ष्यति' तथा 'पक्ववान्' इत्यादि प्रयोगों के अर्थ के विषय में विचार]**

'पक्ष्यति' इत्यादौ आद्य-पाक-व्यक्ति-प्रागभाव-गर्भमेव भविष्यत्त्वम्। 'पक्ववान्' इत्यादौ चरम-पाक-व्यक्ति-ध्वंस-गर्भम् एव भूतत्वं भासते। तत्तत्समभिव्याहारस्य तादृशबोधे हेतुत्वात्। तेन पाकमध्ये कस्याश्चित् पाक-व्यक्तेर् अनुत्पादेऽपि कस्याश्चिद् अतीतत्वेऽपि न 'पक्ष्यति', 'पक्ववान्' इत्यादि-प्रयोगः।

'पक्ष्यति' (पकावेगा) इत्यादि (प्रयोगों) में (सबसे) पहले होने वाली पाक (की अवान्तर क्रियारूप) व्यक्ति का ही प्रागभाव जिसमें समाविष्ट है ऐसे 'भविष्यत्' काल का (ज्ञान होता है)' तथा 'पक्ववान्' (पकाया) इत्यादि (भूत-कालिक प्रयोगों) में (सबसे) अन्त में होने वाली पाक (की अवान्तर क्रिया-रूप) व्यक्ति की ही समाप्ति समाविष्ट है जिसमें ऐसे 'भूत' काल का ज्ञान होता है क्योंकि वे वे ('पक्ष्यति', 'पक्ववान्' इत्यादि), समुदाय उस प्रकार के ज्ञान के कारण हैं। इसलिये (पूरी) 'पाक' (क्रिया) के मध्य में किसी (अवान्तर क्रियारूप) पाक-व्यक्ति के उत्पन्न न होने पर भी (किसी अवान्तर क्रिया के भविष्यत्काल में होने पर भी) तथा किसी (अवान्तर क्रिया-रूप पाक व्यक्ति) के अतीत में हो जाने पर भी (क्रमशः) 'पक्ष्यति', 'पक्ववान्' इत्यादि प्रयोग नहीं होते।

**['लिङ्' तथा 'लोट्' लकार के अर्थ के विषय में विचार]**

लिङो विधिराशीश्चार्थः। 'यजेत' इत्यादौ विधिः, आशीस्तु 'भूयात्' इत्यादौ। सा च शुभाशंसनं तदिच्छेति यावत्। लोटस्तु विधिरनुमतिर्वा। 'गच्छतु' इत्यत्र 'अनुमतिविषयगमनानुकूलकृतिमान्' इति बोधस्यानुभविकत्वात्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'लिङ्' (लकार) के 'विधि' तथा 'आशीर्वाद' (ये दो) अर्थ हैं। 'यजेत' (यजन करे) इत्यादि में 'विधि' (अर्थ) और 'भूयात्' (हो) इत्यादि में 'आशीर्वाद' (अर्थ) है। और वह (आशीर्वाद का अभिप्राय) शुभ की कामना, अर्थात् उसकी इच्छा, करना है।

'लोट्' (लकार) का 'विधि' अथवा 'अनुमति' (स्वीकृति) अर्थ है क्योंकि 'गच्छतु' (जावे) इस प्रकार के कथन में 'अनुमति का विषयभूत जो गमन उसके अनुकूल कृतिवाले (तुम)' इस ज्ञान का अनुभव होता है।

'लिङ्' लकार का दो विभिन्न अर्थों में विधान करते हुए पाणिनि ने दो सूत्रों की रचना की है। पहला है—"विधि-निमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु लिङ्" (पा. ३.३.१६१) तथा दूसरा है "आशिषि लिङ्लोटौ" (पा. ३.३.१७३)। इनमें, इन 'विधि' आदि अर्थों के वाचक होने के कारण ही, पहले सूत्र से विहित 'लिङ्' को 'विधिलिङ्' तथा दूसरे से विहित 'लिङ्' को 'आशीर्लिङ्' कहा जाता है। 'विधि, 'निमंत्रण' आदि शब्दों के अर्थों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। "आशिषि लिङ्लोटौ" सूत्र में जिस 'आशीः' पद का प्रयोग हुआ है उसका अभिप्राय है 'अप्राप्त जो अभीष्ट अर्थ उसकी प्राप्ति की इच्छा'। द्र०—"अप्राप्तस्य इष्टार्थस्य प्राप्तुम् इच्छा" (का०३.३.१७३)। इस प्रकार की इच्छा या 'आशीः' अपने लिये भी हो सकती है तथा दूसरे के लिये भी। ऐसी इच्छा को ही 'आशीर्लिङ्' कहा करता है।

**['विधि' शब्द के अर्थ के विषय में भाट्ट-मतानुयायी मीमांसकों का विचार]**

> विधिः प्रवर्तना इति **भाट्टाः**। लिङ्निष्ठो व्यापारः पदार्थान्तरम् लिङ्पदज्ञानम् एव वा। तस्य प्रवर्तनात्वेन ज्ञानं[1] शब्दाधीन-प्रवृत्तौ कारणम्। लिङ्श्रवणे 'आचार्यो मां प्रवर्तयति' इति ज्ञानाद् गवानयनादौ प्रवृत्तेः। आचार्यनिष्ठ-प्रवर्तना तु अभिप्राय-विशेष एव[2]—इत्याहुः।

'विधि' (का अभिप्राय है) प्रवर्तना—यह कुमारिल भट्ट के अनुयायी (मीमांसक विद्वान्) मानते हैं। यह ('विधि' अथवा 'प्रवर्तना)' 'लिङ्' में रहने वाला व्यापार है, तथा एक अन्य पदार्थ है, अथवा 'लिङ्' पद ('लिङ्'-लकार युक्त 'तिङन्त' प्रयोग) का ज्ञान ही ('विधि') है। उस ('लिङ्' पद-ज्ञान) का 'प्रवर्तना' (प्रेरणा) रूप से जानना (ही) (उन उन 'लिङ्' लकार के) शब्दों (प्रयोगों) से होने वाली 'प्रवृत्ति' का कारण है क्योंकि 'लिङ्' लकार' के सुनने पर 'आचार्य मुझे (इस कार्य को करने के लिये) प्रेरित करते हैं' इस ('प्रवर्तना' रूप) ज्ञान से गौ को लाने आदि (कार्यों) में

१. ह० बंमि०—ज्ञान।
२. ह० में अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(शिष्य की) प्रवृत्ति होती है। ('गाम् आनय' इत्यादि कहने वाले) आचार्य में रहने वाली प्रेरणा तो अभिप्राय-विशेष है—यह (भाट्ट-मतानुयायी) कहते हैं।

'विधि' शब्द के अर्थ के विषय में दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। स्वयं मीमांसक विद्वानों में ही इस शब्द के अर्थ के विषय में दो वर्ग हैं। पहला है कुमारिल भट्ट के अनुयायियों का तो दूसरा है प्रभाकर या गुरुमत के अनुयायियों का। कुमारिल भट्ट के अनुयायी 'विधि' का अर्थ 'प्रवर्तना' अथवा 'प्रेरणा' करते हैं।

इन विद्वानों की दृष्टि में 'विधिलिङ्' के प्रयोगों से किसी कार्य-विशेष को करने के लिये एक प्रकार की प्रेरणा या 'प्रवर्तना' का बोध होता है। क्योंकि जब कभी 'विधि-लिङ्' का प्रयोग किया जाता है तो उससे नियमतः इस प्रकार की प्रतीति होती है कि इस प्रयोग का प्रयोक्ता मुझे इस कार्य को करने के लिये प्रेरित कर रहा है। द्र०—"भट्टपादास्तु प्रवर्तयितुः प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापार-विशेषः प्रवर्तना इत्याहुः" (न्यायकोश)।

इस 'प्रवर्तना' या प्रेरणा को ही 'शाब्दी भावना' भी कहा गया है। लौकिक वाक्यों में प्रयुक्त 'विधिलिङ्' के प्रयोगों से प्रतीत होने वाली 'प्रवर्तना' को वक्ता पुरुष में विद्यमान अभिप्राय-विशेष माना जाता है। परन्तु 'स्वर्ग-कामो यजेत' जैसे वैदिक वाक्यों में प्रयुक्त 'विधिलिङ्' के प्रयोगों में यह 'प्रवर्तना' या प्रेरणा पुरुषनिष्ठ नहीं मानी जाती। क्योंकि मीमांसकों की दृष्टि में वेद अपौरुषेय हैं, उनका कर्ता या वक्ता कोई नहीं है। इसलिये वैदिक वाक्यों में यह 'प्रवर्तना' 'लिङ्' लकार-निष्ठ अथवा शब्दनिष्ठ मानी जाती है। इन दोनों प्रकार की 'प्रवर्तना' को 'शाब्दी भावना' माना जाता है। 'प्रवर्तना' को 'शाब्दी भावना' कहने का मूल कारण यह प्रतीत होता है कि वैदिक वाक्यों में यह प्रेरणा शब्दनिष्ठ या 'लिङ्'-निष्ठ मानी जाती है। द्र०—"तत्र पुरुष-प्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापार-विशेषः शाब्दी भावना। सा च लिङादेनोच्यते। लिङ्-श्रवणोऽयं मां प्रवर्तयतीति—मत्प्रवृत्त्यनुकूल-व्यापारवान् अयम् इति नियमेन प्रतीतेः। स च व्यापार-विशेषो लौकिक-वाक्ये पुरुष-निष्ठोऽभिप्रायविशेषः। वैदिक-वाक्ये तु पुरुषाभावात् लिङादिशब्दनिष्ठ एव। अत एव शाब्दी भावनेति व्यवह्रियते" अर्थसंग्रह (६)।

'शाब्दी भावना' से भिन्न एक दूसरी भी भावना है जिसे 'आर्थी भावना' कहा जाता है। किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से तदनुकूल क्रिया को करने के लिये पुरुष की जो मानसिक प्रवृत्ति या क्रियाशीलता है उसे मीमांसक 'आर्थी भावना' कहते हैं। यह 'आर्थी भावना' लकारमात्र अथवा आख्यातसामान्य का वाच्य अर्थ माना जाता है। क्योंकि ये मीमांसक 'व्यापार' को धातु का अर्थ न मान कर 'आख्यात' का अर्थ मानते हैं। द्र०—"प्रयोजनेच्छा-जनित-क्रिया-विषय-व्यापार आर्थीभावना। स च आख्यातत्वांशेन उच्यते। आख्यात-सामान्यस्य व्यापारवाचित्वात्" अर्थसंग्रह (८)।

इस रूप में 'लिङ्' लकार के प्रयोगों में दो अंश हैं 'लिङ्त्व' अंश तथा 'आख्यातत्व' अंश। 'आख्यातत्व' तो सभी 'लकारों' में पाया जाता है, इसलिये 'आख्यातत्व' का वाच्य अर्थ 'व्यापार' या, 'आर्थी भावना' सभी 'लकारों' में पायी जाती है। परन्तु 'शाब्दी भावना', केवल 'लिङ्त्व' अंश का ही अर्थ है इसलिये केवल 'लिङ्' लकार के प्रयोगों में ही पायी जाती है। इस प्रकार 'लिङ्' लकार के प्रयोगों में 'शाब्दी भावना'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



तथा 'आर्थीभावना' दोनों ही होती हैं 'लिङ्त्व' अंश में 'शाब्दी भावना' तथा 'आख्यातत्व' या 'लकारत्व' अंश में 'आर्थी भावना'। इन दोनों 'भावनाओं की दृष्टि से निम्न कारिका द्रष्टव्य है :—

**अभिधाभावनाम् आहुर् अन्याम् एव लिङादयः ।**
**अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वस्याख्यातगोचरा ॥** तंत्रवार्तिक २.१.१

**लिङ्निष्ठो व्यापारः पदार्थान्तरम्**—यहाँ 'प्रवर्तना' को 'लिङ्'-निष्ठ व्यापार तथा 'पदार्थान्तर' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यह 'प्रवर्तना,' जिसका दूसरा नाम 'शाब्दी भावना' है, 'लिङ्' लकार के 'लिङ्त्व' अंश में रहने वाली प्रेरणा-रूप व्यापार है। और इस रूप में 'आख्यातत्व' या 'लकारत्व' अंश में रहने वाले मानसिक व्यापार अथवा 'आर्थी भावना', से भिन्न है। इसलिये 'आर्थी भावना' से भिन्न होने के कारण इसे 'पदार्थान्तर' कहा गया है। यहाँ 'पदार्थान्तरम्' पद में 'पद' का अभिप्राय 'पदांश' प्रतीत होता है। क्योंकि 'आर्थी भावना' 'आख्यात'-रूप 'पदांश' का अर्थ है तथा 'शाब्दी भावना 'लिङ्त्व' रूप 'पदांश' का अर्थ है। 'पदांश' के लिये भी 'पद' शब्द का प्रयोग होने के कारण यहाँ दोनों ही 'पदार्थ' हैं। इस तरह 'शाब्दी भावना' 'पदार्थान्तर' है अर्थात् दूसरे 'पदार्थ ('आर्थी भावना') से भिन्न है। इस रूप में ही 'पदार्थान्तर' पद की संगति लग सकती है।

**लिङ्-पद-ज्ञानम्·····अभिप्राय-विशेष इत्याहुः**—ऊपर 'प्रवर्तना' को 'लिङ्निष्ठ' एक व्यापार-विशेष कहा गया है। यहाँ 'प्रवर्तना' को एक दूसरे रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है और वह यह है कि 'लिङ्' पद, अर्थात् लिङ्त्वरूप पदांश, का ज्ञान ही 'प्रवर्तना' है। इसका अभिप्राय यह है कि—'लिङ्' का अर्थ प्रेरणा होता है—यह ज्ञान होने पर ही श्रोता को 'लिङ्' लकार के प्रयोग से प्रेरणा मिलती है। इसलिये यही मानना उचित है कि 'लिङ्' का ज्ञान ही 'प्रवर्तना' है या दूसरे शब्दों में 'प्रवर्तना' का हेतु है। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए नागेश ने यह कहा कि 'लिङ्'-रूप शब्दांश में जो प्रवृत्ति या प्रेरणा विद्यमान है उसका कारण है 'लिङ्' का प्रवर्तनारूप से ज्ञान। जब कभी विद्यार्थी अपने गुरु से 'गाम आनयेः,' जैसे 'लिङ्' लकार वाले प्रयोग को सुनता है तो उसे यह ज्ञात रहता है कि गुरु मुझे इस विशिष्ट कार्य में प्रवृत्त कर रहे हैं। 'लिङ्' के प्रयोग के सम्बन्ध में इस प्रकार के ज्ञान के रहने पर ही विद्यार्थी की, गौ को लाने इत्यादि कार्यों में, प्रवृत्ति होती है।

**[नैयायिकों द्वारा उपर्युक्त भाट्ट मीमांसकों के मत का खण्डन]**

तन्न, स्तन-पानादि-प्रवृत्तौ इष्टसाधनता-ज्ञानस्य हेतुताया आवश्यकत्वात् तत एवोपपत्तौ प्रवर्तनाज्ञानस्य[1] हेतुत्वे

१. ह०, बंमि—प्रवर्तनाज्ञान—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



मानाभावात्। 'स्वर्गकामोयजेत' इत्यादौ 'प्रवर्तना-विषया यागकरणिका स्वर्गकर्मिका भावना' इति बोधस्य परैः[2] अभ्युपगमात्। प्रवर्तना-विषयत्वमात्रज्ञानात् प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। आवश्यक-स्वर्गसाधनत्वादि-ज्ञानाद् एव तत्र प्रवृत्तेः।

(भाट्ट मीमांसकों का) वह (कथन) उचित नहीं है, क्योंकि (शिशु) की दुग्धपान आदि (कार्यों) की प्रवृत्ति में, 'यह हमारे अभीष्ट की सिद्धि करने वाला है' इस प्रकार के ज्ञान को हेतु मानना आवश्यक है। (इसलिये) इस ('इष्ट-साधनता-ज्ञान') से ही सर्वत्र (लोक और वेद में) सङ्गति लग जाने पर 'प्रवर्तना' ज्ञान को (प्रवृत्ति का) हेतु मानने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि (वाक्यों) में, 'जो प्रेरणा का विषय है, याग जिसमें 'करण' है तथा स्वर्ग जिसका 'कर्म' है ऐसी भावना' यह बोध होता है, इस बात को दूसरों (भाट्ट मीमांसकों) ने भी माना है। अतः केवल 'यह प्रवर्तना का विषय है' इस ज्ञान से (किसी कार्य में व्यक्ति की) प्रवृत्ति नहीं होती। आवश्यक स्वर्ग की साधनता आदि के ज्ञान से ही (यज्ञकर्त्ता की) वहाँ (याग आदि में) प्रवृत्ति होती है।

भाट्ट मीमांसकों के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए यहां नैयायिक यह कहता है कि 'प्रवर्तना' या प्रेरणा को, किसी कार्य में, व्यक्ति की प्रवृत्ति का कारण या हेतु मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि 'प्रवर्तना' या प्रेरणा के न होने पर भी कार्य में व्यक्ति की प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे जन्म के तुरन्त पश्चात् सर्वथा अबोध शिशु, जिसे प्रेरणा क्या होती है इस बात का थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं है, मां के स्तन-पान-रूप कार्य में प्रवृत्त होता है। या इसी प्रकार पशु पक्षियों की, जिन्हें इस बात का कुछ भी ज्ञान नहीं है कि कार्य में प्रवृत्त होने का हेतु 'प्रवर्तना' (प्रेरणा) होती है, विभिन्न कार्यों में प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि एक मात्र 'प्रवर्तना' (प्रेरणा) ही प्रवृत्ति का हेतु है। अतः इन सभी उपरिनिर्दिष्ट स्थलों में 'प्रवर्तना' से काम न चलने पर 'इष्ट-साधनता के ज्ञान', अर्थात् यह कार्य मेरे अभीष्ट की सिद्धि करने वाला है इस प्रकार के ज्ञान, को ही प्रवृत्ति का कारण मानना पड़ता है। ऐसी स्थिति में 'प्रवर्तना' को प्रवृत्ति का कारण न मानकर 'इष्ट-साधनता-ज्ञान' को ही प्रवृत्ति का कारण क्यों न माना जाय जब एक कारण मानने से काम चल जाता है तो फिर दो-दो कारण मानने की क्या आवश्यकता ?

इसके अतिरिक्त, नैयायिक का कहना यह है कि, ये मीमांसक विद्वान् स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'स्वर्ग-कामो यजेत' का अभिप्राय "एक ऐसी 'भावना' है जो प्रेरणा का विषय है तथा जिसका स्वर्ग 'कर्म' है और याग 'करण' है।"

१. ह०—प्रवर्तनाविषय; काप्रशु०—प्रवर्तनाविषयो।
२. ह०—परैरभ्युपगमात्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अतः यहां केवल प्रेरणा से काम नहीं चलता । जब तक यह पता नहीं लगता कि 'यजन' से स्वर्गरूप अभीष्ट की प्राप्ति या सिद्धि होगी, अथवा याग स्वर्गरूप अभीष्ट का साधन है, तब तक कोई भी यजन क्रिया में प्रवृत्त नहीं होगा । अतः, केवल 'प्रवर्तना'-ज्ञान से कार्य में प्रवृत्ति की सिद्धि न होने के कारण, 'इष्ट-साधनता-ज्ञान' को ही प्रवृत्ति का कारण मानना चाहिये । क्योंकि वही एक मात्र प्रवृत्ति का हेतु है । 'इष्ट-साधनता-ज्ञान' के हो जाने पर कहीं-कहीं बिना 'प्रवर्तना' या प्रेरणा के भी हम व्यक्ति को उन उन कार्यों में प्रवृत्त हुआ पाते है तथा कहीं 'इष्टसाधनता-ज्ञान' के साथ साथ थोड़ी बहुत प्रेरणा की आवश्यकता भी पड़ती है पर वह प्रेरणा बहुत कुछ 'इष्ट-साधनता-ज्ञान' को ही दृढ़ या पुष्ट करने के लिये होती है ।

यह पूछा जा सकता है कि यदि 'इष्ट-साधनता-ज्ञान' ही प्रवृत्ति का हेतु है तो सद्यः उत्पन्न नवजात शिशु स्तनपान कार्य में अथवा अबोध पशु पक्षी भिन्न भिन्न कार्यों में क्यों प्रवृत्त होते हैं—इन सबको तो 'इष्टसाधनता' का ज्ञान होता ही नहीं । इसका उत्तर नैयायिक यह देते हैं कि इन सब में भी 'इष्टसाधनताज्ञान' का सूक्ष्म संस्कार तो रहता ही है इसलिये उसे प्रवृत्ति का कारण मानने में कोई कठिनाई नहीं है ।

[आचार्य प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक-विद्वानों के अनुसार 'विधि' शब्द का अर्थ]

'कार्यं विधिः' इति **प्राभाकराः**। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादौ 'स्वर्गकामनियोज्यकं यागविषयकं कार्यम्' इति प्राथमिको बोधः । 'सनियोज्यकं यागविषयकं स्थायिस्वर्गसाधनं कार्यम्' इति द्वितीयः । 'स्वर्ग-काम-नियोज्यको यागः स्वर्ग-काम-कार्यः' इति तृतीयः । 'स्वर्गकामो यागकर्त्ता' इति चतुर्थः । 'अहं स्वर्गकामोऽतो यागो मत्कृतिसाध्यः' इति पञ्चमः ।

'विधि' (का अर्थ) है 'कार्य' (एक विशेष प्रकार का 'अपूर्व' या 'पुण्य') –यह (आचार्य) प्रभाकर के अनुयायी मानते हैं । 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गाभिलाषी यजन करे) इत्यादि (वाक्यों) में "स्वर्गाभिलाषी है 'नियोज्य' (इष्ट-साधनता-ज्ञान से उत्पन्न कर्त्तव्य-बुद्धि वाला) जिसमें तथा याग है विषय जिसमें ऐसा 'कार्य' (अदृष्ट अपूर्व)" यह पहला ज्ञान होता है । "नियोज्य (व्यक्ति) के साथ रहने वाला यागविषयक 'कार्य' (अपूर्व) स्थायी तथा स्वर्ग का साधन है" यह दूसरा ज्ञान होता है । "स्वर्गाभिलाषी है 'नियोज्य' (इष्ट-साधनताज्ञान से उत्पन्न कर्त्तव्य-बुद्धि वाला) जिसमें ऐसा याग (उस) स्वर्गेच्छुक व्यक्ति के द्वारा किया जाना चाहिये"—यह तीसरा ज्ञान होता है । "स्वर्गा-

१. ह०—कार्य ।

२. ह० में यह पूरा पद अनुपलब्ध है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अभिलाषी याग का करने वाला है" यह चौथा ज्ञान होता है। "मैं स्वर्गाभिलाषी हूं अतः मेरी 'कृति' (प्रयत्नों) के द्वारा याग साध्य है" यह पाँचवाँ ज्ञान होता है।

आचार्य प्रभाकर मिश्र के अनुयायी मीमांसकों का ध्यान इस प्रसङ्ग में दूसरी तरफ गया। इन विद्वानों का विचार है कि किसी भी उद्देश्य की सिद्धि के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि 'साधन' में आवश्यक गुण विद्यमान हों। जैसे—'घटेन जलम् आनय' इस वाक्य में जलानयन-रूप उद्देश्य की पूर्ति के लिये साधनभूत घट का छिद्र रहित-रूप योग्यता से युक्त होना आवश्यक है। इसी प्रकार याग जो स्वर्ग का साधन है उसमें भी इस प्रकार की योग्यता होनी चाहिये कि वह याजक को स्वर्ग की प्राप्ति करा सके। परन्तु यह योग्यता उसमें नहीं है क्योंकि वह क्षणिक है -- शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है। इसलिये मृत्यु के उपरान्त मिलने वाले स्वर्ग का साधन वह नहीं बन सकता है। अतः यहां याग में एक ऐसे 'अपूर्व' या 'अदृष्ट' धर्म की कल्पना करनी ही चाहिये जिसमें स्वर्ग का साधन बनने की योग्यता हो। जो स्वर्ग की अवधि तक स्थिर रहने वाला हो। यह 'अपूर्व' या 'अदृष्ट' धर्म याग से ही उत्पन्न हो सकता है अतः वह याग से सम्बद्ध है। इस रूप में याग के द्वारा 'अपूर्व' की उत्पत्ति तथा उस 'अपूर्व' के द्वारा स्वर्ग की सिद्धि होने से परम्परया याग भी स्वर्ग प्राप्ति का साधन बन जाता है। यहां 'कार्य' शब्द का अर्थ है 'कृति' का उद्देश्य, अथवा 'कृति'-साध्य एक विशेष 'अपूर्व', जिसके द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसलिये वैदिक-वाक्यों की दृष्टि से इस 'कार्य' अथवा 'अपूर्व' को ही 'विधि' शब्द का अर्थ मानना चाहिये। आचार्य प्रभाकर मिश्र के प्रबल अनुयायी तथा समर्थक महामहोपाध्याय शालिकनाथ मिश्र की प्रकरणपंचिका की निम्न कारिकायें में इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं :—

**क्रिया हि क्षणिकत्वेन न कालान्तर-भाविनः।**
**स्वर्गादेः काम्यमानस्य समर्था जनने प्रति॥**
**इष्टस्याजनिका सा च नियोज्येन फलार्थिना।**
**कार्यत्वेन न सम्बन्धम् अर्हति क्षणभङ्गिनी॥**
**तस्मान् नियोज्य-सम्बन्ध-समर्थविधिवाचिभिः।**
**कार्य कार्यान्तरस्थायि क्रियातो भिन्नम् उच्यते॥**
**तद्धि कालान्तरस्थानात् शक्तं स्वर्गादिसिद्धये।**
**सम्बन्धोऽप्युपपद्येत नियोज्येनास्य कामिना॥**
**क्रियादिभिन्नं यत् कार्यं वेद्यं मानान्तरेण तत्।**
**अतो मानान्तरापूर्वम् अपूर्वम् इति गीयते॥** (कारिका सं. २७४-७८)

जहां तक लौकिक वाक्यों का सम्बन्ध है उनमें प्रवृत्ति का हेतु है 'कार्यता-ज्ञान', अर्थात् यह कार्य मुझे करना चाहिये, यह मेरा कर्त्तव्य है, इस प्रकार की कर्त्तव्यबुद्धि। वह कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा कार्यता-ज्ञान तब तक नहीं उत्पन्न होता जब तक 'इष्ट-साधनता' का ज्ञान न हो जाय। जब तक यह पता नहीं लगता कि इस कार्य से किसी अभीष्ट की सिद्धि होगी तब तक कर्त्तव्य-बुद्धि का उदय नहीं होता। अतः 'कार्य' अर्थात् 'कार्यता-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



ज्ञान' को सर्वत्र प्रवृत्ति का कारण मानना चाहिये। इस दृष्टि से प्रकरणपंचिका की निम्न कारिकायें भी द्रष्टव्य हैं :—

**आस्तां तावत् क्रिया लोके गमनागमनक्रिया।**
**अन्ततः स्तन्यपानादिस्तृप्तिकारिण्यपि क्रिया॥**
**सा यावन् मम कार्येयम् इति नैवावधार्यते।**
**तावत् कदापि मे तत्र प्रवृत्तिरभवन् नहि॥**
**कार्यमेव हि सर्वत्र प्रवृत्तावेककारणम्।**
**प्रवृत्त्यभिचारित्वाल् लिङाद्यर्थोऽवधार्यते॥**

(कारिका सं० २५८, २५९, २६५)

अर्थात् गमन, आगमन तथा स्तन्यपान आदि जितनी भी क्रियायें हैं उनमें जब तक यह निश्चित नहीं हो जाता कि यह कार्य मेरा है, तब तक किसी भी क्रिया में प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये सर्वत्र प्रवृत्ति में 'कार्य' (कर्तव्य-बुद्धि) ही हेतु है। अतः वही 'लिङ्' आदि का अर्थ ('विधि') है।

नैयायिक 'इष्ट-साधनता, 'कृतिसाध्यता तथा 'बलवद्-अनिष्टाननुबन्धित्व' इन तीनों को प्रवृत्ति का कारण मानता है। परन्तु इन तीनों को कारण मानने की अपेक्षा एक 'कार्य' (कार्यता-ज्ञान) को प्रवृत्ति का कारण मानने में लाघव है। इसलिये लौकिक प्रयोगों की दृष्टि से यह कार्य (कार्यता-ज्ञान) ही 'विधि' का अर्थ है। यहाँ 'अपूर्व' जैसे किसी अदृष्ट धर्म को 'विधि' का अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'तृप्ति-कामः पचेत' (भोजन-तृप्ति का अभिलाषी खाना पकावे) जैसे लौकिक प्रयोगों में पाक आदि तृप्ति-रूप फल के साधन हैं,—अर्थात् तृप्ति-रूप फल के उत्पादन की योग्यता पाक में है— इस बात का ज्ञान लौकिक-प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा ही हो जाता है। इसलिये यहां तो कार्यता-ज्ञान से ही काम चल जाता है, 'कार्य' (अपूर्व) की कल्पना नहीं करनी पड़ती।

परन्तु वैदिक प्रयोगों ('स्वर्गकामः यजेत' इत्यादि) में याग स्वर्ग का साधन है, याग में स्वर्गोत्पादन की योग्यता है,—इस बात का ज्ञान किसी तरह भी व्यक्ति को नहीं हो पाता। इसके विपरीत यह आशंका भले ही होती है कि क्षणिक याग दीर्घकाल-स्थायी स्वर्ग का साधन कैसे हो सकता है। इसलिये यहां 'कार्य' का अर्थ 'अपूर्व' या 'अदृष्ट' करने की आवश्यकता है।

इस तरह वैदिक वाक्यों की दृष्टि से इन्द्रियातीत 'अपूर्व' अथवा 'कार्य' को 'विधि' का अर्थ मानते हुए उसकी उपपत्ति के लिये इन मीमांसकों ने 'स्वर्गकामो यजेत' जैसे वैदिक वाक्यों में क्रमशः उपस्थित होने वाले पांच अर्थों की कल्पना की।

**स्वर्ग-कामो'''प्राथमिको बोधः**—प्रथम अर्थ में यह ज्ञान होता है कि 'यजेत' पद में जो 'लिङ्' लकार का प्रयोग किया गया उसका अर्थ है एक ऐसे 'अपूर्व' को अपनी 'कृति' द्वारा प्राप्त करना जिसमें स्वर्गाभिलाषी व्यक्ति 'नियोज्य' है तथा याग 'विषय' अर्थात्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'कारण' है। इस प्रथम बोध में इतना स्पष्ट होता है कि स्वर्गाभिलाषी व्यक्ति याग के द्वारा 'अपूर्व' (कार्य) को प्राप्त करे। इस तरह इस प्रथम बोध में 'अपूर्व' की उपस्थिति करायी गयी क्योंकि इस अतीन्द्रिय 'अपूर्व' का ज्ञान किसी और तरह तो हो ही नहीं सकता।

**सनियोज्यकं''' ''द्वितीय:**—द्वितीय बोध में इतना और पता लगा कि वह 'अपूर्व' ('कार्य') नियोज्य', (स्वर्गेच्छुक व्यक्ति) के साथ सदा रहने वाला है, याग के समान क्षणिक नहीं है, अपितु स्थायी है। इसलिये वह 'अपूर्व' स्वर्ग का साधन है। इस प्रकार 'अपूर्व' में दीर्घ-काल-स्थायिता तथा इस कारण स्वर्गसाधनता का प्रतिपादन इस द्वितीय-बोध में कराया गया। और इस स्थायी एवं स्वर्ग के साधनभूत 'अपूर्व' का कारण या साधन याग है, इसलिये परम्परया याग स्वर्ग का साधन है—इस बात का भी प्रतिपादन इसी द्वितीय अर्थ में हो जाता है।

**स्वर्ग-काम'''तृतीय:**— इस रूप में परम्परया याग की स्वर्ग-साधनता के सिद्ध हो जाने पर 'यजन करना स्वर्गाभिलाषी का कर्तव्य है' इस बात का भी बोध इसी वाक्य से होता है। इसी को यहां तृतीय अर्थ माना गया। यहाँ आकर याग में 'कार्यता' की उपपत्ति होती है, अर्थात् स्वर्गाभिलाषी व्यक्ति को याग क्यों करना चाहिये इसका उत्तर यहाँ मिलता है, और वह यह है कि याग से एक 'अपूर्व' की उत्पत्ति होती है जो स्वर्ग का साक्षात् साधन है, अतः परम्परया याग भी स्वर्ग का साधन है। इस प्रकार-'याग स्वर्ग का साधन है' इस इष्ट-साधनता-ज्ञान से स्वर्गेच्छुक व्यक्तिमें याग करने की भावना उत्पन्न होती है। इसलिए प्रवृत्ति में हेतु होने के कारण इस तृतीय अर्थ को ही मुख्य शाब्दबोध माना गया।

**स्वर्ग-कामो यागकर्ता इति चतुर्थ :**—'स्वर्गाभिलाषी व्यक्ति याग का 'कर्ता' है' इस चतुर्थ अर्थ की कल्पना तो इसलिये की गयी कि उसके द्वारा 'कार्य' ('अपूर्व') के लिये जो याग आदि प्रयत्न किये जाने हैं उनके आश्रय का बोध कराया जा सके। 'कार्य' 'कृति'-साध्य है इसलिये 'कार्य' के साथ ही 'कृति' भी उपस्थित होगी। उस 'कृति' का आश्रय स्वर्गाभिलाषी व्यक्ति है— केवल इतना बताना ही इस चतुर्थ बोध में अभिप्रेत है।

अहं''' '''**पंचम:**— इन चारों बोधों का उपसंहार अथवा निष्कर्ष पाँचवें बोध में प्रस्तुत किया गया—"मैं स्वर्गाभिलाषी हूँ अतः याग मेरी कृति से साध्य है"।

**[केवल एक प्रकार के अर्थ की कल्पना से काम नहीं चल सकता]**

न च प्रथम एव स्वर्ग-काम-कार्यो याग इति बोधोऽस्तु। तथा च 'कार्यत्वे' एव शक्तिर्न 'कार्ये' इति वाच्यम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यागादि-क्रियायां नियोज्यान्वयं विना कार्यत्वान्वयानुपपत्तेः[1]। नियोज्यत्वं हि क्रिया-निष्ठ-काम्य-साधनता-ज्ञानाधीनं[2] मत्कार्यम् इति बोधवत्त्वम्[3]। तच्च[4] स्वर्ग-कामना-विशिष्टे योग्यतावच्छेदकतया भासते। 'घटेन जलम् आहर' इत्यत्र घटे छिद्रेतरत्ववत्।

प्रथम (बोध) में हो—'स्वर्गाभिलाषी (व्यक्ति) के द्वारा याग किया जाना चाहिये' यह ज्ञान होता है और इस प्रकार ('लिङ्' की) शक्ति 'कार्यता' ('कर्तव्यता' अर्थात् 'किया जाना चाहिये' इस अर्थ) में है 'कार्य' ('अपूर्व') में नहीं—यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि याग आदि क्रिया में 'नियोज्य' ('यह कार्य मेरे इष्ट का साधन है' इस ज्ञान से उत्पन्न कर्तव्यताबुद्धि-वाले व्यक्ति) का सम्बन्ध हुए बिना कर्तव्यता का सम्बन्ध उसमें सुसङ्गत नहीं होता। 'नियोज्यता (का अभिप्राय) है क्रिया में स्थित जो अभीष्ट का साधन बनना रूप धर्म उसके ज्ञान से उत्पन्न 'यह मेरा कर्तव्य है' इस प्रकार की भावना से युक्त होना। और वह (नियोज्यता') स्वर्ग की कामना से युक्त (व्यक्ति) में योग्यता के बोधक रूप में भासित होती है। जिस प्रकार 'घड़े से जल लाओ' यहां घड़े में छिद्र-रहितता (जल लाने की योग्यता का बोधक है उसी प्रकार स्वर्गाभिलाषी व्यक्ति में यजन की योग्यता का सूचक नियोज्यता है)।

आचार्य प्रभाकर के मत के अनुयायी विद्वानों की इस प्रक्रिया के विषय में यह पूछा जा सकता है कि ऐसा क्यों न माना जाय कि प्रथम बोध में ही – 'स्वर्गाभिलाषी व्यक्ति को याग करना चाहिये' यह ज्ञान उत्पन्न होता है तथा इस रूप में 'लिङ्' का वाच्यार्थ 'कार्य' अर्थात् 'अपूर्व'-विशेष न मान कर 'कार्यता' अर्थात् 'कर्तव्य-भावना' को माना जाय, इतनी लम्बी प्रक्रिया मानने तथा उसके उपपादन के लिये पांच प्रकार के अर्थों की कल्पना करने की क्या आवश्यकता ?

इस का उत्तर ये मीमांसक यह देते हैं कि याग आदि किसी भी क्रिया में 'यह कार्य मुझे करना चाहिये—यह मेरा कर्तव्य है' इस प्रकार की भावना तब तक नहीं उत्पन्न हो सकती जब तक यह ज्ञान नहीं हो जाता कि यह क्रिया मेरे अभीष्ट को सिद्ध करने वाली है, अर्थात् 'इष्ट-साधनता' से कर्तव्य-ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर ही कर्तव्य-भावना उत्पन्न होती है। इसी बात को परिभाषिक शब्दों में यहाँ यों कहा गया कि 'नियोज्य' का सम्बन्ध हुए बिना याग आदि क्रियाओं में 'कार्यता' का सम्बन्ध नहीं बन सकता। याग मेरे अभीष्ट स्वर्ग का साधक है इसलिये याग मुझे करना चाहिये इस

१. ह० में यह पूरा वाक्य छूटा हुआ है।
२. निस०, काप्रशु०—ज्ञानाधीन। ह०—ज्ञानकालीनं।
३. ह०, बंमि०—बोधजनकत्वम्।
४. निस०, काप्रशु०—तत्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्रकार के ज्ञान से युक्त व्यक्ति ही 'नियोज्य' शब्द का अभिप्राय है। यह 'नियोज्यता' धर्म उस कार्य के करने वाले व्यक्ति में रहता है, जब तक यह 'नियोज्यता' अथवा कर्तव्यभावना नहीं उत्पन्न होती तब तक उस व्यक्ति में उस कार्य को करने की योग्यता नहीं आ सकती। इस लिये यह 'नियोज्यता' उस व्यक्ति की कार्य कर सकने की योग्यता का बोध उसी प्रकार कराती है जिस प्रकार 'घड़े से जल लाओ' इस वाक्य में 'छिद्र-रहितता' जल ला पाने की घट सम्बन्धी योग्यता का बोध कराती है। जब तक घड़ा छिद्र-रहित नहीं होगा तब तक उससे जल नहीं लाया जा सकता। जल लाने की योग्यता घड़े में नहीं होगी। इसी प्रकार जब तक व्यक्ति में 'नियोज्यता' नहीं आती तब वह व्यक्ति उस क्रिया को करने की योग्यता से युक्त नहीं माना जा सकता। इस प्रकार 'इष्ट-साधनताज्ञान' से उत्पन्न होने वाली कर्तव्य-बुद्धि ही सभी कार्यों में प्रवृत्ति का हेतु है।

[पाँचों प्रकार के अर्थों का उपपादन]

न च याग[1] स्वर्ग-साधनत्व-ज्ञानं विनेदृशं नियोज्यत्वं भातुम्[2] अर्हति। न वा यागे स्वर्गसाधनत्वं प्रथममेव शक्यं ज्ञातुम्। तद्धि साक्षात् परम्परया वा। नाद्यः। आशुविनाशिनो यागस्य कालान्तर-[3]भावि-स्वर्गरूप-फले साक्षाद् अहेतुत्वात्। नान्त्यः। परम्पराघटकाऽपूर्वानुपस्थितेः। अतः 'याग-विषयकं कार्यम्' इति प्रथमबोधाद् अपूर्वोपस्थितौ तद्द्वारा यागे स्वर्गसाधनत्वग्रहात् तत्र कार्यत्वबोध इत्युक्तम्। नियोज्यत्वं च पदानुपस्थितम् अपि योग्यतया शाब्दबोधे भासते, 'द्वारम्' इत्यस्य 'पिधेहि' इतिवत्।

याग में स्वर्गसाधनता-ज्ञान के बिना इस प्रकार की (उपर्युक्त) 'नियोज्यता' प्रकट नहीं हो सकती और न ही (प्रथम बोध में) याग में स्वर्ग की साधनता जानी जा सकती है। क्योंकि (याग में) स्वर्ग-साधनता साक्षात् मानी जाय या परम्परया? प्रथम विकल्प इस लिये ठीक नहीं है कि शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला याग (बहुत) समय के बाद होने वाले स्वर्ग-रूप 'फल' में साक्षात् हेतु नहीं है। अन्तिम विकल्प इसलिये ठीक नहीं है कि परम्परा (याग तथा स्वर्ग के मध्य) में रहने वाले 'अपूर्व' का ज्ञान (उपर्युक्त वाक्य का एक अर्थ करने में) नहीं हो पाता। इसलिये "यागविषयक 'कार्य' (अपूर्व)" इस प्रथम बोध के द्वारा 'अपूर्व' का ज्ञान करा देने के बाद उस 'अपूर्व' के द्वारा याग में स्वर्ग-साधनता का निश्चय हो जाने से वहां (याग में) 'कार्यता' ('यह कार्य करना

१. ह०—यज्ञे।
२. ह०—ज्ञातुम्।
३. निस०, काप्रशु०—कालान्तरभाविनि।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



चाहिये' इस ज्ञान) का बोध होता है, यह कहा गया है। 'नियोज्यता' यद्यपि शब्द द्वारा नहीं कही गयी फिर भी 'योग्यता' (आकांक्षा) के कारण, जिस प्रकार 'द्वारम्' (दरवाजा) कहने पर, 'पिधेहि' (बन्द करो) का ज्ञान होता है उसी प्रकार, शाब्दबोध में उसका ज्ञान होता है।

याग से 'अपूर्व' की उत्पत्ति होती है और वह 'अपूर्व' स्वर्ग का साधन है। अतः 'अपूर्व' का साधन याग भी परम्परया स्वर्ग का साधन है। यह सब जो कुछ ऊपर कहा गया उसी की पुष्टि यहां की जा रही है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, किसी भी कार्य में प्रवृत्ति होने के लिये 'नियोज्यता'—अर्थात् यह कार्य मेरे इष्ट का साधक है अतः मुझे यह कार्य करना चाहिये इस प्रकार की कर्तव्य-बुद्धि—का होना आवश्यक है। स्पष्ट है कि याग में यह 'नियोज्यता' तब तक नहीं उत्पन्न हो सकती जब तक यह न पता लगा जाय कि याग स्वर्ग का साधन है। और सीधे सीधे याग को स्वर्ग का साधन बताया नहीं जा सकता क्योंकि याग क्षणिक है, शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है, जबकि स्वर्गरूप 'फल' कहीं मृत्यु के उपरान्त मिलने वाला है। इसलिये याग को साक्षात् स्वर्ग का साधन नहीं माना जा सकता। परम्परा से भी याग तब तक स्वर्ग का साधन नहीं बन सकता जब तक याग से 'अपूर्व' या 'अदृष्ट पुण्य' की उत्पत्ति की कल्पना को न माना जाय।

इसलिये यह आवश्यक है कि 'स्वर्ग-कामो यजेत' इस वाक्य के प्रथम अर्थ में याग से उत्पन्न (याग है 'करण' या साधन जिसका ऐसे) 'अपूर्व' को जो स्वर्ग का साक्षात् साधन है, प्रस्तुत किया जाय। और उसके बाद द्वितीय अर्थ में, उस 'अपूर्व' की स्वर्ग-साधनता के द्वारा परम्परया, अर्थात् 'अपूर्व' स्वर्ग का साधन है और याग 'अपूर्व' का साधन है इसलिए, याग भी स्वर्ग का साधन है इस बात का निश्चय कराया जाय। इस प्रकार याग में स्वर्ग-साधनता-ज्ञान के निश्चय हो जाने के उपरान्त तृतीय अर्थ में यह ज्ञान कराया जाय कि, याग स्वर्ग का साधन है इसलिये, स्वर्गाभिलाषी को याग करना चाहिये। इस रूप में याग-विषयक प्रवृत्ति में हेतु होने के कारण यह तृतीय बोध ही प्रमुख है। चतुर्थ तथा पंचम बोध तो क्रमशः 'कृति' की आश्रयता तथा याग-विषयक प्रवृत्ति के उत्पादन के लिये कल्पित किये गये हैं।

वस्तुतः इन पाँच प्रकार के बोधों में वैदिक-वाक्यों की दृष्टि से भी प्रथम तथा तृतीय ही आवश्यक हैं। द्वितीय, चतुर्थ तथा पंचम अर्थ तो एक तरह से मानसिक अर्थ ही हैं। यद्यपि स्पष्टीकरण के लिये वे भी आवश्यक हैं, परन्तु लौकिक प्रयोगों में प्रथम तथा द्वितीय बोध भी आवश्यक नहीं है क्योंकि वहां लौकिक, प्रत्यक्ष आदि, प्रमाणों के द्वारा ही उन-उन क्रियाओं की 'फल'-साधनता ज्ञात है। अपनी शब्दशक्तिप्रकाशिका में जगदीश भट्टाचार्य ने—वैदिक वाक्यों में – केवल प्रथम तथा तृतीय ये दो ही बोध प्रभाकर मतानुयायी मीमांसकों को अभिमत हैं—यह प्रतिपादित किया है। (द्र०—पृ० ४२३)

**नियोज्यत्वं च**.....इतिवत्—'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य के अर्थ में 'नियोज्यता' की बात कहीं शब्द द्वारा नहीं कही गयी है। फिर भी इस वाक्य से होने वाले 'शाब्दबोध' में 'आकांक्षा' के द्वारा उसकी प्रतीति हो जायगी। क्योंकि स्वर्गप्राप्ति का अभिलाषी होने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



पर भी प्रत्येक व्यक्ति याग में प्रवृत्त नहीं होगा अपितु वही याग करेगा जिसमें 'विषयोज्यता' होगी, जो इस प्रकार के विश्वास से युक्त है कि याग, 'अपूर्व' की उत्पत्ति के द्वारा, स्वर्ग का साधन है। यहां नागेश ने 'योग्यता' शब्द का जो प्रयोग किया है वह, पारिभाषिक न होकर 'आकांक्षा' के लिये हुआ है।

**['विधि' शब्द के अर्थ के विषय में नैयायिकों का मत]**

'प्रवर्तक-ज्ञान-विषयो विधिर् इति नैयायिकाः'। प्रवर्तकत्वं च कृतिसाध्यत्व-इष्टसाधनत्व-बलवद्-अनिष्टाननुबन्धित्वानां ज्ञानम्। अतस् तेषु लिङ्-शक्तित्रयम्। सुमेरुशृङ्गाहरण-निष्फलाचरण-मधु-विष-सम्पृक्तान्न-भोजनेषु प्रवृत्ति वारणाय यथासङ्ख्यं त्रयाणाम् एव ज्ञानं प्रवर्तकम्।

यत्तु समुदिते शक्तिर् एकैवेति तन्न। विशेष्य-विशेषण-विनिगमकाभावेन त्रिष्वेव पृथक् शक्तेः। एवं च 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादौ "स्वर्गकामीयो यागः कृतिसाध्यः, इष्ट-साधनं, बलवद्-अनिष्टाननुबन्धी च" इति बोध —इत्येके।

प्रवर्तक (प्रेरक) ज्ञान है विषय (जन्य अथवा उत्पाद्य) जिसका ऐसी 'विधि' ('विधि' शब्द का अर्थ) है—यह नैयायिक मानते हैं। और यत्न से साध्य होना, अभीष्ट का साधन होना तथा प्रबल अनिष्ट का उत्पादक न होना—इन (तीनों) का ज्ञान (ही) प्रवर्तकता है। इसलिये इन (तीनों अर्थों) में 'लिङ्' (लकार) की तीन प्रकार की शक्तियां हैं। सुमेरु (पर्वत) की चोटी को लाने, निष्प्रयोजन कार्य करने तथा शहद और विष से मिश्रित अन्न को खाने (जैसे कार्यों) में प्रवृत्ति के निवारण के लिये क्रमशः (उपरिनिर्दिष्ट) तीनों प्रकार के ज्ञानों को प्रवर्तक मानना चाहिये।

जो (यह कहा जाता है कि) तीनों ज्ञानों के समुदाय में एक ही शक्ति है वह ठीक नहीं है। क्योंकि (इन तीनों ज्ञानों में) विशेष्य-विशेषण (प्रधान-अप्रधान भाव) के निश्चायक प्रमाण के न होने के कारण अलग अलग तीनों में शक्ति है। इस प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि में याग स्वर्गाभिलाषी (व्यक्ति) के प्रयत्न सेसाध्य है, उस के अभीष्ट स्वर्ग का साधन है तथा किसी प्रबल अनिष्ट का उत्पादक नहीं है, यह ज्ञान होता है—ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।

नैयायिक विद्वान 'विधि' को, कार्य में व्यक्ति की प्रवृत्ति का जनक मानते हैं। अभिप्राय यह है कि 'विधि' का विषय, अर्थात् जन्य, है प्रवर्तक ज्ञान। इस प्रवर्तक अथवा

१. निस०, काप्रशु०—प्रवर्तकं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्रेरक ज्ञान से ही कोई भी व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। दूसरे शब्दों में प्रवृत्ति-जनक ज्ञान ही प्रवर्तक ज्ञान है। नैयायिकों के इस प्रवर्तक ज्ञान में तीन तरह के अवान्तर ज्ञान समाविष्ट हैं। पहला यह ज्ञान कि जो कार्य करना है वह 'कर्ता' के प्रयत्नों से साध्य है—असाध्य नहीं है। दूसरा यह ज्ञान कि उस कार्य को करने से कर्ता के अभीष्ट की सिद्धि होगी—वह कार्य किसी अभीष्ट प्रयोजन का साधन है। तीसरा यह ज्ञान कि उस कार्य के करने से जिस इष्ट की प्राप्ति होनी है उससे बड़ा कोई अनिष्ट उस कार्य से उत्पन्न नहीं होगा। इन तीनों के ज्ञान से ही व्यक्ति कार्य में, प्रवृत्त होता है। कार्य के साध्य न होने के कारण कोई व्यक्ति सुमेरुपर्वत की चोटी को लाने में प्रवृत्त नहीं होता, भले ही उससे स्वर्ण आदि की प्राप्ति हो। किसी अभीष्ट का साधन न होने के कारण कोई व्यक्ति, नदी की लहरें गिनना जैसे, किसी निष्प्रयोजन कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार विषमिश्रित भोजन, जिस तृप्ति रूप अभीष्ट का साधन है उससे अधिक, प्रबल अनिष्ट (मृत्यु) का उत्पादक होगा इसलिये ऐसे भोजन में कोई प्रवृत्त नहीं होता।

अतः प्रवृत्ति के इन तीनों हेतुओं की दृष्टि से 'लिङ्' में तीन प्रकार की वाचकता-शक्ति की कल्पना नैयायिक करते हैं। कृतिसाध्यता की दृष्टि से प्रथम शक्ति, इष्ट साधनता की दृष्टि से दूसरी शक्ति तथा प्रबल अनिष्ट का निमित्त न बनने की दृष्टि से तीसरी शक्ति की कल्पना की जाती है।

**यस्तु समुदिते शक्तिः ... इत्येके**—कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि 'कृति-साध्यता' तथा 'बलवद्-अनिष्ट-अननुबन्धिता' इन दोनों से विशिष्ट जो 'इष्टसाधनता' है वही 'विधि' का अर्थ है। इन विद्वानों का यह कहना है कि जिस प्रकार 'फल' तथा 'व्यापार' में धातु की एक 'शक्ति' मानी जाती है उसी प्रकार 'लिङ्' की भी तीनों अर्थों में एक ही 'शक्ति' माननी चाहिये। तीनों ज्ञानों की दृष्टि से तीन शक्तियां मानने पर तीन ही 'शक्यतावच्छेदक' या शक्यार्थ मानने होंगे जिसमें अनावश्यक गौरव होगा।

'कृति-साध्यता' तथा 'बलवद्-अनिष्ट-अननुबन्धिता' से विशिष्ट इष्ट-साधन को 'विधि' अर्थ मानने वाले विद्वानों का खण्डन करते हुए यहाँ यह कहा गया कि यदि तीनों ज्ञानों की दृष्टि से 'लिङ्' की पृथक् पृथक् तीनों शक्तियाँ न मानी गयीं तो इस बात का निश्चय नहीं हो सकेगा कि कौन सा अर्थ प्रधान है तथा कौन सा अर्थ गौण। क्योंकि 'शक्ति' से अतिरिक्त और प्रमाण ही क्या हो सकता है। जगदीश भट्टाचार्य ने अपनी शब्दशक्तिप्रकाशिका ग्रन्थ में इस मत का विस्तार से खण्डन किया है। (द्र०—पृ० ४१२–४१३)। यहां उन्होंने यह भी कहा है कि विशेष्य-विशेषण-भाव के व्यत्यास, अर्थात् क्रमविपर्यय, से इन विशिष्ट शक्तिवादियों को तीन के बदले छः प्रकार की शक्ति माननी होगी जिसमें और भी गौरव होगा। तथा 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' इत्यादि वैदिक वाक्यों को अप्रामाणिक मानना होगा क्योंकि वे अनिष्ट हिंसा या पाप के उत्पादक हैं। इसलिये, विशिष्ट 'इष्ट-साधनता' के आधार पर लिङ्' की एक 'शक्ति' न मानकर, उपरिनिर्दिष्ट पद्धति से तीनों ज्ञानों की दृष्टि से तीन भिन्न भिन्न शक्तियाँ माननी चाहियें।

इस प्रकार भिन्न भिन्न तीन शक्तियां मानने पर 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों में—स्वर्गाभिलाषी द्वारा किया जाने वाला याग उसके प्रयत्नों से साध्य है, याग इष्ट-रूप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



स्वर्ग का साधन है तथा उससे किसी प्रबल अनिष्ट की उत्पत्ति नहीं होती—इस प्रकार का बोध होता है—ऐसा नैयायिकों का एक वर्ग मानता है।

**['स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि प्रयोगों में नैयायिकों के सिद्धान्त-मत के अनुसार 'अभेद'-सम्बन्ध से ही अन्वय सम्भव]**

वस्तुतो नामार्थधात्वर्थयोर् भेदेन साक्षाद् अन्वयस्य अव्युत्पन्नतया, 'तादृश-यागानुकूल-कृतिमान् स्वर्गकामः' इत्येव बोधः। कृतिसाध्यत्वं च प्रवृत्तिसाध्यत्वम्। अतो न समुद्रतरणादौ प्रवृत्तिः। इष्ट-साधनत्वं च इष्ट-निष्ठ[1]-साध्यता-निरूपकत्वम्। अतो न तृप्तस्य भोजने प्रवृत्तिः। बलवद्-अनिष्टाननुबन्धित्वं तु स्वजन्य-इष्टोत्पत्तिनान्तरीयक-दुःखाधिक[2]-दुःखाजनकत्वम्। 'नहि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते' इति **न्यायेन** नान्तरीयकं किंचिद् दुःखम् इष्टोत्पत्तौ अवश्यम्भावि। तदतिरिक्त-दुःख-राहित्यमेव तत्त्वम्।

वस्तुतः, नामार्थ तथा धात्वर्थ का भेद-सम्बन्ध से साक्षाद् अन्वय माना नहीं जाता इसलिये, "वैसे ('प्रयत्न साध्य', 'इष्ट के साधन' तथा 'प्रबल अनिष्ट के अनुत्पादक') याग के अनुकूल प्रयत्न वाला स्वर्गाभिलाषी" यही बोध (स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य का) मानना चाहिये। 'कृति-साध्यता' (का अभिप्राय) है प्रवृत्ति (प्रयत्न) से साध्य होना। इसीलिये (प्रयत्न-साध्य न होने के कारण) समुद्र-तरण आदि (असम्भव कार्यों) में प्रवृत्ति नहीं होती। 'इष्टसाधनता' (का अभिप्राय) है इष्ट में विद्यमान जो साध्यता उसका साधन बनना। इसीलिये (इष्ट का साधन न होने के कारण) भोजन किये हुए व्यक्ति की (पुनः) भोजन में प्रवृत्ति नहीं होती। 'प्रबल अनिष्ट की अनुत्पादकता' (का अभिप्राय) है अपने (याग आदि कार्यों) से उत्पन्न होने वाले इष्ट की उत्पत्ति में जो अनिवार्य दुःख उससे अधिक दुःख का उत्पादक न बनना। 'सुख बिना दुःख के प्राप्त नहीं होता' इस न्याय के अनुसार इष्ट की उत्पत्ति में कुछ अनिवार्य दुःख तो अवश्य ही होगा। (इसलिये) उस (अनिवार्य दुःख) से अतिरिक्त दुःख की रहितता ही 'बलवद्-अनिष्ट-अननुबन्धिता' है।

'लिङ्' के अर्थ के विषय में नैयायिकों का सिद्धान्त यह है कि 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में 'स्वर्गकामः' इस 'नाम' (प्रातिपदिक) शब्द के अर्थ तथा 'यजेत' इस 'तिङन्त' पद के अर्थ का भेद-सम्बन्ध से अन्वय करने के लिये यह आवश्यक है कि 'षष्ठी' आदि

१. ह० में 'निष्ठ' पद नहीं है।

२. ह०—दुःखाधिकः वंमि०—दुःखेतर।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'नाम्'-विभक्तियों का अन्वय में प्रयोग किया जाय। क्योंकि एक परिभाषा है कि "नामार्थ-धात्वर्थयोर् भेद-सम्बन्धेन न साक्षाद् अन्वयः"। इस प्रकार की एक अन्य परिभाषा की चर्चा ऊपर की जा चुकी है (द्र०—पृ० १६६, १८७-९८)। यदि 'षष्ठी' आदि विभक्तियों का प्रयोग नहीं किया गया तो भेद-सम्बन्ध से अन्वय न होकर अभेद-सम्बन्ध से ही अन्वय होगा। यहां षष्ठी जैसी कोई विभक्ति प्रयुक्त नहीं है, इसलिये 'स्वर्गाभिलाषी का याग' इस रूप में अन्वय नहीं किया जा सकता। अपितु अभेद सम्बन्ध से 'यागानुकूल प्रयत्न वाला स्वर्गाभिलाषी' इसी रूप में अन्वय किया जायगा।

**['ब्राह्मणो न हन्तव्यः,' इस प्रयोग के अर्थ के विषय में, 'लिङ्' के अर्थ की दृष्टि से, विचार]**

'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादौ नञः कृतिसाध्यत्व-इष्टसाधनत्व-निषेधे स्वारस्याभावात् तेन बलवद् अनिष्टाननुबन्धित्व-निषेधाद् 'ब्राह्मणवधो बलवद्-अनिष्ट-जनकः' इत्यर्थः पर्यवस्यति। एतेन समुदिते लिङः-शक्तिकल्पनम् अपास्तम्।

'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' (ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये) इत्यादि (प्रयोगों) में कृतिसाध्यता तथा इष्टसाधनता के निषेध में 'नञ्' की सङ्गति न लगने के कारण उस ('नञ्') के द्वारा प्रबल दुःख की अनुत्पादकता का (ही) निषेध किये जाने से 'ब्राह्मण का वध प्रबल अनिष्ट का जनक है' यह अर्थ अन्ततः ज्ञात होता है। इस (केवल 'बलवद्-अनिष्ट-अननुबन्धिता' के निषेध में ही स्वारस्य होने के) कारण '(कृतिसाध्य', 'इष्टसाधन' तथा 'बलवद्-अनिष्ट-अननुबन्धी' इन तीनों अर्थों के) समुदाय में 'लिङ् की (एक) 'शक्ति' की कल्पना खण्डित हो गयी।

'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' जैसे प्रयोगों में 'नञ्' के अर्थ 'अभाव' में 'लिङ्' के अर्थों में से केवल 'बलवद्-अनिष्ट-अननुबन्धिता' का ही अन्वय होता है। क्योंकि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इस वाक्य का यही अभिप्राय है कि ब्राह्मण को मारने से महान् पाप उत्पन्न होता है, अर्थात ब्राह्मण-वध प्रबल अनिष्ट का अनुत्पादक नहीं है अपितु उत्पादक है। 'लिङ्' के अन्य दो अर्थों—'कृति-साध्यता' तथा 'इष्ट-साधनता' में 'अभाव' का अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि ब्राह्मण-वध 'कृति-साध्य' भी है तथा कभी 'इष्ट-साधन' भी हो सकता है। इस तरह यहाँ 'लिङ्' के केवल एक अर्थ के ही निषेध होने के कारण यह स्पष्ट हो गया कि 'लिङ्' के तीनों अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। अतः यह कहना कि 'लिङ्' के उपर्युक्त तीनों अर्थों के समुदाय या समन्वय की दृष्टि से 'लिङ्' में एक ही वाचकता 'शक्ति' है, खण्डित हो जाता है। तीनों अर्थों की दृष्टि से 'लिङ्' लकार की तीन वाचकता 'शक्ति' की कल्पना ही उचित है।

यहाँ 'लिङ्' लकार के अर्थ-विचार के प्रसंग में 'तव्यत्' प्रत्ययान्त 'हन्तव्यः' शब्द वाले वाक्य को, सम्भवतः 'लिङ्' लकार के प्रयोग 'ब्राह्मणं न हन्यात्' के अर्थ से अभिन्न

१. निस०, काप्रशु०—लिङः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अर्थ वाला होने के कारण, प्रस्तुत किया गया है तथा उसके आधार पर समुदाय में 'शक्ति' मानने के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है।

**["प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वित-स्वार्थ-बोधकत्वम्" इस परिभाषा के प्रकाश में 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इस वाक्य के अर्थ के विषय में पुनः विचार]**

यद्यपि 'प्रकृत्यर्थान्वित-स्वार्थ-बोधकत्वं प्रत्ययस्य' इति व्युत्पत्त्या नञर्थे बलवद्-अनिष्टाननुबन्धित्वान्वयोऽ असम्भवी। तथाप्यन्यथानुपपत्त्या एतदतिरिक्तस्थले एव सा व्युत्पत्तिः। अतएव "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इत्यादौ 'षोडशि-ग्रहणाभाव इष्ट-साधनम्' इति बोध इति **दीधितिकृतः**[1]। 'न हन्तव्यः' इत्यादौ 'हननाभाव-विषयकं कार्यम्' इति बोध इति **गुरवः**।

ननु 'पचति' इत्यादौ लडाद्यर्थ-वर्तमानत्वादेर् यत्ने एव अन्वयान् न सा व्युत्पत्तिः। मैवम्। 'यत्र प्रत्ययत्वं तत्र प्रकृत्यर्थान्वित-स्वार्थबोधकत्वम्' इति व्याप्तेः। 'यः प्रत्ययार्थः स प्रकृत्यर्थस्य **विशेष्यतया** भासते' इति व्याप्तेश्च।

यद्यपि 'प्रत्यय प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थ का बोधक होता है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'नञ्' के अर्थ ('अभाव') में 'प्रबल दुख की अनुत्पादकता' (रूप 'लिङ्' प्रत्यय के अर्थ) का अन्वय असम्भव है फिर भी किसी और तरह से अर्थ की सङ्गति न लगने के कारण इस ('नञ्' से युक्त 'लिङ्' आदि के प्रयोगों) से अतिरिक्त स्थल के लिये ही वह (व्युत्पत्ति) है। इसीलिये 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' ('अतिरात्र' में 'षोडशी' पात्र का ग्रहण न करे) इत्यादि (प्रयोगों) में 'षोडशी (पात्र) के ग्रहण का अभाव ही इष्ट का साधन है' यह बोध होता है—यह दीधितिकार (तार्किकशिरोमणि श्री रघुनाथ भट्टाचार्य) का कहना है। 'न हन्तव्यः' इत्यादि में हननाभाव विषयक 'कार्य' ('अपूर्व' या पुण्य) यह ज्ञान होता है—ऐसा प्रभाकर के अनुयायी (मीमांसक) मानते हैं।

'पचति' (पकाता है) इत्यादि (प्रयोगों) में 'लट्' आदि (प्रत्ययों) के अर्थ 'वर्तमान काल' आदि का (जो प्रकृत्यर्थ नहीं है उस) 'यत्न' में ही अन्वय

---

१. तुलना करो—श्री रघुनाथ शिरोमणिकृत-शब्दखण्डे तत्त्वादः—बी० के० मलिलाल सम्पादित, हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १८६८, पृ० १८२;
अत्र षोडशिग्रहणं नेष्टसाधनम् इत्यादिकम् अर्थो ग्रहणविधिविरोधात्। अपितु षोडशिग्रहणाभाव इष्टसाधनम् इत्यादिकम्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



होने के कारण वह (उपर्युक्त व्युत्पत्ति) मानने योग्य नहीं है—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि 'जहाँ जहाँ (जिस शब्द में) प्रत्ययता है वहां वहां (उस उस शब्द में) प्रकृति के अर्थ से अन्वित स्वार्थ की बोधकता रहती है' यह व्याप्ति है। तथा 'जो जो प्रत्यय का अर्थ है वह वह प्रकृति के अर्थ के प्रति विशेष्य बनकर प्रकट होता है'—यह भी व्याप्ति है।

एक परिभाषा यह मानी गयी है कि प्रत्यय अपने सम्बन्धी प्रकृति के अर्थ से अन्वित होकर ही अपने अपने अर्थ का बोध कराते हैं :—'प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वित-स्वार्थबोधकत्वम्'। यदि यह परिभाषा न मानी जाय तो 'दण्डिनम् आनय' इत्यादि प्रयोगों में 'द्वितीया' विभक्तिरूप प्रत्यय के अर्थ 'कर्मत्व' का अन्वय, सदा 'दण्डी में ही न होकर 'दण्ड' में भी हो सकेगा—यह एक अनिष्ट स्थिति होगी। अतः इस परिभाषा को मानना आवश्यक है।

इस व्युत्पत्ति या परिभाषा को मानते हुए यह प्रश्न किया गया कि 'न हन्तव्यः' जैसे प्रयोगों में 'प्रबल अनिष्ट का निमित्त न होना' रूप जो अर्थ हैं वह 'तव्यत्' प्रत्यय का है—इसलिए वह प्रत्ययार्थ है। इस प्रत्ययार्थ का अन्वय धातु ('हन्') के अर्थ में ही हो सकता है। 'नञ्' के अर्थ 'अभाव' या 'निषेध' में उसका अन्वय नहीं होना चाहिए। इस कारण 'नञ्' के द्वारा 'बलवद्-अनिष्ट-अननुबन्धित्व' के निषेध की बात जो ऊपर कही गई है वह उचित नहीं है।

इस कठिनाई का और कोई समाधान न मिलने के कारण इस प्रकार के निषेध-युक्त वाक्यों को उस परिभाषा या व्युत्पत्ति का अपवाद मान लिया गया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ऐसे स्थलों से अतिरिक्त प्रयोगों के लिए ही, जहां विध्यर्थक प्रत्ययों का प्रयोग न किया गया हो, उपर्युक्त व्युत्पत्ति प्रस्तुत होती है।

**अत एव नातिरात्रे·····दीधितिकृतः**—इस प्रकार का एक और प्रयोग है "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" (द्र०—जैमिनिन्यायमालाविस्तर १०.८.३.६) 'गवामयन' नामक सोमयाग की प्रथम 'संस्था' का नाम 'अतिरात्र' है। 'षोडशी' एक पात्र-विशेष का नाम है जिसमें सोमरस रखा जाता है। इस 'अतिरात्र' नामक सोमसंस्था में 'षोडशी' पात्र प्रयोग में लाया जाये अथवा न लाया जाय—ये दोनों प्रकार के मत ब्राह्मणों में मिलते हैं। यहां दूसरे मत के प्रतिपादक वाक्य को प्रस्तुत किया गया है। इस वाक्य का अर्थ करते हुए, तार्किक-शिरोमणि श्री रघुनाथ भट्टाचार्य ने, जिन्होंने गङ्गेश उपाध्याय के तत्त्वचिन्तामणि नामक प्रबन्ध की 'दीधिति, नामक टीका की रचना की, 'नञ्' के अर्थ 'अभाव' या 'निषेध' के साथ ही 'विधि' रूप प्रत्ययार्थ का अन्वय किया है। अतः इस प्रकार के निषेधार्थक स्थलों में उपर्युक्त नियम के अपवाद के रूप में 'नञ्' के अर्थ के साथ ही प्रत्ययार्थ का अन्वय मान लेना चाहिए—यह अभिप्राय यहां की पंक्तियों में प्रकट किया गया है।

**न हन्तव्य·····गुरवः**—प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक विद्वानों को यहां 'गुरवः' शब्द से उद्धृत किया गया है। वस्तुतः 'प्रभाकर' को 'गुरु' शब्द से अभिहित किया जाता है, अतः उनके अनुयायियों के लिये भी इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्रभाकर के अनुयायी ये विद्वान् 'न हन्तव्यः' का अर्थ करते हैं—'ब्राह्मण-हनन के अभाव से उत्पन्न होने वाला पुण्य'। वे हनन का 'नञ्' के अर्थ 'अभाव' में अन्वय करते हुए, 'अभाव' का 'लिङ्' लकार के अर्थ 'अपूर्व' में अन्वय करते हैं। उनका कहना है कि 'हनन' तथा 'अभाव' में 'स्वप्रतियोगिकता', अर्थात् 'स्वकीयाभाव' सम्बन्ध है तथा इसी प्रकार 'अभाव' तथा 'अपूर्व' में 'प्रयोज्यता' सम्बन्ध है, अर्थात् 'अभाव' का 'अपूर्व' प्रयोज्य है। हननाभाव से 'अपूर्व' की उत्पत्ति होती है। इस तरह उनकी दृष्टि में 'ब्राह्मण-हननाभाव से उत्पन्न होने वाला पुण्य' यह अर्थ उपपन्न होता है। इन विद्वानों के विपरीत, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, नैयायिकों की दृष्टि में 'ब्राह्मणों न हन्तव्यः' का अर्थ है—'ब्राह्मण का वध अनिष्ट का उत्पादक है', न कि 'ब्राह्मण के वध का अभाव पुण्यजक है'।

**ननु 'पचति' इत्यादौ·····व्याप्तेश्च**—उपर्युक्त 'प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वित-स्वार्थ-बोधकत्वम्', परिभाषा के विषय में यहां यह प्रश्न किया गया है कि 'पचति' जैसे प्रयोगों में 'लट्' आदि प्रत्ययों के अर्थ 'वर्तमानत्व' आदि का 'यत्न' रूप अर्थ में ही अन्वय होता है जो 'पच्' रूप 'प्रकृति' का अर्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में उस परिभाषा (व्युत्पत्ति) को कैसे माना जाय ?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया कि इन 'पचति' इत्यादि प्रयोगों में परिभाषा से कोई विरोध नहीं आता क्योंकि उसका आशय यह है कि जो जो प्रत्यय होगा—जिस जिस में प्रत्ययता होगी – उस उस में प्रकृत्यर्थ से अन्वित होकर स्वार्थ की बोधकता भी होगी। साथ ही यह भी कि जो जो प्रत्यय का अर्थ होगा वह वह प्रकृत्यर्थ के प्रति विशेष्य होकर प्रकट होगा। ये दोनों ही व्याप्तियां 'पचति' आदि में 'लट्' आदि प्रत्ययों तथा उनके अर्थों में विद्यमान हैं। वह इस प्रकार कि 'लट्' प्रत्यय अपनी प्रकृतिभूत धातु के अर्थ से अन्वित होने वाले अपने 'वर्तमानत्व' आदि अर्थ का बोध कराता है। यहां यह नियम या व्याप्ति नहीं मानी जाती कि 'केवल प्रकृत्यर्थ से ही प्रत्यय का अपना अर्थ अन्वित हो'। इसलिये 'लट्' आदि प्रत्यय के अर्थ 'वर्तमानत्व' आदि का 'यत्न' में, जो प्रकृत्यर्थ नहीं हैं, अन्वय होने पर भी नियम-भङ्ग नहीं होता क्योंकि 'यत्न' के साथ धात्वर्थ में भी प्रत्ययार्थ का अन्वय माना ही जाता है।

दूसरी व्याप्ति –'प्रत्ययार्थ का प्रकृत्यर्थ के प्रति विशेष्य होना'–भी 'पचति' आदि में है ही क्योंकि प्रत्यय का अर्थ 'वर्तमान-कालिक यत्न' प्रकृति के अर्थभूत 'पाक' का विशेष्य है। इस तरह 'पचति' आदि प्रयोगों में उस परिभाषा से कोई विरोध नहीं उपस्थित होता।

**['लिट्' लकार के अर्थ के विषय में विचार]**

लेटस्तु यच्छब्दासमभिव्याहृतस्य एव विधिर् अर्थः। "समिधो यजति" इत्यादौ 'विधि'-प्रत्ययात्। "देवांश्च याभिर्यजते ददाति च", "य[1] एवं विद्वान् अमावास्यायां यजते" इत्यादौ तदप्रत्ययाद् इति।

१. ह० में 'य' पद नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'लेट्' (लकार) का तो 'यद्' (सर्वनाम) शब्द का प्रयोग न होने पर ही 'विधि' अर्थ है। क्योंकि "समिधो यजति" (समिधाओं की पूजा करे) इत्यादि (प्रयोगों) में तो 'विधि' अर्थ का ज्ञान होता है परन्तु "देवांश्च याभिर्यजते ददाति च" (जिनसे देवताओं की पूजा करता है तथा दान देता है) तथा "य एवं विद्वान् अमावस्यायां यजते" (जो विद्वान् इस प्रकार अमावस्या में यजन करता है) इत्यादि में 'विधि' (अर्थ) का बोध नहीं होता।

'लेट्' लकार के जो 'विधि' आदि अर्थ हैं उनकी अभिव्यक्ति 'यद्' तथा 'एव' शब्दों के प्रयुक्त होने पर नहीं होती। इसी प्रकार 'अपि' का प्रयोग होने पर भी 'विधि' अर्थ की प्रतीति नहीं होती। मीमांसा दर्शन के "विधि-मंत्रयोर् ऐकार्थ्यम् ऐकशब्द्यात्" तथा "अपि वा प्रयोग-सामर्थ्यात् मंत्रोऽभिधानवाची स्यात्" (२.१.३०-३१) इन सूत्रों की व्याख्या में तंत्रवार्तिककार ने यह निर्णय दिया है कि 'यद्' से युक्त 'आख्यात' शब्द विधायक न होकर अनुवादकमात्र होते हैं। द्र०—

**येषाम् आख्यात-शब्दानां यच्छब्दाद्युपबन्धनात्।**
**विधि-शक्तिः प्रणश्येत्तु ते सर्वत्राभिधायकाः॥**

संभवतः मीमांसकों के इस निर्णय की ओर ही नागेश ने यहाँ संकेत किया है।

**['लृङ्' लकार के अर्थ के विषय में विचार]**

लृङस्तु भूतत्वं क्रियातिपत्तिश्चार्थः। अतिपत्तिर् अनिष्पत्तिर् आपादनरूपा। सा च शक्या। सा च आपादना तर्कः। तर्कत्वं मानसत्व[1]-व्याप्यो जाति-विशेषः।

'लृङ्' (लकार) के 'भूतत्व' तथा 'अतिपत्ति' ये दोनों (सम्मिलित) अर्थ हैं। 'अतिपत्ति' (का अर्थ) है (क्रिया की) आपादनारूप असिद्धि। और वह ('लृङ्') का वाच्य (अर्थ) है। वह आपादना तर्क है तथा तर्क (का स्वरूप) है मानसत्व (-रूप व्यापक जाति) में व्याप्य (एक अवान्तर) जाति-विशेष।

यहां यह कहा गया है कि 'लृङ्' लकार से दो सम्मिलित अर्थों का बोध होता है एक भूतत्व तथा दूसरा क्रिया की अतिपत्ति। इसका अभिप्राय यह है कि 'भूतकाल में क्रिया का सिद्ध या निष्पन्न न होना' यह अर्थ 'लृङ' लकार द्वारा प्रकट होता है। परन्तु क्रिया की इस असिद्धि को 'आपादना', अर्थात् तर्क, के रूप में 'लृङ्' लकार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। जैसे–'एधांश्चेद् अलप्स्यत् ओदनम् अपक्ष्यत्' (यदि ईंधन मिला होता तो चावल पकाया होता) यह कहने पर पाकरूप क्रिया की असिद्धि इस तर्क के रूप में होती है

१. द्र०–मानसव्याप्यो।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कि ईंधन नहीं मिले इसलिये चावल नहीं पका। इसी बात को 'सा च आपादना तर्कः' कह कर बताया गया है।

**तर्कत्वं मानसत्व-व्याप्यो जातिविशेषः**—तर्क की जो यहां परिभाषा दी गई है, उससे तर्क के स्वभाव को प्रकट किया गया है, अर्थात् तर्क मन में रहने वाला विचार-विशेष है। इस विचार-विशेष में रहने वाले धर्म को 'तर्कत्व' कहा जायगा। इसी प्रकार मानस में रहने वाले 'धर्म' या 'जाति' को 'मानसत्व' कहा जायगा। 'मानसत्व'-रूप जाति व्यापक है तथा उसकी अपेक्षा 'तर्कत्व' जाति व्याप्य है क्योंकि 'तर्कत्व' 'मानसत्व' में रहती है। इसलिये नैयायिकों ने अपनी पारिभाषिक शब्दावली में तर्क के स्वरूप को बताते हुए कहा—"तर्कत्वं मानसत्वव्याप्यो जातिविशेषः", अर्थात् यह तर्क एक मानसिक अथवा बौद्धिक व्यापार-विशेष है, जिसके द्वारा तार्किक मनुष्य किसी बात का विशेष ऊहापोह करके विचार करता है।

लक्षण बताने की दृष्टि से तर्क की परिभाषा की गई है—'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः'। इसका अभिप्राय यह है कि व्याप्य, अर्थात् अल्प देश, में रहने वाले का आरोप करके वहां व्यापक, अर्थात् अधिक देश, में रहने वाले का आरोप करना। जैसे—'यदि निर्वह्निः स्यात् निर्धूमः स्यात्' (यदि आग नहीं होगी तो धूँआ भी नहीं होगा)। यहां आग का अभाव व्याप्य है, तथा धूँए का अभाव व्यापक है। ऊपर के 'एधांश्चेद् अलप्स्यत् ओदनम् अपक्ष्यत्' उदाहरण में ईंधन का अभाव व्याप्य है तथा ओदन-पाक का अभाव व्यापक है। इस प्रकार 'व्याप्य'-ईंधन के अभाव-के कथन के द्वारा 'व्यापक'-ओदन-पाक-के अभाव—का कथन हुआ है। इसलिये यहां क्रिया की असिद्धि, आपादना या तर्क के रूप में प्रतीत होती है।

**['लृङ् लकार के दोनों अर्थों से सम्बद्ध उदाहरणों का प्रदर्शन एवं विवेचन]**

'एधांश्चेद् अलप्स्यत् ओदनम् अपक्ष्यत्' इत्यादौ 'एधकर्मको भूतत्वेन आपादना-विषयो यो लाभस्तदनुकूल-कृतिमान्' 'ओदनकर्मको भूतत्वेन आपादना-विषयो यः पाकस्तदनुकूलकृतिमांश्च' इति बोधः।

भविष्यति क्रियातिपदनेऽपि लृङ्—'यदि सुवृष्टिर् अभविष्यत् तदा सुभिक्षम् अभविष्यत्' इति प्रयोगदर्शनात्। भूतभविष्यत्वयोर्बोधनियमस्तात्पर्यात्।

'यदि स्यात्' इत्यादौ लिङोऽप्यापादनायां शक्तिः, 'यदि निर्वह्निः स्यात् तर्हि निर्धूमः स्यात्' इत्यादौ तस्याः एव प्रतीतेः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



लाघवेन स्थानिनां वाचकत्वात् सङ्ख्यापि लकारार्थः ।

## इति लकारार्थ-निर्णयः

'एधांश्चेद् अलप्स्यत् ओदनम् अपक्ष्यत्' (यदि ईंधन मिले होते तो चावल पका होता) इत्यादि (प्रयोगों) में "ईंधन है 'कर्म' जिसमें ऐसा, भूतकालिक रूप से 'तर्क' का विषय, जो लाभ (ईंधन का भूतकाल में मिलना) उसके अनुकूल यत्न वाला" तथा "ओदन (भात) है 'कर्म' जिसमें ऐसा भूतकालिक रूप से 'तर्क' का विषय जो पाक (चावलों का भूत काल में पकना) उसके अनुकूल कृति वाला" इस प्रकार का बोध होता है।

भविष्यत् कालीन क्रिया की ('तर्करूप) असिद्धि (अनिष्पत्ति) को प्रकट करने के) लिये भी 'लृङ्' (लकार) का प्रयोग होता है। क्योंकि 'यदि सुवृष्टिर् अभविष्यत् तदा सुभिक्षम् अभविष्यत्' (यदि वर्षा अच्छी होगी तो फसल अच्छी होगी) इस प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं। ('लृङ्' लकार की) भूतकालिकता तथा भविष्यत्कालिकता के ज्ञान का निश्चय तात्पर्य (वक्ता के अभिप्राय) के आधार पर होगा।

'यदि स्यात्' इत्यादि (प्रयोगों) में 'लिङ्' (लकार) का भी आपादना' ('तर्क'रूप) अर्थ वाच्य है। क्योंकि 'यदि निर्वाह्निः स्यात् तर्हि निर्धूमः स्यात्' (यदि आग नहीं होगी तो धूआँ भी नहीं होगा) इत्यादि (प्रयोगों) में उसी (क्रिया की आपादना-रूप असिद्धि) का ज्ञान होता है।

लाघव के कारण 'स्थानी' (लकारों) को ही अर्थ का वाचक माना जाता है, इसलिये संख्या भी लकारों का ही वाच्य अर्थ है।

**भविष्यति क्रियातिपदनेऽपि लृङ्**—जिस प्रकार भूतकाल में क्रिया की असिद्धि होने पर 'लृङ्' लकार का प्रयोग होता है, उसी प्रकार भविष्यत् काल में क्रिया की असिद्धि का निश्चय होने पर भी 'लृङ्' लकार का प्रयोग होता है। इसीलिये इन दोनों कालों की दृष्टि से 'लृङ्' के प्रयोग को साधु माना जाता है तथा पाणिनि ने भविष्यत् काल के प्रयोगों की दृष्टि से "लिङ्-निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ" (पा० ३.३.१३९) तथा भूतकाल के प्रयोगों की दृष्टि से "भूते च" (पा० ३.३.१४०) इन दो सूत्रों की रचना की।

'लृङ्' लकार के प्रयोगों से कब क्रिया की भूतकालीन असिद्धि का पता लगेगा और कब क्रिया की भविष्यत्कालीन असिद्धि का पता लगेगा इस बात का निर्णय वक्ता के तात्पर्य के अनुसार ही किया जायगा।

**'यदि स्यात्' इत्यादौ०**—जिस प्रकार 'लृङ्' लकार के प्रयोगों से क्रिया की अतिपत्ति (असिद्धि) का ज्ञान होता है, उसी प्रकार 'यदि स्यात्' जैसे 'लिङ्' लकार के प्रयोगों से भी उस असिद्धि का ज्ञान होता है। पाणिनि ने "हेतुहेतुमतोर्लिङ्" (पा० ३.३.१५६) इस सूत्र तथा 'लृङ्' लकार के विधायक सूत्र "लिङ्-निमित्ते लृङ्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



क्रियातिपत्तौ" (पा० ३.३.१३९) के "लिङ्-निमित्ते' अंश से इसी अभिप्राय को प्रकट किया है।

**लाघवेन स्थानिनाम् लकारार्थः** - इस पंक्ति में नैयायिकों के उस दृष्टिकोण की ओर संकेत किया गया है, जिसके अनुसार वे 'स्थानी' (लकारों) को ही वाचक मानते हैं। 'लकारों' के स्थान पर आने वाले 'आदेश' ('तिप्' आदि) को वे वाचक नहीं मानते। परन्तु प्रश्न यह है कि 'सङ्ख्या' रूप अर्थ तो 'तिप्' आदि 'आदेशों' का ही है क्योंकि पाणिनि ने "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" (पा० १.४.२०.) तथा "बहुपु बहुवचनम्" (पा० १.४.२१) सूत्रों के द्वारा आदेशों में ही 'संख्या' को कहने की शक्ति मानी है। नैयायिकों के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस प्रकार 'काल' 'लकार' का अर्थ है, उसी प्रकार 'सङ्ख्या' भी 'लकार' का ही अर्थ है। पाणिनि ने 'सङ्ख्या' को लकारार्थ मानते हुए भी उसमें 'आदेशार्थता' का आरोप कर लिया है। इसलिए 'सङ्ख्या' को भी लकारार्थ मानने में कोई कठिनाई नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# कारक-निरूपणम्

[कारक की परिभाषा]

अथ कारकाणि निरुप्यन्ते—

**कर्त्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च ।**
**अपादानाधिकर[1]णमित्याहुः कारकाणि षट् ॥**

तत्र 'क्रिया-निष्पादकत्वं कारकत्वम्' । तच्च कर्त्रादीनां षण्णाम् अपि ।

अब कारकों के विषय में विचार किया जाता है। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान और इसी तरह अपादान तथा अधिकरण इस रूप में (आचार्यों ने) ६ कारकों का उपदेश किया है। इस प्रसंग में 'कारकत्व' (की परिभाषा) है—'क्रिया का उत्पादक होना' और वह (क्रिया-निष्पादकत्व रूप 'कारकत्व') कर्त्ता आदि (उपरिनिर्दिष्ट) छओं का 'धर्म' है।

**क्रियानिष्पादकत्वं कारकत्वम्**—वैयाकरण विद्वान् कारक की परिभाषा करते हैं—'क्रिया-निष्पादकत्वं कारकत्वम्' अर्थात् क्रिया के उत्पादकरूप 'धर्म' से युक्त होना 'कारकत्व' है। अभिप्राय यह कि जो भी क्रिया की उत्पत्ति में कारण हो वह कारक है। वस्तुतः अन्य बड़ी बड़ी संज्ञाओं के समान 'कारक' इस बड़ी संज्ञा को भी आचार्य पाणिनि ने इसी दृष्टि से स्वीकार किया कि इस अन्वर्थक शब्द से ही अभीष्ट परिभाषा प्रकट हो जाय। द्र०—"कारकम्' इति महती संज्ञा क्रियते···तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनम् अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत—'करोति इति कारकम्" (महा० १.४.२३)।

उपर्युक्त सभी 'कारक' अपने अपने व्यापार अथवा अवान्तर क्रिया के द्वारा किसी न किसी रूप में प्रधान क्रिया की उत्पत्ति में सहायक या कारण बनते ही हैं। इसलिये उन सबका प्रधान क्रिया के साथ अन्वय होता है। जैसे पकाने की क्रिया की दृष्टि से पाक-क्रिया की उत्पत्ति के अनुकूल 'व्यापार' का आश्रय होने के कारण देवदत्त आदि 'कर्त्ता' क्रिया के उत्पादक हैं। चावल आदि 'कर्म' में विक्लित्ति (पाचन) का आधार बनना रूप 'व्यापार' है, इन्धन आदि में ज्वाला आदि को धारण करना रूप 'व्यापार' है, पतीली आदि 'अधिकरण' में चावल का आधार बनना रूप 'व्यापार' है। और ये सभी 'व्यापार' पाक क्रिया की उत्पत्ति में कारण या सहायक हैं। इसलिये इन सबमें 'कारकता' है।

क्रिया-निष्पादक को 'कारक' मानने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर

१. ह०—अधिकरणे ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'कर्त्ता' और 'कारक' ये दोनों शब्द, जो एक ही अर्थ के वाचक हैं, एक साथ ही क्यों प्रयुक्त होते हैं। इस प्रश्न का उत्तर भर्तृहरि ने निम्न कारिका में दिया है :—

**निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके।**
**व्यापार-भेदापेक्षायां करणत्वादिसम्भवः॥**

(वाप० ३.७.१८)

अर्थात् जहाँ तक क्रिया की उत्पत्ति मात्र का प्रश्न है सभी 'कारकों' को 'कर्ता' कहा जा सकता है। परन्तु, जब, कौन पकाता है ? किसको पकाता है ? किसके द्वारा पकाता है ? किसमें पकाता है ? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर की दृष्टि से भिन्न भिन्न 'व्यापारों' की भिन्न भिन्न रूप से विवक्षा होती है तब, उन उन 'व्यापारों' के आश्रय के रूप में 'कारक' के भी 'कर्त्ता', 'कर्म', 'करण', 'अधिकरण' आदि रूपों में, विभाग हो जाते हैं।

**['कर्तृत्व' की परिभाषा]**

तत्र प्रकृत-धातु-वाच्य-व्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वम्, "धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते" इति **हर्युक्तेः**। अन्य-कारक-निष्ठो व्यापारस्तु न प्रकृत-धातु-वाच्यः। यथा 'वह्निना पचति' इत्यत्र वह्निनिष्ठः प्रज्वलनादिः। अन्य-कारक-निष्ठ-व्यापाराश्रयस्य कर्तृत्व-वारणाय 'धातु-वाच्य' इति। तत्र उक्ते तु कारकमात्रे प्रथमैव। "तिङ्-समानाधिकरणे प्रथमा", "अभिहिते प्रथमा" (महा० २.३.४६) इति वार्तिक-द्वयात्।

उन ('कारकों') में 'कर्तृत्व' (का अभिप्राय) है "प्रकृत (उच्चरित) धातु के वाच्यार्थभूत 'व्यापार' का आश्रय बनना"। क्योंकि भर्तृहरि ने कहा है :— "जिसकी क्रिया (उच्चरित) 'धातु' के द्वारा कह दी गयी है ऐसे 'कारक' में ही नित्य 'कर्तृता' अभीष्ट है"। ('कर्त्ता' से) अन्य ('कर्म', 'करण' आदि) 'कारकों' में रहने वाले 'व्यापार' प्रकृत धातु के वाच्य नहीं बनते। जैसे 'वह्निना पचति' (आग के द्वारा पकाता है) यहाँ आग में होने वाले प्रज्वलन आदि 'व्यापार' (प्रकृत 'पच्' धातु का वाच्यार्थ नहीं है। ('कर्त्ता' से) अन्य ('कर्म' आदि) 'कारकों' में होने वाले व्यापार' के आश्रय ('कर्म', 'करण' आदि) में 'कर्तृत्व'

१. वैभू० सा० (पृ० १७४) यह कारिकांश 'इति वाक्यपदीयात्' कह कर उद्धृत किया गया है। संभवतः उसी के अनुकरण पर पलम० के लेखक ने भी यहाँ 'इति हर्युक्तेः' कहा है। परन्तु भर्तृहरि के वाप० में यह कारिका नहीं मिलती। मीमांसाश्लोकवार्तिक (चौखम्बा संस्करण), वाक्याधिकरण, श्लोक संख्या ७१ (पृ० ८६५) में आधे भाग के रूप में यह अंश उपलब्ध है।

२. ह० में "अथ तिङ्···प्रथमा" पाठ है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



के निवारण के लिये (यहाँ लक्षण में) 'धातुवाच्य' पद रखा गया। "तिङ्-समानाधिकरणे प्रथमा" (क्रिया-पद के अधिकरण से अभिन्न अधिकरण वाले शब्द में प्रथमा विभक्ति होती है) अथवा "अभिहिते प्रथमा" (कथित कारक में 'प्रथमा' विभक्ति होती है) इन दो वार्तिकों के आधार पर क्रिया द्वारा किसी भी 'कारक' के कथित होने पर उस कारक में 'प्रथमा' विभक्ति ही होती है।

यहाँ 'कर्त्ता' की परिभाषा यह दी गयी कि "प्रस्तुत धातु का अर्थ जो 'व्यापार' (क्रिया) उस का आश्रय 'कर्त्ता' है"। भर्तृहरि के नाम से जो कारिकांश इस प्रसंग में उद्धृत किया गया उसका भी आशय यही है।

पतंजलि ने "कारके" (पा० १.४.२३) सूत्र के भाष्य में, पाणिनि के "स्वतंत्रः कर्त्ता" (पा० १.४.५४) सूत्र के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए, कहा है कि पतीली में होने वाला 'व्यापार' यदि प्रकृत (प्रस्तुत) 'पच्' धातु से विवक्षित हो तो पतीली स्वतंत्र होती है, अर्थात् उसकी 'कर्तृ' संज्ञा होती है। परन्तु यदि प्रस्तुत 'पच्' धातु से देवदत्त आदि (पकाने वाले) का 'व्यापार' विवक्षित हो तो 'स्थाली' (पतीली) परतंत्र हो जाती है, अर्थात् पतीली 'अधिकरण' बनती है तथा देवदत्त आदि 'कर्त्ता' बनते हैं—"एवं तर्हि स्थालीस्थे यत्ने कथ्यमाने स्थाली स्वतंत्रा कर्तृस्थे यत्ने कथ्यमाने परतंत्रा" (महा० १.४.२३)।

पतंजलि की उपर्युक्त व्याख्या का अनुसरण करते हुए कौण्डभट्ट ने कर्तृत्व की परिभाषा की है—"स्वातंत्र्यं च धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वम्", अर्थात् प्रयुक्त धातु के अर्थरूप व्यापार का आश्रय बनना स्वातंत्र्य (कर्तृत्व) है तथा यह कहा कि जिस भी 'कारक' के 'व्यापार' को प्रस्तुत धातु कहता है वह 'कारक' कर्त्ता बन जाया करता है। इसलिये 'स्थाली पचति', 'अग्निः पचति', 'एधांसि पचन्ति', 'तण्डुलः पच्यते स्वयमेव' इत्यादि प्रयोग सुसंगत हो पाते हैं (द्र०—वैभूसा० पृ० १८३-१८४)।

**अन्य-कारक-निष्ठो व्यापारस्तु न···प्रकृतधातुवाच्यः**—ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि केवल कर्त्ता के व्यापार को ही प्रयुक्त धातु कहा करता है। 'कर्म' आदि अन्य' 'कारकों' में होने वाले 'व्यापार' को प्रस्तुत धातु नहीं कहता, अन्य 'कारकों' का व्यापार प्रस्तुत धातु का वाच्यार्थ नहीं बनता। जैसे—'देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यां तण्डुलं पचति' (देवदत्त लड़कियों से पतीली में चावल पकाता है) जैसे प्रयोगों में प्रयुक्त 'पच्' धातु केवल देवदत्त के ही यत्नरूप 'व्यापार' को कहता है। वह न तो काष्ठों (करण) के जलने आदि 'व्यापार' को कहता है और न पतीली (अधिकरण) के द्वारा किये जाने वाले, चावल आदि के, धारणा रूप 'व्यापार' को और न ही चावलों ('कर्म') में होने वाले पकने आदि 'व्यापार' को कहता है। यदि कोई वक्ता अपनी विवक्षा के अनुसार प्रस्तुत धातु से 'कर्म' आदि ('कर्त्ता' से अतिरिक्त) 'कारकों' के 'व्यापारों' को कहना चाहे तो उस स्थिति में वह 'कारक', अपनी उन-उन 'कर्मता' आदि को छोड़कर, 'कर्त्ता' बन जायगा। जैसा कि ऊपर के 'स्थाली पचति', 'अग्निः पचति', इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट है।

इस रूप में प्रस्तुत धातु के द्वारा कथित होने पर, उस उस 'कारक' की 'कर्तृ' संज्ञा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



हो जाने के कारण, इन 'कर्म' आदि कारकों में 'प्रथमा' विभक्ति हो जाती है। उपर्युक्त दोनों वार्तिकें इसी आशय को स्पष्ट करती हैं।

[सूत्रकार पाणिनि के अनुसार प्रथमा विभक्ति का अर्थ]

सूत्रमते तु कर्तृ-कर्माद्यर्थक-प्रत्ययेन कर्त्रादेरुक्तत्वात् प्रथमायाः प्रातिपदिकार्थ एव अर्थः। तस्य च आख्यातार्थ-कर्त्रादिना अभेदनान्वयेन प्रथमार्थस्य कारकत्वम्। अत एव आख्यातार्थ-द्वारक-क्रियान्वयात् तदर्थस्य क्रिया-जनकत्वाद् अस्याः कारक-विभक्तित्वेन **भाष्ये** व्यवहारः। 'चैत्रो भवति' इत्यत्र 'एकत्वावच्छिन्न-चैत्राभिन्न-कर्तृकं भवनम्' इति बोधः। आख्यात-कृदादिना कर्त्रादेर् अभिधानेऽपि प्रथमया अनुद्भूत-कर्तृत्वादि-शक्तिः प्रति-पाद्यते इति तात्पर्यम्। कर्माख्याते तु 'चैत्रेण ग्रामो गम्यते' इत्यत्र 'चैत्र-कर्तृक-व्यापार-जन्य एकत्वावच्छिन्न-ग्रामाभिन्न-कर्म-निष्ठः संयोगः' इति बोधः।

("प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे प्रथमा" पा० २.३.४६ इस) सूत्र के अनुसार तो (कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य के प्रयोगों में) 'कर्त्ता', 'कर्म' आदि अर्थ वाले ('तिङ्' आदि) प्रत्ययों से 'कर्त्ता' आदि के कथित हो जाने के कारण प्रथमा (विभक्ति) का अर्थ (केवल) 'प्रातिपदिक' रूप अर्थ ही है ('कर्त्ता' आदि नहीं)। प्रथमा (विभक्ति के) उस ('प्रातिपदिक' रूप) अर्थ की, आख्यात के अर्थ ('कर्त्ता' आदि) के साथ अभेदरूप से अन्वय होने के कारण, 'कारक' संज्ञा उपपन्न हो जाती है। इसीलिये आख्यात के अर्थ ('कर्त्ता' आदि, जिनमें प्राति-पदिकार्थ का अभेदान्वय हुआ है) के द्वारा क्रिया के साथ अन्वित होने के कारण उस अर्थ (प्रथमाविभक्त्यर्थ) के क्रिया-जनक होने से इस (प्रथमा विभक्ति) का 'कारक विभक्ति' के रूप में भाष्य में व्यवहार किया गया है। 'चैत्रो भवति' (चैत्र है) यहां "एकत्व' ('संख्या') से विशिष्ट चैत्र (—रूप जो प्राति-पदिकार्थ उस) से अभिन्न है 'कर्ता' जिसमें ऐसी होना रूप क्रिया" यह बोध होता है। 'आख्यात' ('तिङ्') तथा 'कृत्' आदि प्रत्ययों से 'कर्त्ता' आदि के कथित हो जाने पर भी प्रथमा विभक्ति अव्यक्त (अप्रकट) 'कर्तृत्व' आदि शक्तियों को कहती है यह (दोनों वार्तिकों का) अभिप्राय है। कर्मवाच्य (के प्रयोगों) में तो 'चैत्रेण ग्रामो गम्यते' (चैत्र के द्वारा गांव जाया जाता है) यहाँ "चैत्र है 'कर्ता' जिसमें ऐसे (गमन) 'व्यापार' से उत्पन्न होने वाला, 'एकत्व' से विशिष्ट ग्रामरूप 'कर्म' में रहने वाला संयोग," यह शाब्द-बोध होता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**सूत्रमते कारकत्वम्** --प्रथमा विभक्ति के विधायक सूत्र "प्रातिपदिकार्थ···मात्रे प्रथमा" (पा० २.३.४६) में 'कारक'-वाचक कोई पद नहीं है इसलिए 'प्रातिपदिक'रूप अर्थ को ही प्रथमा विभक्ति का अर्थ मानना होगा। पर यदि महाभाष्य (२.३.४६) की "तिङ्-समानाधिकरणे प्रथमा" अथवा "अभिहिते प्रथमा" इन वार्तिकों के आधार पर 'कारकों' के कथित होने पर प्रथमा विभक्ति का विधान माना जाय तो, इन वार्तिकों में 'कारक' शब्द के अध्याहृत होने के कारण, 'कारक' को प्रथमा विभक्ति का अर्थ मानना होगा।

**अत एव···भाष्ये व्यवहारः**— परन्तु जहां तक शाब्द बोध का प्रश्न है, चाहे 'प्रथमा' का अर्थ सूत्र के अनुसार 'प्रातिपदिकार्थ' हो या वार्तिकों के अनुसार 'कारक' हो इन दोनों ही स्थितियों में, प्रथमार्थ की 'कारकता' अर्थात् क्रियानिष्पादकता सिद्ध नहीं हो पाती क्योंकि 'प्रातिपदिकार्थ' अथवा 'कारक' का क्रिया में अन्वय नहीं होता।

इस प्रश्न का उत्तर यहां यह दिया गया है कि प्रथमा विभक्ति के अर्थ 'प्रातिपदिकार्थ' का 'आख्यात' ('तिङ्') के अर्थ 'कर्त्ता' आदि के साथ अभेदरूप से अन्वय होता है, अर्थात् 'कर्त्ता' आदि तथा प्रातिपदिकार्थ' को अभिन्न मान लिया जाता है और, तब 'कर्त्ता' में क्रिया-निष्पादकता है इसलिये परम्परया वह, क्रिया-निष्पादकता प्रथमा विभक्ति के अर्थ में भी है ही। इसीलिये, प्रथमा विभक्ति के इन प्रयोगों में 'आख्यात' के अर्थ ('कर्त्ता' आदि) के द्वारा प्रथमा विभक्ति के अर्थ ('प्रातिपदिकार्थ') का क्रिया में अन्वय होने तथा इस रूप में क्रिया का जनक होने के कारण, प्रथमा विभक्ति को महाभाष्य में 'कारक विभक्ति' कहा गया है। द्र०—"उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी इति प्रथमा भविष्यति" (महा० २.३.१९)

**'चैत्रो भवति'···तात्पर्यम्** --"प्रातिपदिकार्थ - प्रथमा" (पा० २.३.४६) सूत्र के अनुसार 'चैत्रो भवति' (चैत्र है) इस प्रयोग में प्रथमा विभक्ति के अर्थ 'प्रातिपदिकार्थ' का पहले 'एकत्व'-विशिष्ट 'कर्त्ता' के साथ 'अभेद' सम्बन्ध से अन्वय होता है फिर 'कर्त्ता' का 'भवति' क्रिया के साथ अन्वय होता है। "तिङ-समानाधिकरणे प्रथमा" तथा "अभिहिते प्रथमा" इन वार्तिकों का अभिप्राय यह है कि 'आख्यात' अथवा 'कृत्' आदि प्रत्ययों द्वारा कर्त्ता' आदि का कथन हो जाने पर भी प्रथमा विभक्ति द्वारा एक ऐसी कर्तृत्वशक्ति का कथन होता है जो 'आख्यात' या 'कृत्' द्वारा नहीं कही गयी है।

**कर्माख्याते···इति बोधः**—'चैत्रेण ग्रामो गम्यते' (चैत्र के द्वारा गांव जाया जाता है) जैसे कर्मवाच्य के प्रयोगों में 'कारकों' का क्रिया में अन्वय होने के कारण "चैत्र है 'कर्त्ता' तथा ग्राम है 'कर्म' जिसमें ऐसे गमन 'व्यापार' से उत्पन्न होने वाला संयोग" यह शाब्द बोध होता है। यहां पहले 'कर्मत्व ग्राम में है' इस बात का ज्ञान होता है। फिर उसके बाद, 'कर्मत्व' तथा 'फल' दोनों का समान अधिकरण होने के कारण "फल' भी 'कर्म' (ग्राम) में है" इस प्रकार का ज्ञान होता है जिसे टीकाकारों ने 'आर्थी' प्रतीति कहा है। इसीलिये नागेश ने यहाँ 'चैत्रेण ग्रामो गम्यते' में शाब्द बोध की चर्चा करते हुए 'संयोग'रूप 'फल' को ग्राम से अभिन्न जो 'कर्म' उसमें रहने वाला" (ग्रामाभिन्न-कर्म-निष्ठः संयोगः) कहा है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यहां 'चैत्रेण ग्रामो गम्यते' में जो शाब्द बोध दिखाया गया उसकी प्रक्रिया यह है—कर्मवाच्य में 'कर्ता' के लिये प्रयुक्त तृतीया विभक्ति का अर्थ है आश्रय। द्र०—'कर्तृ-तृतीयाया आश्रयोऽर्थः' (वैभूसा० पृ० १८३)। उसमें 'चैत्र' शब्द के पदार्थ (प्रातिपदिकार्थ) का 'अभेद'सम्बन्ध से अन्वय होगा। इस चैत्ररूप कर्ता के आश्रय में रहने के कारण 'गम्' धातु के अर्थ गमन 'व्यापार' का इस आश्रय में अन्वय होगा। इस 'व्यापार' से संयोग उत्पन्न होता है। इसलिये 'जन्यत्व' सम्बन्ध से चैत्र रूप आश्रय में रहने वाले 'व्यापार' का संयोग से अन्वय होगा ('चैत्र-कर्तृक-व्यापार-जन्यः-संयोगः')।

दूसरी ओर 'कर्म' को कहने वाले 'आख्यात' प्रत्यय का अर्थ भी आश्रय है। उस आश्रय का 'अभेद' सम्बन्ध से 'ग्राम' के साथ अन्वय होगा। उसके बाद, संयोग ग्रामनिष्ठ है इसलिये, 'वृत्तित्व' सम्बन्ध से ग्रामरूप आश्रय का संयोग के साथ अन्वय होगा। इसी प्रकार 'आख्यात' के अर्थ 'एकत्व' रूप सङ्ख्या का भी 'समवाय' सम्बन्ध से 'ग्राम' में अन्वय हुआ (एकत्वावच्छिन्न-ग्रामाभिन्न-कर्म-निष्ठः संयोगः)। इस प्रकार आख्यात के कर्मवाचक होने पर 'फल' (संयोग आदि) की मुख्यरूप से प्रतीति होती है।

**['सम्बोधन' में होने वाली प्रथमा विभक्ति की 'कारकता']**

सम्बोधन-प्रथमार्थस्यापि अनुवाद्यत्वेन उद्देश्यतया युष्मदर्थाभेदेन विधेय-क्रियायाम् अन्वयात् क्रियाजनकत्वरूपं कारकत्वम्। 'देवदत्त ? त्वं गच्छ' इत्यादौ 'अभिमुखीभवद्-देवदत्ताभिन्न-युष्मद्-अर्थोद्देश्यक-प्रवर्तनादि-विषयो गमनम्' इति बोधः।

सम्बोधन (रूप) प्रथमार्थ को भी क्रियाजनकत्वरूप 'कारकता' इस कारण (उपपन्न हो जाती है कि अनुवाद्य होने के कारण उद्देश्य होने से 'युष्मद्' शब्द के अर्थ के साथ 'अभेद' सम्बन्ध से अन्वित होकर वह विधेयभूत क्रिया में अन्वित होता है। 'देवदत्त' ? त्वं गच्छ' (देवदत्त तुम जाओ) इत्यादि (प्रयोगों) में "जो अभिमुख नहीं था पर अभिमुख हो रहा है ऐसे देवदत्त से अभिन्न जो 'युष्मद्' शब्द का अर्थ वह है उद्देश्य जिसमें तथा जो प्रेरणा का विषय है ऐसा गमन (व्यापार)" यह बोध होता है।

आचार्य पाणिनि ने "सम्बोधने च" (पा० २.३.४७) सूत्र के द्वारा भी प्रथमा विभक्ति का विधान किया है। अतः प्रथमा का एक अर्थ 'प्रातिपदिकार्थयुक्त सम्बोधन' भी है। यहाँ यह विचारणीय है कि इस प्रथमार्थ को 'कारक' किस प्रकार माना जाय क्योंकि इसमें क्रियोत्पादकता तो है नहीं ?

इसका उत्तर यहाँ दिया गया है। सम्बोधन का अभिप्राय है जो वक्ता के अभिमुख नहीं है उसका अभिमुख होना। इसका 'फल' है कार्य में प्रवृत्त होना या कार्य से निवृत्त होना। सम्बोधन अर्थ वाली इस प्रथमा विभक्ति को 'अनुवाद्य-विषया' कहा गया है,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अर्थात् जो पहले से ही सिद्ध (विद्यमान) है उसी को वक्ता अपने अभिमुख करता है। इसी कारण सम्बोध्य में सम्बोध्यता रूप धर्म के सिद्ध (विद्यमान) न होने पर उस रूप में सम्बोधन नहीं किया जा सकता। जैसे राजपुत्र के लिये, कुमारावस्था में, 'राजन् ? युध्यस्व' (हे राजन् युद्ध कीजिये) अथवा किसी राजा के लिये 'राजा भव' (राजा बनो) जैसे प्रयोग नहीं किये जाते। इसी बात को भर्तृहरि ने निम्न कारिका में प्रकट किया है :—

**सिद्धस्याभिमुखीभावमात्रं सम्बोधनं विदुः।**
**प्राप्ताभिमुख्यो ह्यर्थात्मा क्रियासु विनियुज्यते ॥**

(वाप० ३.७.१६३)

'सिद्ध' अर्थात् पहले से विद्यमान अनभिमुख व्यक्ति के अभिमुख होने को सम्बोधन कहा गया है। अभिमुखता को प्राप्त हुआ व्यक्ति क्रियाओं में लगाया जाता है।

इसलिये, जिस प्रकार 'संख्या' का अन्वय उसके प्रकृत्यर्थ में होता है उसी प्रकार, अनुवादिका सम्बोधन-विभक्ति का भी अन्वय उसके प्रकृत्यर्थ में (जिसे यहाँ 'युष्मद्' शब्द का अर्थ) कहा गया है उसमें 'आश्रयता' सम्बन्ध से अभेदरूप में होता है। वक्ता की प्रेरणा का उद्देश्य प्रकृत्यर्थ है इसलिये उस 'उद्देश्यता' सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ का प्रेरणा में अन्वय होता है। उदाहरण के लिये जब 'देवदत्त ? त्वं गच्छ' (देवदत्त तुम जाओ) यह कहा जाता है तो पहले 'देवदत्त' का 'त्वम्' के साथ 'अभेद' सम्बन्ध से अन्वय होता है और उसके बाद 'देवदत्त' से अभिन्न 'त्वम्' का गमन-विषयक प्रेरणा में अन्वय होता है। फिर अन्त में 'देवदत्त' से अभिन्न 'त्वम्' है उद्देश्य जिसमें ऐसी 'प्रेरणा' का अपने विषयभूत 'गमन' क्रिया में अन्वय होता है। इसी कारण यहाँ "अभिमुख होने वाले 'देवदत्त' से अभिन्न 'त्वम्' है उद्देश्य जिसका ऐसी प्रेरणा का विषय 'गमन' क्रिया" यह शाब्द बोध होता है।

इस प्रकार सम्बोध्य 'देवदत्त' का पहले 'त्वम्' में फिर 'प्रेरणा' में और अन्त में 'क्रिया' में अन्वय होता है। अतः परम्परया 'क्रिया' में अन्वय होने के कारण, प्रथमा विभक्ति या 'अधिकरण' के समान, क्रिया-जनकतारूप 'कारकता' सम्बोधन विभक्ति में भी माननी चाहिये। द्र०—"एतन्मूलकम् एव सम्बोधनस्य कर्तृकारकत्वव्यवहारो वृद्धानाम्। तस्यैव स्वम्पदार्थत्वेन विनियोज्यक्रियाकर्तृत्वात्। अत एव 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा' इति वार्तिकमते प्रथमासिद्धिः।...तस्मात् 'कर्तृकारकत्वं सम्बोधनस्य' इति वृद्धोक्तं साध्वेव" (लम०, पृ० ११६०-६१)।

**[प्रथमा तथा सम्बोधन की 'कारकता' में प्रमाण]**

अत एव—

**आश्रयोऽवधिरुद्देश्यः सम्बन्धः शक्तिरेव वा।**
**यथायथं विभक्त्यर्थाः सुपां कर्मेति भाष्यतः ॥**

(वैभूसा०, पृ० १६८)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**इत्यभियुक्तोक्तम्**, "सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः सङ्ख्या चैव तथा तिङाम्" इति **भाष्यं** (१.४.२१) च सङ्गच्छते। अनुक्तकर्त्रादिषु तृतीयादयो विभक्तयः, अनभिहिताधिकारे तासां विधानाद्। इत्यन्यत्र विस्तरः।

इसीलिये (प्रथमा तथा सम्बोधन दोनों में क्रियाजनकता होने के कारण) "सुपां कर्मादयो०" इस भाष्य (में उद्धृत कारिका) के अनुसार अपनी अपनी योग्यता की दृष्टि से 'आश्रय', 'अवधि', 'उद्देश्य', 'सम्बन्ध' अथवा केवल (आश्रयत्व आदि) 'शक्ति' (प्रथमा आदि) विभक्तियों के अर्थ हैं" यह (भट्टोजि दीक्षित जैसे) विद्वान् का कथन तथा "सुप्" (विभक्तियों) के 'कर्म' आदि ('कारक') भी अर्थ हैं तथा 'सङ्ख्या' भी (अर्थ) है और उसी प्रकार 'तिङ्' विभक्तियों के भी ('कर्त्ता', 'कर्म' तथा 'सङ्ख्या' अर्थ हैं)" यह भाष्य (का उल्लेख) सुसङ्गत होता है।

'कर्त्ता' आदि के अकथित होने पर तृतीया आदि विभक्तियाँ होती हैं क्योंकि "अनभिहिते" (पा० २.३.१) के अधिकार में इन विभक्तियों का विधान किया गया है। इस विषय का अन्यत्र (लघुमंजूषा आदि ग्रन्थों में) विस्तार से वर्णन है।

**आश्रयोऽवधिः·····अभियुक्तोक्तम्** :—वैयाकरणभूषण तथा वैयाकरण भूषणसार दोनों ग्रन्थों में भट्टोजि दीक्षित की यह कारिका उद्धृत एवं व्याख्यात मिलती है। यहाँ ग्रन्थकार कौण्डभट्ट ने इस कारिका की व्याख्या में प्रथमा विभक्ति की कोई चर्चा नहीं की है। परन्तु "तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा" इस वार्तिक के अनुसार प्रथमा विभक्ति के भी 'कर्त्ता' या 'कर्म' अर्थ होते हैं। अतः, द्वितीया आदि विभक्तियों के समान, प्रथमा विभक्ति का भी 'आश्रय' अर्थ माना गया।

भट्टोजि दीक्षित की इस कारिका का अभिप्राय यह है कि महाभाष्य में 'सुप्' तथा 'तिङ्' विभक्तियों के 'कर्म' आदि कारक तथा 'सङ्ख्या' अर्थ कहे हैं इसलिये, उस कथन के आधार पर, 'प्रथमा' आदि विभक्तियों के 'कर्त्ता', 'कर्म' आदि की अपनी योग्यता या सामर्थ्य की दृष्टि से, 'आश्रय,' 'अवधि', 'उद्देश्य' तथा 'सम्बन्ध' अर्थ हैं। 'कर्त्ता' अथवा 'प्रातिपदिकार्थ' तथा 'सम्बोधन' को कहने वाली प्रथमा, 'कर्म' को कहने वाली द्वितीया, 'कर्त्ता' तथा 'करण' को कहने वाली तृतीया तथा 'अधिकरण' को कहने वाली सप्तमी—इन विभक्तियों का अर्थ 'आश्रय' है। 'अपादान' को कहने वाली पंचमी विभक्ति का अर्थ 'अवधि' है। 'सम्प्रदान' को कहने वाली चतुर्थी का अर्थ 'उद्देश्य' है तथा 'शेष' अर्थ वाली षष्ठी और 'उपपद' विभक्तियों का 'सम्बन्ध' अर्थ है।

**शक्तिरेव वा** :—इस कारिकांश से यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि या तो 'सुप्' आदि विभक्तियों का यथायोग्य 'आश्रय' आदि अर्थ माना जाय अथवा इन आश्रय आदि में रहने वाली 'शक्ति' अर्थात् 'आश्रयत्व', 'अवधित्व', उद्देश्यत्व' तथा 'सम्बन्धत्व' को उन उन विभक्ति का अर्थ मानना चाहिये।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः सङ्ख्या चैव तथा तिङाम्** :—इसका अभिप्राय यह है कि 'सुप्' तथा 'तिङ्' विभक्तियों के 'कर्म' आदि 'कारक' तथा 'संख्या' दोनों ही अर्थ हैं। केवल 'संख्या' अर्थ नहीं है। यहाँ 'सुप्' की दृष्टि से 'कर्म' आदि सभी 'कारक' अभिप्रेत हैं। परन्तु 'तिङ्' विभक्तियों के अर्थ की दृष्टि से यहाँ केवल 'कर्त्ता' तथा 'कर्म' कारक ही अभिप्रेत हैं, क्योंकि 'तिङ्' के द्वारा इन्हीं दो का कथन होता है।

नागेशभट्ट ने यहाँ दीक्षित की कारिका तथा महाभाष्य में उद्धृत वचन को इसलिये प्रस्तुत किया है कि यदि प्रथमा तथा सम्बोधन विभक्तियों में 'कारकता' ('क्रिया-जनकता') न मानी जाय तो ये दोनों ही उपर्युक्त कथन निरर्थक एवं असंगत हो जाते हैं।

**['कारक' की दूसरी परिभाषाओं के विषय में विचार]**

ननु 'क्रिया-निमित्तत्वं कारकत्वम्' इति स्वीकार्यम् इति चेत् ? न। 'चैत्रस्य तण्डुलं पचति' इत्यत्र सम्बन्धिनि चैत्रादौ अतिव्याप्तेः। अनुमत्यादि-प्रकाशन-द्वारा सम्प्रदानादेर् इव तण्डुलादि-द्वारा सम्बन्धिनोऽपि क्रियानिमित्तत्वात्।

किन्तु 'क्रियाऽन्वित-विभक्त्यर्थान्वितत्वम्', 'क्रिया-निर्वर्त्तकत्वम्' वा कारकत्वम्। विशेष्यतया क्रिया सुप्-तिङ्-अन्यतर-विभक्त्यर्थेऽन्वेति। स च विशेष्यतयैव चैत्र-घटादौ।

षष्ठ्यर्थस्य तण्डुलादि-नामार्थान्विततया क्रियाऽनन्वितत्वात्। अत एव षष्ठ्यर्थस्य उपपद-विभक्त्यर्थस्य च न कारकत्वं क्रियान्वयाभावाद् इति शाब्दिकाः। उपपद-विभक्तीनाम् अपि सम्बन्ध एव अर्थः। 'चैत्रस्य पचति' इत्यादाव् अपि तण्डुलादि-पदाध्याहारेणैव बोधः। षष्ठ्यर्थसम्बन्धस्य नामार्थेनैव, क्रियायाः कर्मत्वादिनैव, साकांक्षत्वेन सम्बन्ध-क्रिययोः निराकांक्षत्वात्।

यदि यह कहा जाय कि "क्रिया का कारण बनना कारकता (की परिभाषा) है" यह मानना चाहिये तो वह उचित नहीं क्योंकि 'चैत्रस्य तण्डुलं पचति' (चैत्र के चावल को पकाता है) यहाँ सम्बन्धी 'चैत्र' आदि में अतिव्याप्ति होगी। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार (अपनी) अनुमति आदि देने के द्वारा 'सम्प्रदान' आदि ('कारक') क्रिया के कारण बनते है उसी प्रकार सम्बन्धी भी तण्डुल आदि (देने) के द्वारा क्रिया-निमित्त हो सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसलिये 'क्रिया में अन्वित होने वाले विभक्त्यर्थ में अन्वित होना' अथवा 'क्रिया का (साक्षात्) निष्पादक होना' ही कारकता (की परिभाषा) है। 'विशेष्य' बनकर क्रिया 'सुप्', 'तिङ्' में से किसी एक के विभक्त्यर्थ में अन्वित होती है और वह (विभक्त्यर्थ) विशेष्यरूप से ही 'चैत्र', 'घट' आदि में (अन्वित होता है)।

षष्ठी विभक्ति के अर्थ ('सम्बन्ध') का, 'तण्डुल' आदि 'नाम' पदों के अर्थ में अन्वय होने के कारण, (उसका) क्रिया में अन्वय न होने से (सम्बन्ध की 'कारकता' नहीं है)। इसीलिये 'षष्ठी' विभक्ति तथा 'उपपद' विभक्ति के अर्थ (सम्बन्ध) में, उनके क्रिया में अन्वित न होने के कारण, कारकता नहीं है—ऐसा वैयाकरण मानते हैं। 'उपपद' विभक्तियों का भी 'सम्बन्ध' ही अर्थ है। 'चैत्रस्य पचति' इत्यादि (वाक्यों) में 'तण्डुल' आदि पद के अध्याहार से ही अर्थ का ज्ञान होता है। षष्ठी विभक्ति का अर्थ (अर्थात्) 'सम्बन्ध' (तण्डुल आदि) नाम पदों के अर्थ के प्रति ही 'साकांक्ष' रहता है (क्रिया के प्रति नहीं) तथा क्रिया 'कर्म' आदि के प्रति साकांक्ष रहती है ('सम्बन्ध' के प्रति नहीं)। इसलिये सम्बन्ध तथा क्रिया दोनों (एक दूसरे के प्रति) निराकांक्ष हैं।

**क्रियानिमित्तत्वं कारकत्वम्**— यहां 'कारकत्व' की एक दूसरी परिभाषा 'क्रिया-निमित्तत्वं कारकत्वम्' पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत की गयी है। इस परिभाषा में 'निमित्त' का अभिप्राय, 'उत्पादक' निमित्त न होकर, 'प्रयोजक' (प्रेरक) निमित्त है। इसलिये 'कारक' की इस परिभाषा को स्वीकार करने पर 'चैत्रस्य तण्डुलं पचति' इत्यादि प्रयोगों के 'चैत्रस्य' जैसे सम्बन्ध अर्थ वाले पदों में भी 'कारकता' की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि अपने चावलों को पकाने के लिये देकर चैत्र पकाने की क्रिया में उसी प्रकार प्रेरक निमित्त है जिस प्रकार 'सम्प्रदान' कारक में वह व्यक्ति दान क्रिया का निमित्त है जिसे कोई वस्तु दी जाती है। इसलिए, जिस प्रकार दान के पात्र 'सम्प्रदान' को 'कारक' माना जाता है उसी प्रकार, 'सम्बन्धी' को भी 'कारक' मानना होगा।

**क्रियान्वित'''कारकत्वम्**— इस दोष के निराकरण के लिये 'कारक' की अन्य दो परिभाषाएं यहाँ दी गयीं-"क्रियान्वित-विभक्त्यर्थान्वितत्वम् कारकत्वम्" तथा "क्रिया-निर्वर्कत्वं वा कारकत्वम्"। पहली का अभिप्राय यह है कि क्रिया में अन्वित होने वाले विभक्त्यर्थ (आख्याता के अर्थ 'कर्तृत्व' या 'कर्मत्व') में जिसका अन्वय हो वह 'कारक' है। तथा दूसरी का अभिप्राय है कि जो क्रिया का निर्वर्तक अर्थात् निष्पादक या जनक हो वह 'कारक' है। पहली परिभाषा के द्वारा, उपरिप्रदर्शित पद्धति से, 'प्रातिपदिकार्थ' तथा 'सम्बोधनार्थ' में होने वाली, 'प्रथमा' तथा 'अधिकरण' की और दूसरी परिभाषा से शेष अन्य 'कारकों' की 'कारक' संज्ञा सिद्ध होती है।

**विशेष्यतयैव'''चैत्रघटादौ**— पहली परिभाषा को स्पष्ट करने के लिये यहां क्रिया तथा 'विभक्त्यर्थ' आदि के गौण-प्रधान-भाव की चर्चा की गयी है। क्रिया का जब 'विभक्त्यर्थ' के साथ अन्वय होता है तब क्रिया का अर्थ प्रधान होता है। परन्तु जब 'विभक्त्यर्थ' का 'चैत्र' आदि शब्दों के साथ अन्वय होता है तब विभक्ति का अर्थ प्रधान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



होता है। 'विभक्त्यर्थ' का तात्पर्य है 'सुप्' विभक्ति अथवा 'तिङ्' विभक्ति का अर्थ। 'सुप्' विभक्ति के अर्थ में 'प्रथमा विभक्ति' का अर्थ-('प्रातिपदिकार्थ') तथा 'अधिकरण' का अर्थ ('आधार') अभीष्ट है तथा 'तिङ्' विभक्ति के अर्थ में, कर्तृवाच्य के वाक्यों में, 'कर्त्ता' और कर्मवाच्य के वाक्यों में 'कर्म' अभीष्ट हैं। 'चैत्रः गच्छति' इस वाक्य के 'विभक्त्यर्थ' अर्थात् 'प्रथमाविभक्त' का अर्थ ('प्रातिपदिकार्थ') एवं 'तिङ्' विभक्ति का अर्थ ('कर्तृत्व') दोनों-अभिन्न होकर गमन क्रिया में अन्वित होते हैं। इस प्रकार यहां गमन क्रिया की प्रधानता है। परन्तु इस 'विभक्त्यर्थ' के साथ 'चैत्र' शब्द का जब अन्वय होगा तब 'विभक्त्यर्थ' ('प्रातिपदिकार्थ' से अभिन्न, 'कर्तृत्व') की प्रधानता होगी। इसी प्रकार 'घटः क्रियते' इस कर्मवाच्य के प्रयोग में पहले 'विभक्त्यर्थ', ('प्रातिपदिकार्थ') से अभिन्न 'कर्मत्व' का करनारूप क्रिया में अन्विय होगा। फिर इस 'विभक्त्यर्थ' के साथ 'घट' का अन्वय होगा।

**षष्ठ्यर्थस्य ··· अध्याहारेणैव बोध**:—इस प्रकार प्रथमार्थ तथा सप्तम्यर्थ का, क्रिया में अन्वित होने वाले, 'कर्त्ता' तथा 'कर्म' में अन्वय होने के कारण इनकी 'कारकता' सिद्ध हो जाती है। परन्तु षष्ठी विभक्ति के अर्थ 'सम्बन्ध' में यह लक्षण घटित नहीं होता और यही अभीष्ट भी है। इस प्रकार पूर्वोक्त अतिव्याप्ति दोष इस परिभाषा में नहीं उपस्थित होता क्योंकि 'चैत्रस्य तण्डुलं पचति' इत्यादि प्रयोगों में षष्ठ्यन्त 'चैत्र' शब्द का अन्वय 'तण्डुल' आदि 'नाम' शब्दों के अर्थ में होता है। किसी प्रकार—परम्परया—भी उसका अन्वय क्रिया में नहीं होता। जब केवल 'चैत्रस्य पचति' इतना ही कहा जाता है तब भी 'तण्डुल' जैसे किसी 'नाम' शब्द का अध्याहार करके ही इस वाक्य का अर्थ किया जाता है। इसलिये यहां उस अध्याहृत 'नाम' शब्द के अर्थ के साथ ही षष्ठ्यन्त शब्द का अन्वय है।

**षष्ठ्यर्थसम्बन्धस्य ··· निराकांक्षत्वात्**—'षष्ठ्यन्त शब्द तथा क्रियावाचक पदों के अर्थों का परस्पर अन्वय हो ही नहीं सकता' इस कथन की पुष्टि के लिये यहां एक प्रबल हेतु यह दिया गया है कि षष्ठी विभक्ति का अर्थ (सम्बन्ध) 'नाम' शब्दों के अर्थ के प्रति ही साकांक्ष रहता है। इस कारण उससे अन्वित होकर वह निरपेक्ष या निराकांक्ष हो जाता है। इस प्रकार, 'आकांक्षा' रहित हो जाने के कारण, 'सम्बन्ध' तथा 'क्रिया' का परस्पर अन्वय हो ही नहीं सकता। इस रूप में क्रिया में अन्वित न होने के कारण इसकी 'कारकता' समाप्त हो जाती है।

षष्ठी विभक्ति के समान ही 'उपपद' विभक्तियों की भी स्थिति है क्योंकि उनका अर्थ भी 'सम्बन्ध' ही है जिसका अन्वय 'क्रिया' में नहीं होता। 'उपपद' विभक्त शब्द का विग्रह किया जाता है—'उपपदेन (समीप-स्थितेन पदेन) योगे विभक्तिः उपपद-विभक्तिः'। अर्थात् किसी पद के समीप में होने के कारण उपस्थित होने वाली विभक्ति। इसके उदाहरण हैं—"नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधा-अलं-वषाड्योगाच्च" (पा० २.३.१६) जैसे सूत्रों से विहित 'चतुर्थी' आदि विभक्तियां।

इसलिये, क्रिया में अन्वित न होने के कारण वैयाकरण षष्ठी विभक्ति तथा 'उपपद' विभक्ति के अर्थ ('सम्बन्ध') को 'कारक' नहीं मानते।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



['कर्ता' की एक अन्य परिभाषा का खण्डन]

यत्तु 'कारकान्तराप्रयोज्यत्वे सति कारक-चक्रप्रयोजकत्वं कर्तृत्वम्' इति तन्न। 'स्थाली पचति' 'असिश्छिनत्ति' इत्यादौ स्थाल्यादेः कारकचक्राप्रयोजकत्वात् कारकान्तर-प्रयोज्यत्वाच्च तत्त्वं न स्याद् इत्यलम्।

जो "कारकान्तर से प्रेरित न होकर (कर्ता से भिन्न) 'कारक'-समूह का प्रेरक होना 'कर्तृता' है" यह परिभाषा है वह ठीक नहीं है क्योंकि 'स्थाली पचति' (पतीली पकाती है), 'असिः छिनत्ति' (तलवार काटती है) इत्यादि (प्रयोगों) में 'स्थाली' आदि (शब्दों) की, 'कारक'-समूह के प्रयोजक न होने तथा अन्य 'कारक' (चैत्र आदि से) प्रयोज्य होने के कारण, 'कर्तृता' नहीं हो सकेगी।

'कर्तृत्व' की मीमांसक सम्मत परिभाषा है "कारकान्तराप्रयोज्यत्वे सति कारक चक्रप्रयोजकत्वम्" (द्र०—वैभूसा०, शांकरी टीका, पृ० १८६)। इसका अभिप्राय यह है कि जो किसी दूसरे 'कारक' से प्रेरित न हो तथा स्वयं सभी 'कारकों' का प्रेरक हो वह 'कर्ता' है। "कारके" (पा. १.४.२३) सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने कहा है "कथं पुनर्ज्ञायते कर्ता प्रधानम् इति ? यत् सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कर्ता प्रवर्तयिता भवति", अर्थात् सभी कारकों में 'कर्ता' प्रधान होता है यह कैसे जाना जाय ? इस का उत्तर यह है कि अन्य सभी 'कारकों' के विद्यमान होने पर कार्य तब तक नहीं होता जब तक 'कर्ता' उन 'कारकों' को कार्य करने के लिये प्रेरित नहीं करता। इसलिये 'कर्ता' प्रधान होता है। सम्भवतः ऐसे कथनों के आधार पर ही 'कर्ता' की उपर्युक्त परिभाषा मीमांसकों ने प्रस्तुत की।

नागेश ने इस परिभाषा के खण्डन में यह कहा कि 'स्थाली पचति' इत्यादि प्रयोगों में 'कर्ता' स्थाली इत्यादि में न तो अन्य 'कारकों' को प्रेरित करने की शक्ति है और न ही यही बात है कि वे 'कर्ता' से प्रेरित नहीं होते, अर्थात् एक तरफ तो वे अन्य 'कारकों' को प्रेरित नहीं कर पाते दूसरे वे 'कर्ता' देवदत्त आदि से प्रेरित होते हैं क्योंकि वे सर्वथा अचेतन हैं। अतः अव्याप्ति दोष के कारण यह परिभाषा मान्य नहीं है। कौण्डभट्ट ने भी इसी युक्ति के साथ इस परिभाषा का खण्डन किया है। द्र०—"कारकचक्रप्रयोक्तृत्व ··· 'दण्डः करोति' इत्यत्र अव्याप्तम्" (वैभूसा० पृ० १८६), अर्थात् 'कारक-समूह का प्रेरक-कर्ता है' यह परिभाषा 'दण्डः करोति' इस प्रयोग में 'दण्डः' की कर्तृता को उत्पन्न नहीं कर पाती।

परन्तु नागेशभट्ट तथा कौण्डभट्ट का यह खण्डन उचित नहीं है क्योंकि 'स्थाली पचति' या 'दण्डः करोति' इत्यादि प्रयोगों में 'स्थाली' आदि अचेतन पदार्थों में चेतनता

१. तुलना करो—वैभूसा० (पृ० १८६); "कारकचक्रप्रयोक्तृत्वं कारकत्वम् ··· 'दण्डः करोति' इत्यत्राव्याप्तम्"।

२. ह० में 'तत्त्वं न स्यात्' यह अंश नहीं है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



का आरोप करके ही उन में 'कर्तृत्व की विवक्षा की गयी। इस प्रकार जब आरोपित चेतनता वहां है तो 'स्थाली' या 'दण्ड' इत्यादि स्वतः अन्य 'कारकों' के प्रेरक तथा कर्त्ता से अप्रेर्य हो जायेंगे। इसलिए महाभाष्यकार ने 'कारके' सूत्र के भाष्य में (१.४.२३ पृ० ३५२) ही यह भी माना है कि 'स्थाली' में होने वाले यत्नों को जब 'पच्' धातु से कहा जाता है तब स्थाली स्वतंत्र होती है, अर्थात् स्थाली को स्वतंत्र अथवा कर्त्ता के रूप में प्रकट करने की वक्ता की विवक्षा होती है। जब 'पच्' धातु के द्वारा देवदत्त के यत्न को कहा जाता है तब स्थाली को परतंत्र अथवा 'अधिकरण' के रूप में प्रकट करने की वक्ता की विवक्षा होती है। द्र०—"स्थालीस्थे यत्ने (पचिना) कथ्यमाने स्थाली स्वतंत्रा कर्तृस्थे यत्ने कथ्यमाने परतंत्रा"। अचेतन पदार्थों में 'कर्तृत्व' का आरोप प्रायः होता है। इसीलिये तो 'भिक्षा वासयति' इत्यादि प्रयोग सुसंगत हो पाते हैं। वस्तुतः वक्ता अपनी विवक्षा के अनुसार जिस किसी भी 'कारक' को स्वतंत्र अथवा परतंत्र बना सकता है। द्र०—"सर्वमेव स्वातंत्र्यं पारतंत्र्यं च विवक्षितम्" (महा० १.४.२३ पृ० ३५०)। इसीलिये 'स्थाली पचति', 'दण्डः करोति' जैसे प्रयोग अथवा कर्मकर्त्ता के प्रयोग सम्भव हो सके। अतः 'कर्त्ता' की उपर्युक्त परिभाषा को अमान्य नहीं ठहराया जा सकता।

**['कर्म' कारक की परिभाषा के विषय में विचार]**

कर्मत्वं च 'प्रकृत-धात्वर्थ-प्रधानीभूत-व्यापार-प्रयोज्य-प्रकृत-धात्वर्थ-फलाश्रयत्वेन उद्देश्यत्वम्'। इदमेव कर्म-लक्षणे 'ईप्सिततमत्वम्'। 'गां पयो दोग्धि' इत्यादौ पयोवृत्तिर् यो विभागस् तदनुकूलो व्यापारो गोवृत्तिः। तदनुकूलश्च गोपवृत्तिः। अत्र पयसः कर्मत्व-सिद्धये 'प्रयोज्यत्व'-निवेशः। 'जन्यत्व'-निवेशे[2] तन्न स्यात्। 'प्रयागात् काशीं गच्छति' इत्यत्र प्रयागस्य कर्मत्व-वारणाय 'प्रकृतधात्वर्थफल' इति। नहि विभागः प्रकृत-धात्वर्थः। किन्तु नान्तरीयकतया गमने उत्पद्यते। प्रयागस्य फलता[1]-वच्छेदक-सम्बन्धेन फलाश्रयत्वेन अनुद्देश्यत्वाच्च।

'कर्मता' (की परिभाषा) है—"प्रस्तुत धातु के अर्थों में—प्रधानीभूत 'व्यापार' से (सीधे अथवा परम्परया) उत्पाद्य, प्रस्तुत धातु के (गौण) अर्थ,—'फल'— के आश्रय के रूप में उद्देश्य बनाना"। 'कर्म' के लक्षण ("कर्तुर् ईप्सिततमं कर्म" सूत्र) में 'ईप्सिततमता' का भी यही अभिप्राय है। 'गां पयो दोग्धि' (गाय का दूध दुहता है) इत्यादि (प्रयोगों) में दूध में होने वाला जो विभाग उसके

१. ह०—कर्मणः।
२. ह०—निवेशे तु।
३. ह० तथा व'मि०—"फलतावच्छेदक सम्बन्धेन" अंश अनुपलब्ध है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अनुकूल 'व्यापार' गौ में होता है। उस (गौ में होने वाले 'व्यापार') का उत्पादक-'व्यापार' गोप में होता है। यहाँ दूध में 'कर्मता' की सिद्धि के लिये 'प्रयोज्यत्व' को (लक्षण में) स्थान दिया गया। 'प्रयोज्यता' (शब्द) की जगह 'जन्यता' (शब्द) को रखने पर वह ('पयस्' की 'कर्म' संज्ञा सिद्ध) नहीं होती।

'प्रयागात् काशीं गच्छति' (प्रयाग से काशी जाता है) यहां 'प्रयाग' की 'कर्म' संज्ञा के निवारण के लिये (परिभाषा में) 'प्रकृत-धात्वर्थ-फल' (इतना अंश रखा गया) है। (प्रयाग से काशी जाते समय प्रयाग में होने वाला) विभाग प्रस्तुत ('गम्') धातु का अर्थ नहीं है किन्तु अनिवार्य होने के कारण 'गमन' (क्रिया) में वह उत्पन्न हो जाता है। साथ ही प्रयाग 'फलतावच्छेदक' सम्बन्ध से, 'फल' के आश्रय के रूप में, उद्देश्य भी नहीं है।

यहां 'कर्म' कारक की चर्चा करते हुए पहले उसकी परिभाषा दी गई जिसमें यह कहा गया कि जिस धातु का प्रयोग किया जा रहा है, उस प्रस्तुत धातु का जो प्रधानीभूत अर्थ, ('व्यापार' या क्रिया) उससे साक्षात् अथवा परम्परया उत्पाद्य, तथा प्रस्तुत धातु के ही गौण अर्थ ('फल') के आश्रय के रूप में वक्ता को जो अभीष्ट हो वह 'कर्म' है। धातु के दो अर्थ होते हैं—एक 'व्यापार' अथवा क्रिया तथा दूसरा 'फल'। पहला अर्थ प्रधान है तो दूसरा गौण। इसी कारण यहां 'व्यापार' तथा 'फल' दोनों के साथ 'धात्वर्थ' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इस परिभाषा के उदाहरण के रूप में 'कुम्भकारः घटं करोति' (कुम्हार घड़ा बनाता है) इस प्रयोग को प्रस्तुत किया जा सकता है। यहां प्रकृत धातु है 'कृ' जिस का प्रधान अर्थ है "उत्पत्ति के अनुकूल होने वाला 'व्यापार'"। इस 'व्यापार' से उत्पन्न होने वाला तथा प्रस्तुत धातु का गौण अर्थ है उत्पत्ति रूप 'फल'। इस उत्पत्ति रूप 'फल' के आश्रय के रूप में अभीष्ट वस्तु है 'घट'। इसलिये 'घट' की कर्म संज्ञा है।

**'गां पयो दोग्धि' इत्यादौ ···'जन्यत्व'-निवेशे तन्न स्यात्**— 'कर्म' कारक की उपर्युक्त परिभाषा में 'प्रयोज्य' शब्द का अर्थ है सीधे अथवा परम्परया उत्पन्न होने वाला 'फल'। सामान्तया 'व्यापार' से 'फल' सीधे उत्पन्न हो जाया करता है। इसी कारण 'व्यापार' की परिभाषा की गयी—"धात्वर्थ-फल-जनकत्वे सति धातु-वाच्यत्वम्', अर्थात् धात्वर्थ रूप 'फल' का उत्पादक होते हुए जो धातु का वाच्य हो वह 'व्यापार' है। परन्तु कभी कभी 'व्यापार' से 'फल' सीधे उत्पन्न न होकर परम्परया उत्पन्न हुआ करता है। जैसे-'गां पयो दोग्धि' (गाय का दूध दुहता है) इस वाक्य में 'दोहन' क्रिया का 'कर्त्ता' है 'गोप'। यहाँ 'दुह्' धातु का 'व्यापार' रूप प्रधान अर्थ 'गोप' के द्वारा किया जाने वाला 'दोहन' व्यापार। तथा इस 'दुह्' धातु का 'फलरूप' अर्थ है, गाय से दूध का 'विभाग' अर्थात् अलग होना। इस प्रकार यहाँ गोप के दोहन 'व्यापार' से 'विभाग' रूप 'फल' की सीधे उत्पत्ति नहीं होती अपितु गोप-'व्यापार' से गाय में कुछ 'व्यापार' उत्पन्न होते हैं और उस गो-'व्यापार' के द्वारा दूध का गाय से 'विभाग' होता है। इसलिये यदि यहां 'कर्म' की 'परिभाषा' में 'प्रयोज्य' शब्द न रख कर 'जन्य' शब्द का प्रयोग किया गया होता तो परम्परया उत्पन्न जो 'फल' अर्थात् 'विभाग' उसके आश्रय दूध की 'कर्म' संज्ञा नहीं हो सकती। क्योंकि 'जन्य' का अर्थ है—साक्षात् उत्पाद्य। 'प्रयोज्य' शब्द उसकी अपेक्षा व्यापक है। 'प्रयोज्य' शब्द के अर्थ की सीमा में प्रधान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'व्यापार' के द्वारा परम्परया उत्पाद्य 'फल' भी आ जाता है। अतः इस प्रकार के प्रयोगों में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती।

**'प्रयागात् काशीं गच्छति' ·····फलाश्रयत्वेनानुद्देश्यत्वाच्च**—'कर्म' के लक्षण में यहाँ जो 'प्रकृतधात्वर्थफल' पद रखा गया उसका प्रयोजन यह है कि 'प्रयागात् काशीं गच्छति' (प्रयाग से काशी जाता है) इस प्रयोग में 'प्रयाग' की भी 'कर्म' संज्ञा न हो जाय। बात यह है कि प्रयाग से जो आदमी काशी जा रहा है उसके चरण-प्रक्षेप आदि व्यापार से जिस प्रकार काशी से 'संयोग' रूप 'फल' की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार प्रयाग से भी 'विभाग' रूप 'फल' की उत्पत्ति होती है। इसलिये जिस प्रकार 'संयोग' का आश्रय होने के कारण काशी की 'कर्म' संज्ञा होती है उसी प्रकार 'विभाग' का आश्रय होने के कारण प्रयाग की भी 'कर्म' संज्ञा प्राप्त होती है। परन्तु प्रकृत 'गम्' धातु का अर्थ 'उत्तर देश से संयोग' रूप 'फल' है, 'पूर्वदेश से विभाग' रूप 'फल' नहीं, इसलिये 'संयोग' रूप 'फल' के आश्रयभूत काशी की तो 'कर्म' संज्ञा हो जाती है पर 'विभाग' रूप 'फल' के आश्रयभूत प्रयाग' की 'कर्म'संज्ञा नहीं होती।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब जाने वाले व्यक्ति के चरण-विक्षेप आदि 'व्यापारों' से ही 'संयोग' तथा 'विभाग' ये दोनों ही 'फल' उत्पन्न होते हैं तो फिर केवल 'संयोग' को ही 'गम्' धातु का अर्थ क्यों माना जाता है 'विभाग' को क्यों नहीं। इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया कि 'विभाग' तो यहां इसलिये उत्पन्न होता है कि 'विभाग' के विना 'संयोग' हो ही नहीं सकता। इसलिये 'गमन' व्यापार में उसकी, अनिवार्य रूप से, उत्पत्ति होती ही है। इसी कारण 'विभाग' को 'नान्तरीयक'[1] कहा गया

इसके अतिरिक्त प्रयाग से काशी जाने वाले यात्री का, 'फलतावच्छेदक' सम्बन्ध से 'फल' के आश्रय के रूप में, प्रयाग उद्देश्य भी नहीं होता। जिस सम्बन्ध से 'फल' का उसके आश्रय में रहना अभीष्ट हो उस सम्बन्ध को 'फलतावच्छेदक' सम्बन्ध कहा जाता है। यह सम्बन्ध प्रत्येक धातु की दृष्टि से भिन्न भिन्न होगा। जैसे—'ग्रामं गच्छति' यहां 'संयोग' रूप 'फल' ग्राम में 'अनुयोगित्वविशिष्ट समवाय' सम्बन्ध से है। इस लिये इस सम्बन्ध को ही यहां 'फलता' का 'अवच्छेदक' माना जायगा। यदि 'फलतावच्छेदक सम्बन्ध' की बात न कही जाय तो, जिस प्रकार संयोग का आश्रय होने के कारण 'ग्राम' की 'कर्म' संज्ञा होकर 'चैत्रः ग्रामं गच्छति' यह प्रयोग होता है उसी प्रकार, स्वयं 'चैत्र' भी 'संयोग' का आश्रय है क्योंकि 'संयोग' द्विष्ठ (दो में रहने वाला) हुआ करता है इसलिये 'चैत्र' को भी 'कर्म' संज्ञा होने के कारण 'चैत्रः चैत्रं गच्छति' प्रयोग भी होने लगेगा। परन्तु 'फलतावच्छेदक' सम्बन्ध से 'संयोग' चैत्र में नहीं है। 'अनुयोगित्वविशिष्ट समवाय' सम्बन्ध से 'संयोग' ग्राम-निष्ठ है चैत्रनिष्ठ नहीं है। इसलिये चैत्र की उक्त प्रयोग में 'कर्म'संज्ञा नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'ग्रामं त्यजति' जैसे प्रयोगों में 'प्रतियोगित्वविशिष्ट समवाय' सम्बन्ध 'फलता' का अवच्छेदक है अर्थात् इसी सम्बन्ध से

१. 'विना' अर्थ वाले 'अन्तरा' शब्द से "तत्र भवः" (पा० ४.३.५३) इस अर्थ में "गहादिभ्यश्च" (पा० ४.२.१३८) सूत्र से 'छ' (ईय) प्रत्यय तथा फिर स्वार्थ में 'क' प्रत्यय कर के 'अन्तरीयक' शब्द बना। और उससे 'नञ्-समास' तथा 'भाव' अर्थ में 'तल्' प्रत्यय करके तृतीया विभक्ति के एक वचन में 'नान्तरीयकतया' शब्द बना जिसका अभिप्राय है 'निश्चित या अनिवार्य रूप से'।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'विभाग' रूप फल 'ग्राम' में रहता है। परन्तु 'ग्रामाद् विभजते' इत्यादि प्रयोगों में 'अनुयोगित्वविशिष्ट समवाय' सम्बन्ध 'फलता' का अवच्छेदक है। इसी कारण, दोनों 'त्यज्' तथा 'विभज्' धातुओं के' विभाग रूप एक 'फल' के वाचक होने पर भी, 'ग्रामं त्यजति' के समान 'ग्रामाद् विभजते' इस प्रयोग में, 'फलता' के 'अवच्छेदक' सम्बन्ध के भिन्न होने से, 'ग्राम' की कर्म' संज्ञा नहीं हुई। इसी प्रकार 'प्रयागात् काशीं गच्छति' इस प्रयोग में 'फलतावच्छेदक', अर्थात् 'अनुयोगित्वविशिष्ट समवाय', सम्बन्ध से संयोग रूप 'फल' का आश्रय काशी है न कि प्रयाग। इस कारण प्रयाग की 'कर्म' संज्ञा नहीं होती।

[ 'कर्म' संज्ञा की परिभाषा के 'उद्देश्यत्व' पद के विषय में विचार ]

ननु 'प्रकृत-धात्वर्थ'-ग्रहणेनैव अत्र वारणाद् 'उद्देश्यत्व'-निवेशः किमर्थं इति चेत् ? न। तस्य असाधारणं प्रयोजनं 'काशीं गच्छन् पथि मृतः' इति काश्याः फला[1]-श्रयत्वाभावेऽपि फलाश्रयत्वेन उद्देश्यत्व-सत्त्वात् कर्मत्वम्।

'प्रकृत-धात्वर्थ' (इस अंश) के ग्रहण से ही यहां ('प्रयागात् काशीं गच्छति' इत्यादि प्रयोगों में 'प्रयाग' जैसे शब्दों के 'कर्मत्व' का) निवारण हो जाने के कारण (लक्षण में) 'उद्देश्यत्व' (पद) का प्रवेश किसलिये है ? यदि यह कहा जाय तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि उस ('उद्देश्य' पद) का एक असाधारण प्रयोजन है। 'काशीं गच्छन् पथि मृतः' (काशी को जाते हुए रास्ते में मर गया) यहां यद्यपि काशी ('संयोग' रूप) 'फल' का आश्रय नहीं है फिर भी 'फल' की आश्रयता के रूप में (वह काशी) अभीष्ट है इसलिये ('उद्देश्य' होने के कारण) उसकी 'कर्म' संज्ञा हो जाती है।

'कर्मत्व' के लक्षण में विद्यमान 'उद्देश्यत्व' शब्द का विशेष प्रयोजन यह है कि यदि 'कर्म' संज्ञा के लक्षण में 'उद्देश्यत्व' पद न रखा जाय तो जो यात्री काशी जा रहा है परन्तु काशी तक न पहुँच कर रास्ते में ही मर जाता है उसके लिये काशी 'संयोग' रूप 'फल' का आश्रय नहीं बनती। इसलिये प्रकृत धातु के अर्थरूप 'फल' का आश्रय न होने के कारण, काशी की 'कर्म' संज्ञा नहीं हो सकेगी।

परन्तु 'उद्देश्य' पद के निवेश से लक्षण का स्वरूप होगा—'फल' का साक्षात् आश्रय हो चाहे न हो, परन्तु 'फल' के आश्रय के रूप में अभीष्ट होने पर भी 'कारक' की 'कर्म' संज्ञा होगी। अब जो व्यक्ति काशी जाते हुए रास्ते में ही मर जाता है उसके लिये भी 'फल' की आश्रयता के रूप में तो 'काशी' अभीष्ट है ही। इसलिये यहाँ भी 'काशी' की 'कर्म' संज्ञा हो जाती है।

---

१. ह० में 'फलाश्रयत्वाभावेऽपि' अंश अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[कर्म' कारक की परिभाषा में 'योग्यताविशेष-शालित्वम्' और जोड़ना चाहिये]

ननु काशीं गच्छति चेत्रे 'चैत्रः काशीं गच्छति न प्रयागम्' इति प्रयोगानुपपत्तिः[1], प्रयागस्य फलाश्रयत्वेन उद्देश्यत्वाभावाद् इति चेत् ? उच्यते कर्मलक्षणे 'ईप्सिततम'-पदस्य 'स्वार्थविशिष्ट-योग्यता-विशेषे' लक्षणा। तथा च 'प्रकृत-धात्वर्थ-प्रधानीभूत-व्यापार-प्रयोज्य-प्रकृत-धात्वर्थ-फलाश्रयत्वेन उद्देश्यत्व-योग्यता-विशेष-शालित्वं कर्मत्वम्'। तच्च प्रयागस्याप्यस्ति इति कर्मत्वं तस्य सुलभम्।

काशी को जाते हुए चैत्र के लिये 'चैत्रः काशीं गच्छति न प्रयागम्' (चैत्र काशी जाता है प्रयाग नहीं) इस प्रयोग की सिद्धि नहीं हो पाती क्योंकि फलाश्रयता की दृष्टि से चैत्र का उद्देश्य प्रयाग नहीं है—यदि यह कहा जाय तो वह उचित नहीं है। कारण यह है कि 'कर्म' के लक्षण ("कर्तुर् ईप्सिततमं कर्म" (पा० १.४.४९ इस सूत्र) में 'ईप्सिततम' पद की 'स्वार्थ से युक्त योग्यताविशेष' अर्थ में लक्षणा है। इस रूप में "प्रस्तुत धातु के अर्थ प्रधानभूत 'व्यापार' से प्रयोज्य, प्रस्तुत धातु के अर्थ, 'फल' की आश्रयता के उद्देश्यता के सामर्थ्यविशेष से युक्त होना 'कर्मता' है"। और यह 'कर्मता' प्रयाग में भी है इसलिये उस (प्रयाग) की 'कर्म' संज्ञा सुलभ है।

ऊपर 'कर्मत्व' की जो परिभाषा दी गयी उसके अनुसार 'चैत्रः काशीं गच्छति न प्रयागम्' इस प्रयोग में 'प्रयाग' की कर्मसंज्ञा नहीं सिद्ध होती क्योंकि 'फल' की आश्रयता के रूप में जाने वाले का उद्देश्य काशी है न कि प्रयाग। इस अनुपपत्ति के समाधान के लिये, पाणिनि के "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" सूत्र के, 'ईप्सिततमम्' पद में लक्षणा का सहारा लेकर उसका 'ईप्सिततमता (योग्यताविशेष) से युक्त' अर्थ किया गया। इस 'योग्यता-विशेष' से युक्त होने की क्षमता जिसमें होगी, भले ही वह फलाश्रयता रूप से उद्देश्य न हो फिर भी, उसकी 'कर्म' संज्ञा स्वीकार कर ली जाएगी। 'ईप्सिततम' पद की इस लाक्षणिक व्याख्या के अनुसार उपर की परिभाषा में भी 'योग्यताविशेष-शालित्व' अंश और जोड़ दिया गया। अब, प्रयाग में यह 'योग्यता-विशेष' है कि वह फलाश्रयता रूप से उद्देश्य बन सके। इसलिये प्रयाग की 'कर्म' संज्ञा हो जायगी, भले ही यहां 'चैत्रः काशीं गच्छति न प्रयागम्' इस प्रयोग में फलाश्रयत्वेन उद्दिष्ट न भी हो।

[कुछ अन्य प्रयोगों में 'कर्मत्व' की उपपत्ति]

एतेन कार्यान्तरं कुर्वति चैत्रे 'किं ग्रामं गच्छति अथवा[2] ओदनं पचति ?' इति प्रश्ने 'न ग्रामं गच्छति न ओदनं

१. ह० में 'प्रयोगानापत्तिः' पाठ है।

२. ह० में अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



पचति' इत्यादि-प्रयोगा व्याख्याताः। यत्र तु ताड़नादिना पराधीनतया विषभोजनादिकं तत्र विषादि[1], तादृशफलाश्रयत्वेन, उद्देश्यमेव। अत एव "आतश्च विषमीप्सितं यद् भक्षयति ताड़नात्" इति भाष्यं[2] सङ्गच्छते। एतेन 'कशाभिहितः कारागारं गच्छति' इति व्याख्यातम्।

इस परिभाषा से अन्य कर्म को करते हुए चैत्र के विषय में 'क्या गांव जाता है अथवा चावल पकाता है' यह पूछने पर 'न ग्रामं गच्छति न ओदनं पचति' (न गांव जाता है न चावल पकाता है)' इत्यादि प्रयोगों की व्याख्या (अर्थात्—ग्राम और तण्डुल के 'कर्मत्व' की सिद्धि) हो जाती है। परन्तु जहाँ मारपीट आदि के द्वारा विवशता से विष भोजन-आदि (किया जाता) है वहाँ विष आदि, उस प्रकार के 'फल' का आश्रय होने के कारण, उद्देश्य हैं (अतः वहाँ 'योग्यता-विशेष' के आश्रय की आवश्यकता नहीं है)। इसलिये "अवश्य ही विष अभीष्ट है क्योंकि मार के भय से उसे खाता है" यह भाष्य (में पतंजलि) का कथन सुसङ्गत होता है। इस (कथन) से 'कशया अभिहतः कारागारं गच्छति' (कोड़े से मारा हुआ जेल जाता है) यह (प्रयोग) स्पष्ट हो गया।

ऊपर 'कर्मत्व' की परिभाषा में, 'ईप्सिततम' पद में 'लक्षणा' वृत्ति मानते हुए, 'योग्यताविशेषशालित्वम्' पद का जो संयोजन किया गया उसके द्वारा ही, 'चैत्रः न ग्रामं गच्छति न ओदनं पचति' इत्यादि प्रयोगों में 'ग्राम' तथा 'ओदन' पदों में उद्देश्य बनने के 'योग्यताविशेष' के रहने के कारण, 'ग्राम' तथा 'ओदन' जैसे शब्दों की कर्मता सिद्ध हो जाती है। परन्तु जब कोई व्यक्ति मार या पीड़ा के भय से विष खाता है या कोड़े से मारा जाता हुआ जेल जाता है तो वहाँ, 'योग्यताविशेष-शालिता' का आधार लिये बिना ही, 'विष' या 'कारागार' जैसे शब्दों की 'कर्म' संज्ञा सिद्ध हो जाएगी क्योंकि वहाँ कर्ता का उद्देश्य 'विष' अथवा जेल ही होता है। पतंजलि ने भी ऐसे स्थलों में 'विष' आदि को ही 'उद्देश्य' माना है, यह उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है।

**['योग्यताविशेषशालित्वम्' में 'विशेष' पद का प्रयोजन]**

कालत्रये[3] काशी-गमन-शून्ये चैत्रे 'काशीं गच्छति चैत्रः' इति वारणाय 'विशेष' इति। काश्याः फलाश्रयत्वेन

---

१. ह० — विषादेः।

२. तुलना करो—महा० १.४.५०;
विषयभक्षणमपि कस्यचिदीप्सितं भवति। कथम्? इह य एष मनुष्यो दुःखार्तो भवति सोऽन्यानि दुःखानि अनुनिशम्य विषभक्षणमेव ज्यायो मन्यते। आतश्च ईप्सितं यत्तद् भक्षयति।

३. ह० में 'कालत्रय' पाठ है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



उद्देश्यत्व-योग्यता-सत्त्वेऽपि तद्विशेषणाभावान् न कर्मत्वम् तद् विशेषश्च व्यापारसमकालिकस् तटस्थजन-गम्यः। किं च ईदृशस्थले तद्विशेषवत्त्वेऽपि निषेध एव अनुभवसिद्ध इति[1] 'काशीं न गच्छति' इति किम् अनुपपन्नम् ?

('भूत' 'भविष्यद्', 'वर्तमान' इन) तीनों कालों में जो काशीगमन-से रहित है ऐसे चैत्र के लिये 'काशीं गच्छति चैत्रः' (चैत्र काशी जाता है) इस प्रयोग के निवारणार्थ (ऊपर 'कर्म' की परिभाषा में 'योग्यता' के साथ) 'विशेष' पद रखा गया है। इसलिये 'फल' को आश्रयता की दृष्टि से उद्देश्य बनने की योग्यता काशी में होने पर भी योग्यता विशेष के न होने के कारण (काशी की 'कर्म' संज्ञा नहीं होती और वह 'योग्यता-विशेष' अपने आश्रय में 'व्यापार' के समय रहा करता है तथा ('कर्ता' से भिन्न) तटस्थ व्यक्ति (जो 'व्यापार' नहीं कर रहा है उस ) के द्वारा ज्ञातव्य है। इस के अतिरिक्त ऐसे स्थलों में 'योग्यताविशेष' के होने पर भी निषेध ही अनुभव (व्यवहार) के द्वारा प्रमाणित है। इसलिये 'काशीं न गच्छति' इस प्रयोग में क्या असङ्गति है ?

'कर्म' की परिभाषा में ऊपर 'योग्यता' के साथ जो 'विशेष' पद का संयोजन किया गया उसका प्रयोजन बताते हुए यहाँ यह कहा गया कि उस चैत्र के लिये, जिसका काशी-गमन तीनों कालों में असम्भव है, 'चैत्रः काशीं गच्छति' यह प्रयोग न होने लगे। परिभाषा में 'विशेष' पद के न रहने पर काशी की 'कर्म' संज्ञा इस लिये हो जाती कि फलाश्रयता रूप से उद्देश्य बनने की योग्यता तो उसमें भी है ही। हाँ 'योग्यता-विशेष' नहीं है। यह 'योग्यता-विशेष' क्या है इसे स्पष्ट करते हुए यहाँ यह कहा गया कि जिस समय 'कर्ता' अपना 'व्यापार' कर रहा होता है उस समय ही यह 'योग्यता-विशेष' फलाश्रयता रूप से अभीष्ट वस्तु में होता है तथा तटस्थ अर्थात् जो व्यक्ति उस व्यापार को नहीं कर रहा है उसी को इस 'योग्यता-विशेष' का ज्ञान हो पाता है, दूसरों को नहीं। परन्तु नागेश की यह 'योग्यताविशेष' वाली बात बहुत सुसंगत एवं संयुक्तिक नहीं प्रतीत होती। यदि 'कर्म कारक की उपर्युक्त परिभाषा में 'योग्यताविशेष' पद न भी रखा जाय तो भी 'चैत्रः काशीं गच्छति' यह प्रयोग नहीं होगा, क्योंकि वक्ता जब यह जानता है कि चैत्र कभी भी काशी नहीं जा सकता तो वह 'चैत्रः काशीं गच्छति' प्रयोग करेगा ही क्यों? वह तो 'काशीं न गच्छति चैत्रः' यही कहेगा। यह अनुभवसिद्ध है।

वस्तुतः 'कर्म' की परिभाषा में 'योग्यताविशेषशालित्वम्' पद का संयोजन बहुत आवश्यक नहीं है, क्योंकि 'चैत्रः काशीं गच्छति न प्रयागम्' जैसे प्रयोगों में भी, उपर्युक्त पद्धति से, 'प्रयाग' में उद्देश्यता का आरोप करके कर्मत्व की सिद्धि की जा सकती है। 'विशेष' पद के प्रयोजन की निस्सारता तो स्वयं नागेशभट्ट ने ही यहां अनुभव के आधार पर मान ली है।

---

१. ह० में अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[**'कर्म' कारक के कुछ अन्य प्रयोगों पर विचार**]

ननु 'अन्नं भक्षयन् विषं भुंक्ते' 'ग्रामं गच्छंस् तृणंस्पृशति' इत्यादौ विषतृणयोर् उद्देश्यत्वाभावात् कथं कर्मत्वम् इति चेत् शृणु । "तथा युक्तम्०" (पा० १.४.५०) इति लक्षणान्तरात् । "प्रकृत-धात्वर्थ-प्रधानीभूत-व्यापार-प्रयोजन-प्रकृत-धात्वर्थ-फलाश्रयत्वम् अनीप्सित-कर्मत्वम्" इति तदर्थात् । 'प्रयागात् काशीं गच्छति' इत्यत्र प्रयागस्य कर्मत्व-वारणाय 'प्रकृत-धात्वर्थ-फल' इति । द्वेष्योदासीन-कर्म-सङ्ग्रहार्थम् इदं लक्षणम् ।

'अन्नं भक्षयन् विषं भुङ्क्ते' (अन्न खाते हुए विष खाता है) तथा 'ग्रामं गच्छंस् तृणं स्पृशति' (गाँव जाता हुआ तृण छूता है) इत्यादि (प्रयोगों) में 'विष' तथा 'तृण' के उद्देश्य न होने से (इन दोनों की) 'कर्म' संज्ञा कैसे होगी ? इस का उत्तर यह है कि "तथाऽयुक्तं चानीप्सितम्" इस दूसरे सूत्र से (इन की 'कर्मसंज्ञा हो जायगी) क्योंकि उस (सूत्र) का अर्थ है—"प्रस्तुत धातु के अर्थ—प्रधानीभूत 'व्यापार'—से उत्पाद्य प्रस्तुत धातु के अर्थ—फल—का आश्रय होना अनीप्सित-कर्मता है" । 'प्रयागात् काशीं गच्छति' (प्रयाग से काशी जाता है) यहाँ 'प्रयाग' की 'कर्मसंज्ञा ('अनीप्सितकर्मता') न हो जाय इसलिये (यहां 'अनीप्सित-कर्मता' की परिभाषा में') 'प्रकृत-धात्वर्थ-फल' पद रखा गया है 'द्वेष्य' तथा-'उदासीन' कर्म (= संज्ञक शब्दों) के सङ्ग्रह के लिये यह लक्षण बनाया गया ।

ऊपर, "कर्तुर् ईप्सिततमं कर्म" सूत्र के आधार पर 'कर्म' कारक की जो परिभाषा की गयी उससे 'अन्नं भक्षयन् विषं भुङ्क्ते' तथा 'ग्रामं गच्छंस् तृणं स्पृशति' जैसे प्रयोगों में द्वेष्य (घातक) 'विष' तथा उदासीन (जो न तो अभीष्ट ही है और न अनभीष्ट है) 'तृण' की 'कर्म' संज्ञा नहीं प्राप्त होती, क्योंकि वे 'फल' के आश्रय के रूप में अन्न खाने वाले तथा गांव जाने वाले व्यक्ति को अभीष्ट नहीं है । जो भोजन कर रहा है वह कभी भी यह नहीं चाहेगा कि वह विष भी खा ले । वह तो विष से द्वेष ही करेगा, क्योंकि वह जानता है कि विष-भक्षण से उसकी मृत्यु हो जायगी । द्वेष का विषय होने के कारण ही विष को यहां 'द्वेष्य' कहा गया है । इसी प्रकार गांव जाते हुए व्यक्ति के लिये रास्ते में मिलने वाले तृण इत्यादि 'फल' के आश्रय के रूप में न तो अभीष्ट ही हैं और न विष के समान द्वेष्य ही हैं । इसीलिये उपेक्षित होने के कारण ही उन्हें 'उदासीन' कहा गया । इस प्रकार के जितने भी 'द्वेष्य' तथा 'उदासीन' कर्म हैं, उन सबकी 'कर्मता' की सिद्धि के लिये पाणिनि ने कर्म संज्ञा का विधान करने वाले एक अन्य सूत्र "तथाऽयुक्तं चानीप्सितम्" की रचना की । इस सूत्र के अर्थ को ही ऊपर नागेश ने स्पष्ट किया है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**प्राकृत-धात्वर्थ.....फलेति** :—नागेश की इन पंक्तियों का अभिप्राय यह है कि यदि 'व्यापार' तथा 'फल' दोनों ही, उच्चरित धातु के अर्थ हों तथा प्रधान धात्वर्थ, ('व्यापार'), से 'फल' उत्पाद्य हो तो उस स्थिति में 'फल' का जो भी आश्रय होगा उसकी 'कर्म' संज्ञा हो जायगी। अतः 'भक्ष्' धातु के प्रधान अर्थ भक्षण 'व्यापार' से उत्पाद्य भोजन रूप 'फल', जो 'भक्ष्' धातु का ही अर्थ है, के आश्रय विष तथा इसी प्रकार 'स्पृश्' धातु के प्रधान अर्थ 'स्पर्शन' 'व्यापार' से उत्पाद्य 'स्पर्श' रूप 'फल', जो 'स्पृश्' धातु का ही अर्थ है, के आश्रयभूत तृण दोनों की 'कर्म' संज्ञा की सिद्धि इस दूसरे लक्षण से हो जायगी। प्रथम लक्षण की अपेक्षा इस लक्षण में अन्तर यह है कि पहले में 'उद्देश्यता' पद अधिक है जिसके कारण ही 'विष' तथा 'तृण' जैसे क्रमशः 'द्वेष्य' तथा 'उदासीन' आश्रयों की 'कर्म' संज्ञा नहीं हो पाती थी। अब इस परिभाषा में उसके न होने के कारण इन शब्दों की 'कर्मता' में कोई बाधा नहीं आती चाहे वे 'कर्त्ता' की दृष्टि से उद्देश्य हों चाहे न हों, केवल 'फल' के आश्रय होने के कारण ही उनकी 'कर्मता' सिद्ध है।

यहाँ नागेश ने अपने लक्षण में 'प्रकृत-धात्वर्थ' अर्थात् फल, के साथ प्रस्तुत या उच्चरित धातु के अर्थ होने की जो बात कही है उसका प्रयोजन यह है कि 'प्रयागात् काशीं गच्छति' जैसे प्रयोगों में 'प्रयाग' की 'कर्म' संज्ञा न हो जाय। प्रस्तुत 'गम्' धातु का अर्थ 'संयोग' यहाँ 'फल' है जिसका आश्रय 'काशी' है न कि 'प्रयाग'। इसलिये उसकी 'कर्म' संज्ञा नहीं होगी।

[द्विकर्मक धातुओं के विषय में विचार]

'दुह्' आदीनां व्यापार-द्वयार्थकत्वपक्षे "अकथितं च" (पा० १.४.५१) इति व्यर्थम्। पूर्वेणैव इष्टसिद्धेः। एक-व्यापार-बोधकत्वपक्षे तु सम्बन्ध-षष्ठी-बाधनार्थम्। तत्पक्षे 'कर्मसम्बन्धित्वे सति अपादानादि-विशेषाविवक्षितत्वम् अकथित-कर्मत्वम्' इति तृतीय-लक्षणेन 'गां पयो दोग्धि' इत्यादौ 'गाम्' इत्यस्य कर्मत्व[1]सिद्धिरित्यन्यत्र विस्तरः।

"दुह् आदि (धातुओं) के दो दो व्यापार अर्थ हैं" इस पक्ष में "अकथितं च" यह सूत्र अनावश्यक है क्योंकि पहले (सूत्र "कर्तुरीप्सितमं कर्म") से ही ('गां पयो दोग्धि' इत्यादि प्रयोगों में) इष्ट ('कर्म' संज्ञा) की सिद्धि हो जायगी। परन्तु (इन धातुओं के) एक-व्यापार-बोधकता पक्ष में ("षष्ठी शेषे"; पा० प०२.३.५० से प्राप्त होने वाली) 'सम्बन्ध-षष्ठी को रोकने के लिये ("अकथितं च" सूत्र आवश्यक) है। उस (एक-व्यापारार्थकता के) पक्ष में "कर्म का सम्बन्धी होते हुए 'अपादान' आदि विशेष (कारकों के) द्वारा विवक्षित न होना 'अकथित-कर्मता" है इस तृतीय ("अकथितं च") लक्षण से 'गां पयो दोग्धि' इत्यादि

1. ह० अकर्मत्व—।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



में 'गाम्' पद की 'कर्म' संज्ञा की सिद्धि हो जायगी। इस विषय का विस्तार अन्यत्र (लघु मञ्जूषा आदि ग्रन्थों में द्रष्टव्य) है।

**'दुह्'-आदीनां ··· इष्टसिद्धेः**—'दुह्' आदि कुछ धातुएँ ऐसी हैं जिनमें एक साथ दो दो 'व्यापारों' की प्रतीति होती है। 'गां दोग्धि पयः' इस वाक्य से जहाँ यह प्रतीति होती है कि गौ अपने से दूध को अलग करती है वहीं यह प्रतीति भी होती है कि ग्वाला गौ से दूध को अलग करवाता है। इसलिये 'दुह्' धातु का अर्थ है "दूध में होने वाले 'विभाग' रूप व्यापार के अनुकूल गोप में होने वाला 'दोहन' रूप व्यापार"। इस तरह दोनों ही 'व्यापार' 'दुह्' धातु के ही अर्थ हैं - यह एक पक्ष है।

इस पक्ष में, दोनों ही 'व्यापार' धातु के ही अर्थ हैं इसलिये, "कर्तुर् ईप्सिततमं कर्म" इस लक्षण की व्याख्यानभूत परिभाषा—'प्रकृत-धात्वर्थ-प्रधानीभूत-व्यापार-प्रयोज्य-प्रकृत-धात्वर्थफलाश्रयत्वेन उद्देश्यत्वं कर्मत्वम्'—के अनुसार प्रकृत-'दुह्'—धातु के दोनों 'व्यापारों' से उत्पाद्य 'विभाग' रूप फल के दोनों आश्रयों—'गौ' तथा 'पयस्'—की 'कर्म' संज्ञा प्राप्त हो जायगी। अतः पाणिनि का "अकथितं च" सूत्र इस पक्ष में अनावश्यक हो जाता है।

**एक-व्यापार··· बाधनार्थम्**:—परन्तु इन धातुओं के विषय में एक मत यह भी है कि इनसे केवल एक ही प्रमुख 'व्यापार' की प्रतीति होती है। जैसे—'गां दोग्धि पयः' प्रयोग में 'दुह्' धातु केवल 'गोप' के ही व्यापार को कह रहा है जिसका उत्पाद्य 'फल' है दूध में होने वाला 'विभाग'। इस पक्ष में 'गोप' के व्यापार से उत्पाद्य 'विभाग' रूप फल के आश्रय दूध की तो कर्म संज्ञा हो जायगी। पर, 'गौ' में होने वाला 'व्यापार' धातु द्वारा नहीं कहा जा रहा है इसलिये, उस 'व्यापार' से उत्पाद्य 'विभाग'-रूप 'फल' के आश्रय 'गौ' की 'कर्म' संज्ञा नहीं हो सकेगी।

इस स्थिति में यदि 'गौ' को 'अपादान' आदि 'कारकों' के द्वारा कह दिया जाय तब तो ठीक है। पर यदि वक्ता की इच्छा 'गौ' को उस रूप में कहने की नहीं है अपितु 'कर्म' कारक के रूप में ही प्रस्तुत करने की अभिलाषा है तब, "अकथितं च" सूत्र के अभाव में, 'कर्म' संज्ञा की प्राप्ति न हो कर "षष्ठी शेषे" से षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति होगी। अतः इस अवांछित षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति को रोकने के लिये "अकथितं च" सूत्र आवश्यक है।

**तत्पक्षे··· कर्मत्वसिद्धिः**—यह "अकथितं च" सूत्र 'कर्म' संज्ञा का तीसरा लक्षण है। ऊपर पहले के दो सूत्रों के विषय में विचार किया गया। यहां इस तीसरे लक्षण के के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए नागेश भट्ट ने यह कहा है कि 'अकथित' कारक वह है जिसे 'अपादान' आदि अन्य कारकों द्वारा वक्ता की कहने की इच्छा न हो तथा जो प्रमुख 'कर्म' कारक से सम्बद्ध हो। जैसे यहां दूध प्रमुख 'कर्म' संज्ञक शब्द है। उसमें सम्बद्ध कारक 'गौ' को, जब 'अपादान' आदि अन्य कारकों के रूप में न कह कर, वक्ता 'कर्म' कारक के रूप में ही कहना चाहता है, उस स्थिति में 'गौ' 'अकथित' कारक होगी। 'अपादान' आदि अन्य 'कारकों' द्वारा कथित न होने से ही 'शेष' होने के कारण 'गौ' शब्द "षष्ठी शेषे" सूत्र का विषय बन जाता है। परन्तु "अकथितं च" इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



सूत्र के विशेष विहित (अपवाद) होने के कारण इसके द्वारा "षष्ठी शेषे" का निवारण हो जाता है।

**['कर्म' कारक की परिभाषा के विषय में नैयायिकों के सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करने के पहले, पूर्वपक्ष के रूप में, किन्हीं अन्य नैयायिक विद्वानों के ही तीन पक्षों का प्रदर्शन]**

> यत्तु **तार्किकाः**—कर्मत्वं तु[1] न 'करण-व्यापार[2]वत्त्वम्'। तद्धि करण-जन्य-व्यापारवत्त्वम्। 'दात्रेण धान्यं लुनाति' इत्यादौ हस्तादि-करण-जन्य-व्यापारवति दात्रादाव् अति-व्याप्तेः। नापि 'क्रिया-जन्य-फल-शालित्वम्' तत्। 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' इत्यापत्तेः। संयोगरूपफलस्य उभय-कर्म-कर्तृ-निष्ठत्वात्। नापि 'पर-समवेतक्रिया-जन्य-फल-शालित्वम्' तत्। गमिपत्योः पूर्वस्मिन् देशे त्यजेश्च उत्तर-स्मिन् देशे कर्मत्व-प्रसङ्गात्। 'नदी वर्धते' इत्यादौ अवयवोपचयरूप-वृद्धि-क्रियायाः तीर-प्राप्तिरूप-फलाश्रये तीरे कर्मत्वापत्तेश्च।

नैयायिक जो (यह) कहते है कि-"करण' के 'व्यापार से युक्त होना' 'कर्मता" ('कर्म' संज्ञा की परिभाषा) नहीं है क्योंकि वह ('करण-व्यापारवत्ता' का अभिप्राय) है 'करण' (कारक) से उत्पाद्य 'व्यापार' से युक्त होना। (अतः) 'दात्रेण धान्यं लुनाति' इत्यादि (प्रयोगों) में हाथ आदि 'करण' से उत्पाद्य 'व्यापार' से युक्त होने वाले दात्र (हंसिया) आदि में (लक्षण की) अतिव्याप्ति होगी।

न ही वह ('कर्म' कारक का लक्षण) "क्रिया से उत्पन्न 'फल' से युक्त होना" है क्योंकि ('गम्' धातु के अर्थ) 'संयोग' रूप 'फल' के 'कर्म' तथा 'कर्ता' दोनो में ही रहने के कारण ('कर्ता' चैत्र भी 'संयोग से युक्त है अतः उसकी भी 'कर्म' संज्ञा होने के कारण) 'चैत्रः चेत्रं गच्छति' यह प्रयोग भी होने लगेगा।

"(कर्म' से) अन्य में 'समवाय' सम्बन्ध से रहने वाली क्रिया से उत्पन्न होने वाले 'फल' से युक्त होना" भी वह ('कर्म' का लक्षण) नहीं है क्योंकि 'गम्' तथा 'पत्' धातु के प्रयोग में पूर्व देश (जहाँ से 'विभाग' होता है) में तथा 'त्यज्' धातु के प्रयोग में उत्तर देश ('विभाग' के बाद जिस स्थान से कर्ता का सम्बन्ध होता है) में 'कर्मत्व' की प्राप्ति होगी। तथा 'नदी वर्धते' (नदी बढ़ती है)

१. ह० में 'तु' अनुपलब्ध।
२. ह०—व्यापार्यत्वम्।
३. ह०—फलस्याश्रये।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इत्यादि (प्रयोगों) में (नदी के) अवयवों का उपचय होना रूप 'वृद्धि क्रिया' से उत्पन्न होने वाले, तीर-प्राप्ति रूप, 'फल' के आश्रय 'तीर' में 'कर्म' संज्ञा की प्राप्ति होगी।

**कर्मत्वं ··· दात्रादाव् अतिव्याप्तेः**—यहां नैयायिकों ने पूर्वपक्ष के रूप में 'कर्म' कारक की तीन परिभाषायें प्रस्तुत की हैं। पहली है—"करण-व्यापारवत्त्वं कर्मत्वम्" अर्थात् 'करण' कारक के व्यापार से युक्त होने वाला कारक 'कर्म' कारक है। 'करण-व्यापार' का अर्थ है—'करण से उत्पन्न होने वाला व्यापार'। इस परिभाषा को न्याय-सिद्धान्त-दीपिका में "करण-व्यापार-विषय-कारणत्वं कर्मत्वम्" (न्यायकोश में उद्धृत) इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है। परन्तु इस परिभाषा को मानने से 'दात्रेण धान्यं लुनाति' इत्यादि प्रयोगों में 'दात्र' की भी 'कर्म' संज्ञा माननी होगी क्योंकि धान को काटने में हाथ 'करण' है तथा उस 'करण' अर्थात् हाथ के व्यापार से दात्र युक्त है। इस रूप में इस परिभाषा को मानने में अतिव्याप्ति दोष आता है जिसके निवारणार्थ दूसरी परिभाषा प्रस्तुत की गयी।

**नापि क्रियाजन्य ··· कर्तृनिष्ठत्वात्**—दूसरी परिभाषा है—"क्रिया-जन्य-फल-शालित्वं कर्मत्वम्", अर्थात् क्रिया से उत्पन्न फल से युक्त होने वाला कारक 'कर्म' है। परन्तु इस परिभाषा में भी अतिव्याप्ति दोष है। 'चैत्रः ग्रामं गच्छति' जैसे प्रयोगों में 'गमन' क्रिया से उत्पन्न होने वाले फल ('संयोग') से जिस प्रकार ग्राम युक्त होता है उसी प्रकार गाँव को जाने वाला चैत्र भी 'संयोग' रूप फल से युक्त होता ही है क्योंकि 'संयोग' अकेले गाँव का तो हो नहीं सकता, किसी दूसरी वस्तु या व्यक्ति के साथ ही गाँव का 'संयोग' संभव है। इसलिए परिभाषा के अनुसार चैत्र की भी 'कर्म' संज्ञा प्राप्त होगी और तब 'चैत्रः ग्रामं गच्छति' के समान 'चैत्रः चैत्रं गच्छति' जैसे प्रयोग भी होने लगेंगे।

**नापि परसमवेत ··· कर्मत्वापत्तेश्च**—तीसरी परिभाषा है—"परसमवेत-क्रिया-जन्य-फल-शालित्वं कर्मत्वम्" अर्थात् 'कर्म' से अन्य कारक में 'समवाय'-सम्बन्ध से रहने वाली क्रिया से उत्पन्न 'फल' से युक्त होने वाला कारक 'कर्म' है। इस परिभाषा से पूर्वोक्त 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' जैसे प्रयोगों का निराकरण हो जाएगा।

परन्तु इस परिभाषा में भी एक अन्य अतिव्याप्ति दोष है। 'प्रयागात् चैत्रः गच्छति' (प्रयाग से चैत्र जाता है) तथा 'वृक्षात् पत्रं पतति' (पेड़ से पत्ता गिरता है) जैसे 'गम्' तथा 'पत्' धातु के प्रयोगों में, जिस पूर्व स्थान से कर्ता पृथक् होता है उन, 'प्रयाग' तथा 'वृक्ष' जैसे शब्दों में भी 'कर्म' संज्ञा की प्राप्ति होगी, क्योंकि 'गमन' क्रिया या 'पतन' क्रिया 'कर्म' से भिन्न 'कारक' में 'समवाय' सम्बन्ध से रहती है तथा उनसे उत्पन्न 'फल' ('विभाग') से प्रयाग तथा वृक्ष युक्त रहते ही हैं। इसी प्रकार 'वृक्षं त्यजति वायसः' जैसे 'त्यज्' धातु के प्रयोगों में उत्तरदेश, अर्थात् वृक्ष को त्यागकर कौआ जहां जाता है उन, आकाश आदि की 'कर्म' संज्ञा प्राप्त होगी, क्योंकि 'परसमवेत' अर्थात् कौए आदि 'कर्म' कारक से भिन्न कारक में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली, 'त्यजन' क्रिया से उत्पन्न 'संयोग' रूप फल का आश्रय आकाश आदि होते ही हैं। 'नदी वर्धते' जैसे प्रयोगों में भी, जिनमें अवयव अर्थात् लहर आदि, का बढ़नारूप क्रिया,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'परसमवेत' है, अर्थात् 'नदी' जो 'कर्म' कारक नहीं है, उसमें 'समवाय' सम्बन्ध से विद्यमान है। उस क्रिया से उत्पन्न तीर-प्राप्ति रूप 'फल' का आश्रय तीर है। इसलिए तीर की 'कर्म' संज्ञा प्राप्त होगी। अतः यह तीसरी परिभाषा भी मान्य नहीं है।

**[इस प्रसंग में नैयायिकों की सिद्धान्तभूत परिभाषा]**

अत्र ब्रूमः—'धात्वर्थतावच्छेदक-फल-शालित्वं कर्मत्वम्'। तादृशफलं च 'गमेः' संयोगः, 'त्यजेः' विभागः, 'पतेः' अधोदेश-संयोगः। अधोदेशरूप-कर्मणो धात्वर्थ-निविष्टत्वाद् अकर्मकत्वेन[1] 'पर्णं वृक्षाद् भूमौ पतति' इति। संयोगमात्र-फल-पक्षे 'वृक्षाद् भूमौ पतति' इति[2]। ननु चतुर्थलक्षणेपि 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' इत्यापत्तिः। तत्र हि धात्वर्थतावच्छेदक-फलं संयोग इति चेत् न। लक्षणे 'व्यापारानधिकरणत्वे सति' इति विशेषण-दानाद्—इत्याहुः।

इस प्रसंग में (हम नैयायिक) कहते हैं कि "धात्वर्थता के आश्रय (अर्थात् धातु के अर्थ)—'फल'-से युक्त होना" 'कर्मत्व' है। और उस प्रकार का (धात्वर्थ रूप) 'फल' 'गम्' (धातु) का 'संयोग,' 'त्यज्' (धातु) का 'विभाग', तथा 'पत्' (धातु) का निम्न स्थान से 'संयोग' है। (इस) 'निम्न स्थान' रूप 'कर्म' के 'पत्' धातु के अर्थ में अन्तर्भूत होने के कारण, (धातु के) 'अकर्मक' होने से, 'पर्णं वृक्षाद् भूमौ पतति' यह प्रयोग होता है। '(पत्' धातु का) 'संयोग' मात्र 'फल' है' इस पक्ष में '(पर्णं) वृक्षाद् भूमिं पतति' यह प्रयोग होगा।

यदि यह कहा जाय कि इस चतुर्थ लक्षण में भी 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' यह (अनिष्ट) प्रयोग होने लगेगा क्योंकि वहां (चैत्र में) धात्वर्थता का आश्रय-रूप 'फल' 'संयोग' है तो, (उपर्युक्त लक्षण में) 'व्यापारानधिकरणत्वे सति' ('व्यापार' का अधिकरण न होने पर) इस विशेषण को जोड़ देने से, वह (दोष) नहीं है।

उपर्युक्त तीनों परिभाषाओं में दोष आने के कारण, नैयायिकों की दृष्टि से ही, यहाँ चौथी एवं सिद्धान्तभूत परिभाषा प्रस्तुत की गयी—"धात्वर्थतावच्छेदकफल-शालित्वं कर्मत्वम्"। 'धातु' के अर्थ में रहने वाली 'जाति' है ('धात्वर्थता') उसका अवच्छेदक

१. ह०—अकर्मकत्वेऽपि। वमि०—अकर्मकत्वे तु।
२. ह० में 'इति' अनुपलब्ध।
३. ह०—तृतीय।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(आश्रय) है धात्वर्थ रूप व्यक्ति। अतः 'धात्वर्थतावच्छेदक' का अभिप्राय है 'धात्वर्थ'। इसलिये इस परिभाषा का अभिप्राय यह है कि धात्वर्थरूप जो 'फल' उसका आश्रयभूत जो 'कारक' वह 'कर्म' है।

**तावृशफलं·····संयोगः**—ऊपर तीसरी परिभाषा में जो 'अतिव्याप्ति' दोष दिखाये गये हैं वे इस चौथी परिभाषा में नहीं उपस्थित होते, क्योंकि 'प्रयागात् चैत्रः गच्छति' तथा 'वृक्षात् पत्र पतति' इत्यादि प्रयोगों में 'प्रयाग' तथा 'वृक्ष' आदि पूर्व स्थान एक ऐसे, 'विभाग'रूप, 'फल' के आश्रय हैं जो 'गम्' तथा 'पत्' धातुओं का अर्थ नहीं है। 'वृक्षं त्यजति वायसः' इत्यादि प्रयोगों में जिस 'संयोग' रूप 'फल' का आश्रय उत्तर स्थान आकाश आदि हैं वह 'संयोग' त्यज् धातु का अर्थ नहीं है। इसीलिये इस परिभाषा को स्पष्ट करते हुए धात्वर्थरूप 'फल' का निर्देश किया गया। वह धात्वर्थरूप 'फल' है' गम्' धातु का 'संयोग', 'त्यज्' धातु का 'विभाग' तथा 'पत्' धातु का निम्न स्थान से 'संयोग'। इन 'फलों' की दृष्टि से ऊपर के 'अतिव्याप्ति' दोष का निराकरण हो जाता है।

**अधोदेश·····पतति इति** :—यहां यह प्रश्न हो सकता है कि 'पत्' धातु के प्रयोग में 'धात्वर्थ', अर्थात् 'संयोग'रूप 'फल', का आश्रय होने के कारण निम्न देश अर्थात् 'भूमि' आदि की 'कर्म' संज्ञा होनी चाहिये। तथा 'पर्ण वृक्षाद् भूमौ पतति' इस प्रयोग के स्थान पर 'पर्ण वृक्षाद् भूमिं पतति' यह प्रयोग होना चाहिये। इसका उत्तर यहां यह दिया गया कि 'पत्' धातु का 'धात्वर्थ' अर्थात् 'फल', केवल 'संयोग' न होकर, निम्नदेश से 'संयोग' है। इसलिये, 'कर्म' धात्वर्थ में ही सन्निविष्ट है। इस प्रकार, धात्वर्थ में ही सन्निविष्ट होने के कारण, पत्' धातु को यहां 'अकर्मक' मानना होगा। धात्वर्थ में ही 'कर्म' के अन्तर्भूत होने पर धातु को 'अकर्मक' मानने की व्यवस्था निम्न कारिका में मिलती है :—

**धातोर् अर्थान्तरे वृत्तेर् धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्।**
**प्रसिद्धेर् अविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥**

(वाप० ३.७.८८)

इस कारिका का 'धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्' अंश प्रस्तुत प्रसङ्ग की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। भाष्यकार पतंजलि ने भी इस व्यवस्था का सङ्केत निम्न शब्दों में किया है—"अभिहितं कर्म अन्तर्भूतं धात्वर्थः सम्पन्नः। न चेदानीम् अन्यत् कर्म अस्ति येन सकर्मकः स्यात्" (महा० ३.१.८)

**'संयोग'-मात्र-फलपक्षे 'वृक्षाद् भूमिं पतति' इति** :—परन्तु एक दूसरा पक्ष ऐसा भी है जिस में 'पत्' धातु को 'अकर्मक' न मानकर 'सकर्मक' माना जाता है। इस पक्ष में 'पत्' का धात्वर्थ रूप 'फल' निम्न देश से 'संयोग' न होकर केवल 'संयोग' है। सम्भवतः इसी पक्ष को मानते हुए सूत्रकार पाणिनि ने, "द्वितीयाश्रितातीतपतित···आपन्नैः" (पा० २.१.२४) सूत्र की रचना करके, द्वितीयाविभक्त्यन्त 'भूमि' इत्यादि शब्दों के साथ, 'पत्' धातु से निष्पन्न 'पतित' शब्द के समास का विधान किया। इसका अभिप्राय यह है कि पाणिनि यह मानते हैं 'भूमिं पतितः' इत्यादि प्रयोग साधु हैं। इस पक्ष की दृष्टि से 'पत्' धातु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



को 'सकर्मक' मानने पर 'पर्ण वृक्षाद् भूमि पतति' प्रयोग ही साधु होगा न कि 'पर्ण वृक्षाद् भूमौ पतति'।

**ननु''' इत्याहु** :—इस चतुर्थ परिभाषा में "व्यापारानधिकरणत्वे सति" इतना विशेषण और जोड़ा जाता है। अतः इस परिभाषा का स्वरूप है "व्यापार' का अधिकरण न होते हुए जो धात्वर्थ—('फल') से युक्त हो वह 'कर्म कारक' है।" इस विशेषण के जोड़ देने के कारण 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' जैसे अनिष्ट प्रयोगों का निवारण हो जायगा, क्योंकि वहाँ स्वयं चैत्र ही गमन 'व्यापार' का अधिकरण है। इस प्रसङ्ग में लघुमंजूषा में 'पर-समवेत-क्रिया-जन्य-धात्वर्थ-फलाश्रयत्वं कर्मत्वम्। 'परसमवेत' इति विशेषणात् 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' इति न प्रयोगः" (पृ १३२२) ये वाक्य मिलते हैं। 'परसमवेत' इस विशेषण के द्वारा भी उसी प्रयोजन की सिद्धि होती है जिसकी सिद्धि 'व्यापारानधिकरणात्व' विशेषण द्वारा यहां की गयी क्योंकि 'परसमवेत' का अभिप्राय है 'कर्म' से भिन्न 'कारक' में 'समवाय' सम्बन्ध से रहने वाली (क्रिया)। क्रिया 'चैत्र' रूप 'कर्म' में ही 'समवाय' सम्बन्ध से रहती है इसलिये 'परसमवेत' विशेषण से भी 'चैत्रश्चैत्रं गच्छति' प्रयोग का निवारण हो जाता है।

**[नैयायिकों द्वारा 'कर्म कारक' की परिभाषा के रूप में स्वीकृत सिद्धान्तभूत उपर्युक्त चतुर्थ मत का खण्डन]—**

> तन्न। 'काशीं गच्छन् पथि मृतः' इत्यादौ काश्याः,[1] 'काशीं गच्छति न प्रयागम्' इत्यादौ प्रयागस्य, 'ग्रामं न गच्छति' इत्यादौ ग्रामस्य च तादृश-फल-शालित्वाभावाद् एतस्य लक्षणस्य अत्र सर्वत्र अतिव्याप्तेः[2]।

वह (नैयायिकों का कथन) उचित नहीं है क्योंकि 'काशीं गच्छन् पथि-मृतः' (काशी जाते हुए रास्ते में मर गया) इत्यादि (प्रयोगों) में 'काशी' में, 'काशीं गच्छति न प्रयागम्' (काशी को जाता है प्रयाग को नहीं) इत्यादि (प्रयोगों) में 'प्रयाग' में तथा 'ग्रामं न गच्छति' (गांव को नहीं जाता) इत्यादि (प्रयोगों) में 'ग्राम' में, उस प्रकार के (धात्वर्थरूप) 'फल' की आश्रयता के न होने के कारण इस लक्षण की यहाँ सर्वत्र (उपर्युक्त प्रयोगों तथा तत्सदृश प्रयोगों में) 'अव्याप्ति' है।

**व्याख्या** :—नयायिकों की इस चतुर्थ परिभाषा को भी दोषरहित इसलिये नहीं माना जा सकता कि 'काशीं' गच्छन् पथि मृतः', 'काशीं गच्छति न प्रयागम्' तथा 'ग्रामं न गच्छति' इन प्रयोगों में क्रमशः 'काशी', 'प्रयाग' तथा 'ग्राम' की 'कर्म' संज्ञा, इस लक्षण के द्वारा, नहीं हो सकती क्योंकि ये सभी धात्वर्थभूत 'फल' अर्थात् 'संयोग' के

---

१. ह० तथा वंमि० में अनुपलब्ध।

२. ह० में अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



आश्रय नहीं हैं। इस 'अव्याप्ति' दोष के कारण इस लक्षण का भी खण्डन कर दिया गया। वैयाकरण-सिद्धान्त-लघु-मंजूषा में "अनया रीत्या व्यापार-व्यधिकरण-धात्वर्थ-फलाश्रयत्वं कर्मत्वम्" (पृ० १३२५) इन शब्दों के द्वारा जिस बात का सङ्केत दिया गया था उसे यहाँ सुस्पष्ट कर दिया गया है।

**['वृक्षं त्यजति खगः' प्रयोग के विषय में विचार]**

ननु 'वृक्षं त्यजति खगः' इत्यत्र 'वृक्षस्य', विभागरूप-फलाश्रयत्वेन, अपादानत्वम् अस्तु इति चेत् ? न। अत्र हि 'विभागः' प्रकृत-धात्वर्थः। यत्र च 'विभागः' न प्रकृत-धात्वर्थस् तद्विभागाश्रयस्यैव अपादानत्वम्। यथा 'वृक्षात् पतति' इत्यादौ। यत्र च प्रकृत-धात्वर्थः 'विभागः' तत्र उभयप्राप्तौ "अपादानम् उत्तराणि कारकाणि[1] बाधन्ते" इति भाष्य[2]-युक्तेः कर्मत्वम्। अनुक्ते कर्मणि षष्ठीद्वितीये—'भारतस्य श्रवणम्' 'भारतं श्रृणोति' इति यथा।

'वृक्षं त्यजति खगः' (पक्षी वृक्ष को छोड़ता है) इस (प्रयोग) में 'वृक्ष' के 'विभाग' रूप 'फल' का आश्रय होने के कारण, 'अपादान' संज्ञा हो यह कहा जाय तो वह उचित नहीं है क्योंकि यहां 'विभाग' उच्चरित धातु का अर्थ है। जो 'विभाग' उच्चरित धातु का अर्थ न हो उस 'विभाग' (रूप 'फल') के आश्रय की ही 'अपादान' संज्ञा होती है। जैसे—'वृक्षात् पतति' (पेड़ से गिरता है) इत्यादि (प्रयोगों) में। जहां 'विभाग' उच्चरित धातु का अर्थ है वहाँ दोनों ('कर्म' तथा 'अपादान' कारकों) की प्राप्ति होने पर "अपादान' कारक को बाद में विहित कारक बाँध लेते हैं" इस भाष्य की युक्ति से 'कर्म' संज्ञा होती है। 'कर्म' के 'अनभिहित' रहने पर षष्ठी तथा 'द्वितीया' (दोनों विभक्तियां प्रयुक्त) होती हैं। जैसे—'भारतस्य श्रवणम्' (महाभारत का सुनना) तथा 'भारतं श्रृणोति' (महाभारत को सुनता है)।

'विभाग का आश्रय अपादान कारक होता है' केवल इतना ही 'अपादान' कारक की परिभाषा मान कर यहाँ यह प्रश्न किया गया है कि 'वृक्षं त्यजति खगः' इस प्रयोग में वृक्ष की 'अपादान' संज्ञा होनी चाहिये। प्रश्न के उत्तर

१. ह० तथा वं०मि० में 'कारकाणि' अनुपलब्ध।
२. महा० १.४.१ तुलना करो—'अपादानसंज्ञाम् उत्तराणि कारकाणि बाधन्ते'।
३. ह० में 'भारतं श्रृणोति' अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



में यह कहा गया कि 'अपादान' संज्ञा की परिभाषा केवल उतनी ही नहीं है जितना पूर्वपक्षी समझ रहा है। 'अपादान' संज्ञा की सिद्धान्तभूत परिभाषा है—"प्रस्तुत या उच्चरित धातु का जो वाच्य न हो ऐसे 'विभाग' का आश्रय 'अपादान'-संज्ञक होता है"। इस परिभाषा को मानने पर 'वृक्षं त्यजति खगः' इस प्रयोग में, 'विभाग' 'त्यज्' धातु का ही वाच्य अर्थ है इसलिये, 'विभाग' के आश्रय 'वृक्ष' की 'अपादान' संज्ञा नहीं प्राप्त होती।

'वृक्षात् पतति' इत्यादि 'अपादान' कारक के उदाहरणों में 'विभाग' 'पत्' धातु का वाच्यार्थ नहीं है इसलिये वहाँ 'विभाग' रूप 'फल' के आश्रयभूत वृक्ष आदि की 'अपादान' संज्ञा हो जाती है।

जहाँ 'विभाग' उच्चरित धातु का वाच्यार्थ है वहाँ, 'वृक्ष त्यजति' जैसे प्रयोगों में, 'अपादान' संज्ञा तथा 'कर्म' संज्ञा दोनों की प्राप्ति होती है। परन्तु, 'कर्म' संज्ञा का विधान अष्टाध्यायी के सूत्र-क्रम में, 'अपादान' संज्ञा के विधायक सूत्रों के पश्चात् किया गया है इसलिये, बाद में विहित होने तथा इस रूप में 'अपादान' का 'अपवाद' होने के कारण 'कर्म' संज्ञा के द्वारा 'अपादान' संज्ञा का बाधन हो जाता है। भाष्यकार पतंजलि ने इस प्रसङ्ग में एक विशेष न्याय का उल्लेख किया है—"अपादानम् उत्तराणि कारकाणि बाधन्ते" अर्थात् 'अपादान' कारक के बाद में विहित कारक 'अपादान' के अपवाद होते हैं, वे अपादान का बाध कर देते हैं।

**अनुक्ते कर्मणि·····यथा :**—उन प्रयोगों में जहाँ 'कर्म' कथित नहीं होता वहाँ "कर्तुकर्मणोः कृतिः" (पा० २.३.६५) सूत्र के अनुसार षष्ठी विभक्ति तथा "कर्मणि द्वितीया" (पा० २.३.२) सूत्र के अनुसार द्वितीया दोनों विभक्तियों का प्रयोग होता है। पहला सूत्र 'कृत्' प्रत्ययान्त शब्दों के द्वारा 'कर्म' का कथन न होने पर 'कर्म' के साथ षष्ठी विभक्ति के प्रयोग का विधान करता है। जैसे—'भारतस्य श्रवणम्'। यहाँ 'ल्युट्' प्रत्ययान्त 'श्रवणम्' शब्द के द्वारा 'कर्म' (भारत) 'अकथित' है। दूसरा सूत्र सामान्यतया 'तिङ्' प्रत्ययों के द्वारा 'कर्म' के कथित न होने पर 'कर्म' में द्वितीया विभक्ति का विधान करता है। जैसे—'भारतं शृणोति'। ये दोनों ही सूत्र 'अनभिहिते' (पा० २.३.१) सूत्र के अधिकार में हैं।

**['सकर्मक' तथा 'अकर्मक' धातुओं की परिभाषाओं पर एक दृष्टि]**

'सकर्मकत्वं' च 'फल-व्यधिकरण-व्यापार-वाचकत्वम्'। 'फल-समानाधिकरण-व्यापार-वाचकत्वम्' 'अकर्मकत्वम्'। 'अद्य देवदत्तो भवति' उत्पद्यते इत्यर्थः। अत्र 'उत्पत्ति'-रूपं 'फलं' बहिर्निस्सरणं च 'व्यापारः' देवदत्त-निष्ठ' एव। 'व्यापारमात्र-वाचकत्वम्' वा 'अकर्मकत्वम्'। 'अस्ति', 'भवति', 'विद्यते', 'वर्तते' इत्यादि-धातुषु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'फलस्य'[1] सर्वैर्दुर्ज्ञेयत्वात् । 'सत्ता' हि स्थितिरूपः 'व्यापार'-विशेषः । 'देवदत्तोऽस्ति' इत्यादौ 'देवदत्त-कतृका सत्ता' इत्येव बोधाच्च । 'फल-व्यापारयोर् धातुर् वाचकः' इति तु बाहुल्याभिप्रायेण इति दिक् ।

'सकर्मकता' (की परिभाषा) है "'फल' के अधिकरण से भिन्न अधिकरण वाले 'व्यापार' का वाचक होना"। तथा "फल के अधिकरण से अभिन्न अधिकरण वाले व्यापार का वाचक होना अकर्मकता (की परिभाषा) है"। 'अद्य देवदत्तो भवति' (आज देवदत्त उत्पन्न होता है) इस (प्रयोग) में ('भवति' का) 'उत्पन्न होता है' यह अर्थ है। यहाँ 'उत्पत्ति' रूप 'फल' तथा (माता के) गर्भ से बाहर निकलना रूप 'व्यापार' (दोनों ही) देवदत्त में ही हैं। 'अथवा 'व्यापार'-मात्र का वाचक होना ही 'अकर्मकता' (की परिभाषा) है। 'अस्ति', 'भवति', 'विद्यते', 'वर्तते' इत्यादि धातुओं में 'फल' का ज्ञान सबके लिये दुर्विज्ञेय होता है क्योंकि सत्ता तो स्थितिरूप 'व्यापार'-विशेष है ('फल' नहीं)। तथा 'देवदत्तोऽस्ति' (देवदत्त है) इत्यादि (प्रयोगों) में "देवदत्त है कर्ता जिसमें ऐसी सत्ता" इतना ही बोध होता है। "धातु 'फल' तथा 'व्यापार' दोनों का वाचक होता है" यह (बात) धातुओं की प्रायिक स्थिति की दृष्टि से कही गयी है।

यहाँ 'अकर्मकता' की दो परिभाषाएँ दी गयी हैं। एक है—"फल-समानाधिकरण-वाचकत्वम् अकर्मकत्वम्" अर्थात् 'फल' के साथ एक ही 'अधिकरण' में रहने वाले व्यापार का वाचक धातु 'अकर्मक' है"। इस दृष्टि से 'देवदत्तो भवति' उदाहरण दिया गया है। यहाँ 'भू' धातु का अर्थ है 'उत्पन्न होना'। यहाँ 'उत्पत्ति' रूप 'फल' तथा माता के पेट से बाहर निकलना रूप 'व्यापार' दोनों एक अभिन्न देवदत्तरूप अधिकरण में हैं। परन्तु कुछ ऐसी भी धातुएँ हैं जिनमें बहुत सूक्ष्म विचार करने पर भी 'फल' की प्रतीति नहीं होती। इन धातुओं की दृष्टि से 'अकर्मकता' की दूसरी परिभाषा दी गयी—"व्यापार-मात्र-वाचकत्वम् अकर्मकत्वम्" अर्थात् वह धातु 'अकर्मक' होती है जो केवल 'व्यापार' को ही कहती है, 'फल' को नहीं कहती"। इस परिभाषा में वे सभी धातुएँ आ जाती हैं जिनका अर्थ 'सत्ता' है। 'सत्ता' का अभिप्राय है होना-रूप 'व्यापार'। इन धातुओं में फल की प्रतीति किसी को भी किसी रूप में नहीं होती, केवल 'सत्ता' का ही ज्ञान होता है। 'सत्ता' को किस प्रकार 'व्यापार' माना जाता है इसका प्रतिपादन ऊपर 'धात्वर्थ-निरूपण' में हो चुका है।

एक प्रश्न यह है कि जब 'अस्' आदि कुछ धातुओं का अर्थ केवल 'व्यपार' ही है तब वैयाकरणों ने "फल-व्यापारयोर् धातुः" अर्थात् धातु 'फल' तथा 'व्यापार' दोनों का वाचक है—इस प्रकार की बात क्यों कही ?

---

१. ह०—फलस्यैव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस का उत्तर यह है कि अधिकांश धातुएँ ऐसी हैं जो 'फल' तथा 'व्यापार' दोनों को ही कहती हैं। इस प्रायिकता या बहुलता के कारण ही धातु को 'फल' तथा 'व्यापार' दोनों का वाचक कहा गया है। उस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि सभी धातुएँ 'व्यापार' के साथ साथ 'फल' को भी कहती हैं।

**['करण' कारक का लक्षण एवं उसकी विवेचना]**

'स्वनिष्ठ-व्यापाराव्यवधानेन फल-निष्पादकत्वं' 'करणत्वम्'। इदम् एव साधकतमत्वम्।

**क्रियायाः परिनिष्पत्तिर् यद् व्यापाराद् अनन्तरम्।**
**विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत् तदा स्मृतम्॥**
(वाप० ३.७.९०)

इति हर्युक्तेः। 'क्रियायाः'इत्यस्य फलात्मिकाया इत्यर्थः। 'रामेण बाणेन हतो वाली' इत्यादौ धनुराकर्षणादेर् व्यापारस्य बाण-व्यापारात् पूर्वम् अपि कर्त्तरि सत्त्वात्। "रामाभिन्न-कर्तृ-निष्ठ-व्यापार-प्रयोज्यो यो[1]बाण-निष्ठो व्यापारस् तज्जन्यं यत् प्राण-वियोगरूपं फलं तदाश्रयो वाली" इति बोधाच्च। 'रामो बाणेन वालिनं[2] हन्ति' इत्यादौ कर्तृप्रत्यये "बाण-व्यापार-जन्यो यो[3] वालि-निष्ठः प्राण[4]-वियोगस् तदनुकूलो राम-कर्तृको व्यापारः" इति बोधः, अर्थाद् 'राम-व्यापार-प्रयोज्यो बाण-व्यापारः' इति पार्ष्णिको बोधः। कर्मादि-पञ्च-कारकाणां करणत्व-वारणाय 'व्यापाराव्यवधानेन' इति दिक्।

"अपने में स्थित 'व्यापार' का, व्यवधान-रहित रूप से, 'फल' का उत्पादक होना" 'करणता' है। यही (पाणिनि के "साधकतमं करणम्" पा० १.४.४२ सूत्र में) 'साधकतमता' है। क्योंकि भर्तृहरि ने कहा है :—

---

१. ह० तथा वंमि में 'यो' अनुपलब्ध।
२. वंमि० में अनुपलब्ध।
३. ह०—इत्यादौ च।
४. ह० में अनुपलब्ध।
५. नि० तथा काप्रशु०—प्राणि।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



"जब जहाँ जिस ('कारक') के 'व्यापार' के अनन्तर (तुरन्त पश्चात्) क्रिया ('फल' रूप क्रिया) का परिपूर्ण होना (वक्ता द्वारा) विवक्षित होता है तब (वहाँ) उसको 'करण' (कारक) कहा गया है"।

(यहाँ कारिका में) 'क्रियायाः' इस (पद) का अभिप्राय है 'फल' रूप क्रिया क्योंकि 'रामेण बाणेन हतो वाली' (राम के द्वारा, बाण से वाली मारा गया) इत्यादि (प्रयोगों) में धनुष का खींचना आदि 'व्यापार', बाण के (शीघ्र गति तथा हनन आदि) 'व्यापार' से पहले भी, 'कर्त्ता' राम में रहता है। तथा (इस वाक्य से) "राम से अभिन्न 'कर्ता' में रहने वाले 'व्यापार' से उत्पाद्य, जो बाण में रहने वाला, 'व्यापार' उससे उत्पन्न जो प्राण-वियोग रूप 'फल' उसका आश्रय वाली" इस प्रकार का ज्ञान होता है।

'रामो बाणेन वालिनं हन्ति' इत्यादि कर्तृ-वाच्य में "बाण के 'व्यापार' से उत्पाद्य जो वाली में रहने वाला प्राण-वियोग उसके अनुकूल राम रूप 'कर्त्ता' का 'व्यापार" ऐसा ज्ञान होता है, अर्थात्—'राम के 'व्यापार' से उत्पाद्य जो बाण का 'व्यापार" यह ज्ञान बाद में होता है।

'कर्ता' आदि पाँच 'कारकों' में 'करणत्व' के निवारणार्थ "व्यापार' की, व्यवधान-रहित रूप से( फलोत्पादकता)", यह (अंश परिभाषा में रखा गया) है।

**स्व-निष्ठ-व्यापारा**..... **साधकतमत्वम्** :—यहाँ 'करण' कारक की परिभाषा यह दी गयी है कि "जिस 'कारक' का 'व्यापार' तत्काल, बिना व्यवधान के, क्रिया के 'फल' को उत्पन्न कर दे वह 'करण' कारक है।" जैसे 'दण्डेन घटम् करोति' (दण्ड से घड़ा बनाता है) इस प्रयोग में दण्ड 'करण' कारक है क्योंकि दण्ड में होने वाले 'व्यापार' के तुरन्त पश्चात् घटोत्पत्तिरूप 'फल' उत्पन्न होता है।

इस लक्षण का जो आशय है वही पाणिनि के "साधकतमं करणम्" सूत्र में, जिसमें सूत्रकार ने 'करण' कारक की परिभाषा दी है, 'साधकतमम्' पद का भी अभिप्राय है। 'साधकतमम्' में जो 'तमप्' प्रत्यय है उसका अर्थ है प्रकर्ष। 'कारक' का, व्यवधान रहित रूप से, 'फल' के उत्पादक 'व्यापार' से युक्त होना ही उसका प्रकर्ष है। यह प्रकर्षता या साधकतमता अन्य कारकों की अपेक्षा ही द्रष्टव्य है, किसी अन्य 'करण' कारक की अपेक्षा नहीं।

**रामो बाणेन**...**इति पार्ष्णिको बोधः**—नागेश ने ऊपर भर्तृहरि की जिस कारिका को उद्धृत किया है उसमें 'क्रिया' पद से 'फल' अर्थ अभिप्रेत है, 'व्यापार' या 'क्रिया' नहीं—इस बात को स्पष्ट करने के लिये नागेश ने यहाँ 'रामेण बाणेन हतो बाली' यह उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस उदाहरण में 'करण' जो बाण है उसके शीघ्र जाना तथा बाली को मारना आदि, 'व्यापार' के पश्चात् 'फल' अर्थात् बालि-बध रूप कार्य की निष्पत्ति होती है। 'कर्त्ता' जो राम उसका, धनुष खींचना आदि, 'व्यापार' तो उससे पहले ही हो चुका होता है। इसलिये यहाँ राम को 'करण' न मान कर बाण को 'करण' माना गया क्योंकि राम के 'व्यापार' तथा 'फल' की निष्पत्ति के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



बीच में बाण के 'व्यापार' का व्यवधान है। परन्तु बाण के 'व्यापार' तथा 'फल' की निष्पत्ति के बीच कोई किसी प्रकार का व्यवधान नहीं है।

कृत्-वाच्य के 'रामो बाणेन वालिनं हन्ति' इत्यादि प्रयोगों में "बाण के 'व्यापार' से उत्पन्न होने वाला जो, वालि के प्राणों का वियोगरूप, 'फल' उसके अनुकुल राम 'कर्त्ता' का 'व्यापार" इस प्रकार का बोध होता है। यहाँ पहले—"बाण का 'व्यापार' प्राण-वियोग रूप 'फल' का उत्पादक है" यह बोध होता है उसके बाद कि "बाण का 'व्यापार' 'कर्त्ता' राम के 'व्यापार से उत्पाद्य है" यह बोध होता है।

कर्म-वाच्य के 'रामेण बाणेन हतो वाली' प्रयोग में भी "बाणनिष्ठ व्यापार से उत्पन्न होने वाला जो, प्राण-वियोग रूप, 'फल' उसका आश्रय वाली है" यह बोध पहले होता है तथा "बाण-निष्ठ' व्यापार' 'कर्ता' राम के 'व्यापार' से उत्पाद्य है" यह बोध बाद में होता है। बाद में होने के कारण ही इस अन्वय अथवा बोध को 'पार्श्विक' कहा जाता है (द्र० पूर्व पृष्ठ १८३)।

['सम्प्रदान' कारक की परिभाषा]

'क्रियामात्र-कर्म-सम्बन्धाय क्रियायाम् उद्देश्यं यत् कारकं तत्त्वं सम्प्रदानत्वम्'। यथा—'ब्राह्मणाय गां ददाति' इत्यादौ दान-क्रिया-कर्मीभूत-गो-सम्बन्धाय ब्राह्मणो दान-क्रियोद्देश्यः। गो-ब्राह्मणयोः स्वस्वाभिभावः सम्बन्धः। 'चैत्रो मैत्राय वार्ताः[1] कथयति' इत्यत्र मैत्रवार्तयोर् ज्ञेयज्ञातृभावः सम्बन्धश्च।

क्रियामात्र के 'कर्म' के साथ सम्बन्ध करने के लिये क्रिया में जो उद्देश्य (-भूत) 'कारक' उसका भाव 'सम्प्रदानता' है। जैसे—'ब्राह्मणाय गां ददाति' (ब्राह्मण के लिये गाय देता है) इत्यादि में दानरूप क्रिया के 'कर्म' गौ के साथ सम्बन्ध करने के लिये ब्राह्मण दान क्रिया का उद्देश्य है। गौ तथा ब्राह्मण में 'स्व-स्वाभि-भाव' सम्बन्ध है। 'चैत्रो मैत्राय वार्ताः कथयति' (चैत्र मैत्र के लिये बातें कहता है) यहां मैत्र (उद्देश्य) तथा वार्ता ('कर्म') में 'ज्ञेय-ज्ञातृ-भाव' सम्बन्ध है।

'सम्प्रदान' कारक की इस परिभाषा में 'क्रियामात्र' पद का अभिप्राय है सामान्य-तया सभी क्रियायें। अतः जिस किसी भी क्रिया के 'कर्म' के साथ सम्बन्ध करने के लिये जिस 'कारक' को क्रिया के उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत किया जायगा वह 'सम्प्रदान' कारक होगा। ऐसा कहना इसलिये आवश्यक था कि कुछ प्राचीन व्याख्याकार केवल दान क्रिया के 'कर्म' के साथ सम्बन्ध करने के लिये दान क्रिया के उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत किये गये 'कारक' को 'सम्प्रदान' कारक मानते थे। इसीलिये यहाँ 'ब्राह्मणाय गां ददाति'

१. द्र०—वार्ता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस उदाहरण के साथ एक दूसरा 'चैत्रो मैत्राय वार्ताः कथयति' यह उदाहरण भी दिया गया, जिसमें 'दान' क्रिया न होकर 'कथन' क्रिया है। इसके 'कर्म' वार्ता के साथ सम्बन्ध करने के लिये 'कथन' क्रिया उद्देश्य के रूप में मैत्र को प्रस्तुत किया गया।

[इस प्रसंग में वृत्तिकारों का भिन्न विचार]

यत्तु **वृत्तिकाराः**—"सम्यक् प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्' इत्यन्वर्थ-संज्ञेयम्। तथा च गो-निष्ठ-स्व-स्वत्व-निवृत्ति-समानाधिकरण - पर – स्वत्वोत्पत्त्यनुकूल—व्यापाररूप—क्रियोद्देश्यस्य ब्राह्मणादेर् एव सम्प्रदानत्वम्। पुनर् ग्रहणाय रजकस्य वस्त्रदाने 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' इति सम्बन्धसामान्ये षष्ठ्येव"—इत्याहुः[2]।

वृत्तिकार जो (यह) कहते हैं कि—"जिस के लिये अच्छी तरह दिया जाय है वह 'सम्प्रदान' है, इस रूप में यह 'सम्प्रदान' अन्वर्थ संज्ञा है। इस तरह गाय में रहने वाले अपने अधिकार के त्याग के साथ, समान-अधिकरण वाले, दूसरे के अधिकार की उत्पत्ति के अनुकूल 'व्यापार' रूप (दान) क्रिया के उद्देश्यभूत ब्राह्मण आदि की ही 'सम्प्रदान' संज्ञा है। (इसीलिये) पुनः ले लेने के लिये धोबी को वस्त्र देते समय 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' यहाँ (रजकः की 'सम्प्रदान' संज्ञा न होने के कारण उसके साथ) सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी (विभक्ति) हुई है"—

'सम्प्रदानकारक' की परिभाषा के प्रसंग में यहाँ नागेश ने कुछ प्राचीन वृत्तिकारों के मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। इन वृत्तियों में आज केवल काशिका वृत्ति ही उपलब्ध है। काशिकाकार ने "कर्मणा यम् अभिप्रैति स सम्प्रदानम्" (पा. १.४.३२) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए केवल इतना ही कहा है कि "अन्वर्थ-संज्ञा-विज्ञानात् ददाति-कर्मणा इति विज्ञायते", अर्थात् 'सम्प्रदान' शब्द के अन्वर्थसंज्ञक होने के कारण, पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र में विद्यमान, 'कर्मणा' पद का अभिप्राय है केवल 'दा' धातु का 'कर्म' और वह भी ऐसी 'दा' धातु जिसका प्रयोग अच्छी तरह, फिर कभी न लेने के लिये, या आदर आदि के साथ देने के अर्थ में किया जाय। काशिका की व्याख्या (काशिका-विवरणपञ्जिका अथवा न्यास), में इस अन्वर्थकता को स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि—"सम्यक् प्रकर्षेण दीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्" अर्थात् 'सम्प्रदान' शब्द का अर्थ गया है जिसके लिये अच्छी तरह दिया जाता है। भट्टोजि दीक्षित ने भी अपनी सिद्धान्त-कौमुदी में उपर्युक्त सूत्र का अर्थ करते हुए यही कहा है—"दानस्य कर्मणा यम् अभि-प्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात्"। सिद्धान्तकौमुदी की टीका तत्त्वबोधिनी में इस बात को और स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि 'सम्प्रदानम्' यह बहुत बड़ी संज्ञा केवल

१. ह०—सम्प्रदीयते।

२. तुलना करो—वैभूसा० पृ० २०६; वृत्तिकारस्तु सम्यक् प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम् इत्यन्वर्थसंज्ञया स्व-स्वत्व-निवृत्तिपर्यन्तम् अर्थं वर्णयन्तो रजकस्य वस्त्रम् इत्याहुः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसलिये अपनायी गई है कि इसे अन्वर्थक (अर्थानुसारी) बताया जा सके। इसलिये 'कर्त्ता' जिस किसी भी क्रिया के 'कर्म' से क्रिया का सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है उन सब की 'सम्प्रदान' संज्ञा नहीं होती। इसी कारण 'अजां नयति ग्रामम्' (बकरी को गांव ले जाता है) यहां 'ग्राम' की अथवा 'हस्तं निदधाति वृक्षे' (पेड़ पर हाथ रखता है) इस प्रयोग में 'वृक्ष' की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती।

वृत्तिकारों की दृष्टि से 'दान' का जो अर्थ नागेश ने किया है वही तत्त्वबोधिनी-कार ने भी किया है। द्र०—"दानं च अपुनर्ग्रहणाय स्व-स्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनम्"। इसीलिये 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' जैसे प्रयोगों में 'रजक' की 'सम्प्रदान' संज्ञा नहीं होती क्योंकि वहां धोबी को कपड़े इसलिये दिये जाते हैं कि वह कपड़ों को धोकर पुनः लौटा दे। अतः 'रजक' की 'सम्यक्प्रदानता' नहीं है। इस कारण 'दा' धातु का यहां, 'सिंहो माणवकः' के जैसे प्रयोगों के समान 'ददाति इव ददाति' इस रूप में, गौण प्रयोग हुआ है। उसका अर्थ है केवल कुछ समय के लिये वस्त्रों को धोबी को देना। द्र०—'ददातिप्रयोगस्तूपमानात्' (महा० की उद्द्योत टीका १.४.३२)।

परन्तु नागेश की दृष्टि में इन विद्वानों का, 'सम्प्रदान' संज्ञा की परिभाषा के विषय में, उपर्युक्त विचार उचित नहीं है। इस अनौचित्य के हेतु आगे की पंक्तियों में दिये जा रहे हैं।

**[वृत्तिकारों के मत का अनौचित्य]**

तन्न। "खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददा'ति" इति **भाष्यविरोधात्**। "कर्मणा यम् अभिप्रैति०" (पा० १.४.३२) इति सूत्र-व्याख्यावसरे **भाष्यकृता** अन्वर्थ-संज्ञाया अस्वीकाराच्च। अतएव—"**तद् आचक्ष्वासुरेन्द्राय स च युक्तं करोतु यत्**" इति (दुर्गा-) सप्तशती-(५.१२६) श्लोकः सङ्गच्छते। तस्माद् 'रजकाय वस्त्रं ददाति' इत्यादि भवत्येव। अत्र आधीनीकरणे अर्थे ददातिः। 'चपेटां ददाति' इत्यत्र न्यसने अर्थे इति।

वह (वृत्तिकारों का मत) ठीक नहीं है क्योंकि (उस मत का) 'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति' (खण्डिकोपाध्याय विद्यार्थी को चाँटे मारता है) इस भाष्य (के प्रयोग) से विरोध है तथा "कर्मणा यम् अभिप्रैति स सम्प्रदानम्" इस सूत्र के व्याख्यान के समय भाष्यकार ने ('सम्प्रदान' को) अन्वर्थ-संज्ञक नहीं माना है। इसलिये—"तद् आचक्ष्वासुरेन्द्राय स च युक्तं करोतु यत्"

१. तुलना करें—महा० भा० १, पृ० १७८; खण्डिकोपाध्यायस् तस्मै चपेटां ददाति।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(यह बात असुरों के राजा से कहो तथा वह जो उचित हो करे) यह दुर्गा-सप्तशती का, श्लोक सुसङ्गत होता है। इसलिये 'रजकाय वस्त्रं ददाति' इत्यादि (चतुर्थी विभक्ति वाले प्रयोग) होते ही हैं। यहाँ 'आधीन करने' अर्थ में 'दा' धातु (का प्रयोग) है। 'चपेटां ददाति' यहाँ ('दा' धातु का प्रयोग) रखने (लगाने या जड़ने) अर्थ में है।

नागेश ने वृत्तिकारो के उपर्युक्त मत का खण्डन इस आधार पर किया है कि भाष्यकार पतंजलि के प्रयोग से इस मत का स्पष्टतः विरोध है क्योंकि "वृद्धिर् आदैच्" (पा० १.१.१) सूत्र के भाष्य में "कथं पुनर्ज्ञायते भेदका उदात्तादय इति? एवं हि दृश्यते लोके य उदात्तं कर्तव्ये अनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस् तस्मै चपेटां ददाति" इन वाक्यों का प्रयोग किया है। यहां 'खण्डिकोपा'ध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति' यह प्रयोग वृत्तिकारों के मत को मानते हुए कभी भी उपपन्न नहीं हो पाता। यहां 'दा' धातु का, अपने मुख्य अर्थ में प्रयोग न होकर, थप्पड़ के संयोगविशेष के अनुकूल 'व्यापार' अर्थ में हुआ है। इसलिये, कथमपि 'सम्यक् प्रदानता' अर्थ के न होने के कारण, यहां वृत्तिकारों के मत के अनुसार 'सम्प्रदान' संज्ञा नहीं होनी चाहिये। परन्तु भाष्यकार ने यहाँ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया है।

**अन्वर्थसंज्ञाया अस्वीकाराच्च**—पतंजलि ने 'खण्डिकोपाध्यायस् तस्मै चपेटां ददाति' यह प्रयोग तो किया ही जिससे स्पष्ट है कि वे 'सम्प्रदान' को अन्वर्थक संज्ञा नहीं मानते, साथ ही "कर्मणा यम् अभिप्रैति सम्प्रदानम्" (पा० १.४.३२) इस सूत्र के भाष्य में कहीं भी पतंजलि ने 'सम्प्रदान' को अन्वर्थक संज्ञा नहीं माना। इसके अतिरिक्त "क्रियाग्रहणं च" ("कर्मणा यम् अभिप्रैति०" इस सूत्र में 'कर्म' पद के साथ 'क्रिया' पद का भी ग्रहण करना चाहिये, जिससे 'श्राद्धाय निगृह्णते', 'पत्ये शेते' जैसे प्रयोग भी, जिनमें धातु के 'अकर्मक' होने के कारण कोई भी 'कर्म' नहीं है, सिद्ध हो जायें) इस वार्तिक का खण्डन करते हुए पतंजलि ने यह कहा कि पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र में विद्यमान 'कर्म' पद से ही क्रिया अर्थ भी लिया जाना चाहिये क्योंकि क्रिया भी कृत्रिम कर्म है। द्र०—"क्रियाऽपि कृत्रिमं कर्म" (महा० १.४.३२)। भाष्यकार का यह कथन भी स्पष्ट सूचित कर रहा है कि क्रियामात्र के 'कर्म' से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उस क्रिया का उद्देश्यभूत जो 'कारक' उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा भाष्यकार को अभीष्ट है। साथ ही वे सूत्र के 'कर्म' पद से 'क्रिया' अर्थ भी लेना चाहते हैं जिससे 'श्राद्धाय निगृह्णते' तथा 'पत्ये शेते' जैसे सभी प्रयोग, बिना 'क्रिया' पद का पृथक् ग्रहण किये ही, सिद्ध हो जाएँ

इसलिये पतंजलि को प्रमाण मानते हुए 'सम्प्रदान' संज्ञा को अन्वर्थक नहीं माना जा सकता। इस कारण 'दा' धातु तथा अन्य धातुओं के प्रयोगों में, चाहे 'सम्यक् प्रदानता' का अर्थ हो या न हो, अन्य क्रिया के 'कर्म' से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये जो 'उद्देश्य' हुआ करता है उसे 'सम्प्रदान' कारक मानना चाहिये।

१. 'खण्डिकोपाध्यायः' शब्द का कुछ विद्वान् 'बालकों के उपाध्याय' अर्थ करते हैं। दूसरे विद्वान् 'क्षुद्र उपाध्याय' को तथा कुछ अन्य विद्वान् 'अथर्ववेद के अध्यापक' को खण्डिकोपाध्याय बताते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**['सम्प्रदान' कारक में होने वाली चतुर्थी विभक्ति का अर्थ]**

सम्प्रदानचतुर्थ्यर्थ उद्देश्यः। तथा च 'ब्राह्मणोद्देश्यकं गोकर्मकं दानम्' इतिबोधः। 'मैत्रोद्देश्यकं वार्ताकर्मकं कथनम्' इति च।

सम्प्रदान-चतुर्थ्यर्थ का अर्थ है 'उद्देश्य'। अतः ('ब्राह्मणाय गां ददाति' इस प्रयोग में) "ब्राह्मण है उद्देश्य जिसमें तथा गौ है 'कर्म' जिसमें ऐसा दान" तथा ('चैत्रो मैत्राय वार्ताः कथयति' इस प्रयोग में) "मैत्र है 'उद्देश्य' जिसमें तथा वार्ता है 'कर्म' जिसमें ऐसा कथन" यह बोध होता है।

'सम्प्रदान' कारक में विहित चतुर्थी का अर्थ है 'उद्देश्य' क्योंकि "कर्मणा यम् अभिप्रैति०" सूत्र का अभिप्राय है किसी भी धातु से उपस्थापित 'व्यापार' से उत्पन्न होने वाले 'फल' के आश्रय के रूप में, या 'कर्म' से सम्बन्ध जोड़ने के लिये, 'कर्ता' जिसकी इच्छा करता है, उद्देश्य' बनाता है, उस 'उद्देश्यभूत 'कारक' की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है और इस 'सम्प्रदान' संज्ञक कारक में "सम्प्रदाने चतुर्थी" (पा. २.३.१३) सूत्र चतुर्थी विभक्ति का विधान करता है। इसलिये 'सम्प्रदान' कारक' में होने वाली चतुर्थी विभक्ति का अर्थ 'उद्देश्य' ही हो सकता है। इसी 'उद्देश्य' को नागेश ने शेखर में 'सम्प्रदानत्वशक्तिमान्' कहा है। द्र०—"सम्प्रदानत्व शक्तिमान् सम्प्रदानचतुर्थ्यर्थः। स एव उद्देश्य इत्युच्यते" (शब्देन्दुशेखर, गुरुप्रसाद शास्त्री सम्पादित, पृ० ७१७)।

**['सम्प्रदान' कारक की एक दूसरी परिभाषा]**

"अकर्मकक्रियोद्देश्यत्वं सम्प्रदानत्वम्" इति लक्षणान्तरम्। यथा— 'पत्ये शेते' इत्यादि। 'पत्युद्देश्यकं नायिका-कर्तृकं शयनम्' इति बोधः।

"अकर्मक' क्रिया का उद्देश्य बनना 'सम्प्रदानता' है" यह 'सम्प्रदान' की दूसरी परिभाषा है। जैसे—'पत्ये शेते' (पति के लिये सोती है) इत्यादि। (यहां) "पति है 'उद्देश्य' जिसमें तथा पत्नी है शयन करने वाली जिसमें ऐसा शयन" यह बोध होता है।

ऊपर 'सम्प्रदान कारक' की जो परिभाषा की गयी उसमें 'कर्म' शब्द विद्यमान है, इसलिये उसके अनुसार केवल 'सकर्मक' धातुओं के प्रयोग में ही 'सम्प्रदान' कारक की स्थिति सुसंगत मानी जा सकती है, 'अकर्मक' धातुओं के प्रयोग में नहीं क्योंकि वहां 'कर्म' कोई होता ही नहीं। इसलिये यहां 'सम्प्रदान' कारक की दूसरी परिभाषा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



दी गयी कि यदि धातु 'अकर्मक' हो तो क्रिया के 'उद्देश्य' की 'सम्प्रदान' संज्ञा हो। जैसे—'पत्ये शेते' इत्यादि प्रयोग। यहां इस प्रयोग में पत्नी के शयन क्रिया का उद्देश्य पति है।

कात्यायन ने 'कर्मणा यमभिप्रैति०" सूत्र की व्याख्या में इन अकर्मक धातुओं की दृष्टि से ही "क्रियाग्रहणं च कर्त्तव्यम्" इस वार्तिक को प्रस्तुत किया था। यह वार्तिक ही 'सम्प्रदान' कारक की इस दूसरी परिभाषा का मूल है। परन्तु पतंजलि ने यह कह कर इस वार्तिक का खण्डन कर दिया कि क्रिया भी 'कर्म' है। किसी भी क्रिया के विषय में पहले 'सन्दर्शन' ('फल'-विषयक विचार), उसके बाद 'प्रार्थना' ('फल' के उपाय की अभिलाषा) और फिर 'अध्यवसाय' ('फल' के साधन के रूप में क्रिया-विशेष का निश्चय) आदि करने के बाद ही उस क्रिया का आरम्भ किया जाता है। इसलिये 'अकर्मक' धातुओं के प्रयोग में भी प्रतीत होने वाली इन क्रियाओं की दृष्टि से 'कर्म' की उपलब्धि हो जायगी। द्र०—"कथं नाम क्रिया क्रियया ईप्सिततमा स्यात्? क्रियापि क्रियया ईप्सिततमा भवति। कया क्रियया? सन्दर्शनक्रियया वा प्रार्थयति क्रियया वा अध्यवस्यतिक्रियया वा। इह य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स बुद्ध्या तावत् किंचिद् अर्थं सम्पश्यति, सन्दृष्टे प्रार्थना, प्रार्थनायाम् अध्यवसायः, अध्यवसाये आरम्भः, आरम्भे निर्वृत्तिः, निर्वृत्तौ फलावाप्तिः (महा० १.४.३२)। तुलना करो—

**सन्दर्शनं प्रार्थनायां व्यवसाये त्वनन्तरा।**
**व्यवसायस्तथाऽऽरम्भे साधनत्वाय कल्पते॥** (वाप० ३.७,१६)

'प्रार्थना' क्रिया में 'सन्दर्शन', 'व्यवसाय' में 'प्रार्थना' तथा 'आरम्भ' में 'व्यवसाय' साधन बनता है। पतंजलि के 'अध्यवसाय' लिये ही भर्तृहरि ने 'व्यवसाय' का प्रयोग किया है।

**["कर्मणा यमभिप्रैति०" सूत्र की आवश्यकता पर विचार]**

ननु दानादीनां तदर्थत्वात् 'तादर्थ्ये चतुर्थ्या' एव सिद्धौ किं "कर्मणा यम्०" (पा० १.४.३२) इति 'सम्प्रदान'-संज्ञया? "चतुर्थी सम्प्रदाने" (पा० २.३.१३) इति सूत्रं तु "रुच्यर्थानाम्०" (पा० १.४.३३) इति विषये चतुर्थ्यर्थम् इति चेत्?

---

१. ह०—सिद्धे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



न। दानकर्मणो गवादेर्ब्राह्मणार्थत्वेऽपि दानक्रियायाः परलोकार्थत्वात्। अत एव "तादर्थ्यचतुर्थ्यां दानकर्मणो गवादेः सम्प्रदानार्थत्वेऽपि दानक्रियायास्तदर्थत्वाभावेन चतुर्थ्यन्तार्थस्य दान-क्रियायामन्वयानापत्त्या कारकत्वा-नापत्तिः" इति **हेलाराजः**[1]। उपकार्योपकारकत्वसम्बन्ध-स्तादर्थ्यं चतुर्थ्यर्थः। 'ब्राह्मणाय दधि' इत्यादौ 'ब्राह्मणोपकारकं दधि' इति बोधाद् इति दिक्।

दान आदि उस ('सम्प्रदान' या 'उद्देश्य') के लिये होते हैं, इसलिये "चतुर्थी विधाने तादर्थ्ये उपसङ्ख्यानम्" (महा० २.३.१३) इस वार्तिक से विहित 'तादर्थ्य' में होने वाली चतुर्थी से ही (चतुर्थी विभक्ति के विधान रूप कार्य की) सिद्धि हो जाने पर "कर्मणा यम्०" इस (सूत्र) से 'सम्प्रदान' संज्ञा (के विधान) की क्या आवश्यकता? "चतुर्थी सम्प्रदाने" यह सूत्र तो (इसलिये अनावश्यक नहीं है कि वह) "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" इस (सूत्र से विहित 'सम्प्रदान' के) विषय में चतुर्थी विभक्ति (के विधान) के लिये है। यदि यह कहा जाय तो?

वह उचित नहीं है क्योंकि ('ब्राह्मणेभ्यो' गां ददाति' जैसे प्रयोगों में) दान (क्रिया) के कर्म गौ आदि के ब्राह्मणार्थ होते हुए भी दान क्रिया (ब्राह्मण के लिये न होकर) परलोक की प्राप्ति के लिये है। इसीलिये—"तादर्थ्य' में विहित चतुर्थी (विभक्ति) में दान क्रिया के 'कर्म' गो आदि के 'सम्प्रदान' के लिये होने पर भी, दान क्रिया उस ('सम्प्रदान') के लिये नहीं है। इसलिये, चतुर्थ्यन्त (शब्द 'ब्राह्मण' आदि) के अर्थ (ब्राह्मण आदि) का दान क्रिया में अन्वय न होने के कारण, 'कारक' संज्ञा की उपपत्ति नहीं होती"—यह (वाक्यपदीय के टीकाकार) हेलाराज का कथन है। 'तादर्थ्य' में विहित चतुर्थी विभक्ति का अर्थ है 'उपकार्य एवं उपकारक' रूप सम्बन्ध, क्योंकि 'ब्राह्मणाय दधि' (ब्राह्मण के लिये दही) इत्यादि (प्रयोगों) में 'ब्राह्मण का उपकारक दही' यह ज्ञान होता है।

---

१. तुलना करो—वाप० हेलाराज टीका ३.७.१२६;

ननु च दानस्य तदर्थत्वात् तादर्थ्ये चतुर्थी-प्रयोगात् किमर्थं सम्प्रदान संज्ञा? नैतन्न्यायम्। दानक्रियार्थं हि सम्प्रदानम्, न तु दानक्रिया तदर्था, कारकाणां क्रियार्थत्वात्। सम्प्रदानार्थं तु दीयमानं कर्म, इति वाक्यार्थभूताया दानक्रियाया अतादार्थ्यात्, तादर्थ्ये चतुर्थ्या अप्राप्तौ तदर्था सम्प्रदानसंज्ञा न्याय्या।

तथा—शब्देन्दुशेखर, गुरुप्रसाद शास्त्री सम्पादित, पृ० ७१८-१९;

न च दानादीनां तदर्थत्वात् तादर्थ्यचतुर्थ्यैव सिद्धे किमनया संज्ञयेति वाच्यम्। "दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने" इत्यर्थत्वात् तत्सप्रदानकं दानम् इति बोधार्थं तदावश्यकत्वाच्च। अत एव तादर्थ्यचतुर्थ्यां दान-कर्मणो गवादेः सम्प्रदानार्थत्वेऽपि दानक्रियायास्तदर्थत्वाभावेन चतुर्थ्यन्तार्थस्य दानक्रियान्वयानापत्तिः।

२. निस०, काप्रशु०—तादर्थ्यार्थः।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**ननु दानादीनां ··· इति चेत्** : यहां यह प्रश्न किया गया है कि "चतुर्थी विधाने तादर्थ्ये उपसङ्ख्यानम्," ('तादर्थ्य' में भी चतुर्थी विभक्ति का विधान करना चाहिये), इस वार्तिक से ही 'ब्राह्मणेभ्यो गां ददाति' जैसे उन सभी प्रयोगों में, जिनमें "कर्मणा यम् अभिप्रैति०" सूत्र से 'सम्प्रदान' संज्ञा करके उसके आधार पर "चतुर्थी सम्प्रदाने" सूत्र द्वारा चतुर्थी विभक्ति प्राप्त की जाती है, 'सम्प्रदान' संज्ञा का सहारा लिये बिना ही, चतुर्थी विभक्ति की सिद्धि हो जाती है। वह इस रूप में कि 'तादर्थ्य' शब्द की व्युत्पत्ति—'तस्मै इदं तदर्थम्। तदर्थस्य भावः तादर्थ्यम्'। अतः इस शब्द का अभिप्राय है जिसके लिये जो हो। जैसे—'यूपाय दारु' (यूप के लिये काष्ठ) या 'कुबेराय बलिः' (कुबेर के लिये बलि)। इस प्रकार जिसके लिये वस्तु होती है उस 'उद्देश्य' में चतुर्थी विभक्ति का विधान यह वार्तिक करती है। 'ब्राह्मणेभ्यो गां ददाति' जैसे प्रयोगों में भी, ब्राह्मण आदि के लिये गौ आदि वस्तुएँ दी जाती हैं। इसलिये, इस वार्तिक से ही चतुर्थी विभक्ति की सिद्धि हो जायगी। "कर्मणा यम् अभिप्रैति०" सूत्र अथवा उसके द्वारा 'सम्प्रदान' कारक की परिभाषा बनाने की क्या आवश्यकता?

यदि इस प्रश्न के साथ ही यह कहा जाय कि जब "कर्मणा यम् अभिप्रैति०" सूत्र अनावश्यक है तो फिर "चतुर्थी सम्प्रदाने" सूत्र की भी क्या आवश्यकता? तो इसका उत्तर यह है कि 'सम्प्रदान' संज्ञा का विधान करने वाले अन्य "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" इत्यादि सूत्र भी हैं। उनके उदाहरणों में चतुर्थी विभक्ति का विधान करने के लिये "चतुर्थी सम्प्रदाने" सूत्र की तो आवश्यकता है।

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यहां यह दिया गया है कि दान क्रिया के 'कर्म' गौ आदि भले ही ब्राह्मण आदि के लिये हों परन्तु दान क्रिया, ब्राह्मण के लिये न होकर, परलोक या स्वर्ग की प्राप्ति के लिये होती है। अभिप्राय यह है कि दान देने वाले लोग ब्राह्मण आदि को जो दान देते हैं उनका प्रयोजन स्वार्थ ही होता है। जो लोग स्वर्ग आदि में विश्वास रखते हैं वे स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिये दान आदि कार्यों को करते हैं। जिन लोगों का स्वर्ग आदि में विश्वास नहीं होता वे भी अपनी सन्तुष्टि के लिये निर्धन आदि को दान देते हैं। इसलिये दान क्रिया, जिसको दान दिया जाता है उसकी दृष्टि से न होकर, दाता की अपनी दृष्टि से ही होती है, अर्थात् ब्राह्मण आदि के लिये न होकर अपने लिये होती है। इसलिये "चतुर्थी विधाने तादर्थ्ये उपसङ्ख्यानम्" इस वार्तिक की सीमा में ये उदाहरण नहीं आते। अतः 'ब्राह्मणाय गां ददाति' जैसे प्रयोगों में "चतुर्थी विधाने तादर्थ्ये उपसङ्ख्यानम्" इस वार्तिक से चतुर्थी विभक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। इस कारण "चतुर्थी सम्प्रदाने" तथा 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्" इन दोनों सूत्रों की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त "दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने" (पा० ३.४.७३) सूत्र रचना की दृष्टि से भी तो 'सम्प्रदान' कारक के स्वरूप-निर्धारण की आवश्यकता है ही। अन्यथा उस सूत्र में 'सम्प्रदान' शब्द का क्या अभिप्राय है यह कैसे पता लगेगा?

तीसरा प्रयोजन यह भी है कि "ब्राह्मण आदि हैं 'सम्प्रदान' हैं जिसमें ऐसी दान आदि क्रिया" का बोध हो इसलिये भी यह आवश्यक है कि 'सम्प्रदान' कारक के स्वरूप को बताया जाय। उपर्युक्त इन तीनों प्रयोजनों का उल्लेख नागेश ने "चतुर्थी सम्प्रदाने" (पा० २.३.१३) सूत्र के भाष्य की अपनी 'उद्द्योत' टीका में निम्न शब्दों में किया है :—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



"कर्मणा यम् अभिप्रैति०' इति संज्ञाविधानं तु 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' इत्यर्थकम्। 'तत्सम्प्रदानकं दानम्' इति बोधार्थं च। दानकर्मणो गवादेः सम्प्रदानार्थत्वेऽपि दानक्रियायास् तदर्थत्वाभावे चतुर्थ्यन्तार्थस्य दानक्रियान्वयानापत्तिर् इति तदन्वयार्थं च इति दिक्"।

वस्तुतः बाद में रचित किसी वार्तिक के आधार पर पहले विरचित पाणिनि के किसी सूत्र की आवश्यकता अनावश्यकता का विचार ही अन्याय्य है। दूसरी बात यह है कि परम्परया 'सम्प्रदान' एक कारक विशेष का नाम है। अतः उसके लिये लक्षण बनाना सूत्रकार पाणिनि के लिये आवश्यक ही था। इसलिये पाणिनि ने "कर्मणा यम्०" सूत्र का प्रणयन किया। तीसरी बात यह है कि स्पष्टता तथा सुकरता की दृष्टि से भी पाणिनि का यह सूत्र आवश्यक है क्योंकि खींचतान कर "चतुर्थी विधाने०" इस वार्तिक से काम चल जाने पर भी सामान्य पाठक के लिये यह निर्णय करना कठिन है कि कहाँ 'तादर्थ्य' है और कहाँ नहीं। चौथी बात यह है कि भाष्यकार ने "चतुर्थी विधाने तादर्थ्ये उपसंख्यानम्" इस वार्तिक के जो उदाहरण—'यूपाय दारु', 'कुण्डलाय हिरण्यम्' इत्यादि—दिये हैं उन्हें देखने से पता लगता है कि इस वार्तिक के विषय प्रायः वे प्रयोग हैं जिनमें एक को प्रकृति तथा दूसरे को विकृति बताया गया है। जैसे—'यूपाय दारु', 'कुण्डलाय हिरण्यम्' इत्यादि उदाहरणों में लकड़ी यूप की प्रकृति है तथा सोना कुण्डल की। पाँचवी बात यह है कि भाष्यकार ने उस वार्तिक का, "चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः" (पा० २.१.३६) इस समास-विधायक सूत्र से 'तादर्थ्य' में चतुर्थी-विधान का ज्ञापक मान कर, खण्डन कर दिया है।

**['अपादान' कारक की परिभाषा]**

तत्-तत्-कर्तृ-समवेत-तत्-तत्-क्रिया-जन्य-प्रकृत-धात्व-वाच्य-विभागाश्रयत्वम् अपादानत्वम्। तद् एव अवधित्वम्। विभागश्च न वास्तव-सम्बन्ध-पूर्वको वास्तव एव। किन्तु बुद्धि-परिकल्पित-सम्बन्ध-पूर्वको बुद्धि-परिकल्पितोऽपि[1]। 'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः[2] आढ्यतराः' इत्यादौ बुद्धि-परिकल्पितापायाश्रयणेनैव[3] भाष्ये-(१.४.२४) पंचमी-साधनात्। अत एव 'चैत्रान् मैत्रः सुन्दरः' इत्यादिर् लोके प्रयोगः।

उस उस कर्त्ता में 'समवाय' सम्बन्ध से विद्यमान रहने वाली उस उस क्रिया से उत्पन्न, उच्चरित धातु का जो वाच्य अर्थ नहीं है ऐसे, विभाग का आश्रय

---

१. तुलना करो—लम०, पृ० १२८५;
विभागश्च न वास्तव-सम्बन्ध-पूर्वक एव किन्तु बुद्धि-कल्पित-सम्बन्ध-पूर्वकोऽपि। अत एव जुगुप्सा-पूर्वक-निवृत्ति-लक्षकताम् आश्रित्य "जुगुप्सा-विराम०" इत्यादि-प्रत्याख्यानं भाष्योक्तं संगच्छते।

२. ह०—पाटलिपुत्रेभ्यः।

३. ह० में 'अपाय—' के स्थान पर 'अपादान'।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



बनना 'अपादानता' है। वही (आश्रयता) अवधि है और विभाग वास्तविक सम्बन्ध से युक्त होकर वास्तविक (ही हो यह आवश्यक) नहीं है। अपितु (कहीं कहीं), बुद्धि के द्वारा जिसमें सम्बन्ध की कल्पना की गयी हैं ऐसा, बुद्धि-परिकल्पित भी होता है क्योंकि 'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः' (मथुरा वाले पटना वालों से अधिक धनी हैं) इत्यादि (प्रयोगों) में बुद्धि के द्वारा परिकल्पित 'विभाग' के आश्रय में ही महाभाष्य में पञ्चमी विभक्ति की सिद्धि की गयी है। इसीलिये लोक में 'चैत्रान् मैत्रः सुन्दरः' (चैत्र से मैत्र सुन्दर है) इत्यादि प्रयोग होते हैं।

'अपादान कारक' की जो परिभाषा ऊपर दी गयी उसके उदाहरण के रूप में 'रामो गृहाद् आयाति' (राम घर से आता है) यह वाक्य देखा जा सकता है। यहाँ 'कर्ता' राम में 'समवाय' सम्बन्ध से आगमन क्रिया विद्यमान है। इस आगमन क्रिया से विभाग उत्पन्न होता है। साथ ही यह विभाग 'आ' उपसर्ग से युक्त 'या' धातु का वाच्य अर्थ नहीं है। इस प्रकार के 'विभाग' का आश्रय यहाँ 'गृह' है इसलिये वह 'अपादान' कारक है। इस 'अपादान' को ही अवधि कहा जाता है।

**'विभागश्च न वास्तव-सम्बन्ध-पूर्वकः'.....'प्रयोगः**— इन पंक्तियों में यह स्पष्ट किया गया है कि यह आवश्यक नहीं है कि विभाग सर्वथा वास्तविक ही हो, अर्थात् पहले विभक्त होने वाले दो वस्तुओं का 'संयोग' सम्बन्ध हो और फिर उसके बाद उनका विभाग हो, ऐसे वास्तविक विभाग के ही आश्रय को 'अपादान' संज्ञा हो यह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि केवल बुद्धि-परिकल्पित सम्बन्ध के आधार पर ही बौद्धिक विभाग की स्थिति मान ली जाती है। इसीलिये जब यह कहा जाता है—'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः' तो यहाँ मथुरा-निवासियों का पटना वालों से जो विभाग अभीष्ट है वह बुद्धि-परिकल्पित ही है। इसलिये भाष्यकार पतंजलि ने इस प्रकार के उदाहरणों में विभाग को बौद्धिक मानकर 'अपादान' संज्ञा तथा उसके आधार पर पंचमी विभक्ति की सिद्धि की है (द्र०—महा० १.४.२४)।

इस प्रकार बुद्धि-परिकल्पित विभाग के आधार पर भी 'अपादान' संज्ञा का व्यवहार होने के कारण ही 'चैत्रान् मैत्रः सुन्दरः' जैसे प्रयोग लोक में प्रचलित हैं। वहाँ चैत्र तथा मैत्र को पहले एक साथ वास्तविक रूप में सम्बद्ध किया जाता हो फिर उनका विभाग होता हो ऐसा नहीं होता। अपितु यहाँ बौद्धिक सम्बन्ध एवं बौद्धिक विभाग ही अभिप्रेत है। तुलना करो—"रूपं रसात् पृथक्' इत्यत्र बुद्धि-परिकल्पितम् अपादानत्वं द्रष्टव्यम्" (वैभूसा० पृ० २०२)।

**['अपादान' कारक की परिभाषा के 'प्रकृत-धात्ववाच्य' तथा 'तत्-तत्-कर्तृ' इन अंशों के प्रयोजन के विषय में विचार]**

'वृक्षं त्यजति खगः' इत्यादाव् अपादानत्व-वारणाय 'प्रकृत-धात्ववाच्य' इति। 'परस्परस्मान् मेषाव् अपसरतः' इत्यत्र अपादनत्वाय 'तत्-तत्-कर्तृ' इति।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



तत्-तत्-पशु-विशेष-निष्ठ-व्यापार-जन्य-विभागाश्रयस् तत्-तत्-पशु-विशेषः । किंच 'मेष'-पद-वाच्ययोः पशु-विशेषयोः क्रियाऽऽश्रयत्व-विवक्षा, 'परस्पर'-पद-वाच्ययोस् तयोस्तु विभागाश्रयत्व विवक्षा इत्यौपाधिकस् तयोर्[1] भेदः । शब्द-स्वरूपोपाधि-कृत-भेदोऽप्यर्थे गृह्यते । यथा—'आत्मानम्' आत्मना वेत्ति' इत्यादौ शरीरावच्छिन्नं 'कर्तृ,' अन्तःकरणावच्छिन्नं 'करणम्', निरवच्छिन्नं निरीहं 'कर्म'। एकस्यैव शब्द-भेदाद् भेदः । शब्दा-लिङ्गितस्यैव सर्वत्र भानात् । तद् आह—

**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते ।**
**अनुविद्धम् इव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।।**

(वाप० १.१२२)

'वृक्षं त्यजति खगः' (पक्षी वृक्ष को छोड़ता है) इत्यादि (प्रयोगों) में 'अपादान' संज्ञा के निवारण के लिये 'प्रकृत-धात्ववाच्य' (उच्चरित धातु का जो वाच्य अर्थ न हो) यह (विशेषण परिभाषा में रखा गया) है। 'परस्परस्मान् मेषाव् अपसरतः' (दो भेड़ें एक दूसरे से अलग होती हैं) यहां 'अपादानत्व' की प्राप्ति के लिये (परिभाषा में) 'तत्-तत्-कर्तृ' ('उस उस भिन्न भिन्न कर्ता में' यह विशेषण) है। उस उस पशु (भेंड़) विशेष में विद्यमान (अपसरण रूप) 'व्यापार', से उत्पन्न होने वाले विभाग का आश्रय वह वह (भिन्न भिन्न) पशु (भेंड़) विशेष है। तथा द्विवचनान्त 'मेष' पद के वाच्य दो पशु विशेषों (भेंड़ों) में (अपसरण) क्रिया की आश्रयता ('कर्तृत्व') की विवक्षा है। परन्तु 'परस्पर' पद के वाच्यभूत उन दोनों (भेड़ों) में विभाग की आश्रयता ('अपादानत्व') की विवक्षा है। इस रूप में दोनों ('कर्ता' तथा 'अपादान') में विशेषण-कृत भिन्नता है। शब्द-स्वरूप-भूत 'उपाधि' (विशेषण या अर्थ-प्रकाशक) के द्वारा उत्पादित भेद भी अर्थ में गृहीत होता है। जैसे—'आत्मानम् आत्मना वेत्ति' (आत्मा को आत्मा से जानता है) इत्यादि (प्रयोगों) में शरीर से अवच्छिन्न (आत्मा) 'कर्ता' है। अन्तःकरण (मन, बुद्धि तथा अहंकार) से अवच्छिन्न आत्मा 'करण' (साधन) है तथा शुद्ध निष्क्रिय (ब्रह्म) 'कर्म' है। एक ही (तत्त्व) में शब्द की भिन्नता के कारण (अर्थ में) भेद हो जाता है क्योंकि शब्द से परिवेष्टित (अथवा अभिन्न) हुए अर्थ का ही बोध होता है। इस बात को (भर्तृहरि ने) कहा है:—

---

१. ह०—तयोरेव ।

२. ह०—आत्मनात्मानं वेत्ति ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



"संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो (उस ज्ञान के बोधक) शब्द के बोध के बिना हो। सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से मानो अभिन्न हो कर भासित (प्रकट) होता है"।

**'वृक्षं त्यजति खगः' इत्यादाव्'''प्रकृत-धात्ववाच्य' इति**—ऊपर 'अपादान' कारक की परिभाषा में 'प्रकृत-धात्ववाच्य' (ऐसे विभाग के आश्रय की 'अपदान' संज्ञा अभीष्ट है जो प्रस्तुत या उच्चरित धातु वाच्य अर्थ न हो) पद का प्रयोजन यहाँ यह बताया गया कि 'वृक्षं त्यजति खगः' इत्यादि प्रयोगों में 'वृक्ष' की 'अपादान' संज्ञा न हो जाये। अन्यथा 'अपादान' कारक का लक्षण यहाँ घटित हो जाता जिससे 'अति-व्याप्ति' दोष उपस्थित होता। परन्तु इस विशेषण के रहने पर, विभाग यहाँ उच्चरित या प्रयुक्त 'त्यज्' धातु का वाच्यार्थ है इसलिये, वृक्ष की 'अपादानता' का निवारण हो जाता है।

परन्तु इस विशेषण के बिना भी उपर्युक्त प्रयोग में 'वृक्ष' की अपादानता' का निवारण हो सकता है। भाष्य का वचन है—"अपादानम् उत्तराणि कारकाणि बाधन्ते", अर्थात् अष्टाध्यायी के सूत्र-क्रम के अनुसार बाद में विहित 'कर्म' आदि कारक 'अपादान' कारक की अपेक्षा बलवान् होते हैं तथा 'अपादान' को बाध लेते हैं। भाष्य के इस वचन या परिभाषा के आधार पर "कुर्तुर् ईप्सिततमं कर्म" (पा० १.४.४९) सूत्र द्वारा 'वृक्ष' को 'कर्म' कारक ही माना जायगा क्योंकि वह त्यजन 'व्यापार' से उत्पन्न विभाग रूप 'फल' का आश्रय है। इस प्रकार 'कर्म' कारक के द्वारा बाधित हो जाने पर 'वृक्ष' की 'अपादानता' का निवारण स्वयं हो जाता है। तुलना करो—"न चैवम् अपि 'वृक्षं त्यजति' इति दुर्वारम्। कर्मसंज्ञया अपादान-संज्ञाया बाधेन पंचम्यसम्भवात्" वैभूसा. (पृ० २०१-१०२)।

**'परस्परस्मान् मेषाव् अपसरतः'''' तयोर्भेदः**— 'अपादान' कारक की परिभाषा में क्रिया के विशेषण के रूप में, 'तत्-तत्-कर्तृ' अंश रखा गया है। इस से यह अभिप्राय निकलता है कि—"उस 'कर्ता' में 'समवाय' सम्बन्ध से रहने वाली जो क्रिया उससे उत्पन्न जो विभाग उस विभाग का आश्रय 'अपादान' कारक होता है।" इस विशेषण को परिभाषा में रखने का क्या प्रयोजन है इस विषय में यहाँ विचार किया गया है।

'परस्परस्मान् मेषाव् अपसरतः' इस वाक्य का अर्थ है कि 'दो भेड़ें एक दूसरे से पीछे हटते हैं'। यहाँ पहला भेंड़ दूसरे भेंड़ की अपसरण (पीछे हटना) क्रिया की दृष्टि से 'अपादान' कारक है तथा दूसरा भेंड़ पहले भेंड़ की अपसरण क्रिया की दृष्टि से। पहले भेंड़ को 'अपादान' मानते समय दूसरे भेंड़ रूपी 'कर्ता' में जो अपसरण क्रिया 'समवाय' सम्बन्ध से रहती है उससे उत्पन्न विभाग के आश्रय के रूप में पहली भेंड़ विवक्षित होती है तथा दूसरी भेंड़ को 'अपादान' मानते समय पहले भेंड़ रूपी 'कर्ता' में जो अपसरण क्रिया 'समवाय' सम्बन्ध से रहती है उससे उत्पन्न विभाग के आश्रय के रूप में दूसरी भेंड़ विवक्षित होती है। अतः यहाँ दोनों ही भेंड़, एक दूसरे की दृष्टि से, अपसरण 'व्यापार' का आश्रय होने के कारण 'कर्ता' हैं तथा दोनों ही अपसरण क्रिया से उत्पन्न विभाग रूप 'फल' का आश्रय होने के कारण एक दूसरे के प्रति 'अपादान' भी हैं। इस तरह अपने से भिन्न भेंड़ में 'समवाय' सम्बन्ध से विद्यमान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अपसरण क्रिया से उत्पन्न विभाग का आश्रय होने से दोनों का 'अपादनत्व' तथा अपने में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान अपसरण क्रिया का आश्रय होने के कारण दोनों का 'कर्तृत्व' —इस रूप में दोनों भेड़ों की दोनों ही संज्ञायें हैं। इतना अवश्य है कि दोनों संज्ञाओं के लिये अलग अलग दो शब्द हैं—द्विवचनान्त 'मेष' पद 'कर्तृ'-संज्ञक है तथा 'परस्पर' शब्द 'अपादान'-संज्ञक है। इसलिये दोनों में कोई विरोध नहीं है। इसी बात को नागेश ने "किंच मेष-पद-वाच्ययोः···विभागाश्रयत्व-विवक्षा" इन शब्दों में स्पष्ट किया है।

'परस्परस्मान् मेषाव् अपसरतः' इस प्रयोग को भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय की निम्न कारिकाओं में स्पष्ट किया है।

**उभावप्यध्रुवौ मेषौ यद्यप्युभय-कर्मजे।**
**विभागे, प्रविभक्ते तु क्रिये तत्र विवक्षिते॥**
**मेषान्तर-क्रियापेक्षम् अवधित्वं पृथक्-पृथक्।**
**मेषयोः स्व-क्रियापेक्षं कर्तृत्वं च पृथक्-पृथक्॥**

(वाप० ३.७.१४०-४१)

कारिका के **'उभावपि····· विभागे'**—इस अंश का अभिप्राय यह है कि दोनों भेड़ों का कर्म (अपसरण क्रिया) है जनक (उत्पादक) जिनका ऐसे विभाग में दोनों ही भेड़ें अध्रुव (विभाग-जनक क्रिया के आश्रय) हैं। इसलिये, (अपसरण) क्रिया के आश्रय होने के कारण, यद्यपि दोनों की 'अपादान' संज्ञा न होकर 'कर्तृ' संज्ञा प्राप्त होती है। इस प्रकार कारिका के इतने अंश में पूर्व पक्ष रख कर अगले अंश में इसका उत्तर दिया गया है। **'प्रविभक्ते तु···पृथक्'**— इस अंश में यह कहा गया कि इस उपर्युक्त प्रयोग में अपसरण क्रिया, जो विभाग का जनक है, अपने आश्रयभूत भिन्न भिन्न भेड़ों के कारण, भिन्न भिन्न रूप में ही विवक्षित है। एक भेड़ की अपसरण क्रिया की दृष्टि से दूसरी भेंड़ की 'अपादान' संज्ञा तथा दूसरी भेंड़ की अपसरण क्रिया की अपेक्षा पहली भेड़ की 'अपादान' संज्ञा है। इसी प्रकार दोनों भेंड़ों की अपनी अपनी क्रिया की दृष्टि से अलग अलग 'कर्तृ' संज्ञा भी है।

**औपाधिकस् तयोर्भेदः** उपर्युक्त प्रयोग में 'परस्पर' तथा 'मेष' इन दो शब्दों का प्रयोग होने के कारण यहाँ 'औपाधिक या 'उपाधि'-कृत भेद हो गया है। इस पंक्ति में शब्द को 'उपाधि' कहा गया। 'उपाधि' का अभिप्राय है जो अपने गुणों को दूसरों में सङ्क्रान्त कर दे—'उप समीपम् एत्य स्वीकीयं गुणम् अन्यस्मिन् आदधाति'। इसीलिये व्यञ्जक को भी 'उपाधि' कहा जाता है क्योंकि वह व्यङ्ग्य में अपने गुणों को सङ्क्रान्त या प्रतिभासित करा देता है। यहाँ 'परस्पर' तथा 'मेष' शब्द अपनी विभिन्नरूपता के कारण एक ही वस्तु (मेष पशु) में भेद उत्पन्न कर देते हैं, इसलिये उन्हें भी 'उपाधि' कहा गया। इस शब्दरूप 'उपाधि' की भिन्नता के कारण यहाँ एक को ही 'अपादान' तथा 'कर्तृ' संज्ञा मानने में कोई विरोध नहीं उपस्थित होता।

**शब्दस्वरूपोपाधि·····शब्दभेदाद् भेदः**—शब्दरूप 'उपाधि' की भिन्नता के कारण अर्थ में जो विभिन्नता उपस्थित होती है उसका भी बोध होता ही है। जैसे—'आत्मा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'आत्मानम् आत्मना वेत्ति' इस प्रयोग में एक ही आत्मा अथवा चैतन्य को तीन विभिन्न रूपों में प्रकट किया गया है। शरीर से अवच्छिन्न अथवा शरीररूप आत्मा को 'कर्त्ता', अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) रूप आत्मा को 'करण' तथा निरीह, निष्क्रिय एवं विशुद्ध आत्मा को 'कर्म' माना गया। इसलिये 'औपाधिक' भिन्नता के कारण एक में ही उपस्थित होने वाली इन तीनों संज्ञाओं में कोई विरोध नहीं उपस्थित होता। तुलना करो—"द्वाव् आत्मानौ। अन्तरात्मा शरीरात्मा च। अन्तरात्मा तत् कर्म करोति येन शरीरात्मा सुख-दुःखे अनुभवति। शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनान्तरात्मा सुखे अनुभवति" (महा० ३.१.८७)।

**शब्दालिङ्गितस्य ···भासते** :—शब्दरूप 'उपाधि' के द्वारा अर्थ में भिन्नता उत्पन्न होने का कारण यह है कि सदा शब्द के माध्यम से ही अर्थ का प्रकाशन होता है। कभी भी, शब्द की सहायता के बिना, स्पष्ट एवं सरल रूप में, अर्थ का प्रकाशन सम्भव नहीं है।

इस कथन की पुष्टि में नागेश ने महान् शब्द-मनीषी भर्तृहरि की एक कारिका को यहाँ प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है, जिस में यह कहा गया है कि विश्व में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द की सहायता के बिना प्रकट हो। सारा ज्ञान विज्ञान शब्द से अनुस्यूत हो कर प्रकाशित होता है। यहाँ कारिका में जो 'इव' शब्द का प्रयोग है वह इस बात को बताने लिये है कि ज्ञान में जो शब्द का तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध है वह आरोपित है।

वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में इस प्रकार की अनेक कारिकाएँ मिलती हैं जिनमें यह प्रतिपादित किया गया है कि सम्पूर्ण अर्थ शब्द से ही प्रकाशित होते हैं या शब्द पर आश्रित हैं। इस दृष्टि से निम्न कारिकायें द्रष्टव्य हैं :—

**षड्जादि-भेदः शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः।**
**तस्माद् अर्थ-विधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निश्रिताः ॥ १.११८**
**वाग्रूपता चेन् निष्क्रामेद् अवबोधस्य शाश्वती।**
**न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ १.१२३**
**सा सर्व-विद्या-शिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।**
**तद्-वशाद् अभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ॥ १.१२४**

**['औपाधिक' भेद से उत्पन्न अर्थ-भेद के द्वारा 'अपादान' संज्ञा की सिद्धि हो जाने पर परिभाषा में 'तत्-तत्-कर्तृ-समवेत' इस अंश की आवश्यकता पर विचार]**

ननु ह्येतद् औपाधिक-भेदम् आदायैव अत्र अपादानत्वे सिद्धे किं 'तत्-तत्-कर्तृ-समवेत' इत्यनेन इति चेत् ? न। 'पर्वतात् पततोऽश्वात् पतत्यश्ववा'ह्ः' इत्यादौ अश्वस्य अपादानत्वाय तत्स्वीकारात्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस 'औपाधिक' भेद के आधार पर ही यहाँ ('परस्परस्मात् मेषाव् अपसरतः' इस प्रयोग में) 'अपादान' संज्ञा की सिद्धि हो जाने पर 'तत्-तत्-कर्तृ-समवेत'-इस अंश की (परिभाषा में) क्या आवश्यकता है ? यदि यह कहा जाय तो वह उचित नहीं है क्योंकि 'पर्वतात् पततोऽश्वात् पतत्यश्ववाहः' (पहाड़ से गिरते हुए घोड़े से घुड़सवार गिरता है) इत्यादि (प्रयोगों) में 'अश्व' की 'अपादान' संज्ञा करने के लिये वह ('तत्-तत्-कर्तृ-समवेत' यह विशेषण) स्वीकार किया गया है।

'औपाधिक' भेद के आधार पर 'परस्परस्मात् मेषाव् अपसरतः' इस प्रयोग में 'अपादान' संज्ञा की सिद्धि हो जाने पर भी परिभाषा में 'तत्-तत्-कर्तृ-समवेत' इस अंश की आवश्यकता बनी ही रहती है क्योंकि 'पर्वतात् पततोऽश्वात् पतत्यश्ववाहः' जैसे प्रयोगों में 'अश्व' जैसे शब्दों की 'अपादान' संज्ञा तब तक सिद्ध नहीं हो सकती जब तक उपर्युक्त अंश परिभाषा में न हो।

'पर्वतात् पततोऽश्वात् पतत्यश्ववाहः' इस प्रयोग में 'अश्व' सम्बन्धी पतन की दृष्टि से 'पर्वत' की 'अपादान' संज्ञा है तथा 'घुड़सवार' के पतन की दृष्टि से 'अश्व' की अपादान संज्ञा अभीष्ट है। इसी प्रकार 'पर्वत' है अवधि जिसमें ऐसे पतन का 'कर्त्ता' 'घुड़सवार' है। इसलिये 'अश्व' ('कर्त्ता') में 'समवाय' सम्बन्ध से रहने वाली पतन क्रिया से उत्पन्न, प्रकृत 'पत्' धातु के अवाच्यभूत विभाग का आश्रय है 'पर्वत' तथा 'घुड़सवार' ('कर्त्ता') में 'समवाय' सम्बन्ध से रहने वाली पतन क्रिया से उत्पन्न, प्रकृत 'पत्' धातु अवाच्यभूत, विभाग का आश्रय है 'अश्व'। अतः दो भिन्न भिन्न 'कर्त्ता' ('अश्व' तथा 'घुड़सवार') की दृष्टि से दोनों 'पर्वत' तथा 'अश्व' की 'अपादान' संज्ञा होगी। यदि परिभाषा में 'तत्-तत-कर्तृ-समवेत' अंश न हो तो 'अश्व' की 'अपादान' संज्ञा नहीं हो सकती क्योंकि पतन क्रिया यहाँ भले ही एक हो परन्तु, दो बार 'पत्' धातु के द्वारा कथित होने के कारण, 'उपाधि' भेद से वह दो बन गयी है। इसलिये इस 'उपाधि'-भेद के कारण 'अश्व' में समवेत पतन क्रिया का आश्रय होने से 'अश्व' 'कर्त्ता' है परन्तु 'घुड़सवार' में समवेत पतन क्रिया की दृष्टि से वह 'अपादान' है।

**['वृक्षात्पर्णं पतति' इस प्रयोग के विषय में विचार]**

ननु 'वृक्षात् पर्णं पतति' इत्यादौ तादृश-फलाश्रयत्वात् पर्णस्यापि अपादानत्वं विभागस्य द्विष्ठत्वाद् इति चेत् ? न। परया 'कर्तृ'-संज्ञया बाधात्। अत एव "अपादानम् उत्तराणि कारकाणि बाधन्ते" इति भाष्यं[1] सङ्गच्छते।

'वृक्षात् पर्णं पतति' (पेड़ से पत्ता गिरता है) इत्यादि (प्रयोगों) में उस प्रकार के 'फल' (पत्ते में 'समवाय' सम्बन्ध से रहने वाली 'पतन' क्रिया से

१. तुलना करो—महा० १ ४.१, अपादानसंज्ञाम् उत्तराणि कारकाणि बाधन्ते।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



उत्पन्न तथा प्रकृत 'पत्' धातु के अवाच्यभूत विभाग रूप 'फल') का आश्रय होने के कारण 'पर्ण' की भी 'अपादान' संज्ञा प्राप्त होती है क्योंकि विभाग ('वृक्ष' तथा 'पर्ण') दोनों में रहता है। यदि यह कहा जाय तो वह उचित नहीं है। (अष्टाध्यायी में 'अपादान' संज्ञा की अपेक्षा) बाद में होने वाली 'कर्तृ' संज्ञा के द्वारा ('पर्ण' में 'अपादान' संज्ञा की प्राप्ति का) बाधन हो जायगा। इसीलिये "अपादानम् उत्तराणि कारकाणि बाधन्ते" (बाद में विहित 'कारक' 'अपादान' कारक के बाधक होते हैं) यह भाष्य का कथन सुसङ्गत होता है।

ऊपर जो 'अपादान' कारक की परिभाषा दी गयी है उसमें, पूर्वपक्ष के रूप में, यह 'अतिव्याप्ति' दोष दिखाया जा रहा है कि 'वृक्षात् पर्ण पतति' जैसे प्रयोगों में 'पर्ण' में भी 'अपादान' संज्ञा की अनिष्ट प्राप्ति होगी क्योंकि जिस प्रकार पर्ण रूप 'कर्त्ता' में 'समवाय' सम्बन्ध से रहने वाली पतन क्रिया मे उत्पन्न विभाग रूप फल' का, जो प्रकृत 'पत्' धातु का वाच्य अर्थ नहीं है, आश्रय वृक्ष है उसी प्रकार स्वयं 'पर्ण' भी उस विभाग का आश्रय है। 'वृक्ष' तथा 'पर्ण' में दोनों में विभाग की सत्ता इसलिए मानी जाती है कि विभाग अथवा संयोग सदा ही दो वस्तुओं में होता हे।

इस 'अतिव्याप्ति' दोष का उत्तर यहां यह दिया गया है कि यह तो ठीक है 'पर्ण' में भी 'वृक्ष' के समान ही, 'अपादान' संज्ञा की प्राप्ति होती है। परन्तु, प्रकृत 'पत्' धातु के अर्थ पतन 'व्यापार' का आश्रय भी पर्ण है इसलिये, पर्ण की 'कर्तृ' संज्ञा भी प्राप्त होती है। इस प्रकार दोनों संज्ञाओं की प्राप्ति में "विप्रतिषेधे परम्" (पा० १.४.२) सूत्र के अनुसार 'कर्तृ' संज्ञा को ही विशेष बलवान् माना जाएगा क्योंकि अष्टाध्यायी के 'कारक'-प्रकरण में 'अपादान' संज्ञा के विधायक "ध्रुवम् अपाये अपादानम्" (पा० १.४.२४) आदि सूत्रों के बाद 'कर्तृ' संज्ञा का विधान करने वाले सूत्रों को रखा गया है। 'पर' अर्थात् बाद में विहित कारकों को बलवान् मानने पर ही भाष्य में पतंजलि का "अपादानम् उत्तराणि कारकाणि बाधन्ते"—अर्थात् बाद में विहित 'कर्त्ता', 'कर्म' आदि कारक 'अपादान' कारक के बाधक होते हैं यह कथन सुसङ्गत होता है।

**['अपादान' कारक की एक दूसरी परिभाषा का विवेचन]**

> यत्तु केचिद्—"गत्यनाविष्टत्वे सति तज्जन्य-विभागा-गाश्रयत्वम्" इति तन्न। तत्-तद्-वाक्ये मेषाश्वयोर् अपादानत्वानापत्तेः।

कुछ (आचार्य) जो यह कहते हैं कि "गति (क्रिया) का आश्रय न होते हुए उस (क्रिया) से उत्पाद्य विभाग का आश्रय बनना 'अपादानता' है"--वह (कथन) ठीक नहीं है क्योंकि ('परस्परस्मान् मेषाव् अपसरतः' तथा 'पर्वतान्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



पततोऽश्वात् पतत्यश्ववाहः' जैसे) उस उस वाक्य में 'मेष' तथा 'अश्व' की 'अपादान' संज्ञा नहीं प्राप्त होती।

कुछ आचार्य 'अपादान' कारक की परिभाषा यह करते हैं कि जो 'कारक' क्रिया का आश्रय न हो तथा क्रिया-जन्य विभाग का आश्रय हो वह 'अपादान' कारक है। इस परिभाषा को मानने पर 'वृक्षात् पर्ण पतति' जैसे प्रयोगों में दोष नहीं आता क्योंकि 'पर्ण' जैसे शब्दों की, विभाग का आश्रय होने पर भी, इसलिये 'अपादान' संज्ञा नहीं हो सकती कि वह पतन क्रिया का आश्रय है। इसलिये 'गति' अर्थात् क्रिया से अनाविष्ट (रहित) नहीं है। 'गति' शब्द यहाँ क्रियामात्र के उपलक्षण के रूप में प्रयुक्त है।

परन्तु इस परिभाषा में 'अव्याप्ति' दोष है, इस कारण इसे ठीक नहीं माना जा सकता। वह इस प्रकार कि 'परस्परस्मान् मेषाद् अपसरतः' (दो भेड़ें एक दूसरे से अलग होती हैं) तथा 'पर्वतात् पततोऽश्वात् पतत्यश्ववाहः' (पहाड़ से गिरते हुए घोड़े से घुड़सवार गिरता है) जैसे प्रयोगों में पहले में 'मेष' 'अपसरण' क्रिया के आश्रय हैं तथा दूसरे प्रयोग में 'अश्व' 'पतन' क्रिया का आश्रय है। इसलिये परिभाषा की शर्त, 'क्रिया का आश्रय न होना', पूरी न होने के कारण इन 'मेष' तथा 'अश्व' की अभीष्ट 'अपादान' संज्ञा नहीं प्राप्त होती। इस प्रकार यह परिभाषा 'अव्याप्ति' दोष से दूषित है।

किन आचार्यों की यह परिभाषा है यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु न्यायकोश में गदाधर भट्ट के नाम से निम्न परिभाषा मिलती है : — 'क्रियाऽनाश्रयत्वे तज्जन्य-विभागाश्रयत्वम् अपादानत्वम्" जिससे उपर्युक्त परिभाषा की पूरी समता है।

**[ 'अपादान' की उपर्युक्त परिभाषा को मानने वाले किसी विद्वान् के, 'परस्परस्मान् मेषाद् अपसरतः' इस प्रयोग-विषयक, वक्तव्य का खण्डन]**

> यद् अपि "अपसरतः' इति 'सृ' धातुना गति-द्वयस्याप्युपादानाद् एक-निष्ठां गतिं प्रति इतरस्य अपादानत्वम् अविरुद्धम्" इति तन् न। क्रियाया एकत्वात्। अत एव "न वै तिङन्तान्येकशेषारम्भं प्रयोजयन्ति। क्रियाया एकत्वात्" इति भाष्यं संगच्छते[2]।

और जो—'अपसरतः' (हटते हैं) इस (क्रिया में विद्यमान) 'सृ' धातु से (दोनों 'भेड़ों' में विद्यमान) दोनों गतियों का कथन होने के कारण एक ('भेड़') में स्थित गति की दृष्टि से दूसरे 'भेड़' की 'अपादान' संज्ञा मानने में कोई विरोध नहीं है"—यह कथन है वह (भी) ठीक नहीं क्योंकि ('अप' उपसर्ग पूर्वक 'सृ' धातु का वाच्यार्थ अपसरण') क्रिया एक है। इसीलिये

१. तुलना करो—महा० १.२, ६४; न तिङन्तानि एकशेषारम्भं प्रयोजयन्ति। किं कारणम्? ...एका हि क्रिया।

२. ह० — सङ्गच्छते इति।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(अनेक क्रियाओं को भी एक मानने के कारण ही) "तिङन्त (क्रिया पद) 'एक शेष' ("सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ" पा० १.२.६४) सूत्र की रचना में हेतु नहीं है क्योंकि क्रिया एक है" यह भाष्य (में पतंजलि का कथन) सुसङ्गत होता है।

ऊपर "गत्यनाविष्टत्वे सति तज्जन्य-विभागाश्रयत्वम् अपादानत्वम्" इस परिभाषा में 'अव्याप्ति' दोष दिखाया गया था उसके निराकरण के लिये किसी विद्वान् ने यह कहा कि 'परस्परस्मान् मेषाव् अपसरतः' इस प्रयोग में 'अपसरतः' इस क्रिया पद से दोनों 'भेड़ों' में विद्यमान दो क्रियाओं का कथन हुआ है। इसलिये पहले 'भेड़' में विद्यमान जो गति है उसका आश्रय दूसरा 'भेड़' नहीं है तथा दूसरे भेड़ में जो गति है उसका आश्रय पहला 'भेड़' नहीं है। इस प्रकार पहले की अपेक्षा दूसरा तथा दूसरे की अपेक्षा पहला 'भेड़' 'अपादान' कारक बन जाएगा। इसी प्रकार 'पर्वतात् पततोऽश्वात् पतत्यश्ववाहः' इस प्रयोग में पतन क्रियाएँ दो हैं। अतः जिस 'पतन' क्रिया का आश्रय 'अश्व' है उससे भिन्न, "घुड़सवार' सम्बन्धी, 'पतन' क्रिया का आश्रय न होने तथा इस दूसरे (अश्वाश्रित) पतन क्रिया से उत्पन्न विभाग का आश्रय होने के कारण 'अश्व' की 'अपादानता' सिद्ध हो जायेगी। इस प्रकार इस परिभाषा में कोई भी 'अतिव्याप्ति' दोष नहीं आएगा।

परन्तु नागेश इस विचार का खण्डन करते हुए यह कहते हैं कि 'अपसरण' क्रिया अथवा 'पतन' क्रिया भले ही दो हों तथा दोनों को भिन्न मानने से 'मेष' तथा 'अश्व' की उपर्युक्त प्रयोगों में 'अपादानता' सिद्ध हो जाय। लेकिन एक ही क्रिया के दो या अनेक रूप से कथित होने पर भी उसे एक ही माना जाएगा दो या अनेक नहीं। और जब यहाँ 'अपसरण' तथा 'पतन' क्रिया को एक माना जाएगा तो पूर्वोक्त 'अव्याप्ति' दोष बना ही रह जाता है। इस प्रकार की क्रिया को यदि एक न माना गया तो भाष्यकार पतंजलि का यह कथन--"न तिङन्तानि एकशेषारम्भम्प्रयोजयन्ति। एका हि क्रिया," अर्थात् क्रिया की अनेकता, "सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ" (पा० १.२.६४) सूत्र से विहित 'एकशेष' में हेतु नहीं बना करती। अभिप्राय यह है कि एक क्रिया के अनेकधा कथित होने पर भी उनमें 'एकशेष' करने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि क्रिया में अनेकता नहीं हो सकती,—'एका हि क्रिया'—क्रिया एक ही होती है। अतः 'पतन' क्रिया अथवा 'अपसरण' क्रिया को अनेक नहीं माना जा सकता। और इन क्रियाओं को एक मानने पर ऊपर प्रदर्शित 'अव्याप्ति' दोष दूर नहीं होता।

ऊपर "यद् अपि अपसरतः·· अविरुद्धम् इति" इन शब्दों में जिस विचार को नागेश ने प्रस्तुत किया है वह किसका है यह स्पष्ट ज्ञात नहीं है। टीकाकारों ने इसे कौण्ड भट्ट का विचार माना है। वैयाकरणभूषणसार (पृ० १६८) में यह प्रसङ्ग निम्न पंक्तियों में निबद्ध है--"यथा निश्चल-मेषाद् अपसरद्-द्वितीय-मेष-स्थले निश्चल-मेषस्य अपसरन्-मेष-क्रियाम् आदाय ध्रुवत्वं तथा अत्रापि विभागैक्येऽपि क्रिया-भेदाद् एक-क्रियाम् आदाय परस्य ध्रुवत्वम् इति"। इस पंक्ति का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार 'मेषाद् मेष अपसरति'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



जैसे प्रयोगों में एक स्थिर भेंड़ के पास से हटते हुए दूसरे भेंड़ को कहने में, हटते हुए भेंड़ की अपसरण क्रिया की दृष्टि से, स्थिर भेंड़ की 'अपादान' संज्ञा होती है, उसी प्रकार यहाँ 'परस्परस्मात् मेषाद् अपसरतः' इस प्रयोग में भी, यद्यपि दोनों में होने वाला विभाग एक है फिर भी दोनों में विद्यमान द्विविध अपसरण क्रियाओं के कारण पहले 'भेंड़' की 'अपसरण' क्रिया की दृष्टि से दूसरे 'भेंड़' की तथा दूसरे 'भेंड़' की 'अपसरण' क्रिया की दृष्टि से पहले 'भेंड़' की 'अपादान' संज्ञा होगी।

नागेश ने यहाँ जो क्रिया-द्वैविध्य का खण्डन किया है उसे बहुत सयुक्तिक नहीं माना जा सकता क्योंकि भले ही 'अपसरण' या 'पतन' क्रिया एक ही है, फिर भी वह विभक्त रूप में वक्ता को विवक्षित अवश्य है, जैसा कि ऊपर (द्र० पृ० ३५६) भर्तृहरि की कारिका से भी स्पष्ट है। विभक्त रूप में विवक्षित होने के कारण ही दोनों मेषों की 'कर्तृ' संज्ञा है तथा विभक्त रूप में ही विवक्षित होने के कारण इन क्रियाओं से उत्पन्न विभाग का आश्रय होने से 'परस्पर' पद-वाच्य दोनों 'मेषों' की 'अपादान' संज्ञा है। नागेश ने स्वयं 'परस्परस्मात् मेषावपसरतः' की ऊपर जो व्याख्या की है उसकी संगति के लिये भी तो क्रिया को द्विविध रूप में विवक्षित मानना आवश्यक है।

[पंचमी विभक्ति का अर्थ]

> पंचम्यर्थोऽवधिः। 'वृक्षावधिकं पर्ण-कर्तृकं पतनम' इति बोधः। 'पर्वतावधिकपतनाश्रयाभिन्नाश्वावधिकम् अश्व-वा[1]ह-कर्तृकं पतनम्' इति बोधः। 'परस्पर-मेषावधिकं द्वित्वावच्छिन्न-मेष-कर्तृकम् अपसरणम्' इति बोधः। इति दिक्।

पंचमी (विभक्ति) का अर्थ है 'अवधि'। ('वृक्षात् पर्ण पतति' इस प्रयोग में) 'वृक्ष है 'अवधि' जिसमें तथा 'पर्ण' है 'कर्त्ता' जिसमें ऐसी 'पतन' क्रिया" यह बोध होता है। ('पर्वतात् पततोऽश्वात् पतत्यश्ववाहः' इस प्रयोग में) "पर्वत' है अवधि जिसमें ऐसी 'पतन' क्रिया के आश्रय से अभिन्न जो अश्व है वह है 'अवधि' जिसमें तथा घुड़सवार है 'कर्त्ता' जिसमें ऐसा पतन" यह बोध होता है। ('परस्परस्मात् मेषाद् अपसरतः' इस प्रयोग में) "एक दूसरे के प्रति भेंड़ें हैं 'अवधि' जिसमें तथा द्विवचनता से युक्त भेंड़ें हैं 'कर्त्ता' जिस में ऐसी अपसरण क्रिया" यह बोध होता है। यह (विवेचन) दिग्दर्शन मात्र है।

पाणिनि ने "ध्रुवम् अपायेऽपादानम्" (पा० १.४.२४) सूत्र द्वारा 'अपाय' अर्थात् विभाग में 'ध्रुव' अर्थात् अवधिभूत 'कारक' की 'अपादान' संज्ञा तथा "अपादाने पंचमी" (पा० २.३.२८) सूत्र से पंचमी विभक्ति का विधान किया है। इसलिये पंचमी विभक्ति

१. द्र०—अश्ववार—।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



का अर्थ 'अवधि' मानना उचित ही है। पंचमी विभक्ति के अर्थ 'अवधि' का प्रदर्शन नागेश ने आदर्शभूत तीन उदाहरणों में स्वयं दिखा दिया जिनका विवेचन ऊपर हो चुका है।

**['अधिकरण' कारक की परिभाषा]**

कर्तृ-कर्म-द्वारक-फल-व्यापाराधारत्वम् अधिकरणत्वम्। यथा—'स्थाल्याम् ओदनं गृहे पचति' इत्यादौ कर्म-द्वारक-विक्लित्तिरूप-फलाधारः स्थाली, कर्तृ-द्वारक-व्यापाराधारो गृहम् इति।

ननु साक्षात्-क्रियाधारयोर् ओदन-चैत्रयोर् अधिकरणत्व--लब्धौ परम्परया तद्-आधारयोर् गृह-स्थाल्योस् तत्-संज्ञा त्वयुक्ता इति चेत् ? न। परत्वात् कर्तृ-कर्म-संज्ञाभ्यां साक्षाद् आधारीभूते बाधात्। "स्थाल्यधि-करणिका या ओदन-निष्ठा विक्लित्तिस् तदनुकूलो गृहाधिकरणको मैत्रकर्तृको व्यापारः" इति बोधात्।

'कर्ता' तथा 'कर्म' के द्वारा (क्रमशः) 'व्यापार' तथा 'फल' का आधार बनना 'अधिकरणता' है। जैसे—'स्थाल्याम् ओदनं गृहे पचति' (घर पर पतीली में चावल पकाता है) इत्यादि (प्रयोगों) में 'कर्ता' (चैत्र) के द्वारा (पाक) 'व्यापार' का आधार घर है तथा 'कर्म' (ओदन या पके चावल) के द्वारा विक्लित्ति रूप 'फल' का आधार स्थाली (पतीली) है।

यदि यह कहा जाय कि क्रिया ('फल' तथा 'व्यापार') के साक्षात् आधार चावल तथा चैत्र की, 'अधिकरण' संज्ञा की प्राप्ति रहने पर परम्परा से उनके आधार गृह तथा स्थाली की अधिकरण संज्ञा मानना अयुक्त है—तो वह ठीक नहीं है क्योंकि ('फल' तथा 'व्यापार' के) साक्षाद् आधार (ओदन तथा चैत्र) में, बाद में (विहित) होने के कारण, 'कर्ता' तथा 'कर्म' संज्ञा द्वारा ('अधिकरण' संज्ञा का) बाधन हो जायगा। तथा (उपर्युक्त प्रयोग में) "पतीली (स्थाली) है 'अधिकरण' जिसमें ऐसे ओदन (पके चावल) में रहने वाली जो विक्लित्ति (पकना रूप 'फल') उसके अनुकूल, घर है आधार जिसका और मैत्र है 'कर्ता' जिसका ऐसा, 'व्यापार'' यह बोध होता है।

पाणिनि ने "आधारोऽधिकरणम्" (पा० १.४.४५) सूत्र द्वारा 'अधिकरण' कारक का स्वरूप निर्धारित किया है। ऊपर से "कारके" (पा० १.४.२३) इस सूत्र का अधिकार होने के कारण यहाँ ऐसा 'आधार' अभिप्रेत है जो क्रिया का 'कारक' अथवा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



जनक हो। क्रिया के साक्षाद् आधार दो होते हैं—एक उस क्रिया को करने वाला अर्थात् 'कर्त्ता' तथा दूसरा जिसमें वह क्रिया हो रही हो अर्थात् 'कर्म'। जैसे—'देवदत्तः स्थाल्याम् ओदनं गृहे पचति' इस प्रयोग में पकाने वाला देवदत्त तथा पकने वाला चावल—ये दोनों ही पकाना क्रिया के साक्षाद् आधार हैं। परन्तु इन साक्षाद् आधारों को 'अधिकरण' इसलिये नहीं माना जा सकता कि अष्टाध्यायी में 'अधिकरण' संज्ञा के विधायक "आधारोऽधिकरणम्" आदि सूत्रों के पश्चात् 'कर्त्ता' तथा ('कर्म' संज्ञा के विधायक सूत्रों को स्थान दिया गया है तथा 'विप्रतिषेध') समान-बल-विरोध में पूर्व की अपेक्षा बाद के सूत्रों को अधिक बलवान् माना गया है। द्र०—"विप्रतिषेधे परम्" (पा० १.४.२)।

पाचन क्रिया का करने वाला (जैसे—यहाँ देवदत्त) पकाना रूप 'व्यापार' का आश्रय है तथा जिसमें पाचन क्रिया होती है वह 'कर्म' (जैसे यहाँ चावल) 'फल' का आश्रय है। इस कारण, उनकी 'अधिकरण' संज्ञा न होकर, क्रमशः 'कर्त्ता' तथा 'कर्म' संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार यदि क्रिया के साक्षाद् आधार की दृष्टि से ही "आधारोऽधिकरणम्" सूत्र पर विचार किया गया तो वह सूत्र व्यर्थ हो जायगा। इसलिये परम्परया 'आधार' की दृष्टि से 'कर्तृ-कर्म-द्वारक' यह विशेषण यहाँ परिभाषा में रखना पड़ा।

इस रूप में दो तरह के आधारों की 'अधिकरण' संज्ञा होती है एक तो जो 'व्यापार' के आश्रय 'कर्त्ता' का आधार हो तथा दूसरा जो 'फल' के आश्रय 'कर्म' का आधार हो। जैसे ऊपर के उदाहरण में पकाने रूप 'व्यापार' के आश्रयभूत देवदत्त का आधार घर तथा पकना रूप 'फल' के आश्रय चावल का आधार स्थाली (पतीली)। दूसरे शब्दों में—पकना रूप 'व्यापार' 'कर्त्ता' देवदत्त में है तथा देवदत्त घर में है इसलिये 'कर्तृ'-द्वारा (परम्परया) 'व्यापार' का आधार घर हुआ। इसी प्रकार चावल का पक जाना रूप 'फल' पके चावल में है तथा वह पका चावल स्थाली में है इस तरह 'कर्म' द्वारा 'फल' का आधार स्थाली है।

सम्बन्ध की दृष्टि से 'व्यापार', 'समवाय' सम्बन्ध से, कर्त्ता देवदत्त में है तथा देवदत्त, 'संयोग' सम्बन्ध से, घर में है इसलिये 'स्व-समवायि-संयोग' रूप परम्परा सम्बन्ध से 'व्यापार' का आधार घर हुआ। विक्लित्ति अथवा पकना रूप 'फल' 'समवाय' सम्बन्ध से पके चावल में है और पका चावल 'संयोग' सम्बन्ध से स्थाली में है। इसलिये यहाँ भी उसी 'स्व-समवायि-संयोग' रूप परम्परा सम्बन्ध से विक्लित्ति रूप 'फल' का आधार स्थाली है। इस रूप में परम्परया क्रिया के जनक होने के कारण इन्हें 'अधिकरण' कारक कहा जाता है। इसी बात को भर्तृहरि ने निम्न कारिका में प्रस्तुत किया है :-

कर्तृ-कर्म-व्यवहिताम् असाक्षाद् धारयत्क्रियाम्।
उपकुर्वत् क्रिया-सिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥

(वाप० ३.७.१४८)

अर्थात् 'कर्त्ता' तथा 'कर्म' से व्यवहित तथा इसीलिये क्रिया के असाक्षाद् आधार बन कर क्रिया की सिद्धि में सहायक 'कारक' को शास्त्र में 'अधिकरण' कहा गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



['अधिकरण' के तीन प्रकार]

तच्च अधिकरणम् त्रिधा—अभिव्यापकम्, औपश्लेषिकम् वैषयिकं चेति। तत्र सकलावयव-व्याप्तौ व्यापकाधारत्वम्। यथा—'तिलेषु तैलम् अस्ति'। 'उप' समीपे, 'श्लेषः' सम्बन्धः 'उपश्लेषः'। तत्कृतम् औपश्लेषिकम्। अत एव "इको यण् अचि" (पा० ६.१.७७) इत्यादौ औपश्लेषिकाधारे सप्तम्युक्ता "संहितायाम्" (पा० ६.१.७२) इति सूत्रे **भाष्ये**[1]। तत्र अजादि-सामीप्यम् एव इगादीनाम्। "यन् मासे अतिक्रान्ते दीयते तस्य मास[2] औपश्लेषिकम अधिकरणम्। मासिकं धान्यम्" इत्युक्तम् "तत्र दीयते०" (पा० ५.१.९६) इति सूत्रे **भाष्ये**[3]। यत्तु 'कटे आस्ते' इत्यौपश्लेषिकोदाहरणम् उक्तं **कैयटेन** तद् अयुक्तम्। उक्त-**भाष्य**-विरोधात्। एतद् द्व्यातिरिक्तं वैषयिकं अधिकरणम्। 'कटे आस्ते', 'जले सन्ति मत्स्याः' इत्यादि। अभिव्यापकातिरिक्तं गौणम् अधिकरणम् इति बोध्यम्।

वह 'अधिकरण' तीन प्रकार का होता है—'अभिव्यापक', 'औपश्लेषिक' तथा 'वैषयिक'। उनमें सम्पूर्ण अवयवों में (आधेय के) व्याप्त रहने पर व्यापक ('अभिव्यापक') आधारता है। जैसे—'तिलेषु तैलम् अस्ति' (तिलों में तेल है) इत्यादि।

'उप' समीप में, 'श्लेष' सम्बन्ध (यह) 'उपश्लेष' (का अर्थ) है। उस ('उपश्लेष' अथवा सामीप्य सम्बन्ध) से (निर्धारित) किया गया 'औपश्लेषिक' अधिकरण है। इसीलिये "संहितायाम्" इस सूत्र के भाष्य में "इको यण् अचि" इत्यादि सूत्रों में 'औपश्लेषिक' आधार में सप्तमी (विभक्ति)" कही गयी है। वहाँ ("इको यण् अचि" आदि सूत्रों में) 'अज्' आदि से 'इक्'

१. तुलना करो महा० ६.१.९६;
"अधिकरणं नाम त्रिप्रकारम्—व्यापकम्, औपश्लेषिकम्, वैषयिकम् इति। शब्दस्य च शब्देन कोऽन्योऽभिसम्बन्धो भवितुम् अर्हति अन्यद् अत उपश्लेषात्? 'इको यण् अचि'—अचि उपश्लिष्टस्य इति"।

२. ह०—मासम्।

३. तुलना करो—महा० ५.१.९६;
"यथैव हि यत् मासे कार्यं तत् मासे भवं भवति। एवं यद् अपि मासे दीयते तद् अपि मासे भवं भवति ...एवं तर्हि औपश्लेषिकम् अधिकरणं विज्ञास्यते"।
तथा महा० उद्द्योत टीका ६.१.७२;
"अत एव मासेऽतिक्रान्ते यद् दीयते तस्य मास औपश्लेषिकम् अधिकरणम् इति 'तत्र च दीयते०' इति सूत्रे महाभाष्ये स्पष्टम्"।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



...दि का समीपता ही (अभीष्ट) है। (इसी प्रकार) "तत्र च दीयते कार्यं भववत्" इस सूत्र के भाष्य में यह कहा गया कि "मास के बीत जाने पर जो दिया जाता है उसका 'औपश्लेषिक' अधिकरण मास है"। कैयट ने जो 'कटे आस्ते' इस (प्रयोग) को 'औपश्लेषिक' ('अधिकरण') का उदाहरण कहा है वह उपर्युक्त भाष्य के विरोध के कारण अनुचित है।

इन दोनों (अधिकरणों) से भिन्न 'वैषयिक' अधिकरण है। (इसके उदाहरण हैं) 'कटे आस्ते' (चटाई पर बैठता है) तथा 'जले सन्ति मत्स्याः' (पानी में मछलियाँ हैं) इत्यादि।

'अभिव्यापक' (अधिकरण) से भिन्न ('औपश्लेषिक' तथा 'वैषयिक' (अधिकरण) गौण अधिकरण है यह जानना चाहिये।

यहाँ 'अधिकरण' के तीन प्रकार माने गये हैं। 'अधिकरण' के इस त्रिविध वर्गीकरण का आधार है "संहितायाम्" (पा० ७.१.७२) सूत्र के भाष्य में पतंजलि का यह कथन—"अधिकरणं नाम त्रिप्रकारम्—व्यापकम्, औपश्लेषिकम्, वैषयिकम् इति"। "तद् अस्मिन् अधिकम् इति दशान्ताड् डः" (पा० ५.२.४५) इस सूत्र के भाष्य में भी इन तीन अधिकरणों का निर्देश मिलता है:—"यद्यपि तावद् व्यापके वैषयिके वा अधिकरणत्वे सम्भवो नास्ति, औपश्लेषिकम् अधिकरणं विज्ञास्यते - एकादशं कार्षापणा उपश्लिष्टा अस्मिन् शते एकादशं शतम्"।

**अभिव्यापक**:— अधिकरण के इन तीन प्रकारों में मुख्य अधिकरण व्यापक अथवा 'अभिव्यापक' अधिकरण है। इसकी परिभाषा यह मानी गयी है कि "जहाँ आधार के प्रत्येक अवयव में आधेय की सत्ता व्याप्त हो वह आधार 'अभिव्यापक' अधिकरण है"। इसी 'अभिव्यापक' आधार को पतंजलि ने न्याय्य आधार माना है। द्र०—"अधिकरणम् आचार्यः किं न्याय्यं मन्यते? यत्र कृत्स्न आधारात्मा व्याप्तो भवति। तेन इहैव स्यात्—'तिलेषु तैलम्', 'दध्नि सर्पिः'" (महा० १.३.११) तथा "आधारम् आचार्यः किं न्याय्य मन्यते? यत्र कृत्स्न आधारात्मा व्याप्तो भवति। तेन इहैव स्यात्—'तिलेषु तैलम्', 'दध्नि सर्पिः'" (महा० १.४.४२)। इसी कारण इस प्रसंग के अन्त में स्वयं नागेश ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'अभिव्यापक' अधिकरण से भिन्न अन्य जो दो अधिकरण हैं वे गौण हैं:—"अभिव्यापकातिरिक्तं गौणम् अधिकरणं बोध्यम्"।

**औपश्लेषिक**:—'उपश्लेष' शब्द का अर्थ नागेश ने यहाँ सामीप्य सम्बन्ध किया है। इस सामीप्य सम्बन्ध की दृष्टि से जो आधार है वह 'औपश्लेषिक' अधिकरण है। "संहितायाम्" सूत्र के भाष्य में विद्यमान जिस वाक्य की ओर नागेश ने यहाँ संकेत किया है वह है:—"शब्दस्य शब्देन कोऽन्योऽभिसम्बन्धो भवितुम् अर्हति अन्यद् अत उपश्लेषात्? 'इको यण् अचि उपश्लिष्टस्य' इति", अर्थात्—उपर्युक्त अधिकरणों में एक शब्द की दृष्टि से दूसरे शब्द में किस प्रकार की आधारता हो सकती है सिवाय 'औपश्लेषिकता' के। 'अचि' में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। अतः उसका तात्पर्य केवल यही हो सकता है कि 'अच्' प्रत्याहार के वर्णों से 'उपश्लिष्ट', अर्थात उनके समीप, जो 'इक्' प्रत्याहार के वर्ण।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसी प्रकार "तत्र च दीयते०" इस सूत्र के भाष्य में भी यह कहा गया कि 'मास के बीतने पर वेतन के रूप में दिये जाने वाले अन्न की दृष्टि से मास (महीना) 'औपश्लेषिक' अधिकरण है। पतंजलि ने ऊपर के इन दो वक्तव्यों में 'औपश्लेषिक' अधिकरण के जो उदाहरण दिये हैं उनके स्वरूप को देखते हुए 'कटे आस्ते' या 'कूपे गर्गकुलम्' जैसे प्रयोगों में 'औपश्लेषिक' आधार मानना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि उपर्युक्त दोनों स्थलों में 'सामीप्य' सम्बन्ध-कृत आधार की प्रतीति नहीं होती। इसीलिये नागेश ने यहाँ कैयट के इस कथन का—कि 'कटे आस्ते' जैसे प्रयोग 'औपश्लेषिक' अधिकरण के उदाहरण हैं—खण्डन किया है। इस प्रकार, इस ग्रन्थ के प्रणेता की दृष्टि में 'कटे आस्ते' जैसे प्रयोग विषय सप्तमी या 'वैषयक' अधिकरण के उदाहरण हैं।

परन्तु भर्तृहरि की कारिका :—

**उपश्लेषस्य चाभेदस् तिलाकाशघटादिषु।**
**उपकारात्तु भिद्यन्ते संयोग-समवायिनाम्॥**

(वाप० ३.७.१४६)

तथा इसकी हेलाराज-कृत व्याख्या से यह स्पष्ट है कि 'कटे आस्ते' जैसे प्रयोग भर्तृहरि को 'औपश्लेषिक' अधिकरण उदाहरण के रूप में ही अभीष्ट हैं। द्र०— "संयोगिनः कटस्य सकल-अवयव-व्याप्त्या देवदत्तोपश्लेषो न दृश्यते अपितु कतिपय-अवयव-व्याप्त्या इत्यविशेषाद् 'औपश्लेषिकः' इति सामान्य-संज्ञाया आधारोऽयम् उच्यते"।

नागेश भट्ट ने लघुमंजूषा में "उप' समीपे, 'श्लेषः' सम्बन्धः 'उपश्लेषः'। तत्कृतम् औपश्लेषिकम्" इस प्रसंग को अन्यों के मत के रूप में 'केचित्तु' इस सर्वनाम के द्वारा प्रस्तुत किया है तथा प्रसंग के अन्त में, सम्भवतः भर्तृहरि के मत का समर्थन करते हुए, यह कहा है कि आधार के किसी एक अवयव या कुछ अवयवों में 'आधार की विद्यमानता अथवा व्याप्ति को भी 'उपश्लेष' कहा जाता है। इसके उदाहरण है— 'कटे आस्ते' इत्यादि प्रयोग। द्र०—'यत् किंचिद् अवयवावच्छेदेन आधारस्य आधेयेन व्याप्तिरप्युपश्लेषः। यथा—'कटे आस्ते' इति। एवम् एव गर्गैकदेशे तरन्तीषु गोषु कूपैकदेशे स्थिते गर्ग-कुले 'गंगायां गावः', 'कूपे गर्ग-कुलम्' इत्यादौ बोद्धव्यम्" (लम० पृ० १३२६-२७)। महाभाष्य (६.१.१७२) की अपनी उद्द्योत टीका में भी नागेश भट्ट ने इसी बात को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है :—"किंच श्लेषस्य मुख्यस्य सर्वाधार-व्याप्तिरूपस्य समीपं यद् आधारीयं यत् किंचिद् अवयव-व्याप्तिरूपं तत्कृतम् औपश्लेषिकम्। यथा—'कटे आस्ते"।

यों तो लघुशब्देन्दुशेखर (गुरुप्रसाद-सम्पादित १९३६, पृ० ७७२-७३) में भी नागेश ने परम० के इस स्थल की बात को ही सर्वथा अभिन्न रूप में कहा है तथा 'कटे आस्ते' आदि को 'औपश्लेषिक' का उदाहरण नहीं माना है। परन्तु वहीं मतान्तर के रूप में उसे भी स्वीकार भी कर लिया है। द्र० — "यद् वा एकदेशावच्छेदेन श्लेषेऽपि श्लेषस्य समीपम् 'उपश्लेषम्'। तत्कृतम् इति व्युत्पत्त्या औपश्लेषिकत्वम्— इत्यभिप्रायेण तदुदाहरणान्तत्"।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस रूप में यह स्पष्ट है कि नागेश भट्ट ने लघुमंजूषा, शब्देन्दुशेखर तथा महाभाष्य की उद्द्योत टीका में 'कटे आस्ते' जैसे प्रयोगों को 'औपश्लेषिक' अधिकरण का उदाहरण माना है। परन्तु यहाँ परमलघुमंजूषा में उन्हीं प्रयोगों को वे विषय सप्तमी का उदाहरण क्यों मान बैठे ?—यह बात समझ में नहीं आती।

**वैषयिक** :—'अभिव्यापक' तथा 'औपश्लेषिक' आधारों से भिन्न आधार को 'वैषयिक' अधिकरण माना गया है। 'अभिव्यापक' आधार में आधेय 'समवाय' सम्बन्ध से रहता है तथा 'औपश्लेषिक' आधार में आधेय, पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार, या तो 'सामीप्य' सम्बन्ध से रहता है अथवा 'संयोग' सम्बन्ध से रहता है। इसलिये इन तीनों सम्बन्धों से भिन्न 'विषयता' सम्बन्ध से आधेय जब आधार में रहता है तो उस आधार को 'वैषयिक' अधिकरण माना जाता है। 'विषयाद् आगतम् वैषयिकम्', अर्थात् 'विषयता' सम्बन्ध से जब किसी को आधार माना जाता है तब वहाँ 'वैषयिक' अधिकरण होता है।

वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा में 'वैषयिक' अधिकरण की परिभाषा करते हुए नागेश ने कहा है :—"अप्राप्ति-पूर्वक-प्राप्तिरूप-संयोगः", अर्थात् जहाँ प्राप्ति न होते हुए भी प्राप्तिरूप संयोग की बात कही जाय वह 'वैषयिक' अधिकरण होता है। जैसे - 'खे शकुनयः' (आकाश में पक्षियाँ है)। इस प्रयोग में आकाश के अवयव वास्तविक न होकर कल्पित हैं। अतः अवयवों के साथ पक्षियों का सम्बन्ध भी कल्पित ही है। द्र०—"खे शकुनयः' इत्यादौ अकाश-कल्पित-देश-सम्बन्धाद् वैषयिकत्वम्" (महा० उद्द्योत टीका ६.१.७२)। इसी प्रकार 'मोक्षे इच्छा अस्ति' इस प्रयोग में इच्छा का मोक्ष विषय है। या दूसरे शब्दों में 'कर्तृ'-भूत इच्छा में विद्यमान सत्तारूप क्रिया के प्रति 'मोक्ष' विषयता सम्बन्ध से आधार हैं। अतः यहाँ भी 'वैषयिक' अधिकरण है।

यहाँ नागेशभट्ट ने 'वैषयिक' अधिकरण के जो 'कटे आस्ते', 'जले सन्ति मत्स्याः' उदाहरण दिये है वे वस्तुतः 'औपश्लेषिक' अधिकरण के हैं—यह नागेश भट्ट ने ही वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा, शब्देन्दुशेखर तथा महाभाष्य की उद्द्योत टीका में स्वयं स्वीकार किया है, यह ऊपर दिखाया जा चुका है।

**अभिव्यापकातिरिक्तं गौणम् अधिकरणम्** :—इन तीनों अधिकरणों में 'अभिव्यापक' अधिकरण ही प्रमुख या न्याय्य अधिकरण है क्योंकि उसमें आधेय अपने आधार को, 'समवाय' सम्बन्ध से, सर्वात्मना अभिव्याप्त करता है। इसीलिये महाभाष्यकार पतंजलि ने बड़े स्पष्ट शब्दों में दो बार कहा— "अधिकरणम् आचार्यः किं न्याय्यं मन्यते ? यत्र कृत्स्न आचारात्मा व्याप्तो भवति"। (द्र०—महा० १.३.११ तथा १.४.४२)। 'औपश्लेषिक' अधिकरण में यह व्याप्ति, 'समवाय' सम्बन्ध से न हो कर, कुछ अंशों की दृष्टि से 'संयोग' या 'सामीप्य' सम्बन्ध से ही होती है। अथवा यदि 'समवाय' सम्बन्ध से भी वहाँ व्याप्ति मानी जाय तो भी वह प्रमुख न हो कर गौण रूप से ही रहती है। इसी प्रकार 'वैषयिक' अधिकरण में केवल 'विषयता' सम्बन्ध से आधेय आधार में रहता है। अतः 'अभिव्यापक' अधिकरण की प्रमुखता तथा 'औपश्लेषिक' और 'वैषयिक' अधिकरण की गौणता स्पष्ट है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[भावसप्तमी या सत्सप्तमी का अर्थ]

ज्ञापक-क्रियाश्रय-वाचकाद् उत्पन्नायाः सत्सप्तम्यास् तु क्रियान्तर-ज्ञापकत्वम् अर्थः। तत्र अनिर्णीत-कालिकायाः क्रियायाः निर्णीत-कालिका ज्ञापिका। 'गोषु दुह्यमानासु गतः' इत्यादौ "गो-निष्ठ-दोहन-क्रिया-ज्ञापित-गमनाश्रयश् चैत्रः" इति बोधः।

ज्ञापक (अन्य क्रिया के देश तथा काल के बोधक) क्रिया के आश्रय के वाचक (शब्द) से उत्पन्न 'सत्सप्तमी' का तो दूसरी क्रिया की ज्ञापकता अर्थ है। वहाँ जिसके काल (तथा देश) का निश्चित रूप से ज्ञान नहीं है उस क्रिया का निश्चित काल वाली क्रिया बोध कराती है। "गोषु दुह्यमानासु गतः' (गायों को दुहते समय गया) इत्यादि (प्रयोगों) में 'गो में विद्यमान दोहन क्रिया के द्वारा ज्ञापित गमन (क्रिया) का आश्रय चैत्र" यह बोध होता है।

पाणिनि ने "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" (पा० २.३.३७) सूत्र से जिस सप्तमी का विधान किया है उसी के अर्थ का यहाँ उल्लेख किया गया है। पाणिनि के इस सूत्र का अर्थ है 'जिस क्रिया से दूसरी लक्षित होती है उस (क्रियान्तर-लक्षिका) क्रिया का जो आश्रय उसके वाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है'। जैसे—'गोषु दुह्यमानासु गतः' जैसे प्रयोगों में 'गो' तथा 'दुह्यमान' ये दोनों शब्द दोहन क्रिया के आश्रय के वाचक हैं। यह दोहन क्रिया गमन क्रिया के समय का बोध कराती है। इसलिये इन दोनों शब्दों के साथ सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त हुई।

इस सूत्र के 'भाव-लक्षणम्' पद में जो 'लक्षण' अंश है उसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए पतंजलि ने कहा है— "न खल्ववश्यं तदेव लक्षणं भवति येन पुनः पुनर्लक्ष्यते। सकृद् अपि यत् निमित्तत्वाय कल्पते तद् अपि लक्षणं भवति"। अर्थात्—'लक्षण' शब्द यहाँ व्याप्ति-ज्ञान-सापेक्ष नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि—'जिस प्रकार धूआं आग का लक्षक या अनुमापक है उसी तरह यदि कोई क्रिया किसी दूसरी क्रिया को लक्षित या अनुमित कराये तभी इस सूत्र से सप्तमी विभक्ति होगी'—यह अर्थ 'लक्षण' शब्द का नहीं मानना चाहिये। यदि ऐसा होता तब तो केवल 'उदयति सवितरि तमो नष्टम्' (सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो गया), 'धूमे सति वह्निर्भवति' (धूएँ के होने पर आग होती है) जैसे प्रयोगों में ही, इस सूत्र के अनुसार, सत्सप्तमी का प्रयोग होता। 'गोषु दुह्यमानासु गतः' जैसे प्रयोग, जिनमें इस प्रकार की अनुमापिका क्रिया नहीं है, सत्सप्तमी के उदाहरण के रूप में प्रचलित नहीं हो पाते। यहाँ 'व्याप्ति,' अथवा क्रियानुमापकता का भूयोदर्शन नहीं है कि जब जब गायें दुही जाती है तब तब वह जाता ही हो। इस रूप में पतंजलि के कथनानुसार, यहाँ के 'लक्षण' शब्द से वह क्रिया भी अभिप्रेत है जो केवल एक बार ही दूसरी क्रिया का बोध कराती है। इसलिये 'गोषु दुह्यमानासु गतः' जैसे प्रयोगों में भी यह सप्तमी प्रयुक्त होती है। इस प्रकार, इस सूत्र के अर्थ के अनुसार, इस 'सत्सप्तमी' विभक्ति का अर्थ 'ज्ञाप्य-ज्ञापक-भाव' अथवा 'दूसरी क्रिया का ज्ञापन कराना' है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



जिस क्रिया के देश अथवा काल श्रोता को निश्चित रूप से ज्ञात हैं उस क्रिया का निर्देश करते हुए जब यह कहा जाता है कि दूसरी क्रिया भी उसी समय हुई तो श्रोता को उस दूसरी क्रिया के, जिस के स्थान अथवा काल का उसे ज्ञान नहीं है, स्थान या काल का अनुमान हो जाता है। यही क्रिया की 'लक्षणता' है। द्र०—"लक्षणशब्दः क्रिया-निमित्तकः – लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्। यच्च निर्ज्ञातकालं हवनादिकम् अनिर्ज्ञातकालस्य सकृद् अपि काल-परिच्छेद-निमित्तं भवति तत् तस्य लक्षणम्" (महा० प्रदीप टीका २.३.३७)।

यहाँ 'अनिर्णीतकालिकायाः' तथा 'निर्णीतकालिका' इन दोनों स्थलों में 'काल' शब्द 'देश' (स्थान) का भी उपलक्षण है। काल का उदाहरण है—'गोषु दुह्यमानासु गतः' इत्यादि। देश या स्थान का उदाहरण है—'गुणे द्रव्यत्वम् अस्ति' इत्यादि। द्र०—'निर्ज्ञात-देश-काल-क्रिया अनिर्ज्ञात-देश-काल-क्रियायाः सम्बन्धि-देश-काल-परिच्छेदकत्वेन लक्षणम् इति बोध्यम्" (लघुमंजूषा पृ० १३३१)।

**[षष्ठी विभक्ति का अर्थ]**

कारक-प्रातिपदिकार्थ-व्यतिरिक्तः स्व-स्वामि-भावादिः सम्बन्धः षष्ठ्या वाच्यः। तत्र 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ षष्ठी-वाच्य-सम्बन्धस्य आश्रयाश्रयि-भाव-सम्बन्धेन पुरुषेऽन्वयः। 'राज-निरूपित-सम्बन्धवान् पुरुषः' इति बोधात्।

'कारक' तथा 'प्रातिपदिकार्थ' से अतिरिक्त 'स्व-स्वामि-भाव' आदि सम्बन्ध षष्ठी (विभक्ति) का अर्थ है। वहाँ 'राज्ञः पुरुषः' (राजा का आदमी) इत्यादि (प्रयोगों) में षष्ठी (विभक्ति) के वाच्य (अर्थ) 'सम्बन्ध' ('स्व-स्वामि-भाव') का पुरुष में 'आश्रयाश्रयिभाव' से अन्वय होता है क्योंकि ('राज्ञःपुरुषः' इस प्रयोग से) 'राजा के सम्बन्ध से युक्त पुरुष' यह बोध होता है।

आचार्य पाणिनि ने "षष्ठी शेषे" (पा० २.३.५०) सूत्र के द्वारा षष्ठी विभक्ति का विधान किया है। इस सूत्र में 'शेष' शब्द से, पहले विहित 'कारकार्थ' तथा 'प्रातिपदिकार्थ' से अतिरिक्त, स्व-स्वामि-भाव' आदि सम्बन्ध ही अभिप्रेत हैं। इसीलिये पतंजलि ने इस सूत्र के भाष्य (२.३.५० पृ० ३०८) में कहा—"कर्मादिभ्यो येऽन्येऽर्थाः स शेषः"। यहाँ पतंजलि के 'कर्मादि' शब्द में 'कर्म' आदि 'कारक' तथा 'प्रातिपदिकार्थ' दोनों ही अर्थ सङ्गृहीत हैं। इसलिये ये 'स्व-स्वामि-भाव' आदि सम्बन्ध ही षष्ठी विभक्ति के वाच्य अर्थ हैं। तुलना करो—"कर्मादिभ्योऽन्यः प्रातिपदिकार्थ-व्यतिरिक्तः स्व-स्वामि-सम्बन्धादिः शेषः" (काशिका २.३.५०)। उदाहरण के लिये 'राज्ञः पुरुषः' इस प्रयोग में 'राजा' शब्द के साथ जो षष्ठी विभक्ति आयी है उसका वाच्यार्थ है 'राजा का', अर्थात् 'राजा रूप स्वामी का स्वम्' (सम्पत्ति), अथवा 'स्व-स्वामि-भाव-सम्बन्ध'। यहाँ 'सम्बन्ध' पुरुष में आश्रित है। इसलिये 'राज्ञः पुरुषः' का अर्थ है—'राजा के सम्बन्ध से युक्त पुरुष', अर्थात् 'राजा रूप स्वामी की पुरुष रूप सम्पत्ति'।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिये महाभाष्य (२.३.५०) में यह प्रश्न किया गया है कि 'कारक' तथा 'प्रातिपदिकार्थ' से भिन्न या अतिरिक्त तो कोई विषय होता ही नहीं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'राज्ञः पुरुषः' इत्यादि प्रयोगों में भी राजा 'कर्ता' है तथा पुरुष 'सम्प्रदान' है क्योंकि 'राज्ञः पुरुषः' कहने पर यह बोध होता है कि राजा पुरुष को वेतन आदि देता है और पुरुष उसे, अपनी सेवा के बदले में, लेता है। अथवा पुरुष 'कर्ता' है तथा राजा 'कर्म' है क्योंकि 'राज्ञः पुरुषः' कहने पर कभी-कभी यह अर्थ भी प्रतीत होता है कि पुरुष राजा की सेवा करता है। इस तरह राजा को 'कर्ता' और पुरुष को 'सम्प्रदान' मानने अथवा पुरुष को 'कर्ता' और राजा को 'कर्म' मानने पर 'स्व-स्वामि-भाव-सम्बन्ध' बन ही नहीं सकता क्योंकि सम्बन्ध का मूल कारण है उनमें किसी न किसी क्रिया और किसी न किसी 'कारक' की विद्यमानता। जहाँ तक 'स्व-स्वामि-भाव' रूप सम्बन्ध की बात है—कोई भी वस्तु किसी की अपनी सम्पत्ति तभी बनती है यदि उसको खरीदा जाय, या छीना जाय, या मांगा जाय, अथवा किसी अन्य वस्तु के बदले लिया जाय। इन सभी रूपों में 'कर्म' आदि 'कारक' होंगे ही। वस्तुतः क्रिया तथा 'कारक' सम्बन्ध के कारण हैं और सम्बन्ध कार्य अथवा फल है। इसलिये 'स्व-स्वामि-भाव' आदि सभी सम्बन्ध 'कर्म' आदि कारकों से अतिरिक्त हों यह बात सुसङ्गत नहीं प्रतीत होती। द्र०—

"कः 'शेषो' नाम ? कर्मादिभ्यो येऽन्येऽर्थाः स शेषः। यद्येवं 'शेषो' न प्रकल्पते। नहि कर्मादिभ्योऽन्येऽर्थाः सम्भवन्ति। इह तावद् 'राज्ञः पुरुषः' इति राजा कर्ता पुरुषः सम्प्रदानम्। 'वृक्षस्य शाखा' इति वृक्षः शाखाया अधिकरणम्। तथा यद् एतत् स्व नाम चतुर्भिर् एतत् प्रकारैः भवति—क्रयणाद्, अपहरणाद्, याञ्चायाः, विनिमयात्। अत्र सर्वत्र कर्मादयः सन्ति। एवं तर्हि कर्मादीनाम् अविवक्षा शेषः (महा० २.३.५० पृ० ३०८-१०)।

इसलिये यही मानना चाहिये कि 'स्व-स्वामि-भाव-सम्बन्ध' यद्यपि क्रिया तथा कारक पूर्वक ही रहता है फिर भी कारकों से अतिरिक्त रूप में वह षष्ठी विभक्ति के द्वारा विवक्षित होता है। इस प्रकार कारकों से भिन्न रूप में 'सम्बन्ध' का दो प्रकार से कथन पाया जाता है। पहले प्रकार में क्रिया अकथित या अश्रुत रहती है। जैसे 'राज्ञः पुरुषः' आदि प्रयोगों में दान आदि क्रियायें नहीं कही गयीं। यहाँ क्रिया के अश्रुत होने पर क्रिया-कारक-सम्बन्ध के द्वारा एक अन्य 'स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध' की प्रतीति होती है। दूसरे प्रकार में क्रिया उच्चरित या श्रुत रहती है। जैसे—'मातुः स्मरति' (माँ को याद करता है)। इस प्रकार के प्रयोगों में, क्रिया-वाचक शब्द के कथित रहने पर भी, 'कर्म' आदि कारकों की विवक्षा न हो कर माता स्मरण के प्रति विशेषण है—स्मरण 'मातृ-सम्बन्धी है'—यही यहाँ विवक्षित है। ऐसे प्रयोगों में षष्ठी विभक्ति का अर्थ 'विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध' अथवा 'विषय-विषयि-सम्बन्ध' है। इसी अभिप्राय को भर्तृहरि ने निम्न कारिका में संक्षेप में प्रस्तुत किया है :—

**सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रिया-कारक-पूर्वकः।**
**श्रुतायाम् अश्रुतायां वा क्रियायाम् अभिधीयते॥** (वाप० ३.७.१५६)

**['राज्ञः पुरुषः' जैसे प्रयोगों में, सम्बन्ध 'राजा' तथा 'पुरुष' दोनों में है इसलिये, 'राज्ञः' के समान, 'पुरुष' शब्द में भी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग प्राप्त है—इस शङ्का का समाधान]**

ननु सम्बन्धस्य उभय-निष्ठत्वात् 'पुरुष'-शब्दाद् अपि षष्ठ्युत्पत्तिर् अस्तु इति चेत् ? न। 'राज-सम्बन्धि-पुरुषः'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इति विवक्षायां राजशब्दाद् एव षष्ठी, "प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्" इति **व्युत्पत्त्यनु**[1]रोधात् । अन्यथा तद्-विवक्षायां 'राजा पुरुषस्य' इति पुरुषशब्दात् षष्ठ्यां पुरुषार्थं प्रति षष्ठ्यर्थस्य विशेषण-त्वापत्त्या व्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः । अत एव आह :—

**भेद्य-भेदकयोश्चैक**[2]**-सम्बन्धोऽन्योऽन्यम् इष्यते ।**
**द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात् ।।** इति ।

'भेदक:' सम्बन्ध-निरूपकः । 'भेद्यः'निरूपि[3]त-सम्बन्धाश्रयः ।

## इति षट् कारकाणि ।

('स्व-स्वामि-भाव' रूप) सम्बन्ध के (राजा तथा पुरुष) दोनों में स्थित होने के कारण ('राज्ञः पुरुषः' इस प्रयोग के) 'पुरुष' शब्द से भी षष्ठी विभक्ति) होनी चाहिये—यदि यह कहा जाय तो वह उचित नहीं है क्योंकि "प्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययार्थ में प्रत्ययार्थ की ही प्रधानता होती है" इस व्युत्पत्ति (न्याय) के अनुरोध से 'राजा का सम्बन्धी पुरुष' इस प्रकार की विवक्षा होने पर 'राजा' शब्द से ही षष्ठी (विभक्ति) होगी ('पुरुष' शब्द से नहीं) । अन्यथा (यदि 'पुरुष' शब्द से भी षष्ठी विभक्ति होती है तो) उस ('राजा सम्बन्धी पुरुष' इस अर्थ) की विवक्षा होने पर 'राजा पुरुषस्य' (पुरुष का राजा) इस (वाक्य) में 'पुरुष' शब्द से षष्ठी विभक्ति के (प्रयुक्त) होने से, 'पुरुष' (शब्द) अर्थ के प्रति षष्ठ्यर्थ (सम्बन्ध) के विशेषण होने के कारण, (उपर्युक्त) व्युत्पत्ति से विरोध होता है । इसीलिये कहते हैं :—

भेद्य (विशेष्य) तथा भेदक (विशेषण) दोनों में परस्पर एक ही सम्बन्ध अभीष्ट है । यद्यपि सम्बन्ध दोनों में रहता है परन्तु भेदक (विशेषक) शब्द से ही षष्ठी (विभक्ति) की उत्पत्ति होती है ।

यहाँ (कारिका में) 'भेदक' (का अभिप्राय) है सम्बन्ध का ज्ञापक (प्रतियोगी या विशेषण) । 'भेद्य' (का अभिप्राय) है ज्ञापित सम्बन्ध का आश्रय (अनुयोगी या विशेष्य) ।

यह ६ 'कारकों'-विषयक विवेचन समाप्त हुआ ।

यहाँ यह प्रश्न किया गया है कि राजा तथा पुरुष में जो 'स्व-स्वामि-भाव' सम्बन्ध है वह राजा तथा पुरुष दोनों में है, क्योंकि सम्बन्ध सदा ही दो में रहा करता है । एक सम्बन्ध का 'प्रतियोगी' होता है तो दूसरा उसका 'अनुयोगी', एक का सम्बन्ध होता है तो दूसरे में सम्बन्ध होता है । यहाँ 'राजा' सम्बन्ध का 'प्रतियोगी' है तथा पुरुष 'अनुयोगी' । इसलिये, जब सम्बन्ध दोनों में ही रहता है तो, केवल 'राजन्'

1. ह०—तद्व्युत्पत्ति ।
2. ह० —एव ।
3. प्रकाशित संस्करणों में 'निरूपि' नहीं है । ह० (२) में 'तन्निरूपित'-पाठ है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



शब्द के साथ ही षष्ठी विभक्ति का प्रयोग क्यों होता है, कभी 'पुरुष' शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति का नियोजन करके 'राजा पुरुषस्य' प्रयोग क्यों नहीं किया जाता? तुलना करो :—"यथैव तर्हि राजनि स्वकृतं स्वामित्वं तत्र षष्ठी भवति एवं पुरुषेऽपि स्वामिकृतं स्वत्वं तत्र षष्ठी प्राप्नोति" (महा० २.३.५०)।

प्रश्न का उत्तर यह दिया गया कि यहाँ 'राजा रूप स्वामी का पुरुष रूप स्वम् (सम्पत्ति)' यह अर्थ विवक्षित है। इसलिये इस विवक्षा को प्रकट करने के लिये केवल 'राजन्' शब्द के साथ ही षष्ठी विभक्ति आ सकती है। कारण यह है कि इस स्थिति में ही 'राजन्' शब्द के साथ आई षष्ठी विभक्ति रूप 'प्रत्यय' का अर्थ प्रधान अथवा विशेष्य होगा क्योंकि एक परिभाषा है "प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्" (प्रकृति के अर्थ तथा प्रत्यय के अर्थ में प्रत्यय के अर्थ की प्रधानता होती है)। षष्ठी विभक्ति प्रत्यय है, इसलिये उस के अर्थ—'सम्बन्ध'—में, 'राजन्' शब्द जो प्रकृति है उसका अर्थ विशेषण होगा। और यह 'सम्बन्ध' 'पुरुष' शब्द के अर्थ के प्रति विशेषण बनेगा। इस प्रकार 'राज्ञः पुरुष' का अर्थ होगा— 'राजा के सम्बन्ध से युक्त पुरुष'। इस अर्थ को ही प्रकट करना वक्ता को यहाँ अभीष्ट है।

परन्तु यदि 'राजा पुरुषस्य' इस रूप में 'पुरुष' शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया तो उलटी स्थिति हो जायगी। षष्ठी विभक्ति का अर्थ 'सम्बन्ध', प्रत्ययार्थ होने के कारण उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार, प्रधान अथवा विशेष्य होगा तथा पुरुष, प्रकृत्यर्थ होने के कारण, विशेषण होगा। इस रूप में 'पुरुष' से विशिष्ट 'सम्बन्ध' 'राजा' का विशेषण होगा। अतः 'पुरुष के सम्बन्ध से युक्त राजा' यह अर्थ प्रकट होगा। परन्तु वक्ता को 'राजा सम्बन्धी पुरुष' इस अर्थ को प्रकट करना अभीष्ट है। इसलिये 'पुरुष' शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग नहीं किया जाता। 'पुरुष' शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग तो तभी हो सकता है जब 'पुरुष के सम्बन्ध से युक्त राजा' या 'पुरुष का राजा' यह अर्थ विवक्षित हो।

**'पुरुष' शब्दात् षष्ठ्यां·····आपत्तेः**—'राजा सम्बन्धी पुरुष' इस अर्थ के विवक्षित होने पर भी यदि 'राजन्' के साथ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग न करके 'पुरुष' के साथ उसका प्रयोग किया गया तो, एक विशेष कठिनाई आयेगी। 'सम्बन्ध' षष्ठी विभक्ति का अर्थ है इसलिये, प्रत्ययार्थ होने के कारण, प्रकृत्यर्थ 'पुरुष' की अपेक्षा 'सम्बन्ध' की प्रधानता होनी चाहिये, अर्थात् 'पुरुष' विशेषण तथा 'सम्बन्ध' विशेष्य बनना चाहिये। परन्तु यहाँ वक्ता की विवक्षा में 'सम्बन्ध' विशेषण है तथा 'पुरुष' विशेष्य। इस प्रकार उपर्युक्त न्याय का अतिक्रमण होता है। अतः 'पुरुष' शब्द से षष्ठी विभक्ति इस विवक्षा में नहीं आ सकती। तुलना करो :—"राजन् शब्दाद् उत्पद्यमानया षष्ठ्या अभिहितः सोऽर्थ इति कृत्वा पुरुषशब्दात् षष्ठी न भविष्यति। न तर्हि इदानीम् इदं भवति 'पुरुषस्य राजा' इति? भवति। राजशब्दात्तु तदा प्रथमा" (महा० १.३.५०, पृ० ३१५)।

इसी तथ्य को उपर्युद्धृत कारिका "भेद्य···भेदकात्" में स्पष्ट किया गया है। इस कारिका का अभिप्राय यह है कि 'भेद्य' तथा 'भेदक' अर्थात् 'प्रतियोगी' 'तथा अनुयोगी' या दूसरे शब्दों में विशेषण तथा विशेष्य दोनों में ही एक सम्बन्ध रहता है। परन्तु 'भेदक' (विशेषण) शब्द से ही षष्ठी विभक्ति होती है—'भेद्य' से नहीं। इसका कारण यह है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कि यदि 'भेद्य' (विशेष्य) शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया तो वह शब्द 'भेद्य' (या विशेष्य) न होकर 'भेदक' (विशेषण) बन जायगा और तब विवक्षित अर्थ से विपरीत अर्थ की प्रतीति होने लगेगी।

इस बात का उल्लेख भर्तृहरि की भी निम्न कारिका में मिलता है, जिसमें यह कहा गया है कि 'सम्बन्ध' 'परार्थ' अर्थात् दूसरे के लिये होते हैं। इसलिये 'सम्बन्ध' की स्थिति विशेषण तथा विशेष्य दोनों में होती है। इस रूप में ये 'सम्बन्ध' 'द्विष्ठ' हैं। फिर भी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग 'गुण' अर्थात् विशेषण-वाचक शब्द से ही होता है। भर्तृहरि की कारिका में जिसे 'गुण' कहा गया है उसे ही ऊपर की कारिका में 'भेदक' कहा गया है। 'भेदक', 'गुण' अथवा विशेषण शब्द के साथ ही षष्ठी विभक्ति के प्रयुक्त होने का कारण यह है कि विशेषण-वाचक शब्द में प्रयुक्त षष्ठी विभक्ति के द्वारा 'सम्बन्ध' का ज्ञान स्पष्ट रूप से होता है क्योंकि उस 'गुण' अथवा विशेषण-वाचक शब्द के द्वारा विशेष्य रूप से कहा जाता हुआ 'सम्बन्ध' प्रधान (विशेष्य-भूत 'पुरुष') में विशेषण के रूप में उपयुक्त होता है। द्रष्टव्य—

द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वाद् गुणेषु व्यतिरिच्यते।
तत्राभिधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते ॥
(वाप० २.७.१५७)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# नामार्थः

**[मीमांसकों के अनुसार शब्द की शक्ति जाति में है]**

अत्र **मीमांसकाः**[1]—शब्दानां जातौ शक्तिर् लाघवात् । व्यक्तीनाम् आनन्त्येन तत्र शक्तौ गौरवात् । "नागृहीत-विशेषणा बुद्धिर् विशेष्ये उपजायते" इति **न्यायस्य** 'विशेषणे शक्तिर् विशेष्ये लक्षणा' इति तात्पर्यात् ।

किंच एकस्यां व्यक्तौ शक्त्युपदेशे व्यक्त्यन्तरे तद्-अभावेन तद्-बोधाप्रसंगात् । 'गाम् आनय' इत्यादौ अन्वयानुपपत्त्या तद्-आश्रय-लक्षकत्वेन निर्वाहश्च—इत्याहुः ।

इस ('नामार्थ' या प्रातिपदिकार्थ के) विषय में मीमांसक विद्वानों का यह विचार है कि शब्दों की (अभिधा) 'शक्ति' 'जाति' (-रूप अर्थ को कहने) में है क्योंकि ऐसा मानने में लाघव है। व्यक्तियों के अनन्त होने के कारण उन (व्यक्तियों) में शब्द को शक्ति मानने में गौरव है तथा "नागृहीत-विशेषणा बुद्धिर् विशेष्ये उपजायते" (विशेषण का ज्ञान हुए बिना विशेष्य का ज्ञान नहीं होता) इस न्याय का अभिप्राय यह है कि 'विशेषण' ('जाति') में (शब्द की) 'शक्ति' होती है और 'विशेष्य' ('व्यक्ति') में शब्द को 'लक्षणा'।

इस के अतिरिक्त, एक 'व्यक्ति' में (शब्द की) 'शक्ति' है यह कहने पर (उसी जाति की) दूसरी व्यक्ति में (शब्द की 'शक्ति') का अभाव होने के कारण, उस ('व्यक्ति') का ज्ञान नहीं होगा। और 'गाम् आनय' (गौ को लाओ) इत्यादि (प्रयोगों) में (सम्पूर्ण गौ 'जाति' में 'आनयन' क्रिया का) अन्वय न होने के कारण, ('गाम्' पद को) उस ('जाति') के आश्रय ('व्यक्ति') का लक्षक मानने से काम चल जाता है।

शब्द की 'वाचकता' शक्ति 'जाति' में मानी जाय या 'व्यक्ति' में अथवा, शब्द से 'जाति' (पदार्थ के असाधारण 'धर्म') का बोध होता है या 'व्यक्ति' (द्रव्य-विशेष) का? यह प्रश्न बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। महाभाष्य से पता चलता है कि कोई प्राचीन वाजप्यायन नामक आचार्य शब्दों को 'जाति' का वाचक मानते थे—"आकृत्यभिधानाद् वा एकं विभक्तौ वाजप्यायनः" (महा० १.२.६४, पृ० १२५)। इस मत के विपरीत प्रसिद्ध आचार्य व्याडि, जिन्होंने सम्भवतः एक लाख वाले महान् ग्रंथ

---

१. ह०—तार्किकाः ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'महाभाष्य' की रचना की थी, यह मानते थे कि शब्द द्रव्यविशेष के वाचक होते हैं—"द्रव्याभिधानं व्याडिः" (महा० १.२.६४, पृ० १३१)। इस प्रकार एक वर्ग 'जाति' पक्ष का पोषक है तो दूसरा 'व्यक्ति' पक्ष का।

आचार्य पाणिनि ने यथावसर दोनों ही पक्षों को अपनाया है। 'जाति' पक्ष की दृष्टि से "जात्याख्यायाम्·····अन्यतरस्याम्" (पा. १.२.५८) सूत्र की रचना आचार्य ने की तथा 'व्यक्ति' या 'द्रव्य' पक्ष की दृष्टि से "सरूपाणाम् एक-शेष एक-विभक्तौ" (पा. १.२.६४) सूत्र की रचना उसी आचार्य ने की। वार्तिककार कात्यायन ने भी 'आकृति' अथवा 'जाति' पक्ष की दृष्टि से "आकृति-ग्रहणात् सिद्धम्" (महा०, भाग० १, पृ० ६६) अथवा "सवर्णेऽण्-ग्रहणम् अपरिभाष्यम् आकृतिग्रहणाद् अनन्यत्वम्" (महा० १.१.६८) जैसे वार्तिकों तथा 'व्यक्ति' पक्ष की दृष्टि से "रूप-सामान्याद् वा सिद्धम्" (महा० भा० १, पृ. ६८) जैसे वार्तिकों की रचना की। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी कहा है कि जाति-वाचक 'गौ' आदि शब्दों से 'जाति' भी कही जाती है तथा 'द्रव्य' या 'व्यक्ति' भी। द्र०—"एवं हि कश्चिन् महति गोमण्डले गोपालकम् आसीनं पृच्छति 'अस्त्यत्र काञ्चिद् गां पश्यसि' इति। स पश्यति 'पश्यति चायं गाः' पृच्छति च—'काञ्चिद् अत्र गां पश्यसि' इति। नूनम् अस्य द्रव्य विवक्षितम् इति। तद् यदा द्रव्याभिधानं तदा बहुवचनम् भविष्यति यदा सामान्याभिधानं तदैकवचनम् भविष्यति" (महा० १.२.५८, पृ० ६१-६२)।

**अत्र मीमांसकाः ··· गौरश्वात्** :—मीमांसक विद्वान् शब्दों का अर्थ 'जाति' मानते हैं। इसीलिये इन्हें 'जातिशक्तिवादी' कहा जाता है। यहाँ मीमांसकों के मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

'जाति' रूप अर्थ में शब्द की शक्ति मानने तथा 'व्यक्ति' रूप अर्थ में शब्द की शक्ति न मानने में प्रथम हेतु यहां 'लाघव' दिया गया है। 'व्यक्तियां' अनन्त हैं इसलिये उनकी दृष्टि से शब्दों में अनन्त वाचकता शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। परन्तु 'जाति' में शब्द की शक्ति मानने पर, 'जाति' एक है इसलिये, एक 'शक्ति' से ही कार्य चल जायगा, अनन्त 'शक्तियों' की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। यदि व्यक्तिशक्ति-वादी यह कहें कि एक 'व्यक्ति'-विषयक 'शक्ति' से दूसरी 'व्यक्तियों' का भी बोध मान लिया जायगा तो गो-व्यक्ति-विषयक 'शक्ति'-ज्ञान से अश्व-व्यक्ति-विषयक ज्ञान भी होने लगेगा। इस प्रकार 'व्यभिचार' दोष उपस्थित होगा। इसलिये यह मानना होगा कि शब्द से जिस 'व्यक्ति'-विषयक शक्ति का ज्ञान होता है उससे बोध भी उसी 'व्यक्ति' विषयक होता है। इस कारण सभी 'व्यक्तियों' के बोध के लिये अनन्त 'शक्तियों' की कल्पना करनी पड़ेगी। पर यदि शब्द का अर्थ 'जाति' माना जाता है तो 'जाति' के एक होने के कारण एक प्रकार की 'शक्ति' मानने से ही कार्य चल जायगा।

**नागृहीत····तात्पर्यात्** :—यदि यह कहा जाय कि "नागृहीत-विशेषणा बुद्धिर् विशेष्य उपजायते" इस न्याय की दृष्टि से 'विशेषण' तथा 'विशेष्य', अर्थात् क्रमशः 'जाति' तथा 'व्यक्ति', दोनों में शब्द की 'शक्ति' मानना आवश्यक है क्योंकि जब तक 'विशेषण' अर्थात् (जाति) का ज्ञान न हो तब तक 'विशेष्य' (व्यक्ति) का ज्ञान नहीं हो सकता —यह सिद्धान्त उपर्युक्त न्याय में प्रतिपादित किया गया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसका उत्तर, मीमांसकों की दृष्टि से, यहाँ यह दिया गया है कि, विशिष्ट ज्ञान के प्रति 'विशेषण' का ज्ञान कारण बनता है इसलिये, अतरङ्ग अथवा प्रमुख होने के कारण 'विशेषण' में ही शब्द की 'अभिधा' शक्ति माननी चाहिये। इस तरह उपर्युक्त न्याय का अभिप्राय यह है कि शब्द अपनी 'अभिधा' शक्ति से 'जाति' को कहता है तथा 'व्यक्ति' को यह 'लक्षणावृत्ति' से कहता है। इसी बात को "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर् विशेषणे" (काव्यप्रकाश, उल्लास २, का० १० की वृत्ति में उद्धृत) इस वक्तव्य में मीमांसकों ने स्पष्ट किया है. जिसका अभिप्राय है कि शब्द की 'अभिधा' शक्ति तो विशेषण अर्थात् 'जाति' को कहने में समाप्त हो जाती है—'जाति' को ही कह कर वह विरत हो जाती है। अतः 'विशेष्य' अर्थात् 'व्यक्ति' को वह नहीं कह पाती। 'व्यक्ति' के कथन के लिये शब्द में 'लक्षणा' वृत्ति की कल्पना करनी चाहिये।

**किंच एकस्यां···निर्वाहश्चेत्याहु** :—यदि 'व्यक्ति' पक्ष को मानने वाले यह कहें कि एक 'व्यक्ति' में शब्द की 'शक्ति' मानने में भी गौरव नहीं है, अर्थात् अनन्त 'शक्तियों' की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी तो उसमें कठिनाई यह है कि उस स्थिति में शब्द से केवल एक ही 'व्यक्ति' का बोध होगा अन्य 'व्यक्तियों' का बोध नहीं होगा। जैसे 'गो' शब्द केवल एक 'गो व्यक्ति' को ही कह सकेगा अन्य 'गो व्यक्तियों' को नहीं।

परन्तु 'जाति' में शब्द की 'शक्ति' मानने के इस मीमांसकों के सिद्धान्त में एक दोष यह उपस्थित होता है कि 'गाम आनय' जैसे प्रयोगों में, जहाँ 'व्यक्ति' का ही बोध अभिप्रेत है जाति का नहीं, 'व्यक्ति' का ज्ञान कैसे होगा ? इसका उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि 'गाम आनय' जैसे स्थलों में, 'आनयन' आदि क्रियाओं का अन्वय 'जाति' में असम्भव है। अतः, 'जाति' के आश्रयभूत 'व्यक्ति' में 'गो' जैसे शब्दों की 'लक्षणा' मानकर 'व्यक्ति' का बोध हो जाया करेगा। इस प्रकार 'व्यक्ति'-बोध के स्थलों में 'लक्षणा' वृत्ति के द्वारा, 'जाति' का आश्रय 'व्यक्तियाँ' ही हुआ करती हैं इसलिये,'स्वाश्रयत्व' सम्बन्ध से 'व्यक्ति' का ज्ञान हो जाया करेगा। अतः मीमांसकों के 'जाति-शक्ति-वाद' के सिद्धान्त में कोई दोष नहीं दिखाई देता। तुलना करो—"अधिकरण-गतिः साहचर्यात्। आकृताव् आरम्भणादीनां सम्भवो नास्ति इति कृत्वा आकृति-सहचरिते द्रव्ये आरम्भणादीनि भविष्यन्ति" (महा० १.२.६४ पृ० १३८) तथा इस स्थल की प्रदीप टीका—"यथा—'अग्निरानीयताम्' इत्युक्ते केवलस्य अग्नेर् आनयनासम्भवान् नान्तरीयकत्वाद् अचोदितम् अपि पात्रम् आनीयते। एतद् एव अग्नेर् आनयनं यत् पात्रस्थस्य। तथा आकृताव् आरम्भणादीनि चोद्यमानानि सामर्थ्यात् साहचर्याद् द्रव्यम् अभिनिविशन्ते। सर्व एव आकृतेः क्रियायोगोऽन्तर्भावित-द्रव्याया एव इति द्रव्य-द्वारकः सम्पद्यते"। भर्तृहरि ने भी "व्यक्तौ कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते" (१.६८) इस कारिकांश में इसी बात का प्रतिपादन किया है।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जिस तरह 'जाति-शक्ति-वाद' में 'व्यक्तियों' के बोध के लिये 'लक्षणा' वृत्ति का सहारा लेना पड़ता है, तथा एक 'व्यक्ति' में 'लक्षणा' का आश्रय करके ही अन्य 'व्यक्तियों' का ज्ञान सम्भव है, उसी प्रकार 'व्यक्ति-शक्ति-वाद' में भी 'व्यक्ति' में शब्द की 'शक्ति' मानते हुए, 'लक्षणा' के द्वारा अन्य 'व्यक्तियों' का ज्ञान सम्भव है। जिस 'व्यक्ति' में शब्द की 'शक्ति' निश्चित मान ली

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



गयी है उसके अतिरिक्त सभी 'व्यक्तियों' में शब्द की 'लक्षणा' मान कर, शब्द की 'लक्षणा' वृत्ति से, सभी 'व्यक्तियों' का बोध किया जा सकता है। इस तरह जब दोनों में ही 'लक्षणा' वृत्ति का सहारा लेना पड़ता है तो फिर 'जाति-शक्ति-वाद' को मानने में क्या लाघव है ?

इस प्रश्न का उत्तर कौण्डभट्ट ने वैयाकरण भूषणसार में यह दिया है कि शब्द की किसी एक 'व्यक्ति' में 'शक्ति' मानते हुए दूसरे अन्य 'व्यक्तियों' के लिये जिस 'लक्षणा' वृत्ति का सहारा लिया जाता है उसमें 'स्व-समवेत-आश्रयत्व' सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है। 'स्व' अर्थात् कोई भी एक 'व्यक्ति' जैसे पीली गाय। उसमें 'समवाय' सम्बन्ध से रहने वाली 'गोत्व जाति'। उसका आश्रय है अन्य श्वेत गौ आदि 'व्यक्तियाँ'। इस प्रकार 'व्यक्ति'-विशेष में 'समवाय' सम्बन्ध से रहने वाली 'जाति' की आश्रयभूत अन्य 'व्यक्तियों' का बोध 'गौ' जैसे शब्दों से सम्भव हो पाता है। परन्तु 'जाति' में शब्द की 'शक्ति' मानते हुए 'व्यक्ति' के बोध के लिये जिस 'लक्षणा' वृत्ति का आश्रय लिया जाता है उसमें जिस सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है वह है—'स्वाश्रयत्व' सम्बन्ध। 'स्व' अर्थात् 'जाति'। उसका आश्रय अर्थात् 'व्यक्ति'। यह 'स्वाश्रयत्व' सम्बन्ध, 'व्यक्ति' पक्ष में कल्पित, 'स्व-समवेत-आश्रयत्व' सम्बन्ध की अपेक्षा, लघु है—छोटा है। इसलिये 'जातिपक्ष' में लाघव है। द्र०—"एवं हि एकस्याम् एव व्यक्तौ शक्त्यभ्युपगमे व्यक्त्यन्तरे लक्षणायां स्व-समवेताश्रयत्वं संसर्ग इति गौरवम्। जात्या तु सह आश्रयत्वमेव संसर्ग इति लाघवम्। (वैभूसा०, पृ० २१६-१८)।

यहाँ मीमांसकों के इस 'जाति-शक्ति-वाद के' सिद्धान्त में 'जाति' पद का अभिप्राय पदार्थ में रहने वाला असाधारण 'धर्म' अथवा शब्द का 'प्रवृत्ति-निमित्त' है, न कि नित्य एवं अनेक में 'समवाय' सम्बन्ध से रहने वाली प्रसिद्ध 'जाति'। इसीलिये 'आकाशत्व' 'अभावत्व' आदि में 'अव्याप्ति' दोष नहीं है। मीमांसकों के इस सिद्धान्त की दृष्टि से पार्थसारथि मिश्र के निम्नांकित श्लोक द्रष्टव्य हैं :—

**आनन्त्य-व्यभिचाराभ्यां शक्त्यनेकत्वदोषतः।**
**आकृतेः प्रथमज्ञाने तस्या एवाभिधेयता॥**
**व्यक्त्याकृत्योर् अभेदाच्च व्यवहारोपयोगिता।**
**लिङ्ग-संख्यादि-सम्बन्धः सामानाधिकरण्यधीः॥**
**सर्वं समंजसं ह्येतद् वस्त्वनेकान्तवादिनः।**
**लक्षणा वाभ्युपेतव्या जातेस्तेनाभिधेयता॥**

(शास्त्रदीपिका १.३.१०.३०-३५)

**[मीमांसकों के 'जाति-शक्ति-वाद' के सिद्धान्त का खण्डन तथा 'व्यक्ति-शक्ति'-वाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन]**

तन् न। 'गोत्वम् अस्ति' इत्यर्थे अन्वयानुपपत्यभावेन 'गौर् अस्ति' इति प्रयोगे[2] व्यक्तिभानानापपत्तेः।

१. ह०—गोरस्ति।
२. ह० में 'प्रयोगे व्यक्तिभानानापपत्तेः' के स्थान पर 'प्रयोगापपत्तेः'।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



व्यक्तीनाम् आनन्त्येऽपि शक्यतावच्छेदक-जातेर् उपलक्षणत्वेन तद्-ऐक्येन च तादृश-जात्युपलक्षित-व्यक्तौ शक्ति-स्वीकारेण अनन्त-शक्ति-कल्पना-विरहेण अगौरवात् । लक्ष्यतावच्छेदक-तीरत्वादिवत् शक्यतावच्छेदकस्य अवाच्यत्वे दोषाभावात । 'नागृहीत'० इति न्यायस्य विशेषण-विशिष्ट-विशेष्य-बोधे तात्पर्येऽपि त्वद्-उक्त-तात्पर्ये-मानाभावात् । जातेर् उपलक्षकत्वेन तद्-आश्रय-सकल-व्यक्ति-बोधेन व्यक्त्यन्तर-बोधाप्रसङ्ग-भङ्गाच्च । तद् आह—

**आनन्त्येऽपि हि भावानाम् एकं कृत्वोपलक्षणम् ।**
**शब्दः सुकरसम्बन्धो न च व्यभिचरिष्यति ।। इति**
तंत्रवार्तिक ३.१.६.१२ ।

युक्तं ह्येतत्—

**शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-**
**कोशाप्त-वाक्याद् व्यवहारतश्च ।**
**वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर् वदन्ति**
**सान्निध्यतः सिद्ध-पदस्य वृद्धाः ।।**

इत्येतेषु शक्ति-ग्राहक-शिरोमणिर् व्यवहारो व्यक्तावेव शक्तिं ग्राहयति । गवादि-पदेन लोके व्यक्तेर् एव बोधात् ।

(मीमांसकों का) वह (उपर्युक्त कथन) ठीक नहीं है क्योंकि ('गौर् अस्ति' जैसे प्रयोगों में मीमांसक-सम्मत अर्थ) 'गोत्वम् अस्ति' (गो जाति है इस अर्थ) के अन्वय-बोध की अनुपपत्ति न होने के कारण 'गौर् अस्ति' इस प्रयोग में ('लक्षणा' वृत्ति के उपस्थित न होने से) 'गौ व्यक्ति' का बोध नहीं होगा । तथा ('व्यक्ति' में शब्द की शक्ति मानते हुए व्यक्तियों के अनन्त होने पर भी 'शक्यता' के अवच्छेदक (अर्थात्) 'जाति के' उपलक्षण होने और उस ('जाति') के एक होने से, उस प्रकार की (उपलक्षणभूत) 'जाति' से (उपलक्षित) 'व्यक्ति' में शब्द की 'शक्ति' मानने तथा (इस रूप में) अनन्त शक्तियों की कल्पना न किये जाने के कारण गौरव (का दोष) नहीं है । ('गंगायां घोषः' जैसे प्रयोगों में) 'लक्ष्यता' के 'अवच्छेदक' (परिचायक) तीरत्व आदि के समान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'शक्यता' के 'अवच्छेदक' (शक्य अर्थ 'व्यक्ति' के उपलक्षक 'जाति') को वाच्य अर्थ न मानने पर कोई दोष नहीं है।

तथा 'नागृहीत०' इस न्याय का "विशेषण ('जाति') से विशिष्ट विशेष्य ('व्यक्ति') का बोध होता है" यह तात्पर्य तो है पर तुम्हारे (अर्थात् मीमांसक) द्वारा कहे गये (इस न्याय के) तात्पर्य ("विशेषणभूत 'जाति' को शब्द अभिधा वृत्ति अथवा 'शक्ति' से कहता है तथा 'व्यक्ति' को 'लक्षणा' वृत्ति से") में कोई प्रमाण नहीं है।

इसके अतिरिक्त 'जाति' के उपलक्षक होने के कारण उसके आश्रयभूत सम्पूर्ण 'व्यक्तियों' का बोध हो जाने से, दूसरी व्यक्तियों का बोध न होना रूप दोष भी समाप्त हो जाता है।

इस (बात) को (निम्न कारिका में) कहते हैं :—

"भावों ('व्यक्तियों') के अनन्त होने पर भी एक ('जाति') को उपलक्षण (चिन्ह) बनाकर शब्द का (वाच्यतारूप) सम्बन्ध सुग्राह्य हो जायगा तथा (सभी 'व्यक्तियों' में शब्द की 'शक्ति' मानने के कारण शब्द में) 'व्यभिचार' दोष भी नहीं आयेगा।

यही ('व्यक्ति-शक्ति-वाद') मत युक्त है क्योंकि 'शक्ति का ज्ञान—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण तथा प्रसिद्ध पदों की समीपता से (होता है ऐसा) विद्वान् लोग कहते हैं'। इन, (शब्द की) 'शक्ति' के बोधकों में प्रधानभूत 'व्यवहार' 'व्यक्ति में ही (शब्द की) 'शक्ति' का बोध कराता है तथा लोक में 'गो' आदि शब्द से 'व्यक्ति' का ही बोध होता है।

**गोत्वम्···व्यक्तिभानानापत्तेः**—मीमांसकों के 'जातिशक्तिवाद' के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए नागेश ने यहां यह कहा है कि 'लक्षणा' वृत्ति का मूल है शब्द की 'अभिधा' वृत्ति से उपस्थापित अर्थ के अन्वय का सुसंगत न हो पाना। वस्तुतः 'लक्षणा' वृत्ति का सहारा तभी लिया जाता है जब शब्द के अभिधेय अर्थ की सुसङ्गति नहीं लग पाती। द्र०—

**मुख्यार्थ-बाधे तद्-युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।**
**रूढेः प्रयोजनाद् वाऽसौ लक्षणाशक्तिरर्पिता॥**

(साहित्यदर्पण २.९)

जैसे—'गंगायां घोषः' (गंगा में अहीरों का घर है) इत्यादि प्रयोगों में 'गंगा' तथा 'घोष' दोनों शब्दों के अभिधेय अर्थ क्रमशः 'जलधारा' तथा 'घर' दोनों की परस्पर संगति न लग पाने के कारण 'गंगा' शब्द में 'लक्षणा' वृत्ति मानी गयी। परन्तु 'गौरस्ति' इस प्रयोग में 'गौ' शब्द के अभिधेय अर्थ 'जाति' अर्थात् 'गोत्व' के साथ 'अस्ति' के अन्वय में कोई अनुपपत्ति या असंगति नहीं दिखाई देती। इसलिये ऐसे स्थलों में, 'लक्षणा' वृत्ति के उपस्थित न होने के कारण 'गौरस्ति' का 'गौ (व्यक्ति) है' यह अर्थ कभी नहीं हो सकता। जब कि प्रतीति यही होती है कि 'गो (व्यक्ति) है' यही अर्थ 'गौरस्ति' इस वाक्य का है। गौ 'जाति' की सत्ता का बोध इस वाक्य से नहीं होता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**व्यक्तीनाम्'''गौरवात्** :—ऊपर 'जाति-शक्ति-वाद' के प्रतिपादन में, 'व्यक्ति-शक्ति-वाद' के सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए, यह कहा गया है कि 'व्यक्ति' में शब्द की 'शक्ति' मानने पर 'व्यक्तियों', के अनन्त होने के कारण, उतनी ही अनन्त 'शक्तियों' की कल्पना करनी पड़ेगी जिसमें गौरवरूप दोष उपस्थित होगा। इस दोष का निराकरण करते हुए यहां यह कहा गया कि 'व्यक्ति-शक्ति-वाद' के सिद्धान्त में भले ही व्यक्तियाँ अनन्त हों परन्तु केवल 'व्यक्ति' में 'शक्ति' न मान कर, 'जाति' से उपलक्षित 'व्यक्ति' में शब्द की 'शक्ति' मानी जाती है। इसलिये इस पक्ष में भी अनन्त 'शक्तियों' की कल्पना नहीं करनी पड़ती। इसका अभिप्राय यह है कि शब्द का 'शक्य' अथवा अभिधेय अर्थ 'व्यक्ति' है। इसलिये इस 'व्यक्ति'-रूप अर्थ में 'शक्यता' रहती है। इस शक्यता का 'अवच्छेदक', (बोधक या परिचायक) है 'जाति'। इस 'शक्यतावच्छेदक' को ही वैयाकरणभूषणसार (पृ० २२०-२२१) में 'सम्बन्धितावच्छेदक' कहा गया है। सभी 'व्यक्तियाँ', 'जाति' रूप एक 'धर्म' से अवच्छिन्न (युक्त हैं) इसलिये एक 'शक्ति' के द्वारा ही उस 'शक्यतावच्छेदक' जाति का बोध हो जायगा। 'जाति' 'व्यक्ति' का उपलक्षक इसलिये उस को 'शक्यता' का अवच्छेदक माना गया।

'जाति' को 'उपलक्षक' मानने का अभिप्राय यह है कि अपने आश्रयभूत सभी 'व्यक्तियों' को 'शक्ति' का विषय बना कर स्वयं 'शक्ति' अथवा बोध का विषय न बनना। जैसे—जब यह कहा जाता है कि सफेद कपड़े वाला देवदत्त है तो सफेद कपड़ों से उपलक्षित देवदत्त का बोध होता है। परन्तु 'देवदत्त' पद से जिस अभिधेय अर्थ का ज्ञान होता है उसमें श्वेतवस्त्रता का ज्ञान नहीं होता। अथवा जब यह कहा जाता है कि 'जिस घर पर कौआ बैठा है वह देवदत्त का घर है' तो यहां कौआ अपने से उपलक्षित देवदत्त के घर को अन्यों से पृथक् करके उस का बोध करा देता है। इसी प्रकार 'जाति' अपने आश्रयभूत 'व्यक्ति' का, उसे अन्यों से पृथक् करके, बोध करा देती है।

**लक्ष्यता''' दोषाभावात्** :—यह पूछा जा सकता है कि जब 'जाति' से उपलक्षित 'व्यक्ति' में शब्द की 'शक्ति' मानी जाती है तो फिर तो 'जाति' भी शब्द का वाच्य या अभिधेय अर्थ हो जाएगी क्योंकि स्वयं शक्य अथवा वाच्य बन कर ही 'जाति' दूसरे शक्य अर्थ 'व्यक्ति' का उपलक्षण करा सकती है।

इसका उत्तर यहाँ यह दिया गया कि जिस प्रकार 'गंगायां घोषः' जैसे प्रयोगों में लक्ष्यभूत अर्थ 'तीर' के 'अवच्छेदक' 'तीरत्व' को लक्ष्य अर्थ नहीं माना जाता, केवल 'तीर' को ही लक्ष्य अर्थ माना जाता है, अथवा जैसे घट का कारण न होते हुए भी 'दण्डत्व' घट की 'कारणता' का 'अवच्छेदक' बनता है उसी प्रकार, यहाँ 'शक्यता' के 'अवच्छेदक' या 'उपलक्षक' 'जाति' को शब्द का शक्यार्थ या वाच्यार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् बिना शक्यार्थ बने भी 'जाति' अपने आश्रयभूत 'व्यक्ति' का उपलक्षक बन सकती है। अतः 'जाति' में शब्द की 'शक्ति' मानने की आवश्यकता नहीं है। इस रूप में 'जाति' मे उपलक्षित 'व्यक्ति' में शब्द की शक्ति' मानने के कारण अनन्त 'शक्तियों' की कल्पना करने का दोष भी नहीं आता।

भर्तृहरि ने अपनी निम्न कारिका में इन्हीं बातों का समर्थन किया है :—

**अश्रुवेण निमित्तेन देवदत्त-गृहं यथा।**
**गृहीतं गृह-शब्देन शुद्धम् एवाभिधीयते॥**

(वाप० ३.२.३)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस कारिका की व्याख्या करते हुए टीकाकार हेलाराज ने कहा है—

"अदो देवदत्तस्य गृहं 'यत्रासौ काकः प्रतिवसति' इत्यत्र अनियत-स्वामिक-गृहोपलक्षणाय उपलक्षणभूतस्य काकस्य उत्पतितेऽपि तस्मिन् उपलक्षणस्य कृतत्वात् अध्रुवत्वम् अनित्यम् इति तद्-अनादरेणैव तद्-उपलक्षितं गृहम् अभिधीयते 'गृह'-शब्देन यथा, तथा प्रकृत-सम्बन्धाद् असत्योपाध्युपलक्षितं सत्यम्, उपाधिरूपानादरेण, शब्दैर् अभिधीयते"।

अर्थात् जिस प्रकार 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' इस वाक्य में 'उपलक्षणीभूत काक से विशिष्ट गृह' वाच्यार्थ के रूप में ज्ञात नहीं होता है, अपितु शुद्ध गृह का ही अभिधेयार्थ के रूप में ज्ञान होता है उसी प्रकार असत्य (अव्यवहार्य) 'उपाधि' (जाति) से उपलक्षित सत्य (व्यवहार्य 'व्यक्ति') रूप अर्थ ही, शब्दों के द्वारा, 'उपाधि' या उपलक्षक (जाति) के बिना ही, 'अभिधा' वृत्ति से कहा जाता है।

पतंजलि ने "कुत्सिते" (पा० ५.३.७४) सूत्र के भाष्य में एक कारिका उद्धृत की है—"स्वार्थम् अभिधाय शब्दो निरपेक्षं द्रव्यम् आह समवेतम्"। इसका अभिप्राय यह है कि स्वार्थ ('जाति') को कह कर शब्द, उस स्वार्थ से निरपेक्ष होकर, उससे समवेत (सम्बद्ध) द्रव्य ('व्यक्ति') को कहता है। यह तो ठीक है कि यहाँ 'स्वार्थ' पद का अभिप्राय 'जाति' है, परन्तु यहाँ भी भाव यही है कि शब्द अपने अभिधेय 'द्रव्य' ('व्यक्ति') को कहने से पूर्व उपलक्षणीभूत 'जाति' से 'व्यक्ति' को उपलक्षित कर लेता है। यदि 'अभिधाय' पद का "अभिधा' वृत्ति से 'कह कर" यह अर्थ किया जाय तो 'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ सर्वथा असङ्गत हो जाएगा क्योंकि शब्द से होने वाले बोध में ऐसा कोई क्रम प्रतीत नहीं होता जिसमें पहले 'जाति' कही जाय और फिर उसके बाद 'व्यक्ति'। अपने आश्रय से रहित 'जाति' का बोध पहले हो भी कैसे सकता है?

**नागृहीत०·····अप्रसङ्गभङ्गाच्च** :— जाति-शक्ति-वादी मीमांसकों की दृष्टि से 'नागृहीत-विशेषणा बुद्धिर् विशेष्य उपजायते' इस न्याय का जो अर्थ ऊपर दिया गया—कि 'विशेषण', ('जाति'), में शब्द की 'अभिधा' शक्ति है तथा 'विशेष्य', ('व्यक्ति'), में उसकी 'लक्षणा' है—वह इस न्याय का तात्पर्य नहीं है। क्योंकि इस अर्थ की पुष्टि में मीमांसकों ने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। वस्तुतः इस न्याय का तात्पर्य तो यह है कि 'जाति' रूप 'विशेषण' (उपलक्षण) से विशिष्ट (उपलक्षित) 'व्यक्ति' रूप 'विशेष्य' (उपलक्ष्य) का बोध होता है अर्थात् 'जाति' से अनुपलक्षित 'व्यक्ति' का बोध नहीं होता।

'जाति' को शब्द का वाच्यार्थ न मानते हुए भी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उसे 'व्यक्ति' का उपलक्षक माना जाता है। इसलिये, 'जाति' के द्वारा उसके आश्रयभूत 'व्यक्ति' मात्र के उपलक्षित होने के कारण, शब्द की 'व्यक्ति' में शक्ति मानने पर भी शब्द से उन उन अभिप्रेत सभी, व्यक्तियों का बोध हो जायेगा। अतः "व्यक्त्यन्तरे तदभावेन तद्-बोधाप्रसङ्गात्" यह दोष भी, जो जातिशक्ति-वादियों के द्वारा व्यक्ति-शक्ति-वादियों के पक्ष में दिया गया, निराकृत हो जाता है।

**तदाह ·····व्यभिचरिष्यति इति** :—'व्यक्ति-शक्ति-वाद' के सिद्धान्त के समर्थन में कुमारिल भट्ट के ही एक श्लोक को, नागेशभट्ट ने यहां, प्रमाण के रूप में प्रस्तुत

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



किया है। इस कारिका में 'भाव' का अभिप्राय है घट आदि 'व्यक्ति', जिसे व्यक्ति-शक्ति-वादी वाच्य मानता है। ये 'भाव' या 'व्यक्तियाँ' यद्यपि अनेक या अनन्त हैं। परन्तु इनमें अनुगत अथवा व्याप्त 'असाधारण धर्म' ('जाति', 'द्रव्य', 'गुण', 'क्रिया' रूप प्रवृत्ति-निमित्त) जो सभी 'व्यक्तियों' का उपलक्षण है, एक है। इसलिये, उसके एक होने के कारण, 'व्यक्ति-शक्ति-वाद' में भी शब्द की केवल एक ही 'शक्ति' मानने से काम चल जायेगा—अनन्त 'व्यक्तियों' की दृष्टि से अनन्त 'शक्तियों' की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। और 'गो' आदि शब्दों में विद्यमान 'वाचकता शक्ति', 'सम्बन्ध' तथा 'शक्य' अर्थ सब का आसानी से ज्ञान हो जायेगा। इसके अतिरिक्त, 'जाति' केवल स्वाश्रयभूत सभी 'व्यक्तियों' का उपलक्षण करायेगी, अन्य-जातीय 'व्यक्ति' का उपलक्षण नहीं करायेगी। इसलिये, अन्य-जातीय 'व्यक्तियाँ' शक्तिग्रह का विषय नहीं बनेंगी। इस कारण 'गो' शब्द से अश्व 'व्यक्ति' का बोध होना रूप 'व्यभिचार' दोष भी नहीं उपस्थित होता।

**युक्तं ह्येतत् ·· बोधात्** :—'व्यक्ति-शक्ति-वाद' के समर्थन में एक और प्रबल हेतु यहाँ यह प्रस्तुत किया गया कि 'शक्ति' के बोधक हेतुओं में प्रमुखतम हेतु, 'लोक-व्यवहार', भी 'व्यक्ति' में ही 'शक्ति' का बोध कराता है। इस प्रसङ्ग में नागेश भट्ट ने 'शक्ति' के बोधक विभिन्न हेतुओं के प्रदर्शनार्थ एक श्लोक उद्धृत किया है। इस श्लोक में शक्ति-बोध के आठ हेतु गिनाये गये हैं। ये हेतु हैं—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त-वाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण तथा प्रसिद्ध पद की समीपता।

**व्याकरण**—जैसे 'पाचक' में 'पच्' धातु का अर्थ 'पाक' है तथा 'ण्वुल्' (अक) प्रत्यय का अर्थ 'कर्ता' है। इसलिये 'पाचक' शब्द का अर्थ है 'पकाने वाला'। यह बोध व्याकरण से होता है।

**उपमान**—जैसे 'गवय' को न जानने वाले व्यक्ति को, 'गौर् इव गवयः' (गाय के समान गवय होता है) इस प्रकार के 'उपमान' से 'गवय' शब्द के शक्य अर्थ का ज्ञान होता है।

**कोश**—कोश के वचनों से अनेक अज्ञात अर्थ वाले शब्दों के अभिधेय अर्थ का ज्ञान होता है।

**आप्त-वाक्य**—'आप्त' अर्थात् जो परम विद्वान् तथा सदा सत्यभाषी मनुष्य हैं उनके वचनों से भी अज्ञात शब्दों के अर्थों का ज्ञान होता है।

**व्यवहार**—'व्यवहार' का अभिप्राय है भाषा के अनेक शब्दों का, अपने से बड़े लोगों द्वारा किये गये, प्रयोग। छोटा शिशु सर्वप्रथम अपने से बड़े, पिता, माता आदि के द्वारा किये गये शब्द-प्रयोगों को सुन कर उनके अर्थों का ज्ञान करता है। अतः इस प्रकार का प्रयोगरूप 'व्यवहार' भी शब्द की 'शक्ति' का बोधक है।

**वाक्य-शेष**—अपूर्ण वाक्य में आवश्यक पद के अध्याहार से भी अर्थ-ज्ञान होता है। जैसे—'द्वारम्' (दरवाजा) कहने पर 'पिधेहि' (बन्द करो) पद के अध्याहार से ही उसके अर्थ का ज्ञान हो पाता है। इस प्रकार के वाक्य-शेष भी शब्द की 'शक्ति' के ज्ञान में हेतु हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**विवरण**—'विवरण' अर्थात् व्याख्या या विश्लेषण। 'चैत्रः पचति' (चैत्र पकाता है) इस प्रयोग का विवरण हुआ "चैत्र है 'कर्त्ता' जिसमें ऐसी विक्लित्ति रूप 'फल' के अनुकूल 'व्यापार' "। अतः इस 'विवरण' से यहाँ 'व्यापार'-प्रधान अर्थ का ज्ञान हुआ। इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी 'विवरण' शक्ति-बोध में हेतु बन सकता है।

**प्रसिद्ध पद की समीपता** :—जैसे 'सहकारे कूजति पिकः' (आम के पेड़ पर कोयल बोल रही है) इस प्रयोग में 'सहकार' शब्द, जो आम्र वृक्ष के लिये प्रसिद्ध है, की समीपता से अनेक अर्थ वाले 'पिक' शब्द की 'शक्ति' का निर्णयात्मक ज्ञान हुआ।

इन सभी 'शक्ति'-ज्ञापक हेतुओं में 'व्यवहार' ही व्यापक, प्रमुख एवं प्रधानतम हेतु है—उसमें प्रायः अन्य सभी हेतु समाविष्ट हो जाते हैं। यह 'व्यवहार' रूप हेतु इस बात में परम प्रमाण है कि शब्दों की 'शक्ति' 'व्यक्ति' में होती है 'जाति' में नहीं क्योंकि प्रायः 'व्यक्ति' के बोध के लिये ही 'गौ' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है तथा इन से 'गौ' आदि 'व्यक्ति' का ही बोध भी होता है। पर शब्दों से, 'व्यक्ति' के बोध के साथ ही, 'जाति' का बोध भी इसलिये हो जाता है कि 'व्यक्ति' तथा 'जाति' दोनों एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते। इसका कारण यह है कि दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। इस प्रकार 'जाति' से उपलक्षित 'व्यक्ति' में ही शब्द की 'शक्ति' मानना अधिक युक्ति-सम्मत पक्ष है।

**[वस्तुतः 'जाति'-विशिष्ट 'व्यक्ति' अथवा 'व्यक्ति'-विशिष्ट 'जाति' ही शब्द का वाच्य अर्थ होता है]**

> वस्तुतस्तु "नह्याकृति-पदार्थकस्य[1] द्रव्यं न पदार्थः" इति "सरूप०" (पा० १.२.६४)-सूत्र-भाष्याद् विशिष्टम् एव वाच्यम्। तथैव अनुभवात्। अनुभव-सिद्धस्य अपलापानर्हत्वाच्च।

वास्तविकता तो यह है कि "आकृति' को पद (शब्द) का (वाच्य) अर्थ मानने वाले (विद्वानों) के मत में पद का अर्थ 'द्रव्य' ('व्यक्ति') नहीं है यह (अभिप्रेत) नहीं है" इस, "सरूपाणाम् एक-शेष-एक विभक्तौ" सूत्र के भाष्य (में पतंजलि के कथन) से विशिष्ट (अर्थात् 'जाति' से विशिष्ट 'व्यक्ति' अथवा व्यक्ति से विशिष्ट 'जाति)' ही (शब्द का) वाच्य है क्योंकि (शब्द-प्रयोग से) वैसा ही अनुभव होता है तथा अनुभव-सिद्ध बात को न मानना अनुचित है।

यहाँ नागेश भट्ट ने ऊपर के दोनों सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए इस विवाद का उपसंहार किया है। 'जाति-शक्ति-वाद', के सिद्धान्त में भी 'व्यक्ति' का सर्वथा निषेध रहता हो ऐसी बात नहीं है और न 'व्यक्ति-शक्ति-वाद' के सिद्धान्त में 'जाति' का ही सर्वथा निषेध रहता है। अपितु इन दोनों सिद्धान्तों में इन दोनों ही तत्त्वों की सत्ता माननी

१. ह०—आकृतिपदार्थकस्य शब्दस्य।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



पड़ती है। यह दूसरी बात है कि 'जाति-शक्ति-वाद' के सिद्धान्त में 'जाति' 'विशेष्य' अथवा प्रधान होती है तथा 'व्यक्ति' गौण। इसी प्रकार 'व्यक्ति-शक्ति-वाद' के सिद्धान्त में 'व्यक्ति' 'विशेष्य' (प्रधान) तथा 'जाति' गौण रहती है। दोनों सिद्धान्तों में 'जाति तथा 'व्यक्ति' दोनों की अनिवार्य सत्ता मानने का कारण यह है कि 'व्यक्ति' बिना 'जाति' के रह ही नहीं सकती, तथा 'जाति' भी बिना व्यक्ति के नहीं रह सकती। 'जाति' 'व्यक्ति' में 'समवाय' सम्बन्ध से रहती है क्योंकि 'जाति' का आश्रय अथवा आधार ही 'व्यक्ति' है। इसलिये जब यह कहा जाता है कि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' (ब्राह्मण नहीं मारा जाना चाहिये) तो यहाँ 'जाति' रूप एकता का ज्ञान स्वतः होता है, परन्तु ब्राह्मण रूप अर्थ का 'हनन' क्रिया में अन्वय 'व्यक्ति' के ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। इसी प्रकार 'व्यक्ति'-प्रधानता के सिद्धान्त में कभी कभी 'आकृति' की एकता के आधार पर एक वचन का प्रयोग होता ही है। जैसे - 'गौर्न हन्तव्या' (गाय नहीं मारी जानी चाहिये) इत्यादि प्रयोग। यहाँ पतंजलि का पूरा वक्तव्य नीचे उद्धृत है :—"नह्याकृति-पदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः द्रव्य-पदार्थकस्य वा आकृतिर्न पदार्थः। उभयोर् उभयं पदार्थः। कस्यचित्तु किंचित् प्रधानभूतं किंचिद् गुणभूतम्। आकृति-पदार्थकस्य आकृतिः प्रधानभूता द्रव्यं गुण-भूतम्। द्रव्य-पदार्थकस्य द्रव्यं प्रधानभूतं आकृतिर् गुणभूता" (महा० १.२.६४)। इस प्रकार के विविध वादों का भर्तृहरि ने निम्न कारिका में बड़े सुन्दर ढंग से समन्वय किया है :-

**भिन्नं दर्शनम् आश्रित्य व्यवहारोऽनुगम्यते।**
**तत्र यन्मुख्यम् एकेषां तत्रान्येषां विपर्ययः॥**

**(वाप० १.७४)**

**['प्रातिपदिक' अथवा 'नाम' शब्दों का अर्थ, 'जाति' तथा 'व्यक्ति' के साथ साथ 'लिङ्ग' भी है]**

लिङ्गम् अपि नामार्थः। प्रत्ययानां द्योतकत्वात्। अन्यथा 'वाग्', 'उपानद्' आदि-शब्देभ्य 'इयं तव वाग्' इति स्त्रीत्व-बोधानापत्तेः। 'अयम्' इति व्यवहार-विषयत्वं पुंस्त्वम्। 'इयम्' इति व्यवहार-विषयत्वं स्त्रीत्वम्। 'इदम्' इति व्यवहार-विषयत्वं क्लीबत्वम् इति विलक्षणं शास्त्रीयं स्त्रीपुन्नपुंसकत्वम्। अत एव खट्वादि-शब्द-वाच्यस्य स्तन-केशा[1]दिमत्स्वरूप-लौकिक-स्त्रीत्वा-भावेऽपि तद्-वाचकात् 'टाप्' आदि-प्रत्ययः।

'लिङ्ग' भी 'नाम' ('प्रातिपदिक') शब्दों का अर्थ है क्योंकि ('टाप्' आदि) प्रत्यय ('लिङ्ग' के) द्योतक होते हैं (वाचक नहीं)। अन्यथा (यदि

१. ह०—ते।

२. ह०, बंमि०—केशभगादि।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इन 'टाप्' आदि प्रत्ययों को 'लिङ्ग' का वाचक माना जाय तो) 'वाक्', 'उपानत्' आदि शब्दों से ('टाप्' आदि प्रत्ययों के अभाव में) 'इयं तव वाक्' (यह तुम्हारी वाणी है) इस तरह का 'स्त्रीलिङ्गता' की बोध नहीं हो सकता। 'अयम्' इस (शब्द) के व्यवहार का विषय बनना 'पुल्लिंगता' है। 'इयम्' इस (शब्द) के व्यवहार का विषय बनना 'स्त्रीलिङ्गता' है तथा 'इदम्' इस (शब्द) के व्यवहार का विषय होना 'नपुंसकलिंगता' है। इस रूप में (व्याकरण) शास्त्र में स्वीकृत पुंस्त्व, स्त्रीत्व तथा नपुंसकत्व (लोक में प्रसिद्ध पुंस्त्व, स्त्रीत्व तथा नपुंसकत्व से) विलक्षण हैं। इसीलिये, 'खट्वा' आदि शब्दों के वाच्य अर्थ का स्तन, केश आदि से युक्त होना रूप लौकिक स्त्रीत्व के अभाव में भी, इन शब्दों से 'टाप्' आदि प्रत्यय होते हैं।

'प्रातिपदिक' शब्द 'जाति' के वाचक है या 'व्यक्ति' के वाचक हैं अथवा 'जाति'-विशिष्ट 'व्यक्ति' के वाचक हैं इस बात की विवेचना करने के पश्चात् यहां यह कहा गया है कि 'लिंग' भी इन 'प्रातिपदिक' शब्दों का ही वाच्य अर्थ है। 'टाप्' आदि प्रत्यय तो केवल इस बात का द्योतनमात्र करते हैं कि यह शब्द 'स्त्रीलिंगता' का वाचक है। इसीलिये 'वाक्', 'उपानत्' इत्यादि शब्दों से भी, जिनमें कोई भी 'स्त्री-प्रत्यय' नहीं है—'स्त्रीलिंगता' का ज्ञान होता है। यदि 'स्त्री-प्रत्ययों' को ही 'स्त्रीलिंगता' का वाचक माना जाये तो इन शब्दों के प्रयोग में 'स्त्रीलिंगता' की प्रतीति नहीं होनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त पाणिनि के अनेक सूत्रों से यह ध्वनि निकलती है कि वे 'प्रातिपदिक' शब्दों को ही 'लिंग' का भी वाचक मानते हैं। जैसे—"स्वमोर् नपुंसकात्" (पा० ७.१.२३) सूत्र में 'नपुंसकात्' पद का अर्थ है "नपुंसक' अर्थ के वाचक शब्द से" तथा "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" (पा० १.२.४७) सूत्र का अर्थ है "नपुंसक' अर्थ के वाचक 'प्रातिपदिक' शब्द का"। द्र०—"अर्थधर्मत्वाल् लिङ्गस्य नपुंसकार्थाभिधायित्वाद् अस्थ्यादयो नपुंसक-शब्देन अभिधीयन्ते" (महा० प्रदीप टीका ७.१.२६)। इसी प्रकार "रात्राह्नाहाः पुंसि च" (पा० २.४.२९), "नपुंसकस्य झलचः" (पा० ७.१.७२), "आडो नाऽस्त्रियाम्"(पा० ७.३.१२०), "तस्माच् छसो नः पुंसि" (पा० ६.१.१०१) जैसे सूत्रों से भी इसी बात की पुष्टि होती है क्योंकि इनमें 'पुंसि', 'स्त्रियाम्' तथा 'नपुंसकस्य' पदों का यही अर्थ है कि 'पुंलिंग' के वाचक, 'स्त्रीलिंग' के वाचक, तथा 'नपुंसक लिंग' के वाचक प्रकृतिभूत 'प्रातिपदिक' शब्द।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जितने भी 'स्त्री-प्रत्यय' का विधान करने वाले सूत्र हैं उनमें 'अधिकार' के रूप में पाणिनि का "स्त्रियाम्" (पा० ४.१.२) सूत्र उपस्थित होता है। जिसके कारण उन सूत्रों का अर्थ हो जाता है "स्त्रीलिंग में वर्तमान अथवा 'स्त्रीलिंगता' के वाचक—उन उन 'प्रातिपदिक' शब्दों से वे वे स्त्री प्रत्यय होते हैं"। "प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे प्रथमा" (पा० २.३.४६) सूत्र के 'लिंगमात्रे प्रथमा' अंश का भी यही अर्थ करना चाहिये कि "लिंग' के वाचक 'के रूप में विद्यमान जो शब्द उससे 'प्रथमा' विभक्त होती है", अर्थात् 'प्रातिपदिकार्थ में ही 'लिंग' अर्थ का भी समावेश मानना चाहिये। अन्यथा यदि 'प्रथमा' विभक्ति का अर्थ 'लिङ्ग' माना गया तो इस बात का उत्तर देना होगा कि 'घटेन' इत्यादि अन्य विभक्तियों से युक्त प्रयोगों में 'पुंलिंगता' की प्रतीति क्यों होती है? अतः यह स्पष्ट है कि 'प्रातिपदिक' शब्द के वाच्य अर्थ में 'लिंगता' भी समाविष्ट है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'रमा' आदि स्त्री प्रत्ययान्त शब्दों में भी 'टाप्' आदि स्त्री-प्रत्ययों को 'स्त्रीलिंगता' का द्योतक ही मानना चाहिये। इन प्रत्ययों में 'स्त्रीलिंगत्व' की वाचकता की प्रतीति तो केवल इस कारण होती है कि "प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्" इस परिभाषा के अनुसार यहां प्रत्यय से द्योत्य अर्थ की प्रधानता मानी जाती है।

**विलक्षणं शास्त्रीयं स्त्रीपुन्नपुंसकत्वम्** :—'स्त्रियाम्' (पा० ४.१.२) सूत्र के भाष्य में लौकिक 'स्त्रीत्व', 'पुंस्त्व' तथा 'नपुंसकत्व' की पहचान के रूप में निम्न श्लोक उद्धृत है :—

**स्तनकेशवती स्त्री स्यात् लोमशः पुरुषः स्मृतः।**
**उभयोर् अन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्॥**

स्तन तथा केश से युक्त स्त्री, लोम से युक्त पुरुष तथा जिसमें दोनों चिन्हों का अभाव हो और साथ ही स्त्री पुरुष दोनों की सदृशता हो वह नपुंसक है।

परन्तु यह लौकिक पहचान शब्दों में भला कैसे मिल सकती है। खट्वा तथा वृक्ष आदि शब्दों में उपर्युक्त 'स्त्रीत्व' तथा 'पुंस्त्व' कहाँ है? इसी लिये "स्वमोर् नपुंसकात्" (पा० ७.१.२३) सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने कहा—"नहि नपुंसकं नाम शब्दोऽस्ति"। इसी कारण व्याकरण में लौकिक 'लिंग' का आश्रयण नहीं किया जाता। द्र०—"तस्मान् न वैयाकरणैः शक्यं लौकिकं लिंगम् आस्थातुम्" (महा० ४.१.२ पृ० २५)

वस्तुतः वक्ता की विवक्षा के अनुसार जब शब्द उन उन 'लिंगों' के बोधक के रूप स्थिर एवं निश्चित हो जाते हैं तो उन्हें वैयाकरण भी उन्हीं उन्हीं लिंगों वाला मान लेता है। इसीलिये आचार्य कात्यायन ने कहा—"लिंगम् अशिष्यं लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य" (महा० ४. १. २)। भाष्यकार पतंजलि ने भी इसी दृष्टि से कहा—"संस्त्यान-विवक्षायां स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्, उभयोर् अविवक्षायां नपुंसकम्" (महा० ४.१.२, पृष्ठ २६), अर्थात् रूप, रस, आदि अथवा सत्त्व, रज, तम आदि गुणों के तिरोभाव की विवक्षा में 'स्त्री', आविर्भाव की विवक्षा में 'पुरुष'; अथवा आधिक्य की विवक्षा में 'पुंस्त्व' तथा अपचय की विवक्षा में 'स्त्रीत्व' और दोनों के अभाव की विवक्षा में 'नपुंसक' लिंग का प्रयोग किया जाता है।

इस तरह 'लिंग'-प्रयोग, विवक्षा के आधीन होता है। इसलिये, एक ही पदार्थ के लिये 'अयं पदार्थः' 'इयं व्यक्तिः' तथा 'इदं वस्तु' इस रूप में तथा 'तट' आदि अनेक शब्दों का 'तटः', 'तटी', 'तटम्' इत्यादि के रूप में तीनों लिंगों का व्यवहार होता है। इस प्रसंग में 'विवक्षा' के अभिप्राय को स्पष्टतः समझने के लिये भर्तृहरि की निम्न कारिका द्रष्टव्य है :—

भावतत्त्वदृशः शिष्टाः शब्दार्थेषु व्यवस्थिताः।
यद्यद् धर्मेऽङ्गतामेति लिङ्गं तत्तत् प्रचक्षते॥ (वाप० ३. १३. २७)

भावों (पदार्थों) के तत्त्व को जानने वाले शिष्ट (आप्त) जन ही शब्द, अर्थ आदि के निश्चय करने में प्रमाण हैं। उनकी दृष्टि में शब्दों के प्रयोग में जो जो लिंग धर्म में निमित्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



बनता है वह वह लिंग उस शब्द का होता है। अभिप्राय यह है कि जिस जिस लिङ्ग के साथ वे लोग शब्द-प्रयोग करते हैं वही वही लिङ्ग उस उस शब्द का निर्धारित हो जाता है।

**['संख्या' अथवा 'वचन' भी 'प्रातिपादिक' शब्दों का अर्थ है]**

सङ्ख्यापि नामार्थः, विभक्तीनां द्योतकत्वात्। अत एव "आदिर्ञिटुडवः" (पा० १. ३.५) इति सूत्रे 'आदिः' इति बहुत्वे एकवचनम्। वाच्यत्वेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां 'जसम्' विना नामार्थ-बहुत्व-प्रतीत्यभावापत्तेः।

'संख्या' ('एकवचन', द्विवचन' 'बहुवचन') भी 'नाम' (शब्दों) का अर्थ है क्योंकि ('सु' आदि) 'विभक्तियां' ('एकत्वादि' अर्थों का) द्योतन (मात्र) करती हैं (कथन नहीं)। इसीलिये "आदिर् ञिटुडवः" इस सूत्र में 'आदिः' इस (पद) में 'बहुत्व' के द्योतन के लिये ('बहुवचन' का प्रयोग न करके) 'एकवचन' का प्रयोग किया गया। ('संख्या' अर्थ को) 'विभक्तियों' का वाच्य मानने पर 'अन्वय-व्यतिरेक' के द्वारा 'जस्' (विभक्ति) के बिना ('आदि' इस) 'नाम' (शब्द) के अर्थ में 'बहुत्व' की प्रतीति नहीं होनी चाहिये।

वैयाकरण 'जाति', 'व्यक्ति' तथा 'लिंग' के साथ साथ 'संख्या', अर्थात् 'एकवचन', 'द्विवचन', 'बहुवचन' रूप अर्थ, को भी 'नाम' (प्रातिपदिक) शब्दों का ही अर्थ मानते हैं। 'सु' आदि 'विभक्तियों' को तो उन उन 'एकत्व' आदि अर्थों का, उसी प्रकार केवल द्योतक माना जाता है, जिस प्रकार 'प्र' आदि उपसर्गों को विभिन्न धात्वर्थों का द्योतक-मात्र माना जाता है। इस प्रकार, 'विभक्तियां' संख्या का केवल द्योतनमात्र करती हैं। इसलिये, कभी कभी इन 'विभक्तियों' के प्रयोग के बिना भी 'एकत्व' आदि अर्थों की प्रतीति सीधे शब्द से ही हो जाया करती है। जैसे—'दधि', 'मधु' इत्यादि प्रयोगों में 'विभक्ति' के प्रयोग के बिना ही 'एकत्व' अर्थ का ज्ञान हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि व्याकरण के सूत्रों द्वारा लुप्त 'विभक्तियों' के स्मरण से 'संख्या' का ज्ञान होता है क्योंकि जिन्हें 'विभक्ति' के लोप आदि की प्रक्रिया का ज्ञान नहीं है उन्हें भी इस तरह के प्रयोगों से 'एकत्व' आदि 'संख्या' का ज्ञान होता ही है।

इसीलिये पाणिनि के "आदिर्ञिटुडवः" (पा० १. ३. ५) इस सूत्र में 'बहुवचन' के अर्थ में एकवचनान्त 'आदिः' शब्द का प्रयोग सुसङ्गत होता है। यदि यह माना जाय कि 'बहुत्व'रूप अर्थ 'जस्' विभक्ति का अपना वाच्य अर्थ है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब 'जस्' विभक्ति का प्रयोग किया जाए तभी 'बहुत्व' अर्थ की प्रतीति हो तथा 'जस्' के प्रयोग न होने पर उस अर्थ की प्रतीति न हो। इस प्रकार के क्रमशः 'अन्वय' (जिसके होने पर जो हो—'यत्-सत्त्वे यत्-सत्त्वम्) तथा 'व्यतिरेक' (जिसके न होने पर जो न हो—'यद्-अभावे यद्-अभावः') के आधार पर पाणिनि के "आदिर्ञिटुडवः" सूत्र में भी, 'जस्' विभक्ति के प्रयोग के अभाव में 'बहुत्व' अर्थ की प्रतीति नहीं होनी चाहिये।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



परन्तु सूत्र के 'आदिः' शब्द से भी 'बहुत्व' अर्थ की प्रतीति होती ही है। इससे स्पष्ट है कि 'आदिः' पद में 'बहुत्व' अर्थ 'जस्' विभक्ति का न हो कर 'आदि' इस 'प्रातिपदिक' शब्द का है। 'सु' विभक्ति तो केवल इस बात का द्योतन करती है कि यहां 'आदि' शब्द अपने 'आदि' अर्थ के साथ साथ 'बहुत्व' अर्थ का भी वाचक है।

परन्तु नैयायिकों का यह विचार है कि 'संख्या' की दृष्टि से अनन्त प्रकृतियों—'नाम शब्दों'—में 'शक्ति' की कल्पना करने की अपेक्षा थोड़ी सी विभक्तियों में 'संख्या'-वाचक 'शक्ति' की कल्पना करने में लाघव है। इस कारण 'संख्या' को 'विभक्ति' का अर्थ ही मानना चाहिये।

एक तीसरा मत यह है कि न तो 'नाम' प्रकृतियां 'संख्या' अर्थ की वाचिका हैं और न 'विभक्तियाँ', अपितु 'विभक्ति'-सहित 'प्रातिपदिक', अर्थात् 'प्रातिपदिक' तथा 'विभक्ति' दोनों का समुदाय, 'संख्या'-युक्त अर्थ का वाचक है। इन दोनों को अलग अलग करके नहीं देखा जा सकता। इन तीनों ही मतों का सङ्ग्रह भर्तृहरि की निम्न कारिका में किया गया है :—

वाचिका द्योतिका वा स्युर् द्वित्वादीनां विभक्तयः।
यद् वा संख्यावतोऽर्थस्य समुदायोऽभिधायकः॥ (वाप० २.१६५)

**['कारक' भी 'प्रातिपदिक' शब्द का ही अर्थ है]**

कारकम् अपि प्रातिपदिकार्थ इति पंचकः प्रातिपदिकार्थः। ननु अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययस्यैव तद् वाच्यम् इति चेत् ? न। 'दधि तिष्ठति', 'दधि पश्य' इत्यादौ कर्मादि-कारक-प्रतीतेः प्रत्ययं विनापि सिद्धत्वात्। न च लुप्त-प्रत्ययस्मरणात् तत्प्रतीतिर् इति वाच्यम्, प्रत्ययलोपम् अजानतोऽपि नामत एव तत्प्रतीतेः।

'कारक' ('कर्ता' आदि) भी 'प्रातिपदिक' (शब्द) का अर्थ है। इस रूप में ('जाति', 'व्यक्ति', 'लिंग', 'संख्या' तथा 'कारक' ये) पांच 'प्रातिपदिक' के (ही) अर्थ है। यदि यह कहा जाय कि 'अन्वय'-'व्यतिरेक के आधार पर वह ('कारक') प्रत्यय का ही वाच्य (अर्थ) है ('प्रातिपदिक' प्रकृति का अर्थ नहीं है) तो वह उचित नहीं क्योंकि 'दधि तिष्ठति' (दही है), 'दधि पश्य,' (दही को देखो) इत्यादि प्रयोगों में 'कर्म' आदि 'कारकों' का ज्ञान ('सु' आदि प्रथमा विभक्ति के तथा 'अम्' आदि द्वितीया विभक्ति के) प्रत्ययों के (प्रयोग के) विना भी अनुभव-सिद्ध है। प्रत्यय के लोप आदि के स्मरण होने से (इन प्रयोगों में) उस उस 'कारक' की प्रतीति होती है—यह भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि ('सु' आदि) प्रत्यय के लोप को न जानने वाले (व्यक्ति) को भी (केवल) 'नाम' पद से ही उस ('कारक') की प्रतीति हो जाती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'प्रातिपदिक' अथवा 'नाम' शब्द 'जाति', 'व्यक्ति', 'लिंग', 'वचन' 'संख्या' तथा 'कारक' इन पाँच अर्थों का वाचक है यह वैयाकरणों का सिद्धान्त है। विभक्तियों के होने पर 'कारकों' का ज्ञान होता है तथा उनके प्रयुक्त न होने पर 'कारकों' का ज्ञान नहीं होता, इस अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर 'कारकों' को प्रत्यय का ही अर्थ माना जाय—यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'दधि तिष्ठति' तथा 'दधि पश्य' इत्यादि प्रयोगों में विभक्ति के प्रयोग के बिना भी क्रमशः 'कर्ता' तथा 'कर्म' कारकों की प्रतीति होती ही है। इस कारण केवल 'अन्वय-व्यतिरेक' के सहारे किसी वास्तविक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।

'दधि तिष्ठति' तथा 'दधि पश्य' जैसे प्रयोगों में लुप्त प्रत्यय के स्मरण से 'कारकों' का ज्ञान होता है—यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो व्यक्ति व्याकरण की शब्द-सिद्धि आदि की प्रक्रिया को नहीं जानते उन अवैयाकरणों को भी इस तरह के प्रयोगों में 'कारक' का ज्ञान होता ही है। यदि लुप्त प्रत्यय के स्मरण से कारकों का ज्ञान होता तो 'लोप' आदि की प्रक्रिया को जाने बिना 'कारकों' का स्मरण नहीं होना चाहिये क्योंकि स्मरण में पूर्वानुभव या पूर्व ज्ञान कारण होता है। अतः यह स्पष्ट है कि बिना लुप्त प्रत्यय के स्मरण के ही 'कारक' का ज्ञान अनेक प्रयोगों में होता है।

पतंजलि ने "सरूपाणाम् एक-शेष एक-विभक्तौ" (पा० १.२.६४) तथा "अनभिहिते" (पा० २.३.१) सूत्रों के भाष्य में 'प्रातिपदिक' शब्दों के अर्थ के विषय में विचार किया है तथा यही निर्णय दिया है कि उपर्युक्त पांचों अर्थ 'प्रातिपदिक' शब्द के ही वाच्य अर्थ माने जाने चाहियें—प्रत्ययों के नहीं। "कुत्सिते" (पा० ५.३.७४) के भाष्य में किसी प्राचीन आचार्य की निम्न कारिका उद्धृत है :—

**स्वार्थम् अभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यम् आह समवेतम्।**
**समवेतस्य च वचने लिंगं वचनं विभक्ति च॥**

इस कारिका में भी यही स्वीकार किया गया है कि ये पांचों अर्थ 'प्रातिपदिक' शब्द के ही हैं।

**[शब्द अपने स्वरूप का भी बोधक होता है]**

विशेषणतया शब्दोऽपि शाब्दबोधे भासते, 'युधिष्ठिर आसीत्' इत्यादौ 'युधिष्ठिर'-शब्द-वाच्यः कश्चिद् आसोद् इति बोधात्।

**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते।**
**अनुविद्धम् इव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥**

(वाप० १.१२३)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इत्यभियुक्तोक्तेः ।

**ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा ।**
**तथैव सर्वशब्दानाम् एते पृथग् अवस्थिते ।।**

(वाप० १.५६)

**विषयत्वम् अनादृत्य शब्देनार्थः प्रकाश्यते ।**

(वाप० १.५६)

इति वाक्यपदीयाच्च । अत एव 'विष्णुम् उच्चारय' इत्यादाव् अर्थोच्चारणासम्भवात् शब्द-प्रतीतिः ।

शाब्दबोध में शब्द का भी ज्ञान विशेषण रूप से होता है क्योंकि 'युधिष्ठिर आसीत्' (युधिष्ठिर था) इत्यादि प्रयोगों में 'युधिष्ठिर' (इस) शब्द का वाच्यार्थभूत कोई व्यक्ति था यह ज्ञान होता है। तथा—

"लोक में ऐसा कोई बोध नहीं है जो शब्द का ज्ञान हुए बिना (ही प्रकट) हो जाय। मानों शब्द से अनुविद्ध हो कर ही सभी ज्ञान प्रकट होता है" ऐसा विद्वानों ने कहा है।

(इसके अतिरिक्त)—

"जिस प्रकार प्रकाश की ग्राह्यता तथा ग्राहकता ये दो शक्तियां हैं उसी प्रकार सभी शब्दों की ये दो (शक्तियां) पृथक् पृथक् विद्यमान हैं।"

तथा—

("ज्ञान की) विषयता को प्रकट किये बिना शब्दों से अर्थ का प्रकाशन नहीं होता" यह वाक्यपदीय से पता लगता है।

(शब्द का रूप भी शब्द से भासित होता है) इसीलिये 'विष्णुम् उच्चारय' (विष्णु का जप करो) इत्यादि (प्रयोगों) में अर्थ का उच्चारण असम्भव होने से शब्द (का उच्चारण करना है इस तरह) की प्रतीति होती है।

उपर्युक्त पाँच अर्थों के साथ उच्चरित शब्द का एक और भी अर्थ होता है और वह है शब्द का अपना ही रूप अथवा स्वरूप क्योंकि जब भी किसी शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है तो अर्थ के ज्ञान से पूर्व शब्द का अपना रूप भी वहां श्रोता को ज्ञात होता है। यदि शब्द का अपना रूप प्रकट न हो तो श्रोता को उस शब्द के अर्थ का ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसी कारण, शब्दोच्चारण के पश्चात् भी यदि श्रोता उस शब्द को स्पष्टतया नहीं सुन पाता, अथवा उसे उच्चरित शब्द के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता, तो वह वक्ता से पूछता है कि 'आप ने क्या कहा है'? श्रोता का यह प्रश्न ही इस बात का प्रमाण है कि अर्थ ज्ञान में शब्द का अपना रूप निश्चित ही भासित होता है। द्र०—"शब्द-पूर्वको ह्यर्थे सम्प्रत्ययः । अतश्च शब्दपूर्वकः। योऽपि ह्यसाव् आहूयते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



नाम्ना नाम च यदा अनेन नोपलब्धं भवति तदा पृच्छति 'किं भवान् आह' इति" (महा० १.१.६७) तथा—"अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात् किम् आहेत्यभिधीयते" (वाप० १.५७)।

इसलिये शाब्दबोध, अर्थात् शब्द से होने वाले अर्थज्ञान, में शब्द का अपना रूप 'विशेषण' बनता है। वस्तुतः शब्द तथा अर्थ में अभिन्नता होती है। इसलिये अर्थ के बिना शब्द तथा शब्द के बिना अर्थ रह ही नहीं सकते। ऊपर 'शक्ति-निरूपण' में नागेश ने दोनों की अभिन्नता का विस्तार से उल्लेख किया है। वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड—ब्रह्मकाण्ड—में भर्तृहरि ने भी इस तथ्य का विस्तार से प्रतिपादन किया है। वहां के इस प्रकरण की ढाई कारिकाओं को नागेश ने यहां प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है।

**न सोऽस्ति···भासते** :- यहाँ प्रथम करिका में यह कहा गया है कि सभी प्रकार का ज्ञान शब्द से अनुविद्ध, (आच्छादित अथवा परिवेष्टित) रहता है। अर्थ शब्द से नित्य सम्बद्ध रहता है, इसलिये कोई भी शाब्दबोधात्मक ज्ञान ऐसा नहीं है जिसमें शब्दरूप ('विशेषण' अथवा बोधक) की प्रतीति न होती हो। प्रत्यक्ष आदि ज्ञान में भी, शब्द तथा अर्थ में तादात्म्य या अभेद होने के कारण, शब्द-ज्ञान की स्थिति का आरोप कर लिया जाता है। इस आरोपित शब्द-ज्ञान को सूचित करने के लिये ही भर्तृहरि ने अपनी इस कारिका में उत्प्रेक्षा वाचक 'इव' का प्रयोग किया है, ऐसा टीकाकारों का विचार है। इसी तरह मूक, बधिर आदि के ज्ञान में भी आन्तर शब्द या वक्ता की चेतना, जिसे 'परा वाक्' कहा गया है, कारण के रूप में विद्यमान रहती है।

**ग्राह्यत्वं···पृथग् अवस्थिते** :—यहाँ उद्धृत दूसरी कारिका में यह बताया गया है कि जिस प्रकार प्रकाश के दो रूप होते हैं—'ग्राह्यत्व' तथा 'ग्राहकत्व' अथवा 'प्रकाश्यत्व' और 'प्रकाशकत्व' उसी प्रकार उच्चरित शब्द के भी ये दो रूप होते हैं। जिस प्रकार प्रकाश के द्वारा जहाँ अन्य वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं वहीं उसका अपना रूप भी प्रकाशित होता है, उसी प्रकार शब्द से जहाँ अर्थ का ज्ञापन होता है वहाँ उसके अपने रूप का भी ज्ञापन होता है। इसलिये शब्द, प्रकाश के समान, ग्राहक होने के साथ साथ ग्राह्य भी होता है। उसमें ज्ञापकता तथा ज्ञाप्यता, प्रकाशकता तथा प्रकाश्यता ये दोनों ही धर्म होते हैं।

**विषयत्वम् · प्रकाश्यते** :—यहाँ उद्धृत तीसरे कारिकार्ध में यह कहा गया कि शब्द से तब तक अर्थ का प्रकाशन नहीं होता जब तक शब्द का अपना रूप (स्वरूप) भी शब्द का विषय नहीं बन जाता, अर्थात् शब्द के उच्चरित होने पर पहले शब्द का अपना ही रूप इस उच्चरित शब्द का विषय बनता है। शब्दस्वरूप ही ज्ञेय बनता है। इसके बाद उस शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है। इसीलिये अश्रुत शब्द केवल अपनी सत्तामात्र से अर्थ का प्रकाशन नहीं किया करते। यह पूरी कारिका इस प्रकार है :—

**विषयत्वम् अनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते।**
**न सत्तयैव तेऽर्थानाम् अगृहीताः प्रकाशकाः॥**

(वाप० १.५६)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस रूप में इन तीनों कारिकाओं में इसी तथ्य को स्पष्ट तथा सुपुष्ट किया गया है कि शाब्दबोध, अर्थात् शब्द से प्रकट होने वाले अर्थ-ज्ञान, में विशेषण के रूप में शब्द भी प्रकट होता है। 'विशेषण' अर्थात् अप्रधान वह इसलिये होता है कि अर्थ को प्रकट करने की दृष्टि से शब्द का उच्चारण किया जाता है अतः, परार्थ होने के कारण, उसे गौण अथवा अप्रधान माना जाता है। इसी दृष्टि से भर्तृहरि ने कहा—

**उच्चरन् परतंत्रत्वाद् गुणः कार्येन युज्यते।**
**तस्मात्तदर्थैः कार्याणां सम्बन्धः परिकल्प्यते॥**

(वाप० १.६२)

उच्चरित होता हुआ शब्द 'परतंत्र' अर्थात् परार्थ होने के कारण, 'गुण' अर्थात् गौण होता है। इसलिये शब्द 'कार्य' अर्थात् क्रिया से युक्त नहीं होता। इस कारण शब्द के अर्थों के साथ कार्यों अथवा क्रियाओं के सम्बन्ध की कल्पना की जाती है, शब्द के साथ नहीं।

**अत एव····· शब्द प्रतीतिः**—शाब्दबोध में शब्द का भी ज्ञान 'विशेषण' (अप्रधान) रूप में होता है इस बात की पुष्टि के लिये नागेश ने एक और हेतु यहाँ प्रस्तुत किया है। वह यह कि यदि शब्दबोध में शब्द के स्वरूप का ज्ञान न होता तो 'विष्णुम् उच्चारय' जैसे प्रयोग न किये जाते। विष्णुरूप अर्थ का उच्चारण हो नहीं सकता इसलिये इस वाक्य का यही अर्थ है कि 'विष्णु' शब्द का उच्चारण करो। अतः यह आवश्यक है कि 'विष्णु' इस शब्द-रूप को भी 'विष्णु' शब्द का अर्थ माना जाय। ऊपर 'शक्ति-निरूपण' में "रामेति द्वयक्षरं नाम मान-भङ्गः पिनाकिनः" तथा "वृद्धिरादैच्" आदि अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा चुके हैं जो यह बताते हैं कि उन उन शब्दों का अर्थ स्वयं वे वे शब्द-स्वरूप ही हैं। इस प्रसंग में पाणिनि का "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" सूत्र भी प्रस्तुत किया जा सकता है जिसकी चरितार्थता तभी सम्भव है यदि शब्द का अपना रूप भी अर्थ ज्ञान के समय भासित हो। अन्यथा, यदि शब्द का अपना रूप उपस्थित ही न हो तो, यह कहना कि "व्याकरण में शब्दसंज्ञा को छोड़ कर अन्य शब्द केवल अपने रूप के ग्राहक या बोधक होते हैं, अर्थ के नहीं" सर्वथा असंगत हो जायगा। द्र०—

**आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।**
**अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते॥**

(वाप० १.५०)

**यथा प्रयोक्तुः प्राग् बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते।**
**व्यवसायो ग्रहीतॄणाम् एवं तेष्वेव जायते॥**

(वाप० १.५३)

अतः यह सिद्ध है कि शब्दों से उपस्थित होने वाला समान आनुपूर्वी से युक्त वह वह शब्द-रूप भी 'प्रातिपदिक' शब्द का ही अर्थ है, इस कारण 'प्रातिपदिकार्थ' है। इस रूप में 'प्रातिपदिक' शब्दों के ६ अर्थ हुए। द्र०—"षोढाऽपि क्वचित्-प्रातिपदिकार्थः" (वैभूसा० पृ० २३६)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[शाब्द बोध में शब्द के अपने रूप के भी भासित होने के कारण ही अनुकरण से अनुकार्य के स्वरूप का ज्ञान होता है]

अत एव अनुकरणेन अनुकार्यस्वरूप-प्रतीतिः। तथाहि "स्व-सदृश-शब्दमात्र-बोध-तात्पर्यकोच्चारण-विषयत्वम् अनुकरणत्वम्"। "स्व-सदृश-शब्द-प्रतिपाद्यत्वे सति शब्दत्वम् अनुकार्यत्वम्"। तत्र 'अनुकार्याद् अनुकरणं भिद्यते' इति तयोर् भेद-विवक्षायाम् अनुकार्य-स्वरूप-प्रतिपादकत्वेन अर्थवत्त्वात् प्रातिपदिकात् स्वादि-विधिः। भेद-पक्ष-ज्ञापकः "भुवो वुग् लुङ्-लिटोः" (पा० ६.४.८८) इत्यादि-निर्देशः। 'अनुकार्याद् अनुकरणम् अभिन्नम्' इत्यभेदविवक्षायां च अर्थवत्त्वाभावान् न प्रातिपदिकत्वं न वा पदत्वम्। अभेद-पक्ष-ज्ञापकस्तु 'भू सत्तायाम्' इत्यादि-निर्देशः। प्रातिपदिकत्व-पदत्वाभावेऽपि 'भू' इत्यादि साधु भवत्येव।

इसीलिये (शाब्द बोध में शब्द के स्वरूप के भी भासित होने के कारण) अनुकरण से अनुकार्य के स्वरूप का ज्ञान होता है। 'अनुकरणता' (की परिभाषा) है "अपने (अनुकरण के) सदृश (समान वर्णानुपूर्वी वाले अनुकार्यभूत) शब्द का ज्ञान करना ही प्रयोजन है जिसका ऐसे उच्चारण का विषय बनना"। तथा 'अनुकार्यता' (की परिभाषा) है "अपने (अनुकार्य के) सदृश (समान वर्णानुपूर्वी वाले अनुकरणभूत) शब्द से अभिधीयमान शब्द होना"। इस तरह 'अनुकार्य से अनुकरण भिन्न होता है' इस रूप में उन दोनों (अनुकार्य तथा अनुकरण में) का भेद बतलाने की विवक्षा होने पर, अनुकार्यभूत शब्द के स्वरूप का बोधक होने तथा (इस रूप में) अर्थवान् होने के कारण, (अनुकरणभूत शब्द की) 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने से 'सु' आदि (विभक्तियों) का विधान (संभव) होता है। (अनुकार्य तथा अनुकरण के) भेद-पक्ष के ज्ञापक हैं "भुवो वुग् लुङ्-लिटोः" (सूत्र में विद्यमान 'भुवः') इत्यादि निर्देश।

'अनुकार्य से अनुकरण अभिन्न है' इस रूप में अभिन्नता की विवक्षा में, ('भू' की) अर्थवत्ता के न होने के कारण, 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं होगी तथा ('प्रातिपदिक' संज्ञा के अभाव में 'सु' आदि विभक्तियों के न आने से 'भू' की) 'पद' संज्ञा भी नहीं होगी। अभेद-पक्ष का ज्ञापक है 'भू सत्तायाम्' इत्यादि निर्देश। (इस पक्ष में) 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा (उसके अभाव में 'पद' के सुबन्त न होने से) 'पद' संज्ञा के न होने पर भी 'भू' इत्यादि निर्देश (शिष्ट-प्रयुक्त होने के कारण) साधु ही होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



शाब्द बोध में शब्दस्वरूप भी आभासित होता है इस बात की पुष्टि में एक और युक्ति यहां यह दी गयी कि अनुकरण शब्द से अनुकार्य शब्द के स्वरूप का ज्ञान होता है। जिस समय कोई व्यक्ति 'गौ इत्ययम् आह' (यह मनुष्य 'गौ' शब्द का उच्चारण करता है) यह वाक्य कहता है तो सुनने वाले को यही प्रतीत होता है कि 'अमुक व्यक्ति ने 'गौ' पद का उच्चारण किया'। यहाँ 'गौ इति' का 'गौ पद' रूप अर्थ 'गौ' शब्द के अपने रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस अर्थ के अतिरिक्त वक्ता की ओर कोई भी अन्य विवक्षा इस वाक्य के कथन में नहीं होती। इसलिये यह मानना ही चाहिये कि शब्द का अपना रूप भी शब्द का वाच्य अर्थ है।

**तथाहि ···अनुकार्यत्वम्**:—इस प्रसंग में नागेश भट्ट ने 'अनुकरण' तथा 'अनुकार्य' की परिभाषा प्रस्तुत की है। 'अनुकरण' वह वाचक शब्द है जिसका उच्चारण केवल इसलिए किया जाता है कि उससे समान वर्णानुपूर्वी वाले वाच्यभूत अनुकार्य शब्दरूप की प्रतीति हो जाय। जैसे—'गौ इत्ययम् आह' इस वाक्य में 'गौ' यह 'अनुकरण' शब्द है क्योंकि यहाँ का 'गौ' शब्द तत्सदृश अनुकार्य 'गो शब्द' का बोधक है। इसी प्रकार 'अनुकार्य' वह वाच्यभूत शब्द है जिसका ज्ञान, उसके समान वर्णानुपूर्वी वाले दूसरे, वाचकभूत 'अनुकरण' शब्द द्वारा होता है। जैसे—उपर्युक्त वाक्य में 'गौ इति' से प्रतीत होने वाला गो 'शब्द'। यहाँ 'अनुकरण' तथा 'अनुकार्य' की परिभाषाओं में 'स्व' पद क्रमशः 'अनुकरण' तथा 'अनुकार्य' का बोधक है।

**तत्र ····निर्देशः**—'अनुकरण' तथा 'अनुकार्य' के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक मत में दोनों को भिन्न माना जाता है तथा दूसरे मत में दोनों को अभिन्न। प्रथम मत की दृष्टि से 'अनुकरण' तथा 'अनुकार्य' दोनों के पारस्परिक भेद को प्रकट करना चाहते हुए जब वक्ता 'गौ इति' जैसे शब्दों का प्रयोग करता है तो वहाँ 'अनुकरण' शब्द का वाच्य अर्थ होता है 'अनुकार्य'-भूत शब्द-स्वरूप। वाच्यभूत इस 'अनुकार्य' शब्द-रूप अर्थ का बोध कराने के कारण ही 'अनुकरण'-भूत शब्द की अर्थवत्ता है क्योंकि 'अनुकार्य' शब्द के अतिरिक्त उस 'अनुकरण' शब्द का कोई भी अन्य अर्थ है ही नहीं। अतः केवल इसी अर्थवत्ता के द्वारा इन 'अनुकरण' शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होती है जिसके आधार पर इन शब्दों से 'सु' आदि विभक्तियाँ आती हैं और इस रूप में इन्हें साधु माना जाता है। इस प्रकार 'अनुकरण' शब्द से 'अनुकार्य' शब्द की प्रतीति होती है, इसलिये 'अनुकरण' शब्द में 'अनुकार्य' शब्द को प्रकट करने की 'शक्ति' माननी ही चाहिये।

'अनुकार्य' तथा 'अनुकरण' में भिन्नता होती है इस भेद-पक्ष का ज्ञापन "भुवो वुग् लुङ्-लिटोः" इत्यादि सूत्रों में प्रयुक्त 'भुवः' जैसे प्रयोगों से होता है। यहां 'भू' यह 'अनुकरण' शब्द है तथा 'भू' धातु 'अनुकार्य' शब्द है। इन दोनों में भिन्नता होने के कारण ही इस 'अनुकरण'-भूत शब्द 'भू' को धातु नहीं माना गया। धातुसंज्ञक न होने तथा अनुकार्य 'भू' धातु के बोधक होने से अर्थवान् होने के कारण ही 'अनुकरण'-भूत 'भू' की 'प्रातिपदिक' संज्ञा हो सकी तथा उसके साथ षष्ठी विभक्ति के एक वचन में 'ङस्' प्रत्यय के संयोजन से 'भुवः' यह रूप निष्पन्न हो सका। यदि इस 'अनुकरण'-भूत 'भू' को 'अनुकार्य' 'भू' धातु से अभिन्न माना जाय तो यह भी धातुसंज्ञक हो जाएगा और तब, "अर्थवद्—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" (पा० १.२.४५) सूत्र के 'अधातुः' इस निषेध के अनुसार, 'भू' को 'प्रातिपदिक' संज्ञा न होने के कारण उससे षष्ठी विभक्ति नहीं आ सकेगी। इस तरह सूत्र का 'भुवः' शब्द असाधु बन जायेगा। अतः यह विभक्त्यन्त 'भुवः' प्रयोग इस बात का ज्ञापक है कि 'अनुकार्य' तथा 'अनुकरण' में भिन्नता होती है।

इसी प्रकार "क्षियो दीर्घात्" (पा० ८.२.४६) सूत्र के 'क्षियः' पद में जो पंचमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है वह भी इसी भेद-पक्ष का ही द्योतक है। द्र०— "सिद्धाऽत्र विभक्तिः, प्रातिपदिकात् इति। कथं 'प्रातिपदिक'संज्ञा ? 'अर्थवत् प्रातिपदिकम्' इति। ननु च 'अधातुः' इति प्रतिषेधः प्राप्नोति ? नैष धातुः। धातोर् एषोऽनुकरणम्" (महा० ८.२.४६)।

इसके अतिरिक्त "मती छः सूक्त-साम्नोः" (पा० ५.२.५९) सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने, 'अनुकार्य' तथा 'अनुकरण' के भेद-पक्ष के आधार पर ही, कहा है :— "योऽसाव् आम्नाये 'अस्यवाम'-शब्दः पठ्यते सोऽस्य पदार्थः। किम् पुनर् अन्ये आम्नाय-शब्दाः, अन्ये इमे ? ओम् इत्याह"। पतंजलि के इस कथन का अभिप्राय यह है कि— जो वेद में 'अस्यवाम' शब्द पठित है वह इस 'अनुकरण'-भूत 'अस्यवाम' शब्द का वाच्यार्थ है तथा वेद (संहिता) में पठित 'अनुकार्य'-भूत वे 'अस्यवाम' आदि शब्द अन्य हैं तथा उनके बोधक अनुकरणभूत ये 'अस्यवाम' आदि शब्द अन्य हैं।

**अनुकार्याद्''' न वा पदत्वम्** :—'अनुकार्य से अनुकरण अभिन्न होता है' इस अभेद पक्ष में 'भू सत्तायाम्' इस प्रयोग के 'भू' इस 'अनुकरण'-भूत शब्द की 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं होगी। इसका कारण यह है कि वह 'अनुकरण'-भूत शब्द अर्थवान् नहीं है क्योंकि अभेद-पक्ष में 'अनुकरण' शब्द केवल सादृश्यमूलक अभेद के आधार पर 'अनुकार्य' के स्वरूप का बोधक होता है। इसलिये, 'अभिधा' आदि 'वृत्तियों' के द्वारा अर्थोपस्थापक न होने के कारण, 'अनुकरण' शब्द की अर्थवत्ता नहीं है। अर्थवत्ता के अभाव में 'अनुकरण' शब्द की 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह है कि 'अनुकार्य' से सर्वथा अभिन्न होने के कारण 'अनुकरण'-भूत 'भू' आदि की 'धातु' संज्ञा हो जाएगी और तब 'अधातुः' इस निषेध से 'अनुकरण' 'भू' शब्द की 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं होगी। 'प्रातिपदिक' संज्ञा के अभाव में विभक्तियों के न आने से 'भू' जैसे निर्देश असाधु हो जायेंगे। साथ ही 'सुबन्त' न होने के कारण 'भू सत्तायाम्' इस प्रयोग में 'भू' की 'पद' संज्ञा भी नहीं होगी।

**अभेदपक्ष-ज्ञापकस्तु'''भवत्येव** :—अभेदपक्ष का ज्ञापक है 'भू सत्तायाम्' इत्यादि पाणिनीय धातुपाठ के निर्देश। इनमें 'भू' इत्यादि का विभक्ति-रहित प्रयोग हुआ है। यदि केवल भेदपक्ष ही स्वीकार्य होता तो उपरि प्रदर्शित पद्धति से, 'भू' की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होकर यहाँ प्रथमा विभक्त्यन्त 'भू' का प्रयोग होना चाहिये। परन्तु इस प्रकार के निर्देशों को विभक्ति के अभाव में भी, असाधु इसलिए नहीं माना जाता कि पाणिनि आदि शिष्टों तथा आचार्यों द्वारा ये प्रयुक्त हैं। तुलना करो—

**अत एव 'गवित्याह', 'भू सत्तायाम्' इतीदृशम्।**
**न प्रातिपदिकं नापि पदं साधु तु तत् स्मृतम्॥**

(वैभूसा० पृ० २४४)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



[ 'भू सत्तायाम्' इत्यादि प्रयोगों में 'भू' जैसे विभक्ति-रहित प्रयोग असाधु नहीं हैं]

ननु 'अपदं न प्रयुंजीत' इति **भाष्याद्** असाधु इदम् इति चेत् ? न । 'अपदम्' इत्यस्य 'अपरिनिष्ठितम्'[1] इत्यर्थः । 'परिनिष्ठितत्वं' च "अप्रवृत्त-नित्य-विधि-उद्देश्यतावच्छेदक-अनाक्रान्तत्वम्" । तद् यथा—'देवदत्तो भवति' इत्यादौ "तिङ् अतिङः" (पा० ८.१.२८) इति निघाते जाते अतिङन्त-पद-पर-तिङन्तत्वरूप-उद्देश्यतावच्छेदक-सत्त्वे अपरिनिष्ठितत्व-वारणाय 'अप्रवृत्त' इति । "स्वरति०" (पा० ७.२.४४) इत्यादि-विकल्प-सूत्रस्य पाक्षिक-प्रवृत्तौ[2] 'सेद्धा' इत्यादाव् असाधुत्व-वारणाय 'नित्यविधि' इति । अभेदपक्षे तु "अर्थवद्०" (पा० १.२.४५) इति सूत्रस्य अर्थवत्त्वरूप-उद्देश्यतावच्छेदक-अनाक्रान्तत्वात् सूत्र-प्रवृत्ताव्[3] अपि 'भू' इत्यादि परिनिष्ठितम् । परिनिष्ठित-साधु-शब्दौ पर्यायौ ।

'अपदं न प्रयुंजीत' (जो शब्द 'पद' नहीं है उनका प्रयोग न किया जाय) भाष्य (के इस कथन) से यह ('भू सत्तायाम्' इत्यादि प्रयोगों ये विद्यमान 'भू' इत्यादि विभक्तिरहित निर्देश) असाधु है—यदि यह कहा जाय तो ? यह ठीक नहीं है । क्योंकि 'अपद' का अर्थ है 'अपरिनिष्ठित' । तथा 'परिनिष्ठितत्व' (की परिभाषा) है "अप्रवृत्त तथा नित्यरूप से विधान करने वाले (सूत्र) की 'उद्देश्यता' (विषयता) के 'अवच्छेदक' (धर्म) से युक्त न होना" । 'देवदत्तो भवति' (देवदत्त है) इत्यादि (प्रयोगों के 'भवति' जैसे शब्दों) में "तिङ् अतिङः" इस सूत्र से सर्वानुदात्तता के हो जाने पर (भी) 'अतिङन्त पद से परे तिङन्त पद का होना रूप' उद्देश्यता (विषयता) के 'अवच्छेदक' (धर्म) के बने रहने के कारण 'भवति' में 'अपरिनिष्ठितता' के निवारण के लिये (इस परिभाषा में) 'अप्रवृत्त' यह पद रखा गया । "स्वरति-सूति-सूयति-धूञ्-उदितो वा" इत्यादि विकल्प सूत्र ('इट्' आगम का विकल्प से विधान करने वाले सूत्र) की ('सेधिता' इत्यादि में) पाक्षिकरूप से प्रवृत्ति हो जाने पर 'सेद्धा' इत्यादि (प्रयोगों) में असाधुत्व ('अपरिनिष्ठितत्व') के निवारणार्थ (उपर्युक्त परिभाषा में) 'नित्य विधि' शब्द रखा गया । (इस तरह) अभेद पक्ष में "अर्थवद् अधातुर्-अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" इस सूत्र की अर्थवत्तारूप, 'उद्देश्यता' में रहने वाले, 'धर्म' से रहित होने के कारण ("अर्थवत्०" इस) सूत्र के प्रवृत्त न होने पर भी 'भू'

१. ह०—अपरिनिष्ठित ।

२. ह०—स्वरति-सूति-सूयति० ।

३. ह०—अप्रवृत्तौ ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इत्यादि (अविभक्तिक प्रयोग) 'परिनिष्ठित' हैं। 'परिनिष्ठित' तथा 'साधु' (दोनों) शब्द पर्याय हैं।

यह बात ऊपर विस्तार से कही गयी है कि 'अनुकरण' तथा 'अनुकार्य' के अभेद पक्ष में ही 'भू सत्तायाम्' इत्यादि प्रयोग सुसंगत हो पाते हैं जिनमें विभक्ति-रहित 'भू' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है तथा इन प्रयोगों को सर्वथा साधु माना गया। यहां यह विचारणीय है कि, जब 'सु' आदि विभक्तियों के अभाव में इन शब्दों की 'पद' संज्ञा नहीं हो सकती तो, इन्हें साधु कैसे माना जाय ? पतंजलि के 'अपदं न प्रयुंजीत' इस कथन के होते हुए, इस प्रकार के विभक्ति-रहित 'अपद' प्रयोगों को प्रामाणिक कैसे माना जाय ? इसी प्रश्न का उत्तर नागेश ने यहां दिया है।

**अपदम् ·· अनाक्रान्तत्वम्** – नागेश का यह कहना है कि 'अपद' का अभिप्राय है 'अपरिनिष्ठित', अर्थात् यदि कोई ऐसा शब्द है जिसमें किसी कार्य का नित्य रूप से विधान करने वाला सूत्र प्रवृत्त तो हो सकता है पर वह प्रवृत्त न हुआ हो तो उसको 'अपरिनिष्ठित' मानना होगा। जिनमें ऐसी स्थिति नहीं है वे 'परिनिष्ठित' हैं। 'परिनिष्ठित' की परिभाषा को नागेश ने अपनी परिष्कृत शब्दावली में प्रस्तुत किया है:— "अप्रवृत्त-नित्य-विधि-उद्देश्यतावच्छेदक-अनाक्रान्तत्वम्"। इसका अभिप्राय यह है कि वे शब्द 'अपरिनिष्ठित' हैं जिनमें नित्य होने वाले कार्य का विधायक कोई सूत्र प्रवृत्त नहीं हुआ हो तथा जो उस सूत्र की उद्देश्यता, (सूत्र की प्रवृत्ति की हेतु), के अवच्छेदक धर्म से युक्त हों। पर जो शब्द इस प्रकार के नहीं हैं वे 'परिनिष्ठित' अर्थात् 'साधु' हैं।

उदाहरण के लिये · 'सुधी + उपास्यः' इस स्थिति में 'यण्' सन्धि का नित्य रूप से विधान करने वाला सूत्र "इको यण् अचि" (पा० ६.१.७७) प्रवृत्त नहीं हुआ, अर्थात् उसके अनुसार इस प्रयोग में 'यण्' आदेश नहीं किया गया। तथा "इको यण् अचि" सूत्र की 'उद्देश्यता' का अवच्छेदक 'धर्म' है "इक् प्रत्याहार के किसी वर्ण के पश्चात् 'अच्' प्रत्याहार के किसी वर्ण का होना"। इस सूत्र के 'उद्देश्य' अर्थात् लक्ष्यभूत प्रयोग हैं—'सुधी ! उपास्यः' इत्यादि उदाहरण। उनमें पायी जाने वाली सामान्य स्थिति है 'उद्देश्यता'। इस 'उद्देश्यता' का अवच्छेदक अर्थात् बोधक अथवा परिचायक 'धर्म' है "इक्' से परे 'अच्' का होना"। उद्देश्यता' का 'अवच्छेदक' यह 'धर्म' 'सुधी उपास्यः' में विद्यमान है क्योंकि यहां 'ई' के बाद 'उ' वर्ण है। इसलिये इस प्रयोग को 'अपरिनिष्ठित' अथवा 'अपद' माना जायगा। ऐसे ही 'अपरिनिष्ठित' शब्दों को 'असाधु' या 'अपद' कहा गया है जिनके प्रयोग का निषेध पतंजलि ने 'अपदं न प्रयुंजीत' इस कथन में किया है।

**देवदत्तो·····अप्रवृत्त इति** :—इन पंक्तियों में 'परिनिष्ठित' की उपर्युक्त परिभाषा में विद्यमान 'अप्रवृत्त' शब्द के प्रयोजन पर विचार किया गया है। यदि कोई सूत्र किसी प्रयोग में प्रवृत्त हो चुका है, अर्थात् अपना कार्य पूरा कर चुका है, तो उसके बाद, भले ही उस प्रयोग में सूत्र की 'उद्देश्यता' का 'अवच्छेदक धर्म' विद्यमान हो, उस प्रयोग को 'अपरिनिष्ठित' नहीं माना जायगा। वह तो 'परिनिष्ठित' प्रयोग ही होगा। जैसे— 'देवदत्तो भवति' इस प्रयोग में "तिङ् अतिङः" इस सूत्र के प्रवृत्त हो जाने, अर्थात् 'भवति' इस 'तिङन्त' पद को, 'देवदत्तः' इस 'अतिङन्त' पद के पश्चात् होने के कारण, सर्वानुदात्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कर देने के बाद भी "तिङ् अतिङः" इस सूत्र की 'उद्देश्यता' का अवच्छेदक धर्म वहाँ बना ही रहता है, अर्थात् वहाँ 'अतिङन्त' पद से परे 'तिङन्त' पद विद्यमान ही रहता है। यह "अतिङन्त' पद से परे 'तिङन्त' पद का होना" ही उस सूत्र का 'उद्देश्यतावच्छेदक धर्म' है। फिर भी इस प्रकार के प्रयोगों को 'अपरिनिष्ठित' नहीं माना जायगा। इसी बात को बताने तथा उसके आधार पर 'देवदत्तो भवति' जैसे प्रयोगों में 'अपरिष्ठितत्व' के निवारण के लिये परिभाषा में 'प्रवृत्त' शब्द रखा गया।

**"स्वरति०" इत्यादि 'नित्यविधि' इति**:—इस पंक्ति में 'परिनिष्ठित' की परिभाषा में विद्यमान 'नित्यविधि' शब्द के प्रयोजन पर विचार किया गया है। यदि कोई सूत्र विकल्प से किसी कार्य को करता है नित्य रूप से कार्य नहीं करता—तो उस सूत्र के उन उदाहरणभूत प्रयोगों को, जिनमें सूत्र प्रवृत्त नहीं हुआ है तथा जो उस सूत्र के "उद्देश्यतावच्छेदक धर्म" से युक्त भी हैं फिर भी, 'अपरिनिष्ठित' नहीं माना जायगा। जैसे—"स्वरति-सूति-सूयति-धूञ्-उदितो वा" यह सूत्र इन निर्दिष्ट धातुओं के 'सेधिता' इत्यादि प्रयोगों में 'इट्' आगम का विकल्प से विधान करता है। इसलिये जिस पक्ष में सूत्र 'इट्' का विधान नहीं करेगा उस पक्ष में 'सेद्धा' इत्यादि प्रयोग बनते हैं। ये प्रयोग सूत्रों की शर्तों से युक्त हैं तथा सूत्र प्रवृत्त भी नहीं हुआ है। फिर भी इन 'सेद्धा' इत्यादि प्रयोगों को 'अपरिनिष्ठित' या 'असाधु' नहीं माना जायगा। इसी बात को बताने के लिये परिभाषा में 'नित्यविधि' शब्द रखा गया है।

**अभेदपक्षे तु ... पर्यायौ**—इस प्रकार 'परिनिष्ठित' की इस परिभाषा के अनुसार अभेदपक्ष में—'अनुकरण' तथा 'अनुकार्य' को अभिन्न मानते हुए—'भू सत्तायाम्' के 'भू' इत्यादि अंश, अर्थवान् नहीं हैं अथवा धातु हैं इसलिये, "अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" इस सूत्र की 'उद्देश्यता' (विषयता) के 'अवच्छेदक धर्म' (अर्थवत्ता, अधातुता इत्यादि) से रहित होने के कारण, सूत्र के प्रवृत्त न होने पर भी, 'परिनिष्ठित' अथवा 'साधु' ही हैं, 'अपरिनिष्ठित' अथवा असाधु नहीं। इस रूप में 'परिनिष्ठित' की इस परिभाषा के अनुसार जो शब्द ठीक हैं वे ही 'साधु' हैं अथवा दूसरे शब्दों में 'परिनिष्ठित' तथा 'साधु' ये दोनों शब्द पर्याय हैं।

नागेश की इस सारी विवेचना का अभिप्राय यह है कि पदत्व की योग्यता होते हुए भी जिन शब्दों का 'अपद' के रूप में विभक्तिरहित प्रयोग होता है केवल उन्हीं को 'अपद' माना जायगा। 'भू' इत्यादि 'अनुकरण' शब्दों में तो पदत्व की योग्यता है ही नहीं फिर यदि उनका विभक्ति-रहित प्रयोग होता है तो उसे 'अपद' कैसे माना जा सकता है?

**[अभेद पक्ष में, 'अनुकरण' तथा 'अनुकार्य' के सर्वथा अभिन्न होने पर, 'अनुकरण'-भूत शब्द से 'अनुकार्य'-भूत शब्द के स्वरूप का ज्ञान कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर]**

ननु अनुकरणस्य अनुकार्य-स्वरूप-बोधकत्वस्य अभावेन[1] कथम् अनुकार्य-स्वरूप-प्रतीतिर् इति चेत्? 'सादृश्यस्य'-

---

१. ह०, वमि०—अप्यभावेन।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



सम्बन्धेन इति गृह्यते। यथा मैत्र-सदृश-पिण्ड-दर्शने मैत्र-स्मरणम् एवं 'भू' इत्याद्य् अनुकरण-ज्ञाने तादृश-अनु-कार्यस्य ज्ञानम् इति संक्षेपः।

## इति नामार्थः

(अभेद पक्ष में) 'अनुकार्य' के स्वरूप की बोधकता के न होने के कारण 'अनुकरण'-भूत शब्द से 'अनुकार्य' (–भूत शब्द) के स्वरूप का ज्ञान कैसे होता है? (यदि यह पूछा जाय तो) उसका उत्तर यह है कि 'सादृश्य' नामक सम्बन्ध से ('अनुकरण' शब्द' अनुकार्य शब्द के स्वरूप का बोधक होता है)। जैसे— मैत्र के समान किसी मूर्त्ति को देखने से मैत्र का स्मरण हो जाता है इसी प्रकार 'भू' इत्यादि 'अनुकरण' (–भूत शब्दों) का ज्ञान होने पर उस प्रकार के (समान आनुपूर्वी वाले) 'अनुकार्य' (–भूत शब्द स्वरूप) का ज्ञान होता है। यह ('नाम' शब्दों के अर्थों का विवरण) संक्षेप में है।

प्रश्न का अभिप्राय यह है कि 'अनुकरण'-भूत शब्दों में, 'अनुकार्य' से अभिन्न होने के कारण, 'अनुकार्य' के स्वरूप को 'अभिधा' आदि वृत्तियों से कहने की शक्ति नहीं रहती। ऐसी स्थिति में 'अनुकरण' शब्दों से 'अनुकार्य' शब्दों के स्वरूप का ज्ञान किस तरह होता है?

प्रश्न के उत्तर में यहाँ यह कहा गया कि, 'वाचकता' शक्ति न होने पर भी, अनुकरण' तथा 'अनुकार्य' में जो वर्णानुपूर्वी इत्यादि की समानता होती है उस समानता या 'सादृश्य' के कारण 'अनुकरण' शब्द 'अनुकार्य' शब्द के स्वरूप का ज्ञान करा देता है। जिस प्रकार मैत्र के सर्वथा समान मूर्ति को देख कर मैत्र का स्मरण या ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार, वाचक न होने पर भी, 'अनुकरण' शब्द 'अनुकार्य' शब्द का स्मारक या बोधक हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# समासादि-वृत्त्यर्थः

[दो प्रकार की वृत्तियाँ]

अथ समासादि-वृत्त्यर्थः । वृत्तिर् द्विधा—'जहत्-स्वार्था', 'अजहत्-स्वार्था' च । अवयवार्थ-निरपेक्षत्वे सति समुदायार्थबोधिकात्वं 'जहत्स्वार्थात्वम्' ।अवयवार्थ-संवलित-समुदायार्थबोधिकात्वम् 'अजहत्-स्वार्थात्वम्' ।

'रथन्तरम्' साम-भेदः[1], 'शुश्रूषा' सेवा इति पूर्वस्या उदाहरणम् । 'राज-पुरुषः' इत्यादौ अन्त्या[2] । समासादि-पंचसु विशिष्ट एव शक्तिर् न त्ववयवे । 'रथन्तरम्'[3], 'सप्तपर्णः', 'शुश्रूषा' इत्यादाव् अवयवार्थानुभवाभावात् ।

अत एव **भाष्ये** (२.१.१. पृ० ६८) 'व्यपेक्षा'-पक्षम् उद्भाव्य "अथ एतस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योऽसौ 'एकार्थीभाव'-कृतो विशेषः स वक्तव्यः" इत्युक्तम् । "धव-खदिरौ', 'निष्कौशाम्बिः', 'गो-रथः', 'घृत-घटः', 'गुड-धानाः', 'केश-चूडः', 'सुवर्णालंकारः', 'द्वि-दशाः', 'सप्त-पर्णाः', इत्यादौ 'साहित्य'-'क्रान्त'-'युक्त'-'पूर्ण'-'मिश्र'-'संघात'-'विकार'-'सुच्प्रत्ययलोप'-'वीप्सा'—आद्यर्था वाचनिका वाच्याः" इति तद्-भाष्याशयः ।

अब समास आदि वृत्तियों के अर्थ के विषय में विचार करते हैं। 'वृत्ति' दो प्रकार की होती है ।—'जहत्स्वार्था' तथा 'अजहत्स्वार्था' । (समास-युक्त पद के) अवयवों के अर्थ की अपेक्षा न करते हुए समुदाय (समास-युक्त पूरे शब्द) के अर्थ का बोधक होना 'जहत्स्वार्थता' (की परिभाषा) है । तथा (समास-युक्त पद के) अवयवभूत पदों के (अपने-अपने अलग-अलग) अर्थ से समन्वित होकर समुदाय (समास-युक्त पूरे पद) के अर्थ का ज्ञान कराना 'अजहत्स्वार्थता' (की परिभाषा) है ।

---

१. ह०—सामभेदः ।

२. ह०—अन्त्याया: ।

३. ह०—रथन्तरः ।

४. ह०—अनुगमा- ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'साम'-विशेष (का वाचक) 'रथन्तर' (शब्द) तथा सेवा (अर्थ का वाचक) 'शुश्रूषा' (शब्द) पहली ('जहत्स्वार्था' वृत्ति) के उदाहरण हैं। 'राजपुरुषः' इत्यादि (शब्दों) में अन्तिम ('अजहत्स्वार्था' वृत्ति) है (क्योंकि) 'समास' आदि पाँच (वृत्तियों) में (अवयव से) विशिष्ट (समुदाय) में 'शक्ति' (अर्थ-बोधकता) रहती है, अवयव में नहीं। (परन्तु) 'रथन्तरम्', 'सप्तपर्णः', शुश्रूषा', इत्यादि में अवयवों के अर्थ का अनुभव नहीं होता (इसलिये 'रथन्तरम्', इत्यादि में 'जहत्स्वार्था' वृत्ति है)।

इसी कारण (भाष्यकार को समुदाय में शक्तिरूप 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य के अभिमत होने के कारण) भाष्य में 'व्यपेक्षा' पक्ष की अवतारणा करके यह कहा गया कि "इस 'व्यपेक्षा सामर्थ्य' में 'एकार्थीभाव' (सामर्थ्य) द्वारा कृत विशेषता के लिये वचन बनाना पड़ेगा"। यहाँ इस भाष्य (के कथन) का आशय यह है कि 'धव-खदिरौ' (धवसहित खदिर), 'निष्कौशाम्बिः, (कौशाम्बी नगरी से बाहर गया हुआ), 'गोरथः' (जिसमें बैल जुड़े हुए हैं ऐसा रथ), 'घृतघटः' (घी से भरा हुआ घड़ा), 'गुड़धानाः' (गुड़ से मिश्रित भुने हुऐ धान), 'केशचूड़ः' (बालों का समुदायरूप जूड़ा), 'सुवर्णालङ्कारः' (सोने का बना हुआ 'विकार' अर्थात्-आभूषण) 'द्विदशाः' (दो बार आवृत्त दश की संख्या अर्थात् बीस), 'सप्तपर्णः', (प्रत्येक सन्धि में सात-सात पत्तों वाला एक फूल का पौधा) इत्यादि (प्रयोगों) में— क्रमशः सहित होना, निकला हुआ, युक्त, परिपूर्ण, मिश्रित, समुदाय, विकार, 'सुच्' प्रत्यय का लोप, वीप्सा आदि— विशिष्ट अर्थ, वचन बना कर, कहने होंगे।

'वृत्ति' शब्द संस्कृत व्याकरण का एक पारिभाषिक शब्द है। 'वृत्ति' की परिभाषा करते हुए पतंजलि ने महाभाष्य (२.१.१ पृ० २८) में कहा है—"परार्थाभिधानं वृत्तिः"। इसका अभिप्राय यह है कि दूसरे शब्द के अर्थ को कहना 'वृत्ति' है। जैसे—'राजपुरुषः' इस समस्त प्रयोग में 'राज' शब्द 'पुरुष' के अर्थ को कहता है तथा 'पुरुष' शब्द 'राजा' के अर्थ को कहता है। परन्तु 'राज्ञःपुरुषः' इस वाक्यावस्था में 'राजा' शब्द केवल अपने अर्थ को कहता है 'पुरुष' शब्द के अर्थ को नहीं कहता है तथा 'पुरुष' शब्द भी केवल अपने ही अर्थ को कहता है, 'राजा' शब्द के अर्थ को नहीं कहता। द्र०—"परस्य शब्दस्य योऽर्थस् तस्य अभिधानं शब्दान्तरेण यत्र सा वृत्तिर् इत्यर्थः। यथा—'राजपुरुषः' इत्यत्र 'राज'—शब्देन वाक्यावस्थायाम् अनुक्तः पुरुषार्थोऽभीधीयते" (महा० प्रदीप टीका २.१.१ पृ० २८-२९)।

वैयाकरण यह मानता है कि शब्द नित्य हैं। इसलिए ऐसा नहीं है कि पहले जो 'राज्ञःपुरुषः' इस प्रकार का वाक्यात्मक शब्द था उसी के स्थान पर विकल्प से षष्ठी तत्पुरुष समास करके 'राज-पुरुषः' यह समासयुक्त शब्द बनाया गया। उसकी दृष्टि में तो 'राज-पुरुषः' इत्यादि शब्द सदा इसी रूप में रहते हैं। इस प्रकार के पदों में जो दो या अनेक पदों की कल्पना की जाती है वह तो केवल, स्वतंत्र शब्दों के सादृश्य के आधार पर, शब्दार्थ को स्पष्ट करने के लिये ही है। इस प्रकार, विभक्त काल्पनिक पदों तथा उनके अपने अपने विभक्त अर्थों के एक हो जाने के कारण, इस मत में 'वृत्ति' को 'एकार्थीभाव'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



नाम दिया गया। द्र०—"यद्यपि शब्दान्तरम् एव वृत्तिः। अवयवा वर्णवद् अनर्थकाः। तथापि सादृश्यात् तत्त्वाध्यवसायं पदानाम् आश्रित्य पृथग् अर्थानाम् 'एकार्थीभावः' इत्युक्तम्" (महा० प्रदीप टीका २. १. १ पृ० १७)।

यह 'एकार्थीभाव'-रूप वृत्ति, कृदन्त, तद्धितान्त, समास, एक-शेष तथा सनाद्यन्त इन पाँच प्रकार के प्रयोगों में विद्यमान है। इसलिये प्राचीन विद्वानों के अनुसार 'वृत्तियां' पांच प्रकार की हैं। परन्तु नवीन विद्वानों के विचारानुसार केवल चार ही वृत्तियां हैं। 'एकशेष' के प्रयोगों में ये विद्वान 'वृत्ति' नहीं मानते क्योंकि वहां अन्य शब्द के अर्थ से अन्वित अपने अर्थ की उपस्थापकता नहीं पायी जाती। द्र०—"वृत्तिश्चतुर्धा—समास-तद्धित-कृत्-सनाद्यन्तधातु-भेदात्" (लघुमंजूषा, पृ० १४२१)। परन्तु परमलघुमंजूषा में यहाँ पांच प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया गया है। द्र०—"समासादि-पंचसु विशिष्ट एव शक्तिर्नत्ववयवे"।

**वृत्तिर्द्विधा···इत्यादावन्त्या**—एक अन्य दृष्टि से 'वृत्तियां' दो प्रकार की मानी गई हैं—'जहत्स्वार्था' तथा 'अजहत्स्वार्था'। 'जहत्स्वार्था' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है—'जहति' (त्यजन्ति) स्वानि (पदानि) अर्थं यस्यां वृत्तौ सा जहत्स्वार्था', अर्थात् प्रयोग में विद्यमान अवयवभूत पद पृथक् पृथक् रूप से प्रकट किये गये अपने अपने अर्थों का जिस 'वृत्ति' में परित्याग कर देते हैं उस 'वृत्ति' का नाम 'जहत्स्वार्था' है। इसी बात को यहां 'जहत्स्वार्था' की परिभाषा में नागेश ने भी कहा है कि "अवयवभूत पदों के अर्थों की अपेक्षा न करते हुए पूरे शब्द-समुदाय के द्वारा एक अभिन्न अर्थ का बोध कराना 'जहत्स्वार्थता' है।" जैसे—एक विशेष प्रकार के 'सामगान' के लिये 'रथन्तर' शब्द का प्रयोग। यह प्रयोग 'रथ' शब्द के उपपद होने पर है 'तृ' धातु से, "संज्ञायां भृतृ···तपिदमः" (पा० ३.२.४६) सूत्र के अनुसार, 'खच्' प्रत्यय करके बनाया जा सकता है। परन्तु इन दोनों—'रथ' शब्द के साथ 'तृ' धातु तथा 'अ' प्रत्ययरूप—अवयवों ने, 'रथन्तर' शब्द में अपने-अपने अर्थ का परित्याग कर दिया है इसलिये 'रथन्तर' शब्द से एक दूसरा ही 'साम-विशेष' रूप अर्थ प्रकट होता है। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण यहां 'शुश्रूषा' दिया गया है। 'श्रु' धातु के साथ 'सन्' प्रत्यय के योग से स्त्रीलिंग में यह शब्द बना है। परन्तु 'शुश्रूषा' शब्द के 'सेवा' अर्थ में न तो 'श्रु' धातु का 'सुनना' अर्थ है और न 'सन्' प्रत्यय का 'इच्छा' अर्थ। दोनों ही अवयव अपने-अपने अर्थ का परित्याग करके एक दूसरे ही 'सेवा' अर्थ को प्रस्तुत करते हैं।

'अजहत्स्वार्था' शब्द की व्युत्पत्ति है—"अजहति (न त्यजन्ति) स्वानि (पदानि) अर्थं यस्यां वृत्तौ सा अजहत्स्वार्था", अर्थात् जिस वृत्ति में शब्द के अवयवभूत पद अपने अपने अर्थों का परित्याग किये बिना ही, 'आकांक्षा' आदि के कारण, एक नवीन अर्थ को प्रस्तुत करते हैं उस वृत्ति का नाम 'अजहत्स्वार्था' है। जैसे—'राजपुरुषः' इस प्रयोग में 'राजा' तथा 'पुरुष' शब्द अपने-अपने अर्थों को छोड़े बिना ही 'राज-पुरुष' इस अर्थ को प्रकट करते हैं जिस में दोनों अवयवों के अर्थ समन्वित, संसृष्ट अथवा मिले जुले हैं। नागेश ने यहाँ 'अजहत्स्वार्थता' की जो परिभाषा—("अवयवार्थ से समन्वित समुदायार्थ का बोध कराना 'अजहत्स्वार्थता' है) दी है उसका भी अभिप्राय यही है।

**समासादि····अनुभवाभावात्**—यहां 'वृत्तियों' के पाँच प्रकार मानते हुए नागेश ने यह कहा कि इन समास आदि पाँचों ही 'वृत्तियों' में अवयवविशिष्ट समुदाय में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



अर्थाभिधान की 'शक्ति' होती है—अवयवों की अपने अपने अर्थों को अलग-अलग रूप से कहने की शक्ति नहीं होती। अवयवों में अपने-अपने अर्थों को प्रकट करने की 'शक्ति' न रहने के कारण ही 'रथन्तरम्', 'सप्तपर्णः' तथा 'शुश्रूषा' इत्यादि 'वृत्ति'-विशिष्ट शब्दों में उनके अवयवों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता। 'रथन्तरम्' तथा 'शुश्रूषा' की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। 'सप्तपर्णः' एक वृक्ष-विशेष का नाम है। सुनने वाले व्यक्ति को 'सप्तपर्ण' शब्द से सीधे ही उस पुष्प-विशेष का ज्ञान हो जाता है—'सप्त' तथा 'पर्ण' ये अवयव अपने-अपने अर्थों को वहाँ प्रकट नहीं करते।

नागेश ने यहाँ 'जहत्स्वार्था' तथा 'अजहत्स्वार्था' इन दो वृत्तियों की चर्चा जिस रूप में की है उससे यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि वे यहाँ 'जहत्स्वार्था' को ही 'एकार्थीभाव' मान रहे हैं तथा 'अजहत्स्वार्था' को 'व्यपेक्षा'। क्योंकि "समासादि-पंचसु विशिष्टे एव शक्तिर् न त्ववयवे" (समास आदि उपर्युक्त पाँचों स्थितियों में विशिष्ट समुदाय में ही अर्थाभिधान की 'शक्ति' होती है भिन्न-भिन्न अवयवों में नहीं) इस रूप में 'एकार्थीभाव' की बात कह कर पुनः नागेश ने 'जहत्स्वार्था' वृत्ति के ही उदाहरणों को प्रस्तुत किया है तथा उसके तुरन्त पश्चात् 'व्यपेक्षा'पक्ष के दोषों को गिनाना आरम्भ कर दिया है। इसके अतिरिक्त यहाँ के "अत एव भाष्ये व्यपेक्षा पक्षम् उद्भाव्य"—इस पंक्ति में विद्यमान 'अत एव' इस अंश की संगति तब तक नहीं लग पाती जब तक यह न मान लिया जाये कि इसके पूर्व नागेश 'एकार्थीभाव' की चर्चा कर चुके हैं। पर स्थिति यह है कि ऊपर 'जहत्स्वार्था' तथा 'अजहत्स्वार्था' इन दो का ही उल्लेख हुआ है, 'एकार्थीभाव' की बात नहीं कही गयी। यह भी विचारणीय है कि "समासादिपंचसु विशिष्टे एव शक्तिर्नत्ववयवे" इस पंक्ति में, जिसमें 'एकार्थीभाव' का नाम लिए बिना ही नागेश ने इस पक्ष की बात कही है, और 'जहत्स्वार्था' की "अवयवार्थ-निरपेक्षत्वे सति समुदायार्थबोधिकात्वं जहत्स्वार्थात्वम्" इस परिभाषा में, दोनों में, एक ही बात कही गई है तथा यह सब 'एकार्थीभाव' की विशेषतायें ही हैं। इस प्रकार 'जहत्स्वार्था' तथा 'एकार्थीभाव' इन दोनों को पर्याय—अथवा एकार्थक—मान लेने पर यहाँ कोई असंगति नहीं उपस्थित होती, पर दोनों को भिन्न भिन्न मानने पर इस अंश की कोई संगति नहीं लगती। इस लिये टीकाकारों ने इस स्थल की व्याख्या उपर्युक्त स्थिति को मानकर ही की है। द्र०—"एवं च जहत्स्वार्थात्वम् एव एकार्थीभावः। अजहत्स्वार्थात्वं च व्यपेक्षा" (कालिकाप्रसाद शुक्ल की ज्योत्स्ना टीका पृ० २०४)।

वैयाकरणभूषणसार के प्रणेता कौण्डभट्ट ने भी इस प्रसंग में यही माना है कि 'जहत्स्वार्था' ही 'एकार्थीभाव' तथा 'अजहत्स्वार्था' ही 'व्यपेक्षा' है। द्र०—"समर्थः पदविधिः इति सूत्रे भाष्यकारैरनेकधा उक्तेष्वपि पक्षेषु जहत्स्वार्था-अजहत्स्वार्थ-पक्षयोरेव एकार्थीभाव-व्यपेक्षारूपयोः पर्यवसानं लभ्यते" (पृ० २५३-५४), अर्थात् "समर्थः पदविधिः" सूत्र के भाष्य में आचार्य पतंजलि के द्वारा अनेक मतों के प्रस्तुत किये जाने पर भी 'जहत्स्वार्था' तथा 'अजहत्स्वार्था' पक्षों का ही पर्यवसान क्रमशः 'एकार्थीभाव' तथा 'व्यपेक्षा' पक्षों के रूप में होता है।

परन्तु वास्तविकता यह है कि 'सामर्थ्य' के दो भेद हैं—'एकार्थीभाव' तथा 'व्यपेक्षा'। पुनः 'एकार्थीभाव' के दो भेद हैं—'जहत्स्वार्था' तथा 'अजहत्स्वार्था'। ऐसा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



नहीं है कि 'एकार्थीभाव' तथा 'व्यपेक्षा' को ही क्रमशः 'जहत्स्वार्था' और 'अजहत्स्वार्था' कहा गया है। इसी कारण लघुमंजूषा में नागेश ने वैयाकरणभूषण का नाम लेकर उसके प्रणेता कौण्डभट्ट के इस कथन का, कि 'जहत्स्वार्था' 'एकार्थीभाव' है तथा 'अजहत्स्वार्था' 'व्यपेक्षा' है, खण्डन किया है। द्र०—"एतेन जहत्स्वार्थतैव एकार्थीभावो भूषणोक्तम् अपास्तम्। अनेन हि एकार्थीभावम् उपक्रम्योक्तेस्तत्रैव पक्षद्वयम् इति लभ्यते" (लघुमंजूषा पृ. १४०६-१०)। "समर्थः पदविधिः" (पा० २.१.१) सूत्र के भाष्य की, कैयट तथा नागेश-कृत, टीकाओं से भी इस बात की पुष्टि होती है। 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य की व्याख्या में कैयट ने लिखा है—"यत्र पदानि उपसर्जनीभूतस्वार्थानि, निवृत्तस्वार्थानि, प्रधानार्थोपादानाद् व्यर्थानि, अर्थान्तराभिधायीनि वा स एकार्थी-भावः" (महा० प्रदीप २.१.१ पृ० ४-५)। स्पष्ट है कि 'जहत्स्वार्था' तथा 'अजहत्स्वार्था' इन दोनों की दृष्टि से ही कैयट ने यहां 'एकार्थीभाव' की अनेकविध व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। 'अजहत्स्वार्था' पक्ष की दृष्टि से "यत्र पदानि उपसर्जनीभूतस्वार्थानि" (जिसमें अवयवभूत पद अप्रधान अर्थ वाले हो जाते हैं) कहा गया। तथा 'जहत्स्वार्था' पक्ष की दृष्टि से "निवृत्तस्वार्थानि" (जिस में अवयवभूत पदों के अर्थ समाप्त हो जाते हैं) कहा गया। नागेश ने अपनी उद्द्योत टीका में कैयट की इन पंक्तियों की विस्तार से व्याख्या की है। परन्तु परमलघुमंजूषा के इस प्रसंग में ग्रन्थकार की स्थिति स्पष्ट न होकर भ्रामक प्रतीत होती है।

**'एकार्थीभाव' सामर्थ्य**—'एकार्थीभाव' सामर्थ्य समास आदि पांच वृत्तियों में माना जाता है क्योंकि इन सब में समुदाय में ही अभीष्ट अर्थ के प्रकाशन की क्षमता होती है, अवयव में नहीं। पाणिनि के "समर्थः पदविधिः" में विद्यमान 'समर्थ' पद का अभिप्राय वैयाकरणों की दृष्टि में 'एकार्थीभाव' रूप सामर्थ्य ही है। 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य का अभिप्राय है, पृथक् पृथक् पदों का अपनी विभिन्नार्थकता को छोड़ कर एक अर्थ वाला हो जाना, पूरे समुदाय के द्वारा एक ही विशिष्ट अर्थ का कहा जाना। इस दृष्टि से उपर्युक्त सूत्र में 'समर्थ' शब्द का अभिप्राय है - 'संगतार्थ' (अवयवों का सुसंगत अर्थ वाला होना) अथवा 'संसृष्टार्थ' (अवयवों के अर्थों का परस्पर संसृष्ट होना)। द्र०—"तद् यदा तावद् एकार्थीभावः सामर्थ्यं तदा एवं विग्रहः करिष्यते—'संगतार्थः समर्थः','संसृष्टार्थः समर्थः' इति" (महा० २.१.१ पृ० ३७)। इस 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य को मानने पर उन उन समासयुक्त पदों से जो जो विशिष्ट अर्थ प्रकट होते हैं, जिनका प्रकाशन अवयवों से नहीं हो पाता, वे वे अर्थ समुदाय में शक्ति मानने के कारण स्वतः प्रकट हो जायेंगे।

**'व्यपेक्षा' सामर्थ्य**— 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य के विपरीत, नैयायिक तथा मीमांसक विद्वान् 'व्यपेक्षा' नामक सामर्थ्य मानते हैं। 'व्यपेक्षा' पक्ष में यह माना जाता है कि, जिस प्रकार वाक्य में पद पृथक् पृथक् रहकर अपने-अपने अर्थों को प्रकट करते हैं और उसके बाद उन-उन अर्थों का, 'आकांक्षा' आदि के कारण, परस्पर अन्वय होता है उसी प्रकार, समास आदि 'वृत्तियों' में विद्यमान अवयवभूत पद भी पहले अपने-अपने अर्थों को प्रकट करते हैं। उसके बाद उन-उन अर्थों का, 'आकांक्षा' आदि के कारण, परस्पर अन्वय होता है। वस्तुतः ये विद्वान् शब्द को उसी रूप में नित्य नहीं मानते जिस रूप में वैयाकरण मानते हैं। इसलिये 'राजपुरुषः' जैसे शब्दों को स्वरूपतः नित्य न मान कर वे यह मानते हैं कि 'राज्ञः पुरुषः' के स्थान पर ही 'राजपुरुषः' जैसे समास-युक्त प्रयोग होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस कारण, जिस प्रकार पदों की पारस्परिक अपेक्षा से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार, 'राजपुरुषः' इस समस्त प्रयोग में भी अवयवभूत पदों की पारस्परिक अपेक्षा के आधार पर ही अर्थ की अभिव्यक्ति हो जायगी। अतः ये व्यपेक्षावादी विद्वान् समास आदि के प्रयोगों में, समुदाय की दृष्टि से विशिष्ट शक्ति की कल्पना न करके, यह मानते हैं कि अवयवों की अपनी-अपनी शक्ति से ही विशिष्ट अर्थ का बोध हो जाता है। द्र०—"व्यपेक्षावादिनस्तु परस्पराकांक्षारूपा व्यपेक्षैवात्र सामर्थ्यं न तु एकार्थीभावः" (लघुमंजूषा पृ० १४११)। उदाहरण के लिये 'राजपुरुषः' इस प्रयोग में 'राजा' तथा 'पुरुष' इन दोनों पदों के अपने-अपने अवयवार्थों के उपस्थित हो जाने पर, 'आकांक्षा' आदि के कारण 'स्व-स्वामि-भाव' रूप सम्बन्ध के द्वारा दोनों का पारस्परिक अन्वय होने से, 'राज-विशिष्ट पुरुष' इस अर्थ का बोध हो जाता है। इस 'व्यपेक्षा' पक्ष की दृष्टि से "समर्थः पद-विधिः" के 'समर्थ' शब्द का अभिप्राय माना जाता है—'सम्बद्धार्थ' होना अर्थात् समास-युक्त पद के अवयवों के अर्थों का परस्पर सम्बद्ध होना। द्र०—"यदा व्यपेक्षा सामर्थ्यं तदा एवं विग्रहः करिष्यते—'सम्प्रेक्षितार्थः समर्थः', 'सम्बद्धार्थः समर्थः' इति" (महा० २.२.१. पृ० ३८)।

**अतएव भाष्ये भाष्याशयः**—'व्यपेक्षा' पक्ष में 'धवखदिरौ' इत्यादि उपर्युक्त अनेक प्रयोगों में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन अवयवों के अर्थ से अतिरिक्त जो अर्थ प्रकट होते हैं उनका वाचक किसको माना जाय? जैसे–'धवखदिरौ' इस प्रयोग में 'धव' तथा 'खदिर' का एक साथ होना' यह 'साहित्य' रूप अर्थ तथा 'निष्कौशाम्बिः' में कौशाम्बी से बाहर जाना यहां 'निष्क्रमण' रूप अर्थ की वाचकता किसमें मानी जाय? बात यह है कि 'व्यपेक्षा'-वादियों के अनुसार 'धवश्च खदिरश्च' इस वाक्य के स्थान पर 'धव-खदिरौ' तथा 'निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः' के स्थान पर 'निष्कौशाम्बिः' यह प्रयोग बना है। परन्तु वाक्य में विद्यमान 'च' तथा 'क्रान्त' शब्द समास में तो हैं नहीं इसलिये इन अर्थों की प्रतीति नहीं हो सकेगी। इसी कारण इन अर्थों की प्रतीति कराने के लिये "चार्थे द्वन्द्वः" (पा० २.२.२९) जैसे सूत्र तथा "निर् आदयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः" (महा० २.२.१८) जैसी अनेक वार्तिकों की रचना करनी पड़ेगी, जिन में पर्याप्त गौरव (विस्तार) होगा। द्र०—

> **भेदे सति निरादीनां क्रान्ताद्यर्थेष्वसंभवः।**
> **प्राग् वृत्तेर्जातिवाचित्वं न च गौरखरादिषु॥**
>
> (वाप० ३.१४.३९ तथा इस प्रसंग की अन्य कारिकायें)

इसलिये इस प्रकार के अनेक प्रयोगों का उल्लेख यहां परमलघुमंजूषा में तथा वैयाकरणभूषणसार (पृ० २७०) में किया गया है।

परन्तु यहां यह विचारणीय है कि उपर्युक्त प्रयोगों में अवयवों की अपेक्षा जो अतिरिक्त अर्थ प्रकट होता है वह क्या 'एकार्थीभाव'-कृत है?' 'एकार्थीभाव' का अभिप्राय यही तो है कि शब्द के अवयवभूत पद अपनी विभिन्नार्थता का परित्याग करके एक विशिष्ट अर्थ के साथ समास आदि वृत्तियों के प्रयोगों में उपस्थित होते हैं। पर यदि अवयवों में वह अर्थ है ही नहीं तो उन्हें 'एकार्थीभाव' के सिद्धान्त में कहां से प्रस्तुत किया जा सकेगा। संभवतः इसीलिए भाष्यकार पतंजलि ने 'व्यपेक्षा' पक्ष के दोषों का परिगणन कराते हुए, उदाहरण के रूप में, इन उपरिनिर्दिष्ट 'निष्क्रान्त' आदि से भिन्न

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कुछ अन्य प्रयोग दिखाए हैं। वास्तविकता तो यह है कि 'निष्क्रान्त' के अवयवभूत 'निस्' का ही अर्थ 'निष्क्रान्त' माना जाता है। ऐसी ही स्थिति यहां के अन्य प्रयोगों में भी कल्पनीय है। इस प्रकार का आशय स्वयं नागेशभट्ट ने ही लघुमंजूषा तथा महाभाष्य की अपनी उद्द्योत टीका में विस्तार से प्रकट किया है। इस दृष्टि से इन ग्रन्थों के निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं :–

(क) "यत्तु 'निष्कौशाम्बिः' 'गौरखरः' इत्यादिषु क्रान्त-जाति-विशेषाद्यभिधानम् एकार्थीभाव-कृतम् इत्युक्तम्। तन्न न। भाष्यानुक्तत्वात्। 'निर्' आदीनां पूर्वपदानां क्रान्ताद्यर्थ-वृत्तितया 'उक्तार्थानाम्' इति न्यायेन तद्-अप्रयोग-सिद्धेश्च। गौर-खरादेश्च समुदायस्य जातिविशेषे रूढि-स्वीकारेण न दोषः पंकजादिवत्। एकोपस्थिति-जनकत्व-रूप-'एकार्थीभाव'-कृतत्वस्य क्रान्तादि-लोपे संभवाभावाच्च" (लम० पृ० १३८८)।

(ख) "वस्तुतस्तु 'निर्'-आदि-पूर्वपदानां क्रान्ताद्यर्थ-वृत्तितया एषाम् अर्थानां न 'एकार्थीभाव'-कृत-विशेषत्वम्। अत एव तत्-कृत-विशेषेषु भाष्ये नैतेषाम् उक्तिः"। (महा० उद्द्योत टीका-२.१.१, पृ० ३६)।

प्रथम स्थल की व्याख्या करते हुए लघुमंजूषा की कला टीका में यह स्पष्ट कहा गया है कि इन पंक्तियों में नागेश भट्ट ने भट्टोजि दीक्षित तथा कौण्डभट्ट के कथन का खण्डन किया है—"दीक्षित-भूषण-कुदाद्युक्तिं खण्डयति 'यत्तु' इति"।

समझ में नहीं आता कि परम-लघु-मंजूषा में उन बातों का उल्लेख क्यों मिलता है जिनका स्वयं नागेशभट्ट ने अपनी लघु मंजूषा तथा महाभाष्य की उद्द्योत टीका में इतने स्पष्ट शब्दों में खण्डन कर दिया है।

**[व्यपेक्षावादी नैयायिकों तथा मीमांसकों का मत]**

यत्तु व्यपेक्षावादिनो **नैयायिक-मीमांसकादयः**—न समासे[1] शक्तिः, 'राजपुरुषः' इत्यादौ राजपदादेः सम्बन्धिनि लक्षणयैव 'राजसम्बन्धवद् अभिन्नः[2] पुरुषः' इति बोधात्। अत एव राज्ञः "पदार्थैकदेशत्वान्न तत्र 'ऋद्धस्य' इत्यादि-विशेषणान्वयः, "पदार्थः पदार्थेन अन्वेति न तु पदार्थैक-देशेन" इत्युक्तेः, "सविशेषणानां वृत्तिर् न वृत्तस्य च[3] विशेषण-योगो न" (महा० २.१,१ पृ० १४) इत्युक्तेश्च[4]।

---

१. ह०—समासे न।
२. ह० — अभिन्न।
३. महा०—वा।
४. ह०—इति युक्तेश्च।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



न वा 'घनश्यामः', 'निष्कौशाम्बिः' 'गोरथ' इत्यादाव् इवादि-प्रयोगापत्तिः। लक्षणायैव उक्तार्थतया "उक्तार्थानाम् अप्रयोगः" इति न्यायेन 'इव' आदीनाम् अप्रयोगात्। नापि "विभाषा" (पा० २.१.११) इति सूत्रम् आवश्यकम्। लक्षणया 'राजसम्बन्ध्यभिन्नः'[1] इति बुबोधयिषायां समासस्य, 'राजसम्बन्धवान्' इति बुबोधयिषायां विग्रहस्य च प्रयोग-नियम-सम्भवात्।

नापि "शक्तिः पङ्कजशब्दवत्" (वैभूसा०, समासशक्ति-निर्णय, का० ४) इति 'पङ्कज'-शब्द-प्रतिद्वन्द्विता[2] शक्ति-साधिका। तत्र अवयव-शक्तिम् अजानतोऽपि ततो बोधात्। न च शक्त्यग्रहे लक्षणया तस्माद् विशिष्टार्थ-प्रत्ययः सम्भवति। अत एव राजपदादि[3]-शक्त्यग्रहे 'राजपुरुषः'[4] इत्यादिषु न बोधः।

न च "चित्रगुः' इत्यादौ लक्षणासम्भवेऽपि अषष्ठ्यर्थ-बहुव्रीहौ लक्षणाया असम्भवः, बहुव्युत्पत्ति-भञ्जनापत्तेः, इति वाच्यम्। 'प्राप्तोदकः' इत्यादौ 'उदक'पदे एव लक्षणा-स्वीकारात्। पूर्वपदस्य यौगिकत्वेन तत्र लक्षणाया धातु-प्रत्यय-तदर्थ-ज्ञान-साध्यतया विलम्बित-त्वात्। प्रत्ययानां सन्निहित-पदार्थगत-स्वार्थ-बोधकत्व-व्युत्पत्त्यनुरोधाच्च।

घटादिपदे चातिरिक्ता शक्तिः कल्प्यमाना, प्रत्येक[5] वर्णेषु बोधकत्वेऽपि, विशिष्टे कल्प्यते, विशिष्टस्यैव सङ्केति-तत्वात्। प्रकृते अत्यन्त-सन्निधानेन प्रत्ययान्वय-सौलभ्याय उत्तरपदे एव लक्षणा कल्प्यते इति विशेषः। स्वीकृतं च घटादिपदेष्वपि चरम-वर्णस्यैव वाचकत्वं **मीमांसकम्मन्यैः**—इत्याहुः।

---

१. ह०—राजसम्बन्ध्यभिन्न पुरुष।
२. वैभूसा० [पृ० २८४] पंकजप्रतिबन्दी।
३. वही—राजादिपद।
४. यहां अगले वाक्य के 'चित्रगुः इत्यादौ' पाठ की दृष्टि से 'राजपुरुषः' 'चित्रगुः' इत्यादी यह पाठ अधिक समुचित प्रतीत होता है। तुलना करो—वैभूसा० [पृ० २८५]—"अतएव राजादिपद-शक्त्यग्रहे 'राजपुरुषः' 'चित्रगुः' इत्यादौ न बोधः"।
५. ह०—प्रत्येक।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'व्यपेक्षाभाव' (सामर्थ्य) के प्रतिपादक नैयायिक तथा मीमांसक (विद्वान्) जो यह कहते हैं कि समास में शक्ति नहीं है क्योंकि 'राजपुरुषः' इत्यादि (प्रयोगों) में, 'राज' पद आदि की, 'सम्बन्धी' (अर्थ) में, 'लक्षणा'-वृत्ति मानने से 'राजसम्बन्धवान् से अभिन्न पुरुष' यह (अभीष्ट) बोध हो जायगा। इसलिये ('राजन्' शब्द का 'लक्षणा' के आधार पर 'राज-सम्बन्ध-युक्त' अर्थ मानने के कारण) 'राजन्' शब्द के 'पदार्थ ('राज-सम्बन्ध-युक्त') का एक देश (एक भाग) होने के कारण 'राजा' अर्थ में 'ऋद्धस्य' इत्यादि विशेषण का सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि "पदार्थ पदार्थ से (ही) अन्वित होता 'पदार्थ' के एकदेश के साथ नहीं" यह कहा गया है। अथवा "विशेषण सहित पदों का समास नहीं होता और समासयुक्त पद का विशेषण के साथ सम्बन्ध नहीं होता" यह भी (महा० २.१.१. पृ० १४ में) कहा गया है। और न ही 'घनश्यामः' (बादल के समान काला) 'निष्कौशाम्बिः' (कौशाम्बी से निष्क्रान्त), 'गोरथः' (जिस में बैल जुते हुए हैं ऐसा रथ) इत्यादि (प्रयोगों) में 'इव' आदि ('क्रान्त', 'युक्त' शब्दों) के प्रयोग का दोष है। क्योंकि 'लक्षणा' वृत्ति के द्वारा ही (उन उन प्रयोगों में उन उन अर्थों के) कथित या उक्त हो जाने के कारण "उक्तार्थानाम् अप्रयोगः" (कथित अर्थ के लिये शब्द का प्रयोग नहीं होता) इस न्याय के अनुसार 'इव' आदि (शब्दों) का (इन प्रयोगों में) उच्चारण नहीं होगा। और न ('व्यपेक्षा' पक्ष के मानने पर अष्टाध्यायी में) "विभाषा" सूत्र की ही आवश्यकता होगी। क्योंकि 'लक्षणा' वृत्ति के द्वारा 'राजसम्बन्धी अभिन्न पुरुष' का बोध कराने की इच्छा होने पर 'समास' का प्रयोग तथा 'राज-सम्बन्ध वाला (पुरुष)' इस प्रकार का बोध कराने की इच्छा होने पर 'विग्रह'-वाक्य का प्रयोग होगा। इस रूप में (समास तथा विग्रह के) प्रयोग की व्यवस्था सम्भव हो जायगी।

"पङ्कज' शब्द के समान (समास आदि में भी समुदाय में ही) 'शक्ति' है" इस (कथन) के अनुसार 'पङ्कज' शब्द का दृष्टान्त भी (समुदाय में) 'शक्ति' का साधक नहीं है, क्योंकि उन ("पङ्कज" आदि शब्दों) में अवयवों (पङ्क +जन्+ ड आदि) की (वाचकता) 'शक्ति' को न जानने वालों को भी उनसे (कमल आदि अर्थों की) प्रतीति होती है। और अवयवों की 'शक्ति' का ज्ञान न होने पर 'लक्षणा' (वृत्ति) के द्वारा उन ('पङ्कज' शब्द के अवयवों) से विशिष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता (इसलिये वहाँ तो समुदाय में 'शक्ति' मानना आवश्यक है। इसी कारण (अवयवों की शक्ति का ज्ञान विशिष्ट अर्थ-बोध का प्रयोजक है इसीलिए) 'राजन्' पद आदि (अवयवों) के अर्थ का ज्ञान न होने पर 'राजपुरुषः' इत्यादि (प्रयोगों) में विशिष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं होता।

'चित्रगुः' इत्यादि (प्रयोगों) में 'लक्षणा' के सम्भव होने पर भी षष्ठ्यर्थ से भिन्न 'बहुव्रीहि' समास में ('लक्षणा' मानना) असम्भव है; क्योंकि (उनमें 'लक्षणा' (मानने पर) अनेक नियमों से विरोध उपस्थित होता है— यह भी नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि 'प्राप्तोदकः (जल ने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्राप्त किया है जिसको वह ग्राम) इत्यादि, 'अपष्ठ्यर्थ बहुव्रीहि' के, उदाहरणों में 'उदक' पद में ही 'लक्षणा' मानी जाती है (पूर्वपद 'प्राप्त' में नहीं)। क्योंकि पूर्वपद ('प्राप्त') के यौगिक होने के कारण (उसमें विद्यमान) धातु 'आप्' तथा प्रत्यय ('क्त') और उन (धातु तथा प्रत्यय) के अर्थ के ज्ञान से साध्य होने के कारण 'लक्षणा' वहाँ देर से उपस्थित होगी। इसके अतिरिक्त, "प्रत्यय' (अपने) समीपस्थ पद के अर्थ से अन्वित होने वाले स्वार्थ ('सङ्ख्या' तथा 'कर्म' आदि) का बोध कराते हैं" इस नियम की अनुकूलता भी ('प्राप्तोदक' के 'उदक' पद में ही 'लक्षणा' मानने में) है ('प्राप्त' पद में 'लक्षणा' मानने में नहीं)।

और 'घट' आदि पदों में (कल्पित 'धातुओं तथा 'प्रत्ययों' से) अतिरिक्त 'शक्ति' की कल्पना विशिष्ट (समुदाय) में ही कल्पित होती है क्योंकि विशिष्ट ('घट' इस प्रकार की आनुपूर्वी वाले समुदाय) का ही (घड़ा रूप अर्थ में) संकेत किया, गया है, भले ही ('आश्रयता' सम्बन्ध से अपर्याप्त रूप में) बोधकता प्रत्येक वर्ण में हो। और प्रस्तुत ('प्राप्तोदकः' इस प्रयोग) में ('सु' प्रत्यय के) सर्वथा समीप होने के कारण प्रत्ययार्थ के अन्वय की सुविधा के लिये उत्तरपद ('उदक') में 'लक्षणा' की कल्पना की जाती है—यह एक विशेष बात है। 'घट', 'पट' आदि में भी (पूर्व पूर्व वर्णों के तात्पर्य से विशिष्ट) चरम वर्ण की वाचकता अपने को मीमांसक कहने वालों ने (भी) मानी है।

नैयायिकों तथा मीमांसकों को अभिमत व्यपेक्षावाद के स्वरूप की, पूर्वपक्ष के रूप में, यहां विस्तार से चर्चा की गयी है तथा इस पक्ष में उपस्थित होने वाले दोषों का निराकरण करते हुए इसके लाभों का भी प्रदर्शन यहां किया गया है।

**न समासे शक्तिः''' पुरुष इति बोधात्**—'व्यपेक्षावाद' के इस स्वरूप-विवेचन में प्रमुख बात यह कही गयी कि व्यपेक्षावादी समास आदि 'वृत्तियों' में, अवयवों की अर्थवाचिका 'शक्ति' से अतिरिक्त, कोई विशेष 'शक्ति' नहीं मानते। समास-युक्त पदों से जो विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है उसकी उपपत्ति, 'व्यपेक्षावाद' में, 'लक्षणा' वृत्ति का सहारा लेकर, कर ली जाती है। जैसे—'राजपुरुषः' इस समस्त प्रयोग में 'राजन्' शब्द का अर्थ, 'लक्षणा' के द्वारा, 'राजा का सम्बन्धी' मान लिया जाता है ('राजन्' शब्द के) 'पदार्थ' ('राजा का सम्बन्धी') में ('पुरुष') पद के अर्थ (पुरुष) का 'अभेद' रूप से सम्बन्ध कर दिया जाता है। इस प्रकार, बिना 'समास' में विशिष्ट 'शक्ति' माने ही, अवयवार्थों का परस्पर सम्बन्ध कर देने से 'राजा का सम्बन्धी पुरुष' इस अभीष्ट अर्थ का बोध हो जाता है।

**अतएव''' इत्युक्तेश्च**:—इस प्रकार 'राजन्' आदि अंशों का, 'लक्षणा' के आधार पर, 'राजा का सम्बन्धी' इत्यादि अर्थ मानने पर एक लाभ यह होता है कि 'राजपुरुषः' इस समास-युक्त प्रयोग में विद्यमान 'राज्ञः' के साथ 'ऋद्धस्य' जैसे किसी विशेषण का सम्बन्ध नहीं हो पाता। इसके दो कारण दिये जा सकते हैं। पहला यह कि 'राजन्' शब्द का 'पदार्थ' ('पद' का अर्थ) 'राजा का सम्बन्धी' है न कि केवल 'राजा'। इसलिये "पदार्थः

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



पदार्थेन अन्वेति न तु तद्-एकदेशेन' इस परिभाषा के अनुसार 'राजन्' शब्द के 'पदार्थ' ('राजा का सम्बन्धी') के एक भाग 'राज्ञः' (राजा का) के साथ 'ऋद्धस्य' यह विशेषण प्रयुक्त नहीं हो पाता। 'एकार्थीभाव' को सामर्थ्य मानने वाले यह समाधान नहीं दे सकते। इसका दूसरा कारण यह है कि महाभाष्य में एक वचन है "सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न" अर्थात् विशेषण सहित पदों का परस्पर समास नहीं होता तथा समासयुक्त पदों के अवयवों का विशेषण से सम्बन्ध नहीं होता। इस वचन के कारण समस्त पद 'राजपुरुषः' के अवयवभूत षष्ठ्यन्त 'राज्ञः' पद का 'ऋद्धस्य' इस विशेषण से सम्बन्ध नहीं होता।

**न वा···अप्रयोगात्**—'लक्षणा' वृत्ति का आश्रयण करने से दूसरा लाभ यह होता है कि 'घनश्यामः', 'निष्कौशाम्बिः', 'गोरथः' जैसे प्रयोगों के विग्रह-वाक्यों में जो क्रमशः 'इव', 'क्रान्त' तथा 'युक्त' शब्दों का प्रयोग किया जाता है, परन्तु समस्त पदों में इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता जिसके कारण एकार्थीभाव-वादी ने इन प्रयोगों की दृष्टि से व्यपेक्षावादी पर विभिन्न अर्थों की वाचनिकता का दोषारोपण किया है, वह सब-दोष समाप्त हो जाता है। वह इस प्रकार है कि व्यपेक्षावादी यह मानता है कि 'लक्षणा' के आधार पर 'घनश्यामः' इस समस्त शब्द के 'घन' का अर्थ 'घन इव', 'निष्क्रान्तः' के 'निस्' का अर्थ 'निष्क्रान्त' तथा 'गोरथः' के 'गो' का अर्थ 'गो-युक्त' है। इसलिये इन शब्दों के द्वारा ही इन अभीष्ट अर्थों का ज्ञान हो जाने के कारण समास में पुनः 'इव' आदि शब्दों के प्रयोग किये जाने की आवश्यकता ही नहीं रहती क्योंकि एक प्रसिद्ध नियम है—"उक्तार्थानाम् अप्रयोगः" अर्थात् उन शब्दों का प्रयोग वक्ता नहीं किया करता जिनके अर्थ, उनके वाचक शब्दों का प्रयोग किये बिना ही, स्वतः वाक्य में प्रकट हो जाते हैं।

**नाऽपि···प्रयोग-नियम-सम्भवात्**—'लक्षणा' के समाश्रयण से तीसरा लाभ यह होता है कि समास प्रकरण के प्रारम्भ में पाणिनि ने जो "विभाषा" सूत्र बनाया है जिसे 'महाविभाषा' कहा जाता है तथा जिसके द्वारा सभी समासों का विधान विकल्प करके स्वीकार किया जाता है, उस सूत्र को बनाने की आवश्यकता अब समाप्त हो जाती है। इस "विभाषा" सूत्र के द्वारा समास-युक्त शब्द तथा उसके विग्रहभूत वाक्य दोनों का अन्वाख्यान करने का प्रयास किया गया है। परन्तु 'लक्षणा' का आश्रयण करने वाले व्यपेक्षावादियों के यहाँ "विभाषा" सूत्र की आवश्यकता स्वतः समाप्त हो जाती है। क्योंकि अब दो प्रकार की स्थितियाँ सामने आती हैं। एक वह जिसमें वक्ता 'लक्षणा' के द्वारा 'राजा सम्बन्धी अभिन्न पुरुष' इस अर्थ को कहना चाहता है तथा दूसरी स्थिति वह है जिसमें, 'लक्षणा' का सहारा लिये बिना ही, 'राजसम्बन्ध का आश्रयभूत पुरुष' इस अर्थ को वक्ता कहना चाहता है। इन दोनों स्थितियों में से पहली स्थिति में वक्ता समास का प्रयोग करेगा तथा दूसरी में विग्रह-वाक्य का। समासावस्था में अवयवभूत शब्दों के साथ विभक्ति के न होने के कारण 'भेद' सम्बन्ध से अन्वय असम्भव है। अतः दोनों अवयवपदों के अर्थों का 'अभेद' सम्बन्ध से अन्वय होगा। परन्तु विग्रह वाक्य में षष्ठी विभक्ति के प्रयुक्त होने के कारण उसके द्वारा सम्बन्ध का कथन कराया जा सकता है। इसलिये वहाँ 'आश्रयता' सम्बन्ध से अन्वय होगा। इस प्रकार भिन्न भिन्न विषय होने के कारण समास-युक्त पद तथा विग्रह वाक्य की स्थिति का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



नियमन अपने आप हो जायगा --उसके लिये "विभाषा" सूत्र बनाने की आवश्कता नहीं रहेगी।

**नापि ·····न बोधः**— एकार्थीभाववादी विद्वानों का यह विचार है कि जिस प्रकार 'पङ्कज' शब्द में समुदाय में 'अभिधा' वृत्ति मानी जाती है उसके अवयवों में नहीं, उसी प्रकार समास आदि में भी समुदाय में ही 'शक्ति' माननी चाहिये। एकार्थीभाववादी विद्वानों के इस कथन का ही यहाँ, व्यपेक्षावाद की दृष्टि से, खण्डन किया गया है।

व्यपेक्षावादी का कहना यह है कि 'पंङ्कज' शब्द की तो स्थिति ही और है। जो लोग 'पङ्क+जन्+ड' इस प्रकार के अवयव-विभाग को नहीं जानते उन्हें भी 'पङ्कज' शब्द को सुनने पर 'कमल' अर्थ का बोध हो जाता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'पंकज' शब्द के अवयवों की 'अभिधा' वृत्ति का ज्ञान न होने पर भी, 'लक्षणा' के द्वारा 'कमल' अर्थ का ज्ञान हो जायगा क्योंकि 'शक्यार्थ' या 'अभिधेयार्थ' के ज्ञान के बिना 'लक्षणा' वृत्ति उपस्थित हो ही नहीं सकती। इसलिये 'पंङ्कज' शब्द के अवयवों से विशिष्ट अर्थ (कमल) का ज्ञान 'लक्षणा' द्वारा नहीं हो सकता। इस कारण वहाँ तो 'पङ्कज' शब्द के समुदाय में 'अभिधा' शक्ति मानने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय है ही नहीं।

परन्तु 'राजपुरुषः' आदि प्रयोगों में तो जब तक इनके अवयवों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक किसी को भी इनसे 'राजा का पुरुष' इस विशिष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं होता। इसलिये उन अवयवों के 'शक्यार्थ' के आधार पर इन प्रयोगों में 'लक्षणा' वृत्ति ही माननी चाहिये न कि समुदाय में 'शक्ति'। इस प्रकार व्यपेक्षावादी नैयायिक आदि विद्वान् 'राजपुरुषः' तथा 'चित्रगुः' इत्यादि प्रयोगों में, 'लक्षणा' वृत्ति के आधार पर, इनके अवयवार्थ से अभिप्रेत अर्थ का प्रकाशन मानते हैं।

**न च 'चित्रगु':·····व्युत्पत्त्यनुरोधाच्च**:—यहाँ 'व्यपेक्षावाद' के सिद्धान्त पर, पूर्वपक्ष के रूप में, यह आक्षेप किया गया है कि सामान्यतया 'राजपुरुषः', 'चित्रगुः' इत्यादि प्रयोगों में 'लक्षणा' वृत्ति के आधार पर भले ही विशिष्ट अर्थ का ज्ञान हो जाय परन्तु 'प्राप्तोदको ग्रामः' जैसे बहुव्रीहि समास के उन प्रयोगों में, जिनमें षष्ठी या सप्तमी विभक्ति का अर्थ नहीं है, 'लक्षणा' वृत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसा मानने में "समानाधिकरण-नामार्थयोर् अभेदान्वयः" तथा "प्रकृति-प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थ-स्यैव प्राधान्यम्" इत्यादि अनेक स्वीकृत न्यायों का विरोध उपस्थित होता है। यहाँ के 'अषष्ठ्यर्थ बहुव्रीहि' पद में निर्दिष्ट 'षष्ठी' पद को सप्तमी का भी उपलक्षक मानना चाहिये क्योंकि सप्तम्यर्थ बहुव्रीहि में भी वे दोष नहीं आते जिनकी चर्चा यहाँ की जा रही है। इस पूर्वपक्ष की दृष्टि से निम्न कारिका द्रष्टव्य है :—

**अषष्ठ्यर्थ-बहुव्रीहौ व्युत्पत्त्यन्तर-कल्पना।**
**कल्पत-त्यागश् चास्ति तत्कि शक्ति न कल्पये:॥**

वैभूसा० पृ० १७३

इस आक्षेप में जो बात कही गयी है उसकी विस्तार से चर्चा स्वयं नागेश ने ही आगे इसी प्रकरण में की है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इस आक्षेप के उत्तर में, व्यपेक्षावादी विद्वानों की दृष्टि से, यहाँ यह कहा गया कि 'प्राप्तोदको ग्रामः' जैसे, षष्ठी विभक्ति के अर्थ से रहित, बहुव्रीहि के प्रयोगों में जो भी दोष दिखाये गये हैं वे तभी उत्पन्न होते हैं यदि इनके पूर्वपद 'प्राप्त' इत्यादि पदों में लक्षणा मानी जाय। पर यदि 'प्राप्त' जैसे पूर्वपदों में 'लक्षणा' न मान कर उत्तरपद 'उदक' आदि में 'लक्षणा' मानी जाय तो कोई दोष नहीं दिखाई देता। उत्तरपद 'उदक' में ही 'लक्षणा' क्यों मानी जाय इसका कारण यह है कि 'प्राप्त' शब्द यौगिक है इसलिये उसमें 'लक्षणा' मानने से पहले 'प्र' उपसर्ग, 'आप्' धातु तथा 'क्त' प्रत्यय इन सब अवयवों तथा उनके अर्थों का ज्ञान होना आवश्यक है। इन सबका ज्ञान हो जाने पर ही 'प्राप्त' पद में 'लक्षणा' मानी जा सकती है। इस प्रकार 'प्राप्त' पद में 'लक्षणा' देर से उपस्थित होगी। परन्तु 'उदक' शब्द रूढि है इसलिये वहाँ प्रकृति, प्रत्यय तथा उनके अर्थ-ज्ञान के बिना ही, केवल उसके अर्थज्ञान के पश्चात् ही, 'लक्षणा' की उपस्थिति हो सकती है।

इसके अतिरिक्त 'उदक' पद में 'लक्षणा' मानने का एक और भी कारण यह है कि सर्वथा समीप और पूर्व में विद्यमान जो पद उसके अर्थ से ही अन्वित होने वाले अपने अर्थ ('सङ्ख्या', 'कर्म' आदि) का बोध 'प्रत्यय' कराया करते हैं' 'प्रत्ययाः सन्निहित-पदार्थगत-स्वार्थ-बोधका भवन्ति' यह एक सर्वसम्मत न्याय है। इस न्याय के कारण ही 'राजपुरुषम् आनय' इस प्रयोग में 'राजा' के साथ प्रत्यय 'अम्' विभक्ति के अर्थ ('कर्मत्व' आदि) का अन्वय नहीं होता क्योंकि 'राजन्' शब्द, भले ही इस 'अम्' प्रत्यय से पूर्व है परन्तु वह 'अम्' के सर्वथा समीप नहीं है। उसके सर्वथा समीप तो 'पुरुष' पद है। इसलिये 'अम्' प्रत्यय, अपने से सर्वथा समीप और पूर्व में विद्यमान, इस 'पुरुष' पद के अर्थ में अन्वित होने वाले अपने अर्थ ('कर्मत्व' तथा 'एकत्व') का बोध कराता है। यदि 'पुरुष' पद के समान 'राजन्' के अर्थ के साथ भी उसका अन्वय होने लगे तब तो यहाँ, दो के होने के कारण, द्विवचनता की प्राप्ति होने लगेगी तथा 'पुरुष' के समान, 'राजा को लाओं', यह अर्थ भी इस वाक्य से प्रकट होने लगेगा। अतः इस न्याय को मानना आवश्यक है। इस न्याय की अनुकूलता भी इसी बात में है कि 'प्राप्तोदको ग्रामः' इस प्रयोग में 'उदक' शब्द में 'लक्षणा' मानी जाय क्योंकि 'प्राप्तोदकः' में 'सु' विभक्ति है वह 'उदक' के अर्थ से ही समन्वित हो सकती है 'प्राप्त' के अर्थ से नहीं। इस प्रकार 'उदक' शब्द का, 'लक्षणा-वृत्ति' के द्वारा, अर्थ होगा "उदक' है 'कर्त्ता' जिसमें ऐसी प्राप्ति' है 'कर्म' जिसमें वह (ग्राम)" तथा 'उदक' शब्द के इस लक्ष्य अर्थ का द्योतक अथवा तात्पर्य-ग्राहक होगा 'प्राप्त' पद, अर्थात् 'प्राप्तोदकः' इस प्रयोग का 'प्राप्त' पद इस बात की सूचना देगा कि यहाँ 'उदक' शब्द का लक्ष्य अर्थ है –"उदक' है 'कर्त्ता' जिसमें ऐसी 'प्राप्ति' है 'कर्म' जिसमें"। इस प्रकार जब इन दोनों कारणों से उत्तरपद 'उदक' आदि पद में ही 'लक्षणा' मानी जा सकती है, पूर्वपद 'प्राप्त' आदि में नहीं, तो पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित दोष इन प्रयोगों में उपस्थित नहीं होते।

**घटादि-पदे··· सङ्केतित्वात्**—यहाँ यह पूछा जा सकता है कि उपर्युक्त न्याय—"प्रत्यय अपने समीप के पद के अर्थ से अन्वित स्वार्थ के बोधक होते हैं"···की अनुकूलता की दृष्टि से तो 'घटम्' इत्यादि पदों में भी प्रत्यय ('अम्' विभक्ति) से अव्यवहित पूर्ववर्ती अन्तिम वर्ण 'ट' में विद्यमान 'अ' को 'घट' अर्थ का वाचक मानना चाहिये जिसमें समन्वित होने वाले 'कर्मत्व' अर्थ का बोध 'अम्' प्रत्यय कराता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



साथ ही यह भी मानना चाहिये कि 'ट' में विद्यमान 'अ' का 'घट' अर्थ है तथा इस 'घट' शब्द के अन्य पूर्ववर्ती वर्ण 'अ' के इस 'घट' रूप तात्पर्य के द्योतकमात्र हैं। पर ऐसा क्यों नहीं माना जाता ?

इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ यह कहा गया कि 'घटम्' इत्यादि प्रयोगों में, 'घट' आदि पदों में विद्यमान धातु आदि के अर्थ से, अतिरिक्त अर्थ की जो कल्पना की जाती है वह 'घ+अ+ट्+अ इस आनुपूर्वी वाले विशिष्ट समुदाय के अर्थ के रूप में की जाती है क्योंकि कोश आदि में उस उस विशिष्ट समुदाय के अर्थ के रूप में ही वे वे अर्थ संकेतित हैं। इस प्रकार, यद्यपि 'अधिकरणता' या 'आश्रयता' सम्बन्ध से पद के प्रत्येक वर्ण में बोधकता रहती है फिर भी, उन उन वर्णों के समुदाय में उन उन अर्थों का संकेत होने के कारण उन उन समुदायों को ही उन उन अर्थों का वाचक माना जाता है।

**प्रकृते च ..... मीमांसकम्मन्यैर् इत्याहुः**—परन्तु प्रकृत या प्रस्तुत उदाहरण 'प्राप्तोदको ग्रामः' में, 'घटम्' इत्यादि प्रयोगों से, भिन्न स्थिति है। 'घट' आदि पदों के अन्तिम वर्ण स्वतंत्र रूप से अर्थ के बोधक दिखाई नहीं देते तथा घ्+अ+ट्+अ इस पूरे वर्ण-समुदाय का 'घड़ा' इस विशिष्ट अर्थ में संकेत किया गया है। इसलिये यहाँ 'अम्' प्रत्यय के सर्वथा समीप होने पर भी 'घट' के अन्तिम वर्ण 'अ' को 'घड़ा' अर्थ का वाचक नहीं माना जाता। परन्तु यहाँ 'प्राप्तोदकः' में 'सु' प्रत्यय की अत्यन्त समीपता तो 'उदक' के साथ है ही, साथ ही कोश आदि में 'प्राप्तोदक' इस पूरे समुदाय का किसी विशिष्ट अर्थ में संकेत नहीं किया गया है। इस कारण प्रत्ययार्थ के अन्वय की सुकरता के लिये उत्तरपद 'उदक' में ही 'लक्षणा' की कल्पना उचित है। 'घट' आदि पदों की अपेक्षा 'प्राप्तोदक' जैसे समासयुक्त पदों के उत्तरपद में 'लक्षणा' मानने में प्रत्ययार्थ के अन्वय में अधिक सुकरता है। यही इन 'प्राप्तोदक' आदि समस्त पदों की 'घट' आदि पदों से विशेषता है। और यदि, जैसा कि पूर्वपक्षी का कहना है, 'प्रत्यय' के अत्यन्त समीप होने के कारण 'घट' आदि पदों में भी अन्तिम वर्ण को ही 'घट' अर्थ का वाचक माना जाय तो उसमें भी कोई विशेष आपत्ति नहीं है क्योंकि मीमांसक विद्वान्, 'घट' आदि पदों के पूर्व पूर्व के वर्णों को उन उन 'घट' आदि अर्थों का तात्पर्य-ग्राहक मानते हुए पदों के अन्तिम वर्ण को ही 'घट' आदि अर्थ का वाचक मानते हैं। इसलिये उपर्युक्त न्याय—"प्रत्ययाः सन्निहित-पदार्थ-गत-स्वार्थ-बोधका भवन्ति"—के अनुसार 'प्राप्तोदकः' इत्यादि प्रयोगों में उत्तरपद में 'लक्षणा' मानने में कोई दोष नहीं आता।

इस प्रकार 'व्यपेक्षावाद' के सिद्धान्त के अनुसार पद के अवयवार्थों का ही 'आकांक्षा' आदि के द्वारा पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करके उन उन अर्थों का वाचक पद है—यह मानने में भी कोई दोष नहीं है। इस तरह पूर्वपक्ष के रूप में यहाँ 'व्यपेक्षावाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। व्यपेक्षावाद के इस प्रतिपादन में यहाँ परम-लघु-मंजूषा में जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया है वह पूरी की पूरी, दो चार शब्दों के अन्तर के साथ, वैयाकरणभूषणसार के समास-शक्ति-निर्णय के प्रकरण में प्रयुक्त शब्दावली से लगभग अभिन्न है (द्र०-वैभूसा० पृ० २८२-२८६)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



['व्यपेक्षा'-पक्ष का खण्डन]

अत्रोच्यते—समासे शक्त्यस्वीकारे विशिष्टस्य अर्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकत्वं न स्यात्[1]। अत एव "अर्थवत्०" सूत्रे (पा० १.२.४५) भाष्ये[2] "'अर्थवत्' इति किम्? अर्थवतां समुदायोऽनर्थकः। दश दाडिमानि[3], षड् अपूपाः, कुण्डम्, अजाजिनम्" इति प्रत्युदाहृतम्। एवं च राज-पुरुष-पदयोस् त्वन्मते प्रत्येकम् अर्थवत्त्वेऽपि समुदायस्य दश-दाडिमादिवद् अनर्थकत्वात् प्रातिपदिकत्वाऽनापत्तेः।

न च "कृत्तद्धित०" (पा० १.२.४६) इति सूत्रे 'समास'-ग्रहणात् तत्संज्ञेति वाच्यम्। तस्य नियमार्थतायां भाष्यकृतैव प्रतिपादितत्वात्। अन्यथा सिद्धि विना नियमाऽयोगात्। अत एव 'राज्ञः पुरुषः' 'देवदत्तः पचति' इत्यादि-वाक्यस्य 'मूलकेन[4] उपदंशम्' इत्यादेश्च न प्रातिपदिकत्वम्।

यहां (उत्तर के रूप में यह) कहा जाता है कि—'समास' में 'शक्ति' न मानने पर, विशिष्ट (समुदाय) की अर्थवत्ता न होने के कारण, (समास-युक्त पद की) 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं होगी। इसीलिये ('शक्ति' के न होने से पूरे समुदाय को अनर्थक मानते हुए) "अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" सूत्र के भाष्य में " 'अर्थवत्' शब्द (सूत्र में) किस लिये है? अर्थवान् अवयवों का समूह (समुदाय में 'शक्ति' न रहने के कारण) अनर्थक होता है। (जैसे) दस अनार, छः पूए, कुण्ड, बकरे का चर्म" यह ('अर्थवत्', इस अंश का) प्रत्युदाहरण दिया गया है। इस रूप में तुम्हारे मत में 'राजन्' तथा 'पुरुष' पदों में से प्रत्येक के अर्थवान् होने पर भी (पूरे 'राजपुरुष' इस) समुदाय की, 'दस अनार' आदि के समान अनर्थक होने के कारण, 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं प्राप्त होगी।

"कृत्-तद्धित-समासाश्च" इस सूत्र में 'समास' (पद) के ग्रहण से ('राजपुरुष' आदि की) वह ('प्रातिपदिक') संज्ञा हो जायेगी—यह नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि भाष्यकार ने उस ('समास' पद) की नियमार्थकता का प्रतिपादन किया है। अन्य प्रकार से (सूत्र में 'समास' पद के बिना ही समासयुक्त

१. इस पंक्ति के लिए तुलना करो—वैभूसा० पृ० २८७;
अत्रोच्यते समासे शक्त्यस्वीकारे तस्य प्रातिपदिकसंज्ञादिकं न स्यात्।

२. तुलना करो—महा० (१.२.४५ पृ० ५६-५८) ['अर्थवद्'-ग्रहणं किमर्थम्?] 'अर्थवद्' इति व्यपदेशाय। . . . . अर्थवति अनेकपदप्रसंगः। 'अर्थवद्' इति प्रातिपदिकसंज्ञायाम् अनेकस्यापि पदस्य प्रातिपदिकसंज्ञा प्राप्नोति—'दश दाडिमानि', 'षड् अपूपाः', 'कुण्डम्', 'अजाजिनम्', 'पललपिण्डः', अधरोरुकम् एतत् कुमार्याः', 'स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः' इति? समुदायोऽप्य अनर्थकः।

३. ह०—दाडिमाः।

४. ह० में—'मूलकेनोपदंशम् इत्यादेश्च' अनुपलब्ध।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



पदों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा की) सिद्धि के अभाव में ('समास' पद के साथ) नियम का सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसीलिये (उपर्युक्त सूत्र में 'समास' पद के नियामक होने के कारण) 'राज्ञः पुरुषः' (राजा का पुरुष), 'देवदत्तः पचति' (देवदत्त पकाता है) इत्यादि वाक्य को तथा 'मूलकेन उपदंशम्' (मूली से स्वादपूर्वक) इत्यादि (प्रयोगों) की 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं होती।

पद के अवयवभूत पदांशों के पारस्परिक अन्वय रूप 'व्यपेक्षा'-सिद्धान्त के खण्डन में एक विशेष हेतु यह यहाँ प्रस्तुत किया गया है कि यदि विशिष्ट समुदाय में अर्थाभिधान की 'शक्ति' नहीं मानी गई तो 'राजपुरुषः' आदि प्रयोगों में 'राज' तथा 'पुरुष' का समुदाय अर्थवान् नहीं होगा। अर्थवत्ता के अभाव में इस प्रकार के समुदायों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं होगी। 'प्रातिपादिक' संज्ञा का विधायक सूत्र है—"अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्"। इसका अभिप्राय है—'धातु' तथा 'प्रत्यय' से अतिरिक्त जो अर्थवान् शब्द उनकी 'प्रातिपदिक' संज्ञा होती है। यहां 'अर्थवत्' शब्द में 'अर्थ' शब्द के साथ, प्रशंसा अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय प्रयुक्त है। शब्द की प्रशंसा इस बात में है कि वह 'अभिधा' आदि 'वृत्तियों' के द्वारा किसी अर्थ का बोधक हो। इस प्रकार 'अर्थवत्' इस विशेषण का अभिप्राय यह हुआ कि जो 'वृत्ति' के द्वारा अर्थ का जनक हो ऐसा विशेष्य भूत शब्दस्वरूप। इसलिये यदि 'राजपुरुषः' आदि पूरे समुदाय को विशिष्ट अर्थ का वाचक न माना गया तो वह समुदायभूत शब्दस्वरूप अर्थवान् नहीं होगा। अर्थवत्ता के अभाव में उसकी 'प्रातिपदिक' संज्ञा भी नहीं होगी तथा, 'प्रातिपदिक' संज्ञा के आधार पर होने वाली, 'सु' आदि विभक्तियाँ इन शब्दों के साथ युक्त नहीं हो सकेंगी। इस तरह अनन्त शब्द 'अपद' अथवा असाधु हो जायेंगे।

**"अर्थवत्"०सूत्रे ···· प्रातिपदिकत्वानापत्तेः**—जिस प्रकार 'दश दाडिमानि' इत्यादि समुदाय की, जिसके अवयव तो अर्थवान् हैं पर जो स्वयं अर्थवान् नहीं है, अर्थवत्ता के अभाव में 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं होती इसी प्रकार, यदि व्यपेक्षावादियों के अनुसार, केवल 'राजा' तथा 'पुरुष' इन अवयवों को ही सार्थक माना गया, अवयव-विशिष्ट समुदाय को अर्थवान् नहीं माना गया, तो 'राजपुरुषः' इस समुदाय की भी 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं होगी। इसी अभिप्राय को बताने के लिये महाभाष्य के तथाकथित अंश को यहाँ उद्धृत किया गया।

**न च ·····न प्रातिपदिकत्वम्** :—यहां यह कहा जा सकता है कि 'व्यपेक्षावाद' के अनुसार, अर्थवत्ता न होने के कारण, राजपुरुषः' इत्यादि समासयुक्त समुदायों की, "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" सूत्र से भले ही 'प्रातिपदिक संज्ञा न हो, 'प्रातिपदिक' संज्ञा के विधायक दूसरे सूत्र "कृत्तद्धितसमासाश्च" से इन पदों की 'प्रातिपदिक संज्ञा हो जायगी। परन्तु यह बात इसलिये मान्य नहीं है कि पतंजलि ने "कृत्तद्धितसमासाश्च" सूत्र के 'समास' पद को नियमार्थक माना है। इस नियमार्थकता का अभिप्राय यह है कि यदि किसी अर्थवान् समुदाय की 'प्रातिपदिक' संज्ञा हो तो केवल समास वाले पदों की ही हो। द्र०—"अर्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थं भविष्यति समास एव अर्थवतां समुदायः प्रातिपदिकसंज्ञो भवति नान्यः" (महा १.२.४५)। इस नियामकता के कारण ही 'राज्ञः पुरुषः', 'देवदत्तः पचति' इत्यादि वाक्यों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं होती। यहां ध्यान देने की बात यह है कि उपर्युक्त 'समास' पद को नियामक तभी माना जा सकता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यदि 'राज-पुरुषः' आदि समास युक्त प्रयोगों में 'प्रातिपदिक' संज्ञा की सिद्धि (प्राप्ति) उसके पहले के सूत्र "अर्थवदधातु०" से ही हो जाय। पहले से 'प्रातिपदिक' संज्ञा की प्राप्ति के अभाव में 'समास' पद को कदापि नियामक नहीं माना जा सकता क्योंकि तब तो यह पद नियामक न होकर 'प्रातिपदिक' संज्ञा का विधायक बन जाएगा।

इस रूप में 'समास' पद के नियामक होने के कारण ही, "तृतीयाप्रभृतीनि अन्यतरस्याम्" (पा० २.२.२१) इस सूत्र के अनुसार समासाभाव पक्ष में निष्पन्न होने वाले 'मूलकेन उपदंशं भुङ्क्ते' इस प्रयोग में 'मूलकेनोपदंशम्' इस अंश की 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं होती। यदि यह नियम न उपस्थित हो तो "कृत्तद्धितसमासाश्च" इस सूत्र के 'कृत्' अंश के आधार पर उपर्युक्त प्रयोग में 'प्रातिपदिक' संज्ञा की अनिष्ट प्राप्ति होगी क्योंकि "कृद्-ग्रहणे गति-कारक-पूर्वस्यापि ग्रहणं भवति" (परिभाषेन्दुशेखर, परि० सं० २८) इस परिभाषा के अनुसार 'मूलकेनोपदंशम्' यह पूरा समुदाय कृदन्त माना जायगा।

**[लाक्षणिक अर्थवत्ता के आधार पर भी समासयुक्त पदों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा उपपन्न नहीं हो पाती]**

किंच समासे शक्त्यस्वीकारे शक्य-सम्बन्ध-रूप-लक्षणाया अप्यसम्भवेन लाक्षणिकार्थवत्त्वस्याप्यसम्भवेन सर्वथा प्रातिपदिकत्वाभाव एव निश्चितः स्याद् इति स्वाद्यनुत्पत्तौ "अपदं न प्रयुंजीत" इति भाष्यात् समस्त-प्रयोगविलयापत्तेः।

इसके अतिरिक्त, समास में शक्ति न मानने पर, 'शक्य' (अर्थ) के सम्बन्ध रूप 'लक्षणा' के भी असम्भव होने के कारण, लाक्षणिक अर्थवत्ता के भी असंभव होने से 'प्रातिपादिक' संज्ञा का आभाव ही सर्वथा निश्चित है। इसलिये ('प्रातिपदिक' संज्ञा के न होने कारण) 'सु' आदि विभक्तियों के न आने पर, "अपद का प्रयोग न करे" इस भाष्य (के कथन) से सभी (समासयुक्त) प्रयोगों का विनाश होने लगेगा।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ऊपर, "कृत्तद्धितसमासाश्च" सूत्र के 'समास' पद को नियामक बताने के लिये समासयुक्त प्रयोगों की सामुदायिक अर्थवत्ता मान कर, जिस प्रकार समस्त पदों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा सिद्ध की गयी उस की आवश्यकता नहीं है। सामुदायिक अर्थवत्ता माने बिना ही, लाक्षणिक अर्थवत्ता के आधार पर भी तो, समस्त शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा हो सकती है।

इस बात का उत्तर इन पंक्तियों में यह दिया गया है कि यदि समासयुक्त समुदाय का अपना कोई विशिष्ट अर्थ है ही नहीं तो फिर वहाँ 'लक्षणा' वृत्ति उपस्थित ही कैसे हो सकती है। 'लक्षणा' की परिभाषा स्वयं नैयायिक ही यह मानते हैं कि "शक्य अर्थात् अभिधा शक्ति से प्रकट होने वाले अर्थ का सम्बन्ध" ही 'लक्षणा' है। इसलिये यह, शक्य-सम्बन्धरूपा, 'लक्षणा' तब तक उपस्थित नहीं हो सकती जब तक उस पूरे समुदाय का कोई विशिष्ट 'शक्य' ('अभिधा' वृत्ति-जन्य शब्दार्थ) न माना जाय।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यहाँ उस विशिष्ट 'शक्य' अर्थ को नैयायिक मानते ही नहीं। इसलिये 'लक्षणा' की बात स्वतः समाप्त हो जाती है। इस तरह, 'लक्षणा' वृत्ति के उपस्थित न होने पर, लक्ष्यार्थ की उपस्थिति नहीं होगी। लक्ष्यार्थ के अभाव में समस्त शब्द की 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा तदाश्रित 'सु' आदि विभक्तियों की उत्पत्ति नहीं होगी। इस रूप में सारे समास-युक्त पद 'अपद', अर्थात् असाधु, हो जायंगे तथा 'अपद' होने के कारण, "अपदं न प्रयुंजीत" इस नियम के अनुसार, इस प्रकार के प्रयोगों का लोप हो जायगा।

**[समासयुक्त पदों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा के उपपादन का एक अन्य उपाय तथा उसका निराकरण]**

अथ 'तिप्-तस्-झि' इत्यतः 'ति' इत्यारभ्य 'ङि-ओस्-सुप्' इति पकारेण 'तिप्' प्रत्याहारो भाष्य-सिद्धः। तत्-पर्युदासेन "अतिप् प्रातिपदिकम्" इत्येव सूत्र्यताम्। ततः "समासश्च" इति सूत्रं नियमार्थम् अस्तु, किं सूत्रद्वयेन। इति 'सुप्-तिङन्त-भिन्नं प्रातिपदिकम्' इत्यर्थात् समासस्यापि सा स्याद् इति 'समासश्च' इत्यस्य नियमार्थत्वं सुलभम् इति चेत् ?

सत्यम्। प्रत्येकं वर्णेषु संज्ञा-वारणाय 'अर्थवत्' इत्यस्य आवश्यकत्वेन समासेऽव्याप्तिस् तद्-अवस्थैव। तथा च 'प्रातिपदिक'-संज्ञारूप[1]कार्यम् एव 'अर्थवत्त्वम्' अनुमापयति। समासोऽर्थवान् प्रातिपदिकत्वात्। यन् न अर्थवत् तन् न प्रातिपदिकम्। अभेदपक्षे 'भू सत्तायाम्' (पा० धातुपाठ १.१) इत्याद्यनुकरणवद् इति।

अब यदि यह कहा जाय कि (प्रथम पुरुष के) 'तिप्', 'तस्', 'झि' इस (तिप् के) 'ति' से आरम्भ कर के (सप्तमी विभक्ति के) 'ङि', 'ओस्', 'सुप्' इस ('सुप्' के) 'पकार' तक को (अपने अन्तर्गत करने वाला) 'तिप्' प्रत्याहार भाष्य में स्वीकृत है। उस ('तिप्' प्रत्याहार) के पर्युदास (निषेध) के साथ "अतिप् प्रतिपदिकम्" ('तिप्'-भिन्न प्रातिपदिक है) इतना सूत्र बनाया जाय। उसके बाद "समासश्च" (और समास अर्थात् समस्त शब्द की भी 'प्रातिपदिक' संज्ञा होती है) यह सूत्र नियमार्थक बना दिया जाय। दो ("अर्थवद्-अधातुर्-अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" तथा "कृत्तद्धित-समासाश्च" इन) सूत्रों की क्या आवश्यकता ? इस रूप में 'सुबन्त तथा 'तिङन्त' (शब्दों) से भिन्न (शब्द) 'प्रातिपदिक' हों इस अर्थ के अनुसार 'समास' की भी वह ('प्रातिपदिक' संज्ञा) प्राप्त हो जायगी तथा '(प्रातिपदिक' संज्ञा के सिद्ध हो जाने पर) "समासश्च" इस सूत्र की नियमार्थता आसानी से हो जायगी ?

१. ह०—संज्ञारूपं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यह बात सत्य है परन्तु प्रत्येक वर्ण में ('प्रातिपदिक') संज्ञा के निवारणार्थ 'अर्थवत्' इस (विशेषण) के आवश्यक होने के कारण (समास की अर्थवत्ता के अभाव में) समास में ('प्रातिपदिक' संज्ञा की) अव्याप्ति पूर्ववत् ही है। इस प्रकार (समास-युक्त शब्दों की) 'प्रातिपदिक' संज्ञारूप कार्य (समास को) अर्थवत्ता(रूप कारण) का अनुमान कराता है। समास अर्थवान् है, 'प्रातिपदिक' संज्ञा होने के कारण, जो अर्थवान् नहीं है वह 'प्रातिपदिक' नहीं है, ('अनुकार्य' तथा 'अनुकरण' के) 'अभेद'-पक्ष में 'भू सत्तायाम्' इत्यादि में 'अनुकरण' ('भू') के समान।

**अथ····· इति चेत्** :—इन पंक्तियों में पूर्वपक्षी ने समास के प्रयोगों को विशिष्ट अर्थवत्ता से युक्त माने बिना ही उनकी 'प्रातिपदिक' संज्ञा का एक और उपाय प्रस्तुत किया। वह यह कि "अर्थवद् अधातुः०" तथा "कृत्तद्धित०" इन दो बड़े बड़े सूत्रों के स्थान पर दो छोटे छोटे सूत्र बनाये जायें। पहला सूत्र हो "अतिप् प्रातिपदिकम्" जिसका अर्थ होगा "तिङन्त तथा सुबन्त शब्दों से भिन्न शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा हो"। पतंजलि ने भी प्रथम पुरुष के 'तिप्', 'तस्', झि' की 'तिप्' विभक्ति में विद्यमान 'तिप्' से लेकर सप्तमी विभक्ति के 'ङि', 'ओस्', 'सुप्', के अन्तिम 'सुप्' में विद्यमान 'प्', तक एक 'प्रत्याहार' माना है। "अर्थवत्०" इस सूत्र के भाष्य में "अप्रत्ययः इति चेत् तिब्-एकादेशे प्रतिषेधोऽन्तवत्त्वात्" इस वार्तिक में प्रयुक्त 'तिप्' की व्याख्या करते हुए कैयट ने स्पष्ट लिखा है—"तिपस् तिशब्दाद् आरभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहारः" (महा० २.१.४५, पृ० ६७-६८)। इस प्रकार इस प्रथम सूत्र "अतिप् प्रातिपदिकम्" से समास वाले प्रयोगों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा सिद्ध हो जायेगी।

दूसरा सूत्र होगा—"समासश्च"। पहले सूत्र "अतिप् प्रातिपदिकम्" से ही समास की 'प्रातिपदिक' संज्ञा सिद्ध है, इसलिए यह सूत्र नियामक होगा कि 'यदि सुप्-तिङ्-भिन्न समुदाय की 'प्रातिपदिक' संज्ञा हो तो केवल समासयुक्त प्रयोगों की ही हो'। इस प्रकार दोनों ही काम हो जायेंगे।

पूर्वपक्ष के द्वारा इस रूप में प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त उपाय के निराकरण के रूप में यह कहा गया कि केवल "अतिप् प्रातिपदिकम्" इतने सूत्र से ही काम नहीं चलेगा। अर्थवान् शब्दों में विद्यमान अनर्थक वर्णों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा न हो जाय इसलिए विशेषण के रूप में 'अर्थवत्' शब्द तो सूत्र में रखना ही होगा और उसके रहने पर समास के प्रयोगों में 'प्रातिपदिक' संज्ञा का अभाव भी पूर्ववत् ही स्थिर रहेगा। ऐसी स्थिति में ऊपर का सारा प्रयास व्यर्थ है।

इस प्रकार, 'अर्थवत्' इस विशेषण के अनिवार्य होने पर, समास वाले प्रयोगों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा सभी को अभीष्ट है इसलिये, समास-युक्त पदों की सामुदायिक अर्थवत्ता, अथवा समुदाय में अर्थाभिधान की 'शक्ति', भी 'अनुमान' प्रमाण के आधार पर सिद्ध माननी चाहिए। 'अनुमान' प्रमाण का स्वरूप यहां यह है कि अर्थवत्ता 'कारण' है तथा 'प्रातिपदिक' संज्ञा 'कार्य'। 'कारण' के होने पर ही 'कार्य' होता है। समास-युक्त प्रयोगों में 'प्रातिपदिक' संज्ञा रूप 'कार्य' दिखाई देता है, अतः अर्थवत्ता रूप 'कारण' को भी वहां विद्यमान मानना ही चाहिये। जहाँ अर्थवत्ता रूप 'कारण' नहीं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



है वहां 'प्रातिपदिक' संज्ञा रूप 'कार्य' भी नहीं होता। जैसे — अनुकरण तथा 'अनुकार्य' को अभिन्न मान कर किये जाने वाले 'भू सत्तायाम्' इत्यादि प्रयोगों में विद्यमान 'भू' इस अंश की 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं होती। यहां 'भू' धातु 'अनुकार्य' है। उस 'भू' धातु के अर्थ का निर्देश करने के लिए उसका अनुकरण 'भू सत्तायाम्' इस वाक्य में किया गया। यहाँ 'अनुकार्य' और 'अनुकरण' को अभिन्न मानते हुए 'अनुकरण' भूत 'भू' शब्द को अनर्थक माना गया क्योंकि वास्तविक अर्थवत्ता तो 'भू' धातु की है। इस प्रकार अर्थवत्ता रूप 'कारण' के अभाव में 'भू' इस अंश में 'प्रातिपदिक' संज्ञा रूप 'कार्य' भी नहीं दिखायी देता।

इस रूप में, जिस तरह धूम रूप 'कार्य' से उसके 'कारण' आग का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार, 'प्रातिपदिक' संज्ञा रूप 'कार्य' से उसके 'कारण' रूप अर्थवत्ता का भी अनुमान सुकर है। अतः यह स्पष्ट है कि समास वाले प्रयोगों के समुदाय में विशिष्ट 'शक्ति' अथवा अर्थवत्ता होती ही है।

**[व्यपेक्षावादी के एक अन्य कथन का खण्डन]**

> यत्तु "पदार्थः पदार्थेन०" इति "वृत्तस्य विशेषणयोगो न" इति वचनद्वयेन 'ऋद्धस्य' इत्यादिविशेषणान्वयो न भवति, तत्तु समासे एकार्थीभावे स्वीकृतेऽवयवानां निरर्थकत्वेन विशेषणान्वयासम्भवात् फलितार्थ-परम्। युष्माकं तु अपूर्व-वाचनिकम् इति गौरवम् इत्यग्रे वक्ष्यते।

जो यह कहा गया कि—"पदार्थ पदार्थ से अन्वित होता है पदार्थ के एक देश से नहीं" अथवा "विशेषण सहित का समास नहीं होता तथा समासयुक्त प्रयोग का विशेषण से सम्बन्ध नहीं होता" इन दोनों वचनों से ('व्यपेक्षा' पक्ष में 'राजपुरुषः' के 'राज्ञः' के साथ) 'ऋद्धस्य' इत्यादि विशेषणों का सम्बन्ध नहीं हो पाता—वह (सब) तो, समास में 'एकार्थीभाव' सामार्थ्य मानने पर, ('राजन्' इत्यादि) अवयवों के निरर्थक होने से (उनके साथ) विशेषण का सम्बन्ध असम्भव होने के कारण ('एकार्थीभाव' सामर्थ्य मानने वाले) हमारे मत में, स्वतः सिद्ध बात को कहने वाले हैं। परन्तु ('व्यपेक्षा' सामर्थ्य मानने वाले) तुम्हारे मत में इन अपूर्व (जो स्वतः सिद्ध नहीं हैं) बातों को 'वचन' (नियम-वाक्य) बनाकर कहना पड़ेगा। यह गौरव (विस्तार दोष) है इस बात को आगे कहेंगे।

ऊपर (द्र०—पृ० ४१३-१४) 'व्यपेक्षावाद' के समर्थन में यह कहा गया था कि इस मत में एक लाभ यह है कि 'राजपुरुषः' जैसे प्रयोगों में 'राजन्' शब्द का, 'लक्षणा' वृत्ति के आधार पर, 'राजा का सम्बन्धी' अर्थ होगा। इसलिए 'राजन्' शब्द के अर्थरूप इस 'पदार्थ' (राजा का सम्बन्धी) के एकदेश (एक भाग) 'राजा' के साथ 'ऋद्धस्य' जैसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



विशेषण नहीं लग सकेंगे क्योंकि "पदार्थः पदार्थेन अन्वेति न तु तद्-एक-देशेन" यह सर्व-सम्मत परिभाषा है। परन्तु 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य में यह लाभ नहीं दिखाई देता।

इस का उत्तर देते हुए यहाँ यह कहा गया है कि 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य में तो 'राजन्' जैसे अवयवभूत पदों का कोई अर्थ ही नहीं है। वे तो 'राजपुरुषः' इस विशिष्ट समुदाय के अर्थ में एकीभूत हो गये हैं। इसलिये अनर्थक होने के कारण, बिना किसी नियम का आश्रय लिये, स्वतः ही 'ऋद्धस्य' जैसे विशेषण 'राजन्' जैसे अवयवभूत पदों के साथ नहीं लगाये जा सकते। इस प्रकार 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य में जो बात स्वतः सिद्ध है उसी का अनुवाद मात्र उपर्युक्त नियम-वाक्यों में किया गया। परन्तु 'व्यपेक्षावाद' में उन नियमों का आश्रयण करना ही पड़ता है अर्थात् उसकी की दृष्टि से ये नियम-वाक्य बनाने पड़ते हैं। इतना ही नहीं इस तरह के अन्य अनेक वाक्यों की रचना करनी पड़ती है जिनमें विशेष गौरव तथा विस्तार का दोष होता है जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

**["प्रत्यय अपने समीपवर्ती पद के अर्थ से सम्बद्ध स्वार्थ के बोधक होते हैं" इस न्याय को अनुकूलता 'व्यपेक्षावाद' में ही है नैयायिकों के इस कथन का निराकरण]**

यत्तु "प्रत्ययानां सन्निहित-पदार्थ-गत-स्वार्थ-बोधकत्व-व्युत्पत्तिः" इति तन् न। 'उपकुम्भम्', 'अर्धपिप्पली' इत्यादौ पूर्वपदार्थे विभक्त्यर्थान्वयेन व्यभिचारात्। मम तु "प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वित-स्वार्थ-बोधकत्व-व्युत्पत्तेः" विशिष्टोत्तरम् एव प्रत्ययोत्पत्तेः, विशिष्टस्यैव प्रकृतित्वात्, विशिष्टस्यैव अर्थवत्त्वाच्च न दोषः।

जो यह कहा गया कि - "प्रत्यय (अपने) अत्यन्त समीप (अव्यवहित पूर्व में रहने वाले) पद के अर्थ से सम्बद्ध स्वार्थ ('सङ्ख्या', 'कर्म' आदि) के बोधक हैं" यह नियम है - वह (ठीक) नहीं है क्योंकि 'उपकुम्भम्' (घड़े के समीप), 'अर्धपिप्पली' (पीपली का आधा), इत्यादि (प्रयोगों) में पूर्वपदों के अर्थ ('समीप' तथा 'अर्ध') में विभक्त्यर्थ का अन्वय होने से (उपर्युक्त व्युत्पत्ति में) व्यभिचार (दोष) है। मेरे ('एकार्थीभाव'-वादी वैयाकरण के) मत में तो, "प्रत्यय (अपनी) 'प्रकृति' के अर्थ में अन्वित होने वाले स्वार्थ के बोधक होते हैं" इस नियम (को मानने) के कारण, विशिष्ट (समुदाय) के बाद ही 'प्रत्यय' की उत्पत्ति होती है। इसलिये विशिष्ट (समुदाय) ही 'प्रकृति' है तथा विशिष्ट ही अर्थवान् है। इस कारण (कोई) दोष नहीं है।

ऊपर 'व्यपेक्षा' पक्ष के प्रतिपादन में, 'प्राप्तोदकः' जैसे प्रयोगों के उत्तरपद में 'लक्षणा' का समर्थन करते हुए, यह कहा गया है कि एक न्याय है—"प्रत्ययाः सन्निहित-पदार्थ-गत-स्वार्थ-बोधकाः भवन्ति" अर्थात् प्रत्यय अपने से सर्वथा समीप (अव्यवहित रूप से) पूर्व में विद्यमान पद के अर्थ से अन्वित होने वाले स्वार्थ ('सङ्ख्या', 'कर्म' आदि) के बोधक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



होते हैं। इस न्याय की अनुकूलता इसी बात में है कि 'प्राप्तोदकः' जैसे प्रयोगों के उत्तरपद में 'लक्षणा' मानी जाय (द्र०—पृष्ठ ४१५-१६)।

व्यपेक्षावादियों के इस कथन के उत्तर में यहां उपर्युक्त न्याय का ही खण्डन किया जा रहा है। वस्तुतः न्याय का वह रूप नहीं है जो व्यपेक्षावादियों ने प्रस्तुत किया है क्योंकि यदि नियम का वही रूप माना गया तो उसमें 'व्यभिचार' दोष आता है। 'उपकुम्भम्', 'अर्धपिप्पली' इत्यादि समासयुक्त प्रयोगों में विग्रह वाक्य है—'कुम्भस्य समीपम्' तथा 'पिप्पल्याः अर्धम्'। इसलिये इन समस्त प्रयोगों का अर्थ क्रमशः यह होगा कि 'कुम्भ के समीप की वस्तु', तथा 'पिप्पली का (सम्बन्धी) आधा'। स्पष्ट है कि यहां षष्ठी विभक्ति के अर्थ 'सम्बन्ध' (का) का अन्वय, समस्त प्रयोग 'उपकुम्भम्' तथा 'अर्धपिप्पली' के, पूर्वपद में विद्यमान 'उप' तथा 'अर्ध' के अर्थ में होता है जो अव्यवहित पूर्व में न होकर क्रमशः 'कुम्भ' तथा 'पिप्पली' से व्यवहित हैं। उपरि प्रदर्शित न्याय में विद्यमान 'सन्निहित' पद का अभिप्राय है 'अव्यवहितपूर्वता'। इसलिये इन प्रयोगों में व्यवधानयुक्त पद के अर्थ में विभक्त्यर्थ का अन्वय होने के कारण नियम-भंग या दूसरे शब्दों में व्यभिचार दोष है।

इसलिये वैयाकरण इस न्याय का वास्तविक रूप यह मानते हैं कि 'प्रत्यय अपनी प्रकृति के अर्थ से अन्वित होने वाले स्वार्थ ('सङ्ख्या', 'कर्म' आदि) के बोधक होते हैं' ("प्रत्ययाः प्रकृत्यर्थान्वित-स्वार्थ-बोधकाः")। 'प्रकृति' वह अंश है जिसमें 'प्रत्यय' का विधान किया जाता है तथा 'प्रत्यय' शब्द से विभक्तियाँ ('सु' इत्यादि) तथा 'कृत्', 'तद्धित' इत्यादि प्रत्यय अभिप्रेत हैं। न्याय के इस स्वरूप में व्यभिचार दोष नहीं आता क्योंकि यहाँ 'प्रत्यय' अर्थात् द्वितीया विभक्ति अवयवविशिष्ट ('उप' तथा 'कुम्भ' से विशिष्ट एवं 'अर्ध' और 'पिप्पली' से विशिष्ट) पूरे समुदाय ('उपकुम्भ' तथा अर्ध-पिप्पली') से आती है। अतः इन प्रयोगों में द्वितीया विभक्ति रूप प्रत्यय की 'प्रकृति' हैं वे वे पूरे समुदाय। इस कारण न्याय के इस स्वरूप के अनुसार विभक्तियाँ उन उन, समासयुक्त, पूरे समुदाय के अर्थ में अन्वित होती हैं। इस रूप में 'अम्' विभक्ति, 'उपकुम्भ' तथा 'अर्धपिप्पली' के अर्थ में अन्वित होने वाले, स्वार्थ को ही कहेंगी।

न्याय के इस दोषरहित रूप को व्यपेक्षावादी नहीं मान सकता क्योंकि उसके मत में, अवयव-विशिष्ट पूरे समुदाय से प्रत्यय का विधान न होने के कारण, पूरा समुदाय प्रत्यय की 'प्रकृति' नहीं बन पाता। यदि वह कथंचित् 'प्रकृति' बन भी जाय तो भी, उसका कोई विशिष्ट अर्थ नहीं होगा। इसलिये उसमें विभक्त्यर्थ के अन्वय की बात ही नहीं उठती। तुलना करो—"किंच एवं 'चित्रगुम् आनय' इत्यादौ कर्मत्वाद्यनन्वयापत्तिः। प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थ-बोधकत्व-व्युत्पत्तेः। विशिष्टोत्तरम् एव प्रत्ययोत्पत्तेः। विशिष्टस्यैव प्रकृतित्वात्"।"""यत्तु 'सन्निहित-पदार्थ-गत-स्वार्थ-बोध-कत्व-व्युत्पत्तिर् एव कल्प्यते इति तन्न। 'उप-कुम्भम्', 'अर्ध-पिप्पली' इत्यादौ पूर्व-पदार्थे विभक्त्यर्थान्वयेन व्यभिचारात्" (वैभूसा० पृ० २६७)।

**['व्यपेक्षावाद' के सिद्धान्त में एक और दोष]**

किंच 'राजपुरुषः' आदौ 'राज'-पदादेः सम्बन्धिनि सम्बन्धे वा लक्षणा। नाद्यः। 'राज्ञःपुरुषः' इति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



विवरण-विरोधात्। वृत्ति-समानार्थ-वाक्यस्यैव विग्रह-त्वात्। अन्यथा तस्माच् छक्ति-निर्णयो न स्यात्। नान्त्यः। 'राज-सम्बन्ध-रूप-पुरुषः' इत्यन्वय-प्रसङ्गात्।

ननु तर्हि 'वैयाकरणः' इत्यस्य 'व्याकरणम् अधीते' इति, 'पाचकः' इत्यस्य 'पचति' इति च[1] कथं विग्रहः ? वृत्ति-समानार्थत्वाभावाद् इति। अत आह—

**आख्यातं तद्धित-कृतोर्यत् किञ्चद् उपदर्शकम्।**
**गुण-प्रधान-भावादौ तत्र दृष्टो विपर्ययः॥**

(वैभूसा० समासशक्तिनिर्णय, कारिका सं० ७)

'तद्धित-कृतोर् यत् किञ्चित्'अर्थ-बोधकं विवरणम्-'आख्यातम्' तिङन्तम् इति यावत्। तत्र विवरण-विग्रियमाणयोर् विशेष्य-विशेषण-भाव-विपर्ययो दृष्ट इति। कृदन्त-तद्धितान्तयोर् आश्रयप्राधान्यम्, आख्याते व्यापारस्य इति बोध्यम्।

इसके अतिरिक्त 'राज-पुरुषः' आदि (प्रयोगों) में 'राजन्' आदि की ('व्यपेक्षावाद' के सिद्धान्त के अनुसार) 'सम्बन्धी' (अर्थ) में 'लक्षणा' मानी जाय या 'सम्बन्ध' (अर्थ) में। प्रथम विकल्प ('सम्बन्धी' अर्थ में 'लक्षणा') इसलिये उचित नहीं है कि उसका 'विवरण' (विग्रह वाक्य) से विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि वृत्ति के समान अर्थ वाला वाक्य ही विग्रह (माना जाता) है। अन्यथा (वृत्ति तथा विग्रह-वाक्य में समानार्थकता के न होने पर) उस (विग्रह वाक्य) से वृत्ति-विशिष्ट प्रयोग की 'शक्ति' का निर्णय नहीं हो सकता। अन्तिम विकल्प ('सम्बन्ध' अर्थ में लक्षणा) इसलिये मान्य नहीं है कि (तब 'राजपुरुषः' इस प्रयोग में) 'राज-सम्बन्धरूप पुरुष' इस प्रकार का अन्वय होने लगेगा।

(यदि समान अर्थ वाला वाक्य ही विग्रह-वाक्य हो सकता है) तो फिर 'वैयाकरणः' इस (तद्धित' वृत्ति वाले प्रयोग) का 'व्याकरणम् अधीते' (व्याकरण पढ़ता है) यह (वाक्य) तथा 'पाचकः' इस ('कृत्' वृत्ति वाले प्रयोग) का 'पचति'

१. प्रकाशित संस्करणों में 'च' पाठ नहीं है।

२. तुलना करो—वाप० २, ३०८;
आख्यातं तद्धितार्थस्य यत् किञ्चिद् उपदर्शकम्।
गुण-प्रधान-भावस्य तत्र दृष्टो विपर्ययः॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



(पकाता है) यह (वाक्य) किस प्रकार विग्रह बन सकता है ? इन दोनों विग्रह वाक्यों में ('वृत्ति' के प्रयोगों से) समानार्थकता नहीं है।

इसलिये (इस आशंका के उत्तर में) कहते हैं—

"तद्धितान्त तथा कृदन्त प्रयोगों का (विग्रह वाक्य के रूप में प्रयुक्त) 'आख्यात' (तिङन्त पद) थोड़ा बहुत (ही) अर्थ-बोधक होता है (सर्वांशतः नहीं) क्योंकि उन दोनों ('तद्धित' तथा 'कृत्' वृत्ति के प्रयोगों और 'तिङन्त' पदों) में गौणता और प्रधानता की दृष्टि से विपरीत स्थिति पाई गयी है।"

(अभिप्राय यह है कि) 'तद्धितान्त' तथा 'कृदन्त' प्रयोगों के अर्थ के कुछ अंश का ही, (इन प्रयोगों के) विवरणभूत (अथवा विग्रह-वाक्य के रूप में प्रयुक्त), 'आख्यात' अर्थात् 'तिङन्त' पद बोध कराते हैं, (क्योंकि) उन विग्रह वाक्य तथा विगृह्यमाण (वृत्ति-विशिष्ट प्रयोग) में विशेष्य (प्रधान) तथा विशेषण (गौण) की स्थिति का वैपरीत्य देखा गया है। 'कृदन्त' तथा 'तद्धितान्त' प्रयोगों में आश्रय ('कर्ता') की प्रधानता रहती है (तथा 'व्यापार' की गौणता रहती है) और 'तिङन्त' प्रयोगों में 'व्यापार' की प्रधानता रहती है (और आश्रय 'कर्ता' की गौणता रहती है) यह जानना चाहिये।

**किञ्च अन्वयप्रसङ्गात्** :—यहाँ 'व्यपेक्षावाद' के सिद्धान्त पर एक आक्षेप यह किया गया कि 'राजपुरुषः' इत्यादि प्रयोगों में 'राजन्' इत्यादि अवयवों की किस अर्थ में 'लक्षणा' मानी जाय अर्थात् 'राजन्' शब्द का लक्ष्य अर्थ क्या माना जाय— 'राजसम्बन्धी' या 'राजसम्बन्ध'। यदि 'राजन्' का लक्ष्य अर्थ 'राजसम्बन्धी' माना गया तथा उसका 'पुरुष' शब्द के अर्थ के साथ अभेदान्वय किया गया तो 'राजपुरुषः' इस समस्त प्रयोग का अर्थ होगा 'राजसम्बन्धी से अभिन्न पुरुष'। परन्तु इसके विग्रह वाक्य (विवरण) 'राज्ञःपुरुषः' में षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त है जिसका अर्थ होता है 'सम्बन्ध'। इसलिये उस 'सम्बन्ध' का 'आश्रयता' रूप से 'पुरुष' अर्थ में अन्वय किया जायगा। इस तरह 'राज्ञः पुरुषः' का अर्थ हुआ 'राजा के सम्बन्ध का आश्रयभूत पुरुष'। इस रूप में दोनों 'वृत्ति' तथा उसके विग्रह वाक्य के अर्थों में पर्याप्त अन्तर आ जायगा जो सर्वथा अवांछनीय है। विग्रह वाक्य वह होता है जो 'वृत्ति'-विशिष्ट प्रयोग के अर्थ को ही दूसरे शब्दों द्वारा प्रकट करता है। इसलिये दोनों के अर्थों में अन्तर नहीं होना चाहिये। इस अभिन्नार्थकता के कारण ही विग्रह वाक्य को विवरण वाक्य भी कहा जाता है तथा इन विग्रह वाक्यों या विवरण वाक्यों को सम्बद्ध 'वृत्ति'-विशिष्ट प्रयोगों की 'शक्ति' अथवा अर्थ का निर्णायक माना गया है। यदि इन दोनों में अर्थ की दृष्टि से अन्तर आ गया तो फिर विवरण वाक्य को 'वृत्ति' की 'शक्ति' का निर्णायक कैसे माना जा सकता है ? इस प्रकार पहला विकल्प दूषित हो जाता है।

दूसरा विकल्प, अर्थात् 'राजन्' इस अवयव की 'राज-सम्बन्ध' अर्थ में 'लक्षणा' है अर्थात् 'राजन्' शब्द का लक्ष्य अर्थ 'राज-सम्बन्ध' है, मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि इस स्थिति में 'राजसम्बन्ध' रूप अर्थ, 'राजन्' इस 'प्रातिपदिक' पद का अर्थ होने के कारण, 'प्रातिपदिकार्थ' बन जायगा। उधर 'पुरुष' शब्द का अर्थ 'पुरुष' भी 'प्रातिपदिकार्थ' है। इन दोनों 'प्रातिपदिकार्थों' का परस्पर अभेदान्वय ही किया जा सकता है—'भेद' सम्बन्ध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



से अन्वय नहीं किया जा सकता। अभिप्राय यह है कि 'राज-सम्बन्ध का आश्रय पुरुष' इस रूप में 'आश्रयता' रूप भेद-सम्बन्ध से इन दोनों 'प्रातिपदिकार्थों' का परस्पर अन्वय नहीं हो सकता। कारण यह है कि 'दो प्रातिपदिकार्थों (नामार्थों) का, विरोधी विभक्तियों के अभाव में, अभेदान्वय होता है' यह एक स्वीकृत न्याय है। द्र०—"द्वयोः प्रातिपदिकार्थयोर् अभेदान्वयो व्युत्पन्नः" अथवा "नामार्थयोर् भेदेन साक्षाद् अन्वय-बोधोऽव्युत्पन्नः"। इस न्याय की चर्चा अनेक बार ऊपर हो चुकी है (द्र०— पृष्ठ १६६-७०, १६१-६३, १६७, ४१५)।

इस प्रकार 'राज-पुरुषः' का अर्थ होगा 'राज-सम्बन्ध-रूप पुरुष', जब कि 'राज-पुरुषः' प्रयोग से प्रतीत होने वाला अर्थ है 'राज-सम्बन्ध का आश्रय-भूत पुरुष'। इसलिये ये दोनों ही विकल्प दूषित है। इस कारण 'व्यपेक्षावाद' में 'लक्षणा' का सहारा लेने से भी काम नहीं चल सकता।

'एकार्थीभाव' सामर्थ्य के सिद्धान्त में यह दोष नहीं है क्योंकि इस सिद्धान्त में 'स्वत्व' सम्बन्ध से 'राजा का सम्बन्धी पुरुष' इस अर्थ में 'राजपुरुषः' इस समासयुक्त प्रयोग की 'शक्ति' मानी जाती है। इसलिये 'स्व-स्वामि-भाव' रूप 'भेद' सम्बन्ध के आधार पर 'राजा' में रहने वाली जो 'स्वामिता' है उससे निरूपित 'स्वता' से युक्त पुरुष अर्थात् 'राजा रूप स्वामी का पुरुष स्वम् (सम्पत्ति) है'— इस अर्थ का बोध होता है। इसी प्रकार का, 'स्व-स्वामि-भाव' रूप भेद सम्बन्ध से, बोध 'राज्ञः पुरुषः' इस वाक्य से भी होता है। समुदाय को एक शब्द मानने के कारण यहाँ दो 'नाम' या 'प्रातिपदिक' नहीं हैं। इसलिये दो 'प्रातिपदिकार्थ' भी नहीं हैं। इस कारण 'अभेद' सम्बन्ध की बात यहाँ उठती ही नहीं। इस प्रकार वाक्यार्थ तथा वृत्त्यर्थ में भेद नहीं आता।

**ननु तर्हि ..... बोध्यम्** :—यहाँ यह कहा गया है कि यदि सर्वथा समान रूप से अर्थ का बोध कराने वाले वाक्य को ही विग्रह वाक्य (विवरण वाक्य) माना जाता है तो 'वैयाकरणः' तथा 'पाचकः' इस प्रकार के 'तद्धितान्त' तथा 'कृदन्त' प्रयोगों का क्रमशः 'व्याकरणम् अधीते' तथा 'पचति' इन वाक्यों को विग्रह वाक्य नहीं माना जा सकता क्योंकि इन दोनों विग्रह वाक्यों तथा प्रयोगों के अर्थों में विषमता है। 'तद्धितान्त' तथा 'कृदन्त' प्रयोगों के अर्थों में 'व्यापार' के आश्रय 'कर्त्ता' की प्रधानता है जब कि इनके विग्रह वाक्यों में, क्रमशः 'अधीते' तथा 'पचति' इन क्रियापदों के प्रयोग किये जाने के कारण, स्वयं 'व्यापार' की ही प्रधानता है।

इस प्रश्न के उत्तर के रूप में यहाँ भट्टोजि दीक्षित की एक कारिका उद्धृत की गयी है। इस कारिका में यह कहा गया है कि 'तिङन्त' अर्थात् क्रियापद 'तद्धितान्त' एवं 'कृदन्त' प्रयोगों के अर्थों को कुछ ही अंशों में प्रकट करते हैं, सर्वथा उसी रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि 'तद्धितान्त' तथा 'कृदन्त' प्रयोगों में 'व्यापार' का आश्रय 'कर्त्ता' प्रधान होता है, 'व्यापार' गौण होता है। परन्तु 'तिङन्त' पदों में 'व्यापार' प्रधान होता है तथा 'व्यापार' का आश्रय 'कर्त्ता' गौण। इसलिये 'तिङन्त' पदों को 'तद्धितान्त' तथा 'कृदन्त' प्रयोगों के अर्थों का थोड़ा बहुत ही बोधक माना गया है—पूर्ण रूप से नहीं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



['एकार्थीभाव'-सामर्थ्य पर किये जाने वाले कुछ अन्य आक्षेपों का समाधान]

ननु 'रथन्तर' शब्दाद् रथिकस्यापि प्रत्ययः किन्न स्याद् इति चेत् ? मैवम् । "रूढ़िर् योगार्थम् अपहरति" इति न्यायात् ।

ननु विशिष्ट-शक्ति-स्वीकारे 'पङ्कज'-पदाद् अवयवार्थ-प्रतीतिर् मा भूत्, समुदाय-शक्त्यैव 'कमल'-पदवत् पुष्प-विशेष-प्रत्ययः स्याद् इति चेत् ? न । "जहत्स्वार्था तु तत्रैव यत्र रूढ़िर् विरोधिनी" इति **अभियुक्तो**क्तेः । अवयवार्थ-संवलित-समुदायार्थे पद्मे शक्ति-स्वीकारात् ।

अत एव चतुर्विधः शब्दः । यथा-'रूढ़ः', 'योगरूढः', 'यौगिकः', 'यौगिकरूढश्च' । "अवयवार्थम् अनपेक्ष्य समुदाय-शक्ति-मात्रेण अर्थ-बोधकत्वं रूढत्वम्"—'रथन्तरम्' इत्यादौ । "अवयवार्थ-संवलित-समुदाय-शक्त्या अर्थ-बोधकत्वं योगरूढत्वम्"—'पङ्कजम्' इत्यत्र । "अवयव-शक्त्यैव अर्थ-बोधकत्वं यौगिकत्वम्"—'पाचिका'[1] 'पाठिका' इत्यादौ । "अवयव-शक्त्या समुदाय-शक्त्या च अर्थ-बोधकत्वं यौगिकरूढ़त्वम्"—मण्डपान-कर्तृ-परोऽपि गृह-विशेष-परोऽपि 'मण्डप' शब्द उदाहरणम्, इति विवेकः ।

'रथन्तर' शब्द से 'रथिक' का भी ज्ञान क्यों नहीं होता ?—यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि "रूढ़ि-(प्रसिद्धि) 'यौगिक' अर्थ को दूर कर देती है" यह न्याय है ।

विशिष्ट (समुदाय) में (वाचकता) शक्ति मानने पर 'पङ्कज' शब्द से अवयवों के अर्थ की प्रतीति नहीं होनी चाहिये, (केवल) समुदाय की शक्ति से ही 'कमल' पद (से अवयवार्थ-ज्ञान के बिना ही विशिष्ट पुष्प-ज्ञान) के समान, पुष्प-विशेष का ज्ञान होना चाहिये—यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि "जहत्स्वार्था वृत्ति' वहीं होती है जहां 'रूढ़ि' विरोधिनी होती है"—विद्वानों के इस कथन के अनुसार (यहाँ 'जहत्स्वार्था' वृत्ति के न होने के कारण) अवयवार्थ से युक्त समुदायार्थ (पङ्क से उत्पन्न) 'पद्म' (के कथन) में ('पंकज' शब्द की) 'शक्ति' मानी गयी है ।

---

१. ह०—पाचक-पाठकेत्यादौ ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इसीलिये शब्द चार प्रकार का होता है। जैसे --'रूढ़', 'योगरूढ़', 'यौगिक' तथा 'यौगिकरूढ़'। "पद के अवयवों के अर्थ की अपेक्षा किये बिना केवल समुदाय की (वाचकता) 'शक्ति' से ही अर्थ का ज्ञान कराना 'रूढ़िता' है।" जैसे—'रथन्तरम्' इत्यादि प्रयोगों में। "अवयव के अर्थ से संयुक्त हुई समुदाय की 'शक्ति' से अर्थ का ज्ञान कराना 'योगरूढ़िता' है।" (जैसे) 'पङ्कज' इत्यादि (प्रयोगों) में। "अवयवशक्ति से ही अर्थ का बोध कराना 'यौगिकता' है।" (जैसे) 'पाचिका', 'पाठिका' इत्यादि (प्रयोगों) में। "अवयवशक्ति तथा समुदाय-शक्ति दोनों से (भिन्न भिन्न प्रयोगों में) अर्थ का ज्ञान कराना 'यौगिकरूढ़िता' है"। 'माँड पीने वाला' (इस) अर्थ का तथा घर-(के एक भाग) विशेष अर्थ का वाचक 'मण्डप' शब्द ('यौगिकरूढ़ि' का) उदाहरण है। यह (इन सबका) विवेचन है।

**ननु रथन्तर.....न्यायात्** :—यहाँ यह प्रश्न किया गया है कि जब 'वृत्ति' के प्रयोग तथा उनके विग्रह वाक्यों को समान अर्थ वाला माना जाता है तो, 'रथन्तर' शब्द के विग्रह वाक्य 'रथेन तरति' (रथ + तृ + खच्) से 'रथिक' अर्थ का बोध होता है इसलिये, 'रथन्तर' शब्द से भी 'सामविशेष' के साथ साथ 'रथिक' अर्थ का भी बोध होना चाहिये।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि एक न्याय है "रूढ़िर् योगार्थम् अपहरति" अर्थात् 'रूढ़ि' (परम्परा अथवा प्रसिद्धि) शब्द के 'यौगिक' अर्थ को दूर कर देती है। इस न्याय के अनुसार, 'रथन्तर' शब्द की केवल 'साम'-विशेष के अर्थ में प्रसिद्धि है। इसलिये, प्रसिद्धि के कारण 'रथन्तर' शब्द का 'यौगिक', अर्थ बाधित हो जायेगा। इस तरह प्रसिद्धि के द्वारा 'यौगिक' अर्थ, अर्थात् धातु तथा प्रत्यय रूप अवयवों से बोध्य अर्थ, के दूर कर दिये जाने के कारण ही इस शब्द को ऊपर (द्र० पृ० ४०४-६), 'एकार्थी-भाव' के एक भेद, ('जहत्स्वार्था') के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया।

**ननु विशिष्ट.....पद्मे शक्ति-स्वीकारात्** :—यहाँ यह प्रश्न किया गया है कि जब, 'व्यपेक्षा' सामर्थ्य के सिद्धान्त को न मान कर, 'एकार्थीभाव'-सामर्थ्य के सिद्धान्त को ही अपनाया जाता है, जिसके अनुसार विशिष्ट समुदाय ही विशिष्ट अर्थ का वाचक है, तो 'पङ्कज' शब्द से ('पङ्क + जन् + ड') 'पङ्क में उत्पन्न होने वाला' इस अवयवार्थ की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। 'पङ्कज' इस पूरे समुदाय की शक्ति से सीधे पुष्प विशेष अर्थ की प्रतीति ठीक उसी प्रकार हो जानी चाहिये जिस प्रकार 'कमल' कहने से, उसके अवयवार्थ का ज्ञान हुए बिना ही, अभिप्रेत पुष्प-विशेष अर्थ का ज्ञान हो जाता है। पर ऐसा नहीं होता। 'पङ्कज' शब्द के प्रयोग करने पर अवयवार्थ का ज्ञान होता ही है। इसलिये अवयव में ही अर्थाभिधान की 'शक्ति' माननी चाहिये विशिष्ट समुदाय में नहीं। वस्तुतः यह प्रश्न 'पङ्कज' शब्द को 'जहत्स्वार्था' वृत्ति का उदाहरण मान कर किया गया है।

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया कि 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य मानने पर भी यहाँ, शब्दशक्ति के स्वभाव के विलक्षण होने के कारण, अवयवार्थ सहित जो समुदायार्थ, अर्थात् पद्म या कमल, उस को 'पङ्कज' शब्द कहा करता है। अपने अवयवार्थ का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



परित्याग न करने के कारण ही इस तरह के प्रयोगों को 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य के एक भेद 'अजहत्स्वार्था' वृत्ति का उदाहरण माना जाता है। 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य के दूसरे भेद 'जहत्स्वार्था' का उदाहरण 'पङ्कज' शब्द को न मान कर ऐसे शब्दों को माना गया है जहाँ 'रूढ़ि' (प्रसिद्धि) अवयवों के अर्थों का विरोध करती है और उसे दूर हटा देती है। जैसे—'रथन्तर' शब्द, जिसकी चर्चा यहाँ की जा चुकी है।

**अत एव''''''इति विवेकः**— 'पङ्कज' जैसे शब्द, अवयवार्थ-सहित समुदायार्थ को कहा करते हैं इसलिये, 'जहत्स्वार्था' वृत्ति के उदाहरण न होकर 'अजहत्स्वार्था' वृत्ति के उदाहरण हैं। 'रथन्तर' जैसे शब्द, जिनमें 'रूढ़ि' के द्वारा 'यौगिक' या अवयवार्थ का अपहरण कर लिया जाता है, 'जहत्स्वार्था' वृत्ति के उदाहरण हैं। इस दृष्टि से शब्द चार प्रकार के माने गये।

ऊपर 'शक्ति-निरूपण' के प्रकरण में (द्र०—पृष्ठ ५०-५५) शब्द में विद्यमान चार प्रकार की 'शक्तियों' की चर्चा—'रूढ़ि', 'योग', 'योगरूढ़ि', यौगिकरूढ़ि इन नामों से—हो चुकी है। यहाँ 'समास' आदि 'वृत्तियों' की दृष्टि से उन्हीं चार प्रकारों को, 'रूढ़', 'यौगिक', 'योगरूढ़', 'यौगिकरूढ़' इन नामों से, परिभाषा तथा उदाहरण प्रस्तुत कर, उनका पुनः विवेचन किया जा रहा है। चौथे प्रकार (यौगिकरूढ़) की परिभाषा वहाँ नहीं दी गयी थी, यहाँ वह भी दे दी गयी है।

**['व्यपेक्षा' सामर्थ्य में अनेक दोष दिखाकर 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य का समर्थन]**

व्यपेक्षा-पक्षे दूषणं शक्ति-साधकम्। **हरिः**[1] अप्याह—

**समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कज-शब्दवत्।**
**बहूनां वृत्ति-धर्माणां वचनैर् एव साधने।**
**स्यान् महद् गौरवं तस्माद् एकार्थीभाव आश्रितः॥**

'पङ्कज'-शब्दे योगार्थ-स्वीकारे शैवालादेरपि प्रत्ययः स्यात्। वृत्ति-धर्माः—विशेषण-लिङ्ग-संख्याद्ययोगादयः—"सविशेषणानां वृत्तिर्न०" इत्यादि-वचनैरेव साध्याः, इति तत्-तद् वचन-स्वीकार एव गौरवम्। मम तु एकार्थीभाव-स्वीकाराद् अवयवार्थाभावाद् विशेषणाद्ययोगो न्याय-सिद्धः। वचनं च न कर्त्तव्यं न्याय-सिद्धं च इति लाघवम्।

---

१. भर्तृहरि के वाक्यपदीय में ये पंक्तियां अनुपलब्ध हैं। परन्तु वैभूसा० (पृ० २६३) में यह कारिका उल्लिखित एवं व्याख्यात है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह कारिका, भर्तृहरि की न होकर, भट्टोजि दीक्षित की है। (द्र०—वैभूसा०, समासशक्तिनिर्णय, कारिका सं० ४, पृ० २६३)।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



'व्यपेक्षा' पक्ष में (विद्यमान) दोष ('एकार्थीभाववाद' के सिद्धान्त, अर्थात् विशिष्ट समुदाय में) 'शक्ति' का साधक है। भर्तृहरि ने भी कहा है—

"पङ्कज' शब्द के समान 'समास' आदि ('वृत्तियों') में (अवयव-शक्ति से) भिन्न ही (समुदाय में) शक्ति है। (क्योंकि) 'वृत्तियों' के अनेक धर्मों ('विशेषण', 'सङ्ख्या', 'लिङ्ग', 'च' इत्यादि से सम्बद्ध न होना इत्यादि) को वचनों (वार्तिकों) के द्वारा सिद्ध करने में बहुत बड़ा गौरव (विस्तार) होगा।"

यदि 'पङ्कज' शब्द में (समुदाय में शक्ति न मानकर) अवयवों के अर्थों को ही ('पङ्कज' शब्द का अर्थ) मान लिया गया तो ('पङ्कज' शब्द से) शैवाल आदि का भी ज्ञान होने लगेगा। 'वृत्ति' के 'धर्म' (अर्थात्) 'विशेषण', 'लिङ्ग', 'सङ्ख्या', आदि से असम्बन्ध—"सविशेषणानां वृत्तिर्न" इत्यादि-वचनों के द्वारा साध्य है। इसलिये ('व्यपेक्षा' पक्ष में) उन उन ('धर्मों' के बोधक) वचनों को स्वीकार करना ही गौरव है। मेरे मत में, 'एकार्थीभाव' पक्ष के स्वीकार करने के कारण, अवयवार्थ के न होने से, 'विशेषण' आदि से सम्बन्ध का न होना न्याय सिद्ध बात है। (इसलिये) वचन भी नहीं बनाना पड़ेगा तथा (ये 'धर्म') भी स्वतः सिद्ध होंगे। इस प्रकार (इस पक्ष में) लाघव है।

इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए अपने अभिमत सिद्धान्त—'एकार्थीभाव' सामर्थ्य—का समर्थन करने की दृष्टि से 'व्यपेक्षा' सामर्थ्य में उपस्थित होने वाले कुछ दोषों का यहाँ उल्लेख किया गया है तथा उन दोषों को ही समुदाय में ही शक्ति, या दूसरे शब्दों में 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य, के सिद्धान्त का साधक बताया गया है, अर्थात् इन दोषों के कारण अवयवों में अर्थाभिधान की 'शक्ति' न मान कर समुदाय में ही 'शक्ति' माननी चाहिये। समुदाय में 'शक्ति' मानना ही 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य है।

**समासे····· पंकजशब्ववत्**—इस प्रथम पंक्ति में, 'समास' आदि 'वृत्तियों' के प्रयोगों के अवयवों में रहने वाली 'शक्ति' से भिन्न, समुदाय में रहने वाली, 'शक्ति' के दृष्टान्त के रूप में प्रसिद्ध 'पङ्कज' शब्द का उल्लेख किया गया है। यहाँ 'समास' शब्द सभी 'वृत्तियों' के उपलक्षण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'पङ्कज' शब्द का प्रयोग करने पर, समुदाय में विद्यमान 'शक्ति' से, सीधे ही 'कमल' रूप अर्थ का ज्ञान होता है। यदि अवयवों में विद्यमान अर्थाभिधान 'शक्ति' को भी स्वतंत्र रूप में स्वीकार किया जाय तो 'पङ्कज' शब्द से शैवाल आदि, जो भी पङ्क में उत्पन्न होते है उन सब, की प्रतिति होनी चाहिये। इससे स्पष्ट है कि भले ही यहाँ अवयवार्थ की सत्ता होती हो पर वह, अनेक अवयवों का अनेक अर्थ भी, समुदायार्थ में एकीभाव को प्राप्त हो जाता है—एक हो जाता है। इसलिये अवयवार्थरूपता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार नैयायिक आदि 'व्यपेक्षा'-सामर्थ्य-वादी भी 'पङ्कज' जैसे शब्दों में समुदाय में ही 'शक्ति' मानते है—अवयवों में नहीं। तो जिस प्रकार 'पङ्कज' शब्द में, समुदाय में 'शक्ति' मानी जाती है उसी प्रकार 'वृत्तियों' के अन्य प्रयोगों में भी समुदाय में ही 'शक्ति' मानी जानी चाहिये।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



**बहूनां वृत्तिधर्माणाम् ... लाघवम्** : इस अंश में यह कहा गया कि 'व्यपेक्षा' सामर्थ्य को मानते हुए 'वृत्ति' के प्रयोगों में भी यदि अवयवों की ही 'शक्ति' मानी गयी तो केवल 'वृत्ति' में दृष्टिगोचर होने वाले अनेक 'धर्मों' या विशिष्ट स्थितियों की उपपत्ति के लिये अनेक वचन या वार्तिकें बनानी पड़ेंगी। ये 'धर्म' या विशिष्ट स्थितियाँ हैं—'विशेषण', 'लिङ्ग', 'सङ्ख्या' आदि का सम्बन्ध न होना।

**विशेषणासम्बन्ध**—जैसे 'राज्ञः पुरुषः' इस विग्रह वाक्य में 'ऋद्धस्य' जैसे विशेषणों का सम्बन्ध हो सकता है। परन्तु समासावस्था में, 'राजपुरुषः' जैसे प्रयोगों में इन विशेषणों का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

**लिङ्गासम्बन्ध**—जैसे 'कुक्कुट्या अण्डम्' या 'मृग्याः क्षीरम्' इत्यादि विग्रह वाक्यों में 'कुक्कुट' अथवा 'मृग' इत्यादि शब्दों के साथ स्त्रीलिंग का सम्बन्ध किया जाता है। परन्तु समास कर देने के बाद 'कुक्कुटाण्डम्' तथा 'मृग-क्षीरम्' जैसे प्रयोगों में इन शब्दों के साथ स्त्रीलिंग का प्रयोग नहीं होता। परन्तु 'लिङ्ग' के साथ असम्बन्ध रूप यह धर्म सर्वत्र नहीं पाया जाता।

**सङ्ख्या-असम्बन्ध**—'राजपुरुषः' इस समास-युक्त पद के विग्रह वाक्य 'राज्ञः राज्ञोः राज्ञां वा पुरुषः' इत्यादि में अप्रधान 'राजन्' पद संख्या-विशेष से युक्त होता है। परन्तु 'राज-पुरुषः' इस समासावस्था में 'राजन्' के साथ संख्या का सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार समासावस्था में संख्या से असम्बन्ध की स्थिति रहती है तथा विग्रह वाक्य में संख्या का सम्बन्ध देखा जाता है। इस तथ्य को पतंजलि ने (महा० २.१.१. पृ० २१ में) निम्न शब्दों में प्रकट किया है—"संख्या-विशेषो भवति वाक्ये—'राज्ञः पुरुषः', 'राज्ञोः पुरुषः' 'राज्ञां पुरुषः' इति। समासे न भवति 'राजपुरुषः' इति।"

पतंजलि के इस कथन की व्याख्या करते हुए संख्या-विषयक इस स्थिति को कैय्यट ने निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है—"वाक्ये उपसर्जन-पदानि विभक्त्यर्थाभिधायित्वात् संख्याविशेषयुक्तं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति। समासे त्वन्तर्भूतस्वार्थं प्रधानार्थम् अभिदधति इत्यभेदैकत्वसंख्याम् अवगमयन्ति" (महा० प्रदीप टीका २.१.१. पृ० २०)।

वस्तुतः समास की स्थिति में संख्या को अविभक्त माना जाता है। इस अविभक्त एवं भेद रहित संख्या की चर्चा करते हुए भर्तृहरि ने कहा है—

**यथौषधिरसाः सर्वे मधुन्याहितशक्तयः।**
**अविभागेन वर्तन्ते तां संख्यां तादृशीं विदुः॥**
**भेदानां वा परित्यागात् संख्यात्मा स तथाविधः।**
**व्यापाराज्जातिभागस्य भेदापोहेन वर्तते॥**

(वाप० ३.१४.१००-१०१)

'व्यपेक्षा' सामर्थ्य में इन धर्मों को बताने के लिये अलग अलग वार्तिकें अथवा इष्टियाँ बनानी पड़ेंगी—उन्हें शब्दों द्वारा कहना पड़ेगा। जैसे विशेषण के अयोग (असम्बन्ध) के लिये "सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणायोगो न" यह वचन कहना पड़ेगा। इसी प्रकार अन्य सभी धर्मों के साथ असम्बन्ध को बताने के लिये भी अलग-अलग वचन कहने पड़ेंगे, जिससे अनावश्यक विस्तार (गौरव) होगा। ऊपर इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



प्रकरण के आरम्भ में, ऐसे अर्थों का प्रदर्शन किया जा चुका है जो केवल 'वृत्ति' (समास आदि) की अवस्था में ही दिखाई देते हैं (द्र०— पृ० ४१३-१४)। उन सबका यहाँ 'धर्म' पद के अर्थ में समावेश समझना चाहिये। कात्यायन ने अपनी वार्तिक—"संख्या-विशेषो व्यक्ताभिधानम्, उपसर्जन-विशेषणम्, च-योगः" (महा० २.१.१. पृ० २०)—में इन 'धर्मों' की ओर ही संकेत किया है।

'एकार्थीभाव' सामर्थ्य में यह माना जाता है कि 'वृत्ति' के प्रयोगों में अवयवार्थ होता ही नहीं। यदि होता भी है तो वह समुदाय के अर्थ में ही अभिन्न रूप से रल मिल जाता है इसलिए, वे वे अभीष्ट 'धर्म' या स्थितियां वहां स्वतः सिद्ध हो जाती हैं—उनके लिये किसी प्रकार के वचन बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः 'व्यपेक्षा' सामर्थ्य के सिद्धान्त की अपेक्षा 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य के सिद्धान्त में विशेष लाघव है। इसीलिये महाभाष्य में इन उपर्युक्त धर्मों को 'एकार्थीभाव-कृत विशेषता' के नाम से प्रस्तुत किया गया है। द्र०—"इमे तर्हि एकार्थी-भाव-कृता विशेषाः—'संख्याविशेषो व्यक्ताभिधानम् उपसर्जन-विशेषणं च-योगः" (महा० २.१.१ पृ० २०-२४)।

**['व्यपेक्षा' सामर्थ्य में कुछ और दोष]**

व्यपेक्षायां दूषणान्तरम् आह

**चकारादि-निषेधोऽथ बहु-व्युत्पत्ति-भञ्जनम्।**
**कर्तव्यं ते न्यायसिद्धं त्वस्माकं तद् इति स्थितिः॥**

(वैभूसा०, समाससशक्तिनिर्णय, कारिका सं० ५)

'घट-पटौ' इति द्वन्द्वे साहित्य-द्योतक-चकार-निषेधस् त्वया कर्तव्यः। 'आदिना' 'घन-श्यामः' इत्यादौ 'इव' शब्दस्य। मम तु साहित्याद्यवच्छिन्ने शक्ति-स्वीकारात् "उक्तार्थानाम् अप्रयोगः" इति **न्यायात्** तेषाम् अप्रयोगः।

**बहु-व्युत्पत्ति-भञ्जनम्** इति—अषष्ठ्यर्थ-बहुव्रीहौ 'प्राप्तोदकः' इत्यादौ पृथक् शक्ति-वादिनां मते 'प्राप्ति-कर्त्रभिन्नम् उदकम्' इत्यादि-बोधोत्तरं तत्-सम्बन्धि-ग्राम-लक्षणायाम् अपि 'उदक-कर्तृक-प्राप्ति-कर्म-ग्रामः' इत्यर्थलाभे प्राप्ते, 'प्राप्त' इति 'क्त'-प्रत्ययस्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



कर्त्रर्थकस्य कर्मार्थे लक्षणा। ततोऽपि "समान-विभक्तिक-नामार्थयोर् अभेद एव संसर्गः" इति **व्युत्पत्त्या** उदका-भिन्नं प्राप्तिकर्म इति स्यात्। उदकस्य कर्तृतया प्राप्तौ अन्वये तु "नामार्थयोर् अभेदान्वय"-**व्युत्पत्ति**-भञ्जनं स्याद् इति तात्पर्यम्। "नामार्थ-प्रकारक-शाब्दबुद्धित्वा-वच्छिन्नं प्रति विभक्त्यर्थोपस्थितेः कारणत्वम्"[1] इति **व्युत्पत्ति**-भञ्जनं च।

मम तु पृथक् शक्त्यनङ्गीकारात् विशिष्टस्यैव विशिष्टार्थ-वाचकत्वात् नामार्थ-द्वयाभावान् न क्वचिद् अनुपपत्तिर् इत्यलम्।

**इति समासादिवृत्त्यर्थः।**

**इति श्रीशिवभट्ट-सुत-सतीदेवी-गर्भज-नागेशभट्ट-कृता परमलघुमंजूषा समाप्ता।**

'व्यपेक्षा' सामर्थ्य में (कुछ) और दोष कहते हैं--

"तुभ्यं (व्यपेक्षावादी) को 'चकार' आदि का निषेध तथा अनेक व्युत्पत्तियों का अतिक्रमण करना पड़ेगा। ('एकार्थीभाव' को मानने वाले) हम लोगों (वैयाकरणों) के मत में वह ('चकार' आदि का निषेध) स्वतः सिद्ध है (तथा अनेक अथवा व्युत्पत्तियों-नियमों का भी अतिक्रमण नहीं होता)।

'घटपटौ' (घड़ा और वस्त्र) इस 'द्वन्द्व' (समास के प्रयोगों) में 'साहित्य' (सह-भाव अर्थात् एक साथ होना) का द्योतन कराने वाले 'च' का निषेध तुभ्यं ('व्यपेक्षा'-सामर्थ्य-वादी) को करना पड़ेगा। (कारिका के) 'आदि' पद से 'घनश्यामः' (बादल के समान काला) इत्यादि में 'इव' का निषेध करना होगा (यह बताया गया)। ('एकार्थीभाव' सामर्थ्य को मानने वाले) मेरे मत में तो 'साहित्य' (सह-भाव) आदि से युक्त अर्थ में ('घटपटौ') इस समुदाय की 'शक्ति' मानने से, "उक्तार्थानाम् अप्रयोगः" (जो अर्थ प्रकट हो चुका है उस के लिये शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता) इस न्याय के अनुसार, उन ('च' तथा 'इव' आदि) का प्रयोग नहीं करना पड़ता।

'बहुव्युत्पत्तिभञ्जनम्' का यह अभिप्राय है कि 'षष्ठी' विभक्ति से भिन्न अर्थ वाले 'बहुव्रीहि' समास के 'प्राप्तोदकः' इत्यादि प्रयोगों में, पृथक् पृथक् (अवयवों की) 'शक्ति' मानने वालों के मत में, "प्राप्ति" (रूप क्रिया) के 'कर्ता' से अभिन्न 'उदक' (प्राप्त होने वाला जल)" इत्यादि के बोध के पश्चात् उस

१. ह०, बंमि०—कारणत्वात्।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



('प्राप्तोदक') से सम्बद्ध ग्राम में 'लक्षणा' करने पर भी, "उदक है 'कर्ता' जिसमें ऐसी प्राप्ति का 'कर्म' ग्राम" इस अर्थ का ज्ञान न होने के कारण, 'प्राप्त' इस (पद) के 'कर्त्ता' अर्थ वाले 'क्त' प्रत्यय की 'कर्म' अर्थ में 'लक्षणा' करनी पड़ेगी। उसके बाद भी, "समान-विभक्तिक-नामार्थयोर् अभेद एव संसर्गः" (एक विभक्ति वाले दो 'प्रातिपदिकार्थों' में केवल 'अभेद' सम्बन्ध ही होता है) इस न्याय के अनुसार, "उदक से अभिन्न 'प्राप्ति' (क्रिया) का 'कर्म'" यह (अनभीष्ट) अर्थ प्रकट होगा। यदि 'उदक' का प्राप्ति' में 'कर्तृता' सम्बन्ध से अन्वय किया गया तो '(समान विभक्ति वाले) दो प्रातिपदिकार्थों में अभेदसम्बन्ध से अन्वय होता है' इस न्याय का अतिक्रमण होगा। इसके अतिरिक्त "प्रातिपदिकार्थ है 'प्रकार' (विशेषण) जिसमें ऐसे 'शाब्द बोध' के प्रति विभक्ति के अर्थ का ज्ञान कारण है" इस न्याय का भी विरोध होगा।

('एकार्थीभाव' सामर्थ्य को मानने वाले) मेरे मत में (अवयवों की) पृथक् पृथक् 'शक्ति' न मानने तथा (अवयव से) विशिष्ट (समुदाय) को (अवयवार्थ से) विशिष्ट अर्थ (समुदायार्थ) का वाचक मानने के कारण दो 'प्रातिपदिकार्थों' के न होने से कहीं कोई असङ्गति नहीं है। इस रूप में यह विषय समाप्त होता है।

श्री शिवभट्ट के पुत्र तथा श्रीमती सतीदेवी के गर्भ से उत्पन्न श्री नागेशभट्ट-रचित परमलघुमञ्जूषा समाप्त हुई।

यहां इस प्रकरण के अन्त में कुछ और दोषों का प्रदर्शन करते हुए नागेश ने एक और कारिका उद्धृत की है। यह कारिका भी वैभूसा० में समास-शक्ति-निर्णय के प्रकरण (पृ० २७१) में उल्लिखित एवं व्याख्यात है।

**चकारादि'''इति स्थितिः**—इस कारिका का अभिप्राय यह है कि 'द्वन्द्व' समास के 'घटपटौ' इत्यादि प्रयोगों के विग्रह वाक्य 'घटश्च पटश्च' इत्यादि में 'च' दिखाई देता है। इसलिये 'व्यपेक्षावाद' के सिद्धान्त में 'घटपटौ' इत्यादि 'वृत्ति' के प्रयोगों में भी 'च' का प्रयोग प्राप्त होगा। अतः उसका लोप करना पड़ेगा। यहां कारिका में 'आदि' शब्द से 'इव' आदि का संग्रह अभिप्रेत है जिनका ऊपर इस प्रकरण के आरम्भ में प्रदर्शन हो चुका है। जैसे- 'घनश्यामः' में 'इव' का लोप, 'निष्कौशाम्बिः' में 'क्रान्त' का लोप, इत्यादि।

'एकार्थीभाव' साम्मर्थ्य अथवा समुदाय में 'शक्ति' मानने पर इस प्रकार का कोई दोष नहीं उपस्थित होता क्योंकि वहाँ 'घटपटौ' इस पूरे समुदाय को 'घड़ा और वस्त्र' इस समुदित अभिप्राय का वाचक माना जाता है। इसी प्रकार 'घनश्यामः' यह पूरा समुदाय 'घन-सदृश श्याम' का वाचक है। इसलिये "उक्तार्थानाम् अप्रयोगः" इस न्याय के अनुसार इस पक्ष में 'च', 'इव' आदि के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं रहती।

**बहु-व्युत्पत्ति-भंजनम्'''·'''इति तात्पर्यम्**:—कारिका के 'बहुव्युत्पत्तिभंजनम्' इस अंश को स्पष्ट करते हुए नागेश ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि व्यपेक्षावादी नैयायिक विद्वान् यह कहते हैं कि 'राजपुरुषः', 'चित्रगुः' इत्यादि 'वृत्ति' के प्रयोगों में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



इनके अवयवों के अर्थ ही, 'आकांक्षा' आदि के आधार पर परस्पर सम्बद्ध हो कर, विशिष्ट अर्थ का रूप धारण कर लेते हैं। ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि 'राजपुरुषः' इत्यादि के 'राजन्' आदि अंशों में 'लक्षणा'वृत्ति के द्वारा अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति किस प्रकार की जा सकती है।

परन्तु एकार्थीभाव-वादी वैयाकरण विद्वानों का यह कहना है कि 'राजपुरुषः' या 'चित्रगुः' जैसे कुछ प्रयोगों में 'लक्षणा'वृत्ति के आश्रय से अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति भले ही कर ली जाय परन्तु 'वृत्ति' के अनेक प्रयोगों में 'लक्षणा'वृत्ति के द्वारा काम नहीं चल सकता। 'प्राप्तोदको ग्रामः' इत्यादि, षष्ठी तथा सप्तमी के अर्थ से भिन्न अर्थ वाले, 'बहुव्रीहि' समास के अनेक प्रयोग ऐसे हैं जिनमें यदि 'लक्षणा' के आश्रय से अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति का प्रयास किया जाय तो अनेक न्यायों का उल्लङ्घन होने लगता है।

'प्राप्तोदको ग्रामः' इस प्रयोग का अर्थ है 'वह गाँव जिसमें पानी आ गया है'। यहाँ 'प्राप्तम् उदकं यस्मिन्' इस विग्रह वाक्य के अनुसार 'प्राप्तोदकः' का अर्थ हुआ "यत्' है 'कर्म' जिसमें ऐसी 'प्राप्ति' (क्रिया) का 'कर्ता' उदक" अर्थात् 'जिसे पानी प्राप्त हुआ है' क्योंकि यहाँ 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'आप्' धातु से "गत्यर्थाकर्मक०" (पा० ३.४.७२) सूत्र के अनुसार 'कर्त्ता' में 'क्त' प्रत्यय आया है। इसलिये 'प्राप्त' का अर्थ है 'प्राप्ति' क्रिया का 'कर्त्ता'। 'प्राप्त' पद के इस अर्थ के साथ 'उदक' पद के अर्थ 'जल' का 'अभेद' सम्बन्ध माना गया।

इस रूप में 'प्राप्तोदकः' पद के अवयवों से "प्राप्ति के 'कर्ता' से अभिन्न 'उदक' इस अर्थ का बोध तो हो जाता है परन्तु "उदक है कर्ता' जिसमें तथा 'ग्राम' है 'कर्म' जिसमें ऐसी 'प्राप्ति' रूप क्रिया" इस अभीष्ट तथा अनुभूत अर्थ की प्राप्ति नहीं हो पाती। यदि व्यपेक्षावादियों के अनुसार यहाँ 'उदक' पद की 'उदक-सम्बन्धी ग्राम' इस अर्थ में 'लक्षणा' मानी जाय तो भी 'प्राप्तोदक' पद से "प्राप्ति' के 'कर्ता' से अभिन्न जो 'उदक' तत्सम्बन्धी ग्राम" यही अर्थ प्रकट होगा। अभीष्ट अर्थ—"उदक' है 'कर्ता' जिसमें ऐसी 'प्राप्ति' का 'कर्म" तब भी प्रकट नहीं हो पाता। अभिप्राय यह है कि 'ग्राम' का बोध 'उदक' के सम्बन्धी के रूप में तो हो जायगा परन्तु 'प्राप्ति' के 'कर्म' के रूप में उसका बोध, 'उदक' पद में 'लक्षणा'वृत्ति मान कर भी, नहीं हो पाता।

यदि, 'प्राप्त' पद में 'कर्ता' के अर्थ में जो 'क्त' प्रत्यय आया है उस, 'क्त' प्रत्यय की 'कर्म' के अर्थ में 'लक्षणा' की गयी तो यह कठिनाई उपस्थित होगी कि 'प्राप्त' तथा 'उदक' इन दो 'प्रातिपदिकों' के अर्थों का अभेद-सम्बन्ध से अन्वय करना पड़ेगा। क्योंकि 'प्राप्त' तथा 'उदक' दोनों पद समान विभक्ति वाले हैं तथा 'प्रातिपदिक' हैं। इसलिये, "समान-विभक्तिक-नामार्थयोर् अभेद एव संसर्गः" (समान विभक्ति वाले दो नामार्थों अथवा प्रातिपदिकार्थों में परस्पर अभेद सम्बन्ध ही होता है) इस न्याय के अनुसार, 'प्राप्त' तथा 'उदक' पदों में अभेद सम्बन्ध मानना होगा। ऐसी स्थिति में 'प्राप्तोदकः' पद का अर्थ होगा "उदक से अभिन्न प्राप्ति क्रिया का 'कर्म"। जबकि इस पद का अभीष्ट अर्थ है—"उदक में होने वाली जो प्राप्ति क्रिया उसका 'कर्म"।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



यदि 'उदक' को 'कर्त्ता' मान कर उसका 'प्राप्ति' क्रिया में अन्वय किया गया तो अभेद-सम्बन्ध न होने के कारण उपर्युक्त न्याय का उल्लंघन होगा। साथ ही "नामार्थयोर् भेदेन साक्षाद् अन्वयोऽव्युत्पन्नः", अर्थात् दो प्रातिपदिकार्थों का भेद सम्बन्ध से अन्वय साक्षात् नहीं होता अपितु किसी भिन्न विभक्ति की सहायता से ही होता है, इस न्याय का भी उल्लंघन होता है क्योंकि यहाँ 'प्राप्तोदकः' पद में भिन्न विभक्ति के बिना ही भेद सम्बन्ध की उपस्थिति करायी जा रही है। द्रष्टव्य —

"प्राप्ति-कर्त्रभिन्नम् उदकम्' इत्यादि-बोधोत्तरं तत्-सम्बन्धि-ग्राम-लक्षणायाम् अपि 'उदक-कर्तृक-प्राप्ति-कर्म-ग्रामः' इत्यर्थलाभात् 'प्राप्त' इति 'क्त'-प्रत्ययस्यैव कर्त्रर्थकस्य कर्मणि लक्षणा चेत् तर्हि 'समानाधिकरण-प्रातिपदिकार्थयोर् अभेदान्वय'-व्युत्पत्ति-भंगापत्तेः। 'प्राप्तेः' धात्वर्थतया कर्तृता-सम्बन्धेन उदकस्य तत्रान्वयासम्भवाच्च"। (वैभूसा० पृ० २७२)।

**नामार्थक-प्रकारक''''''' इत्यलम्** :-- इसके अतिरिक्त "नामार्थप्रकारक-शाब्द-बुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विभक्त्यर्थोपस्थितेः कारणत्वम्" (जिसमें 'प्रातिपदिकार्थ' विशेषण हो ऐसे शब्दबोध के प्रति विभक्ति के अर्थ का ज्ञान ही कारण बनता है) इस न्याय का भी विरोध व्यपेक्षावादी की उपर्युक्त प्रक्रिया में होता है क्योंकि यहाँ "उदक है 'कर्त्ता' जिसमें ऐसी 'प्राप्ति'' इस शाब्द बोध में 'उदक' रूप 'प्रातिपदिक' का अर्थ 'जल' विशेषण के रूप में विद्यमान है। इसलिये यह आवश्यक है कि इस 'प्रातिपदिकार्थ-प्रकारक' ('प्रातिपदिकार्थ' जिसमें 'प्रकार' अर्थात् विशेषण है) शाब्दबोध की संगति के लिये षष्ठी जैसी किसी विभक्ति का प्रयोग किया जाय।

'एकार्थीभाव' सामर्थ्य में ये दोष नहीं आते क्योंकि वहाँ तो 'वृत्ति' के प्रयोगों में पद के विविध अवयवों में अर्थाभिधान की शक्ति मानी ही नहीं जाती। इसके विपरीत इस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि अवयव-विशिष्ट समुदाय ही अवयवार्थ-विशिष्ट समुदायार्थ का वाचक है। इसलिये यहाँ दो 'प्रातिपदिकार्थों' की उपस्थिति की बात ही नहीं बनती। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य के सिद्धान्त में किसी प्रकार की कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसलिये वैयाकरणों को यही पक्ष अभिमत है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमंजूषा में उद्धृत सन्दर्भ


| सन्दर्भ | स्रोत | पृष्ठ |
|---|---|---|
| अकथितं च । | पा० १.४.५१ | ३३५ |
| अक्ताः शर्करा उपदधाति । | अज्ञात | ५७ |
| अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं-शब्दः करोति च । | मीमांसाश्लोकवार्तिक, शेष-कृष्ण रामनाथ शास्त्री सम्पादित, मद्रास विश्वविद्यालय, १९४०, पृ० ३३ | ११८ |
| 'अथ' शब्दस्य प्रारम्भक्रिया-क्षेपकत्वम् । | द्र० पाटि० | १८७ |
| अथ शब्दानुशासनम् । | महा०, भा० १, पृ० ४ | १८६-८७ |
| अथतस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योऽसावेकार्थीभावकृतो विशेषः स वक्तव्यः । | महा० २.१.१ पृ० ६८ | ४०४ |
| अश्विशीङ्स्थासाम्० । | पा० १.४.४६ | १५० |
| अनचि च । | पा० ८.४.४७ | २१८ |
| अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात् । | न्याय | १७० |
| अनभिहिते । | पा० २.३.१ | १७०,१८० |
| अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्तेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ | वाप० १.१ | ६७ |
| अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता ॥ | वाप० १.९३ | ११० |
| अन्यायश्चानेकार्थत्वम् । | न्याय | १६४ |
| अन्योन्याभावबोधे प्रतियोग्यनुयोगिपदयोः समानविभक्तिकत्वं नियामकम् । | न्याय | २२६ |
| अपदं न प्रयुंजीत । | अज्ञात | ४००,४२० |
| 'अपसरतः' इति सृधातुना गतिद्वयस्याप्युपादानाद् एकनिष्ठां गतिम्प्रति इतरस्यापादानत्वम् अविरुद्धम् । | द्र० वैभूसा० पृ० ३६४ | ३६३ |
| अपादानम् उत्तराणि कारकाणि बाधन्ते । | द्र० पाटि० | ३४२,३६१ |
| अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः । | द्र० पाटि० | २६५ |
| अभिधानं च तिङ्कृत्तद्धितसमासैः । | महा० २.३.१ | १८० |
| अभिहिते प्रथमा । | महा० २.३.४६ | ३१६ |


For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir




| सन्दर्भ | स्रोत | पृष्ठ |
|---|---|---|
| अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिः<br>मध्या वै चिन्तने स्मृता ।<br>शिष्याणाम् उपदेशार्थं<br>वृत्तिरिष्टा विलम्बिता ॥ | द्र० पाटि० | १०६ |
| अरुणया पिंगाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति । | द्र० तैत्तिरीय संहिता ६.१.६ | १८० |
| अर्थभेदात् शब्दभेदः । | महा० १.१.७, २० | २६ |
| 'अर्थवत्' इति किम् ? अर्थवता समुदायोऽनर्थकः । दश दाडिमानि, षड् अपूपाः, कुण्डम् अजाजिनम् । | द्र० पाटि० | |
| अर्थवद्० । | पा० १.२.४५ | ४०० |
| अमूर्यललाट्योः० । | पा० ३.२.३६ | २१८ |
| अस्ति प्रवर्तनारूपम्<br>अनुस्यूतं चतुर्ष्वपि ।<br>तत्रैव लिङ् विधातव्यः<br>किम्भेदस्य विवक्षया ॥ | वैभूसा० पृ० १६० पर उद्धृत | २५५ |
| आकांक्षितविधानं ज्यायः । | न्याय | १६७ |
| आख्यातं तद्धितकृतोर्यत्किंचिदुपदर्शकम् ।<br>गुणप्रधानभावादौ तत्र दृष्टो विपर्ययः ॥ | वैभूसा० समासशक्तिनिर्णय, कारिका सं० ७ | ४२६ |
| आतश्च विषमीप्सितं यद् भक्षयति ताडनात् । | महा० १.४.५० | ३३२ |
| आत्मा आत्मानं जानाति । | महा० ३.१.८७ | १५१ |
| आदिर्ञिटुडवः । | पा० १.३.५ | ३६१ |
| आनन्त्येऽपि हि भावानाम्<br>एकं कृत्वोपलक्षणम् ।<br>शब्दः सुकरसम्बन्धो<br>न च व्यभिचरिष्यति ॥ | तन्त्रवार्तिक ३.१.६.१२ | ३८२ |
| आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कात्स्न्र्येन निश्चयवान् । रागादिवशादपि नान्यथावादी यः सः । | अज्ञात | १५ |
| आर्हीत्० । | पा० ५.१.१६ | ५२ |
| आश्रयोऽविधिरुद्देश्यः<br>सम्बन्धः शक्तिरेव वा ।<br>यथायथं विभक्त्यर्थाः<br>सुपां कर्मेति भाष्यतः ॥ | वैभूसा० पृ० १६८ | ३२१ |
| इको यण् अचि । | पा० ६.१.७७ | ८५, ३६८ |


For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



| सन्दर्भ | स्रोत | पृष्ठ |
|---|---|---|
| इवार्थः सादृश्यम् । | अज्ञात | २०८ |
| उक्तार्थानाम् अप्रयोगः । | न्याय | ४११,४३३ |
| उच्चारित एव शब्दो अर्थप्रत्यायको नानुच्चारितः । | द्र० पाटि० | २४३ |
| उत्तरपदार्थप्राधान्यं नञ्तत्पुरुषस्य । | न्याय | २१२ |
| उत्पन्नस्य सत्त्वस्य स्वरूपावधारणरूपां सत्तामाचष्टे अस्त्यादिः । | द्र० पाटि० | १४८ |
| उपमानानि सामान्यवचनैः । | पा० २.१.५५ | २०६ |
| उपकारः उपकार्योपकारकयोर्यत्र बोध-शक्त्योरुपकारस्वभावः सम्बन्धो यत्रास्ति तत्र धर्मः शक्तिरूपः कार्यं दृष्ट्वाऽनुमीयते। असौ सम्बन्धः शक्ती-नामपि कार्यजनने उपकारकः, गुणाना-मपि द्रव्याश्रितत्वनियामकः । | द्र० पाटि० | २६-३० |
| उपकारः स यत्रास्ति<br>धर्मस्तत्रानुगम्यते ।<br>शक्तीनामप्यसौ शक्तिर्<br>गुणानामप्यसौ गुणः ।। | द्र० पाटि० | २६ |
| उपपदम् अतिङ् । | पा० २.२.१६ | १४६ |
| उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः । | वैभूसा०, का० सं० ६८ | १३ |
| ऋतौ भार्याम् उपेयात् | अज्ञात | २३५ |
| एक इन्द्रशब्दः क्रतुशते प्रादुर्भूतो युगपत् सर्वयागेष्वंगं भवति । | द्र० पाटि० | ६१ |
| एकदेशे समूहे वा व्यापाराणां पचादयः । स्वभावतः प्रवर्तन्ते तुल्यरूपं समाश्रिताः ।। | वाप० ३.७.५८ | १४० |
| एकोऽयं शब्दो बहुवर्थः । | द्र० पाटि० | ३६ |
| एवं चानियोगे | महा० ६.१.६४ | २३१ |
| एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः । कूर्मक्षीरचये स्नातः शशशृंगधनुर्धरः ।। | द्र० पाटि० | ३७ |
| ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म । | ब्रह्मविद्या उप० ३, गीता ८.१३ | ३४ |
| कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि । | महा० २.३.१ पृ० २५२-५३ | १८० |
| कर्तरि कृत् । | पा० ३.४.६७ | |
| कर्ता कर्म च करणं<br>सम्प्रदानं तथैव च ।<br>अपादानाधिकरणम्<br>इत्याहुः कारकाणि षट् ।। | अज्ञात | ३१५ |

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir




| सन्दर्भ | स्रोत | पृष्ठ |
|---|---|---|
| कर्मणा यमभिप्रैति० । | पा० १.४.३२ | ३४६, ३५२ |
| कर्मवत्० । | पा० ३.१.८७ | १५१ |
| कल्हारकैरवमुखेष्वपि पंकजेषु । | अज्ञात | ५२ |
| कारकान्तराप्रयोज्यत्वे सति कारकचक्र-प्रयोजकत्वं कर्तृत्वम् । | द्र० पाटि० | ३२६ |
| कारके । | पा० १.४.२३ | १७०, १८५ |
| कृत्तद्धित० । | पा० १.२.४६ | ४१८ |
| क्रियाप्रधानमाख्यातम् । | द्र० पाटि० | १३५, २४५ |
| क्रियायाः परिनिष्पत्तिर् यद्व्यापारादनन्तरम् । | वाप० ३.७.८० | ३४५ |
| विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम् ।। | | |
| खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति । | द्र० पाटि० | ३४६ |
| गत्यनाविष्टत्वे सति तज्जन्यविभागा-श्रयत्वम् (अपादानत्वम्) । | अज्ञात | ३६२ |
| गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् । बुद्ध्या प्रकल्पितभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ।। | वाप० ३.८.४ | १४० |
| ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा । | | |
| तथैव सर्वशब्दानाम् एते पृथगवस्थिते ।। | वाप० १.५५ | ३६४ |
| चकारादिनिषेधोऽथ बहुव्युत्पत्ति-भंजनम् । | | |
| कर्तव्यन्ते न्यायसिद्धं त्वस्माक्रान्तदिति स्थितिः ।। | वैभूसा०, समास-शक्ति निर्णय का० सं० ५ | ४३३ |
| चतुर्थी सम्प्रदाने । | पा० २.३.१३ | ३५२ |
| (छन्दसि) लिङर्थे लेट् । | पा० ३.४.७ | २५३ |
| जहत्स्वार्था तु तत्रैव यत्र रूढिर्विरोधिनी । | अज्ञात | ४२६ |
| णलुत्तमो वा । | पा० ७.१.९१ | २८५ |
| तत्र च दीयते० । | पा० ५.१.९६ | ३६८ |
| तत्त्वमसि । | छान्दो० उप० ६.८.७ | ७० |


For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



| सन्दर्भ | स्रोत | पृष्ठ |
|---|---|---|
| तत्साहृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । | | |
| अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकल्पिताः ।। | द्र० पाटि० | २१२ |
| तथाऽयुक्तम्० । | पा० १.४.५० | ३३४ |
| तस्मिन्० । | पा० १.१.६६ | ८५ |
| तदाचक्ष्वागुरेन्द्राय स च युक्तं करोतु यत् । | दुर्गासप्तशती ५.१२६ | ३४६ |
| तात्स्थ्यात्तथैव तादधर्म्यात् तत्सामीप्यात्तथैव च । | | |
| तत्साहचर्यात् तादर्थ्याज् ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः ।। | अज्ञात | ६७ |
| तादर्थ्यचतुर्थ्यां दानकर्मणो गवादेः सम्प्रदानार्थत्वेऽपि दानक्रियाया-स्तदर्थत्वाभावेन चतुर्थ्यन्तार्थस्य दान-क्रियायामन्वयानापत्त्या कारकत्वाना-पत्तिः । | द्र० पाटि० | ३५३ |
| तिङ् अतिङः । | पा० ८.१.२८ | ४०० |
| तिङ्-समानाधिकरणे प्रथमा । | महा० (वार्तिक) २.३.४६ | ३१६ |
| तेजो वै घृतम् । | अज्ञात | ५७ |
| देवांश्च याभिर्यजते ददाति च । | अज्ञात | ३१० |
| धातुः पूर्वं साधनेन युज्यते पश्चादुप-सर्गेण । | महा० ६.१.१३५ | १६६ |
| धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते ।। | द्र० पाटि० | ३१६ |
| धातोः साधनयोग्यस्य भाविनः प्रक्रमाद्यथा । | | |
| धातुत्वं कर्मभावश्च तथाऽन्यदपि दृश्यताम् ।। | वाप० २.१८६ | २०३ |
| नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत् । | अज्ञात | ६८ |
| नञ् । | पा० २. २. ६ | २१८ |
| नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा-ह्यर्थगतिः । | परिभाषेन्दुशेखर, परि० सं० ७५ | २०६ |
| न पदान्त० । | पा० १.१.५७ | १२१ |
| न वै तिङन्तान्येकशेषारम्भम्प्रयोजयन्ति । | द्र० पाटि० | ३६३ |
| न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके : यशब्दानुगमाद्ऋते । | | |

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir




| सन्दर्भ | स्रोत | पृष्ठ |
|---|---|---|
| अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ | वाप० १.१२३ | ३५७, ३६३ |
| नहि गुड इत्युक्ते मधुरत्वं प्रकारतया गम्यते । | द्र० पाटि० | १७ |
| नहि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते । | न्याय | ३०६ |
| नह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः । | महा० २.१.६४ | ३८७ |
| नागृहीत० । | न्याय | ३८२ |
| नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति । | अज्ञात | ३०८ |
| नामार्थधात्वर्थयोर्भेदेन साक्षादन्वया-भावात् । | न्याय | १८६ |
| नामार्थप्रकारकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नम्प्रति विभक्त्यर्थोपस्थितेः कारणत्वम् । | न्याय | ४३४ |
| नामार्थयोरभेदान्वय० । | व्युत्पत्ति | १६५, ४३४ |
| नामार्थयोरभेदान्वयो व्युत्पन्नः । | व्युत्पत्ति | १६४ |
| नियोगोऽवधारणम् । तदभावोऽसम्भवः । | महा० प्रदीप टीका ६.१.६४ | २३१ |
| पञ्चादयः क्रिया भवतिक्रियायाः कर्त्र्यो भवन्ति । | महा० १.३.१ | १७६ |
| पंच पंचनखा भक्ष्याः । | महा०, भा० १, पृ० ३६ | २४० |
| पदसमूहो वाक्यम् अर्थसमाप्तौ । | न्या० सूत्र, (वात्स्यायन भाष्य) १.५५ | ५ |
| पदार्थः पदार्थेन अन्वेति न तु पदार्थैकदेशेन । | न्याय | २२६, ४१०, ४२३ |
| पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च । | | |
| वाक्यात् पदानाम् अत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ | वाप० १.७३ | १०० |
| परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यम् एके । ···का पुनः शब्दयोर्व्यपेक्षा ? न बूमः शब्दयोरिति । किं तर्हि ? अर्थयोः । | महा० २.१.१ पृ० ३६ | ११३ |
| परा वाङ् मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता । हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ॥ | अज्ञात | ६२ |
| (परोक्षे) लिट् । | पा० ३.२.११५ | २४६ |
| पर्युदासः सदृशग्राही । | अज्ञात | २१२ |


For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



| सन्दर्भ | स्रोत | पृष्ठ |
|---|---|---|
| पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन इति । नैतत् सारम् । पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चाद् उपसर्गेण । साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति । तां उपसर्गो विशिनष्टि । अभिनिर्वृत्तस्य चार्थस्य उपसर्गेण विशेषः शक्यो वक्तुम् । सत्यम् एवम् एतत् । यस्त्वसौ धातूपसर्गयोरभिसम्बन्धस्तमभ्यन्तरं कृत्वा धातुः साधनेन युज्यते । अवश्यं चैतद् एवं विज्ञेयम् । यो हि मन्यते पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चाद् उपसर्गेण इति तस्य 'आस्यते गुरुणा' इत्यकर्मकः 'उपास्यते गुरुः' इति केन सकर्मकः स्यात् । | महा० ६.१.१३५ | १९९, १०० |
| प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययस्य । | न्याय | ३०८ |
| प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि । | न्यायसूत्र १.१.३ | १५ |
| प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वम् । | व्युत्पत्ति | ४२४ |
| प्रत्ययानां सन्निहितपदार्थगत-स्वार्थबोधकत्वम् । | व्युत्पत्ति | ४२४ |
| प्रमाणान्तरेण प्राप्तस्यैव वस्तुनः पुनः शब्देन प्रतिपादनं प्रयोजनान्तराभावात् स्वतुल्यान्यव्यवच्छेदं गमयति । | काव्यप्रकाश, १०.१२२ | २३५ |
| प्रयोजनवती निरूढा च<br>लक्षणा द्विविधा मता ।। | अज्ञात | ७४ |
| प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं-<br>क्रियया सह यत्र नञ् । | अज्ञात | २१८ |
| प्रसज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चान् निवृत्तिं कुरुते । | द्र० पाटि० | २१८ |
| फलं धात्वर्थो व्यापारः प्रत्ययार्थः । | अज्ञात | १३३ |
| फलमुखगौरवं न दोषाय । | न्याय | १६४ |
| फलव्यापारयोर्धातु—<br>राश्रये तु तिङः स्मृताः । | | |
| फले प्रधानं व्यापार-<br>स्तिङर्थस्तु विशेषणम् ।। | वैभूसा०, धात्वाख्यातार्थ-निर्णय, का० सं० २ | २४५ |

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



| सन्दर्भ | स्रोत | पृष्ठ |
|---|---|---|
| फलव्यापारयोस्तत्र फले तङ्यक् चिणादयः। | | |
| व्यापारे शप्श्नमाद्यास्तु द्योतयन्त्याश्रयान्वयम् ॥ | वैभूसा०, धात्वाख्यातार्थनिर्णय, का०सं० ३ | २४५ |
| बाधकालिकम् इच्छाजन्यं ज्ञानम् आहार्यम् । | अज्ञात | २१२ |
| बुद्धिस्थादभिसम्बन्धात्तथा धातूपसर्गयोः। अभ्यन्तरीकृतो भेदः पदकाले प्रकाशते॥ | वाप० २.१८८ | २०३ |
| भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि । | नि० १.१ | १३०,१७३ |
| भुवो वुग् लुङ्लिटोः । | पा० ६.४.८८ | ३९७ |
| भू सत्तायाम् । | पा० धातुपाठ १.१ | ४२१ |
| भेद्यभेदकयोश्चैक-सम्बन्धोऽन्योऽन्यमिष्यते । द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात् ॥ | अज्ञात | ३७५ |
| य एवं विद्वान् अमावास्यायां यजते । | अज्ञात | ३१० |
| यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु । | आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४.१३.५ | २१६ |
| यत्र कर्मणि कर्तरि वा क्रियाकृतो विशेषः कश्चिद् दृश्यते तत्र क्रिया व्यवस्थिता इत्युच्यते। नन्वेवं पच्यादि-कर्त्तर्यपि श्रमादिरूपविशेषस्य दर्शनाद् इदमयुक्तंम्। किंच 'चिन्तयति,''पश्यति' इत्यादीनां कर्तृस्थभावकत्वानुपपत्तिः। कर्तरि क्रियाकृतविशेषाभावात्। अत आह 'अन्येषाम्' इति। 'मते' इति शेषः। यत्र कर्तृकर्मसाधारणरूपं फलं शब्देन प्रतिपाद्यते स कर्तृस्थभावकः। यथा 'पश्यति घटम्', 'ग्रामं गच्छति', 'हसति' इत्यादौ। तत्र विषयता-समवायाभ्यां ज्ञानम् उभयनिष्ठम्। संयोगश्चोभयनिष्ठः। एवं ह्यसोऽपि। नहि विषयता-आवरणभंगौ एवम्। यत्र कर्त्रवृत्ति-कर्मस्थफलं स कर्मस्थ-भावकः। यथा 'भिनत्ति' इत्यादौ। नहि द्विधाभवनादि कथमपि कर्तृनिष्ठम्। | द्र० पाटि० | १५२-१५३ |

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



| सन्दर्भ | स्रोत | पृष्ठ |
|---|---|---|
| यत् मासेऽतिक्रान्ते दीयते तस्य मास औपश्लेषिकम् अधिकरणम् । मासिकं धान्यम् । | द्र० पाटि० | ३६८ |
| यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा । यश्चैनं गन्धमाल्याद्यैः सर्वस्य कटुरेव सः ॥ | द्र० पाटि० | ५७ |
| यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते । आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते ॥ | वाप० ३८१ | १४० |
| रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभंगः पिनाकिनः । | अज्ञात | ३४ |
| रुच्यर्थानाम्० । | पा० १.४.३३ | ३५२ |
| रूढियोगार्थम् अपहरति । | न्याय | ४२६ |
| लः कर्मणि० । | पा० ३.४.६६ | १३३, १३५, १६६, १६७, २४२, २६३ |
| लटः शतृशानचौ० । | पा० ३.२.१२४ | २६५ |
| 'लवणमेवासौ भुङ्क्ते' इत्यादौ प्राचुर्यार्थकस्य 'घट एव प्रसिद्धः' इत्यादौ अध्यर्थकस्य, 'क्वेव भोक्ष्यसे' इत्यादौ असम्भवार्थस्य च तस्य सत्त्वम् । | अज्ञात | २३१ |
| (परोक्षे) लिट् । | पा० ३.२.११५ | २४६ |
| लेटोऽडाटौ । | पा० ३.४.६४ | २५३ |
| लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना । व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥ | भागवत पुराण ११.५.११ | २३५ |
| वाचकत्वाविशेषऽपि नियमः पुण्यपापयोः ॥ | वाप० ३.३.३० | ४२ |
| विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते ॥ | तंत्रवार्तिक १.२.३४ | ३६ |
| विभाषा । | पा० २.१.११ | ४११ |

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



| सन्दर्भ | स्रोत | पृष्ठ |
|---|---|---|
| विशेषदर्शनं यत्र<br>क्रिया तत्र व्यवस्थिता ।<br>क्रियाव्यवस्था त्वन्येषां<br>शब्दैरेव प्रकल्पिता ॥ | वाप० ३.७.६६ | १५२ |
| विषयत्वमनादृत्य शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते । | वाप० १.५६ (द्र० पाटि०) | ३६४ |
| वैखर्या हि कृतो नादः<br>परश्रवणगोचरः । | | |
| मध्यमया कृतो नादः<br>स्फोटव्यंजक इष्यते ॥ | अज्ञात | ६७ |
| वृत्तस्य विशेषणयोगो न । | महा० २.१.१, पृ० १४ | ४२३ |
| वृद्धिरादैच् । | पा० १.१.१ | ३४ |
| व्रीहीन् अवहन्ति । | अज्ञात | २४० |
| शक्तिः पंकजशब्दवत् । | वैभूसा० समासशक्तिनिर्णय,<br>का० सं० ४ | ४११ |
| शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-<br>कोशाप्तवाक्याद्-व्यवहारतश्च । | | |
| वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति<br>सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥ | अज्ञात | ३८२ |
| शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । | योगसूत्र १.९ | ३६ |
| शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्-<br>वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।<br>ध्वनयः समुपोहन्ते<br>स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥ | वाप० १.७८ | १०६ |
| शब्दार्थयोस्तादात्म्यस्वीकारे मधुशब्दो-<br>च्चारणे मुखे माधुर्यरसास्वादापत्तिः । | | |
| वह्निशब्दोच्चारणे मुखे दाहापत्तिः । | अज्ञात | ३५ |
| श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेण-<br>भिज्वलित आकाशदेशः शब्दः । | महा०<br>भा० १. पृ० ६५ | १०६ |
| संयोगो विप्रयोगश्च<br>साहचर्यं विरोधिता ।<br>अर्थः प्रकरणं लिंगं<br>शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ | वाप० २.३१५ | ५५ |
| संहितायाम् । | पा० ६.१.७२ | ३६८ |
| संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यसरूपः<br>स्मृत्यात्मको योऽयं शब्दः सोऽर्थो योऽर्थः | | |

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir



| सन्दर्भ | स्रोत | पृष्ठ |
|---|---|---|
| स शब्दः । | योगसूत्र, व्यासभाष्य, ३.१७ | ३२ |
| सतां च न निषेधोऽस्ति<br>सोऽसत्सु च न विद्यते । | प्रमाणवार्तिक, अध्याय ४, | २२६ |
| जगत्यनेन न्यायेन<br>नञर्थः प्रलयं गतः ।। | श्लोक स० २६ | |
| सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः । | द्र० पाटि० | ७५,७६,७७ |
| सर्वे सर्वार्थवाचकाः । | द्र० पाटि० | १२२-२३ |
| समयज्ञानार्थं चेदं पदलक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणम् । | | |
| वाक्यलक्षणाया वाचोऽर्थं लक्षणम् । | द्र० पाटि० | ३१ |
| समर्थ० । | पा० २.१.१ | १७, ११३ |
| समानविभक्तिकनामार्थयोरभेद एव संसर्गः । | न्याय | ४३४ |
| समानायामर्थविगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च शास्त्रेण धर्मनियमः । | द्र० पाटि० | ४२ |
| समासे खलु भिन्नैव<br>शक्तिः पंकजशब्दवत् ।। | वैभूसा०,<br>समासशक्तिनिर्णय, का० सं० ४, पृ० २६३ में उद्धृत | ४३१ |
| समिधो यजति । | अज्ञात | ३१० |
| सम्बन्धो हि सम्बन्धिद्वयभिन्नत्वे सति द्विष्ठत्वे च सति आश्रयतया विशिष्ट-बुद्धिनियामकः । | अज्ञात | २६-२७ |
| 'सम्यक्प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्' इत्यन्वर्थसंज्ञेयम् । तथा च गोनिष्ठ-स्वस्वत्वनिवृत्तिसमानाधिकरणपरस्व-त्वोत्पत्त्यनुकूलव्यापाररूपक्रियोद्देश्य-स्य ब्राह्मणादेरेव सम्प्रदानत्वम् । पुनर्ग्रहणाय रजकस्य वस्त्रदाने 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' इति सम्बन्ध-समान्ये षष्ठ्येव । | द्र० पाटि० | ३४८ |
| सरूप० । | पा० १.२.६४ | ३८७ |
| सर्गादिभुवां महर्षिदेवतानाम् ईश्वरेण साक्षादेव कृतः संकेतः । तद्व्यवहारा- | | |

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir




| सन्दर्भ | स्रोत | पृष्ठ |
|---|---|---|
| च्चास्मदादीनामपि सुग्रहस्तत् संकेतः । | द्र० पाटि० | ३३ |
| सर्वं वाक्यं सावधारणम् । | न्याय | २३१, २३५ |
| सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य च | | ४१०, |
| विशेषणयोगो न । | महा० २.१.१, पृ० १४ | ४३१ |
| साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः । | अमरकोश ३.२५२ | १८६ |
| सामर्थ्यमौचिती देशः<br>कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।<br>शब्दार्थस्यानवच्छेदे<br>विशेषस्मृतिहेतवः ।। | वाप० २.३१६. | ५५ |
| सुप आत्मनः० । | पा० ३.१.८ | १५० |
| सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः<br>संख्या चैव तथा तिङाम् ।। | महा० १.४.२१ | ३२२ |
| सुबन्तं हि यथानेक-<br>तिङन्तस्य विशेषणम् ।<br>तथा तिङन्तमप्याहु-<br>स्तिङन्तस्य विशेषणम् ।। | वाप० २.६ द्र० पाटि० | १७६ |
| सौत्रामण्यां सुराग्रहान् गृह्णाति । | अज्ञात | २३५ |
| स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैवादेशता । | न्याय | १० |
| स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैवादेशत्वम् । | न्याय | १६७ |
| स्थालीस्थे यत्ने पचिना कथ्यमाने स्थाली<br>पचति । | महा० १.४. २३ | १५८, १७० |
| स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः<br>प्राकृतो ध्वनिरिष्यते । | वाप० १.७६ की स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत | १०६ |
| स्वरति० । | पा० ७.२.४४ | ४०० |
| स्वर्गकामो यजेत । | अज्ञात | २६६,<br>३०४,<br>३६७ |
| स्वर्ग कामोऽश्वमेधेन यजेत । | अज्ञात | २४० |
| हुतशेषं भक्षयेत् । | अज्ञात | २३५ |
| हेतुमति च । | पा० ३.१.२६ | १३७ |


For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमंजूषा में उद्धृत ग्रन्थ, ग्रन्थकार तथा कुछ अन्य विशिष्ट नाम


| नाम | पृ० |
|---|---|
| अभियुक्त | २७, ३२०, ३९४, ४२९ |
| अरुणाधिकरणे | १८० |
| आचार्याः | ७ |
| आलङ्कारिकाः | २३१, २३५ |
| आर्यम्लेच्छाधिकरणम् | ४६ |
| ऋषिभिः | १० (दो बार) |
| एके | ३०४ |
| केचित् | १४३, २८०, २८९, ३६२ |
| कैय्यट | १८७ |
| कैय्यटेन | ३६८ |
| कोष | १८१ |
| गुरवः | ३०८ |
| गौतमसूत्र | १५ |
| चरक | १५ |
| तार्किक | १७८, १८१, २२१ |
| तार्किकाः | २४, ३५, ४२, ६३, ८३, ८७, १६०, १८९, २२७, ३१७ |
| तार्किकैः | ३८, २२९ |
| दीधितिकृतः | ३०८ |
| निरुक्त | १३०, १४८ |
| नैयायिक | ३३ |
| नैयायिकाः | ११८, २६३, २८२, ३०४ |
| नैयायिकानाम् | २६३ |
| नैयायिकमीमांसकादयः | ४१० |
| न्याय | २२९ |
| न्यायेन | ३०६ |
| न्यायस्य | ३७८, ३८२ |
| न्यायभाष्यकार | ५, ३१ |
| न्यायवाचस्पत्यम् | ३३ |
| पतंजलिः | १५ |
| परे | १३१, २०९ |
| पातंजलभाष्य | ३२ |
| पातंजलाः | २६३ |
| प्राभाकराः | २९७ |
| बहवः | २१८ |
| भागवते | २३५ |
| भाट्टाः | २८१, २९३ |
| भाष्य | १७०, १७६, १८०, २२९, ३४२, ३६८ |
| भाष्यम् | १७, ४२, ७६, ३२०, ३६१, ३६३ |
| भाष्यात् | ७५, २४३, ३८७, ४००, ४२० |
| भाष्ये | ५२, ११५, १५०, १५१, १५८, १८०, १९९, २०८, २०९, २३५, २४०, २४९, ३१८, ३६८, ४०५ |
| भाष्यकृता | ३४९, ४१८ |
| भाष्यन्याय | १० |
| मीमांसकाः | १३३, ३७८ |
| मीमांसकैः | १८१ |
| मीमांसकम्मन्यैः | ४११ |
| यास्क | १३५, १७३, २४५ |
| वाक्यपदीयात् | ३९४ |
| वार्तिके | २३१ |


For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir




| नाम | पृ० | नाम | पृ० |
|---|---|---|---|
| विकल्पसूत्र | ३६ | शाब्दिकनये | १२३ |
| वृत्तिकारा: | ३४८ | (दुर्गा) सप्तशती | ३४६ |
| वृद्ध | २२६, २३१ | हरि | ३१६, ३४५ |
| वृद्धा: | ६६, २१२, २४० | हरि: | २६, ६७, १०५, ११८, ४३१ |
| वैयाकरणा: | २८१ | | |
| व्युत्पत्ति | ३७५, ४३४ | हरिणा | ५५, १५२, १७६, २०३, २१२, २५५, |
| व्युत्पत्ति: | ४२४ | | |
| शाब्दिक | १८१ | हरिकारिका | ४२ (दो बार) |
| शाब्दिका: | १६२, ३२३ | हेलाराज: | १५३, ३५३ |


For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

# शुद्धि-पत्र

| पृष्ठ | स्थल | अशुद्ध पाठ | शुद्ध पाठ |
|---|---|---|---|
| ३१ | ग्रन्थ भाग, पंक्ति ३ | व्याकरणाम् | व्याकरणम् |
| ३५ | ग्रन्थ भाग, पंक्ति ४ | मुखे दाहापत्तिः | मुखे माबुर्यरसास्वादापत्तिः। वह्निशब्दोच्चारणे मुखे दाहापत्तिः। |
| १०० | ग्रन्थ भाग, कारिका का उत्तरार्ध | अप्यन्तं | अत्यन्तं |
| १६० | उपक्रमणिका | लंकारार्थ | लकारार्थ |
| १८० | ग्रन्थ भाग, दूसरा खण्ड, पंक्ति १, | एवान्वयोः, (मीमांसा सं०) | एवान्वयो, (मीमांसा सू०) |
| २२६ | उपक्रमणिका | घटोः न पटः | घटो न पटः |
| २३५ | ग्रन्थ भाग, पंक्ति ४, ग्रन्थ भाग, पंक्ति ६, ग्रन्थ भाग, श्लोक | अलङ्-कार, तुल्यन्याय निवृत्तिरिष्टा | अलङ्कार, तुल्यान्य- निवृत्तिरिष्टा |
| २३७ | व्याख्या भाग में उद्धृत श्लोक का उत्तरार्ध | शल्कको | शल्लको |
| २३८ | व्याख्या में परिसंख्या का प्रथम उदाहरण | यदासक्त्या चेयं | यदासक्त्या चेतो |
| २३६ | व्याख्या में परिसंख्या का दूसरा उदाहरण | नयनयोरर्वसति | नयनयोर्वसति |
| २७८ | उपक्रम वाक्य | घिटो नश्यति | घटो नश्यति |
| २७६ | व्याख्या में शीर्षक भाग | न च तादृशोत्प- त्तिकत्वमेव | न च तादृशोत्पत्तिकत्वमेव |
| २६६ | ग्रन्थ भाग, पंक्ति १ | स्वर्गकामोयजेत | स्वर्गकामो यजेत |
| ३०४ | ग्रन्थ भाग, पंक्ति १ | विधिर्' इति | विधिः' इति |
| ३२५ | व्याख्या भाग, नीचे से चौथी पंक्ति | वषाड्योगाच्च | वषड्योगाच्च |
| ३३२ | पाद टिप्पण सं० २ | बिषयभक्षणम् | बिषभक्षणम् |

For Private and Personal Use Only

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

Regd. No. 15467/67

## KURUKSHETRA UNIVERSITY PUBLICATIONS

| | | |
|---|---|---|
| 1. | Glimpses of Hariyana *ed.* Buddha Prakash | Rs. 20/- |
| 2. | Haryana studies in History and Culture (English) *by* K.C. Yadav | Rs. 15/- |
| 3. | Haryana through the Ages *by* Buddha Prakash | Rs. 15/- |
| 4. | Development of Education in India 1947-66 (English) *ed.* Uday Shankar and .P. Ahluwalia | Rs. 25/- |
| 5. | Research Needs in the Study of Education (English) *ed.* Uday Shankar and S.P. Ahluwalia | Rs. 25/- |
| 6. | Development of Education in Haryana (English) *ed.* Uday Shankar and C.L. Kundu | Rs. 43/- |
| 7. | A Comparative study of teacher effectiveness through four years concurrent and the one year successive course (English) *by* Mrs. Uday Shankar | Rs. 6-00 |
| 8. | Guru Pratap Suraj ke Kavya-Paksh ka Adhyayan (Hindi) *by* J.B. Goel | Rs. 16/- |
| 9. | Ganapatha ascribed to Panini (Sanskrit) *by* K.D. Shastri | Rs. 50/- |
| 10. | Vachaspati Mishra Dwara Bauddha Darshan ka Vivechana (Hindi) *by* S.N. Shastri | Rs. 33/- |
| 11. | A descriptive Grammar of Bangru (English) *by* J.D. Singh | Rs. 35/- |
| 12. | Pada-Padartha Samiksha (Hindi and Sanskrit) *by* Baldeo Singh | Rs. 43/- |
| 13. | Grantha-Suchi (Hindi) *by* Sthanu Datt | Rs. 5/- |
| 14. | Abstracts of M.Ed. Dissertations, Vol. I,II,III,IV, V, VI & VII | Price Rs. 4-75, 4/-, 4/-, 7/- 7/-, 7/-, & 14-50 |
| 15. | Agricultural Taxation in Haryana (English) *by* P.C. Jain | Rs. 30/- |
| 16. | Excavation at Sugh & Mitathal (English) *by* Suraj Bhan | —do— |
| 17. | The Glassy Essence : A Study of E.M. Forster, L.H. Myers and Huxley in Relation to Indian Thought *by* B.S. Gupta | —do— |
| 18. | Granth-Suchi Vols. II & III (Hindi) compiled *by* Sthanu Datt | —do— |

### Journals

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | PRĀCĪ-JYOTI—Digest of Indological Studies | Annual Sub. | Rs. 30/- |
| 2. | Journal of Haryana Studies | ,, | Rs. 7-50 |
| 3. | SAMBHAVANA (Hindi Bi-annual) | ,, | Rs. 15/- |

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

2277—1,000—28-1-75—K.U. Press, Kurukshetra.

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

For Private and Personal Use Only